पाश्चात्य दर्शन की
दार्शनिक प्रवृत्तियाँ
जगदीश सहाय श्रीवास्तव

पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव
भूतपूर्व प्रोफ़ेसर एवम् अध्यक्ष
दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अभिव्यक्ति प्रकाशन

पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

पुनर्मुद्रण : 2011

प्रकाशक
अभिव्यक्ति प्रकाशन
847, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद — 211002
दूरभाष : 540793

वितरक
ज्ञान भारती
14/15, पुराना कटरा, इलाहाबाद—211002
दूरभाष : 605667 (S), 461347 (R)

मूल्य : 280.00

आवरण : इम्पैक्ट क्रिएटिव सर्विसेज़

श्रीकृष्ण पुरवार द्वारा अभिव्यक्ति प्रकाशन के लिए प्रकाशित
निओ साफ्टवेयर कन्सलटैंट्स, इलाहाबाद द्वारा टाइपसेट एवं एडवांस क्रिएटिव सर्विसेज़, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

आमुख

अब तक "पाश्चात्य दर्शन के इतिहास" से सम्बन्धित मेरी चार कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी है : प्रथम "**ग्रीक एवम् मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास**", द्वितीय "**आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास**", तृतीय "**अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास**" एवम् चतुर्थ "**समकालीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास**"। इतिहास के इन ग्रन्थों की रचना के बाद मैंने अनुभव किया कि पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थियों एवम् अन्य जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है जो पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों का एक सम्यक्, सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ विवेचन प्रस्तुत करता हो। प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों एवम् प्रतियोगी परीक्षार्थियों की इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गयी है।

पाश्चात्य दर्शन ईसा के जन्म से छठवीं शताब्दी-पूर्व से प्रारम्भ होकर आज बीसवीं शताब्दी के अन्त तक निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। इस काल-खण्ड की अवधि में अनेक दार्शनिक प्रवृत्तियाँ जैसे : **बुद्धिवाद, अनुभववाद, समीक्षावाद, विज्ञानवाद, नव्य-विज्ञानवाद, अर्थक्रियावाद, नव्य-वस्तुवाद, तार्किक अणुवाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद, विश्लेषणात्मक दर्शन, आभासिकी, अस्तित्ववाद, साधारण भाषा-दर्शन** इत्यादि उत्पन्न हुई और दार्शनिक विचारधारा को समृद्ध कर अपने स्थान पर अन्य दार्शनिक प्रवृत्तियों के लिए जगह रिक्त कर गई।

दार्शनिक विचारधारा का एक अजस्र प्रवाह होता है जिसे स्पष्ट रूप में पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित करना आसान नहीं होता। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्रथम शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी का दर्शन **आस्था का युग** (The Age of Belief), पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का दर्शन **साहस का युग** (The Age of Adventure), सत्रहवीं शताब्दी का युग **बुद्धि का युग** (The Age of Reason), अठारहवीं शताब्दी का युग **प्रबोध का युग** (The Age of Enlightenment), उन्नीसवीं शताब्दी का दर्शन **विचारधारा का युग** (The Age of Ideology) तथा बीसवीं शताब्दी का दर्शन **विश्लेषण का युग** (The Age of Analysis) कहा जाता है। प्रत्येक युग की जैसा कि उसके नाम से ही प्रगट है, अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनके अनुसार विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों का जन्म होता है। उदाहरण के लिए बुद्धि के युग में **बुद्धिवाद एवम् अनुभववाद** जैसी दार्शनिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ। प्रबोध-काल में काण्ट के **समीक्षावाद** ने जन्म लिया। इसी प्रकार विश्लेषण के युग में **तार्किक प्रत्यक्षवाद एवम् विश्लेषणात्मक दर्शन** की निष्पत्ति हुई। दर्शन शास्त्र के अन्य युगों पर भी यही बात चरितार्थ होती है।

अंग्रेजी भाषा में पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियों पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। पर जब से भारतीय विश्वविद्यालयों एवं प्रतियोगी परीक्षाओं में हिन्दी भाषा के माध्यम से कार्य संचालित किया जा रहा है, हिन्दी में प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना आज का युग-धर्म बन गया है। वैसे बाजार में अन्यमनस्क भाव से पाश्चात्य दर्शन

पर लिखी पुस्तकों का अभाव नहीं है पर मेरे समक्ष इस विषय पर लिखी ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई जिसमें एक ही स्थल पर विद्यार्थियों को विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण मौलिक ज्ञान उपलब्ध हो सके। विषय-विवेचन में प्रतिमान-ग्रन्थों से उन्मुक्त और व्यापक सहायता ली गई है। विशदता, वस्तुनिष्ठता, प्रामाणिकता, एवं वैज्ञानिकता पुस्तक की अनिवार्य विशेषताएँ है।

"पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ" पाश्चात्य विचारधारा का सरल, सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक एवम् प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत करता है। प्रत्येक दार्शनिक समस्या को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही रखकर उसके समाधान की चेष्टा की गई है। दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों के विवेचन में उनकी समानताओं और विभिन्नताओं पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार दृष्टिकोण तुलनात्मक रखा गया है। साथ-साथ दर्शन के प्रामाणिक एवम् सर्वमान्य मानदण्डों के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन और मण्डन भी किया गया है। अतः विवेचन आलोचनात्मक है।

पुस्तक की रचना में विभागीय सहयोगियों, विद्यार्थियों एवं परिवार-जनों से मुझे विशेष प्रेरणा व सहायता प्राप्त हुई है। यदि मेरी सुयोग्य पत्नी श्रीमती शुभा श्रीवास्तवा ने पारिवारिक उत्तरदायित्वों को अपने कन्धों पर न ले लिया होता तो मैं अध्ययन, अध्यापन और लेखन का कार्य सुचारू रूप से करने में कभी भी सफल न हो पाता। लेखक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

पुस्तक वर्तमान रूप में यदि जिज्ञासु पाठकों के भीतर पाश्चात्य दर्शन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समँझूगा।

—जगदीश सहाय श्रीवास्तव

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

अर्वाचीन दर्शन

□□□

1 ग्रीक विज्ञानवाद

ग्रीक दर्शन का प्रबोध-काल

सोफिस्ट सम्प्रदाय—एनेक्ज़ेगोरस ने अपने दर्शन में जो भौतिक बीजों (Seeds) के अतिरिक्त अभौतिक परम-विज्ञान (Nous) की प्रतिष्ठा की, उससे ग्रीक दर्शन में एक नया मोड़ आया। एनेक्ज़ेगोरस के पूर्व सभी ग्रीक दार्शनिक जड़वादी और एकतत्त्ववादी थे; जड़ तत्त्व से भिन्न किसी अजड़ तत्त्व की प्रतिष्ठा में उनका विश्वास न था। एनेक्जेगोरस ने 'परम-विज्ञान' की प्रतिष्ठा कर, सर्वप्रथम, ग्रीक दर्शन में भौतिक-अभौतिक, आत्मा-शरीर तथा मनुष्य-प्रकृति का भेद उपस्थित किया। डेमाक्रिटस तक का ग्रीक दर्शन बाह्य जगत्-सम्बन्धी समस्याओं की व्याख्या व विवेचन करते-करते इतना थक गया था कि उसने एकाएक अनुभव किया कि जब तक मानव-सम्बन्धी (Humanistic) समस्याओं का समाधान नहीं कर लिया जाता, तब तक जगत्-विषयक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। कारण यह है कि जगत्-सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण और समाधान, अन्ततः, मानव-मन के माध्यम से ही तो प्रस्तुत किया जाता है। अतः, जब तक हम मानव-मन के स्वभाव, उसकी विशेषताओं, मान्यताओं तथा उसकी सीमाओं का अवलोकन नहीं कर लेते, तब तक हमारे जगत्-सम्बन्धी ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। यही कारण है कि ग्रीक-दर्शन के द्वितीय चरण में सोफिस्टों ने ग्रीक-दर्शन को, तत्त्ववाद से हटाकर ज्ञान-मीमांसा और धर्म-मीमांसा पर लाकर केन्द्रित कर दिया। यही ग्रीक-दर्शन का प्रबोध-काल है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—ग्रीक दर्शन के प्रारम्भ में जितने प्रकृतिवादी दार्शनिक थेलीज़—पार्मेनाइडीज़—डेमाँक्रिटस—थे, वे सभी रूढ़िवादी थे। उनका मानवीय बुद्धि की असीम शक्ति में इतना अटूट विश्वास था कि उन्होंने समझा कि कोरी बुद्धि की सहायता से वे प्रकृति के गहन से गहन तथा महान् से महान् रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ हो सकते हैं। पर इसका परिणाम क्या निकला ? यदि मानवीय बुद्धि इतनी सक्षम है कि वह प्रकृति के रहस्यों का पता लगा सकती है तो प्रकृतिवादी दार्शनिकों में इतना मत-वैभिन्य क्यों ? हम पहले ही देख चुके हैं कि यद्यपि थेलीज़ से लेकर डेमाक्रिटस तक के सभी ग्रीक दार्शनिक बुद्धि के विषय में रूढ़िवादी थे, पर उनमें से किसी में भी किसी बात पर पूर्ण मतैक्य नहीं है। इस प्रकार, पूर्व-ग्रीक दार्शनिकों का बुद्धि-विषयक साहसी उमंग, क्रमशः बुद्धि की समर्थता में अविश्वास के रूप में परिणत हो जाता है। इस युग में बौद्धिक चिन्तन में थोड़ी क्लांति और संयम परिलक्षित होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अनिश्चितता ने भी एक प्रकार के संशयवाद को जन्म देने में पर्याप्त पृष्ठभूमि तैयार किया। प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के विभिन्न निष्कर्षों ने मानवीय बुद्धि की अपार क्षमता में एक प्रकार का अविश्वास उत्पन्न कर दिया।

सोफिस्ट मत, प्रकृति-दर्शन से, अपनी पद्धति और विषय-सामग्री दोनों बातों में भिन्न है। प्राचीन प्रकृतिवादी ग्रीक दार्शनिकों ने अपने सामान्य सिद्धान्तों के नियमन और व्याख्यान के लिए, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अपेक्षा, बौद्धिक चिंतन-प्रणाली (Speculative Method) का विशेष उपयोग किया था। प्राचीन शरीर-विज्ञानवेत्ताओं ने निगमनात्मक तर्क के आधार पर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया था, क्योंकि उनका विश्वास था कि विशुद्ध बुद्धि द्वारा स्थापित सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर, विशिष्ट तथ्यों के विषय में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसके विपरीत, सोफिस्टों ने तर्क द्वारा वस्तुओं के मूल कारणों तक जाने की कोशिश नहीं की। बुद्धि के सामान्य प्रत्ययों की अपेक्षा अनुभव द्वारा प्राप्त तथ्यों पर उन्होंने विशेष बल दिया। उनका विश्वास था कि जीवन-सम्बन्धी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए निगमन की अपेक्षा अनुभव की विशेष उपयोगिता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सोफिस्टों ने निगमन-प्रणाली को बिलकुल ही व्यर्थ समझा। उनका मत तो केवल यह था कि **निगमन, अनुभव द्वारा स्थापित 'व्याप्ति' पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार सोफिस्टों की अनुसंधान-प्रणाली अनुभवाश्रित-निगमनात्मक** (Empirico-Deducitve) **थी।**

प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों और सोफिस्टों के बीच एक तीसरा भेद भी है और **वह है उनके वैयक्तिक उद्देश्यों और लक्ष्यों का भेद।** प्राचीन ग्रीक दर्शन का आदर्श वाक्य था: ज्ञान, ज्ञान के लिए अथवा ज्ञान ही मनुष्य का परम शुभ है। उनके लिए ज्ञान किसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन नहीं है; वह स्वयं साध्य है। इसके विपरीत, सोफिस्टों के अनुसार ज्ञान साध्य नहीं है। ज्ञान, जीवन को संयमित करने का एक साधन-मात्र है। ज्ञान का महत्त्व इस बात में है कि वह मनुष्य-जीवन को संयमित अथवा नियंत्रित करने में कितना योगदान करता है। सोफिस्ट लोग साधारण जनता को एक प्रकार की ऐसी सामान्य शिक्षा देने के पक्ष में थे जिससे कि वे अपने जीवन को समुन्नत कर सकें। इस प्रकार सोफिस्टों का उद्देश्य सैद्धान्तिक न होकर पूर्ण रूप से व्यावहारिक था। वे लोगों को ऐसी जीवन-कला और जीवन-दर्शन में पारंगत कर देना चाहते थे जिससे कि वे अपने जीवन को संयमित कर सकें।

उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सोफिस्टों ने सर्वसाधारण को निम्न विषयों पर व्याख्यान देने पर विशेष बल दिया: लोकप्रिय विज्ञान, व्यायाम-विद्या, नीति-शास्त्र, जीवन-कला, शिक्षा-विज्ञान, गणित इत्यादि। आगे चलकर सोफिस्टों ने खगोलशास्त्र, व्याकरण, वक्तृत्व-कला, वितण्डावाद तथा वाग्मिता की भी लोगों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। इनके विषय में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी, वह यह थी कि यो लोग अपनी शिक्षाओं के लिए जनता से पर्याप्त शुल्क प्राप्त करते थे। ग्रीस में चारों ओर भ्रमण कर लोगों को शिक्षित करने की अभिलाषा के मूल में उनकी धन-लिप्सा ही प्रधान थी। यूनान के बड़े-बड़े कवियों और लेखकों की रचनाओं की व्याख्या करना तथा उन रचनाओं की तार्किक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक भावनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करना, उनके कार्य का मुख्य अंग था। जिस चैतन्य अथवा बुद्धि (Logos) का उपयोग दार्शनिकों ने ज्ञान-साधन अथवा ज्ञान-प्रकाशन के रूप में किया था, उसी बुद्धि का उपयोग सोफिस्टों ने एक ''युद्ध-सामग्री'' के रूप में किया जिसके

आधार पर वे अपने विरोधियों के पक्ष को पूर्ण रूप से ध्वस्त कर सकते थे। सोफिस्ट लोग एक प्रकार के भ्रमणकारी अध्यापक थे जो नवयुवकों से द्रव्य लेकर ग्रीक प्रजातन्त्र के विषय में उनको शिक्षित करते थे और इसलिए प्लेटो ने उनको "आध्यात्मिक द्रव्यों के सौदागर"[1] के नाम से अभिहित किया है।

सोफिस्ट सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों में दो सिद्धान्त सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण है; उनका आत्मवाद (Subjectivism) और व्यक्तिवाद (Individualism)। ज्ञान के क्षेत्र में वे आत्मवादी है और नीति के क्षेत्र में वे व्यक्तिवादी हैं। पर यह आत्मवाद और व्यक्तिवाद सभी सोफिस्टों में समान रूप से नहीं पाया जाता। अपने कुछ सिद्धान्तों में तो वे बिल्कुल ही रूढ़िवादी हैं और उनके कुछ नैतिक सिद्धान्तों में पर्याप्त विभिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। इसी प्रकार खगोल-विद्या, गणित, भाषा, विज्ञान और राजनीति-सम्बन्धी उनके विचारों में भी पर्याप्त भेद था जिसका कारण शायद यह था कि सभी सोफिस्ट "प्राकृतिक नियम" के विषय में एकमत न थे। वाग्मिता के सम्बन्ध में भी सभी सोफिस्टों ने समान बल नहीं दिया। किसी सोफिस्ट ने तो वाग्मिता पर विशेष बल दिया और कुछ ने अपने दर्शन में इसको गौण स्थान दिया।

प्रारम्भ में 'सोफिस्ट' शब्द का कोई बुरा अर्थ नहीं लिया जाता था। इस शब्द का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए किया जाता था जो धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक तथा नैतिक रूढ़ियों में विश्वास न कर विचार-स्वातन्त्र्य के प्रेमी थे। ग्रीक प्रजातन्त्र में जो लोग राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेना चाहते थे, उनको अन्य बातों के ज्ञान के साथ-साथ तर्क-पटु और कुशल वक्ता होना आवश्यक था। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्यालयों के अभाव में सोफिस्ट लोग नगरों में भ्रमण कर धनीमानी नवयुवकों को शुल्क लेकर वक्तृत्व-कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, तर्क-शास्त्र आदि की शिक्षा देते थे। प्रारम्भ में सोफिस्ट, दर्शन और ज्ञान में सच्चा प्रेम रखते थे, पर कालान्तर में वे केवल धन के लोभी और वृत्ति-प्रेमी ही रह गए। कहा जाता है कि पर्याप्त धन मिलने पर वे किसी बाजारू कुत्ते को अपना पिता सिद्ध कर सकते थे। बाद में 'सोफिस्ट' शब्द का अर्थ बुरे अर्थ में लिया जाने लगा और इससे 'कुतर्कवादी' और 'वितण्डावादी' समझा जाने लगा।

यद्यपि सोफिस्टों का कोई विशेष 'सम्प्रदाय' नहीं था, क्योंकि सभी सोफिस्ट 'व्यक्तिवादी' थे, पर फिर भी जो दार्शनिक 'आत्मवाद' और 'व्यक्तिवाद' के पुजारी थे, उन्हें सोफिस्ट कहा जाता था। इसमें प्रोटेगोरस, जॉर्जियस, प्रॉडिक्स, हिप्पियस इत्यादि सर्वप्रमुख थे। इन लोगों ने विभिन्न विद्याओं में अपने को पारंगत कर नवयुवकों को शिक्षित किया। प्रोटेगोरस ने राजनीति और कूटनीति में शिक्षित किया; जॉर्जियस ने वग्मिता की शिक्षा दी; प्रॉडिक्स ने व्याकरण और भाषा-विज्ञान पर बल दिया; हिप्पियस ने नवयुवकों को गणित और भौतिक विज्ञान में प्रशिक्षित किया। जिस काल में सोफिस्टों का अभ्युदय हुआ था, वह समय ग्रीक नागरिकों के लिए राजनीतिक जीवन प्रदान करने वाला था। इस जीवन में सफल

---

1. प्रोटे० 313 सी० (Shopkeepers with Spiritual Wares)

होने के लिए वाक्पटुता की विशेष आवश्यकता थी और इसलिए सोफिस्टों ने नवयुवकों को वाक्पटुता की विशेष शिक्षा दी। पर सोफिस्टों की तर्क विद्या और वाग्मिता का उद्देश्य जनता को सत्य से परिचित कराना नहीं था, बल्कि येन-केन प्रकारेण जनता के समक्ष अपनी बातों का औचित्य सिद्ध करना था। उनका एक मात्र उद्देश्य यह था कि अपनी वक्रोक्तियों और कुतर्कों से विरोधियों के मन को इस प्रकार उलझाकर भ्रमित किया जाय जिससे कि वे उनकी बातों का विरोध न कर सकें। जब इन कुतर्कों और वक्रोक्तियों से अपनी बातों को जनता के गले उतारने में समर्थ न हो पाते थे तो कभी-कभी शोरगुल और यहाँ तक कि हिंसा का प्रयोग करने में भी वे न चूकते थे। इन सब बातों के अतिरिक्त सोफिस्ट, लोगों की बुद्धि को स्तब्ध करने के लिए रूपकों (Metaphors), भाषालंकारों (Figures of Speech), सूक्तियों (Epigrams) और विरोधाभासों (Paradoxes) का भी प्रयोग करते थे। ग्रीस के बुद्धिजीवी नवयुवक इन विरोधाभासों और सूक्तियों के प्रभाव में आकर कभी-कभी उनकी बातों को ईश्वर-वाणी समझ कर स्वीकार कर लेते थे।

1. प्रोटेगोरस (Protagoras) (समय—ई०पू० 481-411, स्थान—एब्डेरा)

प्रोटेगोरस सोफिस्ट सम्प्रदाय के प्रथम, अत्यन्त प्रतिभाशाली और सबसे मौलिक दार्शनिक हैं। इनके महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि प्लेटो ने अपनी एक कृति इन्हीं के नाम पर लिखी है। प्रोटेगोरस के सम्पूर्ण दर्शन का सारांश उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति में ही मिल जाता है और वह यह है कि "**मानव सब पदार्थों का मानदण्ड है;** वे जो उसके सापेक्ष्य हैं, उनका अस्तित्व है और जो उसके सापेक्ष्य नहीं है, उनका अस्तित्व नहीं है।"[1] इस प्रसिद्ध उक्ति ने दर्शन के केन्द्र-बिन्दु को विषय (Object) से हटाकर विषयी (Subject) पर लाकर खड़ा कर दिया। इस प्रकार प्रोटेगोरस ने सापेक्षवाद और व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया। आत्मनिष्ठवाद (Subjectivism) प्रोटेगोरस के दर्शन का मूलमन्त्र हैं।

उपर्युक्त मूल मन्त्र पर हम तीन दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं: 1. ज्ञान-दृष्टिकोण, 2. तर्क-दृष्टिकोण और 3. नीति-दृष्टिकोण। इन पर हम अलग-अलग विचार करेंगे।

1. ज्ञान-दृष्टिकोण—पूर्व ग्रीक दार्शनिकों ने इन्द्रिय-ज्ञान एवं बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान में स्पष्ट अन्तर किया था। उदाहरण के लिए, ईलिएटिक्स लोगों के अनुसार 'परिणाम' का ज्ञान हमें इन्द्रियों के माध्यम द्वारा होता है, पर 'विशुद्ध सत्' का ज्ञान तो केवल बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। हेरेक्लाइटस ने इसके विपरीत निवेदन किया कि 'सत्' का ज्ञान इन्द्रियों से तथा 'परिणाम' का ज्ञान हमें बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार डेमॉक्रिटस ने कहा कि स्थूल वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम द्वारा और 'परमाणुओं' का ज्ञान हमें बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। इन सभी दार्शनिकों के अनुसार, इन्द्रियाँ हमें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं करा सकतीं; वास्तविक ज्ञान, बुद्धि द्वारा ही प्राप्य है।

---

1. फ्रैग्मे 1. "Man is the measure of all things of those that are they are, of those that are not that they are not."

प्रोटेगोरस का मत इन सबसे विपरीत है। उसके अनुसार, इन्द्रियाँ ही एक मात्र ज्ञान के स्रोत हैं। बुद्धिवादियों का कथन है कि ज्ञान सार्वजनिक, सामान्य एवं सार्वभौम होता है जिसे इन्द्रियाँ कभी भी प्रदान नहीं कर सकतीं। इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान नैयक्तिक, विशेष एवं ऐकान्तिक होता है जिसे हम 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दे सकते। परन्तु प्रोटेगोरस ने इस अन्तर का निषेध किया। उसके अनुसार हमारे सभी ज्ञान वैयक्तिक, विशेष एवं ऐकान्तिक होते हैं। उदाहरण के लिए, हम किसी सिक्के को ले लें। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के अनुसार इसे भिन्न-भिन्न रूपों में देखेगा। किसी को वृत्ताकार, किसी को अण्डाकार तथा अन्यों को वह एक सरल रेखा के रूप में दिखायी देगा। हम यह नहीं कह सकते कि इनमें सिक्के का कोई रूप अप्रामाणिक है। सभी रूप अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रामाणिक हैं। इस प्रकार प्रोटेगोरस ने 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' का भेद ही समाप्त कर दिया। 'सत्य' का कोई वस्तुनिष्ठ मानदण्ड नहीं है। 'व्यक्तिनिष्ठता' ही सत्य का एकमात्र प्रतिमान है। इसी को प्रोटेगोरस ने इस प्रकार व्यक्त किया: ''मानव ही सभी वस्तुओं का मानदण्ड है।''

यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि प्रोटेगोरस ने 'मानव', 'प्रतिमान' एवं 'वस्तुओं' इत्यादि शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। 'मानव' शब्द से उसका तात्पर्य 'बौद्धिक' मानव से नहीं, वरन् 'ऐन्द्रिक' मानव से है; 'प्रतिमान' का अर्थ किसी वस्तुनिष्ठ, प्रतिमान से नहीं, वरन् 'व्यक्तिनिष्ठता' से है। इसी प्रकार 'वस्तुओं' का भी एक विशिष्ट अर्थ है। वस्तुओं से तात्पर्य, संवेदनाओं के पुञ्ज से है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में 'व्यक्तिनिष्ठता' का प्रतिपादन करके प्रोटेगोरस ने एक प्रकार के मानववाद (Humanism) की स्थापना की है जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान और सत्य का सम्बन्ध किसी न किसी मानवीय आवश्यकता व प्रयोजन से अवश्य होता है।

2. तार्किक दृष्टिकोण—हम पहले ही देख चुके हैं कि सोफिस्टों ने जो निषेधात्मक एवं संशयवादी निष्कर्ष निकाले थे, वे प्रकृतिवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित परस्पर विरोधी परिणामों के ही प्रतिफल थे। यह ग्रीस का प्रबोध-काल था। पूर्ववर्ती प्रकृतिवादी दार्शनिकों के परस्पर विरोधी निष्कर्षों से सोफिस्टों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवीय बुद्धि सीमित है और उसके द्वारा 'सत्य' के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह बुद्धि की समालोचना का युग है। सोफिस्टों के अनुसार ज्ञान असम्भव है।

(अ) **ईलिएटिक्स** के साथ सोफिस्टों ने कहा कि यदि संसार में परिवर्तन सम्भव नहीं है तो ज्ञान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ऐसी दशा में किसी प्रकार का विधान (Predication) नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था में हमारे सभी वाक्य द्विरुक्ति (Tautology) के रूप में होंगे। अर्थात् ''अ, अ है'' जो ज्ञान नहीं है।

(ब) **हेरेक्लाइटस** के साथ प्रोटेगोरस ने कहा कि यदि संसार की सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं तो भी ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में हमारे सभी ज्ञान ''अ, ब है'' के रूप में होंगे जो स्वरूपत: अयथार्थ होगा। 'अ' कभी भी 'ब' नहीं हो सकता।

(स) **डेमॉक्रिटस** के साथ प्रोटेगोरस ने निवेदन किया कि यदि हमारा ज्ञान, वस्तुओं द्वारा उत्पन्न प्रभावों (Affections) तक ही सीमित है और बाह्य वस्तुओं तक हमारे ज्ञान की

पहुँच नहीं है, तो यहाँ ज्ञान असम्भव ही है। ऐसी दशा में हमारा सभी ज्ञान "अ, ब नहीं है" इस रूप का होगा।

उपर्युक्त दार्शनिकों के निष्कर्षों से प्रोटेगोरस ने यह परिणाम निकाला कि हम वस्तुतः ज्ञान की समस्या का समाधान नहीं कर सकते। वास्तविक ज्ञान असम्भव है। सोफिस्टों को बुद्धि की आन्तरिक क्षमता में ही अविश्वास उत्पन्न हो गया और उन्होंने बुद्धि की आलोचना करनी प्रारम्भ कर दी। अब उन्होंने अपना ध्यान बाह्य जगत् से हटाकर आत्माभिमुख कर लिया और घोषित किया कि हमारे ज्ञान का मानदण्ड बाह्य जगत् नहीं वरन् आन्तरिक आत्मा है, (Homomensura)। किसी वस्तुनिष्ठ सत्य की कल्पना व्यर्थ है। जगत् के विषय में केवल आत्मनिष्ठ मतियाँ ही हो सकती हैं। ज्ञान के विषय में व्यक्ति ही कानून है। प्रोटेगोरस का सापेक्षवाद (Relativism) प्राचीन रूढ़िवादी ग्रीक दार्शनिकों के सर्वथा विपरीत मत है। उसके अनुसार जगत् का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना मानवीय बुद्धि के लिए सम्भव नहीं है। मनुष्य का आत्मनिष्ठ और वैगक्तिक ज्ञान ही उसके लिए निश्चित ज्ञा। प्राप्त करना मानवीय बुद्धि के लिए सम्भव नहीं है। मनुष्य का आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक ज्ञानक ही उसके लिए निश्चित ज्ञान है। किसी वस्तु के विषय में संसार के मनुष्यों की जितनी धारणाएँ हैं, वे सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से यथार्थ हैं। इस प्रकार, किसी दार्शनिक का उद्देश्य किसी वस्तुनिष्ठ सत्य का "प्रदर्शन" नहीं होना चाहिए, उसका एक मात्र उद्देश्य लोगों को किसी एक दृष्टिकोण के प्रति "विश्वस्त" करना ही होना चाहिए।

हाँ! यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि प्रोटेगोरस के अनुसार दो परस्पर विरोधी मत, अपने-अपने दृष्टिकोण से दोनों ही यथार्थ हो सकते हैं, पर वह स्वीकार करता है कि उन दोनों में से एक दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठतर (Better) हो सकता है। किसी मत के "श्रेष्ठतर" घोषित करने से उसका अभिप्राय उसकी "स्वाभाविकता" से है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि प्रोटेगोरस ने ज्ञान के क्षेत्र में किसी "प्रतिमान" को स्वीकार नहीं किया, पर किसी मत को दूसरे मत से श्रेष्ठतर स्वीकार कर "शुभ" के क्षेत्र में वह "प्रतिमान" को स्वीकार कर लेता है। यह उसके दर्शन में निश्चित ही एक प्रकार का अन्तर्विरोध है।

3. नैतिक दृष्टिकोण—नैतिक दृष्टिकोण के अनुसार भी प्रोटेगोरस ने प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि मानव ही सब पदार्थों का मानदण्ड हैं। नैतिक संशयवाद, सैद्धान्तिक संशयवाद का ही परिणाम है। यदि ज्ञान असम्भव है, तो सत् और असत् का ज्ञान भी असम्भव है। जिस प्रकार पूर्व ग्रीक संसृतिवादियों के परस्पर विरोधी निष्कर्षों के कारण सोफिस्टों ने ज्ञान के क्षेत्र में संशयवाद और अज्ञेयवाद का प्रतिपादन किया, उसी प्रकार विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों, नैतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं की विविधताओं के कारण उन्होंने नैतिक क्षेत्र में किसी सामान्य वस्तुनिष्ठ 'प्रतिमान' का निषेध किया। प्रोटेगोरस, जॉर्जिया इत्यादि सोफिस्टों के अनुसार नैतिक नियम जीवन के अनिवार्य अंग हैं जो परम्पराओं और रूढ़ियों के आधार पर स्थापित किए जाते हैं, पर परवर्ती सोफिस्टों पोलस (Polus), केलाइडीज (Callides) इत्यादि के अनुसार नैतिक जीवन में किसी प्रकार के समान्य नियम की कल्पना करना व्यर्थ है। वे **नैतिक शून्यवाद** (Ethical Nihilism) का प्रतिपादन करते हैं। नैतिक

नियम स्वाभाविक नहीं होते। उनका जीवन और जगत् से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। उनकी स्थापना प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर की जाती है। सोफिस्टों में इस विषय में दो प्रकार की विचारधाराएँ पाई जाती हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार, नैतिक नियम, निर्बलों द्वारा, सबलों से अपनी रक्षा के निमित्त बनाए जाते हैं। यह मत प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) पर आधारित है। द्वितीय विचारधारा के अनुसार, नैतिक नियम, सबलों द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए निर्मित किए जाते हैं। इन दिनों विचारधाराओं के अनुसार नैतिक नियमों का जगत् के साथ कोई अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध नहीं होता; वे परम्पराओं और रूढ़ियों के आधार पर निर्मित होते हैं।

ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट सम्प्रदाय का महत्त्व

प्लेटो और एरिस्टॉटल के सोफिस्टों की,उनकी व्यक्तिवादी, संशयवादी एवं निषेधक विचारधारा के कारण, बहुत ही कटु आलोचना की है। प्लेटो और एरिस्टॉटल के विरोधी पक्ष का नेतृत्व करने के कारण ही ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट विचारधारा का वास्तविक और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन न हो पाया। हेगल और ग्रोटे की रचनाओं ने सर्वप्रथम पाश्चात्य दर्शन में सोफिस्टों की विचारधारा का महत्त्व हमारे सामने रखा। यह ठीक है कि ग्रीक दर्शन में सोफिस्टों की जो इतनी तीव्र आलोचनाएँ हुई, इसके लिए उनके व्यक्तिवादी सिद्धान्त ही अधिक उत्तरदायी हैं, फिर भी उनके दर्शन में कुछ ऐसी अच्छी बातें थीं जिनका श्रेय उनको न देना उनकी उपेक्षा करना होगा। उन्होंने अनुभव, चिंतन, आलोचना इत्यादि को अपने दर्शन की पद्धति बनाई, जो सराहनीय है। पर, सोफिस्टों ने अपनी तर्क-बुद्धि का प्रयोग रचनात्मक कार्यों में नहीं लगाया। उन्होंने दर्शन को कल्पना के आकाश से उतारकर अनुभव-लोक में बिठा तो दिया, पर अनुभव के महत्त्व को भी उन्होंने ठीक तरह नहीं समझा। सोफिस्टों ने जो सबसे बड़ी गलती की. वह यह थी कि उन्होंने मनुष्यों की चेतना में जो एक "सामान्य तत्त्व" है उसकी पूर्ण अवहेलना की। उन्होंने मानवीय निर्णयों की "विविधताओं" को तो अतिरंजित किया, पर उनकी समानताओं की उपेक्षा की। इन लोगों ने मानवीय ज्ञान और आचरण के आकस्मिक, आत्मनिष्ठ और विशुद्ध वैयक्तिक तत्त्वों पर विशेष बल दिया जिसके कारण उनके दर्शन में मानवीय ज्ञान और आचरण के वस्तुनिष्ठ तत्त्वों की पूर्ण अवहेलना की गई।

सोफिस्टों ने वस्तुनिष्ठ ज्ञान की जो समालोचना प्रस्तुत की, उसके कारण ज्ञानमीमांसा की विभिन्न समस्याओं के गंभीर अध्ययन की अनिवार्यता पर आगे चलकर विशेष जोर दिया गया। इन लोगों ने अपने मत के औचित्य-प्रदर्शन में जिन हेत्वाभासों और कूट-तर्कों का प्रयोग किया, उनके कारण आगे आने वाले दार्शनिकों को विचारों की यथार्थता और प्रामाणिकता के बारे में अध्ययन करने को विवश होना पड़ा। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप ही एरिस्टॉटल के दर्शन में तर्कशास्त्र (Logic) का जन्म हुआ।

सोफिस्टों ने मानवीय बुद्धि को तत्कालीन अंधविश्वासों, परम्परागत विचारों और सामाजिक रूढ़ियों से ऊपर उठाकर स्वतन्त्र संसार में विचरण करने की छूट दी। उनके अनुसार सारी दुनियाँ चाहे जो कुछ भी कहे, हमें केवल उन्हीं बातों को स्वीकार करना चाहिए जो हमारे अन्तःकरण को मान्य हों। यहाँ तक तो ठीक है। पर इस अन्तःकरण से

सोफिस्टों का तात्पर्य किसी सार्वभौम और सामान्य शक्ति से नहीं है जो प्रत्येक मानव के भीतर समान रूप से विद्यमान है, वरन् उस वैयक्तिक धारणा से है जो मनुष्यों में उनकी स्वार्थान्धता के कारण अलग-अलग रूप में दिखायी पड़ती है। यही कारण है कि सोफिस्टों के दर्शन में, विचार-स्वातन्त्र्य, अपकृष्ट होकर बौद्धिक और नैतिक अराजकता के रूप में प्रकट हुआ। उनका व्यक्तिवाद भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनका व्यक्तिवाद, स्वार्थवादिता का ही एक रूपान्तरण है।

सोफिस्टों की ग्रीक दर्शन को जो सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, वह यह है कि इन लोगों ने मानवीय विचारों को प्रबुद्ध और जागरित किया तथा रूढ़ियों और परम्पराओं पर आधारित दर्शन, धर्म, रीतियों और संस्थाओं की जड़ हिला दिया। उनका कहना था कि यदि इन विज्ञानों और शास्त्रों को अपना अस्तित्व कायम रखना है तो उन्हें तर्क बुद्धि के समक्ष अपना औचित्य प्रदर्शन करना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके निष्कर्षों को मानने के लिए हम बाध्य नहीं है। सोफिस्टों ने दर्शन को, ज्ञान के मानदण्ड के अनुसंधान के लिए विवश किया और इसके साथ नैतिकता को भी एक खुली चुनौती दी कि यदि नियमों की पवित्रता की रक्षा करनी है तो उसे सन्देहवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध अपनी युक्तता सिद्ध करनी ही होगी। इस प्रकार उनका महत्त्व समस्याओं के ''समाधान'' में उतना नहीं है जितना कि इस बात में है कि उन्होंने दार्शनिकों के समक्ष ज्ञान और नैतिकता सम्बन्धी बहुत-सी ''समस्याएँ'' रखी और उनका समुचित समाधान ढूँढ़ने के लिए उनको प्रेरित किया। सॉक्रेटीज़, प्लेटो एवं एरिस्टॉटल के दर्शन सोफिस्टों द्वारा उठाए गए प्रश्नों के समाधान के ही विभिन्न प्रयत्न है।

❑❑

सॉक्रेटीज़

(समय—ई० पू० 470—ई० पू० 399, जन्म-स्थान—एथेन्स)

ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के अन्त में यूनान की जो बौद्धिक और नैतिक अवस्था थी, उसका दिग्दर्शन हम पहले ही कर चुके हैं। **उस समय के सिद्धान्त-वाक्य ''मानव सब पदार्थों का मानदण्ड है''** ने ज्ञान-क्षेत्र में एक प्रकार की बौद्धिक और नैतिक अराजकता उत्पन्न कर दी थी, क्योंकि ज्ञान और आचार दोनों ही क्षेत्रों में सोफिस्टों ने उनके मानदण्डों की अवहेलना की थी। इस अराजकता से मुक्ति दिलाने के लिए यूनान में एक ऐसे महान् विचारक की आवश्यकता थी जो लोगों को असत् से सत् की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा निस्सार से सार-तत्त्व की ओर प्रेरित कर उनकी दृष्टि को सम्यक् दिशा में मोड़ सके। ऐसा महान् दार्शनिक सॉक्रेटीज के रूप में वहाँ अवतरित हुआ जो अपनी गुरुता के कारण ग्रीक दर्शन की विचारधारा को अगले दो हजार वर्ष तक प्रभावित करता रहा। ऐसे विचारक कई सहस्र वर्षों में केवल एक ही बार जन्म लेते हैं। **सॉक्रेटीज** ने ग्रीक दर्शन में उस विचारधारा का सूत्रपात किया जिसने प्लेटो और एरिस्टॉटल ऐसे महान् दार्शनिकों को जन्म दिया और जब तक ग्रीक दर्शन सॉक्रेटीज की विचारधारा का अनुसरण करता रहा, उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। पर ज्योंही ग्रीक विचारधारा सॉक्रेटीज के विचारों से विमुख हुई कि उसका पतन होना प्रारम्भ हो गया और अन्त में सॉक्रेटीज और प्लेटो के विचारों ने ही— जो प्लोटाइनस के दर्शन में पुनः प्रकट हुए—ग्रीक दर्शन को उच्च शिखर पर एक बार फिर लाकर आसीन कराया।

सॉक्रेटीज़ के दर्शन के स्रोत

सॉक्रेटीज़ ने अपने विचारों को कभी भाषाबद्ध नहीं किया। अतः उनके विषय में जो कुछ भी इतिहासकारों को जानकारी है, उसका श्रेय उसके दो सुप्रसिद्ध शिष्य प्लेटो और जेनोफन (Xenophon) को है। 'एरिस्टॉटल' ने भी सॉक्रेटीज के जीवन और कृतियों के विषय में एक संक्षिप्त टिप्पणी दी है जिसमें हमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है, पर वे बातें लगभग वही है जो प्लेटो और जेनोफन की रचनाओं में पाई जाती हैं। प्लेटो और जेनोफन ने सॉक्रेटीज के दार्शनिक विचारों को इतने भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है कि यह पता लगाना कठिन है कि इनमें किसका विचार अधिक सही है। प्लेटो के विषय में तो कहा जाता है कि उन्होंने अपने ही दार्शनिक विचारों को सॉक्रेटीज के माध्यम से व्यक्त कराया है। प्लेटो के संवादों के मुख्य पात्र 'सॉक्रेटीज' के मुख से जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कराया गया है, क्या वे सिद्धान्त वास्तव में ''ऐतिहासिक'' सॉक्रेटीज के ही हैं अथवा प्लेटो के 'सॉक्रेटीज़' के हैं, इस बात का निर्णय करना बहुत ही कठिन है।

प्लेटो के विषय में जानकारी का दूसरा स्रोत जेनोफन द्वारा लिखित रचना 'स्मरणीय तथ्य' (Memorabilia) है जिसमें उसने सॉक्रेटीज के विचारों का बड़ा संयमित और

तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इन विवरणों के आधार पर, प्लेटो द्वारा उपस्थित सॉक्रेटीज के आदर्शात्मक रूप की अपेक्षा हम उनके वास्तविक स्वरूप को बड़ी आसानी से समझ सकते हैं। पर, दुर्भाग्य की बात तो यह है कि जेनोफन एक सैनिक था जिसके भीतर दार्शनिक प्रवृत्तियों का पूर्णतया अभाव पाया जाता था और साथ-साथ उसने अपनी पुस्तक सॉक्रेटीज के पक्ष के तर्कपूर्ण समर्थन के लिए ही लिखी थी। ऐसी अवस्था में उसके निर्णय-वाक्यों पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता। रसेल ने जेनोफन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

''एक मेधावी व्यक्ति जो विचार व्यक्त करता है, उसका एक निर्बुद्धि व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया गया विवरण कभी सही नहीं हो सकता। आदर्शनिक मित्रों की अपेक्षा, दार्शनिकों में से किसी अपने उग्रतम विरोधी द्वारा उद्धरित किया जाना मैं अधिक श्रेयस्कर समझूँगा।''[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सॉक्रेटीज के दर्शन की जानकारी के लिए लोगों को प्लेटो के संवादों पर ही अधिक निर्भर रहना होगा। कुछ आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि प्लेटो की एपॉलाजी (Apology), उसके कुछ प्रारम्भिक संवाद और एल्सिबिएडीज़ (Alcibiades) का वह वक्तव्य जो सिम्पोजियम (Symposium) में उद्धृत है, सॉक्रेटीज के विषय में जानकारी प्राप्त करने के प्रमुख स्रोत है।

जीवन और व्यक्तित्व

सॉक्रेटीज के पिता सॉफ्रॉनिस्कस एक बहुत अच्छे शिल्पकार थे और उनकी माता फ़ीनरीट एक धात्री थीं। सर्वप्रथम उन्होंने अपने पिता के व्यवसाय सीखने का प्रयत्न किया। और उसमें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। बाद में उन्होंने प्रकृति-विज्ञानों का भी अध्ययन किया, पर फिर भी उनकी जिज्ञासा तृप्त न हुई और थोड़े समय के बाद उन्होंने उनका अध्ययन छोड़ दिया। इनका सोफिस्टों के साथ भी सम्बन्ध था, क्योंकि वे सोफिस्टों के प्रवचनों को बड़े ध्यान से सुनते थे और कभी-कभी विद्यार्थियों से उनके प्रवचनों को सुनने के लिए आग्रह भी करते थे। उनके विषय में जब धर्मवाणी की गई कि ''सॉक्रेटीज़ सब मनुष्यों में सर्वाधिक बुद्धिमान है''[2] तो उन्होंने इसका अर्थ यह लगाया कि वे सचमुच अन्य व्यक्तियों से अधिक बुद्धिमान हैं क्योंकि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है जबकि अन्य लोग अज्ञानी होते हुए भी अपने को ज्ञानी समझते हैं। यह उनकी विनम्रता थी। सॉक्रेटीज़ का यह ध्येय था कि वे लोगों को अज्ञान-मार्ग से विरत कर ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्त करें। इसके लिए उन्हें अन्तरात्मा की ध्वनि भी सुनाई पड़ती थी। मनुष्यों के मन में ज्ञान और धर्म के लिए व्याकुलता उत्पन्न करना उनका जीवन-लक्ष्य था और उनका दर्शन ''ईश्वरीय सेवा''[3] का एक रूप था। वे आत्मविश्वास, विशुद्धता, साधुता, सच्चरित्रता तथा ईमानदारी के आदर्श थे। इतना होते हुए भी उनमें सहिष्णुता, सामाजिक सौन्दर्य, सेवाभाव एवं संस्कृति की कमी न थी।

---

1. रसेल, बी, हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलॉसफी, पृ० 93
2. फीडो, 96 ए ff.
3. थीटिटस 151 बी०

राजनीति से वे अपने को बिलकुल दूर ही रखना चाहते थे, पर यदि अपनी इच्छा के विरुद्ध कभी उसमें पड़ जाते, तो उससे मुख न मोड़ते थे चाहे उसमें कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों।[1] प्रजातान्त्रिक संविधान की उनकी आलोचनाएँ, सभी लोगों से उनका परिप्रश्न तथा प्रतिपरीक्षण करना एवं सर्वसाधारण एथेन्स[2] के निवासियों की अपेक्षा उनके स्वभाव की विलक्षणता ने बहुत से लोगों को उनका शत्रु बना दिया। उनके स्वभाव में कुछ ऐसे गुण अवश्य थे जिन्होंने लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि वे एक असामान्य और विषम व्यक्ति हैं। पर, वास्तव में इस प्रकार की उनके अन्दर कोई भी बात न थी। 70 वर्ष की अवस्था में एथेन्स के लोगों ने उन पर तीन अभियोग लगाये—प्रथम अभियोग यह था कि उन्होंने राष्ट्रीय देवताओं की अवहेलना की है; दूसरा अभियोग था कि राष्ट्रीय देवताओं के स्थान पर सॉक्रेटीज ने अपने कल्पित देवताओं को स्थापित करने का प्रयत्न किया; और तीसरा अभियोग यह था कि उन्होंने एथेन्स के निवासियों और विशेषकर नवयुवकों को पथभ्रष्ट और गुमराह किया।

पर वास्तव में उपर्युक्त लगाए गए सभी अपराध निराधार थे। न तो उन्होंने राष्ट्रीय देवताओं का तिरस्कार किया और न देशवासियों को गुमराह ही। उन्होंने केवल इतना ही निवेदन किया था कि इन अनेक राष्ट्रीय देवताओं के ऊपर एक परमपिता परमेश्वर है जिसके ये अनेक देव केवल आभास-मात्र हैं। परमेश्वर, अनेक देवताओं सहित सबका नियन्ता, रक्षक और पोषक है। इस प्रकार राष्ट्रीय देवताओं के तिरस्कार करने की अपेक्षा सॉक्रेटीज ने उनको परमेश्वर का ही प्रतीक मानकर, उनके महत्त्व को और भी बढ़ाया। इसी प्रकार जहाँ तक देश के नवयुवकों को गुमराह करने की बात है, वह भी बिल्कुल असत्य आरोप था। नवयुवकों को उन्होंने ऐसी कोई शिक्षा नहीं दी जो उनके अथवा देश के हित के प्रतिकूल पड़ती हो। जिसके जीवन का ध्येय ही मानव-मात्र का 'कल्याण' करना हो तथा उनकी 'नैतिक समुन्नति' करनी हो, उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह नवयुवकों को पथभ्रष्ट और गुमराह करेगा! सॉक्रेटीज के ऊपर अभियोग लगाये जाने का एक अन्य कारण भी था। अज्ञानता और भ्रमवश यूनान के लोगों ने उन्हें सोफ़िस्ट समझ लिया। सोफिस्टों ने धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में जो आदर्शों की अवहेलना की, उसके कारण यूनान में उनके विरुद्ध एक भयंकर प्रतिक्रिया हुई। सॉक्रेटीज भी इस प्रतिक्रिया के शिकार हुए जिसके कारण भी अन्त में उन्हें अपराधी स्वीकार किया गया।

उपर्युक्त अपराधों के लिए सॉक्रेटीज़ को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया। उन्होंने एक-एक करके सभी अपराधों को अस्वीकार किया। फिर भी न्यायालय ने भ्रष्ट उपायों का सहारा लेकर नवयुवकों को बहकाने का अपराध सॉक्रेटीज़ पर थोप ही दिया। इतना होते हुए भी यदि सॉक्रेटीज़ ने अनुनायक दृष्टिकोण अपनाया होता तो वे इन अपराधों से मुक्त किए जा सकते थे। देश का कानून था कि न्यायालय में अभियोक्ता और अभियुक्त दोनों को दण्ड

---

1. एपॉ०, 33 सी०, 30 डी ई०, 31 ए, 28 ई०, 23 बी०
2. एपॉ०, 29 बी०, 35 ए०

प्रस्तावित करने का अधिकार था और फिर अन्तिम निर्णय जज के ऊपर छोड़ दिया जाता था कि वह किस दण्ड को कार्यान्वित करे। अभियोक्ताओं ने सॉक्रेटीज़ के लिए मृत्यु-दण्ड का प्रस्ताव रखा, पर जब सॉक्रेटीज से पूछा गया तो उन्होंने अपने लिए किसी प्रकार के दण्ड को प्रस्तावित करने से अस्वीकार कर दिया। कारण यह था कि उनके द्वारा स्वयं अपने लिए दण्ड प्रस्तावित करने का अर्थ होता, अपने अपराध की स्वीकृति जो उन्हें बिलकुल मान्य न थी। अपने अपराध को स्वीकार करने की कौन कहे उन्होंने अपने को सर्वोपकारी (Public Benefactor) रूप में घोषित किया और जज से निवेदन किया कि यदि उन्हें उनके साथ न्याय करना ही है तो उन्हें एक ही मेज पर राष्ट्रपति के पार्श्व में स्थान देकर उनका सार्वजनिक समादर किया जाय, और यदि यह संभव नहीं हे तो, बिना स्वीकार किए, केवल राज्य-कानून की मर्यादा की रक्षा के लिए, उन्होंने प्रतीकात्मक रूप में अपने लिए तीस मिनस (यूनानी सिक्का) का अर्थदण्ड प्रस्तावित किया। जजों ने सॉक्रेटीज के इस व्यवहार पर क्रुद्ध होकर, उसे विषपान द्वारा मृत्यु-दण्ड दिया। सॉक्रेटीज ने अपने सिद्धान्तों की बलि देने की अपेक्षा विषपान करना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझा। वे शान्तिपूर्वक हँसते-हँसते विष का प्याला पीकर अमर हो गए।

प्लेटो ने अपने संवाद एपॉलॉजी (Apology) में सॉक्रेटीज का वह महत्त्वपूर्ण भाषण दिया है जो उन्होंने अपने अभियोग की सफाई में न्यायालय के समक्ष दिया था। उन्होंने अपने भाषण में कहा था— 'एथेन्स के नागरिकों! मैं तुम्हारा आदर और तुमसे प्रेम करता हूँ, किन्तु तुम्हारी आज्ञा मानने की अपेक्षा मैं ईश्वर की आज्ञा मानूँगा, और जब तक मुझमें जीवन और शक्ति है, मैं दार्शनिक उपदेश देना और उनके अनुसार स्वयं आचरण करना बन्द नहीं कर सकता, और मेरा विश्वास है कि इस राज्य की, मेरी इस ईश्वर-सेवा से बढ़कर, और कोई भलाई नहीं हुई है।.... शरीर तो आत्मा का बन्धन है। आत्मा अमर है।.... भले आदमी के लिए परलोक में कोई भय नहीं। अब वियोग का समय आ गया है और हम अपने-अपने मार्गों पर चलते हैं— मैं मृत्यु-पथ पर और तुम जीवन-पथ पर। इनमें कौन-सा मार्ग उत्तम है, ईश्वर ही जानता है।'[1]

इसी प्रकार फ़ीडो (Phaedo) में सॉक्रेटीज के अन्तिम समय का वर्णन है। उन्होंने अपने मित्रों को संबोधित करते हुए उद्‌बोधित किया कि आत्मा अमर है जिसके लिए दुःख प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। सच्चरित्र व्यक्ति के लिये परलोक में भी आनन्द है। फिर वे शांतिपूर्वक हँसते हुए विष का पान कर लेते हैं। 'फीडो' के अन्तिम शब्द इस प्रकार हैं—'इस प्रकार हमारे मित्र का अन्त हुआ, उस व्यक्ति का जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पुरुष, सबसे बड़ा ज्ञानी, और सबसे बड़ा चरित्रवान् था।'

सॉक्रेटीज़ की प्रमुख दार्शनिक समस्या

सॉक्रेटीज़ के समक्ष मुख्य प्रश्न सोफिस्टों की चुनौती का सामना करना था जिन्होंने अपने निषेधक तर्कों द्वारा "ज्ञान" और "नैतिकता" की जड़ें ही बिलकुल हिला दी थीं। यदि

1. एपॉ०

संशयवाद ही सब कुछ है तो उच्छेदवादी निष्कर्षों से हम अपने को नहीं बचा सकते। **सॉक्रेटीज़ ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि ज्ञान, नैतिकता और राजनीति के क्षेत्र में जो उसके चारों ओर बौद्धिक अराजकता फैली हुई है, उसका एक मात्र कारण 'सत्य' और 'ज्ञान' के स्वरूप को ठीक प्रकार न समझना है। अतः 'ज्ञान' की समस्या का उचित समाधान ढूँढ़ना उसके दर्शन का प्रथम उद्देश्य है।** पर 'ज्ञान' में जो उसकी अभिरुचि है, वह क़ेवल बौद्धिक विलास के लिए नहीं, वरन् उसका उद्देश्य लोगों में 'ज्ञान' के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना एवं उन्हें धर्मात्मा बनाना है। तात्पर्य यह है कि सॉक्रेटीज 'ज्ञान' के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाता है जिसके कारण वह लोगों को सम्यक् जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान कर सके। उसका लक्ष्य मनुष्यों को 'ज्ञान' देना नहीं, वरन् 'ज्ञानी' बनाना था।

दूसरी बात हमें जो सॉक्रेटीज के विषय में ध्यान देने की है, वह यह है कि मानवीय बुद्धि की अपार शक्ति में उनकी गहरी आस्था थी। वे संशयवादी नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि सोफिस्टों का दर्शन बिलकुल ही आधारहीन और आत्मघाती है। सोफ़िस्टों ने घोषित किया कि वस्तुनिष्ठ सत्य, ज्ञान और नैतिकता अलभ्य हैं, क्योंकि सभी मनुष्य अपने-अपने दृष्टिकोण से किसी बात का कथन करते हैं। आत्मनिष्ठ ज्ञान ही एक मात्र सत्य है। सॉक्रेटीज़ ने कहा कि इस प्रकार की विषयिविज्ञानवादिता, संशयवादिता और सापेक्षिकता दर्शन के लिए संघातक है। यह ठीक है कि मनुष्य के विचारों में अनेकता या विविधता पायी जाती है, पर इन अनेकताओं और विविधताओं में 'एकता' और 'समन्वय' का अनुसंधान करना ही दर्शन का लक्ष्य होना चाहिए। मनुष्य की इच्छाओं और भावनाओं के पार्थक्य में जो उनके 'लक्ष्य' की एकतन्त्रता है, वही दर्शन की आधारशिला है। सॉक्रेटीज़ के दर्शन का प्रधान उद्देश्य उन सार्वभौमिक सत्यों की खोज करना था जिनके विषय में सभी एकमत हो सकें। इसके लिए उन्होंने एक विशिष्ट पद्धति का आविष्कार किया जिसे ग्रीक दर्शन-इतिहास में सॉक्रेटिक पद्धति (Socratic Method) कहते हैं।

सॉक्रेटिक पद्धति (Socratic Method)

सॉक्रेटीज़ का उद्देश्य दर्शन में किसी निकाय (System) की स्थापना करना नहीं था, वे अपने को दार्शनिक भी नहीं समझते थे। इसलिए उन्होंने अपने दर्शन का नियमन भी कभी नहीं किया।[1] सॉक्रेटीज़ का दर्शन, किसी को 'शिक्षित' करने के लिए नहीं, वरन् लोगों में आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा जागरित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण क़दम था। इसके लिए उन्होंने एक द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति की खोज की जो प्रश्नोत्तर की पद्धति है। पर, इस द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति पर विचार करने के पूर्व हमें उन आधारभूत तत्त्वों पर विचार कर लेना चाहिए जिनको सॉक्रेटीज़ स्वतः सिद्ध, सहज और सार्वभौम मानता था और जो उसके दर्शन के प्रारम्भ-बिन्दु हैं।

सॉक्रेटीज का धर्म में अटूट विश्वास था। धर्म के बिना वे किसी जगत् की कल्पना तक

---

1. एपॉ० 33 ए० बी०

नहीं कर सकते थे। बिना धर्म के जगत् का अस्तित्व असम्भव है।[1] पुन: यदि संसार में धर्म है तो उस धर्म का ज्ञान भी होना अनिवार्य है। सोफ़िस्टों ने कहा कि ज्ञान असम्भव है। इसके विपरीत सॉक्रेटीज ने कहा कि ज्ञान सम्भव है। यदि-ज्ञान असम्भव होता तो हमें 'धर्म' के अस्तित्व के विषय में निश्चित ज्ञान कभी न हो सकता था। अत: सॉक्रेटीज़ के दर्शन में, नैतिक चेतना ज्ञान की पूर्व-धारणा (Epistemological Postulate) है। पूर्व-धारणा ही नहीं, बल्कि पूर्वाग्रह है। आगे चलकर सॉक्रेटीज़ ने धर्म और ज्ञान के भीतर तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित किया और निवेदन किया कि धर्म ही ज्ञान है और ज्ञान ही धर्म है। (Knowledge is virtue and virtue is knowledge)।

ज्ञान की सम्भावना को सिद्ध करने के बाद, सॉक्रेटीज़ ने कहा कि 'ज्ञान' की प्राप्ति हमें तभी हो सकती है जब कि युक्ति-पद्धति का प्रयोग किया जाय। उसकी दर्शन-पद्धति को परिभाषात्मक, विवादात्मक, द्वन्द्वात्मक इत्यादि नाम दिए जाते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य विशिष्ट और आकस्मिक इन्द्रिय-संवेदनों से अतीत, सामान्य और नित्य प्रत्ययों का अनुसंधान करना था। सॉक्रेटीज़ के पद्धति की निम्न पाँच प्रमुख विशेषताएँ हैं—

1. यह संदेह-पद्धति (Sceptical Method) है। सॉक्रेटीज़, डेकार्ट्ज़, की भाँति, अपना दर्शन संदेह से प्रारम्भ करता है। वे किसी समस्या के समाधान के पहले उसके प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते थे जिसे सॉक्रेटिक विडम्बना (Socratic Irony) कहते हैं। कुछ लोगों के अनुसार सॉक्रेटीज का यह मिथ्या आडम्बर था कि किसी चीज को जानते हुए भी वे न जानने का बहाना किया करते थे। परन्तु बात ऐसी न थी। उनके अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति में बौद्धिक विनयशीलता होनी अनिवार्य है। ज्ञान और दम्भ के विरोध को स्पष्ट करने के लिए ही सॉक्रेटीज़ ने 'विनम्रता' का प्रदर्शन किया। पर इतना होने हुए वे सोफिस्टों की भाँति संशयवादी नहीं है। सोफिस्टों का संशयवाद, निश्चयात्मक और निर्णायक है; इसके विपरीत, सॉक्रेटीज़ का संदेह अस्थायी और परीक्षात्मक है। सॉक्रेटीज़ और डेकार्ट्स दोनों के लिए संदेह असंदिग्ध सत्य तक पहुँचने का एक साधन है। संदेह साध्य नहीं हो सकता।

2. यह विवादात्मक (Conversational) है। सॉक्रेटीज़ वाद-विवाद के अत्यन्त प्रेमी थे। पर यह वाद-विवाद शुद्ध व्यर्थ का वाद-विवाद नहीं था; इस वाद-विवाद का स्पष्ट उद्देश्य तत्त्व-बोध था। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति थी जिसका शिक्षात्मक (Didactic) महत्त्व था। सॉक्रेटीज़ का पूर्ण विश्वास था कि ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आत्मा के इस निहित ज्ञान को विकसित या प्रस्फुटित करना है। इस प्रकार जो भी उनके पास कोई प्रश्न पूछने आता, उससे वे स्वयं उस प्रश्न का उत्तर ढूँढने को कहते थे। प्रथम उस व्यक्ति द्वारा ही एक अस्थायी विचार प्रस्तुत किया जाता और फिर सॉक्रेटीज़ उसकी आलोचना करते थे। इस आलोचना को दृष्टि में रखकर वह व्यक्ति उस प्रश्न का दूसरा समाधान प्रस्तुत करता था और सॉक्रेटीज़ पुन: उसकी आलोचना करता

1. ध्रियते येन तद् धर्म:

था। यह क्रिया तब तक चलती रहती जब तक कि प्रश्न का कोई संतोषजनक हल नहीं निकल जाता था। सॉक्रेटीज़ की इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली को **धात्री-प्रणाली**[1] (Maieutic Method) अथवा **बौद्धिक प्रसाविकी** (Intellectual Midwifery) भी कहते हैं। जिस प्रकार किसी धात्री का काम बाहर से बच्चे को माँ के गर्भ में रखना नहीं होता, उसका काम तो केवल माँ को बच्चा जनने में मदद करना ही होता है, ठीक उसी प्रकार शिक्षा का कार्य किसी बाहरी ज्ञान को व्यक्ति के मस्तिष्क में ठूँसना नहीं होता, उसका उद्देश्य मनुष्य की आत्मा में निहित ज्ञान को स्पष्ट, विकसित और प्रस्फुटित करना ही होता है। यही काम सॉक्रेटीज़ की प्रश्नोत्तर-पद्धति का भी है।

3. सॉक्रेटिक पद्धति प्रत्ययात्मक (Conceptual) अथवा परिभाषात्मक (Definitional) है।

सॉक्रेटीज़ के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके प्रत्ययों अथवा परिभाषाओं में सन्निहित होता है। उदाहरण के लिए, यदि हमें 'मनुष्य' का ज्ञान प्राप्त करना है तो अनेक विशिष्ट मनुष्यों का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके सामान्य गुणों को उनके विशेष गुणों से अलग करके देखना होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में बौद्धिकता एवं पशुता के सामान्य गुण पाए जाते हैं। इन दोनों गुणों को मिलाकर हम 'मनुष्य' के सामान्य प्रत्यय का निर्माण करते हैं। सॉक्रेटीज़ के अनुसार 'मनुष्य' का वास्तविक ज्ञान इसी प्रत्यय का ज्ञान है। ''मनुष्य एक बौद्धिक पशु है'' 'मनुष्य' का वास्तविक ज्ञान है। इसी प्रकार किसी वस्तु की परिभाषा उसकी प्रजाति (Genus) और अवच्छेदक (Differentium) के संयोग से बनती है। 'पशु' मनुष्य की 'प्रजाति' है और 'बौद्धिकता' उसका अवच्छेदक भाव है। इन दोनों को मिलाकर 'मनुष्य' की जो परिभाषा बनती है, वह है: 'मनुष्य' एक बौद्धिक पशु है। इस प्रकार किसी वस्तु का ज्ञान उसके प्रत्ययों और उसकी परिभाषा का ज्ञान है। सॉक्रेटीज़ के अनुसार नित्यता ज्ञान का स्वभाव है। अतः वास्तविक ज्ञान क्षणिक संवेदनाओं और क्षणिक प्रत्ययों में न होकर नित्य प्रत्ययों और परिभाषाओं में निहित होता है। सॉक्रेटीज़ का सारा जीवन 'न्याय', 'धर्म', 'ज्ञान', 'साहस' इत्यादि नैतिक प्रत्ययों की परिभाषाओं को स्थिर करने में बीता, क्योंकि उसके अनुसार 'यदि हमने उनकी परिभाषाओं को जान लिया तो हमें उन प्रत्ययों का भी पूर्ण ज्ञान हो गया।'

4. सॉक्रेटिक पद्धति की चौथी विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध हमारे प्रतिदिन के अनुभवों से है। इस प्रकार यह **अनुभवात्मक** और **आगमनात्मक** है, क्योंकि अस्थायी रूप से निर्मित परिभाषाओं की समालोचना हमारे दिन-प्रतिदिन के अनुभवों के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत की जाती है। इसके अतिरिक्त, सामान्य प्रत्यय जिनसे हमारा ज्ञान निर्मित है, अनुभवों पर ही आश्रित है। प्रथम हम विशिष्ट अनुभवों की तुलना करते हैं। तुलना के परिणामस्वरूप उनके सामान्य गुणों को विशेष गुणों से पृथक कर फिर उनका सामान्यीकरण करते हैं। सामान्यीकरण के उपरान्त जो प्रत्यय इस प्रकार निर्मित होता है, उसका नामकरण करते हैं।

---

1. प्लेटो, थीटिटस, 149 ई० एफ०

यही सामान्य प्रत्यय हमारे ज्ञानों के स्रोत हैं। इसी कारण सॉक्रेटिक पद्धति आगमनात्मक (Epagogic या Inductive) कही जाती है।

5. सॉक्रेटिक पद्धति आगमनात्मक होने के साथ निगमनात्मक (Deducitve) भी है। सॉक्रेटीज़ आगमन की सीमाओं और मर्यादाओं से भलीभाँति परिचित हैं। उनके अनुसार आगमन को जब तक निगमन की कसौटी पर रख कर सिद्ध न किया जाय, उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। आगमन के आधार पर जो परिभाषाएँ स्थापित की जाती है वे तब तक असिद्ध हैं जब तक कि उनके तात्पर्यों का अनुभव में परीक्षण नहीं कर लिया जाता। यह निगमन के द्वारा ही सम्भव है।

सॉक्रेटीज़ की परिभाषात्मक शैली ने ग्रीक दर्शन में ज्ञान के विकास में पर्याप्त योगदान किया है। प्लेटो ने इस पद्धति से प्रेरणा ग्रहण किया जिसके बल पर उन्होंने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) को जन्म दिया। एरिस्टॉटल ने जिन्होंने पाश्चात्य विचारधारा में सर्वप्रथम तर्क-शास्त्र का सुव्यवस्थित अध्ययन किया, सॉक्रेटीज़ की परिभाषात्मक प्रणाली से काफी प्रभावित थे। विशेष कर उनकी परिभाषा-सम्बन्धी विचारधारा बिलकुल ही सॉक्रेटीज़ से ली गई है।

सॉक्रेटीज़ के प्रत्ययवाद ने ग्रीक दर्शन में क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न किए। इसके पहले सोफिस्टों ने कहा था कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही ज्ञान है। इसके विपरीत सॉक्रेटीज़ ने उत्तर दिया कि यदि ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता को सुरक्षित रखना है, तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कभी भी 'ज्ञान' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वास्तविक ज्ञान प्रत्ययों और उनके संबंधों का ज्ञान है। इस प्रकार ग्रीक दर्शन में सॉक्रेटीज़ ने वही काम किया जो आधुनिक दर्शन में काण्ट ने किया। जिस प्रकार काण्ट ने कहा कि "समस्त ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती"[1] उसी प्रकार सॉक्रेटीज़ के अनुसार भी हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का आधार अनुभव है, पर ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से न होकर बुद्धि से होती है, क्योंकि प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति बुद्धि ही में होती है।

कुछ लोगों ने सॉक्रेटीज़ के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया है कि बुद्धि का कार्य आधार-वाक्यों (Premises) से निष्कर्ष निकालना है, न कि अनुभव के आधार पर प्रत्ययों की स्थापना करना। पर, यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो अन्ततः बुद्धि का संबंध प्रत्ययों से ही होता है। बुद्धि का कार्य तर्क करना है। तर्क दो प्रकार का होता है: आगमनात्मक तर्क और निगमनात्मक तर्क। आगमनात्मक तर्क में हम विशेषों के आधार पर सामान्य की प्रतिष्ठा करते हैं और सामान्य की प्रतिष्ठा का अर्थ प्रत्ययों की प्रतिष्ठा करना ही होता है। इसी प्रकार, निगमनात्मक तर्क में सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्ति-विशेष के ऊपर घटित किया जाता है। सामान्य सिद्धान्तों के विशिष्ट व्यक्तियों के ऊपर उपनय करने में प्रत्ययों की सहायता लेनी ही पड़ती है। अतः जब सॉक्रेटीज़ ने घोषित किया कि बुद्धि सामान्य प्रत्ययों को स्थापित करने वाली इन्द्रिय है तो इसमें कोई अत्युक्ति की बात नहीं हो सकती।

---

1. काण्ट, क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, प्रस्तावना

सॉक्रेटीज़ ने दर्शन के केन्द्र-बिन्दु को प्रत्यक्षों से हटाकर सामान्य प्रत्ययों पर लाकर खड़ा कर दिया। उनका यह निश्चित मत था कि यदि ज्ञान को सापेक्षिकता और वैयक्तिकता के ग्रास से मुक्त करना है तो ज्ञान को सामान्य प्रत्ययों का सहारा लेना ही पड़ेगा। सॉक्रेटीज़, प्रोटेगोरस के इस सिद्धांत-वाक्य कि "मानव सभी पदार्थों का मानदण्ड है" के साथ पूर्ण सहमत हैं, पर इसका अर्थ उन्होंने अपने प्रत्ययवाद के सन्दर्भ में लिया है। 'मानव' से उनका तात्पर्य 'सामान्य मानव' से, 'मानदण्ड' का तात्पर्य 'वस्तुनिष्ठता' से, और 'पदार्थों' से उनका तात्पर्य 'सामान्य प्रत्ययों' से था। जब तक ऐसा नहीं होता, ज्ञान, विज्ञान, परस्पर वार्तालाप और अंत:संचार की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

सॉक्रेटिक पद्धति की उपर्युक्त तमाम अच्छाइयों के होते हुए भी हम उसके कुछ अवगुणों की ओर दृष्टिपात किए बिना नहीं रह सकते। यह पद्धति तर्कशास्त्र, गणित जैसे आकारनिष्ठ (Formal) विज्ञानों के लिए भले ही उपयोगी हो, पर वस्तुनिष्ठ और अनुभवाश्रित विज्ञानों के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधानों को उनके भीतर कृत्रिमता लाये बिना, संवादों की भाषा में नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त विज्ञान का कार्य वास्तविक जगत् में घटित होने वाली घटनाओं का वर्णन और उनकी व्याख्या करना है उनको केवल परिभाषित करना नहीं। विज्ञान, परिभाषाओं की एक सूची मात्र नहीं होता, जैसा कि सॉक्रेटीज़ ने समझा।

सॉक्रेटिक पद्धति, सॉक्रेटीज़ और प्लेटो के पूर्व-स्मृति (Reminiscence) सिद्धान्त के अनुकूल है जिसके अनुसार ज्ञान, पूर्वानुभूत विज्ञानों का संस्मरण मात्र है। विज्ञान में हमें जो ज्ञान 'सूक्ष्मदर्शक' या दूरदर्शक यन्त्रों के माध्यम से होता है, उसका सॉक्रेटीज़ की विवादात्मक पद्धति से जानने की कोशिश करना असम्भव ही नहीं हास्यास्पद भी है।

सॉक्रेटिक पद्धति की सर्वाधिक उपयोगिता उन क्षेत्रों में है जिनके विषय में हमें पर्याप्त जानकारी तो है, पर किसी कारण उस जानकारी को हम विचारबद्ध नहीं कर पाए हैं। इस प्रकार वास्तविक समस्याओं को छोड़कर तार्किक और भाषिक समस्याओं के समाधान में इस पद्धति का पर्याप्त उपयोग किया जा सकता है।

नीति-विज्ञान

ज्ञान-मार्ग में सॉक्रेटीज़ का अटूट विश्वास था। ज्ञान के माध्यम से ही मनुष्य तत्त्व-साक्षात्कार कर जीवन से मुक्त हो सकता है। उनके अनुसार अज्ञान ही बन्धन है और ज्ञान ही मोक्ष है। पर जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है कि सॉक्रेटीज़ की ज्ञान में रूचि केवल बौद्धिक ही नहीं, थी, उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी था। या यों कहा जाय कि **उन्होंने सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया।** व्यवहार मुख्य है; सिद्धान्त गौण है। **सॉक्रेटीज़ ने 'धर्म' को जानने के लिए जो इतना प्रयत्न किया, उसका एकमात्र उद्देश्य "धर्मी" बनना था। 'ज्ञान', धर्म का पूर्व प्रतिबंध है। सॉक्रेटीज़ के अनुसार 'ज्ञान' और 'धर्म' तत्त्व के दो समानान्तर पहलू हैं। धर्म 'ज्ञान' के अस्तित्व का कारण** (Ratio Essendi) **है और ज्ञान धर्म की प्रामाणिकता का कारण** (Ratio

Cognoscendi) **है। सॉक्रेटीज़ ने ज्ञान और धर्म के बीच जो तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित किया, उसका नीति-विज्ञान में पर्याप्त महत्त्व है।** उग्रवादियों (Radicalists) के अनुसार नैतिक नियम, नैसर्गिक नहीं होते और न उसके पीछे कोई आध्यात्मिकता ही होती है। नैतिक संसार में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत ही चरितार्थ होती है। इसी प्रकार रूढ़िवादियों (Conservatives) के अनुसार 'नैतिकता' कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके विषय में तर्क करने की आवश्यकता हो; नैतिकता निरपेक्ष आदर्श-स्वरूप होती है जिसके अनुसार कार्य करना सबका कर्त्तव्य है। पर **सॉक्रेटीज़ के अनुसार, नैतिकता जीवन की न तो कोई आकस्मिक घटना है और न रूढ़िगत विचार ही है, वरन् यह बौद्धिक सिद्धान्तों पर आधारित नियम है।** नैतिकता का जीवन और जगत् दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, और यह हमारे जीवन के आदर्शों एवं चरम उद्देश्यों द्वारा निर्धारित होती है। जीवन का एक परम-शुभ है जिसको लक्ष्य कर नैतिक नियमों की व्यवस्था की जाती है।

अब **सॉक्रेटीज़ ने जिज्ञासा प्रकट की कि परम-शुभ क्या है जिसके लिए मनुष्य कर्तव्यशील होता है। वह परम शुभ क्या है जिसके समक्ष अन्य सभी 'शुभ' गौण माने जाते हैं। सॉक्रेटीज़ ने स्वयं इसका उत्तर दिया : "ज्ञान ही परम-शुभ है," "ज्ञान ही निश्रेयस् है।" सॉक्रेटीज़** के नीति-विज्ञान की **केन्द्रीय विचारधारा इस सूत्र में सन्निहित है। 'ज्ञान ही धर्म है।'** सद्विचार, सत्कर्म का पूर्व-प्रतिबन्ध है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार किसी 'जलयान' के सम्यक् संचालन के लिए अथवा किसी 'राज्य' की सुव्यवस्था के लिए व्यक्ति को जलयान की बनावट व उसके कार्य अथवा 'राज्य' की प्रकृति व उसके उद्देश्यों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए ठीक उसी प्रकार 'धर्मी' बनने के लिए किसी व्यक्ति को 'धर्म' और उसके अवयवों—आत्म-संयम, साहस, न्याय, मिताचार इत्यादि की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। एक स्थान पर सॉक्रेटीज़[1] ने कहा है—

For he thought that all the virtues are forms of knowledge, so that to know what was just, was at the same time ro be just. For to have learnt geometry and house-building is at the same time to be a geometer and house-builder.

सॉक्रेटीज़ के नीति-विज्ञान के मुख्य 'निर्णय' एवं उनकी उपपत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

1. **'ज्ञान ही धर्म है।'** क्योंकि—

प्रत्येक व्यक्ति 'प्रसन्नता' चाहता है।
प्रसन्नता शुभ कर्मों पर आधारित है।
किन्तु शुभ कर्मों के लिए 'शुभ' का ज्ञान होना आवश्यक है।
इस प्रकार ज्ञान शुभ कर्मों का सार है।
अतः ज्ञान ही धर्म है।

2. **'कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से न बुरा होता है और न अनिच्छा से भला।** इस निर्णय को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं—

---

1. एथिका यूडेमिया, 1216, बी० 3-10

प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्नता का जीवन यापन करना चाहता है। अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति शुभ कर्मों को करने का इच्छुक है। अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति शुभ कर्मों का ज्ञान रखना चाहता है।

अत: कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से न बुरा है और न अनिच्छा से भला।

3. **'यदि किसी व्यक्ति ने जानबूझकर कोई अशुभ कर्म किया है तो वह उस व्यक्ति से श्रेष्ठतर है जिसने यही काम अनजाने में किया है।'**

उपर्युक्त निर्णय ऐसा है जिसे शायद ही कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति स्वीकार करे, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर कोई अपराध करता है तो वह व्यक्ति अधिक दोषी ठहराया जाता है, अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के जिसने यही अपराध अज्ञानवश किया है। पर, सॉक्रेटीज़ को यह मान्य नहीं है। उनके अनुसार प्रथम तो यह असम्भव है कि किसी व्यक्ति को अपने अशुभ कर्म की पूर्ण जानकारी हो और वह उस कर्म को करे। जब हम अपने 'दोष' को 'दोष' नहीं समझते, तभी दोष की ओर प्रवृत्त होते हैं। पर यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि कोई व्यक्ति जानबूझकर 'अशुभ कर्म' में प्रवृत्त हो रहा है, तो कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसके अन्दर 'शुभ कर्मों' के वे अनिवार्य तत्त्व (ज्ञान) वर्तमान हैं जो भविष्य में उसे शुभकर्मों की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। पर, अज्ञानियों के भीतर तो शुभ कर्मों के ये आवश्यक तत्त्व (ज्ञान) भी वर्तमान नहीं होते और इसीलिए उनके अन्दर शुभ कर्मों की असाध्यता है। पर, जो व्यक्ति जान-बूझकर अशुभ कर्मों में प्रवत्त होते हैं, उनके अन्दर कम से कम शुभ कर्मों के करने की साध्यता वर्तमान रहती है। इसीलिए, सॉक्रेटीज़ के अनुसार ऐसे व्यक्ति अज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार 'शुभ' के ज्ञान मात्र से ही हम शुभ कर्मों को करने के लिए तत्पर नहीं हो जाते। संसार में ऐसे अनेक व्यक्तियों के उदाहरण वर्तमान हैं, जो ज्ञानी हैं पर फिर भी उस ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करते। इसीलिए प्रो० मेकेञ्जी[1], ने लिखा है कि 'धर्म के लिए 'ज्ञान' और 'अभ्यास' दोनों की आवश्यकता पड़ती है। 'धर्म एक प्रकार का ज्ञान है और साथ-साथ एक प्रकार का अभ्यास भी।' पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सॉक्रेटीज़ ने अपने दर्शन में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में न करके, एक विशेष अर्थ में किया है। 'सत्' और 'शुभ' के ज्ञान का अर्थ केवल बौद्धिक और सैद्धान्तिक ज्ञान से नहीं है, इसका अर्थ बुद्धि और संकल्प के उस व्यावहारिक दृढ़ विश्वास से है जो तत्त्व-साक्षात्कार या आत्मानुभव में देखने को मिलता है। तत्त्व-साक्षात्कार के बाद बुद्धि और संकल्प का द्वैत समाप्त हो जाता है। सॉक्रेटीज़ ने जब ज्ञान और धर्म में तादात्म्य स्थापित किया तो 'ज्ञान' से उनका संकेत इसी तत्त्व-साक्षात्कार से था जहाँ बुद्धि और संकल्प-शक्ति में पूर्ण सामञ्जस्य पाया जाता है।

सॉक्रेटीज़ ने अपने सिद्धान्त-वाक्य 'ज्ञान ही धर्म है', से कुछ ऐसे अनिवार्य परिणाम निकाले हैं जिन पर विचार ककर लेना भी आवश्यक है—

1. धर्म शिक्षणीय है—साधारणतया हम समझते हैं कि धर्म एक ऐसा सद्गुण है जो

---

1. मेकेञ्जी, जे० एस०, मैनुअल ऑफ एथिक्स, पृ० 322

विज्ञानों से ही निर्मित है। सॉक्रेटीज़ के दर्शन का तात्कालिक उद्देश्य 'ज्ञान' और 'नैतिकता' में हमारी उस आत्मा को पुनर्जीवित करना था जिसको सोफिस्टों ने अपने कुतर्कों द्वारा ध्वस्त कर दिया था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में सॉक्रेटीज़ पूर्ण रूप से सफल भी हुए।

पर इतना होते हुए भी सॉक्रेटीज़ के प्रत्ययवाद में कुछ दोष भी है। उनका प्रत्ययवाद इन्द्रिय-प्रत्यक्षों से पूर्णतया आबद्ध है जिसके कारण उन्होंने बौद्धिक प्रत्ययों, जिनसे हमारा ज्ञान संचालित होता है, पर कुछ भी विचार न किया। काण्ट ने कहा कि ऐन्द्रिक विकल्पों से भिन्न कुछ अतीन्द्रिय बुद्धि के विकल्प भी होते हैं, जो हमारे ज्ञान को नियमित एवं सुव्यवस्थित करते हैं जिनके बिना ऐन्द्रिक प्रत्ययों का निर्माण ही नहीं हो सकता। इस प्रकार सॉक्रेटीज़ का प्रत्ययवाद बिलकुल ही एकांगी है।

नैतिक पक्ष—इसी प्रकार सॉक्रेटीज़ के नीति-विज्ञान में भी कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं। ज़ेलर[1] ने सॉक्रेटीज़ के नीति-विज्ञान को बौद्धिक नियतवाद (Intellectual Determinism) की संज्ञा दी है जिसके अनुसार 'शुभ' के ज्ञान मात्र से ही हम श्रेष्ठ हो सकते हैं। यह ठीक है कि सद्गुणों की प्राप्ति के लिए 'ज्ञानी' होना आवश्यक है, पर सॉक्रेटीज ने कहा कि ''यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर कोई अशुभ कर्म करता है तो वह उस व्यक्ति से श्रेष्ठतर है जो यही काम अनजाने करता है'' तो यह बात ऐसी है जिसे कोई भी बुद्धिजीवी व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। यद्यपि सॉक्रेटीज़ ने कहा कि यह 'ज्ञान' साधारण ज्ञान से श्रेष्ठतर ज्ञान है, पर अभाग्यवश, इस श्रेष्ठतर ज्ञान के स्वभाव के विषय में उन्होंने कभी भी ठीक प्रकाश नहीं डाला। ❑❑

---

1. ज़ेलर, एडवर्ड, आउटलाइन्स ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ ग्रीक फ़िलासफ़ी, पृ० 102

ग्रीक दर्शन का पुनर्निर्माण-काल

ग्रीक दर्शन का पुनर्निर्माण-काल

१. प्लेटो (Plato) समय—ई० पू० 428—ई०पू० 347)

प्लेटो के पूर्ववर्ती दार्शनिकों में से किसी को भी दर्शन के एक **पूर्ण निकाय** (Complete System) बनाने का साहस नहीं हुआ था; उन्होंने कुछ इने-गिने दार्शनिक विचारों, वादों और सिद्धान्तों का संकेत मात्र किया था। ग्रीक दर्शन के इतिहास में प्लेटो ही प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने एक ऐसे सर्वतोन्मुखी और परिपूर्ण दर्शन की स्थापना का प्रयत्न किया जो दर्शन के सभी पक्षों—मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्त्व-शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र—की समुचित व्याख्या ही नहीं करता वरन् तत्सम्बन्धी समस्याओं का संतोषजनक समाधान भी प्रस्तुत करता है। इसके लिए, प्लेटों ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत विचारों को अपने दर्शन की आधार-शिला बनाई। उन्होंने पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस, पार्मेनाइडीज़, सॉक्रेटीज़ इत्यादि सभी दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण किया और सभी के उत्तम विचारों को अपने दर्शन में स्थान दिया—पाइथागोरस का 'स्वरूपवाद', हेरेक्लाइटस का 'परिणामवाद', पार्मेनाइडीज़ का 'सत्तावाद' और सॉक्रेटीज़ का 'प्रत्ययवाद' उनके दर्शन की प्रेरणा के स्रोत हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि प्लेटों का दर्शन 'साहित्यापहरण' और **'संग्रहवाद'** का एक उच्चादर्श मात्र है और उसमें मौलिकता नहीं पाई जाती। ऐसी कोई भी बात नहीं है। यह ठीक है कि प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ती सभी दार्शनिकों के श्रेष्ठ विचारों को 'ग्रहण' कर उनका पूर्ण सदुपयोग किया, पर इससे उसके दर्शन की मौलिकता और श्रेष्ठता में तनिक भी न्यूनता नहीं आने पाई है। पूर्ववर्ती विचार प्लेटो के दर्शन के 'बीज' मात्र हैं; वे केवल 'आधार-स्तम्भ' है। इन आधार-स्तम्भों पर प्लेटो ने एक ऐसे दर्शन का प्रासाद खड़ा किया जो अब तक दर्शन के प्रेमियों की अक्षय निधि बना हुआ है। प्लेटो का दर्शन पूर्ववर्ती विचारों की पुनरावृत्ति मात्र ही नहीं है, वह एक मौलिक दर्शन है जिसमें प्राचीन विचारों को आत्मसात् कर एक सर्वथा नवीन दर्शन की सृष्टि की गई है। इसमें प्राचीन विचारों को एक नया रूप प्रदान किया गया है।

जीवन और कृतित्व

प्लेटो का जन्म ई० पू० 427 में एक उच्चकुलीन सामन्त-परिवार में हुआ था। वंश-परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम उन्हें संगीत, कविता, चित्रकला इत्यादि विषयों की शिक्षा दी गई। ई० पू० 407 वे सॉक्रेटीज़ के शिष्य बन गए और उनकी मृत्यु (ई० पू० 399) तक उनके अनुगामी बने रहे। सॉक्रेटीज़ की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु से उनकी आत्मा को इतनी गहरी ठेस लगी कि ग्रीक प्रजातन्त्र के प्रति उनकी घृणा-सी हो गई। प्रथम एक राजनीतिज्ञ के रूप में

उनकी जीवन व्यतीत करने की इच्छा थी, पर अपने धर्मगुरु सॉक्रेटीज़ के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उन्होंने राजनीति का परित्याग पर नवयुवकों के सुधार का काम अपने हाथों में लिया और अन्त तक यही करते रहे।

प्लेटो ने अपना दर्शन 'शून्य' से प्रारम्भ नहीं किया। उनके दर्शन का 'मूल' पूर्ववर्ती दार्शनिकों में भलीभाँति देखा जा सकता है। सर्वप्रथम उनका सम्पर्क क्रेटिलस (Cratylus) जो हेरेक्लाइटस का अनुयायी था, के साथ हुआ। क्रेटिलस ने उनको हेरेक्लाइटस द्वारा प्रतिपादित 'परिणामवाद' के सिद्धान्त से परिचित कराया। प्लेटो का जो जगत्-सम्बन्धी विचार है, वह क्रेटिलस के परिणामवाद से पूर्णतया प्रभावित है। इसी प्रकार सोफ़िस्टों का भी प्रभाव प्लेटो पर कम नहीं पड़ा है। प्लेटो के समय में ग्रीस में सोफ़िस्टों का प्रभाव बिल्कुल ही समाप्त नहीं हो गया था। उस समय भी कुछ इने-गिने सोफिस्ट अपने प्रचार-कार्य में संलग्न थे। अतः इसकी पर्याप्त सम्भावना है कि प्लेटो के ऊपर सोफिस्टों की कुतर्क-विद्या का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा हो। सॉक्रेटीज़ के जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में प्लेटो को उनके सत्संग का सतत् लाभ हुआ जिससे उनके विचारों को एक नई दिशा प्राप्त हुई। सॉक्रेटीज़ प्लेटो के जीवन के आदर्श पुरुष थे और इसीलिए प्लेटो के जीवन पर सॉक्रेटीज़ का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। प्लेटो का विज्ञानवाद (Theory of Ideas) सॉक्रेटीज़ के सामान्य प्रत्ययवाद (Doctrine of Concepts) का ही एक परिवर्तित रूप है।

सॉक्रेटीज़ की मृत्यु के बाद प्लेटो के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है—यह उनके जीवन का "प्रवास-काल" है। अपने गुरु सॉक्रेटीज़ के शहीद होने पर वे इतने व्यथित हुए कि वे अपने हृदय की व्यथा दूर करने के लिए मेगारा (Megara) नामक स्थान पर गए जहाँ उनके मित्र और सहपाठी यूक्लिड (Euclid) मेगारिक सम्प्रदाय (Megaric School) की स्थापना कर रहे थे। मेगारिक दर्शन, सॉक्रेटीज़ और ईलिएटिक सम्प्रदाय के विचारों का ही एक सम्मिश्रण था। यूक्लिड के सान्निध्य का प्रभाव यह पड़ा कि प्लेटो को पार्मेनाइडीज़ के दर्शन के सम्यक् अध्ययन का सुअवसर मिला। पार्मेनाइडीज़ के द्वन्द्वात्मक तर्कों और उसके सत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्तों ने प्लेटो के विचारों को पर्याप्त प्रभावित किया है। कुछ दिनों तक मेगारा में रहने के उपरान्त प्लेटो सायरीन (Cyrene), मिस्र (Egypt), इटली और सिसिली गए। इटली में उनका सम्पर्क, पाइथोगोरस के अनुयायियों के साथ हुआ जिसके फलस्वरूप पाइथेगोरस के संख्या-सिद्धान्त और उनके पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ प्लेटो का परिचय हुआ। प्लेटो के विज्ञानवाद के ऊपर इन सिद्धान्तों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सिसिली में उनको वहाँ के युवक राजा डायोनीसियस (Dionysius) को पढ़ाने के लिए राजा के संरक्षक डायोन (Dion) ने निमन्त्रित किया। डायोनीसियस, सायराक्यूज (Syracuse) का एक निरंकुश शासक था। एक दिन प्लेटो डायोनीसियस के राज-दरबार में उपस्थित हुए जहाँ डायोनीसियस, उनके किसी व्यवहार से अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। उसने इनको दासों के बाजार में नीलाम करना चाहा। उनके मित्र एन्नीसेरीज़ (Anniceris) ने उनका उद्धार किया। इस प्रकार पूरे दस वर्ष तक भ्रमण करने बाद वे अपने नगर एथेन्स लौट आए।

एथेन्स लौटने पर प्लेटो के जीवन का तृतीय और अन्तिम काल प्रारम्भ होता है। इसके

बाद उन्होंने एथेन्स कभी नहीं छोड़ा। एथेन्स में उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध संस्था जिम्नॉशियम (Gymnosium) अथवा एकेडमी (Academy) की स्थापना की जिसके प्रधान आचार्य बनकर उन्होंने अपना शेष समय दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में व्यतीत किया। सॉक्रेटीज़ और सोफिस्टों की तरह उन्होंने बाज़ार में घूम-घूम कर लोगों को शिक्षित नहीं किया। वे एकान्त प्रेमी थे। अपनी एकेडमी में ही प्लेटो, कुछ चुने हुए विद्यार्थियों को अपने दार्शनिक विचारों के बारे में शिक्षा दिया करते थे। उन्होंने लगभग चालीस वर्ष तक एकेडमी की सेवा की, जहाँ दर्शन, गणित, साहित्य इत्यादि विभिन्न विषयों पर उन्होंने अध्यापन-कार्य किया। ई० पू० 347 में प्लेटो की मृत्यु हुई।

प्लेटो ने अपनी महान् कृतियों को **सम्वादों** (Dialogues) के रूप में हमारे समक्ष रक्खा है जिसमें सॉक्रेटीज़ प्रमुख पात्र हैं। प्लेटों ने सॉक्रेटीज़ के मुख से अपने प्रधान दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन कराया है। वे एक कोरे दार्शनिक ही नहीं थे; वे एक कुशल साहित्यकार, कलाविद्, चरित्र-विशेषज्ञ और नाट्‌यकार थे। उनके संवादों में ज्ञान और परिहास का अपूर्व संयोग प्राप्त होता है।

प्लेटो के संवादों की प्रमुख विशेषताएं

1. प्लेटो कवि, रहस्यवादी, दार्शनिक और एक उच्चकोटि के तर्क-शास्त्री थे। उनके भीतर तार्किक विश्लेषण-शक्ति, अभूतपूर्व कल्पना और कवि-सुलभ भावना का अपूर्व संयोग था। इसके कारण प्लेटों के संवाद काव्यमय और दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण हैं। विचार और भावनाओं दोनों का संगम उनके संवादों में पाया जाता है।

2. प्लेटो के संवादों की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उनके द्वारा प्रयुक्त पौराणिक उपाख्यानों और अन्तर्गत गल्प-कथाओं से सम्बन्धित है। वे अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की कोई स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते; वे बहुधा अपने विचारों का प्रतिपादन अन्योक्तियों, गल्पों, कथानकों और रूपकों के माध्यम से करते हैं। यद्यपि प्लेटो की रचनाओं में शब्द-विन्यास-विदग्धता और साहित्यिक सौन्दर्य का बाहुल्य पाया जाता है, पर इससे उनके भावों को समझने में हमें पर्याप्त कठिनाई पड़ती है। दर्शन के किसी विषय की वैज्ञानिक व्याख्या करते-करते वे इस प्रकार अपनी ऊँची कल्पनाओं में संक्रमण कर जाते हैं कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनके कथनों का अर्थ अभिधा से लगाया जाय अथवा लक्षणा-व्यंजना से। सच बात तो यह है कि एक कवि और दार्शनिक का संयोग उसको समझने की दृष्टि से बड़ा ही दुरूह और कभी-कभी भयंकर समझा जाता है। प्लेटो की दार्शनिक कृतियों में इस बात का दोष अवश्यमेव पाया जाता है। यद्यपि, सिद्धान्ततः प्लेटो एक महान् बुद्धिवादी दार्शनिक हैं, पर व्यवहार में कल्पनाओं का सहारा लेने के कारण वे अस्पष्टतावाद के दोष से नहीं बच पाए हैं।

रचनाएँ—प्लेटो के संवादों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं और ये श्रेणियाँ उनके जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धि हैं—1. सॉक्रेटिक युगसम्बन्धी रचनाएँ; 2. संक्रमण-कालीन रचनाएँ; 3. प्रौढ़काल की रचनाएँ; 4. वृद्धावस्था की रचनाएँ।

1.सॉक्रेटिक युग-सम्बन्धी रचनाएँ—इस युग की रचनाएँ प्लेटो के गुरु सॉक्रेटीज़ से सम्बन्धित हैं। सॉक्रेटीज़ की मृत्यु से लेकर,प्लेटो के मेगारा पहुँचने तक की रचनाएँ इसके अन्दर आती हैं। हिप्पियस माइनर (Hippias Minor), एपॉलॉजी (Apology), क्राइटो (Crito), प्रोटेगोरस (Protagoras), इत्यादि इस युग की मुख्य रचनाएँ हैं। इस युग की रचनाओं में एपॉलॉजी विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें सॉक्रेटीज़ का यह भाषण उद्धृत है जो उसने अपनी सफाई में न्यायालय के समक्ष दिया था। इसी से सम्बन्धित प्लेटो की दूसरी रचना क्राइटो है जिसमें उन्होंने सॉक्रेटीज़ को देशभक्त नागरिक के रूप में सिद्ध किया है। सॉक्रेटिक काल में जितने भी संवाद प्लेटों ने लिखे हैं, उन पर सॉक्रेटीज़ के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रोटेगोरस नामक संवाद में प्लेटो ने धर्म की महिमा तथा उसकी शिक्षणीयता का गुणगान किया है। हिप्पियस मेजर और हिप्पियस माइनर संवाद सोफिस्टों के मत का खण्डन करने के लिए लिखे गए। हिप्पियस मेजर में सौन्दर्य का और हिप्पियस माइनर में शृंगार का वर्णन है। इन सभी संवादों में किसी निश्चित परिणाम पर पहुंचने की चेष्टा नहीं की गई है; इनमें केवल 'सत्य' के अनुसंधान की जिज्ञासा मात्र प्रकट की गई है जो सॉक्रेटीज़ की मनोवृत्तियों के बिलकुल ही अनुरूप है।

2. संक्रमणकालीन रचनाएँ—इस युग की रचनाओं में प्लेटो के मौलिक विचार कुछ न कुछ स्वरूप ग्रहण करने लगते हैं, पर उनका स्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं आता। लाइसिस (Lysis), क्रेटिलस (Cratylus), जॉर्जियस (Gorgias), इत्यादि इस काल के प्रमुख संवाद हैं। लाइसिस में प्लेटो ने 'मित्रता' का वर्णन किया है जिसकी विस्तृत व्याख्या आगे चलकर सिम्पोज़ियम (Symposium) में भी की गई है। क्रेटिलस में 'भाषा' के ऊपर विचार किया गया है और साथ-साथ सिनिक दार्शनिक एण्टिस्थेनीज़ (Antisthenes) के विरुद्ध शास्त्रीय विचार भी प्रस्तुत किए गए हैं। यूथाइडिमस (Euthydemus) में परवर्ती सोफिस्टों में निहित तर्काभासों का परिहास किया गया है। जार्जियस इस युग का अन्तिम संवाद है जिसे प्लेटो ने अपनी सिसिली यात्रा के आसपास कभी लिखा था। जॉर्जियस संवाद में हमारे दो प्रकार के जीवन-क्रम के विरोध का परिचय प्रस्तुत किया गया है, एक उस व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ का जीवन है जो शक्ति-सिद्धान्त में अपनी आस्था रखता है और जिसका बहिर्मुखी व्यक्तित्व है और जो अपनी बाह्य सफलताओं और उपलब्धियों पर अपने जीवन का मूल्यांकन करता है; इसके विपरीत, दूसरी ओर उस दार्शनिक का जीवन है जो 'न्याय' में अपनी आस्था रखता है और जिसका अन्तर्मुखी व्यक्तित्व है; जिसके जीवन का लक्ष्य बाह्य सफलताओं की प्राप्ति न होकर नैतिक शुभों की प्राप्ति करना ही होता है, चाहे इसके लिए उसे अपने प्राणों का भी उत्सर्ग क्यों न करना पड़े। इस संवाद में सॉक्रेटीज़ का वह सिद्धान्त, जिसमें असत् ही को अशुभ माना गया है, त्याग दिया गया है और कहा गया है कि पुद्गलयुक्त आत्मा की मुक्ति के लिए दर्शन का अनुशीलन करना चाहिए। इस संवाद में पाइथेगोरस द्वारा प्रतिपादित "आत्मा की अमरता" और उसके "पुनर्जन्म" सिद्धान्त का भी प्लेटो द्वारा अनुमोदन किया गया है। इसमें नैतिकता और मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है।

3. प्रौढ़कालीन रचनाएँ—इस काल में हम प्लेटो के उन संवादों को रख सकते हैं

जिनका प्रमुख उद्देश्य **विज्ञानवाद** (Theory of Ideas) की स्थापना रहा है। इन संवादों में प्लेटो ने ऑर्फिक और पाइथेगोरियन द्वैतवाद को भी स्वीकार किया है। विज्ञानवाद का प्रथम परिचय हमें जॉर्जियस में ही हो जाता है। मेनो (Meno) में धर्म की शिक्षणीयता, जिसके विषय में प्रोटेगोरस ने संदेह प्रकट किया था, स्वीकार की गई है। जॉर्जियस में पाइथेगोरियन आत्मवाद का विवेचन नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से किया गया था, पर मेनो में इसका विवेचन संवित्शास्त्र के दृष्टिकोण से किया गया है। मेनो का सर्वप्रमुख सिद्धान्त है : ज्ञान, आत्मा द्वारा पूर्व जन्म में प्रत्यक्षीकृत विज्ञानों का संस्मरण मात्र है। इस अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान को सिद्ध करने के लिए रेखागणित का उदाहरण प्रस्तुत करना पाइथेगोरियन प्रभाव का द्योतक है। इस जीवन-दर्शन की पूर्णता हमें फीडो (Phaedo) में प्राप्त होती है जहाँ प्लेटो के "विज्ञानवाद" और उनकी "आत्मा की अमरता" सिद्धान्त में सम्बन्ध स्थापित किया गया है तथा इन्द्रिय-जगत् के प्रति उपेक्षा-भाव प्रदर्शित किया गया है। इसके अनुसार वास्तविक दर्शन "आत्म-बलिदान का अभ्यास" है। सिम्पोज़ियम (Symposium) का उद्देश्य इससे भिन्न है। इसमें प्लेटो के विज्ञानवाद का प्रयोग सौन्दर्य-क्षेत्र में किया गया है। पर इस बात पर भी बल दिया गया है कि भौतिक सौन्दर्य, "स्वलक्षण-सौन्दर्य का", जो आत्मा का प्रधान 'लक्ष्य' है, एक विवर्त मात्र है। प्लेटो की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) भी—जिसमें जगत् और उसकी बहुमुखी समस्याओं का सिंहावलोकन किया गया है—इसी द्वितत्त्ववाद के सिद्धान्त पर आधारित है। इसी पर फीडो और सिम्पोजियम के सिद्धान्त भी आधारित हैं। पुस्तक के सातवें खण्ड के प्रारम्भ में 'गुफे की अन्योक्ति' और दसवें खण्ड में 'आत्मा के भाग्य' की कल्पना ने फीडो के द्वितत्त्ववाद को ही चरितार्थ किया है। इसी प्रकार फीड्रस (Phaedrus), लाइसिस् के सम्भाषण के साथ प्रारम्भ होता है जो उसने 'प्रेम' पर दिया था। इस सम्वाद में भी ऑर्फिक-पाइथेगोरियन "पुनर्जन्म" के सिद्धान्त के साथ विज्ञानवाद का समन्वय स्थापित किया गया है।

वृद्धकालीन रचनाएँ—प्लेटो की वृद्धकालीन रचनाओं में तत्त्व-जिज्ञासा की कमी और विज्ञानवाद के तार्किक पक्ष की ओर विशेष अभिरुचि परिलक्षित होती है। इसका कारण यह है कि उनके विज्ञानवाद के विषय में एकेडमी के भीतर ही पर्याप्त भ्रान्ति और यहाँ तक कि विरोध ने भी जन्म ले लिया था, जिसका तर्क द्वारा उन्मूलन करना नितान्त आवश्यक था। इन रचनाओं की दूसरी विशेषता यह थी कि इनमें प्लेटो ने अपने विज्ञानवाद की पाइथेगोरियन संख्या-सिद्धान्त के साथ समरूपता स्थापित किया और साथ-साथ दृश्य जगत के रहस्यों का उन्होंने गहन अध्ययन किया। इस युग की रचनाओं में पार्मेनाइडीज़ (Parmenides) नामक संवाद का स्थान सर्वप्रथम है जिसमें प्लेटो ने एक ओर सॉक्रेटीज़ और दूसरी ओर पार्मेनाइडीज़ और ज़ीनो के मध्य शास्त्रार्थ कराकर, सॉक्रेटीज़ के माध्यम से ईलिएटिक आलोचनाओं का समाधान करते हुए अपने विज्ञानवाद की पुष्टि की है। इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण संवाद थीटिटस (Theaetetus) है, जो प्लेटो के 'ज्ञान' के आदर्श को उपस्थित करता है। इस संवाद का मुख्य उद्देश्य प्रोटेगोरस के सापेक्षता-सिद्धान्त (मानव सभी वस्तुओं का मानदण्ड है), हेरेक्लाइटस के परिणामवाद, एन्टिस्थेनीज़ के तर्कशास्त्र और एरिस्टिपस के

इन्द्रिय-संवेदनवाद की आलोचना कर 'ज्ञान' के सम्यक् 'प्रत्यय' को स्थिर करना है। प्लेटो ने यहाँ इस बात का भी संकेत कर दिया है कि उनका "विज्ञानवाद" इन सारी समस्याओं का एक मात्र समाधान है। तीसरा महत्त्वपूर्ण संवाद सोफिस्ट (Sophist) है जो थीटिटस का ही विस्तार मात्र है, जिसमें सोफिस्ट एन्टिस्थेनीज़ के विचारों की आलोचना की गई है। पॉलिटिकस (Politicus) में 'ज्ञानी' को 'शाही मनुष्य' या 'वास्तविक शासक' कहा गया है। फाइलेबस (Philebus) की विषय-वस्तु नैतिकता से सम्बंधित है जिसमें 'सुख' और 'शुभ' के सम्बन्ध की चर्चा की गई है। टिमेयस (Timaeus) प्राकृतिक विज्ञान-सम्बंधी संवाद है जिसमें मनुष्य और इतर प्राणियों की सृष्टि-प्रणाली का वर्णन है। इस रचना के विचार पाइथेगोरस द्वारा प्रभावित हैं। लाज़ (Laws) प्लेटो की अन्तिम रचना है जिसमें किसी राष्ट्र के लिए एक मिश्रित संविधान—राजतन्त्र और लोकतन्त्र का योग—का विधान प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञान-मीमांसा (द्वन्द्वात्मक पद्धति)

प्लेटो ज्ञान-मीमांसा के महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। उनके अनुसार किसी दार्शनिक का ज्ञान-सम्बन्धी विचार उसके सम्पूर्ण दर्शन का परिचायक होता है। प्लेटो का दर्शन भी पूर्णतया उनकी ज्ञान-मीमांसा पर आधारित है। ज्ञान-मीमांसा के भीतर हम ज्ञान के उद्गम, स्वभाव, प्रामाण्य और उसकी सीमा निर्धारित करते हैं। प्लेटो का मत था कि यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ज्ञान का मूल स्रोत मान लिया जाय तो सोफिस्टों का यह मत कि "मानव सभी पदार्थों का मानदण्ड है" या "वास्तविक ज्ञान असम्भव है" बिलकुल यथार्थ हो जायगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमें केवल विवर्त का ज्ञान प्राप्त कराता है; इससे वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान होना सम्भव नहीं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान एक व्यावहारिक ज्ञान (Opinion) है जो यथार्थ हो सकता है और अयथार्थ भी। व्यावहारिक ज्ञान, कभी भी पारमार्थिक ज्ञान का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि बुद्धि की अपेक्षा यह भावनाओं और अनुनयों पर विशेष आधारित होता है। वास्तविक ज्ञान हमें बुद्धि या प्रज्ञा से ही प्राप्त हो सकता है। पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए सत्यनिष्ठा (Eros) परमावश्यक है। सत्यनिष्ठा, सौन्दर्य-चिन्तन से उत्पन्न होती है जो बुद्धि को सत्य के अनुसंधान के लिए प्रेरित करती है। सत्यनिष्ठा हमें द्वन्द्वात्मक तर्क के लिए विवश करती है जिसका परिणाम सत्य की प्राप्ति होता है। **द्वन्द्वात्मक पद्धति** के निम्न चार चरण होते हैं—

1. प्रथम चरण में हम विभिन्न विविक्त विशेषों को एक विज्ञान के अन्तरस्थ करते हैं—**सामान्यीकरण**

2. द्वितीय चरण में विज्ञान को उसकी उपजातियों में वर्गीकृत किया जाता है—**वर्गीकरण**

3. तीसरा चरण तर्क-वाक्यों का है जिसमें हम एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय के साथ सम्बन्ध स्थापित कर तर्क-वाक्यों का निर्माण करते हैं—**तर्कवाक्य**

4. चतुर्थ चरण में कई तर्क-वाक्यों को परस्पर सम्बद्ध कर निगमनात्मक अनुमान (Syllogism) का निर्माण किया जाता है जिससे कि हम किसी निर्णय पर पहुँच सकें—**निगमनात्मक अनुमान**

प्लेटो की दर्शन-प्रणाली द्वन्द्वात्मक है जो वाद-विवाद अथवा प्रश्नोत्तर की प्रणाली है।[1] कभी-कभी सामान्य प्रत्ययों के माध्यम से चिन्तन करने की प्रणाली को भी द्वन्द्वात्मक तर्क कहते हैं।[2] इन्द्रिय-संवेदनों की अपेक्षा विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय हैं। हम किसी को न्यायी अथवा अन्यायी तब तक नहीं कह सकते जब तक कि हमारे भीतर 'न्याय' का प्रत्यय पहले से ही वर्तमान न हो। इस प्रकार प्लेटो, एरिस्टॉटल के पुरोगामी दार्शनिक बने।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि प्लेटो के अनुसार विज्ञान अनुभवजन्य नहीं होते। 'न्याय' के विज्ञान का ज्ञान हम न्याय के विशिष्ट प्रकरणों के आकलन द्वारा नहीं प्राप्त करते। न्याय के विभिन्न प्रकरण जो हमें अनुभव द्वारा प्राप्त होते हैं आत्मा के भीतर पूर्व-स्थित न्याय के विज्ञान को केवल जागरित करते हैं; वे उसे उत्पन्न नहीं करते। प्लेटो के अनुसार ज्ञान (जो विज्ञान रूप है) आत्मा का स्वाभाविक गुण है; वह कहीं बाहर से नहीं आता। ज्ञान की 'उत्पत्ति' वास्तव में आत्मा से होती है। अनुभव आत्मा के भीतर सुप्त ज्ञान को केवल 'विकसित' करता है, उत्पन्न नहीं। इस प्रकार प्लेटो, जर्मनी के महान् दार्शनिक काण्ट के भी पुरोगामी बने।

'विज्ञान' अनुभवजन्य नहीं है, क्योंकि हमारे अनुभवों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिनके साथ सत्यं शिवं एवं सुन्दरं की पूर्ण संगति स्थापित की जा सके। बिन्दु, रेखाएँ, समतल, ठोस पिण्ड इत्यादि विज्ञान-मात्र ही हैं क्योंकि जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे हम पूर्ण बिन्दु, रेखा, समतल या ठोस पिण्ड कह सकें। इस प्रकार विज्ञान अनुभवजन्य नहीं है। इतना होते हुए भी हम जगत् का साक्षात्कार सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के आदर्शों अथवा मानदण्डों के माध्यम से करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के ये मानदण्ड इन्द्रियजन्य न होकर बुद्धिजन्य हैं। प्लेटों के अनुसार उन मानदण्डों के अतिरिक्त सत्, असत्, भेद, अभेद, एकता, अनेकता इत्यादि मानदण्ड भी अनुभवनिरपेक्ष अथवा बुद्धिजन्य हैं।

विज्ञानों का प्रामाण्य—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार **प्रत्ययात्मक ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।** अब प्रश्न यह है कि हम कैसे जानें कि **हमारा प्रत्ययात्मक ज्ञान प्रामाणिक है अथवा नहीं?** प्लेटो यहाँ अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक **विशेष कर पार्मेनाइडीज़ के याथार्थ्यवाद** (Correspondence Theory) **का सहारा लेते हैं।** उनके अनुसार ज्ञान, **विचारों और वस्तुओं की यथार्थ संगति का परिणाम होता है। इस प्रकार प्लेटो वस्तुवादी या यथार्थवादी** (Realist) **हैं। हमारा कोई भी प्रत्ययात्मक ज्ञान यथार्थ तभी समझा जा सकता है** जबकि प्रत्येक प्रत्यय की संगति में आत्मा के बाहर ऐसा

---

1. रिप० VII, 534 ई०.
2. फीड्र० 265 डी०

कोई पदार्थ अवश्य **उपस्थित हो जिसके साथ उसका सादृश्य अथवा सामञ्जस्य हो।** तात्पर्य यह है कि यदि हम जगत् का साक्षात्कार सत्यं, शिवं, सुन्दरं इत्यादि मानदण्डों के माध्यम से करते हैं **और वे बुद्धिजन्य हैं**, तो इनके प्रामाणिक होने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा के बाहर-विशुद्ध, निरपेक्ष और पूर्ण सत्यं, शिवं, सुन्दरं इत्यादि विज्ञानों की सत्ता वर्तमान हो। यदि आत्मा के बाहर हमारे प्रत्ययों के विषय वर्तमान नहीं हैं तो हमारा प्रत्ययात्मक ज्ञान कभी भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता। **इस प्रकार प्रत्ययात्मक ज्ञान पूर्ण, विशुद्ध और निरपेक्ष विज्ञानों की सत्ता को पूर्वानुमानित** करता है।

उपर्युक्त निष्कर्ष को हम एक दूसरी तरह भी स्थापित कर सकते हैं। सत्य, सत्ता अथवा "अस्ति-तत्त्व" का ज्ञान है। हम पहले ही जानते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् का ज्ञान वास्तविक जगत् का ज्ञान नहीं है; यह परिवर्तनशील, परिणामी, अनित्य और क्षणिक जगत् का ज्ञान है। हेरेक्लाइटस ने इस इन्द्रिय-जगत् का सम्यक् निरूपण किया था, जब उसने कहा कि विश्व गति है, परिणाम है, धारा है, प्रवाह है, सन्तान है। पर प्लेटो के अनुसार यह वास्तविक जगत् नहीं है; दृश्य जगत् वास्तविक जगत् का विवर्त या भ्रम मात्र है, उसकी प्रतीति है। तत्त्व शाश्वत्, अपरिणामी और नित्य है—इसमें पार्मेनाइडीज़ के "सत्" के सभी गुण वर्तमान होते हैं। वास्तविक ज्ञान इसी शाश्वत, अपरिणामी और नित्य तत्त्व का ज्ञान है जो प्रत्ययों द्वारा ही सम्भव है। प्रत्ययात्मक ज्ञान ही वस्तुओं के स्वाभाविक रूपों का ज्ञान करा सकता है।

ब •
य •
स •
द •
अ •

प्लेटो ने अपनी ज्ञान-मीमांसा का सारांश अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **रिपब्लिक** (Republic) की छठी पुस्तक के अन्त में एक विभाजित रेखा के माध्यम द्वारा प्रकट किया है। एक लम्ब रेखा अ ब को चार खण्डों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि अ द : द स : : स य : य ब : : अ स : स ब। इस लम्ब रेखा में प्रत्येक खण्ड, ज्ञान के एक निश्चित स्तर का-प्रतिनिधित्व करता है। अ ब के भीतर स बिन्दु इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान-जगत् से पृथक करता है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान की विशेषता यह है कि उसका एक विशिष्ट "विषय", एक विशिष्ट "प्रणाली" और एक निश्चित "सीमा" होती है।

1. प्रातिभासिक अथवा काल्पनिक ज्ञान (Conjectural Knowledge)—यह निम्नतम कोटि का ज्ञान है। यह एक प्रकार का ऐन्द्रिक ज्ञान है, जिसमें हमें अनुकृतियों, प्रतिबिम्बों, स्वप्नों, विपर्ययों इत्यादि का बोध होता है। रेगिस्तान में देखी गई जल की "प्रतीति" प्रातिभासिक ज्ञान का एक उत्तम उदाहरण है। इस ज्ञान के विषय सर्वदा भ्रामक (Illusory) होते हैं और इस प्रकार का ज्ञान हमेशा **संभाव्य** (Probable) या **अयथार्थ** (Erroneous) ही होता है। विभाजित रेखा में लघुतम खण्ड ब य, प्रातिभासिक ज्ञान को व्यक्त करता है।

2. व्यावहारिक ज्ञान या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान—विभाजित रेखा का द्वितीय खण्ड य स व्यावहारिक ज्ञान को प्रदर्शित करता है जिसमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम वृक्ष, पर्वत, नदी इत्यादि **संवेदनजन्य** वस्तुओं का ज्ञान, प्राप्त करते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान में भी हमें वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता, केवल उनकी **प्रतीति** (Belief) भर होती है। व्यावहारिक

ज्ञान, यद्यपि प्रातिभासिक ज्ञान से अधिक विश्वसनीय होता है, फिर भी वह यथार्थ न होकर केवल **संभाव्य** मात्र ही होता है। प्लेटों ने थीटिटस नामक संवाद में प्रोटेगोरस के इस मत का कि "प्रत्यक्ष ही ज्ञान है" पूर्णरूपेण विवेचन प्रस्तुत किया है। वहाँ उन्होंने प्रातिभासिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के ज्ञानों को एक ही शीर्षक **व्यवहार** (Opinion) के भीतर समाहित किया है।

3. बौद्धिक ज्ञान—विभाजित रेखा का तृतीय खण्ड स द बौद्धिक या विश्लेषणात्मक ज्ञान को प्रदर्शित करता है जिसका सम्बन्ध इन्द्रिय-विशेषों से न होकर गणित के प्रत्ययों जैसे, संख्याएँ, रेखाएँ, समतल, त्रिभुज इत्यादि से होता है। इस प्रकार के ज्ञान को हम सापेक्ष (Hypothetical) ज्ञान कह सकते हैं, क्योंकि इसमें कुछ परिभाषाओं और असिद्ध मान्यताओं से निगमनात्मक पद्धति द्वारा निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। प्लेटो ने बौद्धिक या सापेक्ष ज्ञान द्वारा गणित की अभ्युपगमात्मक (Postulational) व्याख्या की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार गणित स्वयंसिद्धियों पर आधारित न होकर असिद्ध मान्यताओं पर आधारित होता है।

4. प्रमा (Rational Insight)—विभाजित रेखा का चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड द अ श्रेष्ठतम ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। इस ज्ञान के विषय रूप (Forms) अथवा (Ideas) हैं और जिस पद्धति से हम इस ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं, उसे प्लेटो ने द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic) कहा है। इस अवस्था में बुद्धि विज्ञानों को उनके व्यष्टि रूप में न लेकर एक समष्टि के अंग रूप में ग्रहण करती है—विज्ञान-रूप शिव-तत्त्व अंगी है और शेष इतर विज्ञान उसके अंग रूप हैं। द्वन्द्वात्मक ज्ञान अथवा प्रज्ञा पूर्वानुमानों पर आश्रित न होकर निरपेक्ष अथवा विधायक सिद्धान्तों (Categorical Principles) पर आधारित होता है। यह ज्ञान ऐन्द्रिक विषयों से बिलकुल ही अतीत, विशुद्ध विज्ञानों का ही ज्ञान है।

प्लेटो ने ऊपर जिन चार प्रकार के ज्ञानों की चर्चा की है, उनकी विशेषता यह है कि ये एक ही स्तर के ज्ञान नहीं हैं। इनके भीतर श्रेणी-भेद है, उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के कुछ विशिष्ट विषय (Objects) हैं जिनके भीतर भी श्रेणी-भेद पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। तत्त्व-मीमांसा के सन्दर्भ में ही ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का एक स्वतन्त्र और निश्चित "विषय" (Object) होता है जिसे आत्मा उत्पन्न नहीं करती, बल्कि केवल प्रकाशित करती है,[1] ठीक उसी प्रकार प्लेटो के दर्शन में भी प्रत्येक ज्ञान का एक स्वतन्त्र और निश्चित "विषय" होता है, यद्यपि ये विषय तात्त्विक दृष्टि से एक ही प्रकार के नहीं होते। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय विशेष, परिवर्तनशील, परिणामी, अनित्य और आकस्मिक होते हैं और इसीलिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को हम वास्तविक ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते। प्रत्ययात्मक अथवा विज्ञानात्मक ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि इसके विषय ही अपरिणामी, सामान्य नित्य और शाश्वत होते

---

1. शांकर भाष्य, 1, 1, 4. ज्ञानं तु प्रमाण जन्यं, प्रमाणञ्च यथा भूत वस्तु विषयं....नापि पुरुष तन्त्रम्।

हैं जो कि ज्ञान के वास्तविक विषय हैं। इन्हीं सामान्य, अपरिणामी, शाश्वत और नित्य तत्त्व का अनुसंधान करना दर्शन का प्रधान लक्ष्य है। अब प्रश्न है कि ये सामान्य अपरिणामी और शाश्वत तत्त्व हैं क्या? प्लेटो के अनुसार ये शाश्वत तत्त्व विज्ञान हैं जिनका हमें विशेष अध्ययन करना है।

विज्ञानवाद (Theory of Ideas)

ग्रीक दर्शन के इतिहास में गति या परिणाम की सत्यता-सम्बन्धी दो आत्यन्तिक मत हैं—

(अ) हेरेक्लाइटस—का मत जिसके अनुसार गति, परिणाम, परिवर्तन, प्रवाह और सन्तान ही एक मात्र सत्य है तथा नित्यता, अगति, एकता और अपरिणाम केवल भ्रान्ति हैं।

(ब) पार्मेनाइडीज़—का मत जिसके अनुसार नित्यता, अगति, एकता, और अपरिणाम ही एक मात्र सत्य हैं। गति, परिणाम, परिवर्तन, प्रवाह इत्यादि इन्द्रिय-जन्य भ्रम मात्र हैं। 'सत्' एक, नित्य, अपरिणामी और कूटस्थ है।

प्लेटो का 'विज्ञानवाद' उपर्युक्त दोनों प्रकार के मतों को स्वीकार करता है, पर उनके क्षेत्र को सीमित कर देता है। इन दोनों मतों में आत्यन्तिक विरोध होने के कारण उनका क्षेत्र असीमित नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्लेटो ने सम्पूर्ण जगत् को दो भागों में विभाजित किया—

(अ) व्यावहारिक जगत—जिसमें गति और परिणाम का साम्राज्य है।

(ब) पारमार्थिक जगत—जो नित्य और अपरिणामी है।

जहाँ तक व्यावहारिक जगत् का प्रश्न है, हेरेक्लाइटस का मत चरितार्थ होता है, पर पारमार्थिक जगत् के विषय में पार्मेनाइडीज़ का मत सत्य है। प्लेटो को "**पूर्ण ग्रीक**" (The Complete Greek) की संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि इनके दर्शन में पूर्ववर्ती सभी दार्शनिकों के मतों का समन्वय है। "माइलेशियन मत का 'द्रव्य', विशेषत: एनेक्ज़िमेण्डर का 'असीम', पाइथेगोरस का 'स्वरूप' या 'संख्या' और उनका रहस्यवाद, हेरेक्लाइटस का 'परिणाम', और 'सार्वभौम विज्ञान' , पार्मेनाइडीज़ का 'चिद्रूप सत्य', ज़ीनो का 'द्वन्द्वात्मक तर्क,' एम्पेडॉक्लीज़ का 'प्रेम', एनेक्जेगोरस का 'परम-विज्ञान', परमाणुवादियों का 'भौतिक विज्ञान', प्रोटेगोरस का 'मानव-मान दण्ड' एवं सॉक्रेटीज़ का 'विज्ञानवाद', 'विज्ञान-स्वरूप शिवतत्त्व' और 'द्वन्द्वात्मक तर्क' एवं 'निर्विकल्प स्वानुभूति'—इन सबका चरम विकास प्लेटो के दर्शन में हुआ है।"[1] प्लेटो का विज्ञानवाद इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

प्लेटो ने अपने विज्ञानवाद का **प्रारम्भ-प्रत्यक्ष** जगत् के आलोचनात्मक विश्लेषण से प्रारम्भ किया है। उनका कथन है कि बाह्य जगत् का ज्ञान कभी भी निर्भ्रान्त और निरपेक्ष नहीं हो सकता। वह सर्वदा भ्रान्त और सापेक्ष होता है। उदाहरण-स्वरूप, यदि हम अपना हाथ

---

1. डा० शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, पृ० 21

किसी कोष्ण (गुनगुना) जल में डालें, तो वह हमें 'गर्म' प्रतीत होगा, पर उस व्यक्ति के लिए जो अभी-अभी किसी उष्ण स्थान से आ रहा हो, वहीं कोष्ण जल 'शीतल' प्रतीत होगा। अर्थात् एक ही जल, एक ही समय और एक ही स्थान पर 'गर्म' और 'शीतल' दोनों है। दूसरे शब्दों में हम इसी घटना को इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि वह जल न तो 'शीतल' है और न 'गर्म'। किसी वस्तु का 'गर्म' और 'शीतल' दोनों होना अथवा न तो 'शीतल' और न ही 'गर्म' होना, एक ही तथ्य के धनात्मक ओर ऋणात्मक दो पक्ष हैं। इस प्रकार प्लेटो ने निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुएँ ऐसी हैं कि वे परम्पर-विरुद्ध धर्मों को भी धारण कर सकती हैं। वे **सदसत्-विलक्षण** हैं। और इस कारण असत् हैं। यदि किसी प्रत्यक्ष वस्तु 'य' के भीतर 'अ' गुण विद्यमान है तो उन्हीं कारणों के आधार पर उस वस्तु के भीतर 'ब' गुण भी वर्तमान है, जबकि ब, अ का विरोधी धर्म है। अर्थात् 'य' के भीतर 'अ' और 'ब' दोनों गुण विद्यमान हैं अथवा 'य' के भीतर न तो 'अ' गुण है और न 'ब' ही, वरन् इन दोनों गुणों के मध्य विचलित हुआ करता है। अतः 'य' ऐसी वस्तु है जिसके भीतर किसी भी निश्चित गुण का अभिधान नहीं किया जा सकता। अर्थात् 'य' ऐसी वस्तु है जिसे 'सत्' नहीं कहा जा सकता। जब 'य' 'सत्' ही नहीं है, उसके विषय में निश्चित् 'ज्ञान' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसकी केवल **प्रतीति** (Opinion) ही हो सकती है।

प्लेटो के अनुसार, वास्तविक ज्ञान केवल रूपों, प्रत्ययों अथवा सामान्य विज्ञानों का ही सम्भव है। **प्रत्यय या विज्ञान जो अपरिणामी, सामान्य, नित्य तथा वस्तुओं के सारभूत तत्त्व हैं, हमारे ज्ञान के एक मात्र 'विषय' हैं। इन्द्रिय-जगत् जिसमें अनित्यता, संदेह, सापेक्षता का साम्राज्य है, हमारे ज्ञान के विषय कदापि नहीं बन सकते**। विज्ञान जो नित्य, सार्वभौम और असंदिग्ध हैं, हमारे ज्ञान के वास्तविक विषय हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि प्लेटो के पहले **सॉक्रेटीज** ने भी कहा था कि **प्रत्ययात्मक ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है**। प्रत्ययात्मक ज्ञान परिभाषाओं के रूप में प्रकट होता है जो हमारे विचारों को नियमिंत और व्यवस्थित करता है। पर सॉक्रेटीज़ और प्लेटो के विज्ञान-सम्बन्धी विचारों में अन्तर यह है कि सॉक्रेटीज़ के विज्ञान केवल **नियामक** (Regulative) सूत्र हैं पर प्लेटो के विज्ञान नियामक होने के साथ-साथ वास्तविक, तात्त्विक या **उपादान-रूप** (Constitutive) भी हैं। प्लेटो का विज्ञानवाद एक तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त है जिसके अनुसार विज्ञान केवल 'मानसिक' या 'आत्मगत' इकाई ही नहीं है, वरन् स्वतन्त्र, वस्तुतन्त्र अथवा वास्तविक इकाइयाँ हैं जो इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं के सारभूत तत्त्व हैं। प्रत्यक्ष जगत् की वस्तुओं के विज्ञान उपादान कारण हैं। प्लेटो का विज्ञानवाद, प्रत्ययों की वस्तु-निष्ठता का सिद्धान्त है जिसके अनुसार विज्ञान, आत्मा का अमूर्त कल्पना मात्र नहीं है, वरन् वह आत्मा से स्वतन्त्र और वस्तु-तन्त्र सत्ता है। यही प्लेटो के विज्ञानवाद का मूल रहस्य है।

अब प्रश्न यह है कि प्लेटो ने अपने 'विज्ञानवाद' की स्थापना किस प्रकार की? प्लेटों

का विज्ञानवाद उनके सत्य के याथार्थ्यवाद पर आधारित है। इस विषय में प्लेटो वस्तुवादी (Realist) हैं। **याथार्थ्यवाद** (Correspondence Theory) का अर्थ यह है कि **सत्य** हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाह्य तथ्यों के सामञ्जस्य अथवा सादृश्य का प्रतिफल होता है। उदाहरण के लिए, यदि हमारे मन में 'झील' का प्रत्यय है तो यह प्रत्यय वास्तविक तभी समझा जायगा, जबकि हमारे 'झील' प्रत्यय की संगति में कोई बाह्य 'झील' जगत् में स्थित हो। पर यदि आत्मा से स्वतन्त्र, जगत् में ऐसा कोई बाह्य पदार्थ नहीं है तो हमारा प्रत्यय **असत्य** अथवा **अयथार्थ** समझा जायगा। याथार्थ्य बिम्ब और प्रतिबिम्ब की परस्पर संगति का परिणाम होता है। इसीलिए प्लेटो के सत्य के सिद्धान्त को प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद अथवा विज्ञान **प्रतिबिम्बवाद** (Copy Theory of Ideas) भी कहते हैं। इसी प्रकार यदि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में परस्पर असंगति है तो यह अयथार्थ समझा जायगा। प्लेटो ने इसी याथार्थ्य-सिद्धान्त को अपने विज्ञानों के प्रतिपादन के लिए माध्यम बनाया जिसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है; अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय यथार्थ होगा; पर प्रत्यय यथार्थ तभी समझा जायगा, जबकि इसकी संगति बाह्य और वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के सथा हो; इस प्रकार प्रत्ययों की यथार्थता के लिए बाह्य विज्ञानों का होना अनिवार्य है;

अत: **विज्ञान** सत्य है।

प्लेटो के विज्ञानों पर हम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि हम प्रश्न करते हैं "**सौन्दर्य**" क्या है?" एक व्यक्ति इसका उत्तर सौन्दर्य के दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हुए दे सकता है जैसे : "गुलाब का फूल", "स्त्री-मुख", "मनोहर चित्र", "चन्द्र-प्रभा" इत्यादि। पर यह हमारे प्रश्न का सही उत्तर नहीं है। हमारा प्रश्न यह नहीं था कि "कौन-सी वस्तुएँ सुन्दर हैं?" वरन् यह कि "सौन्दर्य क्या है जिसके ये सब वस्तुएँ दृष्टान्त रूप हैं?" इस पर वह व्यक्ति उत्तर दे सकता है कि सुन्दर वस्तुओं से पृथक् "सौन्दर्य" नाम की संसार में कोई वस्तु नहीं है। यद्यपि हम प्रयोग की भाषा में एकवचन में "सौन्दर्य" शब्द का व्यवहार करते हैं पर यह तो भाषा के शिष्टाचार की बात है। इस बात से कि हम भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एकवचन में करते हैं, यह अर्थ कदापि नहीं निकलता कि उसका संकेत संसार की किसी एक वस्तु से है। इस नियम के अनुसार एकवचन "सौन्दर्य" का अर्थ यह नहीं है कि बाह्य जगत् में "सौन्दर्य" नाम की कोई ऐसी सत्ता है जो सुन्दर वस्तुओं की सत्ताओं से पृथक् है। जगत् में केवल सुन्दर वस्तुओं की सत्ताएँ हैं, सुन्दर वस्तुओं के अतिरिक्त "सौन्दर्य" का कोई अस्तित्व नहीं है। इसका प्रत्युत्तर इस बात से दिया जा सकता है कि यह ठीक है कि जगत् में केवल सुन्दर वस्तुओं का ही अस्तित्व है, पर इस कारण कि एक ही शब्द से इन तमाम वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, यह अर्थ निकलता है कि कम से कम इन सुन्दर वस्तुओं के भीतर **समानता** तो अवश्य ही है। अब प्रश्न यह है कि हमें उनकी समानता का ज्ञान कैसे होता है? प्रत्यक्ष द्वारा यह सम्भव नहीं क्योंकि 'समानता' के अन्दर 'तुलना' (Comparison) की प्रक्रिया निहित है और 'तुलना' करना

मानसिक व्यापार है, इन्द्रियों का व्यापार नहीं। इस प्रकार 'समानता' का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा सम्भव न होकर बुद्धि द्वारा ही प्राप्य है। बुद्धि द्वारा तुलनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव है जबकि उसके पास कम से कम दो सामग्रियाँ उपस्थित हों; **यथार्थ** एवं **आदर्श** अथवा मानदण्ड। 'यथार्थ' की प्राप्ति तो अनुभव से होती है, पर 'आदर्श' अथवा 'मानदण्ड' की प्राप्ति अनुभव द्वारा सम्भव नहीं है। अतः इसे बुद्धि-जन्य मानना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब हम किसी वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं तो सौन्दर्य का दृष्टान्त तो हमें अनुभव द्वारा प्राप्त होता है, पर सौन्दर्य का मानदण्ड बुद्धि से उत्पन्न होता है जिसके आधार पर हम यह निर्णय देते हैं कि "अमुक वस्तु सुन्दर है।" प्लेटो का कथन है कि जगत् के प्रति हमारा उपगमन आदर्शात्मक होता है; हम आदर्श को लिए हुए जगत् का प्रत्यक्ष करते हैं। प्लेटो ने यह भी कहा है कि यथार्थों का प्रत्यक्ष और आदर्शों का **संस्मरण**[1] (Reminiscence) होता है। जब इन दोनों का संयोग होता है तो उसे 'ज्ञान' कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आदर्श या विज्ञान जिनका हमें प्रत्यक्ष करते समय 'संस्मरण' होता है **वास्तविक** अथवा **अवास्तविक** है। इसे हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि यदि 'सौन्दर्य' का विज्ञान हमारी आत्मा में निहित है तो इसकी संगति में आत्मा से स्वतन्त्र वस्तुनिष्ठ 'सौन्दर्य' का होना अनिवार्य है। यदि "सौन्दर्य" के विज्ञान की संगति में आत्मा से स्वतन्त्र वस्तुनिष्ठ 'सौन्दर्य' नहीं है तो हमारा 'सौन्दर्य' का विज्ञान 'काल्पनिक' ही समझा जायगा। फिर इन काल्पनिक विज्ञानों द्वारा प्रत्यक्ष जगत् की वस्तुओं पर दिया गया 'निर्णय' भी काल्पनिक हो जायगा। इस अवस्था में प्लेटो का दर्शन सोफिस्टों के दर्शन से भिन्न न होगा। पर प्लेटो सोफिस्टों के सापेक्षवाद के कट्टर विरोधी हैं। सापेक्षवाद आत्मघाती सिद्धान्त है। दूसरा विकल्प यह है कि 'सौन्दर्य' का विज्ञान केवल आत्मगत न होकर वस्तुगत भी है। अर्थात्, सौन्दर्य के विज्ञान की संगति में आत्मा से स्वतन्त्र वस्तुनिष्ठ "सौन्दर्य" है जिसका हमारा विज्ञान "अनुकरण" मात्र है। सुन्दर वस्तुओं के अतिरिक्त, आत्मा के बाहर "परमार्थ-सौन्दर्य" की सत्ता है जिसकी "सुन्दर वस्तुएँ" केवल आभास मात्र हैं। यही प्लेटो का विज्ञानवाद है। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य के 'विज्ञान' के अतिरिक्त और भी अनेक 'विज्ञान हैं, जैसे 'न्याय', 'शिवत्व', 'त्रिभुज', 'अश्वता' इत्यादि। संसार के भीतर जितने 'प्रकार' की वस्तुएँ हैं, पारमार्थिक जगत् में उतने ही 'विज्ञान' या 'रूप' भी हैं। प्लेटो का विज्ञानवाद नित्य, शाश्वत, अपरिणामी, सामान्य, सार्वभौम, निरपेक्ष, स्वतन्त्र और पारमार्थिक तत्त्वों का विज्ञान है जिसके बिना वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं है।

एरिस्टॉटल ने प्लेटो द्वारा प्रतिपादित पाँच विभिन्न तर्कों की ओर संकेत किया है जिनका उपयोग उन्होंने अपने विज्ञानवाद की स्थापना के लिए किया था—

1. **विज्ञानमूलक तर्क** (The argument from the sciences)

2. **अभेदमूलक तर्क** (The argument of the one over the many)

---

1. मेनो, ७१ सी, फीडो, ७२ एक

3. **अभावमूलक तर्क** (The argument from the knowledge of things that are no more)

4. **सम्बन्धमूलक तर्क** (The argument from relation)

5. **''तृतीय मनुष्य'' मूलक तर्क** (The argument implying the fallacy of the third man)

1. **विज्ञानमूलक तर्क**—इस तर्क को हम निम्न रूप में परिभाषित कर सकते हैं : ''ज्ञान और विज्ञान का अस्तित्व है, उनका कोई न कोई 'विषय' अवश्य होना चाहिए; अत: उन विषयों का अस्तित्व है। 'विशेष' वस्तुएँ इन विज्ञानों के विषय कदापि नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे अनित्य, परिणामी और परिवर्तनशील हैं, और विज्ञानों के विषय नित्य एवं अपरिणामी होते हैं। अत: नित्य, शाश्वत, अक्षुण्ण और कूटस्थ सत्ताओं का होना अनिवार्य है जिन्हें हम **विज्ञान** (Idea) **या स्वरूप** (Form) कह सकते हैं।'' **गणित** इसका सर्वोत्तम उदारण है। कोई भी रेखा हम खींचे, वह 'पूर्ण रेखा', जिसका केवल एक ही आयाम (Dimension) हो, नहीं हो सकती; उसके कम से कम दो आयाम अवश्य होंगे। इसी प्रकार हम किसी 'वर्ग' का आकार खींचें, वह कभी भी पूर्ण वर्ग नहीं हो सकता। यद्यपि जगत् में 'पूर्ण रेखा' या 'पूर्ण वर्ग' का अस्तित्व नहीं है, तब भी इनके विषय में गणित विचार करता है। अत: जगत् से अतीत किसी पारमार्थिक संसार में इन विज्ञानों का होना अनिवार्य है। यही प्लेटो के विज्ञान हैं।

2. **अभेदमूलक तर्क**—अभेदमूलक तर्क इस प्रकार का है : ''यद्यपि संसार में जितने मनुष्य हैं, सभी मनुष्य हैं और संसार का प्रत्येक जानवर एक **जानवर** है, पर संसार का कोई भी **'विशेष'** मनुष्य या जानवर **'सामान्य'** मनुष्य या जानवर नहीं हो सकता, क्योंकि **'सामान्य'** की व्याप्ति 'विशेष' से कहीं अधिक है। इस प्रकार 'सामान्य' की सत्ता विशेषों की सत्ता से बिलकुल ही पृथक् है। पर इस प्रत्यक्ष-जगत् की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी 'विशेष' हैं। अत: इस दृश्य जगत् से परे एक ऐसा पारमार्थिक जगत् अवश्य है जहाँ सामान्यों की सत्ता है। प्लेटो के अनुसार, यही **विज्ञान-जगत्** है जहाँ **विज्ञान** निवास करते हैं।

3. **अभावमूलक तर्क**—''जब हम किसी सामान्य 'मनुष्य' या 'जानवर' का चिंतन करते हैं, हमारे चिंतन का एक विषय होता है, जो 'सामान्य' है और जिस पर विशिष्ट मनुष्यों या विशिष्ट जानवरों के अभाव का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार इन विशेषों के अतिरिक्त **'सामान्य'** की सत्ता अनिवार्य है जो हमारे सामान्य प्रत्ययों का विषय है। यही **विज्ञान** है।''

4. **सम्बन्धमूलक तर्क**—वस्तुओं को एक ही नाम अथवा एक ही विधेय द्वारा निम्न तीन प्रकार से अभिधान किया जाता है—(अ) जबकि उन वस्तुओं में अभेदता (Likeness) हो; (ब) उनके भीतर समानता (Similarity) हो; अथवा (स) उनमें से एक दूसरे का प्रतिरूप (Copy) हो। जब हम दो समतुल्य रेखाओं को खींचते हैं, वे पूर्णतया समतुल्य कभी भी नहीं हो सकतीं; वे दोनों रेखाएँ समतुल्यता (Equality) के **'अनुकरण मात्र'** हैं। संसार की वस्तुओं के प्रतिमानों (Models) को प्लेटो ने 'विज्ञान' शब्द से अभिहित किया है।

5. ''तृतीय मनुष्य'' मूलक तर्क—यह तर्क अभेदमूलक तर्क का ही रूपान्तरण है। अभेदमूलक तर्क में 'सामान्य' की सत्ता, विशेषों की सत्ता से पृथक् मानी गई है। ''तृतीय मनुष्य'' मूलक तर्क कुछ इस प्रकार है, ''जब वस्तुओं को एक ही नाम से अभिहित किया जाता है, और वे वस्तुएँ इतनी व्यापक न हों जितना कि वह नाम है, इसका अर्थ यह है कि वे सभी विशिष्ट वस्तुएँ एक **सामन्य सत्ता** के साथ **समान** सम्बन्ध रखती हैं और यह सामान्य सत्ता कुछ नहीं प्लेटो का **विज्ञान** है।''

प्लेटो के विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए एरिस्टॉटल ने जो ऊपर तर्क दिए हैं, उनका एक दूसरे प्रकार से विभाजन किया जा सकता है। विज्ञानमूलक तर्क एक प्रकार का **ज्ञानात्मक** (Epistemological) तर्क है। अभेदमूलक और ''तृतीय मनुष्य'' मूलक तर्क **तार्किक** (Logical) तर्क है तथा अभावमूलक और सम्बन्धमूलक तर्क **सत्तामूलक** (Ontological) तर्क कहे जा सकते हैं। इन तीन प्रकार के अतिरिक्त **उद्देश्यमूलक** (Teleological) और **रहस्यमूलक** (Mystical) दो और तर्क हैं जो विज्ञानों की प्रतिष्ठा करते हैं। उद्देश्यमूलक तर्क के अनुसार विज्ञान वे ''**नित्य साँचे**'' हैं जिनके अनुसार ईश्वर इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों का निर्माण करते हैं। इस तर्क के अनुसार विज्ञान इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों का निर्माण करते हैं। इस तर्क के अनुसार विज्ञान इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों के **लक्ष्य-कारण** (Final Causes) हैं। इसी प्रकार रहस्यमूलक तर्क के अनुसार विज्ञान ''**शिवतत्त्व की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर**' हैं। विज्ञानों का बहुत्व शिवतत्त्व की एकता में विलीन हो जाता है। 'सिम्पोजियम' में इस तत्त्व को 'परम सौन्दर्य' (Supreme Beauty) और फीड्रस में 'परम सत्' (Supreme Being) तथा 'रिपब्लिक' में विज्ञान-स्वरूप शिव तत्त्व' (Idea of the Good) कहा गया है। प्लेटो का शिवतत्त्व 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' सब है।

प्लेटो के अनुसार विज्ञानों की निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

1. विज्ञान द्रव्य-स्वरूप हैं। वे निरपेक्ष, स्वतन्त्र और मूलभूत तत्त्व हैं। वे किसी पर आश्रित नहीं है, बल्कि स्वयं जगत् की वस्तुएँ ही उन पर आश्रित हैं। वे जगत् के प्राथमिक आधारभूत मूल-तत्त्व हैं।

2. विज्ञान **सामान्य** तत्त्व हैं। वे कोई 'विशेष' वस्तु नहीं हैं। 'अश्व' का विज्ञान कोई 'विशेष' अश्व नहीं है जो दिक्कालावच्छिन्न होता है। यह सभी अश्वों का सामान्य प्रत्यय है जो समान रूप से अभी अश्वों में विद्यमान है। यह सामान्य अश्व है।

3. विज्ञान 'वस्तुएँ' नही हैं; वे ''**चिद्रूप**'' हैं। विज्ञान रूप होते हुए भी वे व्यक्तिनिष्ठ नहीं हैं, वे न तो किसी व्यक्ति के विज्ञान हैं और न ईश्वर के ही; वे सभी प्रकार की आत्माओं से स्वतन्त्र **वस्तुनिष्ठ** (Objective) विज्ञान हैं। सॉक्रेटीज के विज्ञान मानसिक प्रत्यय थे। प्लेटो के विज्ञान, सॉक्रेटिक प्रत्ययों के मूर्तीकरण (Deification or Entification) हैं।

4. प्रत्येक विज्ञान एक इकाई (Unity) है। यह भेदों में अनुस्यूत अभेद है। जगत् की प्रत्येक प्रकार की वस्तु के लिए एक से अधिक विज्ञान नहीं हो सकते। अतिव्यापी (Overlapping) विज्ञानों का होना सम्भव नहीं।

5. **विज्ञान निर्विकार** (Immutable) और **अविनाशी** (Imperishable) हैं। वे नित्य, शाश्वत, अव्यय और अक्षर रूप हैं। यदि जगत् के सभी मनुष्य समाप्त भी हो जायँ तो भी मनुष्य का विज्ञान अमर रहेगा। सामान्य, विशेषों की सत्ताओं से परे हैं।

6. विज्ञान **दिक्कालावच्छिन्न** नहीं हैं।

(अ) वे देश से अतीत हैं क्योंकि यदि वे देश से परिच्छिन्न होते तो वे 'स्थानीय' और 'विशेष' होते और फिर उन्हें हम सामान्य कभी न कहते।

(ब) वे **काल** से भी अतीत हैं, क्योंकि वे नित्य एवं अपरिणामी हैं। यदि विज्ञानों को काल से परिच्छिन्न माना जाय तो उन्हें अनित्य, विनाशी एवं परिणामी मानना होगा जो सम्भव नहीं।

7. विज्ञान **बोध-स्वरूप** (Rational) हैं। विज्ञानों को वोध-स्वरूप कहने का तात्पर्य यह है कि हम उन्हें **बुद्धि** द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। 'विशेषों' का ज्ञान हम इन्द्रियानुभूति द्वारा प्राप्त करते हैं, पर विशेषों से पृथक् 'सामान्य' का ज्ञान हम बुद्धि द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। प्लेटों रहस्यवादी (Mystic) नहीं थे; वे कट्टर बुद्धिवादी थे। विज्ञानों का ज्ञान निर्विकल्पानुभूति (Intuition) द्वारा न होकर बुद्धि द्वारा ही होता है।

8. प्लेटो के विज्ञान इस पार्थिव और इतर जगत् में न रहकर अतीन्द्रिय (Transcendental) और विज्ञान-जगत् के निवासी हैं। इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ विशेष और देशकाल द्वारा आवृत्त हैं। पर विज्ञान जो समान्य और देशकाल से अतीत हैं, अतीन्द्रिय जगत् के ही निवासी हो सकते हैं। यही प्लेटो का द्वैतवाद है।

9. 'विज्ञान' या रूप 'सत्ता' और 'मूल्य' दोनों दृष्टियों से विशेषों की अपेक्षा श्रेष्ठतर (Superior) हैं। प्लेटो के अनुसार विज्ञान, विशेषों के 'प्रतिमान' या 'आदर्शरूप' हैं और विशेष उनके विवर्त मात्र हैं।

10. 'सामान्य' और 'विशेष' पृथक्-पृथक् जगत् में निवास करते हुए भी उनके भीतर एक प्रकार का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में प्लेटो ने कभी **तादात्म्य** (Participation) शब्द से और कभी **प्रतिबिम्ब** (Copy) शब्द से व्यक्त किया है। सामान्य विधेय द्वारा अभिहित किए गए सभी विशेषों का एक 'विज्ञान' के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। पर 'तादात्म्यवाद' में बड़ी कठिनाइयाँ शामिल हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। 'तादात्म्य' और 'प्रतिबिम्ब' कहने का प्लेटो का ध्येय **अभिव्यक्ति** (Expression) से था। अर्थात्, इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ विज्ञानों की 'अभिव्यक्ति' अथवा 'व्यंजना' मात्र हैं।

11. यद्यपि प्लेटो ने अनेक विज्ञानों की कल्पना की है, पर ये अनेक विज्ञान सर्वथा पृथक् नहीं है उनके भीतर **तारतम्य** (Hierarchy) पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि विज्ञानों के अन्दर उत्कृष्टापकृष्ट का सम्बन्ध है, उनके भीतर श्रेणी-विभाजन है जिसमें श्रेष्ठतर विज्ञान निम्नतर विज्ञानों का नियमन करते हैं। निम्नतर विज्ञान उच्चतर विज्ञानों द्वारा संचरित और अनुप्राणित होते हैं। इस क्रम के अनुसार हम 'परम' अथवा 'श्रेष्ठतम विज्ञान' तक पहुँचते हैं जिसे प्लेटो ने '**परमशुभ**' (Highest Good) कहा है। यही प्लेटो का **वस्तुवाद** (Realism) है।

प्लेटो के दर्शन में "**विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्त्व**" का अपूर्व महत्त्व है। सॉक्रेटीज़ ने स्वयं स्वीकार किया है कि हम इसको परिभाषित नहीं कर सकते, क्योंकि इसकी जाति (Genus) नहीं है। यह परम-तत्त्व है। पर इस परम-तत्त्व से व्युत्पन्न वस्तुओं के माध्यम द्वारा इसका वर्णन किया जा सकता है। प्लेटो ने '**सूर्य**" के उपमान द्वारा शिव-तत्त्व को समझाने की चेष्टा की है। "यह सूर्य है जिसे मैं शिव-तत्त्व की प्रथम सन्तान मानता हूँ, जिसे शिव-तत्त्व ने अपने ही समरूप बनाया है और इस भौतिक जगत् में दृष्टि और दृष्य वस्तुओं के साथ इसका वही सम्बन्ध है जो कि बौद्धिक जगत् में शिव-तत्त्व का आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं के साथ है।" उपर्युक्त उद्धरण में शिव-तत्त्व की महिमा का गुणगान किया गया है। शिव-तत्त्व, परम-तत्त्व है जो सृष्टि का मूल है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में सूर्य : **प्रकाश, दृष्टि, दृश्य** और **नेत्र** सभी का मूल है, उसी प्रकार बौद्धिक जगत् में शिव-तत्त्व : सत्य, ज्ञान, ज्ञेय और आत्मा सभी का स्रोत है। सूर्य केवल दृष्टि का कारण नहीं है, वरन् दृश्य जगत् को भी उत्पन्न करता है; उसी प्रकार शिव-तत्त्व केवल ज्ञान का ही कारण नहीं है वरन् ज्ञेय वस्तुओं को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह परम-तत्त्व है; सृष्टि का मूल-कारण है।

प्लेटो ने ऊपर जिस तत्त्व-विज्ञान की चर्चा की है, उसका संवित्-शास्त्र में पर्याप्त महत्त्व है। संवित्-शास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय परस्पर सम्बद्ध हैं, एक-दूसरे में अनुगत हैं; प्रत्येक एक दूसरे के भीतर अनुस्यूत हैं। इस अवस्था में ज्ञान तभी सम्भव है जबकि ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय ये दोनों एक तीसरे परम-तत्त्व के केवल विभिन्न पक्ष मात्र हों। इसी सत्य की अभिव्यक्ति प्लेटो के शिव-तत्त्व सिद्धान्त में हुई है जिसके अनुसार द्रष्टा और दृष्य एक ही अधिष्ठान-तत्त्व के दो पहलू मात्र हैं।[1]

प्रकृति-दर्शन

प्लेटो ने 'विज्ञानों' को ही एक मात्र 'सत्' माना है। ये नित्य, शाश्वत्, सनातन, अपरिणामी और ज्ञेय रूप हैं। इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं के भीतर विज्ञानों से बिलकुल ही विपरीत गुण पाए जाते जाते है। वे अनित्य, क्षणिक, सन्तान रूप, परिणामी और विवर्त-रूप हैं। प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुओं में 'सत्ता' उतनी ही है जितनी कि उनमें विज्ञानों के '**अंश**' विद्यमान हैं और जितनी मात्रा में उनके भीतर 'जड़-तत्त्व' विद्यमान है, वे 'असत्' हैं। इस प्रकार प्लेटो के दर्शन में दो मूल-तत्त्व हैं : प्रथम 'विज्ञान' जो 'सत्-रूप' है और द्वितीय '**जड़-तत्त्व**' जो 'असत्-रूप' है। प्रत्यक्ष जगत् विज्ञानों और 'जड़-तत्त्व' दोनों के मध्य की वस्तुएँ हैं। अत: वे 'सदसत्-रूप है। यही प्लेटो का द्वितत्त्व-वाद है। विज्ञानों और इन्द्रिय-जगत् में निम्न भेद है—

1. विज्ञान '**सामान्य**' है, पर इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ **विशेष हैं**।
2. यदि विज्ञान **एक** है तो वस्तुएँ **अनेक** हैं।

---

1. रिपब्लिक, 508 बी०

3. विज्ञान देश और काल से **अतीत** है, पर इन्द्रिय-जगत् देश और काल से **परिच्छिन्न** हैं।

4. विज्ञान नित्य और **निर्विकार** हैं, पर वस्तुएँ अनित्य और सविकारी हैं।

जहाँ तह जगत् की अनित्यता और परिणाम की बात है, प्लेटो, हेरेक्लाइटस के मत से पूर्ण सहमत है कि जगत् एक प्रवाह है, धारा है, सन्तान है जिसकी सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। विज्ञान 'सत्' है; वह अपरिणामी है। इसके विपरीत, इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ परिणामी हैं और इसलिए असत् हैं। यही कारण है कि प्लेटो ने घोषित किया कि इन्द्रिय-जगत् का '**ज्ञान**' नहीं हो सकता; उसकी केवल **प्रतीति** हो सकती है।

अब प्रश्न यह है कि यदि प्लेटो के अनुसार इन्द्रिय-जगत् की सभी वस्तुएँ अनित्य, गतिशील और परिणामी हैं, तो क्या इसका यह अर्थ है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के नियम भी 'असत्' है। जगत् के अनित्य और परिणामी होते हुए भी इसके भीतर कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका हमें यथार्थ और वास्तविक ज्ञान होता है। पर यदि प्लेटो के दर्शन का गहन अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि उन्होंने भौतिक विज्ञान का कभी भी निषेध नहीं किया। प्रत्यक्ष-जगत् से उनका तात्पर्य ''विशुद्ध संवेदनाओं'' से था जिसमें विज्ञान-तत्त्व का नितान्त अभाव हो। पर हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय विज्ञान-विहीन विशुद्ध संवेदनाएँ न होकर ''विज्ञान-संवलित संवेदनाएँ'' (Rationalised Sensations) ही होते हैं। यदि केवल ''विशुद्ध संवेदनाओं'' पर ही दृष्टिपात किया जाय तो वे निश्चित ही परिणाम, गति, प्रवाह व सन्तान-रूप हैं और उनका 'ज्ञान' कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। पर हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय विशुद्ध-संवेदनाएँ नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, किसी ''पर्वत'' को ले लिया जाय। पर्वत अनित्य और परिणामी होते हुए भी उसके अन्दर एक प्रकार की 'स्थिरता' और 'एकता' होती है जिसके कारण उसके भीतर ''अनन्यता'' (Identity) का गुण पाया जाता है। ''अनन्यता'' या ''एकता'' का भाव इन्द्रियजन्य नहीं हैं क्योंकि इन्द्रिय-जगत् की किसी भी वस्तु में ''अनन्यता'' ''एकता'' का गुण नहीं पाया जाता। इससे स्पष्ट है कि ''अनन्यता'' का ज्ञान बुद्धि-जन्य है। बुद्धि के ''विज्ञानों'' के कारण ही हमें 'विविधता' में 'एकता' तथा 'अन्यता' में अनन्यता के दर्शन होते हैं। प्लेटो की भाषा में, हमें 'पर्वत' के विषय में जो स्थिर ज्ञान होता है, वह उसके ''विज्ञान'' (Idea) का ज्ञान है जो 'अंशी' रूप में पर्वत में विद्यमान है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि प्लेटो ने इन्द्रिय जगत् को कभी भी 'असत्' नहीं बताया। यह जगत् न 'सत् है और न बिलकुल 'असत्' ही। यह प्रतीति मात्र है। 'सिम्पोजियम' में जगत् को ''सत् और असत् की सन्तान'' एवं ''पूर्ण अज्ञान और पूर्ण ज्ञान'' के बीच की अवस्था कहा गया है। इसी प्रकार रिपब्लिक में इसे ''अर्द्ध सत् और अर्द्ध असत्' बताया गया है। 'सोफिस्ट' में इसे ''सत् और असत्'' के विरोध पर निर्भर बताया गया है। सोफिस्ट में यह भी कहा गया है—''पूर्ण असत् की कल्पना असम्भव है।'' 'थीटिटस' में सारी बातें और भी स्पष्ट कर दी गई है। स्वप्न-द्रष्टा का स्वप्न-जगत् और ज्वर से सन्तप्त व्यक्ति का काल्पनिक जगत् जब तक स्वप्न और ज्वर है तब तक उतना ही सत्य है जितना

जागने वाले और स्वस्थ व्यक्ति के लिए यह इन्द्रियानुभूत जगत्। इस प्रकार जगत् का व्यावहारिक सत्ता प्लेटो को स्वीकार है।

प्रत्यक्ष (संवेदन) ही ज्ञान है।

प्लेटो ने अपने सुप्रसिद्ध संवाद थीटिटस (Theaetetus) में 'ज्ञान' को परिभाषित करने की चेष्टा की है। ग्रीक दर्शन के इतिहासकार कॉर्नफर्ड (Cornford) का यह कथन बिलकुल ही सत्य है कि इस सम्वाद में प्लेटो ने 'ज्ञान' की परिभाषा देने के साथ, प्रच्छन्न रूप से इस बात की ओर भी संकेत किया है कि **बिना विज्ञानों** (Ideas) के **ज्ञान असम्भव है। थीटिटस, ज्ञानमीमांसा की एक बहुत उच्चकोटि की पुस्तक है जिसमें प्लेटो ने मुख्य रूप से "प्रत्यक्ष ही ज्ञान है", इस सिद्धान्त की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की है।** 'ज्ञान' सम्बन्धी इस सिद्धान्त के साथ दो अन्य सिद्धान्त भी संलग्न हैं। एक प्रोटेगोरस का सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त है जिसके अनुसार "मानव ही सभी वस्तुओं का मानदण्ड है" और दूसरा हेरेक्लाइटस का सत्-सम्बंधी सिद्धान्त है जिसके अनुसार "गति, परिणाम, प्रवाह, सन्तान ही सत् है।" अन्त में प्लेटो ने ज्ञान, सत्य और सत् सम्बंधी इन तीनों सिद्धान्तों का परित्याग कर अपने नये सिद्धान्त "विज्ञानवाद" की प्रतिष्ठा की है। प्लेटो के **'विज्ञानवाद' के यथार्थ मूल्यांकन के लिए "प्रत्यक्ष ही ज्ञान है" इसका विश्लेषण करना समीचीन होगा।**

"प्रत्यक्ष ही ज्ञान है", इसका पर्यालोचन कई दृष्टियों से किया गया है जिनमें से कुछ प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

1. एक ही "वस्तु" जैसे—समीर, किसी व्यक्ति को कोष्ण ओर किसी को शीतल प्रतीत होती है। फिर इसे हम "कोष्ण" कहें अथवा "शीतल"?

2. स्वप्न, प्रत्यक्ष-जगत् के अतिरिक्त एक नये वास्तविक जगत् की सृष्टि करता है। पर जागृत अवस्था आने पर स्वप्न-जगत् का बोध हो जाता है। कौन जानता है कि एक ऐसी अवस्था आये कि स्वप्न-जगत् की भाँति प्रत्यक्ष-जगत् भी बाधित हो जाए।

3. जो "वस्तु" किसी व्यक्ति को उसकी स्वस्थ अवस्था में "मधुर" मालूम पड़ती है, वही उसके अस्वस्थ होने पर "कटु" प्रतीत होती है। फिर वह वस्तु वास्तव में मधुर है अथवा कटु? इसका निर्णय करना आसान नहीं।

उपर्युक्त कारणों से प्रत्यक्ष और ज्ञान का साधारण समीकरण सम्भव नहीं है जैसा कि प्रोटेगोरस ने समझा था। प्लेटो के अनुसार, यदि प्रोटेगोरस की उपर्युक्त बात स्वीकार भी कर ली जाय तो हमें अपने बोलने और चिन्तन करने की प्रणाली में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करने होंगे। ये परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—

अ—प्रथम दृष्टान्त को दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि एक ही समीर कोष्ण और शीतल दोनों एक साथ हैं। एक ही वस्तु के भीतर एक ही समय दो परस्पर-विरुद्ध धर्मों का अभिधान करना अतार्किक बात नहीं है। पर प्लेटो ने इस विकल्प को अस्वीकार कर दिया,, क्योंकि इसमें निगमनात्मक तर्क में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

ब—दूसरा विकल्प सापेक्षवाद का है। इसके अनुसार यह कहने की अपेक्षा कि "यह

उष्ण है'' या ''यह शीतल है'', हमें कहना चाहिए कि ''अमुक व्यक्ति के सापेक्ष में यह वस्तु उष्ण है और अमुक व्यक्ति के सापेक्ष में यह वस्तु शीतल है।'' इससे तार्किक समस्या का समाधान आसामी से हो जाता है, पर इससे हमें निरपेक्ष ज्ञान की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती।

स—तीसरे विकल्प में 'व्यक्ति' और उसके 'वातावरण' दोनों को अस्वीकार कर दिया गया और उनको 'गति' अथवा 'प्रवाह' के ''समुच्चय'' के रूप में समझा गया। जब किसी ज्ञानेन्द्रिय के प्रवाह के किसी 'अंश' का किसी बाह्य वस्तु के प्रवाह के किसी 'अंश' के साथ संघात होता है तो इसके परिणाम-स्वरूप दो तीव्रतर गतियाँ उत्पन्न होती हैं। एक संवेदना के रूप में ज्ञानेन्द्रियों के भीतर और दूसरी संवेदन-प्रदत्त (Sense-Data) रूप में बाह्य वस्तुओं के भीतर। साधारण बुद्धि के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए कम से कम दो वस्तुओं की आवश्कता होती है। एक मस्तिष्क और दूसरी बाह्य नित्य वस्तुओं की। पर इस सिद्धान्त के अनुसार न तो मस्तिष्क है, न इन्द्रियाँ और न बाह्य वस्तुएँ ही; प्रवाह, सन्तान, गति ही एक मात्र सत्य है। इन्हीं गतियों के परिणाम-स्वरूप ही प्रत्यक्ष की क्रिया सम्भव होती है। इस मत की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अनुसार सभी प्रत्यक्ष समान रूप से प्रामाणिक हैं। यहाँ प्रोटेगोरस का यह सिद्धान्त कि 'मानव सभी पदार्थों का मानदण्ड है', पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे तटस्थ एक-तत्त्ववाद (Neutral Monism) कहा जाता है।

प्लेटो ने सॉक्रेटीज़ के माध्यम द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल कई आक्षेप लगाए हैं—

1. प्रथम आक्षेप यह है कि यदि प्रत्यक्ष ही ज्ञान है तो एक शूकर या लंगूर का दृष्टिकोण उतना ही प्रामाणिक और यथार्थ होगा, जैसा कि किसी बौद्धिक मानव का। पर बात ऐसी नहीं हो सकती।

2. इससे भी गंभीर आक्षेप यह है कि यदि ''मानव ही सभी पदार्थों का मानदण्ड है,'' तो किसी भी व्यक्ति का दृष्टिकोण, दूसरों के दृष्टिकोण से श्रेष्ठतर नहीं समझा जायगा। ऐसी अवस्था में प्रोटेगोरस का इन्द्रिय-संवेदनवाद और साक्षेपवाद सभी के लिए मान्य और अनिवार्य होना आवश्यक नहीं है। जो मत प्रोटेगोरस के लिए सत्य है, सॉक्रेटीज़ और प्लेटो के लिए वही चीज़ असत्य हो सकती है।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त प्लेटों ने कुछ और गंभीर आरोप 'इन्द्रिय-संवेदनवाद' के प्रतिकूल लगाए हैं जिन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—

1. कल्पना कीजिए कि एक ऐसा व्यक्ति है जिसे ऐसी भाषा सुनने का अवसर मिलता है जिसका अर्थ वह नहीं समझता। उसे श्रवण-संवेदना तो अवश्य होती है, पर 'ज्ञान' नहीं होता। पर इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि शब्द की 'ध्वनि' का ज्ञान होना एक बात है और ध्वनि के 'अर्थ' का ज्ञान होना दूसरी बात है। उस व्यक्ति को 'ध्वनि' का ज्ञान तो है, पर उसके 'अर्थ' का ज्ञान नहीं है। पर प्लेटो ने यहाँ यह समझाने की चेष्टा नहीं की कि हमें शब्द के अर्थ का ज्ञान किस प्रकार होता है।

2. दूसरी आपत्ति 'स्मृति' से ली गई है। हमें 'प्रत्यक्ष' से ही ज्ञान नहीं होता, 'स्मृति' से

भी हम ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसका इन्द्रियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही ज्ञान नहीं है।

3. तीसरी आपत्ति यह है कि प्राय: कहा जाता है कि बुद्धिमान मनुष्य वह है जिसकी सम्मतियाँ (Beliefs) यथार्थ होती हैं और मूर्ख वह है जिसकी सम्मतियाँ अयथार्थ होती हैं। इसलिए यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार की सम्मतियों का होना अनिवार्य है। हम यह भी जानते हैं कि प्रोटेगोरस के लिए सभी सम्मतियाँ यथार्थ और प्रमाणिक होती हैं। यह स्पष्ट रूप से बदतोव्याघात है।

4. चौथा आक्षेप यह है कि सोफिस्टों की भाँति लोग भले ही विश्वास कर लें कि संसार में कोई कार्य न तो न्याय्य हैं और न अन्याय्य; न्याय और अन्याय एक रूढ़िवादी कल्पना मात्र हैं जिनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है पर यही बात स्वास्थ्यवर्द्धक और उपयोगी वस्तुओं के विषय में लागू नहीं होती। हम विश्वास करते हैं कि कुछ वस्तुएँ अनिवार्यत: स्वास्थ्यवर्धक होती हैं और कुछ वस्तुएँ अनिवार्यत: स्वास्थ्यवर्धक और उपयोगी नहीं होतीं। अर्थात्, यह बिलकुल सत्य है कि वस्तु 'अ' स्वास्थ्यवर्धक है और 'ब' हानिप्रद है। पर प्रोटेगोरस के अनुसार इस प्रकार का वास्तविक और यथार्थ ज्ञान हमें नहीं होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक दलील होने के कारण इसका विशेष महत्त्व नहीं है।

5. पाँचवी आपत्ति हमारी भविष्य-सम्बंधी सम्मतियों को लेकर की गई है। यदि प्रोटेगोरस की बात सत्य है तो हमारा ज्ञान केवल 'वर्तमान' तक ही सीमित होना चाहिए। भविष्य के विषय में हम कोई 'सम्मति' स्थिर भी करते हैं तो एक विशेषज्ञ के ज्ञान में और एक अनाड़ी के ज्ञान में अन्तर नहीं होगा। पर ऐसी बात नहीं है। किसी रोगी के विषय में एक डाक्टर के विचार कुवैद्य के विचारों की अपेक्षा अधिक सत्य और मान्य होते हैं।

6. छठी आपत्ति यह है कि प्रोटेगोरस का 'इन्द्रिय-प्रत्यक्षवाद' और हेरेक्लाइटस का 'परिणामवाद' एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ नष्ट होते हैं। प्लेटो का कथन है कि यदि सभी कुछ अनित्य और क्षणिक है और संसार में कोई वस्तु 'स्थिर' नहीं है तो साधारण भाषा का प्रयोग भी असम्भव हो जायगा। 'नित्य' वस्तु ही अभिधेय है; जो अनित्य है, उसके 'नाम' का अभिधान ही नहीं किया जा सकता। बात यह है कि यदि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, तो कोई वस्तु समय 'स'[1] पर उत्पन्न होगी और समय 'स'[2] पर उसके 'नाम' का अभिधान किया जायगा; तब तक वह वस्तु क्षणिक होने के कारण अदृश्य हो चुकी होगी और ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी जिसका अभिधान किया जा सके। यही बात प्रत्यक्ष के विषय में भी चरितार्थ होती है। जब सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, संवेदन्य-प्रदत्त (Sense-Data) भी क्षणिक होंगे। मान लीजिए समय 'स'[1] पर कोई संवेदन्य-वस्तु अस्तित्व में आती है, फिर समय 'स'[2] पर यह हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करेगी और समय 'स'[3] पर हमारे ज्ञान का विषय बनेगी। पर जब तक संवेदन्य वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बनती है, उससे पहले ही वह अदृश्य हो चुकी रहती है। ऐसी अवस्था में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होना ही असम्भव है।

उपर्युक्त आपत्तियों के कारण प्लेटो ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यक्ष (या संवेदन) और ज्ञान का समीकरण असम्भव है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्यक्ष और ज्ञान में कोई

सम्बन्ध ही नहीं है। सम्बन्ध है, और घनिष्ठ सम्बन्ध है। सॉक्रेटीज़ ने इन्द्रिय-व्यापार—दृष्टि, श्रवण, घ्राण इत्यादि और बुद्धि-व्यापर—भेद, अभेद, अन्वय, व्यतिरेक इत्यादि में विभेद किया है। चक्षु-इन्द्रिय का कार्य केवल रूप-रंग को देखना मात्र है; न तो वह श्रवण कर सकती है और न सूँघ ही सकती है। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय का कार्य न तो देखना है और न सूंघना। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय का कार्य न देखना है और न श्रवण करना। इतना होते हुए भी हमें किसी वस्तु का एक 'मिश्रित' या 'संश्लिष्ट' ज्ञान होता है। यह बुद्धि-व्यापार के कारण है जिसके कारण हमें किसी वस्तु की 'सत्ता', 'संख्या', 'एकता', 'अनेकता', 'भेद', 'अभेद', 'अशुभ', का ज्ञान सम्भव होता है। वास्तविक ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न न होकर बुद्धि या चिन्तन से उत्पन्न होता है।

संक्षेप में—इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों मिलकर 'ज्ञान' को उत्पन्न करती हैं। 'ज्ञान' हमारी यथार्थ 'सम्मतियाँ' (Doxa) हैं। इससे पहले प्लेटो ने कहा था कि 'ज्ञान' और 'सम्मति' में अत्यधिक भेद है। यहाँ 'ज्ञान' और 'यथार्थ सम्मति' (True Belief) का समीकरण करके प्लेटो ने उनके आत्यन्तिक भेद को समाप्त कर दिया। सभी सम्मतियाँ नहीं, वरन् केवल यथार्थ सम्मतियाँ ही ज्ञान (Episteme) कहलाने की अधिकारिणी हैं। पर आगे चलकर इसका भी परित्याग कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, एक न्यायाधीश, वकीलों के वाद-विवाद को ही सुनकर सही निर्णय दे देता है, पर इसे हम 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि उसने 'घटना' का दृश्यावलोकन नहीं किया हैं। 'निर्णय' सही होते हुए भी 'ज्ञान' नहीं हो सकता। इसीलिए 'थीटिटस के अन्त में प्लेटो के ज्ञान की एक दूसरी परिभाषा दी जिसके अनुसार "ज्ञान सामान्य वास्तविक निर्णय है।" (Knowledge is true judgment with an account).

इन्द्रिय-जगत् और विज्ञानों में सम्बन्ध

प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् और विज्ञानों के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

1. **अंशवाद** (Participation Theory) और 2. **प्रतिबिम्बवाद** (Copy Theory)। प्रोफेसर कॉलिंगवुड (Collingwood) के अनुसार, प्रथम सिद्धान्त विज्ञानों के **अन्तर्यामी** (Immanent) रूप और द्वितीय सिद्धान्त उनके पर (Transcendent) रूप को प्रदर्शित करता है। सच पूछा जाय तो विज्ञानों और इन्द्रिय-जगत् के सम्बन्ध को दर्शाने वाला कोई सिद्धान्त तभी यथेष्ठ समझा जायगा जब वह विज्ञानों के अन्तर्यामी और पर-रूप दोनों को अभिव्यक्त करता हो। इन सिद्धान्तों का विस्तार में विवेचन करना यहाँ असंगत न होगा।

अंशवाद के अनुसार इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ विज्ञान-जगत् मैं "भाग" लेती हैं। तात्पर्य यह है कि इंद्रिय-जगत् वस्तुतः विज्ञान-जगत् का "सत्य अंश" है। यदि ऐसी बात है तो विज्ञान या तो **बहुल** (Multiple) होगा या **विभाज्य** (Divisible)। यदि विज्ञानों में सजातीय भेद स्वीकार करते हुए उन्हें बहुल मान लिया जाय (जिससे प्रत्येक दृष्टान्त में एक स्वतन्त्र विज्ञान की प्रतिष्ठा की जा सके) तो विज्ञान '**समान्य**' न रहकर "विशेषों का एक

पुञ्ज''[1] मात्र ही रह जायगा, जो प्लेटो को अभीष्ट नहीं है। इसके विपरीत, यदि विज्ञानों को 'विभाज्य' मान लिया जाय (जिससे कि वह आंशिक रूप में प्रत्येक दृष्टान्त के भीतर निवास कर सके), तो 'विज्ञान' की न केवल अनिवार्य **एकता** (Unity) ही भंग होगी, बल्कि वह प्रत्यक्ष जगत् की वस्तुओं को सिद्ध करने में भी असमर्थ रहेगा, क्योंकि विज्ञान अपनी पूर्णिक इकाई के रूप में ही जगत् की वस्तुओं को उनका विशिष्ट रूप प्रदान करता है, आंशिक रूप में तो वस्तुओं का स्वभाव ही नष्ट हो जायगा।[2] विज्ञानों का ऐकिक और सामान्य रूप ही इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं की अनेकता और प्रपञ्च को बोधगम्य बनाता है। और यदि विज्ञान को 'बहुल' और 'विभाज्य' न मानकर यह कहा जाय कि इन्द्रिय-जगत् 'विज्ञान' का 'सहभागी' इसलिए होता है कि उसके भीतर कुछ 'सामान्य गुण' वर्तमान हैं, तो हमें स्वीकार करना होगा कि 'विज्ञान' और 'सामान्य गुण' में कुछ न कुछ 'सादृश्य' अवश्य है और इसे सिद्ध करने के लिए हमें एक अन्य विज्ञान की प्रतिष्ठा अवश्य करनी होगी जिसमें 'प्रथम' विज्ञान और 'सामान्य गुण' 'सहभागी' होते हैं। इस प्रकार की सहभागिता एक तृतीय 'विज्ञान' को जन्म देगी, फिर चतुर्थ की और इसके अन्दर अनवस्थादोष[3] पाया जायगा। इस प्रकार 'अंशवाद' विज्ञान और प्रत्यक्ष-जगत् के सम्बन्धों की समुचित व्याख्या करने में असमर्थ है।

यही बात 'प्रतिबिम्बवाद' के विषय में भी चरितार्थ होती है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार इन्द्रिय-जगत् विज्ञानों का प्रतिबिम्ब, अनुकरण अथवा अनुकृति मात्र है। मान लीजिए कि 'अ', विज्ञान अ का प्रतिबिम्ब है। यदि 'अ' अ का प्रतिबिम्ब है तो 'अ' और अ के भीतर एक सामान्य-तत्त्व अवश्य वर्तमान है जिसके कारण 'अ' और अ समान हैं। पुनः इस तृतीय पद का प्रथम दो पदों 'अ' और अ से वही संबंध होगा जो अ का 'अ' से है और यह क्रम अनन्त[4] तक चलता रहेगा। इसके अतिरिक्त 'सादृश्य', विज्ञान और उसके दृष्टान्तों की 'समानता' को ही व्यक्त करता है, दृष्टान्तों के 'वैभिन्य' को नहीं, यहाँ हम एक ऐसे 'सम्बन्ध' की खोज करना चाहते हैं, जो दृष्टांतों के विज्ञान के साथ 'समानता' को ही स्पष्ट न करे, वरन् उनकी 'विभिन्नता' को भी स्पष्ट करे। 'प्रतिबिम्बवाद' इसका समाधान नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त 'प्रतिबिम्बवाद' संकेत करता है कि विज्ञान' इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं में निवसित न होकर उनसे 'अतीत' है, पर हैं। यदि ऐसी बात है तो विज्ञान न तो वस्तुओं की समुचित व्याख्या करता है और न उनके परस्पर-सम्बन्ध को ही स्पष्ट करता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद भी त्रुटिपूर्ण है।

प्लेटो स्वयं इन कठिनाइयों से पूर्ण परिचित थे, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी पुस्तक पार्मेनाइडीज़ में सविस्तार वर्णन किया है। इसमें एक स्थल[5] पर सॉक्रेटीज़ ने निर्देश किया है—

---

1. पार्मेनाइडीज, 131 अ-ब
2. वही, स-य
3. पार्मेनाइडीज, 132 ए० बी०
4. वही, 132 ई०
5. वही, 132 बी०

"क्या पार्मेनाइडीज, इन रूपों में प्रत्येक रूप हमारे मानसिक प्रत्यय नहीं हो सकते थे जिनका अस्तित्व आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है? क्योंकि फिर उनमें प्रत्येक एक इकाई होगी और जो अभी आपने कहा है, उस पर लागू नहीं होगा।" सॉक्रेटीज़ का यह निर्देश प्लेटो के विज्ञानवाद को अनवस्था-दोष से मुक्त करने के लिए किया गया था। पर उसी स्थल पर प्लेटो ने पार्मेनाइडीज के माध्यम से उक्त निर्देश को अस्वीकार कर दिया है, क्योंकि उनके अनुसार हमारे प्रत्येक मानसिक प्रत्यय का कोई न कोई स्वतन्त्र विषय अवश्य होना चाहिए, जो विज्ञान है। इसी प्रकार उस पुस्तक में अन्य कई स्थलों पर प्लेटो ने अपने विज्ञानवाद का आत्मपर्यालोचन किया है। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विज्ञानों और इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए जो प्लेटो ने 'प्रतिबिम्बवाद' और 'अंशवाद' का प्रतिपादन किया, वह प्लेटो की नहीं, बल्कि सॉक्रेटीज़ की देन है।[1]

वास्तव में एरिस्टॉटल और अन्य आलोचकों ने प्लेटो के विज्ञानवाद के विरुद्ध जो अनेक आक्षेप लगाए हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, वरन् 'विज्ञानवाद' की अज्ञानता के ऊपर आधारित हैं। सारी कठिनाई प्लेटो के विज्ञानों को भौतिक और दिक्कालावच्छिन्न मानने के कारण उत्पन्न होती है। प्लेटो के विज्ञान अभौतिक और दिक्कालानवच्छिन्न हैं। अत: उनके बहुल या विभाज्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'अंश' और 'प्रतिबिम्ब' से प्लेटो का तात्पर्य 'अभिव्यक्ति' से है। इसे हम इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि एक कलाकार है जो अपने आदर्श के अनुसार किसी कला का सृजन करना चाहता है। वह अपना कार्य प्रारम्भ करता है और शनै:-शनै: अपने 'लक्ष्य' की ओर अग्रसर होता है। पर चाहे वह कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, उसके 'यथार्थ' और 'आदर्श' में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य ही रहेगा। कलाकार की जितनी भी सृष्टियाँ हैं, उनमें 'आदर्श' या 'लक्ष्य' अनुस्यूत हैं, पर अनुस्यूत होते हुए भी वह 'अतीत' है क्योंकि 'आदर्श' पूर्ण रूप से चरितार्थ नहीं किया जा सकता। प्लेटो ने कुछ इसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की थी जब उन्होंने कहा कि इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ विज्ञानों के 'अनुकरण' मात्र हैं। प्रो० बर्नेट[2] के अनुसार, प्लेटो ने इस मत का प्रतिपादन फीडो में स्पष्ट रूप से किया है जहाँ उन्होंने निवेदन किया है कि वस्तुएँ सुन्दर इसलिए हैं कि वे परम-सौन्दर्य के 'सत्यांश' हैं। संक्षेप में : प्लेटो ने विज्ञानों को लक्ष्य कारण (Final Cause) के रूप में माना है। जो बात मनुष्य-जगत् में लागू होती है,, वही प्रकृति-जगत् में भी सत्य है। प्लेटो के अनुसार, जगत् का एक प्रयोजन (Teleology) है, वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। यह लक्ष्य "परम-शिव-तत्त्व" (Highest Good) है जो एक साथ "सत्यं-शिवं-सुन्दरं" तीनों है।

असत् (Non-Being)

प्लेटो के अनुसार 'विज्ञान' ही एक मात्र सत्य है; प्रत्यक्ष-जगत् विज्ञानों की 'प्रतिकृति'

---

1. द्रष्टव्य, हैरिस : नेचर माइण्ड ऐण्ड माडर्न साइन्स,. पृ० 98
2. बर्नेट : थेलीज़टु प्लेटो, पृ० 164-65.

मात्र है। यही कारण है कि प्लेटो ने प्रकृति-विज्ञान पर इतना ध्यान नहीं दिया जितना कि तत्त्व-विज्ञान पर दिया है। प्रत्यक्ष-जगत् का हमें 'ज्ञान' नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनित्य और परिणामी है। उसकी केवल 'प्रतीति' होती है। 'ज्ञान' तो केवल विज्ञानों का ही सम्भव है। पर प्लेटो ने अपने अन्तिम दिनों में दृश्य-जगत् के विषय में चिन्तन करना प्रारम्भ कर दिया था जिसका वर्णन टाइमियस (Timaeus) में मिलता है। दृश्य जगत् की अभिरुचि पाइथेगोरियन दर्शन के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई। प्लेटो ने पाइथेगोरियन दर्शन से 'गणित' और नक्षत्र-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया। गणित और नक्षत्र-विज्ञान में उन्हें न केवल विज्ञानों (Ideas) के ही दर्शन हुए, वरन् विज्ञानों और प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुओं के "सम्बन्ध" का भी ज्ञान हुआ। इसके साथ-साथ प्लेटो के समय में एक तीसरे विज्ञान का भी उदय हुआ जिसे परमाणु विज्ञान कहते हैं, जिसमें भौतिकता, परतन्त्रता, यान्त्रिकता और अनित्यता का साम्राज्य पाया जाता है। ऐसी स्थिति में प्लेटो के लिए आवश्यक हो गया कि वह अपने नित्य विज्ञानों के साथ अनित्य दृश्य-जगत् का सम्बन्ध स्थापित करे। टाइमियस इसी प्रयत्न का परिणाम है।

प्लेटो ने 'थीटिटस' में पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि ऐन्द्रिक जगत् का 'ज्ञान' असम्भव है, ज्ञान केवल विज्ञानों का ही सम्भव है। यही कारण हैं कि उन्होंने ज्ञान प्राप्त करने में वैज्ञानिक प्रयोगो का बहिष्कार किया।[1] दृश्य-जगत् के ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को "व्यायाम और मनोरंजन"[2] की संज्ञा प्रदान की गई है। प्लेटो और उनके अनुयायियों के समक्ष यह एक बड़ी समस्या थी कि नित्य विज्ञानों से अनित्य जगत् की ओर किस प्रकार संक्रमण हुआ। विज्ञान 'एक' है, पर संवेदन्य वस्तुएँ जो उसके प्रतिबिम्ब हैं 'अनेक' हैं; प्रत्येक विज्ञान नित्य अपरिणामी है, पर संवेदन्य वस्तुएँ जो उसके प्रतिबिम्ब हैं, 'अनेक' हैं; प्रत्येक विज्ञान नित्य अपरिणामी है पर संवेदन्य वस्तुएँ अनित्य और परिणामी हैं। विज्ञान 'सत्' हैं, पर जगत् 'सदसत्' है; विज्ञान पूर्ण सत्ताएँ हैं, पर दृश्य जगत् का सत् और असत् के मध्य विचलन होता है। दृश्य जगत् जहाँ तक विज्ञानों का "अंश" है सत् है पर जहाँ तक विज्ञानों का अंश "नहीं" है असत् है। इस तर्क के अनुसार संसार में एक ऐसा मूल तत्त्व अवश्य होना चाहिए जो 'पूर्ण असत्' रूप है। यही प्लेटो का जड़-तत्त्व है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् की सृष्टि विज्ञानों (Ideas) और जड़-तत्त्व (Matter) इन दो सूत्रों के कारण हुई है। यही प्लेटो का द्वैतवाद है। पर यह सांख्य के पुरुष-प्रकृति-द्वैतवाद से भिन्न है। सांख्य के भीतर पुरुष और प्रकृति दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, पर प्लेटो के दर्शन में विज्ञान पूर्ण 'सत्' है, जड़-तत्त्व पूर्ण 'असत्' है। इस प्रकार जड़-तत्त्व के कारण प्लेटो के एक तत्त्ववाद (Monism) में कोई व्यवधान नहीं होता। इसी प्रकार प्लेटो का जड़-तत्त्व, विज्ञान के जड़-तत्त्व से भी भिन्न है। विज्ञान का जड़-तत्त्व सविशेष, सगुण और विज्ञानों का "अनुकरण" मात्र है; पर प्लेटो का जड़-तत्त्व ऐसा है जिस पर विज्ञानों का कोई प्रभाव नहीं और इसीलिए यह निर्गुण, निर्विशेष, आकारहीन, अदृश्य अधिष्ठान, उपादान, क्षेत्र इत्यादि कई संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। वास्तव में प्लेटो का 'जड़-तत्त्व' विज्ञानों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम (Medium)

---

1. रिप० VII, 531 ए० सी० टाइमि० 68 डी०
2. टाइमि०, 29 बी० डी०

अथवा आश्रय (Locus) है। यह सदसत्-विलक्षण है। प्लेटो का असत् (Non-Being) अद्वैत वेदान्त की 'माया' से बहुत कुछ मिलता है।

संसृति-विज्ञान (Cosmology)

प्लेटो के दर्शन में हमारा दो मूल तत्त्वों से परिचय होता है : एक ओर तो विज्ञान है जो 'पूर्ण सत्' है और दूसरी ओर जड़-तत्त्व जो 'पूर्ण असत्' है। जब विज्ञानों का जड़-तत्त्व के ऊपर संस्करण (Impression) होता है तो दृश्य-जगत् की सृष्टि होती है। अब प्रश्न यह है कि विज्ञानों का जड़-तत्त्व के ऊपर संस्करण क्यों और कैसे होता है? या यों कहें कि जड़-तत्त्व के ऊपर विज्ञानों का प्रतिबिम्ब किस प्रकार अंकित होता है? 'सत्' और 'असत्' का संयोग किस प्रकार होता है, यह प्लेटो के लिए एक समस्या थी। इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ विज्ञानों की 'अनुकृतियाँ' मात्र हैं, पर यह अनुकरण की प्रक्रिया किस प्रकार सम्भव होती है, इसका प्लेटो ने कहीं भी वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। यहाँ उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति का सहारा लिया है। इसीलिए सृष्टि-क्रम को आधुनिक मस्तिष्क के लिए बोधगम्य बनाना कठिन प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि जगत् विज्ञानों की 'अनुकृति' है तो इस 'अनुकरण-प्रक्रिया' का कर्त्ता कौन है? प्लेटो के दर्शन में 'विज्ञान' ही एक मात्र 'सत्' है। अतः अनुकरण-प्रक्रिया का कर्त्ता उन्हीं को मानना होगा। पर प्लेटो के अनुसार यह असम्भव है, क्योंकि यहाँ 'अनुकरण-प्रक्रिया' का अर्थ 'रचना' या 'उत्पत्ति' है और 'उत्पत्ति' बिना 'परिवर्तन' के सम्भव नहीं है। यदि विज्ञान स्वयं जगत् की उत्पत्ति करते हैं, तो उन्हें परिवर्तनशील मानना होगा जो प्लेटो को मान्य नहीं है। प्लेटो के विज्ञान 'अपरिणामी' और निर्विकार हैं। अतः विज्ञानों के भीतर ऐसा कोई सूत्र नहीं है जो इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं को 'उत्पन्न' कर सके। यदि 'विज्ञान' जगत् के 'कारण' नहीं हैं, 'असत्-तत्त्व' को भी जगत् का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'असत्-तत्त्व' जड़, अचेतन और परतन्त्र है और जगत् के भीतर जो क्रम, सामञ्जस्य और सौन्दर्य है, उसकी सिद्धि जड़-तत्त्व के कारण नहीं हो सकती।[1] इसीलिए प्लेटो को ईश्वर (Demiurge) की कल्पना करनी पड़ी थी। ईश्वर जगत् का स्रष्टा (Creator) नहीं है, वह केवल विश्वकर्मा (World-Designer) है। दूसरे शब्दों में : प्लेटो के अनुसार ईश्वर जगत् के उपादान-कारण नहीं हैं; वे केवल निमित्त कारण हैं। वे न तो विज्ञानों को उत्पन्न कर सकते हैं और न जड़-तत्त्व (असत्) को ही। उनका एक मात्र कार्य विज्ञानों को जड़-तत्त्व के ऊपर अंकित कर दृश्य जगत् का निर्माण करना है। जगत् की उत्पत्ति 'शून्य' से नहीं हुई है। प्लेटो सत्कार्यवादी है। जगत् की रचना के लिए ईश्वर विज्ञान, जड़-तत्त्व और परम शिव-तत्त्व सभी उत्तरदायी हैं। ईश्वर सृष्टि के निमित्त कारण हैं, विज्ञान स्वरूप-कारण है, जड़-तत्त्व उपादान-कारण है और परम शिव-तत्त्व लक्ष्य कारण है।

ईश्वर एक नित्य सत्ता है। वे विज्ञान-रूप न होकर आत्म-रूप हैं। दृश्य जगत् की वस्तुएँ कालावच्छिन्न हैं पर ईश्वर कालातीत हैं। वे सत्यं और शिवं रूप हैं और उन्हें सम्पूर्ण विज्ञानों

---

1. शारीरक भाष्य, II.

का पूर्ण ज्ञान है। वे सत्यं, ज्ञानं और अनन्तम् हैं। इसके विपरीत मनुष्य एवं सृष्ट देव (Created Gods) सीमित सत्ता और सीमित ज्ञान वाले हैं।

सृष्टि के लिए 'गति' परमावश्यक है। बिना गति के रचना का कार्य असम्भव है। प्राय: सभी ग्रीक दार्शनिकों ने सृष्टि-क्रम में इस 'गति' को स्थान दिया है। प्लेटो के पूर्व जितने भी ग्रीक दार्शनिक हो चुके हैं, उन्होंने भौतिक अथवा यान्त्रिक गति में विश्वास प्रकट किया था। यहाँ तक कि एनेक्ज़ेगोरस का परम-विज्ञान (Nous) भी भौतिकता और यान्त्रिकता से मुक्त नहीं था। पर प्लेटो के अनुसार 'यान्त्रिक गति' परतन्त्रता और नियतत्व को व्यक्त करती है, यह जगत् में पाई जाने वाली स्वतन्त्रता, वरण, चयन और विमर्श को प्रकट नही करती। इसके अतिरिक्त 'यान्त्रिकता' में अनवस्था-दोष भी पाया जाता है। इन दोषों को दूर करने के लिए 'प्लेटो ने उद्देश्यमूलक या प्रयोजनवादी विचारधारा को जन्म दिया। 'उद्देश्य' या 'प्रयोजन' केवल व्यक्ति के ही जीवन में नहीं पाया जाता, यह सम्पूर्ण प्रकृति के भीतर व्याप्त है। उद्देश्य या प्रयोजन 'आत्मा' का ही धर्म हो सकता है। प्लेटो के अनुसार 'आत्मा' ही वह **प्रेरणा** (Urge) या प्रवृत्ति (Nisus)[1] प्रदान करती है जिसके कारण सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है। जो बात व्यष्टि के लिए सही है, यही समष्टि के लिए भी। यही कारण है कि ईश्वर ने अन्य वस्तुओं को उत्पन्न करने के पहले 'विश्वात्मा' (World Soul) को उत्पन्न किया। 'विश्वात्मा' 'ईश्वर' और जीवात्माओं के मध्य आता है। वह ईश्वर से कम पर जीवात्माओं से अधिक पूर्ण है। यह अविभाज्य और विभाज्य, अपरिणाम और परिणाम तथा अभौतिक और भौतिक का सम्मिश्रण है। इसकी एक मौलिक गति है जो कि जगत् की सभी गतियों का कारण है। यह स्वयं गतिमान है और अन्य वस्तुओं में गति उत्पन्न करता है। विश्व के भीतर जो नियम, गणितीय सम्बन्ध, सामञ्जस्य, क्रम, एकरूपता, जीवन चैतन्य और ज्ञान पाया जाता है, वह इसी 'विश्वात्मा' के कारण है। विश्वात्मा अदृश्य होते हुए भी दृश्य जगत् का नियमन और नियन्त्रण करता है।

'विश्वात्मा' के अतिरिक्त ईश्वर ने सृष्ट देवों और जीवात्माओं को भी उत्पन्न किया। जीवात्माएँ ससीम, परिमित और अपूर्ण हैं जो उनके जड़-तत्त्व के साथ सम्बन्ध के कारण हैं। मुक्त आत्माएँ विज्ञानों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करती हैं, पर बद्ध आत्माओं को इसके लिए द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectical Reasoning) का सहारा लेना पड़ता है। प्रत्येक जीवात्मा के भौतिक और अभौतिक दो अंग हैं : भौतिक अंग के कारण उसके भीतर क्रियाएं और वासनाएं उत्पन्न होती हैं और अभौतिक अंग के कारण वह विज्ञानों का चिन्तन् करता है।

जीवात्माओं के बाद जगत् की अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार त्रिपार्श्व (Prism) से किसी प्रकाश की किरण के प्रवेश से वह कई प्रकार की किरणों में विभक्त हो जाती है, उसी प्रकार जड़-तत्त्व के कारण एक ही 'विज्ञान' कई वस्तुओं के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। प्लेटो के अनुसार दृश्य जगत् की विशेषता यह है कि यह 'रूपात्मक'

---

1. I. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।

और 'संख्यात्मक' है।[1] इसी के अनुसार उन्होंने चार महाभूतों की कल्पना की है। उनके मित्र थीटिटस ने एक विज्ञान का आविष्कार किया जिसे घनमिति (Stereometry) कहते हैं जिसके अनुसार किसी वस्तु का गुण उसके लघुतम अणु की भुजाओं की संख्या पर आश्रित होता है। इस प्रकार जिस अणु में तीन भुजाएँ होती हैं वह पृथ्वी है। जो अणु 'पगोडा' (Pyramid) के आकार का होता है वह अग्नि है; अष्ट-फलक (Octahedron) अणु 'वायु' तथा विंश-फलक (Icosahedron) अणु 'जल' का रूप धारण करता है। इसी प्रकार प्लेटो के अनुसार, द्वादशफलक पिण्ड (Dodecahedron) सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व करता है।[2] फिर इन घन-पिण्डों की समतलों, रेखाओं और परमाणु-विन्दुओं के रूप में घटित किया गया। इस 'घटन' के कारण ही एक 'भूत-तत्त्व' का दूसरे भूत-तत्त्व में रूपान्तरण सम्भव होता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि जगत् की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं से न होकर (जैसा कि डेमॉक्रिटस के लिए था) चेतन ईश्वर के कारण है। जगत् उद्देश्य-मूलक है जिसमें निम्न प्राणी उच्च प्राणियों की उद्देश्य-पूर्ति के साधन मात्र हैं। स्त्रियों की उत्पत्ति पुरुषों से हुई है तथा इतर प्राणियों की उत्पत्ति 'मानव' से है।

प्लेटो का संसृतिविज्ञान, सृष्टि के मूल कारणों को पृथक् करने का एक सफल प्रयास है। इसमें 'लक्ष्य' कारण प्रधान है और 'उपादान' कारण केवल सहकारी कारण है। 'टाइमियस' में सृष्टि के चार कारणों की गणना की गई है—

1. जड़-तत्त्व—इसे सृष्टि का **'उपादान' कारण** माना गया है। इसे सृष्टि का आश्रय (Locus) या क्षेत्र (Matrix) कहते हैं। यह जगत् के अन्दर पाई जाने वाली 'अव्यवस्था' और बुराइयों की जड़ है।

2. ईश्वर—यह सृष्टि का **'निमित्त' कारण** है। ईश्वर केवल कर्त्ता-मात्र हैं जगत् के स्रष्टा नहीं। प्रकृति और आत्मा के भीतर जो शक्ति,ऊर्जा या क्रियाशीलता पाई जाती है, ईश्वर उसका स्रोत है।

3. विज्ञान—विज्ञान जगत् के **'स्वरूप' कारण** है। ईश्वर विज्ञानों को ध्यान में रखकर ही जड़-तत्त्व से जगत् का निर्माण करते हैं। विज्ञान वे नित्य साँचे (Eternal Archetypes) हैं जिनके अनुसार ईश्वर इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों का निर्माण करते हैं। विज्ञान **''आदर्श-रूप'** अथवा **''मूल बिम्ब-रूप''** है जिनके प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप इन्द्रिय-जगत् की वस्तुएँ हैं। संक्षेप में, विज्ञान प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुओं के **प्रतिमान हैं।**

4. परम-शुभ विज्ञान—यह जगत् का **'लक्ष्य कारण'** है। प्लेटो का सृष्टि-विज्ञान प्रयोजनात्मक, उद्देश्य-मूलक अथवा मूल्य-परक विज्ञान है। विश्व की समस्त वस्तुएँ अपूर्ण और अनित्य हैं। प्लेटो के अनुसार विश्व की सृष्टि इसलिए हुई है कि इसके अपूर्ण और अनित्य पदार्थ आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर विकसित हों। विश्व विकासोन्मुख है। पर यह विकास यन्त्रवत् न होकर सोद्देश्य है। **परम-शुभ-विज्ञान** इस विकास की चरम

---

1. टाइम० 53 बी०
2. वही 53 सी०

सीमा है। उपादान कारण निमित्त कारण, स्वरूप कारण और लक्ष्य कारण सभी का पर्यवसान परम शुभ-विज्ञान के अन्दर होता है।

ग्रीक दर्शन के इतिहास में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित संसृति-विज्ञान का विशेष महत्त्व है। एरिस्टॉटल का 'विकासवाद', नव्य-प्लेटॉनिज्म का 'अभिव्यक्तिवाद' और शास्त्रीयवाद का 'सृष्टिवाद' ये सभी मत प्लेटो के संसृति-विज्ञान से स्पष्टतया प्रभावित हैं।

आत्मा (Human Soul)

ग्रीक भाषा में 'आत्मा' का तात्पर्य किसी प्राणी की ''जीवन-शक्ति'' से है। फीडो में एक स्थल पर 'आत्मा' का अर्थ शरीर के विभिन्न अंगों के संगतिमूलक 'विन्यास' से लिया गया है। पर आगे इसका परित्याग कर दिया गया। 'रिपब्लिक' में 'आत्मा' का सम्बन्ध 'अमरता' से संयुक्त कर दिया गया। मृत्यु के बाद जो अंश 'अवशिष्ट' रहता है, वह आत्मा (Psyche) है।[1] वास्तव में 'अमर्त्य' आत्मा का विचार यूनान में **ऑर्फिक धर्म** (Orphic Religion) से आया जो प्राच्य धर्मों से विशेष प्रभावित था। ऑर्फिक धर्भ की विशेपता यह थी कि इसके अनुसार शरीर आत्मा का बंदीगृह है और आत्मा तभी मुक्त हो सकती है जबकि ज्ञान द्वारा परिशुद्ध होकर अपने को देवत्व में 'लीन' कर ले। ऑर्फिक धर्म के प्रभाव के कारण ही पाइथेगोरस के अनुयायियों ने आत्म-शुद्धि को अपना जीवन-मार्ग बनाया। पाइथेगोरस की आत्मा और उसकी 'मुक्ति' सम्बन्धी विचारधारा को प्लेटो ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। पर इन सब का मूल प्राच्य विचारधारा ही है।

प्लेटो ने अपनी आत्मा-सम्बन्धी विचारधारा का विश्लेषण, रिपब्लिक के अन्तिम खण्डों में विस्तारपूर्वक किया है। 'जीवात्मा', 'विश्वात्मा' के ही समान है, पर अपेक्षाकृत अपूर्ण और ससीम है। यह शारीरिक प्रक्रियाओं का 'मूल' है, पर इसकी किया यन्त्रवत् न होकर 'चयनात्मक' और 'विमर्शात्मक' होती है। जीवात्मा का सम्बन्ध 'विज्ञान-जगत्' और प्रत्यक्ष-जगत् दोनों से है। प्लेटो ने आत्मा के स्वभाव का वर्णन 'राज्य' के उपमान के आधार पर की है। 'राज्य' एक अंगी (Organism) है, आत्मा भी एक अंगी है, व्यक्ति की 'अच्छाई', राज्य की 'अच्छाई' के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। इसी प्रकार व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व 'राज्य' के अन्तर्द्वन्द्व के रूप में प्रकट होता है। यदि अन्तर्द्वन्द्व है, तो विरोध-नियम के अनुसार 'जीवात्मा' को 'सजातीय' न मानकर कुछ विजातीय तत्त्वों का पुंज मानना होगा। हम जानते हैं कि राज्य तीन प्रकार के होते हैं : राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र। हम यहभी जानते हैं कि मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। जिनमें ज्ञान का प्राधान्य है, वे 'संरक्षक' (Guardians) जिनमें बल का प्राधान्य है, वे 'सैनिक' (Soldiers) और जिनमें क्रिया का प्राधान्य है, वे 'पृथग्जन' (Artisans) कहलाते हैं। प्रथम जाति के मनुष्य स्वर्ण के हैं, द्वितीय 'चाँदी' के हैं और तृतीय 'पीतल या लोहे' के। इसी उपमान के आधार पर प्लेटो ने जीवात्मा के भी तीन विभाग किए हैं : बुद्धि (Cognition), संकल्प (Conation) और वेदना (Affection)।

---

1. रिपब्लिक 608 डी०

बुद्धि का धर्म ज्ञान (Wisdom), संकल्प का धर्म बल (Courage) और वेदना का धर्म क्रिया (Appetite) है।[1]

हम पहले ही कह चुके हैं कि जीवात्मा का एक भाग विज्ञान-जगत् की ओर तथा दूसरा भाग इन्द्रिय-जगत् की ओर उन्मुख है। इस प्रकार प्लेटो ने जीवात्मा के दो मुख्य विभाग किए : प्रथम बौद्धिक (Rational) और द्वितीय अबौद्धिक (Irrational)। आगे चलकर अबौद्धिक भाग को फिर दो उपभागों में विभाजित किया गया : कुलीन (Noble) और अकुलीन (Ignoble)। जीवात्मा का बौद्धिक रूप उसका श्रेष्ठतम रूप है जिसका कार्य 'विज्ञानों' का साक्षात्कार करना है। अबौद्धिक आत्मा का कार्य 'संवेदना' 'वेदना' 'वासना' और 'क्रिया' करना है। यह विभाजन आत्मा के शरीर के साथ सम्बन्ध के कारण है। बौद्धिक आत्मा 'सरल' और 'अविभाज्य' है और इस कारण 'सनातन', 'अविनाशी' और 'अमर्त्य' है। अबौद्धिक आत्मा के भीतर ठीक इसके विपरीत गुण हैं: वह 'मिश्रित' 'विभाज्य' 'विनाशी' और 'मर्त्य' हैं। अबौद्धिक आत्मा दो प्रकार की है : कुलीन और अकुलीन। साहस, आत्म-सम्मान और उच्च संवेग, कुलीन आत्मा के धर्म हैं; इसके विपरीत भय, अशौच, बुरी वासनाएँ, क्रियाएँ इत्यादि अकुलीन आत्मा के धर्म हैं। **कुलीन आत्मा का बौद्धिक आत्मा** के साथ कुछ साम्य तो अवश्य है, क्योंकि दोनों श्रेष्ठ धर्मों के अधिष्ठान हैं, पर फिर भी दोनों में अन्तर है: **बौद्धिक आत्मा के कार्य चयनात्मक या विमर्शात्मक होते हैं, पर अबौद्धिक आत्मा के कार्य प्रवृत्त्यात्मक होते हैं।**

फीड्स[2] में प्लेटो ने आत्मा के तीनों भागों की तुलना रथ के दो घोड़ों और उसके सारथी से की है। यह उपमा तीनों के धर्मों के ऊपर अच्छा प्रकाश डालती है—

'आत्मा के स्वभाव का वर्णन करना एक बिलकुल ही अतिमानवीय और लम्बी कहानी है, पर सादृश्य-ज्ञान द्वारा उसका वर्णन करना अपेक्षाकृत सरल कार्य है और मानवीय शक्ति द्वारा साध्य है। अत: हम यही करेंगे। आत्मा दो तेज सपक्ष घोड़ों और एक सारथी जो एक साथ संलग्न हैं, इनके समुच्चय के समान हैं। पुन: देवताओं की आत्माओं के घोड़े और सारथी सभी उत्तम और श्रेष्ठ सन्तति के हैं, पर अन्य आत्माओं के मिश्रित सन्तति के हैं। हम लोगों की आत्मा का सारथी उन घोड़ों के युग्म को जिनका वह संचालन करता है, नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है। उनमें से एक घोड़ा सुन्दर और भद्र तथा एक ही नस्ल का है तथा दूसरा इन दोनों बातों में ही विरुद्ध स्वभाव का है। हमारा संचालन भी इसलिए निश्चित ही कठिन और क्लेशकारी है।'

इसके बाद प्लेटो आत्मा की ऊर्ध्वमुखी यात्रा का वर्णन करते हैं। देवात्माएँ, स्वर्ग में सदा ही नित्य विज्ञानों का साक्षात्कार करने में अपना सारा समय व्यतीत करती हैं, पर मानवीय आत्माएँ यदा-कदा नित्य विज्ञानों का दर्शन कर लेती हैं, पर थोड़े समय बाद ही मानों उनके डैने टूट कर गिर पड़ते हैं और फिर उन्हें पार्थिव जगत् की शरण लेनी पड़ती है। यदि बद्ध

---

1. 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।
2. फीड्रस, 246 ए०.

आत्माओं को विज्ञानों का सतत् साक्षात्कार करना हो तो उन्हें सौन्दर्य-प्रेम (Eros) का अभ्यास करना होगा और ऐसा वे भौतिकेतर सौन्दर्य का दर्शन करके आसानी से कर सकते हैं। ऐसा करने से उनके डैने का विकास होगा जिनके सहारे वे उड़कर विज्ञानों का सतत् सान्निध्य-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

प्लेटो के अनुसार उत्तम जीवन वह है कि जिसमें संकल्प और वेदनाएँ, बुद्धि द्वारा सुनियोजित और नियन्त्रित हों। बुद्धि, संकल्प और भावनाओं का पूर्ण सामंजस्य ही उत्तम जीवन है। इन तीनों का संतुलन 'योग' या 'न्याय' (Justice) कहलाता है। प्लेटो ने इसकी समता एक ऐसे मधुर संगीत से की है जिसमें उच्च, मध्यम और मन्द तीनों प्रकार के स्वरों में पूर्ण सामञ्जस्य होता है। इस प्रकार का सामञ्जस्य संकल्प और वासनामय जीवन में कभी नहीं आ सकता; यह सामञ्जस्य बौद्धिक जीवन में ही सम्भव और सुलभ है।

आत्मा की अमरता का सिद्धान्त

प्लेटो के अनुसार 'आत्मा' सरल, अविभाज्य और चेतन है। अतः वह अमर्त्य, अविनाशी, शाश्वत और अमर है। सॉक्रेटीज़ ने फीड़ो में आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाण दिया है—

1. प्रथम प्रमाण **पुनर्जन्म** से सम्बन्धित है। एक सर्वमान्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ अपने प्रतियोगी (Opposite) से उत्पन्न होती है। जीवित आत्मा, मृत आत्मा को जन्म देती है और इसके विपरीत मृत आत्मा जीवित आत्मा को उत्पन्न करता है। इस उभय यात्रा का महत्त्व यह है कि यह आत्मा की अमरता को सिद्ध करती है।

2. दूसरा प्रमाण **संस्मरण** (Recollection) पर आधारित है। हम पहले ही देख चुके हैं कि वास्तविक ज्ञान 'विज्ञानों' का ही होता है और विज्ञानों को हम प्रत्यक्ष नहीं करते, बल्कि इन्द्रियानुभव के आधार पर हमें उनका केवल 'संस्मरण' होता है। यह संस्मरण तभी सम्भव है जबकि आत्मा ने पहले अपनी मुक्तावस्था में इन विज्ञानों का साक्षात्कार किया हो। इससे स्पष्ट है कि जन्म के पहले आत्मा का अस्तित्व था और प्रथम प्रमाण द्वारा हम पहले ही देख चुके हैं कि मृत्यु के बाद भी इसका अस्तित्व रहेगा। अतः, आत्मा अमर है।

संस्मरण-सिद्धान्त के दो पक्ष हैं : प्रथम तार्किक और द्वितीय प्रायोगिक। तार्किक पक्ष के अन्दर ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया गया है। बौद्धिक ज्ञान और ऐन्द्रिक ज्ञान। बौद्धिक ज्ञान, अनिवार्य ज्ञान है जिसका निषेध करना बदतोव्याघात होता है; इसके विपरीत, ऐन्द्रिक ज्ञान, आगन्तुक ज्ञान होता है जिसका निषेध बिना बदतोव्याघात के ही किया जा सकता है। 'सोना पीला है', ऐन्द्रिक या आगन्तुक ज्ञान का उदाहरण है। 'त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है', बौद्धिक या अनिवार्य ज्ञान का उदाहरण है। अनिवार्य ज्ञान न तो अनुभवजन्य है और न अनुभव द्वारा प्रमाणित ही होता है। अतः, बौद्धिक ज्ञान सहज और अनुभव-निरपेक्ष है। इससे प्लेटो ने निष्कर्ष निकाला कि जन्म के समय ही वह ज्ञान आत्मा में वर्तमान रहता है और बाद में संस्मरण द्वारा पुनर्जागरित किया जाता है। 'मेनो' में प्लेटो ने संस्मरण-सिद्धान्त के पक्ष में एक प्रायोगिक प्रमाण दिया है। उसमें सॉक्रेटीज़ को एक

ऐसे 'दास-बालक' से बात करते हुए दिखाया गया है जिसे गणित के विषय में कुछ भी जानकारी न थी, पर उन्होंने अपनी कुशलता से केवल प्रश्नोत्तर-पद्धति द्वारा उस बालक के मन में वर्ग से सम्बन्धित एक साध्य (Theorem) की जानकारी उत्पन्न कर दी। मजेदार बात यह थी कि सॉक्रेटीज़ ने वर्ग के गुणों के विषय में उस बालक को कोई निर्देश नहीं दिया, फिर भी उसे वर्ग के गुणों की जानकारी प्राप्त हो गई। इससे प्लेटो ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि यह ज्ञान न तो ''शिक्षण'' से आया और न ''अनुभव'' से ही, तो इसे 'संस्मरण' द्वारा ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। पर प्रश्न यह है कि जब 'गणित' का ज्ञान हमारी आत्मा में पहले से ही वर्तमान है तो फिर बिना शिक्षण के ही यह बालकों के मन में अनायास ही क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता। प्लेटो के अनुसार यह इसलिए होता है कि शरीर के संयोग के कारण आत्मा का 'ज्ञान' कुंठित, मन्द और क्षीण हो जाता है। यही कारण है कि अनुभव या शिक्षण द्वारा इसे पुनर्जागरित करने की आवश्यता होती है। इस पुनर्जागरण की प्रक्रिया को ही ''शिक्षा'' कहते हैं।

3. तीसरा और अन्तिम प्रमाण विज्ञानवाद पर आधारित है। जगत् में दो प्रकार की सत्ताएँ हैं : दिव्य विज्ञानों की और दूसरे भौतिक विशेषों की। आत्मा का कार्य शरीर के ऊपर शासन करना और विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा को दिव्य और विज्ञानों के समान होना चाहिए। विज्ञान सरल, अमिश्रित और नित्य हैं, अतः आत्मा को भी नित्य या अमर होना चाहिए।

आत्मा की 'अमरता' के कारण ही प्लेटो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। जिन लोगों ने संसार में पुण्य किए हैं और ''विज्ञानों'' का अनुशीलन किया है, वे मृत्यु के बाद विज्ञानों के दिव्य-लोक में जायेंगे और अन्य लोगों को पुनः इस संसार में जन्म लेना पड़ेगा।

ग्रीक दर्शन में प्लेटो का ऐतिहासिक महत्त्व

प्लेटो ने यूरोपीय दर्शन के इतिहास में पहली बार कई प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। उनका दर्शन **बुद्धिवाद** (Rationalism) का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जिसके अनुसार ज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभव न होकर बुद्धि के सहज प्रत्यय हैं। वे **वस्तुवादी** (Realist) हैं, क्योंकि बिना आत्मस्वतन्त्र सत्ताओं के ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। वे सत्ताएँ विज्ञान हैं। उनको **विज्ञानवादी** (Idealist) भी कहा जाता है, क्योंकि विज्ञान-जगत् चेतन रूप है। विज्ञान सामान्य है और देश-काल से बिलकुल अतीत है। उन्हें **व्यवहारवादी** (Phenomenalist) भी कहा जा सकता है; क्योंकि उन्होंने जगत् को **असत्** न कहकर इसकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष-जगत्, विज्ञान-जगत् का विवर्त है। इसके अतिरिक्त उनके दर्शन में हमें ईश्वरवाद (Theism) और **सर्वेश्वरवाद** (Pantheism) के भी दर्शन होते हैं, क्योंकि संसार में जो कुछ है, वह सब ईश्वर की सृष्टि है और वस्तुएँ ईश्वर को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। सम्पूर्ण विश्व, ईश्वर की पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसकी ओर गतिमान है। इस प्रकार प्लेटो **यन्त्रवाद के विरोधी** (Anti-mechanistic) और **प्रयोजनवादी** हैं।

प्लेटो के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ग्रीक दर्शन का प्रथम

विज्ञानवादी दर्शन है। इसके पहले के सभी दार्शनिक भौतिकवादी थे। एनेक्ज़ेगोरस ने यद्यपि परम-विज्ञन (Nous) में विश्वास प्रकट किया था, पर वह भी एक प्रकार का शुद्ध भूतद्रव्य ही था। सॉक्रेटीज ने सर्वप्रथम ग्रीक दर्शन में आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा की, पर उन्होंने भी उसका विस्तृत वर्णन उपस्थित नहीं किया। प्लेटो ने सॉक्रेटीज़ द्वारा स्थापित चेतन-तत्त्व की विशद व्याख्या की। उनके अनुसार चेतन विज्ञान ही एक मात्र 'सत्' है। पर इन विज्ञानों के अतिरिक्त उन्होंने जड़-तत्त्व (Matter) में भी विश्वास किया जिसे 'असत्' कहा गया। इस प्रकार प्लेटो **द्वैतवादी** (Dualist) हैं। उनका दर्शन **मूल्यपरक** (Valuational) भी है क्योंकि 'शिव-तत्त्व' जगत् का लक्ष्य कारण है जिसमें नैतिक, सौन्दर्यात्मक और तार्किक सभी मूल्यों का पर्यवसान होता है।

नैतिक क्षेत्र में प्लेटो सुखवाद के विरोधी हैं। वे बुद्धिवादी हैं। इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहने की अपेक्षा बौद्धिक जीवन व्यतीत करना आत्मा के लिए कहीं श्रेयस्कर है। वे **आत्म-पूर्णता** (Self-Realisation) में विश्वास करते हैं। इस प्रकार प्लेटो का दर्शन एक पूर्ण निकाय (System) है जिसमें सभी दार्शनिक प्रवृत्तियों का समन्वय पाया जाता है।

प्लेटो के विज्ञानवाद ने परवर्ती दार्शनिक परम्परा को काफी प्रभावित किया। उनके द्वारा स्थापित आत्मा और पुद्गल, शरीर और मन, ईश्वर और जगत् इत्यादि "द्वैत" ने "जूइश-हेलेनिस्टिक दर्शन" (Jewish-Hellenistic Philosophy) को जन्म दिया। प्लेटो ने द्वैतवादी रहस्यवाद को जिसे उन्होंने ऑर्फिक धर्म से ग्रहण किया था, विश्वास के स्तर से उठाकर वैज्ञानिक स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया जो आगे चलकर ईसाइयों की रूढ़ियों का आधार-स्तम्भ बना। इस सन्दर्भ में सन्त ऑगस्टाइन का नाम लेना ही पर्याप्त है। मध्य-युग की शास्त्रीय विचारधारा में जो "सामान्य" सम्बन्धी विज्ञानवादी और वस्तुवादी विवाद खड़ा हुआ, वह प्लेटो और एन्टिस्थेनीज़ के विवाद का ही पिष्टपेषण था। प्लेटो ने कहा था कि विज्ञानों का हमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता; उनकी निर्विकल्प अनुभूति होती है। इस निर्विकल्प अनुभूति की कल्पना ने प्लोटाइनस और मध्युगीन रहस्यवादियों को विशेष प्रभावित किया। आगे चलकर निर्विकल्प अनुभूति ही तत्त्व-साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन समझा गया। सांस्कृतिक पुनर्जन्म (Renaissance) काल का जो जड़-चेतन का भेद है, वह प्लेटो के सत्-असत् के भेद के ऊपर ही आश्रित है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक कोपरनिकस और गेलिलियो भी प्लेटो और पाइथोगोरस के चिन्तन से प्रभावित हुए और नई-नई वैज्ञानिक खोजों के लिए उन्हें पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्लेटो की ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा ने सम्पूर्ण आधुनिक दर्शन को गति प्रदान की है। बुद्धिवाद, अनुभववाद, आलोचनावाद इत्यादि विचारधाराओं का मूल प्लेटो में पाया जाता है। वास्तव में सभी विज्ञानवादी और आध्यात्मिक प्रेरणाओं का स्रोत प्लेटो का दर्शन है।

❑❑

एरिस्टॉटल

समय—ई० पू० 384—ई०पू० 322) : जन्म स्थान—स्टेगिरा

जीवन-वृत्त—एरिस्टॉटल का जन्म ई० पू० 384 में थ्रेस के स्टेगिरा (Stagira) नामक नगर में हुआ था। उनके पिता निकोमेशस (Nicomachus) मेसीडोन-नरेश के राजवैद्य थे। 17 वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के लिए **प्लेटो** की **'एकेडमी'** में इनका प्रवेश हुआ और लगातार बीस वर्ष तक, प्लेटो की मृत्यु तक, वहीं प्लेटो की छत्रछाया में विद्याध्ययन करते रहे। ई० पू० 347 में अपने गुरु के देहावसान के बाद उन्होंने एकेडमी छोड़ दी और स्वतन्त्र विचारों के विकास के लिए प्रवास में ही जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा। थोड़े दिनों के भ्रमण के बाद वे फिर एथेन्स लौट आए और वहाँ वाग्मिता (Rhetoric) की एक पाठशाला स्थापित की। ई० पू० 342 में मेसीडोन-नरेश फिलिप ने राजकुमार एलेक्जेण्डर (सिकन्दर) की शिक्षा के लिए एरिस्टॉटल को आमन्त्रित किया। पर वहाँ भी उनकी तबीयत अधिक दिनों तक न लगी और वे एक बार फिर एथेन्स नगर लौट आए। एथेन्स लौटकर उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध संस्था **'लाइसियम'** (Lyceum) की स्थापना की जिसे ग्रीक देवता लाइसियन एपोलो (Lycean Apollo) को श्रद्धार्पित किया गया था। लाइसियन एपोलो को समर्पित करने के कारण ही इसका नाम 'लाइसियम' पड़ा था। इसे **पर्यटक सम्प्रदाय** (Peripatetic School) भी कहा जाता है, क्योंकि एरिस्टॉटल भ्रमणशील व्यक्ति थे और भ्रमण करते हुए लोगों को शिक्षाएँ दिया करते थे। वे व्याख्यानों और संवादों के माध्यम से अध्यापन-कार्य करते थे। ई० पू० 323 में एलेक्ज़ेण्डर की अचानक मृत्यु के बाद इनके ऊपर अधार्मिकता (Sacrilege) का अभियोग लगाया गया और वे एथेन्स छोड़कर चालसिस चले गए, क्योंकि वे एथेन्सवासियों को ''दर्शन के विरुद्ध दूसरा पाप करने का अवसर'' नहीं देना चाहते थे। वहीं ई० पू० 322 में उनकी मृत्यु हो गई।

ग्रीक दर्शन में प्लेटो के बाद एरिस्टॉटल दूसरे महान् दार्शनिक हैं। इनका व्यक्तित्व बहुत ही ऊँचा था। संतुलन, साम्य, सामञ्जस्य इत्यादि ग्रीक आदर्शों में उनकी पूर्ण आस्था थी। उन्होंने नीति-विज्ञान में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया था। वे ''सत्य'' के महान् पुजारी थे। किसी भी दार्शनिक समस्या के सम्बन्ध में जो उन्होंने निर्णय दिए हैं, वे पर्याप्त 'संयत', निष्पक्ष और विदग्धतापूर्ण हैं। **तर्कशास्त्र** के तो वे जन्मदाता कहे जाते हैं।

भाषा-शैली—जिस प्रकार का एरिस्टॉटल का व्यक्तित्व था, वैसी ही उनकी भाषा-शैली भी थी। उनके विचारों की तरह उनकी शैली भी पर्याप्त गंभीर, संयत, वैज्ञानिक और प्रभविष्णु है। उनकी लेखन-कला गद्यमय है जिसमें भाव-भंगिमाओं, कल्पनाओं और अलंकारों का बिलकुल ही अभाव पाया जाता है। उनके सोचने और लिखने का ढंग उनके गुरु प्लेटो से बिलकुल ही भिन्न था। प्लेटो की भाषा पद्यमय, आलंकारिक, कल्पनापूर्ण और भाव-भंगिमाओं से ओत-प्रोत थी, पर एरिस्टॉटल की रचनाओं में इनकी गंध भी नहीं पाई

जाती। एरिस्टॉटल एक सर्वतोन्मुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। ऐसा शायद ही कोई विषय हो, जिस पर उन्होंने अपनी लेखनी न उठाई हो। उन्होने दर्शन, तर्क-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, आचार-शास्त्र, राजनीति और साहित्य पर बड़े मौलिक और महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं।

रचनाएँ—एरिस्टॉटल एक महान् लेखक थे। उन्होंने कई पुस्तकों का प्रणयन किया है। एलेक्ज़ेण्ड्रिया के हरमिप्पस (Hermippus of Alexandria) के अनुसार उनकी कुल 400 रचनाएँ हैं, पर पर्यटक टोलमियस (Peripatetic Ptolemaeus) के अनुसार उन्होंने 1000 से कम पुस्तक-पुस्तिकाएँ नहीं लिखी हैं। जिस प्रकार प्लेटो की रचनाओं को चार भागों में विभाजित किया गया है, उसी प्रकार एरिस्टॉटल की रचनाओं को भी उनके जीवन के आरोह-अवरोह को ध्यान में रखते हुए, हम तीन सुनिश्चित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

1. प्लेटो-कालीन रचनाएँ—जबकि एरिस्टॉटल प्लेटो की एकेडमी के सदस्य थे।

2. संक्रमण-कालीन रचनाएँ—जबकि वे मेसीडोनिया के राजदरबार में स्वतन्त्र चिन्तन का अभ्यास करते हुए अध्यापन-कार्य कर रहे थे।

3. लाइसियम-कालीन रचनाएँ—एथेन्स लौटने पर एरिस्टॉटल ने एक दर्शन-पीठिका की स्थापना की जिसका नाम उन्होंने लाइसियम रखा और इस काल में उन्होंने बहुत से महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

1. प्लेटो-कालीन रचनाएँ (ई० पू०-367-347)—इस काल की एरिस्टॉटल की दो प्रमुख रचनाएँ हैं जिन पर प्लेटो की गम्भीर छाप है—प्रथम यूडिमस (Eudemus) नामक एक संवाद है और दूसरी प्रोट्रेप्टिकस (Protrepticus) जो एक पत्र-रचना है। यूडिमस-संवाद, एरिस्टॉटल ने अपने मित्र 'यूडिमस' की स्मृति में लिखी है जिसमें प्लेटो के संस्मरण-सिद्धान्त और पुनर्जन्म के विचारों की पुष्टि की गई है। इसके अतिरिक्त इसमें एरिस्टॉटल ने प्लेटो के आत्मा के सामञ्जस्यवाद का खण्डन किया है। कारण यह है कि आत्मा एक द्रव्य है तथा 'सामञ्जस्य' एक गुण है। फिर दोनों में तादात्म्य किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है? प्रोट्रेप्टिकस, एक पत्र-रचना है जिसे एरिस्टॉटल ने साइप्रस के राजकुमार थेमिसन (Themison) को उस पर राजनीतिक प्रभाव डालने के उद्देश्य से लिखा था। इस रचना में दार्शनिक्र पूर्णतावाद (Eudaemonia) का प्रतिपादन किया गया है। प्लेटो का द्वैतवाद, और उनके विज्ञानों के परत्व (Transcendence) सम्बन्धी सिद्धान्त, दोनों इसे मान्य है। राजनीति और आचार-विज्ञान का काम उन निरपेक्ष आदर्शों की स्थापना करना है, जिनका हमारे वास्तविक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। यह दार्शनिक ज्ञान की उपलब्धि होने पर ही सम्भव है। ऑर्फ़िक-पाइथेगोरियन मत के समान इस पुस्तक में भी शरीर को आत्मा का बन्दीगृह माना गया है और इसी कारण व्यक्ति के पार्थित्र जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। प्रोट्रेप्टिकस ने आगे चलकर सिनिक और स्टोइक दर्शन को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया।

संक्रमण-कालीन रचनाएँ (ई० पू० 347-335)—यह युग उनके एसुस (Assus) के अध्यापन-कार्य से प्रारम्भ होता है। इस अवधि में एरिस्टॉटल ने स्वतन्त्र चिन्तन प्रारम्भ कर

दिया था और 'एकेडेमी' की विचारधाराओं के प्रति उनकी आस्था कम होने लगी थी। इस कारण उन्हें अपने पुराने दृष्टिकोण में भी परिवर्तन करना पड़ा। **''मेटाफिज़िक्स की रूपरेखा''** इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें अन्तिम मेटाफ़िजिक्स की प्रथम द्वितीय और अन्तिम पुस्तकें शामिल की गई हैं। इसमें एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद की आलोचना प्रस्तुत की है और स्पष्ट रूप से कहा है कि प्लेटो के विज्ञानवाद की रक्षा द्वैतवाद के आधार पर ही की जा सकती है। **यूडेमियन एथिक्स** (Eudemean Ethics) इस युग की दूसरी प्रमुख रचना है। यह प्रोट्रेप्टिकस और निकोमेशियन एथिक्स के बीच की रचना है। 'प्रज्ञा' या 'निर्विकल्प अनुभूति' जिसके अनुसार ईश्वर ही सर्वोत्तम शुभ' और 'निरपेक्ष आदर्श' है और जिसके अनुसार हमें अपने सारे व्यवहार का नियमन करना चाहिए इस पुस्तक का प्रमुख विषय है। इसमें दार्शनिक पूर्णतावाद का प्रतिपादन किया गया है : एरिस्टॉटल की यह पुस्तक प्लेटो के 'फाइलेबस' और 'लॉज़' से विशेष प्रभावित जान पड़ती है। एरिस्टॉटल की **अर्ली पॉलिटिक्स** (Early Politics) भी इसी युग में लिखी गई थी जिसके अनुसार शिव-तत्त्व (Good) किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त का सार है। वर्तमान 'पॉलिटिक्स' का द्वितीय, तृतीय, सप्तम और अष्टम खण्ड 'अर्ली पॉलिटिक्स' में सम्मिलित है। इस पुस्तक में एरिस्टॉटल ने 'आदर्श-राज्य' के घटक तत्त्वों का विवेचन किया है और साथ-साथ रिपब्लिक में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित काल्पनिक आदर्श राज्य की आलोचना भी प्रस्तुत की है। तीन प्रकार के संविधान और उनके विकृत रूपों का भी सविस्तार वर्णन है। इसके अतिरिक्त भौतिक-विज्ञान और संसृति-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों की स्थापना भी इसी युग में की गई थी। मेटाफ़िजिक्स की पहली पुस्तक में जो प्लेटो की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद लिखी गई थी, कुछ ऐसे अंश हैं जो फ़िज़िक्स (Physics) में प्रतिपादित विचारों की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार फ़िज़िक्स के प्रमुख विचार जैसे : द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form), सुप्त शक्ति (Potentiality) और जागृत शक्ति (Actuality), स्थिति (Inertia) और गति (Motion), इत्यादि के विषय में पहले ही विवेचन किया जा चुका था। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के अतिरिक्त पंचम तत्त्व आकाश (Aether) की भी स्थापना हो चुकी थी। इसमें प्लेटो द्वारा प्रतिपादित ''प्रकृति-जगत्'' की आलोचना भी प्रस्तुत की गई है। एरिस्टॉटल की ''सृष्टि और प्रलय'' (Creation and Destruction) वाली रचना ''स्वर्ग'' (Heavens) से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

3. **लइसियम-कालीन रचनाएँ** (ई० पू० 335-322)—यह तेरह वर्ष का काल एरिस्टॉटल के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है जिसमें उन्होंने प्रकृति और मानव सम्बन्धी अनेक मौलिक अनुसंधान किए। इस काल की रचनाएँ तत्कालीन ज्ञान का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं और उसे सम्भव बनाती हैं। 'लाइसियम' में दिए गए उनके भाषण और व्याख्यान शिक्षा-शास्त्र के आधार-स्तम्भ हैं जो अब तक सुरक्षित रखे गए हैं। इन रचनाओं को एरिस्टॉटल स्वयं प्रकाशित न कर सके। उनकी मृत्यु के बाद उनका सारा साहित्य 'लाइसियम' के अधिकार में चला गया जो बाद में सदस्यों को वितरित किया गया। एण्ड्रोनिकस (Andronicus) वह प्रथम व्यक्ति था जिसने सर्वसाधारण को एरिस्टॉटल की

रचनाओं से परिचित कराया। इस काल की रचनाओं को हम अग्रलिखित पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) तर्क-सम्बन्धी रचनाएँ (Logical Works)—इन्हें तर्कशास्त्र (Organon) भी कहा जाता है जो सत्ता और ज्ञान के रूपों का विचार करता है। इसमें तर्क-वाक्य, अनुमान, प्रमाण, सम्भावना और तर्काभास पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(ब) तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी रचनाएँ (Metaphysical Works)—मेटाफ़िज़िक्स, इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। पर प्रस्तुत रचना एक पूर्ण इकाई न होकर विभिन्न संभाषणों का एक 'संग्रह' मात्र है। यही कारण है कि इसमें एक ही समस्या का समाधान भिन्न-भिन्न तरीके से किया गया है। एरिस्टॉटल की पुस्तक का नाम 'मेटाफ़िज़िक्स' स्वयं एरिस्टॉटल ने नहीं दिया था। यह नाम उसके एक पर्यटक शिष्य द्वारा गया था। उनकी 'मेटाफ़िज़िक्स' की पुस्तक 'फ़िज़िक्स' के बाद 'मेटा' (Meta) सामने आई और इसीलिए इसका नाम मेटाफ़िज़िक्स (फ़िज़िक्स के बाद) पड़ गया। इस प्रकार 'मेटाफ़िज़िक्स' नाम एक आकस्मिक घटना है, पर आगे चलकर यह आकस्मिक घटना पूर्ण रूप में चरितार्थ हुई। एरिस्टॉटल का तत्त्व-विज्ञान उनके भौतिक विज्ञान पर आधारित है, पर प्लेटो के विषय में ऐसी बात न थी। एरिस्टॉटल ने स्वयं मेटाफ़िज़िक्स को ''जगत् के मूलभूत सिद्धान्तों का विज्ञान'' कहा है। पुस्तक के कुछ अंशों में उन मूलभूत, प्राथमिक तत्त्वों पर विचार किया गया है जो प्राचीन दार्शनिकों के अनुसार, जगत् का निर्माण करते हैं। आगे चलकर द्रव्य, गुण, सुषुप्त शक्ति, जागृत शक्ति इत्यादि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नवें से लेकर बारहवें अध्याय तक गति और अनन्तता के विषय में वर्णन है जो फ़िज़िक्स के कुछ अंशों का सारांश प्रतीत होता है। इस पुस्तक में प्लेटो के विज्ञानवाद और संख्या-सिद्धान्त की भी सविस्तार आलोचना की गई है।

(स) प्राकृतिक विज्ञान-सम्बन्धी रचनाएँ—इन रचनाओं में फ़िज़िक्स सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें आठ पाद (खण्ड) हैं जिनमें सातवाँ खण्ड बाद में जोड़ा गया है और एरिस्टॉटल द्वारा लिखित टिप्पणियों पर आधारित है। इस पुस्तक में 'गति' की समस्या पर विचार प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक के चार खण्ड, आकाशीय पिण्डों की गति और उसके रूप तथा जगत् की नित्यता का विवेचन करते हैं। दो खण्ड जगत् की वस्तुओं की उत्पत्ति, विनाश और परिणाम का विवरण देते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना मिटीरियोलॉजी (Meteorology) या ऋतु-विज्ञान है। इसमें चार खण्ड हैं जिसका अन्तिम खण्ड एक स्वतन्त्र रचना है जो शायद स्ट्राटो (Strato) द्वारा लिखी गई थी। इसी युग में एरिस्टॉटल ने प्राणि-विज्ञान पर भी कुछ पुस्तकें लिखी जिनमें दस भागों वाली जन्तु-कहानियाँ (Animal Stories) सर्वप्रसिद्ध हैं। यह पुस्तक शरीर-रचना-विज्ञान से सम्बन्धित हैं और विभिन्न जीवों के शरीर की रचनाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करती है।

(ब) नीति-शास्त्र और राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ—एरिस्टॉटल द्वारा प्राचीन नीति-सम्बन्धी तीन प्रकार की रचनाएँ हैं : प्रथम ''यूडेमियन एथिरस'' है जो एक संक्रमण-कालीन रचना है और ''एसुस'' के प्रवास-काल में लिखी गई थी। दूसरी रचना तथाकथित

"महान् नीति-विज्ञान" (Great Ethics) है जो एक व्याख्यान है जिसमें प्लेटो के सिद्धान्तों का अनुकरण किया गया है। यह एक लघु रचना है। तीसरी ओर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना निकोमेशियन एथिक्स (Nicomachean Ethics) है जिसमें दस पाद हैं। इसे निकोमेशयन एथिक्स इसलिए कहते हैं कि एरिस्टॉटल की मृत्यु के बाद उनके सुपुत्र निकोमेशस (Nicomachus) ने इस पुस्तक का संपादन किया था। राजनीति-सम्बन्धी रचनाओं में **पॉलिटिक्स** सर्वप्रमुख है, जिसमें आठ पाद हैं। इस पुस्तक को लिखने के पहले एरिस्टॉटल ने 158 राज्यों के संविधानों का संकलन किया था जो बाद में पॉलिटिक्स में शामिल कर लिए गए। पॉलिटिक्स में कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र के संविधानों की परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन है।

(5) सौन्दर्य-शास्त्र, इतिहास और साहित्य-सम्बन्धी रचनाएँ—इनमें वाग्मिता (Rhetoric) और छन्द-शास्त्र (Poetics) महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त एरिस्टॉटल ने अपने निर्देशन में अपने विद्यार्थियों द्वारा विभिन्न विज्ञानों के इतिहास का भी निर्माण कराया। उदाहरण के लिए, उनके निर्देशन में थियोफ्रेस्टस ने प्राकृतिक दर्शनों का इतिहास लिखा, यूडेमस ने गणित और खगोल-शास्त्र का तथा मेनो ने चिकित्सा-शास्त्र का इतिहास लिखा। इनके अतिरिक्त एरिस्टॉटल को भाषा-विज्ञान (Philology) का जनक माना जाता है।

दर्शन और विज्ञान

एरिस्टॉटल के अनुसार दर्शन एक निःस्पृह और सुसंगठित ज्ञान है जिसका अनुशीलन किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं, वरन् "जिज्ञासा" की तृप्ति के लिए ही किया जाता है। यह मानवीय जिज्ञासा सर्वप्रथम "बाह्य भौतिक जगत्" का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर होती है—ग्रह, नक्षत्र, तारे, वनस्पतियाँ, ऋतुएँ, गति इत्यादि क्या हैं, और किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं? यही कारण है कि दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ में ग्रीक दार्शनिकों ने सृष्टि-विज्ञान और ऋतु-विज्ञान की समस्याओं पर विशेष बल दिया। फिर चिन्तन के विकास-क्रम में दार्शनिकों का ध्यान स्थूल वस्तुओं से हटकर सूक्ष्म वस्तुओं पर केन्द्रित हुआ : जैसे ज्यामितीय रूप, आकार, गुण, संख्या, ज्ञान और उसकी सम्भावनाएँ इत्यादि। ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ दर्शन की मान्यताओं में भी परिवर्तन हुए। आगे चलकर दर्शन विभिन्न विज्ञानों के सामान्य और आधारभूत सिद्धान्तों के स्वभाव का अध्ययन करने लगा जिसके परिणामस्वरूप दर्शन का काम परम-तत्त्व, परम सामान्य, शुद्ध सत्ता या सत् का अनुसंधान करना हो गया। दर्शन परमार्थ-तत्त्व के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है। हेगल की भाँति एरिस्टॉटल ने भी सोचा था कि उनका दर्शन चिन्तन की पराकाष्ठा है जिसके आगे जाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। उन्होंने तो यहाँ तक सोच लिया था कि पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का लक्ष्य उन्ही के विचारों की 'अभिव्यक्ति' करना मात्र था, पर वे पूर्ण रूप से उसमें सफल न हो सके। इसीलिए एरिस्टॉटल ने पूर्ववर्ती दार्शनिकों को 'तुतलाता हुआ एरिस्टॉटल' (Lisping Aristotle) की संज्ञा प्रदान की थी। दर्शन का उद्देश्य 'पूर्ण सत्ता' का ज्ञान प्राप्त करना है। अन्य विज्ञान इस पूर्ण सत्ता के आंशिक पक्ष को ही अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित कर अध्ययन करते हैं, पर एरिस्टॉटल के दर्शन में 'पूर्ण सत्ता' पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

विज्ञानों का वर्गीकरण

विज्ञानों का वर्गीकरण करने के पहले सर्वप्रथम दर्शन को तर्क (Dialectic) और कुतर्क (Sophistry) से पृथक् करना श्रेयस्कर होगा। तर्क, पूर्व-मान्य प्रतिज्ञाओं (Premises) से यथार्थ चिन्तन करने की कला का नाम है, ये प्रतिज्ञाएँ चाहे 'सत्' हों अथवा 'असत्'। तर्क अपनी प्रतिज्ञाओं की यथार्थता या अयथार्थता के प्रति बिलकुल ही उदासीन होता है। हम यथार्थ अथवा अयथार्थ दोनों प्रकार की प्रतिज्ञाओं से तर्क द्वारा "परिणाम" (Conclusion) पर पहुँच सकते हैं; इसका मुख्य उद्देश्य प्रतिज्ञाओं मे निहित विचारों को सुस्पष्ट करना ही होता है। संक्षेप में : तर्क का लक्ष्य वाक्यों की 'सत्यता' की स्थापना न होकर उनकी संगति (Consistency) का निदर्शन है। पर दर्शन और विज्ञान का 'सत्य' से सीधा सम्बन्ध है और यही कारण है कि उनको निश्चित, वास्तविक और यथार्थ प्रतिज्ञाओं से आरम्भ करना पड़ता है। इस प्रकार विज्ञान और विशुद्ध तर्क में अन्तर यह है कि विज्ञान, यथार्थ प्रतिज्ञाओं से और तर्क 'सम्भाव्य' अथवा 'सत्याभ' प्रतिज्ञाओं से चिन्तन प्रारम्भ करता है। इसी प्रकार विज्ञान या दर्शन कुतर्क अथवा वितण्डा से भी भिन्न है। वितण्डा, तर्क का दुरुपयोग कर केवल वाग्मिता द्वारा जीविकोपार्जन करना है। इसीलिए इसका एक नैतिक पक्ष भी है। कहा जाता है कि "वितण्डावादी वह है जो प्रतीयमान पर अवास्तविक ज्ञान द्वारा जीविकोपार्जन करता है।" अत: वितण्डा, ज्ञान का व्यापार है और यह विज्ञान या दर्शन कभी भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञान या दर्शन नि:स्वार्थ और नि:स्पृह रूप में बुद्धि का उपयोग केवल सत्य के उद्घाटन के लिए ही करता है।
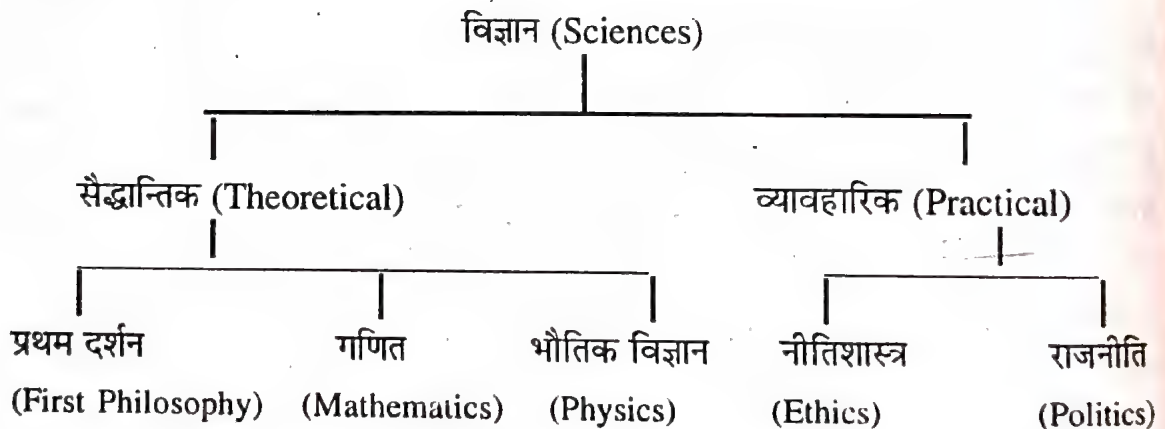
अब हम एरिस्टॉटल द्वारा प्रतिपादित विज्ञानों का वर्गीकरण कर सकते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने सभी विज्ञानों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक इन दो भागों में विभाजित किया। सैद्धान्तिक विज्ञान, व्यावहारिक विज्ञानों से उद्देश्य, परिणाम, विषय-वस्तु और तार्किक स्वभाव, सभी बातों में भिन्न होते हैं। सैद्धान्तिक विज्ञानों का लक्ष्य नि:स्पृह रूप में संकल्परहित होकर केवल 'ज्ञान' प्राप्त करना है; कला का उद्देश्य 'कार्य-कुशलता' का अर्जन करना है; इसके विपरीत, व्यावहारिक विज्ञानों का उद्देश्य अर्जित ज्ञान को केवल 'माध्यम' बनाकर अपनी संकल्प-सिद्धि करना है। पहले में 'ज्ञान' ही लक्ष्य है और दूसरे में 'ज्ञान' लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन-मात्र है।

जिस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञानों के उद्देश्य में भेद है, उसी प्रकार

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दर्शनों के विषय-वस्तु में भी भेद है। सैद्धान्तिक दर्शन का सम्बन्ध ''उन सत्यों से है जो कभी अन्यथा नहीं हो सकते'' और जो मानवीय भावनाओं और संकल्पों से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। उनका काम सत्य की सृष्टि करना नहीं, वरन् उसका अभिज्ञान करना है। इसके विपरीत, व्यावहारिक दर्शन का सम्बन्ध उन तथ्यों से है जिन्हें मानवीय भावनाएँ और संकल्प परिवर्तित कर सकते हैं, अथवा ''वस्तुएँ जो अन्यथा हो सकती हैं।'' या वे जो अनिवार्य न होकर केवल आगन्तुक हैं। राजनीति, चिकित्साशास्त्र और अर्थ विज्ञान सभी व्यावहारिक विज्ञान हैं। इसी प्रकार नीतिशास्त्र, व्यावहारिक दर्शन है।

जिस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दर्शन के उद्देश्य और विषय-वस्तु में अन्तर है, उसी प्रकार उनके परिणामों और निष्कर्षों में भी पर्याप्त भेद है। सैद्धान्तिक दर्शन के परिणाम निश्चयात्मक और सार्वभौम होते हैं जो स्वतः सिद्ध सत्यों से तार्किक रूप में अनिवार्यतः अवकलित किए जाते है; इसके विपरीत, व्यावहारिक दर्शन का सम्बन्ध आगन्तुक तथ्यों से होने के कारण उसके निष्कर्ष उतने सार्वभौम नहीं होते जितने कि सैद्धान्तिक दर्शन के निष्कर्ष होते हैं। व्यावहारिक दर्शन के निर्णय सामान्य होते हुए भी केवल सम्भाव्य ही होते हैं, क्योंकि उनके तथ्यों के आगन्तुक स्वभाव के कारण उनके अपलाप की सम्भावना बनी रहती है। व्यावहारिक विज्ञानों और दर्शनों के निर्णयों में पूर्ण निश्चयात्मकता और प्रामाणिकता की खोज करना तर्कबुद्धि की न्यूनता का ही सूचक होता है, क्योंकि उनमें सार्वभौमता और निश्चयात्मकता सम्भव ही नहीं है। अब हम सैद्धान्तिक दर्शन के उपविभागों की ओर ध्यान देगे। प्लेटो के अनुसार सैद्धान्तिक दर्शन का विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि संसार मे जितनें विज्ञान हैं, उन्हें कुछ मूलभूत सिद्धान्तों से तर्कविद्या (Dialectic) द्वारा अवकलित किया जा सकता है। पर एरिस्टॉटल के अनुसार यह समस्या का अतिसरलीकरण है। उनके अनुसार, सैद्धान्तिक दर्शन की कई पृथक् पर समकक्ष शाखाएँ हैं जिनकी विषय-सामग्री और मूलभूत सिद्धान्त जिन पर वे आश्रित है, बिलकुल अलग-अलग हैं। इन शाखाओं में तीन प्रधान हैं; प्रथमिक दर्शन (First Philosophy), गणित और भौतिक विज्ञान। प्राथमिक दर्शन—जिसे मध्य-युग में तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics) कहा गया—'सत्ता' सा 'सत्ता' के रूप में (Being qua Being) अध्ययन करता है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक दर्शन, ज्ञेय तत्त्व के सामान्य गुणों और उसके विन्यास-क्रम का अध्ययन करता है। प्राथमिक दर्शन ही ऐसे परम-तत्त्व का अनुसंधान करता है जो अशरीरी, निर्गुण, निराकार,, नित्य, निर्विकार और कूटस्थ हो। एरिस्टॉटल के दर्शन में ईश्वर ही वह परम कारण है जो निर्गुण और निर्विकार होते हुए भी सगुण और सविकारी जगत् को उत्पन्न करता है। प्राथमिक दर्शन के ज्ञान का पर्यवसान ईश्वर-ज्ञान में होता है और इसी कारण प्राथमिक दर्शन को ईश्वर-विज्ञान (Theology) भी कहा जाता है। इस प्रकार प्राथमिक दर्शन के भीतर तत्त्व-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और ईश्वर-मीमांसा सभी का समावेश हो जाता है।

गणित का क्षेत्र, प्राथमिक दर्शन के क्षेत्र से संकुचित है। यह 'परमार्थ-सत्' (Real Being as Such) का अध्ययन न कर केवल वस्तुओं के संख्यात्मक और ज्यामितिक रूपों का ही अध्ययन करता है। संख्या और आकार केवल प्रत्यक्ष जगत् की वस्तुओं के ही धर्म हैं,

इसलिए एरिस्टॉटल ने गणित और प्राथमिक दर्शन का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है: ''प्राथमिक दर्शन के विषय द्रव्यहीन और गतिहीन हैं, पर गणित के विषयों की (यद्यपि वे गति-सामर्थ्यहीन हैं) सत्ता की कल्पना द्रव्य से स्वतन्त्र की ही नहीं जा सकती।'' भौतिकशास्त्र का क्षेत्र इन दोनों से पृथक् है। इसका सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो द्रव्ययुक्त और गतिशील दोनों हैं। यहाँ विभिन्न विज्ञानों में जो अन्तर स्पष्ट किया गया है, वह उनके परिक्षेत्र के अन्तर के कारण है। प्राथमिक दर्शन का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसके भीतर वास्तविक और ज्ञेय सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है; इसके विपरीत, भौतिक विज्ञान का क्षेत्र सबसे अधिक सीमित है, क्योंकि इसके भीतर आने वाली सभी वस्तुएँ, दो उपाधियों—द्रव्य और गति— से परिच्छिन्न हैं। गणित का स्थान इन दोनों के बीच आता है, क्योंकि यद्यपि इसके विषयों में गति की सामर्थ्य नहीं होती, पर वे द्रव्ययुक्त होते हैं। इन विज्ञानों के परिक्षेत्र के अन्तर के कारण उनकी स्वयं-सिद्धियों और पूर्वानुमानों के विस्तार में भी अन्तर पाया जाता है। प्राथमिक दर्शन के पूर्वानुमानों का बृहत्तम क्षेत्र है; गणित का क्षेत्र भौतिक विज्ञान की अपेक्षा बृहत्तर है और भौतिक विज्ञान के पूर्वानुमानों का क्षेत्र सबसे अधिक संकुचित है। इसी कारण इन्हें समकक्ष भी नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार एरिस्टॉटल ने सैद्धान्तिक दर्शन का वर्गीकरण किया, उसी प्रकार व्यावहारिक दर्शन का वर्गीकरण उनके द्वारा नहीं किया गया। आगे चलकर उनके शिष्यों ने व्यावहारिक दर्शन के तीन विभाग किए—

1. नीतिविज्ञान जो मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है;
2. अर्थशास्त्र जो परिवार-व्यवस्था का विज्ञान है; और
3. राजनीति-विज्ञान जो राज्य-व्यवस्था का विज्ञान है।

एरिस्टॉटल ने स्वयं इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं किया। व्यवहार के विज्ञान के रूप में उन्होंने एक सामान्य संज्ञा को लिया है जिसे पॉलिटिक्स (Politics) कहते हैं। इसका कारण यह था कि एरिस्टॉटल की दृष्टि में व्यक्तिगत व्यवहार को सामाजिक व्यवहार से अलग नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि एरिस्टॉटल ने व्यक्तिगत मानवीय व्यवहार पर अलग व्याख्यान-मालाएँ प्रस्तुत कीं, पर उन्होंने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया कि नीतिविज्ञान, राजनीतिशास्त्र का ही एक अंग है और उसे उससे अलग नहीं किया जा सकता। एरिस्टॉटल द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में कला के दर्शन (Philosophy of Art) को कोई स्थान नहीं दिया गया है, पर एरिस्टॉटल के शिष्यों ने आगे चलकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दर्शनों के साथ एक सृजनात्मक (Productive) दर्शन को भी सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और सृजनात्मक इन तीन प्रकार के दर्शनों का उल्लेख किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य एरिस्टॉटल के काव्यशास्त्र (Poetics) और वाग्मिता-विज्ञान (Rhetoric) को दर्शन और विज्ञान के वर्गीकरण में शामिल करना था। पर सच पूछा जाय तो काव्यशास्त्र और वाग्मिता-विज्ञान का दर्शनशास्त्र से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और सम्भवत: यही कारण था कि एरिस्टॉटल ने अपने वर्गीकरण में इनको कहीं भी स्थान नहीं दिया।

इसी प्रकार तर्कशास्त्र जिसे एरिस्टॉटल ने वैश्लेषिकी (Analytics), वैज्ञानिक पद्धति

(Scientific Method) अथवा साक्ष्य-प्रमाण-विज्ञान (Science of Evidence) की संज्ञा दी है, को भी विज्ञानों के वर्गीकरण में कोई स्थान नहीं दिया गया। इसका कारण यह है कि तर्कशास्त्र उन वैज्ञानिक पद्धतियों का अध्ययन करता है जिनका अनुसरण किए बिना वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। इस कारण तर्कशास्त्र स्वयं एक विज्ञान नहीं हो सकता। यदि तर्कशास्त्र को भी एक विज्ञान मान लिया जाय तो हम अनवस्था-दोष से अपने को कभी भी मुक्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि तर्कशास्त्र को अन्वेषिकी (Organon), या विज्ञानों का उपकरण (Instrument) मात्र ही समझा गया। तर्कशास्त्र को कभी-कभी पूर्व-विषय (Preliminary) अथवा आरम्भिक विज्ञान (Propaedeutic Science) भी कहा जाता है। इस प्रकार यह "विज्ञानों का विज्ञान" (Science of the Sciences) है।

प्राथमिक दर्शन (तत्त्व-विज्ञान)

एरिस्टॉटल का प्राथमिक दर्शन तत्त्व से सम्बन्धित है। इसे प्राथमिक दर्शन इसलिए कहा जाता है कि यह उस प्राथमिक, परम और सामान्य तत्त्व तथा उसके गुणों का अध्ययन करता है जिससे कि इस सम्पूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है। अन्य विज्ञान इस परम सत्ता के आंशिक और सीमित रूपों को ही अपना क्षेत्र बनाकर अध्ययन करते हैं। इसके विपरीत, प्राथमिक दर्शन या तत्त्व-विज्ञान, तत्त्व के पूर्णिक और असीमित रूप को अपना क्षेत्र बनाकर अध्ययन करता है और इस कारण इसकी सत्यता, यथार्थता और प्रामाणिकता में सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता। प्राथमिक दर्शन, इस प्रकार "परमार्थ सत्" का अध्ययन है; यह विन्यास के उन सामान्य और सार्वभौम सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनके बिना विश्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तत्त्व-विज्ञान, "अस्ति-तत्त्व" का अध्ययन करता है। पर "अस्ति" शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। सत्ता के उतने ही प्रकार हैं जितने अभिधान के प्रकार हो सकते हैं। "मनुष्य", "घोड़ों", "गधों" इत्यादि द्रव्यों का अपना विशिष्ट अस्तित्व है— इन्हें वस्तुएँ कहते हैं; लाल, पीला, स्वादिष्ट इत्यादि गुणों की सत्ता एक दूसरे प्रकार की है— उन्हें वस्तुओं की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती—वे वस्तुओं के केवल धर्म (Attribute) ही हैं; इसी प्रकार निर्माण करना, वध करना, नष्ट करना इत्यादि क्रियाएँ न तो वस्तुएँ हैं और न धर्म ही, उनका अस्तित्व इस प्रकार का है कि वे एक प्रकार के व्यापार हैं जो वस्तुओं को या तो उत्पन्न करते हैं या नष्ट करते हैं। प्राथमिक दर्शन, सत्ता के इन सभी पर्यायों के साधारण स्वभाव का अध्ययन प्रस्तुत करता है। पर इसका विशेष सम्बन्ध "द्रव्य" (Substance) की सत्ता और उसके पर्यायों से है, क्योंकि यह सभी सत्ताओं का मूल है। 'द्रव्य' के सन्दर्भ में ही हम धर्मों और क्रियाओं का विचार कर सकते हैं। इस प्रकार 'द्रव्य' के प्रत्ययों का विश्लेषण तथा उसके अस्तित्व के कारणों का अनुसंधान करना ही प्राथमिक दर्शन या तत्त्व-विज्ञान की केन्द्रीय और प्रमुख समस्या है।

हाँ, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि "द्रव्य" शब्द का प्रयोग दो विभिन्न अर्थों में किया जा सकता है: एक तो उसका गौण अर्थ है जिसके अनुसार 'द्रव्य' एक विकल्प (Category) के रूप में लिया जाता है। 'हाथी', 'घोड़ा', 'मनुष्य' इत्यादि वस्तुएँ जो प्रकृति के भीतर पाई जाती हैं, वे सभी द्रव्य हैं, क्योंकि उन्हें हम वैज्ञानिक वर्गीकरण में एक साथ ले

सकते हैं। उदाहरण के लिए प्लेटो, एक मनुष्य हैं, या चेतक एक घोड़ा है, इसमें 'मनुष्य' और 'घोड़ा' द्रव्य है। इस दृष्टिकोण से, द्रव्य ''विधेय'' (Predicates) का एक विशेष प्रकार है। इसके अतिरिक्त, ''द्रव्य'' का एक मौलिक अर्थ भी होता है जिसके अनुसार द्रव्य एक **व्यक्ति-विशेष** (Absolute Individual) हैं, जैसे ''यह मनुष्य'' या ''यह घोड़ा''। अत: तार्किक दृष्टिकोण से हम प्राथमिक द्रव्यों की परिभाषा इस प्रकार भी दे सकते हैं: द्रव्य वे हैं जो ''**अभिधान के केवल कर्तृपद या उद्देश्य (Subject) ही हो सकते हैं, वे न तो किसी उद्देश्य के विधेय (Predicate) हो सकते हैं और न किसी दूसरे उद्देश्य के आश्रित ही हो सकते हैं।**'' एरिस्टॉटल का द्रव्य डेकार्ट्स के द्रव्य के समान है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो अपनी स्थिति के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। द्रव्य का एक तीसरा भी अर्थ है जिसे एरिस्टॉटल ने स्पष्ट नहीं किया है और वह है इसका **नित्य, कूटस्थ और अपरिणामी रूप**। यह नित्य और अपरिणामी होते हुए भी समस्त परिणाम या परिवर्तन का कारण है। उदाहरण के लिए, सॉक्रेटीज़ द्रव्य रूप में एक होते हुए भी अनेक और यहाँ तक कि परस्पर-विरोधी गुणों को भी धारण करता है। वह क्रमश: शिशु, किशोर, युवक और वृद्ध है। यही बात धर्मों और क्रियाओं के विषय में चरितार्थ नहीं होती। एक ही रंग पहले सफेद और बाद में काला नहीं हो सकता, एक ही क्रिया अथवा व्यापार पहले अशुभ और बाद में शुभ कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्रव्य-विशेष इस अनित्य और परिणामी जगत् के नित्य और अपरिणामी घटक हैं, या अपरिवर्त्य सत्ताएँ हैं। द्रव्य सभी परिवर्तनों, परिणामों, गतियों, व्यापारों, क्रियाओं और उपक्रमों का आश्रय होते हुए भी स्वयं इनसे अतीत है। द्रव्य सृष्टि का एक मूलभूत और बहुत ही महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। यह सभी धर्मों का धर्मिन्, सम्बन्धों का सम्बंधिन् और सभी क्रियाओं का कर्त्ता और कर्म है।

एरिस्टॉटल के 'द्रव्य' की कल्पना प्लेटो के द्रव्य के प्रत्यय से बिल्कुल ही भिन्न है। प्लेटो ने पारमार्थिक और व्यावहारिक जगत् में इतना आत्यन्तिक भेद उत्पन्न कर दिया था कि दोनों में किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना ही समाप्त हो गई थी। प्लेटो ने विज्ञानों को ही एक मात्र 'सत्' माना; प्रत्यक्ष-जगत् केवल एक व्यावहारिक सत्ता है। पर विज्ञान-जगत् को इन्द्रियानुभव के वस्तु-जगत् से नितान्त भिन्न और असम्बद्ध मानकर प्लेटो ने वस्तु-जगत् को सर्वथा असत् बना दिया था; एरिस्टॉटल ने प्लेटो के इस द्वैत को समाप्त कर प्रत्यक्ष-जगत् की खोई हुई सत्ता को पुन: लौटा दिया। उनके अनुसार विज्ञान-जगत्, वस्तु-जगत् से सर्वथा भिन्न नहीं है, विज्ञान-जगत्, वस्तु-जगत् में अनुस्यूत है, परमार्थ व्यवहार में अन्तर्निहित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एरिस्टॉटल ने विज्ञानों की महत्ता को कम समझा। एरिस्टॉटल के दर्शन में भी विज्ञानों का वही महत्त्व है जो प्लेटो के दर्शन में था। अन्तर केवल इतना ही है कि प्लेटो के विज्ञान, प्रत्यक्ष-जगत् के पार अतीन्द्रिय जगत् में निवास करते हैं और एरिस्टॉटल के विज्ञान, प्रत्यक्ष-जगत् से विलग न होकर उसी में अनुगत है।

एरिस्टॉटल का तत्त्व-विज्ञान, प्लेटो के **विज्ञानवाद के खण्डन** के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद में कुछ ऐसी त्रुटियाँ देखीं जिनको दूर करना

उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। इन त्रुटियों को दूर करने के प्रयत्न स्वरूप ही उन्होंने अपने तत्त्ववाद के मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना की। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद में निम्नलिखित दोष पाया है—

(1) प्लेटो के विज्ञान विशेषों से पृथक् सामान्य सत्ताएँ हैं। पर विशेषों से अतीत 'सामान्य', एक अवास्तविक और प्रत्याहृत (Abstract) **कोरी कल्पना** है। अमूर्त कल्पनाएँ मूर्त वस्तुओं की कभी भी संतोषप्रद व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सकती है। तर्क के लिए यदि मान भी लिया जाय कि श्वेत वस्तुओं से परे 'श्वेतता' का विज्ञान है, तो भी 'श्वेतता', श्वेत वस्तुओं को किस प्रकार उत्पन्न करती है, इस समस्या का समाधान ठीक प्रकार से नहीं होता।

(2) प्लेटो के विज्ञान, **नित्य, अपरिणामी** और **गतिशून्य** हैं और इस प्रकार जगत् के भीतर जो गति, परिवर्तन और परिणाम पाए जाते हैं, उनकी समुचित व्याख्या करने में वे सर्वदा असमर्थ हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'श्वेतता', श्वेत वस्तुओं को उत्पन्न करती है, फिर भी ये वस्तुएं क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है, इनका किस प्रकार विकास होता है और फिर ये किस प्रकार नष्ट हो जाती है? इन समस्याओं का अपरिणामी विज्ञानों द्वारा समुचित समाधान नहीं हो पाता। इनकी समुचित व्याख्या के लिए विज्ञानों में हमें किसी ऐसे सूत्र की खोज अवश्य करनी होगी जो गति का आश्रय हो। पर प्लेटो के निर्जीव और गतिशून्य विज्ञानों में हमें इस गति-सिद्धान्त का कहीं आभास भी नहीं मिलता।

(3) प्लेटो के अनुसार विज्ञान विशेषों के पूर्ववर्ती (Prior) कारण है। पर एरिस्टॉटल के अनुसार विज्ञान पूर्ववर्ती न होकर परवर्ती (Posterior) अनुकृतियाँ (Copies) हैं। परवर्ती होने के कारण, वे विशेष वस्तुओं के कारण कभी भी नहीं हो सकते। संक्षेप में : विज्ञान, विशेषों के कारण न होकर केवल उनके अनुकरण मात्र हैं।

(4) एरिस्टॉटल का चतुर्थ आक्षेप यह है कि प्लेटो का विज्ञान-जगत्, वस्तु-जगत् की **निरर्थक पुनरावृत्ति** मात्र है। प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुओं की समानता, एकता और उनके स्वरूप की परस्पर संगति को सिद्ध करने के लिए प्लेटो ने 'सामान्यों' की स्थापना की थी। जगत्, वस्तुओं का एक प्रपञ्च है और दर्शन का उद्देश्य इस प्रपञ्चपूर्ण जगत् की, निम्नतम सूत्रों के माध्यम से, व्याख्या करना है। प्लेटो ने इस प्रकार का कोई भी कार्य नहीं किया। उन्होंने वस्तुओं की "अनेकता" को सिद्ध करने के लिए विज्ञानों की "अनेकता" में विश्वास कर लिया। इससे प्रतिपाद्य विषयों की संख्या द्विगुणित होने के सिवाय अन्य कोई परिणाम नहीं निकलता। पर, प्रतिपाद्य विषयों की संख्या द्विगुणित करने मात्र से ही किसी समस्या का किस प्रकार समाधान किया जा सकता है? एरिस्टॉटल ने प्लेटो की उपमा उस व्यक्ति से दी है जो कुछ संख्याओं की गणना करने में असमर्थ होने पर यह सोचता है कि यदि वह प्रस्तुत संख्याओं की संख्या को दूनी कर दे तो वह उनकी गणना आसानी से कर पाएगा जो बिलकुल असम्भव है।

(5) प्लेटो के विज्ञानवाद के विरुद्ध, एरिस्टॉटल का पाँचवाँ आक्षेप यह है कि वे विज्ञानों और इन्द्रिय-जगत् की वस्तुओं के **परस्पर सम्बन्ध** की समुचित व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सके।

यदि एक स्थान पर प्लेटो ने सांसारिक वस्तुओं को विज्ञानों के "अंश" माना तो दूसरे स्थान पर उनके द्वारा उन्हीं वस्तुओं को विज्ञानों के "प्रतिविम्ब" रूप में घोषित किया गया। पुनः, आगे चलकर वस्तुओं को विज्ञानों की "अभिव्यक्ति" मात्र ठहराया गया। इस प्रकार की द्वैतवादी विचारधारा को, एरिस्टॉटल का कभी भी समर्थन नहीं मिला। उनके अनुसार "सम्बन्ध" और "द्वैतवाद" दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ हैं जो एक साथ कभी भी निवास नहीं कर सकतीं। एरिस्टॉटल के अनुसार, विज्ञान, प्रत्यक्ष-जगत् की वस्तुओं के केवल दिव्य (Hypostatised) रूप मात्र हैं। उन्होंने इन विज्ञानों की उपमा लोकधर्म के नररूपी देवताओं (Anthropomorphic gods) के साथ की है। वस्तुओं को विज्ञानों का प्रतिरूप (Copy) कहा गया है, पर वास्तविकता यह है कि विज्ञान स्वयं वस्तुओं के प्रतिरूप हैं।

(6) विज्ञानों के खण्डन के लिए एरिस्टॉटल का सबसे प्रबल तर्क **तृतीय मनुष्य-मूलक तर्क** है। अनेक वस्तुओं के भीतर जो सामान्य गुण पाए जाते हैं, उनकी व्याख्या के लिए हम विज्ञानों का अभ्युपगमन (Assume) कर लेते हैं। जहाँ कहीं अनेक वस्तुओं में कोई सामान्य तत्त्व दिखाई पड़े, उसके लिए दिव्यलोक में हमें किसी विज्ञान् की प्रतिष्ठा अवश्य ही करनी होगी। उदारहण के लिए मनुष्यों को ही ले लीजिए। संसार में जितने भी मनुष्य हैं, उनके भीतर 'मनुष्यत्व' का सामान्य गुण पाया जाता है। इनकी सिद्धि के लिए हमें दिव्यलोक में एक "सामान्य मनुष्य" की प्रतिष्ठा अवश्य करनी होगी। विशिष्ट मनुष्य इस लौकिक जगत् के निवासी है और "सामान्य मनुष्य" पारलौकिक या दिव्य जगत् का। इस प्रकार संसार में दो प्रकार के मनुष्य हुए—एक **लौकिक** और दूसरा दिव्य। इन दो प्रकार के मनुष्यों की सिद्धि के लिए हमें एक तृतीय सामान्य मनुष्य (Third Man) की कल्पना करनी होगी जो लौकिक और दिव्य मनुष्यों में अनुगत होते हुए भी उनसे अतीत हो। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों से पृथक् होने के कारण यह "**तृतीय मनुष्य**" भी एक व्यक्ति विशेष हो जायगा और फिर इन तीनों प्रकार के मनुष्यों की व्याख्या के लिए एक "चतुर्थ सामान्य मनुष्य" की कल्पना करनी होगी और इस प्रकार इसमें अनवस्था-दोष (Infinite Regress) अनिवार्य हो जायगा। एरिस्टॉटल के कथनानुसार प्लेटो ने अपने सामान्यों को व्यक्तियों से पृथक् करके उनको सामान्य पद से गिरा दिया है, वे व्यक्ति विशेष बन गए हैं। उनको पृथक् करके प्लेटो ने "सामान्य" और "विशेष" का भेद ही नष्ट कर दिया।

(7) प्लेटो के विज्ञानवाद के विरुद्ध एरिस्टॉटल का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि प्लेटो ने विज्ञानों को वस्तुओं का **सार-तत्त्व** (Essence) माना है, पर फिर भी उन्होंने उनको वस्तुओं से पृथक् कर दिव्य-लोक में स्थान दिया। वस्तुओं के सार-तत्त्व को वस्तुओं के बाहर न होकर उनके भीतर होना चाहिए। प्लेटो ने 'विज्ञानों' को जो वस्तुओं के सार-तत्त्व हैं, वस्तुओं से अलग कर उनके स्वरूप को ही नष्ट कर दिया।

यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किए, वे न्ययोचित नहीं है, और प्लेटो के विज्ञानवाद की भ्रमित व्याख्या पर आधारित हैं। **या तो उन्होंने "विज्ञानवाद" को ठीक प्रकार से समझा ही नहीं** (जैसा कि विश्वास नहीं किया जा सकता) **या केवल खण्डन के लिए "विज्ञानवाद" के कुछ**

महत्वपूर्ण तत्त्वों की उपेक्षा कर दी और कुछ को अतिरंजित कर दिया। सच पूछा जाय तो प्लेटो ने इन आरोपों की पहले ही परिकल्पना कर ली थी और ''पार्मेनाइडीज़'' नामक कृति में प्रायः इन सभी आक्षेपों का समुचित उत्तर भी दे दिया था। एरिस्टॉटल के सारे आक्षेपों के पीछे उनकी यह धारणा काम करती है कि प्लेटो के विज्ञान भौतिक वस्तुएँ हैं जो ''ऊपर'', ''नीचे'', ''आगे'', ''पीछे'', ''बाहर'' और ''भीतर'' हो सकती है। पर वास्तव में बात ऐसी है नहीं। प्लेटो ने पहले ही घोषित कर दिया था कि विज्ञान सामान्य रूप हैं, अतः वे 'विशेष' या 'व्यक्ति' रूप नहीं हो सकते। वे चेतन है, इस कारण भौतिक भी नहीं हो सकते। जब वे सामान्य, **चेतन** और **विज्ञान** रूप है तो ''तृतीय मनुष्यमूलक आक्षेप'' निरर्थक हो जाता है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानों की आलोचना करने के पहले यह भी नहीं सोचा कि उनके विज्ञान दिक्कालातीत हैं। जब वे स्वयं देशकाल से सीमित नहीं है तो उनके 'ऊपर', 'नीचे', 'बाहर' और 'भीतर' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः, प्लेटो ने स्वयं विज्ञानों को वस्तुओं में अनुस्यूत, अनुगत और अन्तर्यामी माना है, फिर उनके बाहर-भीतर होने का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है। प्लेटो ने जब विज्ञानों को वस्तु-जगत् से ''पर'' या ''अतीत'' कहा तो उनका अभिप्राय यह नहीं था, कि इस इन्द्रिय-जगत् से भिन्न, ऊपर कोई सामानान्तर दिव्य लोक है जिसमें उनके विज्ञान निवास करते हैं। विज्ञानों को ''पर'' या ''अतीत'' कहने का अभिप्राय केवल यही था कि वे वस्तु-जगत् पर निर्भर नहीं है। वे स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। वस्तु-जगत् विज्ञानों पर आश्रित हैं, पर विज्ञान किसी पर आश्रित नहीं हैं। वे स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। उसी प्रकार एरिस्टॉटल का यह कहना कि गतिशून्य, नित्य और अपरिणामी विज्ञान, इन्द्रिय-जगत् में पाए जाने वाली गति, परिवर्तन और परिणाम की समुचित व्याख्या नहीं करते, अनुचित प्रतीत होता है। प्लेटो ने विज्ञानों की गति का कारण कभी नहीं माना। उनके अनुसार गति या परिवर्तन का कारण ईश्वर (Demiurge) है। आश्चर्य की बात यह है कि एरिस्टॉटल ने विज्ञानों का खण्डन करते समय, ईश्वर का नाम तक न लिया। ले भी कैसे सकते थे! स्वयं उनके अनुसार भी गति का कारण ईश्वर ही है। एरिस्टॉटल का अप्रवर्त्तित प्रवर्त्तक (Unmoved Mover), प्लेटो के शिव-तत्त्व-विज्ञान से भिन्न नहीं है। इस प्रकार विज्ञानों को गति का कारण मानकर उनकी आलोचना करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में एरिस्टॉटल के सभी आरोप एकांगी और भ्रामक हैं।

एरिस्टॉटल के तत्त्व-विज्ञान के विविध पक्ष

द्रव्य (Substance) का स्वरूप ही एरिस्टॉटल के दर्शन की केन्द्रीय समस्या है। प्लेटो ने प्रत्ययों के विषय सामान्य विज्ञानों को ही एकमात्र 'सत्' माना। एरिस्टॉटल की इस पर गहरी आपत्ति है। उनके तत्त्व-विज्ञान की पूर्ण व्याख्या के लिए विषय-वस्तु के कई पक्षों पर अलग-अलग विचार करना अधिक समीचीन होगा।

प्लेटो के अनुसार विज्ञान **सामान्य** है जो अपनी सत्ता के लिए विशेषों पर निर्भर नहीं है। विशेष, सामान्य पर निर्भर हैं, पर सामान्य, विशेषों पर निर्भर नहीं है। उनके भीतर एकांगी

सामान्य और विशेष

सम्बन्ध है। एरिस्टॉटल को यह मान्य नहीं। उन्होंने अपने **'मेटाफ़िज़क्स'**[1] नामक ग्रन्थ में प्लेटो के उपर्युक्त सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। उनकी आलोचना का मुख्य विषय यह है कि सामान्य द्रव्य-रूप नहीं हैं; वे गुण-रूप हैं, और इसलिए द्रव्य से स्वतन्त्र उनका अस्तित्व नहीं हो सकता। प्लेटो के विशुद्ध विज्ञानों में यह गत्यात्मक शक्ति कहाँ जिससे कि वे वस्तु-जगत् का कारण बन सकें। एरिस्टॉटल के अनुसार ''व्यक्ति-विशेष'' ही सत् हो सकता है, क्योंकि यही एक वस्तु है जो न तो किसी अन्य वस्तु पर आश्रित है और न किसी वस्तु का विधेय ही बन सकती है।[2] इसके विपरीत सामान्य प्रत्ययों की द्रव्यों से स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं हो सकती; वे केवल द्रव्यों के विशिष्ट गुणों को ही व्यक्त करते हैं; सामान्य विज्ञान केवल विशिष्ट द्रव्यों के सामान्य स्वभाव को ही लक्षित करते हैं। विशेषों से पृथक् सामान्य एक काल्पनिक विज्ञान है। इन्हें व्युत्पन्न (Derived) द्रव्य भले ही मान लिया जाय, पर वस्तुओं से स्वतन्त्र उनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए यह व्यपदेश (Proposition) ले लिया जाय : ''सोना भारी है।'' यहाँ 'सोना' द्रव्य है और भारी उसका विशेषण या विधेय है। 'भारीपन' अपने अस्तित्व के लिए 'सोने' पर आश्रित है और इसलिए यह स्वतन्त्र द्रव्य का स्थान कभी भी नहीं ले सकता। इस प्रकार सामान्य कभी भी द्रव्य नहीं हो सकते।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि यदि सामान्य द्रव्य नहीं हो सकते, तो विशुद्ध विशेष (Pure Particular) भी द्रव्य नहीं कहे जा सकते। प्लेटो के अनुसार सामान्य और विशेष में एकांगी सम्बन्ध है, पर एरिस्टॉटल के अनुसार सामान्य और विशेष में **अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध** है। सोना, भारीपन, पीलापन, घन-वर्धनीयता इत्यादि गुणों से पृथक् नहीं रह सकता। किसी द्रव्य का ज्ञान उसके गुणों के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार, भारीपन, पीलापन, घनवर्धनीयता इत्यादि गुण भी सोने से पृथक् नहीं किए जा सकते। एरिस्टॉटल के अनुसार विशुद्ध सामान्य और विशुद्ध विशेष केवल अमूर्त कल्पनाएँ (Abstractions) हैं; वे वास्तविक सत्ताएँ कदापि नहीं हो सकते। वास्तविक द्रव्य, सामान्य और विशेष दोनों का एक यौगिक है। उनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विशुद्ध सामान्य और विशुद्ध विशेष निरर्थक प्रत्याहार हैं। इस प्रकार एरिस्टॉटल के अनुसार **व्यक्ति** (Individual) ही एकमात्र 'सत्' है।

एरिस्टॉटल के तत्त्व-विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष उनके द्वारा स्थापित स्वरूप और द्रव्य का भेद है। स्वरूप और द्रव्य का भेद उनके कारणता-नियम पर आधारित है। अत: स्वरूप और द्रव्य के भेद को समझने के लिए एरिस्टॉटल के **कारणता-सिद्धान्त** पर विचार करना आवश्यक होगा। एरिस्टॉटल ने कारण शब्द का प्रयोग, आधुनिक विज्ञान की अपेक्षा, एक बहुत ही विस्तृत अर्थ में किया है। सर्वप्रथम उन्होंने **प्रयोजन** (Reason) और **कारण** (Cause) में भेद

स्वरूप और द्रव्य

---

1. मेटाफ़िज़िक्स, ए, ९, एम० 4-20
2. कैटेगरी, 2 ए, 12

किया। प्रयोजन में कारण का अन्तर्भाव हो जाता है, पर कारण में प्रयोजन का समावेश नहीं हो पाता। एरिस्टॉटल के अनुसार **कारण वह उपकरण है जिसके माध्यम से प्रयोजन जगत् के व्यापार को प्रभावित करता है।** उदाहरण के लिए, दुर्घटना या रोग, किसी व्यक्ति की मृत्यु का कारण ही हो सकता है; उसका प्रयोजन नहीं। दुर्घटना या रोग केवल यही व्यक्त करते हैं कि मृत्यु **कैसे** या **किस प्रकार** हुई; वे यह स्पष्ट नहीं करते कि मृत्यु **क्यों** हुई। क्यों का उत्तर प्रयोजन से प्राप्त होता है और कैसे का उत्तर कारण देता है। किसी घटना विशेष का केवल 'कारण' ढूँढ़ना उसकी यथेष्ट व्याख्या करना नहीं है; उसकी यथेष्ट व्याख्या प्रयोजन ही कर सकता है। यदि मृत्यु हमारे शरीर के स्वभाव में निहित न होती तो लाख दुर्घटनाएँ और रोग हुआ करते, परन्तु हमारी मृत्यु कदापि न होती। कारण, प्रयोजन की सिद्धि का एक माध्यम है जो निहित प्रक्रिया को त्वरित कर देता है। इससे अधिक कारण की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। एरिस्टॉटल ने प्रयोजन और कारण में एक महत्त्वपूर्ण भेद प्रस्तुत किया है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह भेद यथार्थ है तो किसी घटना की समुचित और यथेष्ट व्याख्या के लिए कारण के साथ प्रयोजन की ओर भी निर्देश करना अनिवार्य है। कारण के इस विस्तृत अर्थ को ध्यान में रखते हुए एरिस्टॉटल ने **चार** प्रकार के कारणों का वर्णन किया है। चार प्रकार के 'कारण' कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि ये वैकल्पिक (Alternative) कारण हैं और एक की उपस्थिति से ही घटना की समुचित व्याख्या हो जाएगी; किसी भी नवीन घटना की पर्याप्त व्याख्या के लिए इन चारों कारणों का होना अनिवार्य है। इस प्रकार कारणता-नियम के ये चारों अंग (Factors) हैं। ये चारों अंग हैं : 1. उपादान कारण (Material Cause); 2. निमित्त कारण (Efficient Cause); 3. स्वरूप कारण (Formal Cause) और 4. लक्ष्य कारण (Final Cause)। इनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या आवश्यक है।

1. उपादान-कारण—किसी वस्तु के उपादान कारण से तात्पर्य उस **द्रव्य** या पदार्थ से है जिससे उस वस्तु का निर्माण किया गया है। उदाहरण के लिए संगमरमर की प्रतिमा के निर्माण में ''संगमरमर'' उपादान कारण है। इसे समवाय कारण भी कह सकते हैं।

2. निमित्त-कारण—यह किसी घटना का शक्त कारण है जिससे **'गति'** या **'परिणाम'** सम्भव होता है। निमित्त कारण वह ''ऊर्जा'' या ''शक्ति'' है जो परिवर्तन को सम्भव बनाती है। गति से तात्पर्य केवल स्थान-परिवर्तन से ही नहीं है; उसमें स्वभाव-परिवर्तन का भी अन्तर्भाव हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में मूर्तिकार निमित्त कारण है।

3. स्वरूप-कारण—स्वरूप कारण से एरिस्टॉटल का तात्पर्य किसी वस्तु के ''तत्त्व'' या ''सार'' से है जो उस वस्तु की परिभाषा द्वारा अभिव्यक्त होता है। परिभाषा, प्रत्यय का ही स्पष्टीकरण होती है। इस प्रकार किसी वस्तु का स्वरूप कारण उसका **प्रत्यय** या विज्ञान ही होता है। प्लेटो के विज्ञान यहाँ एक नये संदर्भ में, एरिस्टॉटल के दर्शन में, स्वरूप-कारण के रूप में प्रकट होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में, मूर्तिकार के मस्तिष्क में जो मूर्ति का आदर्श है, वही स्वरूप-कारण है।

4. लक्ष्य-कारण—वह साक्ष्य, उद्देश्य अथवा, प्रयोजन है जिसकी सिद्धि के लिए सारा

व्यापार प्रयत्नशील है। साध्य ही उपादान और निमित्त कारणों को गति या निर्देशन प्रदान करता है जिससे कोई वस्तु अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त करती है। उपर्युक्त उदाहरण में, पूर्ण प्रतिमा जो निर्माण का परिणाम है, वही लक्ष्य-कारण है।

''कारणता-नियम'' के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि एरिस्टॉटल ने ''कारण'' शब्द का प्रयोग एक बहुत ही विस्तृत अर्थ में किया है जिसमें उपादान और निमित्त कारणों के अतिरिक्त स्वरूप और लक्ष्य कारणों का भी समावेश हो जाता है। इन चार प्रकार के सहकारी कारणों का वर्णन करने के बाद एरिस्टॉटल ने उनको केवल दो रूपों में घटित करने का प्रयास किया जो क्रमशः **द्रव्य** (Matter) और **स्वरूप** (Form) है। इस घटन का रहस्य यह है कि स्वरूप, निमित्त और लक्ष्य कारण तीन अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं : वे स्वरूप (Form) के ही रूपान्तरण मात्र हैं। इस दिशा में सर्वप्रथम एरिस्टॉटल ने स्वरूप-कारण और लक्ष्य-कारण का भेद समाप्त किया। उनके अनुसार **लक्ष्य-कारण** स्वरूप-कारण का ही मूर्त रूप या वास्तविकीकरण (Actualisation) है। स्वरूप-कारण, किसी वस्तु का 'सार', 'प्रत्यय' अथवा 'विज्ञान' है; और लक्ष्य-कारण उसी सार, प्रत्यय या विज्ञान का जागृत रूप है। इस प्रकार स्वरूप और लक्ष्य कारणों में कोई अन्तर नहीं है। पुनः, लक्ष्य-कारण और निमित्त-कारण में भी कोई भेद नहीं है। **निमित्त-कारण,** परिणाम का साधन है और लक्ष्य-कारण उस परिणाम का साध्य या अन्त। एरिस्टॉटल के अनुसार जो परिणाम का कारण होता है, वही अन्त में उसका लक्ष्य भी होता है। इस प्रकार निमित्त-कारण और लक्ष्य-कारण अन्ततः एक ही हैं।

उदाहरण—निमित्त-कारण और लक्ष्य-कारण के तादात्म्य की बात एक उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। एक शिल्पकार कोई **प्रतिमा** बनाने में संलग्न है। जिस वस्तु को उपादान (जैसे : संगमरमर) बनाकर वह प्रतिमा का निर्माण करता है, वह उपादान-कारण हुआ; प्रतिमा का विज्ञान जो उसके मस्तिष्क में है, स्वरूप-कारण हुआ; समग्र प्रतिमा जिसको लक्ष्य करके शिल्पकार प्रतिमा का निर्माण कर रहा है, लक्ष्य-कारण हुआ और स्वयं शिल्पकार निमित्त-कारण है। शिल्पकार ही वह ''शक्ति'' या ''गति'' प्रदान करता है जिसके कारण निर्माण-कार्य सम्भव होता है। पर यह पूर्ण सत्य नहीं है। कल्पना कीजिए, यदि शिल्पकार के मस्तिष्क में कोई लक्ष्यादर्श या साध्य न हो तो क्या वह प्रतिमा का निर्माण कर सकता है? कदापि नहीं। लक्ष्य या साध्य ही शिल्पकार को प्रतिमा के निर्माण की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार लक्ष्य ही मूल कारण हुआ। निमित्त-कारण तो केवल **आसन्न** (Proximate) कारण है जो लक्ष्य-कारण का एक उपकरण मात्र है। यह तो मानवी-निर्माण-कार्य की बात हुई जिसमें निमित्त और लक्ष्य-कारण पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रकृति में ऐसा कोई चेतन पुरुष नहीं जिसे अपने लक्ष्य का चेतन ज्ञान हो, पर फिर भी वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर है। **ओक** (Oak) का ही उदाहरण ले लें—1. ओक के वृक्ष की उत्पत्ति के लिए ओक के बीज की आवश्यकता होगी जिसमें ओक-वृक्ष को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति या क्षमता विद्यमान हो—यह उपादान कारण है। 2. ओक के बीज के भीतर विकास का एक निश्चित क्रम है; उसके अन्दर ऐसी प्रवृत्ति या निहित गुण है जिसके अनुसार वह ओक के

वृक्ष के ही संस्थान को जन्म देता है और किसी अन्य वस्तु, जैसे हाथी, घोड़ा इत्यादि को नहीं। 3. इसी प्रकार ओक के बीज का जन्म शून्य से न होकर किसी पूर्व ओक-वृक्ष से ही हुआ होगा। यह पितृ-वृक्ष और उसके भीतर अन्य ओक-वृक्षों को उत्पन्न करने की क्षमता वृक्ष का निमित्त अथवा शक्त कारण है। 4. उसी प्रकार इस प्रजनन-क्रिया की एक, अन्तिम स्थिति भी होगी जो इस विकास-क्रम का गन्तव्य होगा—पूर्ण वृक्ष। यह लक्ष्य-कारण है। मानवी निर्माण-कार्य और प्रकृति के विकास-क्रम में अन्तर यह है कि मानवी निर्माण-कार्य में **निीमित्त-कारण** और **लक्ष्य-कारण** में द्वैत होता है, पर प्रकृति के विकास-क्रम में दोनों एक होते हैं। पर दोनों प्रकार के विकास-क्रमों में निमित्त कारण और लक्ष्य कारण को स्वरूप-कारण में लीन कर सकते हैं। इस प्रकार कारणता-नियम के चार सहकारी अंग केवल दो रूपों : द्रव्य (उपादान) और स्वरूप में ही घटित किए जा सकते हैं।

एरिस्टॉटल के दर्शन में 'द्रव्य' और 'स्वरूप' दो ऐसे आधारभूत पदार्थ (Categories) हैं जिनके माध्यम से उन्होंने सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या प्रस्तुत की है। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें हम निम्न दो पक्षों का साक्षात्कार कर सकते हैं : **द्रव्य** (Hyle, Materia) जो वस्तु का उपादान है और **स्वरूप** (Eidos, Forma) जो वस्तु का विन्यास या संस्थान है। इस प्रकार कोई वस्तु, स्वरूप द्वारा न्यस्त द्रव्य से भिन्न कुछ नहीं। 'Hyle' का शाब्दिक अर्थ **लकड़ी** (Timber) से है। जिस प्रकार जलयान के निर्माण के लिए उपादान स्वरूप इमारती टिम्बर और एक संस्थान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जगत के निर्माण के लिए भी द्रव्य और स्वरूप की आवश्यकता होती है। शायद, एरिस्टॉटल की यह धारणा उस पाइथेगोरियन कल्पना से सम्बन्धित है जिसके अनुसार **जगत् एक जलयान** है। एरिस्टॉटल ने जो जगत का विश्लेषण द्रव्य और स्वरूप पदों में किया है, वह केवल वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है, वरन् उन सभी परिस्थितियों पर समान रूप में लागू होता है जहाँ हम पदार्थ और उसके विन्यास का भेद कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, किसी प्रौढ़ मनुष्य के सुनिश्चित आचरण को ही ले लिया जाय। उस व्यक्ति का आचरण उसके बाल-जीवन की **प्रवृत्तियों** और आकांक्षाओं के प्रशिक्षण पर आधारित है। इस प्रकार मूलप्रवृत्तियाँ "द्रव्य" हुईं, और **आचरण** "स्वरूप"। तात्पर्य यह है कि एरिस्टॉटल के दर्शन में "द्रव्य" का अर्थ किसी भौतिक द्रव्य से ही नहीं है, इसके अन्दर भावनाएं, संकल्प इत्यादि अभौतिक वस्तुओं का भी समावेश हो जाता है। तत्त्व-विज्ञान में द्रव्य और स्वरूप में वही सम्बन्ध है जो तर्क-विज्ञान में जाति (Gentus) और अवच्छेदक (Difference) के बीच होता है। जिस प्रकार अवच्छेदक किसी उपजाति के गुणों का निर्धारण करता है, उसी प्रकार स्वरूप द्रव्य में जो अपेक्षाकृत निर्गुण है, गुणों की प्रतिष्ठा करता है।

एरिस्टॉटल ने द्रव्य और स्वरूप की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. द्रव्य और स्वरूप में **अपृथक्** सिद्धि-सम्बन्ध है। उन्हें हम केवल विचार में ही पृथक् कर सकते हैं, यथार्थ में नहीं। न तो द्रव्य से पृथक् स्वरूप की कल्पना की जा सकती है और न स्वरूप से पृथक् द्रव्य की। दोनों में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। विशुद्ध द्रव्य और

विशुद्ध स्वरूप प्रत्याहत अमूर्त कल्पनाएँ हैं। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, सभी द्रव्य और स्वरूप के यौगिक हैं।

2. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हैकि स्वरूप किसी वस्तु का **सामान्य** तत्त्व **है और** द्रव्य उसका **विशिष्ट** तत्त्व। जिस प्रकार स्वरूप और द्रव्य एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते, उसी प्रकार सामान्य और विशेष भी परस्पर पृथक् नहीं किए जा सकते। यहाँ एरिस्टॉटल के विचार प्लेटो से बिलकुल भिन्न है। प्लेटो के अनुसार, सामान्य का अस्तित्व, विशेषों से स्वतंत्र है। यह ठीक है कि विशेष सामान्य पर आश्रित है, पर सामान्य, विशेष पर आश्रित नहीं है। यह अमूर्त प्रत्यय (Abstract Universal) की धारणा है। एरिस्टॉटल को यह मान्य नहीं है। उनके अनुसार सामान्य और विशेष दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं; उनके भीतर अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। यह वास्तविक सामान्य या **मूर्त सामान्य** (Concrete Universal) की धारणा है जो एरिस्टॉटल को मान्य है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि विशेष और **व्यक्ति** (Individual) दोनों एक नहीं हैं। एरिस्टॉटल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सामान्य और विशेष दोनों का यौगिक है अथवा यों कहें कि प्रत्येक व्यक्ति इस द्रव्य और स्वरूप दोनों का यौगिक है। पर जब हम यह कथन करते हैं कि किसी वस्तु का द्रव्य, विशेष है तो हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि वह सामान्य और विशेष का ऐसा यौगिक होता है, पर केवल इतना ही कि वह विशुद्ध विशेष है। किन्तु हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि सामान्य से पृथक् विशेष की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः विशेष और व्यक्ति का अन्तर केवल सैद्धान्तिक ही है। व्यवहार में दोनों एक हैं।

3. तीसरी बात जो हमें ध्यान में रखनी है वह यह है कि न तो 'द्रव्य' से एरिस्टॉटल का तात्पर्य **'भौतिक द्रव्य'** से है और न स्वरूप का **'आकार'** से है। यद्यपि इन दो विचारों में पर्याप्त साम्य है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों एक हैं। पहले हम द्रव्य से ही प्रारम्भ करें। द्रव्य की हमारी साधारण कल्पना एक निरपेक्ष वस्तु से है जो सर्वथा द्रव्य ही बनी रहती है। ऐसा नहीं कि वह एक दृष्टिकोण से द्रव्य है तो दूसरे दृष्टिकोण से कोई अन्य बस्तु है। लोहा, ताँबा, सोना इत्यादि भौतिक वस्तुएँ सदा द्रव्य ही रहती हैं। पर इसके विपरीत एरिस्टॉटल का द्रव्य **एक सापेक्ष** प्रत्यय और स्वरूप परस्पर सापेक्ष विचार है और इसलिए **तरल** (Fluid) प्रत्यय हैं। वे एक दूसरे में प्रवाहित होते रहते हैं। एक ही वस्तु, यदि एक दृष्टिकोण से द्रव्य है तो दूसरे दृष्टिकोण से स्वरूप। उदाहरण के लिए **बीज—वृक्ष—लकड़ी** और **पलँग** की शृंखला को ही ले लें। बीज के लिए वृक्ष स्वरूप है, पर लकड़ी के लिए द्रव्य। इसी प्रकार लकड़ी, वृक्ष के लिए स्वरूप और पलंग के लिए द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य और स्वरूप स्थिर प्रत्यय न होकर गत्यात्मक प्रत्यय हैं। यही निष्कर्ष आकार पर विचार करने से भी प्राप्त हो सकते हैं। आकार एक स्थिर कल्पना है जो नहीं बदलती। यदि किसी वस्तु का आकार गोल है तो वह सदा गोल ही रहेगा; यदि वह चौकोर है तो सदा चौकोर ही रहेगा। पर स्वरूप के लिए ऐसी बात नहीं। स्वरूप एक तरल प्रत्यय है जो प्रवाहित होता रहता है। इसलिए यह एक सापेक्षिक कल्पना है। आकार एक निरपेक्ष प्रत्यय है। आकार को स्वरूप का एक अंग माना जा सकता है।

एरिस्टॉटल के तत्त्व-विज्ञान का तीसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष साध्य (Potentiality) और सिद्धं का भेद है। अब तक हम जो किसी वस्तु का विश्लेषण कर रहे थे, वह स्थैतिक (Static) विश्लेषण था। साध्य और सिद्ध, तथा प्रवर्त्तित और प्रवर्त्तक का भेद गत्यात्मक (Dynamic) विश्लेषण है। ऊपर द्रव्य और स्वरूप का विवेचन करते समय हमने देखा कि जगत की सारी वस्तुओं में **विकास का एक अखण्ड तारतम्य** है जिसमें प्रत्येक परवर्ती इकाई, पूर्ववर्ती इकाई के लिए स्वरूप है और पूर्ववर्ती इकाई, परवर्ती इकाई के लिए द्रव्य है। विकास के क्रम में हम जितना ही आगे अग्रसर होते हैं, स्वरूप की मात्रा बढ़ती जाती है और जितना ही पीछे की ओर अग्रसर होते हैं, स्वरूप की मात्रा घटती जाती है। इस तर्क के अनुसार, विकास-क्रम की अन्तिम अवस्था में जो इकाई आयेगी उसमें स्वरूप का चरम उत्कर्ष और द्रव्य का आत्यन्तिक अपकर्ष पाया जायेगा—यही एरिस्टॉटल का ईश्वर है। इसी प्रकार विकास-क्रम की प्रारम्भिक अवस्था में जो इकाई आएगी, उसमें स्वरूप का आत्यन्तिक अभाव पाया जायगा, वह केवल विशुद्ध द्रव्य ही होगा। यह एरिस्टॉटल का द्रव्य (Matter) है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण, द्रव्य बिलकुल ही निरपेक्ष, निर्गुण, निराकार और निराकृति है। यह संसार की सारी वस्तुओं का आश्रय और अधिष्ठान है, निर्गुण और निर्विकार होने के कारण द्रव्य भेद-शून्य है, यह अभेद-रूप है। एरिस्टॉटल के अनुसार, लोहा और सोना में द्रव्य-भेद न होकर स्वरूप-भेद है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि जगत के अधिष्ठान-तत्त्व द्रव्य में रूप और गुण नहीं हैं तो जगत-सृष्टि के लिए इन्हें कहीं अन्यन्त्र से लाना होगा। पर यह एरिस्टॉटल को मान्य नहीं है, क्योंकि वे सत्कार्यवादी हैं। कार्य, अपने कारण में किसीं न किसी रूप में निहित अवश्य रहता है। इस प्रकार प्रारम्भिक द्रव्य बिलकुल ही **निर्गुण, निराकार** और **निराकृत** नहीं हो सकता, और न अन्तिम द्रव्य ही पदार्थहीन होगा। एरिस्टॉटल के अनुसार विशुद्ध द्रव्य और विशुद्ध स्वरूप दोनों निरर्थक प्रत्याहार हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु—निम्नतम से उच्चतम तक में द्रव्य और स्वरूप दोनों पाए जाते हैं। किसी वस्तु में स्वरूप सिद्ध रूप में भले ही न पाया जाता हो, पर वह साध्य रूप में उसके भीतर वर्तमान अवश्य रहता है। अतः, द्रव्य के भीतर किसी भी वस्तु के रूप में परिवर्तित होने की सम्भावना या क्षमता वर्तमान रहती है। वास्तविक रूप में द्रव्य का रूप-परिवर्तन भले ही न हुआ हो, पर उसकी क्षमता उसमें बराबर बनी रहती है। इस प्रकार, द्रव्य को हम इस तरह भी परिभाषित कर सकते हैं कि **द्रव्य, प्रत्येक वस्तु की साध्यता है**। साध्यता ही द्रव्य ही और सिद्धता ही स्वरूप है। द्रव्य के भीतर संसार की किसी भी वस्तु को उत्पन्न करने की शक्यता विद्यमान है, अतः वह क्षेत्र है, आश्रय है, अधिष्ठान है। पर द्रव्य के अतिरिक्त एक अन्य वस्तु भी है जो उसके स्वभाव को निर्धारित करती है और वह उसका स्वरूप है जो साध्य-रूप में उसके भीतर निहित रहता है।

साध्य और सिद्ध (Actuality)

एरिस्टॉटल ने साध्यता और सिद्धता के माध्यम द्वारा चिर-प्राचीन परिणाम की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। असत् केवल असत् को ही उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार

सत् भी केवल सत् को ही जन्म दे सकता है। इन दोनों अवस्थाओं में परिणाम के लिए कोई स्थान नहीं है। एरिस्टॉटल के अनुसार, **साध्यता से सिद्धता की ओर संक्रमण ही परिणाम कहलाता है**। संसार में जितने गति, परिवर्तन और परिणाम हैं, वे सभी साध्यता से सिद्धता अथवा द्रव्य से स्वरूप की ओर संक्रमण के उदाहरण हैं।

द्रव्य की स्वयं कोई वास्तविक सत्ता नहीं है; वह एक असिद्ध साध्यता मात्र ही है। इसके विपरीत स्वरूप, एक सिद्ध और पूर्ण वस्तु है। अतः विकास-क्रम में स्वरूप, द्रव्य से उत्कृष्ट सत्ता है। द्रव्य वह है जो विकसित होकर स्वरूप का रूप धारण करता है। '**काल**' के दृष्टिकोण से 'द्रव्य' पहले आता है और 'स्वरूप' बाद में। पर 'बोध' और '**सत्ता**' के दृष्टिकोण से स्वरूप पहले और द्रव्य बाद में आता है। इसका कारण यह है कि जब हम यह कहते हैं कि 'द्रव्य' वह साध्यता है जिसे सिद्ध होकर 'स्वरूप' में परिणत होना है, तो इसका अर्थ यह है कि सिद्ध स्वरूप, साध्य द्रव्य में सम्भावना रूप में पहले से ही वर्तमान था, अन्यथा 'स्वरूप' की 'द्रव्य' से उत्पत्ति ही न हो सकती थी। इस प्रकार 'अन्त', 'आदि' में ही सन्निहित है; 'लक्ष्य', 'उपादान' मे ही विद्यमान है। सम्पूर्ण परिणाम का रहस्य, लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति है और उसी से प्रेरित होती है। इससे स्पष्ट है कि 'लक्ष्य' ही वास्तव में परिणाम का प्रवर्त्तक कारण (Operative Principle) है। 'लक्ष्य', सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया में परिव्याप्त रहता है। वह 'आदि' में वर्तमान है और 'अन्त' में भी। सच पूछा जाय तो एरिस्टॉटल के दर्शन में स्वरूप (Form) ही सब कुछ है और **द्रव्य, स्वरूप की अभिव्यक्ति का केवल एक माध्यम** है। गति किसी यान्त्रिक प्रक्षेपणात्मक शक्ति का परिणाम नहीं है, वरन् प्रयोजनात्मक और उद्देश्यमूलक है तथा 'लक्ष्य' द्वारा प्रेरित व्यापार है। इसमें पीछे से धक्का देकर कोई अनिवार्य प्रक्रिया नहीं उत्पन्न की जाती, बल्कि किसी 'उद्देश्य' की प्राप्ति के लिए स्वयं 'लक्ष्य' की ओर अग्रसर होना पड़ता है। यह बहुत कुछ उस प्रकार का होता है जिसमें लौह चूर्ण किसी चुम्बक की ओर आकर्षित होते हैं। इस प्रकार 'लक्ष्य' ही परिणाम का प्रवर्त्तक कारण है। मिल और न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार कारण कार्य का पुरोगामी होता है। एरिस्टॉटल के अनुसार यह पूर्ण सत्य नहीं है। हमने अभी देखा है कि वास्तविक कारण 'लक्ष्य' ही हो सकता है। किन्तु 'लक्ष्य' यदि 'आदि' में उपस्थित नहीं है तो क्रिया प्रारम्भ कैसे होगी? क्रिया की उत्पत्ति और उसके नैरन्तर्य के लिए कारण को आदि, मध्य और अवसान तीनों अवस्थाओं में वर्तमान होना चाहिए। लक्ष्य, गति का कारण है और कारण तार्किक दृष्टिकोण से कार्य के पहले आता है। इस प्रकार लक्ष्य सम्पूर्ण प्रक्रिया में परिव्याप्त होता है। लक्ष्य या स्वरूप, काल के दृष्टिकोण से भले ही अन्त में आते हों पर विचार, ज्ञान और सत्ता के दृष्टिकोण से पहले आते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि एरिस्टॉटल ने सृष्टि की व्याख्या यान्त्रिक कारणों से न कर उद्देश्यमूलक कारणों द्वारा प्रस्तुत की है। साध्यता और सिद्धता के उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं : एक तो यह है कि वह परम निरपेक्ष सत्ता जिससे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है, विकास-क्रम के अन्तिम छोर पर विद्यमान है; और दूसरी चीज यह है कि वह परम सत्ता सृष्टि के आदि में भी वर्तमान है। ये दोनों बातें साधारण विचारधारा से इतनी दूर हैं कि वे परस्पर-विरोधी

प्रतीत होती हैं। पर यदि तात्त्विक दृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। संसार में जितने भी दार्शनिक हो चुके हैं, उन सभी ने 'काल' को 'असत्' माना है। इस प्रकार 'काल' के माध्यम से 'पारमार्थिक सत्ता' का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। यदि ईश्वर और जगत् में 'काल' का सम्बन्ध माना जाय तो ईश्वर अपूर्ण हो जायगा। इसका दूसरा कारण यह भी है कि यदि ईश्वर और जगत् में काल-सम्बन्ध या पूर्वापर सम्बन्ध मान लिया जाय, तो ईश्वर सृष्टि के केवल 'प्रारम्भ' में ही होगा, उसके 'अन्त' में नहीं पाया जा सकता। काल-सम्बन्ध, एक अपरिवर्तनीय सम्बन्ध है। जो 'आदि' में है, वह 'अन्त' में नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो 'अन्त' में है, वह 'आदि' में नहीं हो सकता। अतः ईश्वर और जगत् में काल-सम्बन्ध कभी भी नहीं हो सकता। फिर उनके बीच कैसा सम्बन्ध है? यदि ईश्वर, जगत् का आदि और अन्त दोनों है तो उनके बीच केवल तार्किक सम्बन्ध ही सम्भव हो सकता है। त्रिभुज और उसके तीनों कोणों में, अथवा प्रतिज्ञाओं (Premises) और उनके परिणामों (Conclusions) में जो सम्बन्ध होता है, वही तार्किक सम्बन्ध है। प्रतिज्ञाओं से पृथक् परिणामों का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रतिज्ञाएं, परिणामों के आदि और अन्त दोनों हैं। ठीक उसी प्रकार, **ईश्वर भी एक प्रतिज्ञा है जिसका जगत एक परिणाम है।** जगत, ईश्वर का एक तार्किक परिणाम है। यदि ईश्वर को जगत का केवल कारण ही मान लिया जाय, तो इससे ईश्वर और जगत दोनों की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। कारण, किसी वस्तु की यथेष्ट व्याख्या नहीं है जब तक कि उसके भीतर हेतु या प्रयोजन को भी शामिल न कर लिया जाय। जिस प्रकार किसी निगमनात्मक अनुमान में प्रतिज्ञाएँ, परिणामों के पर्याप्त कारण का निर्माण करती हैं, उसी प्रकार उद्देश्य-मूलक ईश्वर भी जगत के अस्तित्व का पर्याप्त कारण है। प्रतिज्ञाएं पहले आती हैं और परिणाम बाद में आते हैं। पर यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि प्रतिज्ञाओं और उनके परिणामों में काल-सम्बन्ध न होकर, केवल तार्किक सम्बन्ध ही है; अतः प्रतिज्ञाएँ, काल-दृष्टि से न होकर, विचार-दृष्टि से ही, परिणामों के पहले आती हैं, उनके बीच काल-सम्बन्धी आनन्तर्य (Time Succession) न होकर तार्किक आनन्तर्य-सम्बन्ध ही है। उसी प्रकार परम-तत्त्व या स्वरूप (Form), जगत या द्रव्य से, विचार-दृष्टि में ही पहले आता है, काल-दृष्टि में नहीं, यद्यपि ईश्वर जगत का लक्ष्य-कारण है, पर विचार-दृष्टि से यह जगत का आदि भी है; वे सम्पूर्ण जगत के अधिष्ठान हैं जिससे वस्तुएं निःस्सरित होती हैं। संसार की सारी वस्तुएँ कालावच्छिन्न हैं और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं, पर 'लक्ष्य' के कालावच्छिन्न न होने के कारण उनको प्राप्त करना उनके लिए उतना आसान नहीं है। जगत अनादि और अनन्त है।

एरिस्टॉटल ने जगत् को विकास के एक क्रम के रूप में प्रदर्शित किया है जिसकी अरूपात्मक द्रव्य पहली और रूपात्मक ईश्वर अन्तिम इकाई है। इस **विकास की शृंखला** में, उच्चतर इकाई वह है जिसमें द्रव्य की अपेक्षा स्वरूप का आनयन होता है तथा निम्नतर इकाई वह है जिसमें स्वरूप की अपेक्षा द्रव्य का आनयन होता है। इस न्याय के अनुसार, जिस बिन्दु से विकास की शृंखला प्रारम्भ होती है, उसमें द्रव्य ही द्रव्य

प्रवर्त्तक और प्रवर्त्तित

होगा, और स्वरूप का आत्यन्तिक अभाव पाया जायगा; इसके विपरीत, शीर्ष बिन्दु पर जहाँ विकास का अन्त होता है, केवल स्वरूप पाया जायगा और द्रव्य का आत्यन्तिक अभाव होगा। पर एरिस्टॉटल ने हमें पहले ही सचेत कर दिया है कि विशुद्ध द्रव्य और विशुद्ध स्वरूप निरर्थक प्रत्याहार हैं; अमूर्त कल्पनाएँ हैं। निम्नतम से उच्चतम श्रेणी तक संसार में जितनी वस्तुएँ हैं उनमें द्रव्य और स्वरूप दोनों का योग पाया जाता है। द्रव्य और स्वरूप दोनों अवियोज्य तत्त्व हैं; उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कभी भी नहीं किया जा सकता। **विकास-क्रम में जब लक्ष्य की प्रवर्त्तक शक्ति के कारण निम्नतर इकाई का उच्चतर इकाई में संक्रमण होता है, तो उसे गति या परिवर्तन कहते हैं।** संक्षेप में द्रव्य के आसन्न स्वरूप में रूपान्तरण को 'गति' कहते हैं। गति, द्रव्य में ही सम्भव है। जिसमें द्रव्य नहीं है, उसमें गति सम्भव नहीं। इस प्रकार ईश्वर जो सभी गतियों का प्रवर्त्तक है, स्वयं गतिशील नहीं है क्योंकि वह स्वरूप ही स्वरूप है और उसमें द्रव्य का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है।

ईश्वर, विकास की चरम सीमा है; पराकाष्ठा है। **ईश्वर गति, परिवर्तन, और परिणाम का नित्य, अपरिवर्तनशील और अपरिणामी स्रोत है।** वह विकास की पूर्ण सिद्धता (Entelechy) है। एरिस्टॉटल के दर्शन में स्वरूप को ही सिद्धता कहा गया है और इसलिए पूर्ण रूप होने के कारण ईश्वर ही **परम-सिद्धि** (Absolutely Actual) है। वे ही एक मात्र सत्ता हैं। इससे एक निष्कर्ष और निकलता है। स्वरूप-तत्त्व के भीतर स्वरूप, निमित्त और लक्ष्य इन तीनों कारणों का अन्तर्भाव हो जाता है। ईश्वर, जगत् का स्वरूप, निमित्त और लक्ष्य तीनों कारण है—

(अ) ईश्वर, जगत् का **स्वरूप-कारण** है। वे विज्ञान-रूप हैं। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, ईश्वर उनके स्वभाव और स्वरूप को निर्धारित करता है। इसलिए वह जगत् का स्वरूप कारण है।

(ब) ईश्वर, जगत् के **निमित्त** कारण भी हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जब द्रव्य का आसन्न ''रूप'' में रूपान्तरण होता है तो गति या प्रवर्त्तन उत्पन्न होता है। स्वरूप (Form), गति का प्रेरक कारण है। हम यह भी देख चुके हैं कि ईश्वर **स्वरूप-मात्र** (Pure Form) है जिसमें द्रव्य का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। अतः वे जगत् के भीतर पाए जाने वाले सभी परिणामों और गतियों के आदि कारण हैं; वे **आदि प्रवर्त्तक** (First Mover) हैं। ईश्वर, विकास की चरम-सीमा है जिसके पार किसी वस्तु की कल्पना तक नहीं की जा सकती। अतः उनका कोई 'लक्ष्य' नहीं है। लक्ष्य न होने के कारण, ईश्वर के भीतर 'गति' या 'प्रवर्त्तन' सम्भव नहीं। वे **अप्रवर्त्तित** (Unmoved) हैं। दोनों को मिलाकर ईश्वर को **अप्रवर्त्तित प्रवर्त्तक** (Unmoved Mover) कहते हैं। यदि ईश्वर का भी कोई लक्ष्य कारण माना जाय तो इसमें अनवस्था-दोष (Infinite Regress) पाया जायगा। इसी कारण, गति का स्रोत होने पर भी ईश्वर अगतिशील हैं। इसी को एरिस्टॉटल **ने स्थिरता की प्रक्रिया** (Activity of Immobility) कहा है।

(स) जगत् के स्वरूप और निमित्त कारण होने के साथ-साथ, ईश्वर उसका **लक्ष्य-कारण** भी है। ईश्वर वह पूर्ण निरपेक्ष सत्ता है जिसको लक्ष्य बनाकर संसार की सारी वस्तुएँ

उसकी ओर प्रवाहित हो रही हैं। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु की एक पूर्णिक अवस्था होती हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की पूर्णता का ही एक नाम है। संसार में जितनी भी अपूर्ण वस्तुएँ हैं, उनके भीतर पूर्णता प्राप्त करने की एक अभिलाषा (Appetition) वर्तमान होती है जो लक्ष्य-प्राप्ति के बाद ही समाप्त हो सकती है। ईश्वर ही वह पूर्ण तत्त्व है जिसमें सभी अभिलाषाओं की सिद्धता प्राप्त होती है।

एरिस्टॉटल ने ईश्वर को आदि-प्रवर्त्तक कहा है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे यन्त्रवाद (Mechanism) का प्रतिपादन कर रहे हैं। ईश्वर को आदि-प्रवर्त्तक कहने से यह आभास मिलता है कि मानो काल-दृष्टि से वे पहले वर्तमान थे जिन्होंने वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए द्रव्य को पहली बार स्पन्दित किया। पर यह एरिस्टॉटल के दर्शन की त्रुटिपूर्ण व्याख्या होगी। उनके अनुसार, वास्तविक निमित्त कारण 'लक्ष्य' कारण ही है। ईश्वर को आदि-प्रवर्त्तक कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि विचार और सत्ता के दृष्टिकोण से उनका स्थान प्रथम आता है। यदि वे साध्य रूप में सृष्टि के प्रारम्भ में उपस्थित न होते तो 'गति' का प्रारम्भ न होता। ईश्वर, जगत् की साध्यता और सिद्धता दोनों है। जहां तक काल का प्रश्न है, हम यह कभी भी नहीं जान सकते कि जगत् और उसमें गति का प्रारम्भ कब हुआ? प्रत्येक यान्त्रिक कारण का उसका पूर्ववर्ती यान्त्रिक कारण होता है और दूसरे यान्त्रिक कारण का भी एक तीसरा पूर्ववर्ती यान्त्रिक कारण होता है। इस प्रकार यह क्रिया अनन्त तक जारी रहती है। इस अनवस्था-दोष से बचने के लिए ही एरिस्टॉटल ने ईश्वर को जगत का यान्त्रिक कारण न मानकर लक्ष्य या उद्देश्य-कारण माना है। इस प्रकार, काल के अनुसार तो नहीं, पर तार्किक विचार से ईश्वर जगत् का आदि कारण अवश्य है। जिस प्रकार जगत् का कोई आदि नहीं, उसी प्रकार उसका कोई अन्त भी नहीं है। वह सर्वदा रहा है और सर्वदा रहेगा। इसका अन्त निरपेक्ष स्वरूप (Absolute Form) है, पर इसको प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि इसकी सिद्धता सम्भव मान ली जाय तो इसका अर्थ होगा निरपेक्ष स्वरूप का अस्तित्व सम्भव है। द्रव्य से पृथक् निरपेक्ष स्वरूप के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

ईश्वर विज्ञान-रूप है। पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह किस वस्तु का विज्ञान है? निरपेक्ष स्वरूप होने के कारण यह द्रव्य का स्वरूप नहीं हो सकता; यह **स्वरूप का स्वरूप** (Form of Form) है। स्वरूप ही उसका द्रव्य है। अब प्रश्न है कि स्वरूप क्या है? एरिस्टॉटल के अनुसार यह सामान्य या प्रत्यय है। प्रत्ययात्मक होने के कारण स्वरूप विज्ञान-रूप भी है। इस प्रकार हम एरिस्टॉटल द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की सुप्रसिद्ध परिभाषा पर पहुँचते हैं; **ईश्वर विज्ञान का विज्ञान है** (God is the thought of thought)। ईवर अपने विज्ञानों के विषय में ही चिन्तन करता है। वे अपनी चिन्तन-प्रक्रिया के विषय और विषयी दोनों युग पद हैं। वे आत्म-ज्ञान-स्वरूप (Self-Consciousness) हैं। ईश्वर अपने से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं कर सकते, क्योंकि ईश्वर से पार कोई अन्य वस्तु है ही नहीं। ईश्वर विकास की चरम सीमा है। यदि ईश्वर अपने से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का चिंतन करते हैं तो वे उस वस्तु द्वारा सीमित हो जायेंगे और फिर उन्हें "पूर्ण

सिद्ध'' कभी भी नहीं कहा जा सकता। ईश्वर, विकास-क्रम की पराकाष्ठा है, इस कारण वे किसी अन्य वस्तु का चिन्तन न कर केवल अपने विज्ञानों का ही चिन्तन करते हैं। पुनः, एरिस्टॉटल ने ईश्वर को नित्य **आनन्द-स्वरूप** (Eternal Blessedness) भी माना है। जो पूर्ण है, सिद्ध है और जिसमें विकास की चरम सीमा है, उसमें किसी वस्तु का अभाव कदापि नहीं पाया जायगा। जिसमें अभाव का अभाव है, वह आनन्द-स्वरूप अवश्य ही होगा। यही ईश्वर के नित्य-आनन्द स्वरूप होने का रहस्य है। इस प्रकार एरिस्टॉटल का ईश्वर चित् और आनन्द-स्वरूप है।

अब प्रश्न यह है कि क्या एरिस्टॉटल का ईश्वर एक **पुरुष-विशेष** (Person) है? पुरुष-विशेष के भीतर वैयक्तिकता और 'सत्ता' इन दो प्रत्ययों का समावेश पाया जाता है। पर ईश्वर में इन दोनों तत्त्वों का अभाव पाया जाता है। प्रथम ईश्वर निरपेक्ष-स्वरूप हैं। स्वरूप, सामान्य या प्रत्ययात्मक होता है। जो विशुद्ध सामान्य स्वरूप है और जिसमें विशेष तत्त्व का सर्वथा अभाव पाया जाता है, वह व्यक्ति-विशेष (Individual) किस प्रकार हो सकता है? दूसरी बात यह है कि बिना द्रव्य के स्वरूप का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ईश्वर स्वरूप-मात्र ही हैं जिसमें द्रव्य का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है; इस प्रकार पार्थिव अस्तित्व सम्भव नहीं। जब ईश्वर का न तो कोई व्यक्तित्व है और न पार्थिव अस्तित्व ही है, तो वे पुरुष-विशेष किस प्रकार कहे जा सकते हैं। परम सत्ता को पार्थिव स्तर पर प्रतिष्ठित करने का अर्थ है सामान्य को विशेष रूप में परिवर्तन करना, जिसके लिए एरिस्टॉटल ने प्लेटो का इतना विरोध किया। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एरिस्टॉटल के ईश्वर **पुरुष-विशेष नहीं** हैं।

संक्षेप में—ईश्वर विज्ञान-रूप हैं, पर किसी वैयक्तिक मन के विज्ञान नहीं। वे वस्तुनिष्ठ और स्वतन्त्र चेतन-रूप हैं। वे पूर्ण और आनन्द-स्वरूप हैं। वे चित् और आनन्द-रूप तो हैं, पर अस्तित्ववान् नहीं है। प्लेटो ने गलती यह की कि उन्होंने सोचा कि यदि विज्ञान वास्तविक और वस्तुनिष्ठ हैं तो उनका अस्तित्ववान् होना अनिवार्य है। एरिस्टॉटल के अनुसार इसकी आवश्यकता नहीं है। केवल द्रव्य ही अस्तित्ववान् हो सकता है और जो विशुद्ध स्वरूप है, उसका अस्तित्ववान् होना आवश्यक नहीं।

नीति-विज्ञान

निकोमेशियन एथिक्स (Nicomachean Ethics) में एरिस्टॉटल ने अपने नीति-सम्बन्धी विचारों को अन्तिम रूप दिया है। प्रोट्रेप्टिकस (Protrepticus) में प्लेटो के द्वैतवाद का ही अनुमोदन किया गया है। यूडेमियन एथिक्स (Eudemean Ethics) में जो, इन दोनों के बीच की रचना है, ईश्वर को ही परम-शुभ माना गया है और इसी को जीवन का आदर्श मानकर व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है। निकोमेशियन एथिक्स की विशेषता यह है कि इसके निष्कर्ष किसी अतीन्द्रिय ज्ञान के ऊपर आधारित न होकर मानव-जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव और विश्लेषण पर ही आधारित है। इसमें मानव-आत्मा का यथार्थ विश्लेषण किया गया है। एरिस्टॉटल ने निकोमेशियन एथिक्स में मानव-आत्मा के बौद्धिक और अबौद्धिक

दोनों भागों पर समान बल दिया है और उसके सामञ्जस्य द्वारा पूर्णता प्राप्त करने का विधान प्रस्तुत किया है।

सभी मानवीय व्यवहारों का एक मात्र उद्देश्य प्रसन्नता या आत्म-प्रसाद (Happiness) की प्राप्ति है। संसार में आत्म-प्रसाद ही ऐसी एक वस्तु है जिसको लोग साधन-रूप में इच्छा न कर 'साध्य' रूप में इच्छा करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस आत्म-प्रसाद का मानदण्ड क्या है जिसके आधार पर हम प्रसन्नता की मात्रा को ठीक प्रकार से निर्धारित कर सकें? एरिस्टॉटल के अनुसार आत्म-प्रसाद किसी आत्मनिष्ठ भावना द्वारा निर्धारित न होकर जीवन की वस्तुनिष्ठ विशेषताओं द्वारा निर्धारित होता है। **यूडेमोनिया** (Eudaemonia) का **अर्थ सौन्दर्य और अस्तित्व की पूर्णता** है। इस पूर्णता से व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होता है, वह आत्म-प्रसाद नहीं है, बल्कि आत्म-प्रसाद का परिणाम है। सुख मानवीय व्यापारों का न तो अन्तिम लक्ष्य है और न उनके मूल्य का परिमाण। प्रत्येक जीवित प्राणी का मंगल उसके व्यवहार की पूर्णता में निहित होता है; इसी प्रकार मानव का कल्याण भी मानवीय व्यापारों की पूर्णता में ही निहित है। मानवीय व्यापारों की पूर्णता विचारमय (Rational) जीवन व्यतीत करने से उत्पन्न होती है। बुद्धि और कर्म का सामंजस्य ही विचारमय जीवन है। इसी को धर्म (Virtue) या नैतिक गुण भी कहते हैं। इस प्रकार धर्म के अनुसार आचरण करने के सामर्थ्य को ही प्रसन्नता या आत्म-प्रसाद कहा जाता है। बुद्धि के सामान्य मापदण्ड के अनुसार, इच्छाओं में ही धर्म का निवास है और यही प्रसन्नता भी है।

एरिस्टॉटल ने विचारमय जीवन को कर्ममय जीवन से श्रेष्ठ माना है।[1] चिन्तन कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वास्तविक आत्मा बुद्धिप्रधान है। चिन्तन की सक्रियता बुद्धिप्रधान आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति है और यही आत्म-प्रसाद भी है। पर सैद्धान्तिक बुद्धि-व्यापार के साथ-साथ एक व्यावहारिक बुद्धि-व्यापार—नैतिक धर्म—भी है जो हमारे जीवन का कम आवश्यक अंग नहीं है। व्यावहारिक बुद्धि की महत्ता आदर्श और यथार्थ में समन्वय करने की क्षमता पर निर्भर करती है अथवा **मध्यम मार्ग** (Golden Mean) के चयन करने की शक्ति में। इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के बुद्धि-व्यापारों की पूर्णता में ही आत्म-प्रसाद निहित है। इनके अतिरिक्त, एरिस्टॉटल ने 'प्रसन्नता' के कुछ और आवश्यक अंगों का वर्णन किया है। प्रसन्नता के लिए जीवन की पूर्णता या परिपक्वता भी आवश्यक है। एक अबोध बालक को प्रसन्नता की वास्तविक अनुभूति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें व्यावहार की पूर्णता की क्षमता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त धन, शक्ति और प्रभाव भी प्रसन्नता की वृद्धि करते हैं। पर इनको प्रसन्नता के अनिवार्य अंग नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनके बिना भी यदि कोई व्यक्ति चाहे तो प्रसन्नता का लाभ कर सकता है। धन, शक्ति, सौन्दर्य इत्यादि प्रसन्नता के आनुषंगिक कारण हैं; प्रसन्नता का भावात्मक या उपादान कारण केवल अन्तरस्थ चरित्र की उत्कृष्टता ही है जिसका वाह्य प्रकाशन कर्त्तव्य रूप में होता है। किसी धर्मनिष्ठ व्यक्ति का परम दुर्भाग्य भी उसे प्रसन्नता के मार्ग से विचलित

---

1. मेटा०, ए०, 1072 बी०, 24

नहीं कर सकता, यद्यपि वह उसके मार्ग में व्यवधान अवश्य उपस्थित कर सकता है। सुखवादियों के अनुसार 'सुख' (Pleasure) ही जीवन का परम लक्ष्य है, पर एरिस्टॉटल के अनुसार सुख न तो प्रसन्नता का कोई अनिवार्य और स्वतन्त्र अंग है और न जीवन का उद्देश्य; सुख पूर्ण और प्रसन्न जीवन का एक प्रतिफल मात्र ही है। जब कभी किसी व्यवहार की पूर्णता प्राप्त होगी, फलस्वरूप सुख अवश्य उत्पन्न होगा।[1] इस प्रकार 'सुख' उतना हेय और तिरस्कार के योग्य नहीं है जितना प्लेटो ने समझा था। एरिस्टॉटल के अनुसार धर्मात्मा वही है जो शुभ और सौन्दर्य की पूर्णता से बिल्कुल सन्तुष्ट हो और जो इस परितुष्टि की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वस्तु का सहर्ष बलिदान करने की क्षमता रखता हो।[2] पूर्णता, धर्म, प्रसन्नता, सुख इत्यादि साथ-साथ निवास करते हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रसन्नता दो बातों पर आधारित है—1. विचार और 2. संकल्प जिन्हें क्रमशः बौद्धिक (Dianoetic) और नैतिक (Ethical) गुण कहते हैं। इनमें केवल नैतिक गुण ही नीति-विज्ञान के कार्य क्षेत्र में आते हैं। ''नैतिक गुण'' तीन प्रमुख विशेषताओं का विधान है—

1. संकल्प (Will)—जो मनुष्य के स्वभाव के अनुसार सर्वदा मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करता है;

2. बुद्धि या विचार (Reason)—जो मानवीय व्यवहार को नैतिक मानदण्डों और आदर्शों के समीप रखता है;

3. नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ (Propensities)—ये हमारे सद्‌गुणों के उपादान हैं। ये हमारे जीवन के यथार्थ हैं। इन्हीं के कारण ही हमारे मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं जिनको दूर करने के लिए संकल्प करने की आवश्यकता होती है। यदि नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही नहीं होंगी तो बुद्धि किसका नियमन और निर्देशन करेगी और किस प्रकार सद्‌गुणों की उत्पत्ति होगी? बुद्धि के मानदण्डों द्वारा नैसर्गिक प्रवृत्तियों का नियमन कर संकल्प-शक्ति से मध्यम-मार्ग का अनुसरण करना ही सद्‌गुण या धर्म है। यह कार्य हमारी व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) द्वारा संपादित किया जाता है।

□□

---

1. एथि, X, 7, 1178 बी०
2. वही, I, 5-11; 1, 9; VII, 12-15

2

बुद्धिवाद
(Rationalism)

बुद्धिवाद वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है जिसके अनुसार बुद्धि ही वास्तविक ज्ञान का एकमात्र स्त्रोत है। बुद्धिवाद की मान्यता यह है कि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रियानुभव द्वारा कदापि नहीं हो सकती। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान सदा सापेक्षिक एवम् परोक्ष ज्ञान होता है। इसे वास्तविक ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल बुद्धि-प्रत्ययों (Apriori Concepts) द्वारा ही सम्भव है। मनुष्य की बुद्धि को जन्म से ही कुछ मौलिक सत्यों की जानकारी होती है जिनके विश्लेषण एवम् संश्लेषण से वह जगत के विषय में नवीन ज्ञान की सृष्टि कर सकता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट्स, स्पिनोजा एवम् लाइब्नित्ज़ बुद्धिवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक कहे जाते हैं।

1. रेने डेकार्ट्स
(Rene Descartes 1596-1650)

जीवन-वृत्त—डेकार्ट्स बुद्धिवाद एवम् आधुनिक दर्शन के जनक कहे जाते हैं। उनका जन्म 31 मार्च 1596 ई० में फ्रान्स के तुरेन नामक नगर में एक धनी और कुलीन परिवार में हुआ था। उनकी गणित, मानविकी एवम् दर्शन शास्त्र में विशेष रुचि थी। पर गणित के अध्ययन से उनकी जिज्ञासा जितनी तृप्त होती थी उतनी अन्य विषयों के अध्ययन से नहीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि केवल गणित ही एक ऐसा विषय है जिसके निष्कर्षों में अनिवार्यता, निश्चयात्मकता, निर्विवादिता एवम् प्रामाणिकता का भाव पाया जाता है। डेकार्ट्स को इस बात पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि गणित की सुदृढ़ आधार शिला पर किसी प्रामाणिक विज्ञान का प्रासाद अब तक क्यों नहीं खड़ा किया गया। अब उन्होंने अपना सारा समय गणित के सुदृढ़ आधार पर एक ऐसे विज्ञान की रचना में लगाया जिसके भीतर गणित की अनिवार्यता एवम् भौतिक विज्ञानों की प्रामाणिकता दोनों पाई जाती हो। उनका बुद्धिवादी दर्शन इसी अपूर्व समन्वय की तार्किक परिणति है। वे गणित के क्षेत्र में निर्देशांक ज्यामिति (Co-ordinate Geometry) के जनक माने जाते हैं जिसमें ज्यामितिक समस्याओं के समाधान के लिए बीजगणित (Algebra) के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

रचनाएँ—डेकार्ट्स की रचनाओं में बुद्धि के निर्देश के नियम (Rules for the Direction of the Mind 1528), जगत (Le Monde 1630), प्रणाली का विमर्श (Discourse on Method 1637), इत्यादि पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त प्राथमिक दर्शन की साधना (Meditations on First Philosophy 1641) एवम् दर्शनशास्त्र के मूल सिद्धान्त 1644 नामक ग्रन्थ उनके द्वारा प्रकाशित कराए गए जो डेकार्ट्स के दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं।

डेकार्ट्स की दार्शनिक प्रणाली (Philosophical Method of Descartes)

डेकार्ट्स की दार्शनिक प्रणाली का विस्तारपूर्वक वर्णन उनके "बुद्धि के निर्देश के लिए नियम" नामक ग्रन्थ में हुआ है। इसका संक्षिप्त वर्णन "प्रणाली का विमर्श", "प्राथमिक दर्शन की साधना" तथा "दर्शन के मूल सिद्धान्त" में भी हुआ है। पर डेकार्ट्स की दार्शनिक प्रणाली समझने के पहले हमे मानव-ज्ञान के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। डेकार्ट्स विशुद्ध बुद्धिवादी थे। वे प्रभुत्व (Authority) एवम् परम्परा (Tradition) के सदा विरोधी रहे हैं। उनके दर्शन की दो पूर्व धारणाएँ थीं जिन पर उनका अटूट विश्वास था—

(i) मानवीय बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है।

(ii) मानवीय बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान को अयथार्थ से पृथक करने की कसौटी भी विद्यमान है।

उपर्युक्त दोनों क्षमताओं को डेकार्ट्स ने बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश (Natural Light of Reason) कहा है। इस बुद्धि के दो व्यापार हैं—प्रथम प्रतिभान (Intuition) एवम् द्वितीय निगमन (Deduction)।

(1) प्रतिभान (Intuition)—"बुद्धि के निर्देश के नियम" में प्रतिभान को परिभाषित करते हुए डेकार्ट्स लिखते हैं "प्रतिभान से हमारा तात्पर्य न तो इन्द्रियों के अस्थिर साक्ष्य से है और न इस भ्रामक निर्णय से है जो दोषपूर्ण कल्पना-विधान से उत्पन्न होता है, वरन् उस धारणा से है जिसे विशुद्ध और सावधान बुद्धि इतनी तत्परता और सुभिन्नता से हमें प्रदान करती है कि उसके विषय में कोई सन्देह या अनिश्चितता नहीं रह जाती हैं।"[1]

इस प्रकार प्रतिभान एक बौद्धिक दर्शन है। यह स्पष्ट ज्ञान है। किन्तु यह न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न काल्पनिक ज्ञान ही। प्रत्यक्ष तथा कल्पना स्वतः प्रामाणिक नहीं होते पर प्रतिभान स्वयंप्रकाश तथा स्वतः प्रामाणिक होता है। यह अकाट्य तथा असंदिग्ध ज्ञान है। प्रतिभान बुद्धि का निरीक्षण (Inspectio Mentis) है। अतः इसमें त्रुटि की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। प्लेटो ने भी शारीरिक प्रत्यक्ष एवम् बौद्धिक ज्ञान में भेद करते हुए कहा था कि तत्त्व का वास्तविक ज्ञान आत्म-चक्षु (Eye of the Soul) द्वारा ही हो सकता है। डेकार्ट्स ने इसी को प्रतिभान की संज्ञा दी है। प्रतिभान के उदाहरण निम्न हैं—आकृति, विस्तार, गति इत्यादि का ज्ञान, $2+2 = 4$, तथा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान, त्रिभुज तीन सरल रेखाओं से घिरी आकृति है इत्यादि का ज्ञान।

प्रतिभान की आगे व्याख्या करते हुए डेकार्ट्स कहते हैं कि यह स्वतः सिद्ध ज्ञान है जो किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। स्वयं प्रमाणों की सत्ता इस स्वतः सिद्ध सत्य से सिद्ध होती है। यदि स्वतः सिद्ध सत्य न हो तो प्रमाणों का अस्तित्व ही न रहे। प्रतिभान मौलिक नियम होते हैं। इन नियमों के द्वारा ही प्रमाणों में प्रमाणत्व आता है। यदि इन नियमों

---

1. "By intuition I understand not the fluctuating testimony of the senses, nor the misleading judgement that proceeds from the blundering constructions of imagination but the conception which an unclouded and attentive mind gives us so readily and distinctly that we are wholly freed from doubt about that which we understand."

को भी किसी अन्य नियम से सिद्ध करने की आवश्यकता स्वीकार की जाय तो उसमें अनवस्था दोष अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। अतः, बुद्धि के इन आधारभूत मौलिक नियमों को स्वतः सिद्ध सत्य मानना पड़ता है। इस स्वतः सिद्ध सत्य का ज्ञान हमें निर्विकल्प बुद्धि द्वारा होता है जिसे डेकार्ट्स ने प्रतिभान की संज्ञा दी है।

(2) **निगमन (Deduction)**—निगमन प्रतिभान से भिन्न होता है। प्रतिभान स्वतः सिद्ध होता है किन्तु निगमन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। प्रतिभान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है पर निगमन परोक्ष ज्ञान है क्योंकि निगमन प्रतिभान पर आधारित है। प्रतिभान पर आश्रित होने के कारण निगमन उतना ही सत्य और अकाट्य होता है जितना कि प्रतिभान। उदाहरण के लिए 4+5 = 9 एक प्रतिभान है ; 3+6 = 9 एक दूसरा प्रतिभान है ; 4+5 एवम् 3+6 दोनों अभिव्यञ्जक एक ही संख्या 9 के बराबर होने के कारण परस्पर बराबर होंगे, यह भी एक प्रतिभान है। पर 4+5 = 3+6 निगमन है जो कई प्रतिभानों द्वारा व्युत्पन्न है। प्रतिभानों द्वारा उत्पन्न होने के कारण यह उतना ही सत्य अकाट्य और प्रामाणिक है जितना कि स्वयं प्रतिभान।

डेकार्ट्स के अनुसार आधार-वाक्य का तो प्रतिभान द्वारा ज्ञान होना ही चाहिए साथ-साथ **अनुमान-प्रक्रिया** (Inferential Step) का भी प्रतिभान द्वारा पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जब तक इस अनुमान-प्रक्रिया का प्रतिभान द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तब तक निगमन सम्भव नहीं हो सकता। इस मत के विरुद्ध कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि अनुमान-प्रक्रिया तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि आधार-वाक्य और निष्कर्ष वाक्य दोनों का हमें पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता। पर यह तर्क अनुमान-प्रक्रिया को ही व्यर्थ एवम् अनावश्यक सिद्ध कर देता है। जब हमें निष्कर्ष वाक्य का पहले ही पूर्ण ज्ञान हो जायेगा तो हम अनुमान-प्रक्रिया प्रारम्भ ही क्यों करेंगे ? अतः इससे निष्कर्ष निकलता है कि अनुमान-प्रक्रिया का ज्ञान आधार-वाक्य व निष्कर्ष वाक्य के ज्ञान से पूर्णतया स्वतन्त्र है। अतः **वह पद्धति जो स्वयं प्रतिभान पर आधारित है तथा जिसके द्वारा हम प्रतिभान द्वारा स्थापित आधार-वाक्य से कोई निष्कर्ष-वाक्य व्युत्पन्न करते हैं, निगमन कही जाती है।**

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि डेकार्ट्स के लिए निगमन कोई तर्क (Argument) अथवा अनुमान (Inference) नहीं है वरन् किसी वाक्य के अवबोध (Understanding) की एक प्रणाली है। यह **उपपत्ति-विधि** (Method of Proof) न होकर एक **सरलीकरण-विधि** (Method of Simplification) है। अतः हम कह सकते हैं कि **निगमन प्रतिभान का ही एक परिवर्धित रूप है।** दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है वह यह है कि डेकार्ट्स अवबोध (Understanding) व ज्ञान (Knowledge) के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किसी वाक्य के अवबोध या ज्ञान का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि हमें उसका साधारण ज्ञान हो जाय वरन् उसका वास्तविक अर्थ यह है कि उस वाक्य की यथार्थता या अयथार्थता दोनों का साथ ज्ञान होना चाहिए। यह बिलकुल असम्भव है कि हमें किसी बात का ज्ञान हो और हम उसकी यथार्थता या अयथार्थता के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ रहें।

प्रतिभान एवम् निगमन इन दो व्यापारों के साथ डेकार्ट्स ने बुद्धि एक के एक तीसरे व्यापार का भी वर्णन किया है जिसे **आगमन** (Induction) का नाम दिया जाता है। पर इस

शब्द का प्रयोग उन्होंने एक विशिष्ट अर्थ में किया है। साधारणतया आगमन एक प्रत्यक्षमूलक या प्रयोगमूलक प्रणाली होती है जिसमें हम कुछ विशिष्ट तर्क-वाक्यों के आधार पर एक सामान्य तर्क-वाक्य का निष्कर्षण करते हैं। इसके विरुद्ध डेकार्ट्स का आक्षेप यह है कि यह प्रणाली निगमनात्मक प्रणाली पर निर्भर होती है और उसी के निर्देश में कार्य करती है। बिना पूर्व सामान्य ज्ञान के विशेषों से सामान्य की ओर हम अग्रसर हो ही नहीं सकते। उनका दूसरा आक्षेप यह है कि आगमन हमें निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति न कराकर केवल सम्भाव्य ज्ञान की ही प्राप्ति कराता है। अतः डेकार्ट्स इस साधारण अर्थ में आगमन शब्द का प्रयोग नहीं करते। उनके अनुसार आगमन का वास्तविक अर्थ है—**बुद्धि द्वारा स्वयं-सिद्ध नियम और निगमन-क्रमों की परिगणना करना**।

संशयात्मक प्रणाली (Method of Doubt)

ऊपर हमने देखा कि प्रतिभान एवम् निगमन डेकार्ट्स की दार्शनिक प्रणाली के अनिवार्य अंग हैं। पर इन्हें विशुद्ध रूप में प्रयोग करना हमारे लिए कठिन ही है। इसका कारण यह है कि शरीर हमारी बुद्धि को प्रभावित कर इसे विकृत कर देता है। इस विकृति के कारण बुद्धि को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तविक ज्ञान न होकर भ्रम या विपर्यय ही होता है। इसका परिणाम यह होता है कि बुद्धि निगमनात्मक प्रणाली का सम्यक् प्रयोग नहीं कर पाती। बुद्धि का सम्यक् प्रयोग तभी सम्भव है जबकि बुद्धि निर्भ्रान्त और स्वस्थ हो। अतः बुद्धि को सत्त्वशुद्ध करना अथवा उसे भ्रमों और पूर्वाग्रहों से मुक्त करना डेकार्ट्स की निगमनात्मक प्रणाली की प्रथम शर्त है। ब्रिटिश दार्शनिक फ्रान्सिस बेकन ने भी अपना दर्शन प्रारम्भ करने के पूर्व अपने चिन्तन को अन्धविश्वासों (Idols) से मुक्त रखने की चेष्टा की थी। इसी क्रम में डेकार्ट्स ने भी अपने विचारों को पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने के लिए **सुव्यवस्थित संशय** (Methodic Doubt) का सहारा लिया। इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपने सभी मतों पर तब तक संशय करना चाहिए जब तक कि हम उनकी प्रामाणिकता के प्रति आश्वस्त न हो जाँय। उनका संशय संशयवादियों (Sceptics) का संशय नहीं है जिनके लिए संशय साधन न होकर साध्य होता है। डेकार्ट्स का संशय असंदिग्ध ज्ञान का केवल साधन है। अतः यह वितण्डावाद न होकर ज्ञान प्राप्ति का अचूक साधन है।

संशयात्मक प्रणाली के नियम—डेकार्ट्स ने वैध एवम् प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी संशयात्मक प्रणाली के कुछ सूत्रों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिनका विस्तृत वर्णन उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक **प्रणाली का विमर्श** (Discourse on Method) में पाया जाता है। इन सूत्रों को निम्न चार महत्त्वपूर्ण सूत्रों में घटित किया जा सकता है—लक्षण-सूत्र, विश्लेषण-सूत्र, संश्लेषण-सूत्र एवम् समाहार-सूत्र।

(1) **लक्षण-सूत्र**—डेकार्ट्स ने इस सूत्र को निम्न रूप में व्यक्त किया है—

"जिस वस्तु को मैं प्रामाणिक रूप में सत्य नहीं जानता उसे सत्य न मानना अर्थात् सावधानी से उतावलेपन और पूर्वाग्रह से दूर रहना तथा अपने निर्णयों में किसी ऐसी वस्तु को शामिल न करना जो बुद्धि के समक्ष स्पष्ट और सुभिन्न रूप से प्रगट न हो और जिस पर संशय करने की गुंजाइश रहे।"[1]

1. डिस्कोर्स, भाग 2, पृ० 92।

इस सूत्र में सत्य ज्ञान का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। डेकार्ट्स के अनुसार **सुस्पष्टता** (Clearness) एवम् **सुभिन्नता** (Distinctness) सत्य ज्ञान के लक्षण हैं। जो ज्ञान स्पष्ट है उसके लिए अनिवार्य नहीं है कि वह सुभिन्न भी हो पर जो ज्ञान सुभिन्न है उसके लिए अनिवार्य है कि वह स्पष्ट भी हो। प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न दोनों होता है पर प्रत्यक्ष और कल्पना केवल स्पष्ट है वे सुभिन्न नहीं होते। संक्षेप में : **सावधान बुद्धि के समक्ष उपस्थित ज्ञान स्पष्ट ज्ञान है तथा निरपेक्ष वस्तु का ज्ञान सुभिन्न ज्ञान है।**

(2) **विश्लेषण-सूत्र**—डेकार्ट्स ने इस सूत्र को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

> "मुझे जिन समस्याओं का परीक्षण करना था उनमें से प्रत्येक को उतने भागों में बाँटना जितने उनके समाधान के लिए आवश्यक हैं।"[1]

इस नियम के अनुसार किसी मिश्रित वस्तु को अनेक भागों में बाँटा जाता है। विभाजन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि उसके भाग अविभाज्य या अविश्लेष्य न हो जाँय। इन अविश्लेष्यों का ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न होता है। इसी स्पष्ट और सुभिन्न ज्ञान के द्वारा पता चलता है कि वे अविश्लेष्य परम तत्त्व या मूल तत्त्व है जिनसे प्रस्तुत मिश्रित वस्तु का निर्माण हुआ है।

(3) **संश्लेषण-सूत्र**—डेकार्ट्स ने इस सूत्र को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

> "तीसरे अपने विचारों को एक क्रम में रखना। प्रथम उन वस्तुओं को रखना जो मौलिक हैं और जो सरलता से जानी जाती हैं। पुनः, क्रमशः उनसे क्लिष्ट वस्तुओं को रखना। उन वस्तुओं को भी इस क्रम में रखना जो वास्तव में इस क्रम में नहीं हैं। इस प्रकार सभी वस्तुओं को सरलता-क्लिष्टता के क्रम में रखना भले ही वह क्रम काल्पनिक ही क्यों न हो।"[2]

डेकार्ट्स की संशयात्मक प्रणाली विश्लेषणात्मक होने के साथ संश्लेषणात्मक भी है। विश्लेषण द्वारा हमें जिन मूल तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है उनसे हम क्रमशः निष्कर्ष निकालते हैं। निष्कर्षण की यह प्रक्रिया ज्यामितिक प्रणाली के क्रम में रखी जाती है। जिस प्रकार ज्यामितिक प्रणाली में सर्वप्रथम **स्वयंसिद्धियाँ** (Axioms) होती हैं और फिर उनसे **प्रतिज्ञाएँ** (Propositions) निकाली जाती हैं तथा जब वे प्रतिज्ञाएँ सिद्ध हो जाती हैं तब वे **प्रमेय** (Theorems) का रूप धारण कर लेती हैं ठीक उसी प्रकार डेकार्ट्स अपनी निगमनात्मक प्रणाली द्वारा मूल तत्त्वों के निष्कर्षों को संगठित करके अपने ज्ञान का प्रासाद खड़ा करता है। जिस प्रकार ज्यामिति में प्रमेयों को इस क्रम में रखा जाता है कि परवर्ती प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए पूर्ववर्ती प्रमेयों का उपयोग हो पर पूर्ववर्ती प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए परवर्ती प्रमेयों की सहायता न लेनी पड़े, ठीक उसी प्रकार डेकार्ट्स संश्लेषण सूत्र के आधार पर अपने विभिन्न ज्ञानों को क्रमबद्ध करता है। इस नवीन प्रणाली के निर्माण की प्रेरणा उन्हें ज्यामिति से मिली। सच पूछा जाय तो डेकार्ट्स ने ज्यामितिक प्रणाली का ही प्रयोग दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र में किया। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयास किया कि सत्य ज्ञान प्राप्त करने की यही एकमात्र प्रणाली हो सकती है।

---

1. वही।
2. डिस्कोर्स, भाग 2 पृ० 92।

(4) **समाहार-सूत्र**—डेकार्ट्स ने इस सूत्र को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"अन्त में, प्रत्येक प्रसंग में आगमन को इतना पूर्ण बनाना और परीक्षण को इतना व्यापक बनाना कि मुझे विश्वास हो जाय कि कोई वस्तु छूट नहीं गई।"[1]

उपर्युक्त चार औपचारिक सूत्रों में प्रथम एवम् द्वितीय सूत्र वैज्ञानिक अनुसंधान के सूत्र हैं। तृतीय सूत्र वैज्ञानिक उपपत्ति अथवा निदर्शन (Demonstration) का सूत्र है। चौथा सूत्र पहले के तीनसूत्रों का पुनर्परीक्षण है जिसके द्वारा बुद्धि प्रातिभ ज्ञान द्वारा ज्ञान की अखण्डता और समरसता के प्रति आश्वस्त होती है। इस प्रक्रिया द्वारा बुद्धि यह जानने का प्रयत्न करती है कि उसने किसी क्रम या सोपान की उपेक्षा तो नहीं की है। इसमें बुद्धि सभी स्वयं सिद्ध सत्यों और निगमन-क्रमों की परिगणना (Enumeration) करती है जिससे कि अन्तिम निष्कर्ष में किसी भी प्रकार की त्रुटि शेष न रह जाय। डेकार्ट्स ने इसे **आगमन** (Induction) की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त संशयात्मक प्रणाली का प्रयोग डेकार्ट्स ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में किया है।

आत्मा का अस्तित्व
(Existence of Self)

डेकार्ट्स ने अपनी संशयात्मक प्रणाली द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सफलतापूर्वक सिद्ध किया है। इस प्रणाली के द्वारा हम असंदिग्ध, निश्चयात्मक और सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। पर इस निश्चयात्मक और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के पहले यह आवश्यक है कि जगत में जो अनिश्चयात्मक या संदिग्ध ज्ञान है उसका निराकरण किया जाय। इस निराकरण या निषेध की प्रक्रिया को संपादित करने के लिए डेकार्ट्स ने **सन्देह-पद्धति** (Method of Doubt) का सहारा लिया। किसी भी दार्शनिक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के पूर्व हर प्रकार की पूर्वमान्यताओं व पूर्वधारणाओं से मुक्त होकर विचार करें। इसके लिए उनके प्रति संशय करने की आवश्यकता होती है। दर्शन का उद्गम संशय से होता है ऐसा डेकार्ट्स का विचार था। ग्रीक युग में प्लेटो ने कहा था—"**दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से होती है।**"[2] मध्ययुग के शास्त्रीय विचारकों का कथन था—"**ज्ञान की उत्पत्ति विश्वास से होती है।**"[3] पर आधुनिक युग में डेकार्ट्स ने उद्घोष किया कि "**ज्ञान की उत्पत्ति सन्देह से होती है।**"[4] डेकार्ट्स के पहले पाइरो (Pyrrho) और सेक्स्टस (Sextus) सन्देहवादी हो चुके हैं जिन्होंने दर्शन में सन्देह-पद्धति का अनुसरण किया था। पर उनकी सन्देह-पद्धति और डेकार्ट्स की सन्देह-पद्धति में पर्याप्त अन्तर है। पूर्व सन्देहवादियों ने सन्देह को अपना लक्ष्य, साध्य, उपेय अथवा गन्तव्य मान लिया था पर डेकार्ट्स ने सन्देह को केवल लक्षण, साधन, उपाय अथवा मार्ग के रूप में ही स्वीकार किया है। जो सत्य को साधन के रूप में स्वीकार करता है वह बुद्धिवादी सत्य तक पहुँचने में सफल हो जाता है

---

1. डिस्कोर्स, भाग 2 पृ० 92।
2. Philosophy begins in wonder.
3. Credo ut intelligam.
4. Dubito ut intelligam.

किन्तु जो सन्देहवादी सत्य को ही साध्य मान लेता है उसका विनाश निश्चित है। प्रसिद्ध उक्ति है—"संशयात्मा विनश्यति।" पर यह उक्ति डेकार्ट्स पर घटित नहीं होती क्योंकि उनका मूल मंत्र है **"संशयेन विजानाति, संशयात्मा विनश्यति।"** सन्देह डेकार्ट्स का केवल प्रस्थान-बिन्दु है, उनका गन्तव्य नहीं। वे विशुद्ध बुद्धिवादी है, सन्देहवादी (Sceptic) नहीं।

डेकार्ट्स की सन्देह-पद्धति का मूल मन्तव्य यह है कि जिस किसी वस्तु के प्रति सन्देह प्रकट किया जा सकता है अथवा जो वस्तु बाधित हो सकती है वह असत् है पर जिस वस्तु के प्रति सन्देह प्रकट नहीं किया जा सकता अथवा जो वस्तु किसी भी प्रकार बाधित नहीं हो सकती वह सत् है। अतः शंकराचार्य के समान वाधितत्व (Contradiction) असत् का लक्षण है पर **अबाधितत्व** (Non-Contradiction) **सत् का लक्षण है।** डेकार्ट्स ने जिस प्रकार सन्देह-पद्धति द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है वह दार्शनिक चिन्तन का एक प्रतिभान है।

अपने सन्देह-पद्धति की आगे व्याख्या करते हुए डेकार्ट्स कहते हैं कि यदि सम्पूर्ण विश्व को भ्रम के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी आत्मा का अस्तित्व तो रहेगा ही क्योंकि भ्रमित होने के लिए भी आत्मा की आवश्यकता होती है। भ्रम एक प्रकार का विषय है, उसकी सार्थकता की सिद्धि के लिए विषयी का अस्तित्व अनिवार्य है। वही आत्मा है। आत्मा के सम्बन्ध में डेकार्ट्स के निष्कर्षों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(1) डेकार्ट्स के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतः अप्रमाणित एवम् परतः प्रमाणित है। इन्द्रिय-प्रत्यक्षवादी प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत मानते हैं किन्तु डेकार्ट्स की मान्यता है कि प्रत्यक्ष सापेक्षिक ज्ञान होने के कारण कभी भी प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो सकता।

(2) जिस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान असत् होता है, उसी प्रकार तार्किक ज्ञान भी असत् ही होता है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि कभी-कभी हम तर्क करने में गलती कर बैठते हैं। यदि एक बार भी तर्क में कोई त्रुटि हो जाती है तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि तर्क में कोई स्वाभाविक दोष अवश्य है। अतः डेकार्ट्स के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के समान तर्क भी स्वतः अप्रमाणित व परतः प्रमाणित होता है।

(3) डेकार्ट्स जागृत और स्वप्न जगत वस्तुओं में भेद नहीं करते। दोनों ही ज्ञेय रूप हैं और दोनों में ही बाधित होने की योग्यता विद्यमान है। जागृत और स्वप्न दोनों जगत की वस्तुओं में अबाधितत्व (Non-Contradiction) का गुण नहीं पाया जाता। अतः वे दोनों असत् हैं।

(4) यदि अबाधितत्व को सत् का निकष मान लिया जाय तो आत्मा को ही एक मात्र सत् स्वीकार करना होगा क्योंकि संसार में यही एक ऐसी वस्तु है जिसमें पूर्ण रूप से अबाधितत्व का गुण पाया जाता है। आत्मा का कभी भी निषेध या अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके निषेध अथवा अपलाप से भी इसकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी सत्य को डेकार्ट्स ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है (Cogito Ergo Sum)। उपनिषदों में भी कहा गया है कि "द्रष्टा की दृष्टि का विलोप नहीं किया जा

सकता क्योंकि जो निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है।"[1]

(5) चैतन्य आत्मा का गुण नहीं वरन् उसका स्वभाव है क्योंकि चिन्तन करने से ही आत्मा की सत्ता प्रगट होती है। आत्मा केवल सत् ही नहीं वरन् चित् स्वरूप भी है।

(6) संसार में जो ज्ञेय अथवा विषय रूप वस्तुएँ हैं उनके प्रति भ्रम का प्रश्न उठ सकता है किन्तु आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में भ्रम के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि कोई महान शक्तिशाली ईश्वर अथवा दानव हमारे समक्ष भ्रम उत्पन्न कर रहा है, फिर भी आत्मा की सत्ता को तो स्वीकार करना ही होगा क्योंकि यदि मेरी आत्मा का अस्तित्व रहेगा तभी तो वह धोखा खा सकती है अथवा जब मेरी आत्मा रहेगी तभी तो उसे कोई धोखा दे सकता है।

(7) आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान ही ऐसा एकमात्र ज्ञान है जो अनिवार्य व निश्चयात्मक ज्ञान है क्योंकि उस ज्ञान में सत्य के दोनों निकष स्पष्टता एवम् सुभिन्नता पाए जाते हैं। "मैं चिन्तन करता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है" इस वाक्य का ज्ञान स्पष्ट एवम् सुभिन्न दोनों है। यह स्पष्ट ज्ञान इसलिए है क्योंकि यह प्रातिभा ज्ञान है। पुनः, यह सुभिन्न ज्ञान है क्योंकि यह मौलिक ज्ञान है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

आत्मा के अनिवार्य अस्तित्व के सम्बन्ध में डेकार्ट्स ने जो तर्क दिए हैं वे अकाट्य एवम् अद्वितीय हैं। भारतीय दर्शन में केवल शंकराचार्य से उनकी तुलना की जा सकती है। मध्ययुग के दार्शनिक सन्त आगस्टाइन ने भी इसी प्रकार आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया था। उन्होंने कहा था "यदि मैं अपना निराकरण करूँ तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य है : (Si Fallor Sum)"। केम्पानेला ने भी बहुत कुछ इसी प्रकार कहा था : "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मैं स्वयं सिद्ध हूँ।" डेकार्ट्स की यह उक्ति "मैं चिन्तन करता हूँ, अतः मेरा अस्तित्व अनिवार्य है" दर्शन शास्त्र का एक प्रमुख सूत्र हो गया है। लैटिन भाषा में इसे "कॉजिटो अर्गो सम" (Cogito Ergo Sum) कहते हैं। यदि संस्कृत भाषा में उपर्युक्त सूत्र का अनुवाद किया जाय तो वह इस प्रकार होगा : "चिन्तयामि, अतः, अस्मि।"

डेकार्टस के अस्तित्व सूत्र का विश्लेषण—डेकार्ट्स के अस्तित्व-सूत्र के विषय में परवर्ती दार्शनिकों में पर्याप्त भ्रान्त धारणाएँ हैं। कुछ लोग इसे निगमनात्मक तर्क मानते हैं तो अन्य लोग इसे आगमनात्मक तर्क के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। पर वास्तविकता यह है कि वह न तो निगमन है और न आगमन ही। वह विशुद्ध निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति है। उपर्युक्त सूत्र का यहाँ हम विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

(i) यदि "चिन्तयामि अतः, अस्मि" को एक निगमनात्मक तर्क के रूप में लिया जाय तो वह निम्न प्रकार का होगा—

सभी चिन्तनशील प्राणी अस्तित्ववान हैं,
मैं चिन्तनशील प्राणी हूँ।
अतः मैं अस्तित्ववान हूँ।

उपर्युक्त व्याख्या के विरुद्ध डेकार्ट्स की प्रतिक्रिया यह होगी कि यदि कि उपर्युक्त

1. नहि द्रष्टुर्द्रष्टेः विपरिलोपो विद्यते।
य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्॥

सूत्र को एक निगमनात्मक तर्क के रूप में लिया जाय तो वह कभी भी प्रामाणिक अथवा वैध तर्क नहीं होगा। इसका कारण यह है कि जिस निष्कर्ष को सिद्ध करना है उसी को साधन बनाकर व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है जैसा उपर्युक्त तर्क में किया गया है। अतः इस तर्क में **सिद्धसाधन-दोष** (Fallacy of Petitio Principii) पाया जाता है। द्वितीय, निगमन सदा ज्ञात क्षेत्र में ही कार्य करता है, वह हमें ज्ञात से अज्ञात की ओर कभी भी नहीं ले जा सकता। पर "चिन्तयामि अतः अस्मि" एक नवीन ज्ञान है जो निगमन से कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(ii) तार्किक प्रत्यक्षवादी डेकार्ट्स के सूत्र को एक आगमनात्मक तर्क के रूप में ग्रहण करते हैं जिनके अनुसार हम अपने विभिन्न क्षणिक चैतन्यों को संकलित कर एक क्षणिक आत्मा का निर्माण कर लेते हैं। पर डेकार्ट्स का अस्तित्व सूत्र कोई आगमन नहीं है क्योंकि आगमन द्वारा किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती जब कि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान एक निश्चयात्मक ज्ञान है जिसका निषेध असम्भव है।

(iii) वास्तव में डेकार्ट्स का मौलिक सूत्र न तो निगमनात्मक तर्क है और न आगमनात्मक तर्क। यह तर्क अथवा अनुमान है ही नहीं। यह एक **निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति है** (Sum Cogitans)। इसे किसी हेत्वानुमान के आधार-वाक्य और निष्कर्ष वाक्य में घटित नहीं किया जा सकता। यह दो वाक्यों का मिश्रण नहीं अथवा दो वाक्यों का कोई संयुक्त वाक्य नहीं है। यह एक मूल सत्य (Basal Truth) है। "चिन्तयामि, अतः अस्मि" में "अतः" निष्कर्ष का द्योतक न होकर समानाधिकरण्य का द्योतक है। वह यह प्रदर्शित करता है कि चिन्तयामि का अर्थ अस्मि है तथा अस्मि का अर्थ चिन्तयामि है। इस उक्ति का सीधा अर्थ है : **चैतन्य सत्** है। यह न कोई निगमन है और न आगमन बल्कि प्रतिभान है। यह यौक्तिक ज्ञान न होकर विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है। इसका व्यापक अर्थ यह है कि चेतना, उसकी सत्ता तथा चेतना और उसकी सत्ता का सम्बन्ध सब एक ही अखण्ड प्रातिभ ज्ञान के घटक हैं। इन्हें तीन घटकों में विभाजित भी नहीं किया जा सकता। वे वास्तव में एक ही हैं। अद्वैत वेदान्त की भाषा में "चिन्तयामि, अतः अस्मि" को चित् और सत् का तादात्म्य कहा जा सकता है। किन्तु डेकार्ट्स और अद्वैत वेदान्त में स्पष्ट अन्तर यह है कि जहाँ डेकार्ट्स केवल चित् और सत् के बीच अभेद सम्बन्ध स्वीकार करता है वहाँ अद्वैत वेदान्त चित्, सत् व आनन्द के बीच अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

आत्मा की आगे व्याख्या करते हुए डेकार्ट्स कहते हैं कि आत्मा **ज्ञाता या पुरुष** (Spirit or Ego) है जो सदा विषयी है ; वह किसी ज्ञान का विषय कदापि नहीं बन सकता। यहाँ आत्मा के चैतन्य से उनका तात्पर्य केवल बौद्धिक चैतन्य से नहीं है ; इसके भीतर ज्ञान, संवेग, संवेदन एवम् इच्छा इत्यादि अन्य मानसिक क्रियाएँ भी शामिल हैं। वे सभी चैतन्य के विविध पर्याय (Modi Cogitandi) हैं। इसके अतिरिक्त डेकार्ट्स आध्यात्मिक बहुलवाद (Spiritual Pluralism) में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार आत्मा एक नहीं वरन् अनेक है। वह विशुद्ध आत्मा नहीं वरन् जीवात्मा है। वह परिमित व परिच्छिन्न है।

ईश्वर का अस्तित्व
(Existence of God)

केवल अपनी आत्मा का ज्ञान ही स्पष्ट और सुभिन्न नहीं है। अन्य आत्माओं का ज्ञान भी उतना ही स्पष्ट और सुभिन्न हो सकता है जितना अपनी आत्मा का ज्ञान। पर अन्य सत्ताओं के ज्ञान प्राप्त करने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि आत्मा के पास कितने प्रकार के विज्ञान पाए जाते हैं। डेकार्ट्स के अनुसार आत्मा के पास दो प्रकार के विज्ञान पाए जाते हैं : **1. सार्थक विज्ञान** (Significant Ideas) और **2. काल्पनिक विज्ञान** (Fictitious Ideas)। सार्थक विज्ञान वे विज्ञान हैं जो बाह्य कारणों द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। किन्तु काल्पनिक विज्ञान वे विज्ञान हैं जिन्हें आत्मा स्वयं उत्पन्न करती है। पुनः, सार्थक विज्ञान भी दो प्रकार के होते हैं : (अ) **आजानिक** अथवा **जन्मजात विज्ञान** (Innate Ideas) एवम् (ब) **आगन्तुक विज्ञान** (Adventitious Ideas)। जन्मजात विज्ञान वे विज्ञान हैं जो आत्मा में पहले से ही निगूढ़ होते हैं और वे आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे ज्ञात होते हैं। इसके विपरीत, आगन्तुक विज्ञान वे विज्ञान हैं जो बाह्य संसार की सीमित अथवा परिच्छिन्न वस्तुओं द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इस विज्ञान के भीतर सम्पूर्ण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विज्ञानों को समाहित किया जा सकता है। वैसे तो सभी विज्ञान मानसिक होते हैं पर उनमें वस्तुतः कुछ भेद पाया जाता है। उनमें से कुछ बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ किन्हीं बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते। जो विज्ञान बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें से कुछ अधिक वास्तविक हैं (जन्मजात) तथा कुछ कम वास्तविक है (आगन्तुक)।

जन्मजात प्रत्ययों में एक प्रत्यय ईश्वर का प्रत्यय है। यह परम तत्त्व ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यह परम् तत्त्व ईश्वर नित्य, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा उन सभी वस्तुओं का सृष्टिकर्त्ता है जो संसार में पाई जाती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ईश्वर का विज्ञान सार्थक विज्ञान है अथवा काल्पनिक विज्ञान तथा यदि वह सार्थक विज्ञान है तो वह जन्मजात विज्ञान है अथवा आगन्तुक विज्ञान। डेकार्ट्स के अनुसार, ईश्वर का विज्ञान एक सार्थक एवम् जन्मजात विज्ञान है जिसे संसार की कोई सीमित या परिच्छिन्न वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकती। ईश्वर का विज्ञान सार्थक विज्ञान तभी कहा जायगा जब संसार में ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व हो। अब ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए डेकार्टस ने चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनका यहाँ संक्षेप में विवेचन किया जायेगा।

(1) सत्तामूलक युक्ति (Ontological Argument)—इस युक्ति की विशेषता यह है कि इसमें ईश्वर के ज्ञानमात्र से उसकी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस युक्ति का सार यह है कि हमारे मस्तिष्क में पूर्णता का जन्मजात प्रत्यय विद्यमान हैं क्योंकि यदि हमारे मस्तिष्क में पूर्णता का प्रत्यय न होता तो हम संसार की वस्तुओं को अपूर्ण कदापि न कहते। पूर्णता के प्रत्यय के ऊपर ही अपूर्णता का प्रत्यय आश्रित है। अतः यदि हम संसार की वस्तुओं को अपूर्ण कहते हैं तो इसका एक मात्र कारण यह है कि हमारे मस्तिष्क में पूर्णता का मानदण्ड विज्ञान है। अतः, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे मस्तिष्क में पूर्णता का प्रत्यय विद्यमान है। पूर्णता और अपूर्णता के प्रत्ययों में क्या अन्तर है। अपूर्ण वस्तुओं के विज्ञान उनके अस्तित्व की मात्र सम्भावना को ही व्यक्त करते हैं पर पूर्ण वस्तु

का विज्ञान उसके अनिवार्य अस्तित्व (Necessary Existence) को व्यक्त करता है। पूर्णता में अस्तित्व निहित होता है। यदि उसमें अस्तित्व निहित न हो तो वह वस्तु पूर्ण कभी भी नहीं कही जा सकती। अतः, ईश्वर के स्वभाव अर्थात् पूर्णता से ही ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है! डेकार्ट्स ने इस युक्ति की इस प्रकार व्याख्या की है। "चूँकि मैं अन्य सभी वस्तुओं के विषय में उनके अस्तित्व (Existence) और सत्त्व (Essence) में भेद करने में अभ्यस्त हूँ, अतः मैं आसानी से मान सकता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व उसके सत्त्व से पृथक हो सकता है और मैं इस प्रकार समझ सकता हुँ कि वस्तुतः ईश्वर नहीं है। किन्तु फिर भी जब मैं इस पर अधिक ध्यान से विचार करता हूँ तो स्पष्ट देखता हूँ कि जिस प्रकार किसी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण उसकी त्रिभुजीय आकृति से पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ईश्वर के सत्त्व से उसका अस्तित्व पृथक् नहीं किया जा सकता।"[1]

संक्षेप में : ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण प्रत्यय है। पूर्णता के प्रत्यय में अनन्त गुणों का समावेश है और इन अनन्त गुणों में सत्ता का गुण भी शामिल है। यदि पूर्णता में अन्य गुणों का प्रतिनिधित्व हो पर अस्तित्व के गुण का प्रतिनिधित्व न हो तो वह प्रत्यय "पूर्ण" कभी भी नहीं कहा जाएगा। ईश्वर पूर्ण है। यदि उनकी सत्ता न होती हो वे अपूर्ण होते। अतः उनकी पूर्णता में उनकी सत्ता भी अन्तर्निहित है। सन्त एन्सेल्म और सन्त आगस्टाइन ने भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया था। डेकार्ट्स ने इसे विशद् रूप दिया है। ईश्वर विषयक ज्ञान से उनकी अनिवार्य सत्ता पृथक् नहीं की जा सकती। पूर्ण और अनन्त की कल्पना में अस्तित्व का भी समावेश होता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है।

आलोचना—(1) सत्तामूलक तर्क इस बात पर आधारित है कि हमारे मस्तिष्क में ईश्वर का जन्मजात प्रत्यय विद्यमान है। यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात होता तो संसार में नास्तिकों का अस्तित्व न होता और न ईश्वर के विषय में इतनी परस्पर-विरोधी धारणाएँ होतीं।

(2) कुछ दार्शनिकों ने डेकार्ट्स की सत्तामूलक युक्ति की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने अस्तित्व के विज्ञान एवम् वास्तविक अस्तित्व के भेद को ठीक प्रकार नहीं समझा। उनका कथन है कि पूर्णता के प्रत्यय में अस्तित्व का प्रत्यय भले ही शामिल हो, वास्तविक अस्तित्व शामिल नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में काण्ट की वह उक्ति उल्लेखनीय है कि केवल सोचने से ही कि हमारी जेब में एक सौ डालर का नोट है, वहाँ एक सौ डालर का नोट उपस्थित नहीं हो जाएगा। अतः अस्तित्व का विज्ञान व वास्तविक अस्तित्व दोनों एक नहीं हो सकते।

(3) डेकार्ट्स की सत्तामूलक युक्ति में जो तीसरी कठिनाई है वह यह है उन्होंने सत्ता (Existence) को एक गुण (Quality) के रूप में स्वीकार किया है। पूर्णता के विज्ञान में सभी गुणों का समावेश होना चाहिए अन्यथा वह अपूर्ण विज्ञान हो जायेगा। अतः उसमें सत्ता का गुण भी शामिल होना चाहिए। पर वास्तविकता यह है कि सत्ता को गुण कभी नहीं माना जा सकता। यदि सत्ता को भी गुण मान लिया जाय तो उसके अधिष्ठान (Substratum) के लिए हमें किसी दूसरी सत्ता की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि इस दूसरी सत्ता को भी गुण के रूप में स्वीकार किया जाय तो इसके अधिष्ठान के लिए हमें एक तीसरी सत्ता में विश्वास

---

1. तत्व ज्ञान के ऊपर ध्यान, भाग 3।

करना होगा। इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था-दोष (Fallacy of Infinite Regress) की प्राप्ति होगी। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि सर्वप्रथम किसी वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए, उसके बाद ही उसके भीतर गुणों की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

(4) काण्ट ने डेकार्ट्स की सत्तामूलक युक्ति के खण्डन के लिए एक तार्किक कारण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। यदि सत्ता को गुण मान लिया जाय तो सभी विध्यात्मक अस्तित्ववाची प्रतिज्ञप्तियाँ (Affirmatively Existential Propositions) द्विरुक्ति (Tautology) मात्र रह जायेंगी तथा निषेधात्मक अस्तित्ववाची प्रतिज्ञप्तियाँ (Negatively Existential Propositions) आत्म-व्याघातक (Self-Contradictory) हो जायेंगी। पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। अतः सत्ता को गुण मानना एक तार्किक दोष है।

(5) सत्तामूलक युक्ति के विरुद्ध जो पाँचवाँ आक्षेप है वह यह है कि तार्किक अनिवार्यता (Logical Necessity) किसी वस्तु के दो गुणों के बीच परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करती है ; वह किसी वस्तु और उसके गुणों के बीच सम्बन्ध को स्थापित नहीं करती। निगमनात्मक युक्ति केवल सामान्य प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है और वह अभ्युपगमात्मक (Hypothetical or Postulational) ही होती है। "किसी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है" इसमें किसी त्रिभुज के प्रत्यय में दो समकोण का प्रत्यय अन्तर्निहित है। यह केवल इतना ही प्रदर्शित करता है कि यदि कोई त्रिभुज है तो उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होगा। इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि किसी त्रिभुज का वास्तविक अस्तित्व है। यही बात पूर्णता के विषय में भी लागू होती है। सत्तामूलक युक्ति केवल इतना ही प्रतिपादित करती है कि यदि संसार में कोई पूर्ण ईश्वर है तो वह अवश्य ही अस्तित्ववान होगा पर इस प्रकार का पूर्ण ईश्वर संसार में है अथवा नहीं, यह बात इस युक्ति से सिद्ध नहीं होती।

(6) प्रो० गिलबर्ट राइल (Gilbert Ryle) ने कहा है कि किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व की सिद्धि तभी हो सकती है जब कि आधार वाक्य में कम से कम एक ऐसा वाक्य हो जो अनुभव पर आधारित हो। किसी वस्तु का ज्ञान वस्तु-जगत का ज्ञान है। अतः वह अनुभव के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है। यह जानने के लिए कि "क का अस्तित्व है" या तो हमें क का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए अथवा किसी ऐसी अन्य वस्तु के साथ साक्षात् ज्ञान होना चाहिए जिसका क के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध हो।

पर यहाँ सत्तामूलक युक्ति के समर्थन में एक बात कही जा सकती है कि पूर्णता के प्रत्यय से भौतिक अस्तित्व तो उत्पन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु चेतन अस्तित्व अवश्य निगमित किया जा सकता है। भौतिक अस्तित्व कभी पूर्ण हो भी नहीं सकता। पूर्णता का यह अनिवार्य माँग है कि उसका अस्तित्व है। ईश्वर की पूर्णता से ईश्वर के अस्तित्व का भाव अवश्य निस्सरित होता है। यह माँग मनोवैज्ञानिक या भौतिक नहीं वरन् तार्किक और मूल्यमीमांसीय है।

डेकार्ट्स की सत्तामूलक युक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को आत्मा के उपमान के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार आत्मा के लिए

उसका प्रत्यय और उसका अस्तित्व समानार्थक है उसी प्रकार ईश्वर का प्रत्यय और उसका अस्तित्व समानार्थक है। जिस प्रकार आत्मा के प्रत्यय और अस्तित्व का ज्ञान होता है उसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है। दोनों की सिद्धि प्रतिभान द्वारा होती है तर्क द्वारा नहीं। जो लोग ईश्वर के प्रत्यय और ईश्वर के अस्तित्व के इस सम्बन्ध को नहीं मानते वे ही डेकार्ट्स की सत्तामूलक युक्ति में छिद्रान्वेषण करने की कुचेष्टा करते हैं। जो इस सम्बन्ध का ज्ञान रखते हैं वे इस युक्ति के महत्त्व को भली-भाँति समझते हैं।

(2) आनुभविक युक्ति (Empirical Argument)—यह युक्ति हमारे जीवन के दो अनुभवों पर आधारित है—

प्रथम—संसार की प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है ;

द्वितीय—कारण कार्य से न्यून कभी नहीं हो सकता।

ईश्वर का प्रत्यय अनन्त और पूर्ण प्रत्यय है। यह अनन्तता अथवा पूर्णता सान्त वस्तुओं के निषेध द्वारा उत्पन्न न होकर मौलिक रूप में उत्पन्न हुई है क्योंकि अनन्त के प्रत्यय के बिना हमें सान्त वस्तुओं का प्रत्यय हो ही नहीं सकता। हमारे ज्ञान में भले ही क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगति हो पर वह कभी भी अनन्त और पूर्ण नहीं हो सकता। ईश्वर का विचार इन्द्रियानुभव द्वारा भी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि सीमित होने के कारण इन्द्रियाँ हमें कभी भी पूर्ण और अनन्त का ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकती। यह विचार मेरी बुद्धि द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि मेरी बुद्धि परिमित, अल्पज्ञ और अपूर्ण है और यह विचार पूर्ण और अनन्त ईश्वर विषयक विचार है। अतः, स्वयं ईश्वर को ही इस विचार का कारण मानना अनिवार्य हो जाता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

यहाँ सत्तामूलक युक्ति एवम् आनुभविक युक्ति के बीच अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। सत्तामूलक युक्ति ईश्वर की सत्ता ईश्वर विषयक विचारभाव से सिद्ध की गई है। ईश्वर की पूर्णता में उस की सत्ता का समावेश अनिवार्य है। पर आनुभविक युक्ति में ईश्वर की सत्ता अनन्त और पूर्ण विज्ञान के कारण रूप में सिद्धि करने की चेष्टा की गई है। यही दोनों में अन्तर है।

आलोचना—(1) आनुभविक युक्ति एक प्रकार की कारण-कार्य मूलक युक्ति है जो सीमित वस्तुओं पर लागू होती है। कारण-कार्य मूलक युक्ति के लिए कम से कम कारण और कार्य इन दो सत्ताओं के पृथक् अस्तित्व में विश्वास प्रगट करना होगा जो ईश्वर के सन्दर्भ में सम्भव नहीं है। ईश्वर एक अनन्त और पूर्ण सत्ता है जिससे पृथक् हम किसी अन्य वस्तु की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह एक अनन्त और सान्त सत्ता के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है जो कारण-कार्य मूलक युक्ति द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता।

(2) कारण-कार्य सम्बन्ध कालगत सम्बन्ध है पर ईश्वर देश और काल दोनों से अतीत है। अतः उस पर कारण-कार्य सम्बन्ध कभी भी लागू नहीं किया जा सकता।

(3) आनुभविक युक्ति प्रतिनिधानवाद (Representationism) पर आधारित है जिसके अनुसार ईश्वर विषयक प्रत्यय बाह्य ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। पर यह युक्ति चक्रक-दोष से ग्रस्त है। इस प्रत्यय की प्रातिनिधिक यथार्थता मानकर ईश्वर की सत्ता को पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं और पुनः उसे ईश्वरीय प्रत्यय से निगमित करने की चेष्टा

करते हैं जो दोषपूर्ण है।

(4) डेकार्ट्स के दर्शन में ईश्वर को केवल निमित्त कारण के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। कारण के नाम पर उन्होंने जिस सिद्धान्त को अकाट्य सिद्धान्त माना है वह उपादान कारण का नियम है, निमित्त कारण का नियम नहीं है। डेकार्ट्स ने अपनी आनुभविक युक्ति में उपादान कारण के नियम को निमित्त कारण पर लागू कर दिया है जो सही नहीं है।

(5) डेकार्ट्स अपनी मौलिक धारणा के अनुसार ईश्वरीय प्रत्यय को जन्मजात प्रत्यय मानते हैं किन्तु उन्होंने आनुभविक युक्ति में ईश्वरीय प्रत्यय को आगन्तुक (Adventitious) प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है जिसे ईश्वर ने बाहर से हमारी आत्मा के भीतर उत्पन्न किया है। कोई भी प्रत्यय एक साथ जन्मजात व आगन्तुक दोनों नहीं हो सकता।

(6) ईश्वरीय प्रत्यय को आगन्तुक स्वीकार करने के कारण उसमें वे सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद या प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद (Copy Theory) में पाए जाते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो॰ विज्डम (J. Wisdom) ने ठीक ही कहा है कि आनुभविक तर्क ईश्वर को एक वास्तविक सत्ता के रूप में सिद्ध न कर एक **तार्किक रचना** (Logical Construction) के रूप में ही सिद्ध करता है।

(3) संसृतिमूलक युक्ति (Cosmological Argument)—संसृतिमूलक युक्ति कारण-कार्य मूलक युक्ति का ही एक रूपान्तरण है। जहाँ आनुभविक युक्ति ईश्वर को मानवी बुद्धि में उत्पन्न ईश्वर विषयक विचार का कारण मानकर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करती है वहीं संसृतिमूलक युक्ति ईश्वर को इस सम्पूर्ण सृष्टि का निमित्त कारण मानकर उसकी सत्ता को सिद्ध करने की चेष्टा करती है। इन दोनों तर्कों में हम कार्य से कारण की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं। संसृतिमूलक युक्ति के दो पक्ष हैं प्रथम व्यक्ति के कारण कार्य शृंखला के आधार पर एवम् द्वितीय सम्पूर्ण सृष्टि के कारण के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

कारण-कार्य शृंखला के आधार पर ईश्वर की सत्ता इस प्रकार सिद्ध की जाती है। मेरा अस्तित्व है और मेरे भीतर ईश्वर का प्रत्यय विद्यमान है। अतः मेरे अस्तित्व के कारण में वे सभी पूर्णताएँ विद्यमान होनी चाहिए जिन्हें हम ईश्वर पर आरोपित करते हैं। पुनः जो मेरे अस्तित्व का कारण है वह या तो स्वयंभू होगा या किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होगा। यदि वह स्वयंभू है तो वह ईश्वर होगा और यदि वह स्वयंभू नहीं है तो वह किसी अन्य कारण पर आश्रित होगा। कारण-कार्य की यह शृंखला अनन्त तक जारी नहीं रह सकती। अन्त में हम किसी ऐसे आदि कारण (Causa Sui) तक अवश्य पहुँचेंगे जो स्वयं कारण तो होगा पर वह किसी अन्य कारण का कार्य नहीं होगा। वही ईश्वर है।

संसृतिमूलक युक्ति का एक अन्य पक्ष भी है। वह उद्देश्यमूलक (Teleological) पक्ष है जो ईश्वर को एक चरम उद्देश्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है। जब हम सृष्टि के ऊपर दृष्टिपात करते हैं तो हम उसमें एक व्यवस्था, क्रम, विधान व समन्वय का साक्षात्कार करते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उत्पन्न की गई है। जगत में न अनावश्यकता है और न पुनरावृत्ति। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सृष्टि

का कारण कोई चेतन सत्ता अवश्य है। अचेतन सत्ता रचना कार्य नहीं कर सकती।[1] जगत में अव्यवस्था (Chaos) न होकर एक सुदृढ़ व्यवस्था (Cosmos) है। अतः इसका कोई निमित्त कारण (Efficient Cause) अवश्य होना चाहिए। वही निमित्त कारण ईश्वर है। जड़-तत्त्व सृष्टि का उपादान कारण है तथा ईश्वर उसका निमित्त कारण है।

आलोचना—डेकार्ट्स की सृष्टिमूलक युक्ति की विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से आलोचना की है।

(1) संसृतिमूलक युक्ति ईश्वर को केवल एक निमित्त कारण मानती है। वह उसे उपादान कारण नहीं मानती। पर इससे ईश्वर सीमित व परिच्छिन्न हो जायेगा। एक सीमित और परिच्छिन्न ईश्वर वदतोव्याघात है। इसी दोष से बचने के लिए अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को निमित्त व उपादान कारण दोनों मानता है।

(2) संसृतिमूलक युक्ति ईश्वर को जीवात्माओं का आदि कारण मानती है। पर ईश्वर के ऊपर कारणता का बुद्धि-विकल्प आरोपित नहीं किया जा सकता। यदि संसार की सभी जीवात्माएँ ईश्वर के साथ कारण-कार्य शृंखला में आबद्ध हैं तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह ईश्वर कारण-कार्य शृंखला की एक कड़ी है अथवा नहीं। यदि वह उस कारण-कार्य शृंखला की एक कड़ी है तो वह अन्य कारणों की तरह सीमित व परिच्छिन्न हो जाएगा। पर यदि वह उस कारण-कार्य शृंखला की कड़ी नहीं है, तो वह उस शृंखला को उत्पन्न ही नहीं कर सकता। अतः संसृतिमूलक युक्ति प्रामाणिक नहीं है।

(3) डेकार्ट्स ने आत्मा और ईश्वर के बीच जिस सम्बन्ध की कल्पना की है उसे **केवलीश्वरवाद** (Deism) की संज्ञा दी जाती है। इसमें ईश्वर और जगत के बीच बाह्य सम्बन्ध की कल्पना की गई है। पर यदि ईश्वर व जगत में बाह्य सम्बन्ध है तो ईश्वर जगत का निमित्त कारण कभी नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित तीनों युक्तियाँ ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित इन तीनों युक्तियों का सफल खण्डन करते हुए कहा है कि ईश्वर तर्क-बुद्धि का विषय ही नहीं है। बुद्धि द्वारा हम ईश्वर को न तो पूर्णतया सिद्ध कर सकते हैं और न असिद्ध ही कर सकते हैं। ईश्वर बुद्धि का विषय न होकर आस्था का विषय है।

द्रव्य, गुण और पर्याय
(Substance, Attributes and Modes)

डेकार्ट्स के दर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय का विशेष महत्त्व है। द्रव्य की परिभाषा देते हुए डेकार्ट्स कहते हैं : "**द्रव्य** वह है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो और जो अपने चिन्तन व अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा न रखता हो।"[2] इस परिभाषा के अनुसार **स्वतन्त्रता** द्रव्य का प्रधान लक्षण है। यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो ईश्वर ही एक मात्र द्रव्य होगा क्योंकि ईश्वर की सत्ता ही स्वतन्त्र है। पर दुर्भाग्य यह है कि द्रव्य

1. शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र में सांख्य का खण्डन, "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।"
2. A substance is one which exists in itself and is conceived through itself.

की उपर्युक्त परिभाषा के बावजूद डेकार्ट्स ने ईश्वर, चित् और अचित् इन तीन द्रव्यों में विश्वास प्रगट किया। **चित्** और **अचित्** जो पूर्णतया द्रव्य के ऊपर आश्रित हैं द्रव्य की श्रेणी में कैसे रखे जा सकते हैं ? इस विषम परिस्थिति से बचने के लिए डेकार्ट्स ने द्रव्य को दो भागों में विभाजित किया : प्रथम परद्रव्य या निरपेक्ष द्रव्य (Uncreated or Absolute Substance) और द्वितीय अपर द्रव्य (Created or Relative Substance)। ईश्वर ही एक मात्र निरपेक्ष या परद्रव्य है क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ उसी पर आश्रित हैं। किन्तु ईश्वर अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य सत्ता पर आश्रित नहीं है। पर बिडम्बना यह है कि डेकार्ट्स ने ईश्वर के साथ चित् (आत्मा) और अचित् (जड़) को भी द्रव्य की श्रेणी में रखा है क्योंकि चित् और अचित् दोनों परस्पर स्वतन्त्र हैं ; यदि वे परतन्त्र हैं तो केवल ईश्वर पर। ईश्वर-परतन्त्र होने से उनके द्रव्यत्व में कोई हानि नहीं होती। ईश्वर के ऊपर तो सारा संसार ही आश्रित है। इस प्रकार डेकार्ट्स के अनुसार कुल मिलाकर तीन द्रव्य हुए ; प्रथम परद्रव्य (Absolute Substance) ; द्वितीय चेतन द्रव्य (Thinking Substance) एवम् तृतीय विस्तृत द्रव्य (Extended Substance)।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब डेकार्ट्स ने द्रव्य को अस्तित्व-स्वातन्त्र्य के माध्यम से परिभाषित किया तो उसे केवल ईश्वर को ही द्रव्य की श्रेणी में रखना चाहिए था। उन्होंने चित् और अचित् को भी द्रव्य की श्रेणी में क्यों रखा ; क्या उनकी दार्शनिक बुद्धि इस अन्तर्विरोध को नहीं समझती थी ? वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। डेकार्ट्स के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य विज्ञान, दर्शन एवम् ईसाई धर्म के बीच समन्वय स्थापित करना था। ईसाई धर्म तीन तत्त्वों : ईश्वर आत्मा और जड़-तत्त्व में विश्वास करता है। उनकी दार्शनिक बुद्धि समझती थी कि द्रव्य केवल एक ही हो सकता है जो ईश्वर है, किन्तु धर्म-भीरूता के कारण उनके भीतर ईसाई-धर्म के विरोध में जाने का नैतिक साहस नहीं था। इसी कारण द्रव्य को अस्तित्व-स्वातन्त्र्य के माध्यम से परिभाषित करते हुए भी उन्होंने तीन तत्त्वों : ईश्वर, चित् और अचित् में विश्वास किया। दर्शन और धर्म के बीच समन्वय की भावना के कारण ही डेकार्ट्स ने अपने दर्शन में इस अन्तर्विरोध को स्थान दिया।

प्रत्येक द्रव्य के भीतर गुण एवम् पर्याय पाए जाते हैं। यद्यपि ईश्वर के अनन्त गुण एवम् पर्याय है पर हम ईश्वर के केवल दो ही गुणों चैतन्य और विस्तार को जान सकते हैं क्योंकि वे ही गुण मनुष्य के भीतर पाए जाते हैं। गुण को परिभाषित करते हुए डेकार्ट्स कहते हैं कि "गुण द्रव्य का वह धर्म है जो द्रव्य को नष्ट किए बिना उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।"[1] चित् का मूल गुण चैतन्य है तथा अचित् का मूल गुण विस्तार है। चैतन्य और विस्तार दोनों गुण स्वतन्त्र और परस्पर विलक्षण हैं क्योंकि चैतन्य की कल्पना बिना विस्तार के तथा विस्तार की कल्पना बिना चैतन्य के की जा सकती है। चैतन्य और विस्तार परस्पर स्वतन्त्र और विलक्षण होने के कारण चित् और अचित् दो स्वतन्त्र और विलक्षण द्रव्यों में निवास करते हैं। यही डेकार्ट्स का **द्वैतवाद** (Dualism) है जिसके कारण उनका दर्शन नाना प्रकार के दोषों से ग्रस्त हो जाता है।

---

1. An attribute is that quality of the substance which cannot be abstracted without at the same time destroying the substance.

डेकार्ट्स ने गुणों के साथ पर्यायों का भी वर्णन किया है। पर्याय को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं "पर्याय द्रव्य का वह धर्म है जिसका किसी अन्य वस्तु अर्थात् गुण के बिना न तो कोई अस्तित्व हो सकता है और न चिन्तन ही किया जा सकता है।"[1] स्थान (Position), आकृति (Figure) एवम् गति (Motion) विस्तार के पर्याय (Modi Extension) हैं क्योंकि बिना विस्तार उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार भावना (Feeling), संकल्प (Volition), इच्छा (Desire) एवम् संवेदना (Sensation) चैतन्य के पर्याय हैं। बिना चैतन्य के इन पर्यायों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध
(Mind-Body Relation)

डेकार्ट्स के दर्शन में आत्मा और शरीर दो पृथक् एवम् स्वतन्त्र द्रव्य हैं। आत्मा चेतन है और शरीर विस्तृत। चैतन्य का न तो विस्तार से कोई सम्बन्ध है और न विस्तार का चैतन्य से ही कोई सम्बन्ध है। ऐसा होते हुए भी मनुष्य में चैतन्य और विस्तार का संयोग किस प्रकार पाया जाता है। डेकार्ट्स का द्वैतवाद (Dualisn) उनके लिए एक प्रमुख समस्या है जिसका वे कभी समुचित और संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके।

डेकार्ट्स के दर्शन में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध न तो बहुत घनिष्ठ है और न बहुत शिथिल। आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए डेकार्ट्स ने उनकी वायुयान चालक एवम् वायुयान से उपमा दी है। प्राथमिक दर्शन की साधना के छठवें भाग में उन्होंने विचार व्यक्त किया है कि आत्मा किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण शरीर को परिव्याप्त किए रहती है जिसके कारण जब कभी और जहाँ कहीं शरीर प्रभावित होता है आत्मा को उसकी संवेदना प्राप्त हो जाती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त है पर शरीर की एक विशेष ग्रन्थि पीनियल ग्लैण्ड (Pineal Gland) है जहाँ आत्मा और शरीर के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। संवेदन और भावना के अवसरों पर शरीर की गति से पीनियल ग्रन्थि गतिशील हो जाती है जिसके कारण वहाँ आसीन आत्मा प्रभावित होती है जिसके परिणामस्वरूप वह संवेदना और भावना का अनुभव करती है। ऐच्छिक कार्यों के अवसरों पर जब आत्मा गतिशील होती है उसकी गति से पीनियल ग्रन्थि हिल जाती है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर गतिशील हो जाता है। इस प्रकार पीनियल ग्रन्थि के माध्यम से आत्मा और शरीर के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। डेकार्ट्स के इस सिद्धान्त को दर्शनशास्त्र में **क्रिया-प्रतिक्रियावाद** (Interactionism) कहते हैं। शरीर की क्रिया से आत्मा में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जिसके कारण आत्मा को बाह्य जगत के विषय जानकारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जिसके कारण कोई विचार व्यवहार रूप में परिणत होता है। यह सम्पूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया पीनियल ग्रन्थि के माध्यम से घटित होती है। वस्तुतः डेकार्ट्स का क्रिया-प्रतिक्रियावाद उनके द्वैतवाद के साथ तनिक भी संगत नहीं है। यदि आत्मा और शरीर के बीच आत्यन्तिक भेद है तो उनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया कैसे सम्भव है। डेकार्ट्स ही क्यों

1. A mode is that quality of the substance which cannot exist or be conceived without something else namely the attribute.

संसार का कोई भी द्वैतवादी इस समस्या का समुचित समाधान करने में सफल नहीं हो सका है।

डेकार्ट्स के अनुसार **आत्मा** केवल मनुष्य शरीर में ही पाई जाती है। पशुओं एवम् इतर प्राणियों में आत्मा का निवास नहीं होता। इसी कारण उनका व्यवहार यन्त्रवत् ही होता है। जिस प्रकार घड़ी जब दस बजाती है तो घड़ी को स्वयं इस विषय में कोई जानकारी नहीं होती ; वह न तो सोचती है, न अनुभव करती है और न किसी प्रकार की इच्छा ही प्रगट करती है, इसी प्रकार पशुओं के भीतर केवल स्वचालित प्रक्रियाएँ ही पाई जाती हैं। वे न देखते हैं न सुनते हैं, न उन्हें भूख लगती है और न प्यास ही लगती है। वे विशुद्ध मशीन की तरह यन्त्रवत् कार्य करते हैं। यहाँ डेकार्ट्स के दर्शन के ऊपर ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। ईसाई धर्म के अनुसार जानवरों में आत्मा नहीं पाई जाती है। आत्मा केवल मनुष्य शरीर में ही पाई जाती है। इसीलिए ईसाई धर्म आत्मा के देहान्तरण या पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। यही बात मुस्लिम धर्म में भी पाई जाती है।

डेकार्ट्स के क्रिया-प्रतिक्रियावाद के ऊपर उनके दो अनुयायियों **आर्नाल्ड ग्यूलिंक्स** (Arnold Geulincs) एवम् निकोलस मेलेब्रांश (Nicholas Malebranche) ने संशोधन किया है। जब आत्मा और शरीर दो परस्पर विरोधी सत्ताएँ हैं, हम उनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? इस समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने ईश्वर की शरण ली है तथा क्रिया-प्रतिक्रियावाद के स्थान पर **निमित्तवाद** (Occasionalism) का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक क्रियाओं एवम् मानसिक संवेदनाओं के बीच सम्बन्ध ईश्वर के द्वारा सम्भव होता है। संकल्पशक्ति एवम् उत्तेजनाएँ ईश्वर को केवल **अवसर** (Occasion) प्रदान करती हैं कि वह आत्मा की संकल्पशक्ति के अनुसार शरीर में प्रक्रियाओं को उत्पन्न करे तथा शारीरिक उत्तेजनाओं के अनुसार आत्मा में संवेदनाओं को उत्पन्न करे। संकल्प और उत्तेजनाएँ ईश्वर के उपकरण मात्र हैं जिनके द्वारा वह आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शारीरिक एवम् मानसिक क्रियाओं के सातत्य में ईश्वर द्वारा किसी प्रकार का बाहर से हस्तक्षेप होता है। ईश्वर ने बाह्य जगत में गति के नियम का इस प्रकार निर्माण किया है कि उसका आत्मा की स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति के साथ सामञ्जस्य सदा बना रहता है। यहाँ ग्यूलिंक्स एवम् मेलेब्रांश का निमित्तवाद लाइब्नित्ज के पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य से पर्याप्त मिलता जुलता है। ईश्वर सर्वज्ञानी है। उसे ज्ञात है किस क्षण आत्मा में किस प्रकार का संकल्प उत्पन्न होगा और किस जड़-तत्त्व में किस प्रकार की गति होगी। अतः एक कुशल शिल्पी के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही उन्होंने आत्मा और जड़-तत्त्व का इस प्रकार निर्माण किया कि दोनों के कार्यों में स्वतन्त्रता होते हुए भी परस्पर सामञ्जस्य पाया जाता है। ग्यूलिंक्स ने इस सन्दर्भ में दो ऐसी घड़ियों की उपमा दी है जो पृथक् एवम् स्वतन्त्र रूप में कार्य करती हुई भी एक ही समय निर्देशित करती हैं क्योंकि दोनों घड़ियों का निर्माण एक ही कुशल कारीगर द्वारा सम्पन्न हुआ है।

डेकार्ट्स के दर्शन का मूल्यांकन

(1) डेकार्ट्स आधुनिक दर्शन के जनक कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके पूर्व दर्शन धर्म का दास था। डेकार्ट्स ने दासता की बेड़ी काटकर दर्शन को धर्मशास्त्र से

बिलकुल स्वतन्त्र किया। यह दर्शनशास्त्र को उनकी बहुत बड़ी देन है।

(2) डेकार्ट्स की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपने दर्शन को श्रुतियों, मताग्रहों एवम् अन्धविश्वासों पर आधारित न कर विशुद्ध तर्क-बुद्धि का सहारा लिया। अपने असन्दिग्ध दार्शनिक निष्कर्षों की स्थापना के लिए उन्होंने सन्देह-पद्धति, प्रतिभान एवम् निगमन का प्रयोग किया जो दर्शनशास्त्र के अकाट्य सिद्धान्त हैं।

(3) डेकार्ट्स ने आत्मा की असंदिग्धता और उसके चैतन्य-स्वरूप को सिद्ध किया यह तो बहुत अच्छी बात है पर साथ ही जो उन्होंने आत्मा की बहुलता को स्वीकार किया वह दर्शनशास्त्र को कभी भी मान्य नहीं हो सकता। एक चैतन्य को हम दूसरे चैतन्य से किस प्रकार पृथक् कर सकते हैं। जब आत्मा में विस्तार गुण है ही नहीं, उसकी बहुलता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है।

(4) डेकार्ट्स ने सत्य के निकष (Criterion) के रूप में जो स्पष्टता व सुभिन्नता का उल्लेख किया है वह वस्तुनिष्ठ निकष न होकर आत्मनिष्ठ निकष ही है। एक ही ज्ञान एक व्यक्ति के लिए स्पष्ट और सुभिन्न होगा तो दूसरे व्यक्ति के लिए अस्पष्ट और अभिन्न हो सकता है।

(5) डेकार्ट्स ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी हैं वे सर्वथा अकाट्य नहीं हैं। सभी युक्तियाँ केवल एक सम्भाव्य ईश्वर (Probable God) की ओर ही संकेत करती हैं, वास्तविक ईश्वर को नहीं। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने डेकार्ट्स के ईश्वर सम्बन्धी सभी तर्कों का प्रभावशाली रूप में खण्डन किया।

(6) डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने ईश्वर को जगत का केवल निमित्त कारण ही माना है, उपादान कारण नहीं। इस कारण ऐसा ईश्वर अपूर्ण होगा और अपूर्ण ईश्वर वदृतोव्याघात है।

(7) चित् और अचित् का द्वैतवाद भी दार्शनिक दृष्टि से कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि इससे उनके बीच सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती।

(8) डेकार्ट्स ने अपने केवलीश्वरवाद द्वारा ईश्वर और जगत के बीच बाह्य सम्बन्ध माना है। यह बाह्य सम्बन्ध जीव व जगत् दोनों को असहाय बना देता है।

2. बेनेडिक्टस स्पिनोज़ा

(Benedictus Spinoza : 1632-1677)

जीवन-वृत्त—स्पिनोज़ा यूरोप महाद्वीप के दूसरे महान दार्शनिक हैं। इनका जन्म 24 नवम्बर 1632 में हालैण्ड के एम्स्टर्डन नगर के एक धनी यहूदी परिवार में हुआ था। इनका बचपन का नाम बारूच (Baruch) था। स्पिनोज़ा के पिता स्पिनोज़ा को या तो उच्च कोटि के व्यापारी बनाना चाहते थे या यहूदी पुरोहित के रूप में उन्हें दीक्षित करना चाहते थे पर स्पिनोज़ा को न तो धन के प्रति कोई लोभ था और न यहूदी धर्म-दर्शन के प्रति प्रेम। स्पिनोज़ा सर्वेश्वरवादी थे, इस कारण यहूदी, ईसाई एवम् इस्लाम धर्मों का एकेश्वरवाद उनकी धार्मिक बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर सकता था। यहूदी एवम् ईसाई धर्मों के कट्टर आलोचक होने के कारण इन धर्मों के अनुयायिओं ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। किन्तु उन्होंने सभी कष्टों को झेला

पर अपने मौलिक विचारों में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं किया।

स्पिनोज़ा का जीवन ऋषितुल्य था। पश्चिम के दार्शनिकों में शायद ही ऐसा कोई दार्शनिक हो जिन्होंने अपने विचारों के लिए इतना त्यागमय और कष्टमय जीवन व्यतीत किया हो। वे आजीवन अविवाहित रहे। धर्म, सम्पत्ति, पद और यश की लालसा ने उन्हें कभी भी अपनी ओर आकर्षित नहीं किया। हाइडेलवर्ग विश्वविद्यालय ने स्पिनोज़ा को दर्शन-विभाग के अध्यक्ष पद के लिए आमन्त्रित किया किन्तु उन्होंने उसे विनयपूर्वक अस्वीकार कर दिया। उनके विरोधियों ने कई बार उनकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया पर वे उसमें सफल नहीं हो सके। धर्म के ठेकेदारों ने उनके दर्शन को न समझ उन्हें "निन्दनीय नास्तिक" की उपाधि से विभूषित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनके ग्रन्थों को प्रकाशित भी नहीं होने दिया पर स्पिनोज़ा इन कठिनाइयों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे अपने निर्धारित मार्ग पर अनवरत रूप में अग्रसर होते गए।

स्पिनोज़ा प्रशान्त आत्मा के व्यक्ति थे। उन्होंने बाद में अपना नाम बारुच से बदल कर बेनेडिक्ट कर लिया। लैटिन बेनेडिक्ट एवम् इब्रानी बारुच दोनों का अर्थ एक ही होता है और वह अर्थ है प्रशान्तात्मा। हेग में 21 फरवरी सन् 1677 को यक्ष्मा रोग से उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ—स्पिनोज़ा एक विलक्षण प्रातिभा के व्यक्ति थे। गणित और दर्शन में वे समान रूप में पारंगत थे। वे दर्शन को केवल एक बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं समझते थे। उन्होंने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया और अपने सिद्धान्तों को जीवन में चरितार्थ भी किया। यही कारण है कि उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ का नाम आचार-शास्त्र (Ethica) रखा।

आचार शास्त्र के अतिरिक्त स्पिनोज़ा की दो अन्य कृतियाँ भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है जो उनके जीवन-काल में प्रकाशित हुई थीं। उनमें से प्रथम **डेकार्ट्स दर्शन के सिद्धान्त** (Descartes Principia Philosophiae) एवम् द्वितीय **धर्म-राजनीति-विषयक ग्रन्थ** (Tractatus Theologica Politicus) है। प्रथम पुस्तक डेकार्ट्स के दर्शन की व्याख्या है एवम् द्वितीय ग्रन्थ में धर्म निरपेक्ष राज्य तथा विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसके कारण धर्मानुशासित राज्यों में इस ग्रन्थ को अवैध घोषित कर दिया गया। इनके अतिरिक्त भी स्पिनोज़ा ने कई ग्रन्थों की रचना की जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

स्पिनोज़ा द्वारा डेकार्ट्स के विचारों में संशोधन

यद्यपि स्पिनोज़ा डेकार्ट्स की भाँति ही बुद्धिवादी एवम् गणितीय प्रणाली में विश्वास करने वाले हैं पर दोनों के दर्शनों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। स्पिनोज़ा अद्वैतवादी है तो डेकार्ट्स द्वैतवादी। स्पिनोज़ा सर्वेश्वरवादी है तो डेकार्ट्स केवलीश्वरवादी। स्पिनोज़ा नियन्त्रणवादी है तो डेकार्ट्स स्वतन्त्रेच्छावादी। स्पिनोज़ा द्वैतवादी है तो डेकार्ट्स आत्मवादी। स्पिनोज़ा ईश्वर के माध्यम से आत्मा और जगत की ओर अग्रसर होते हैं पर इसके विपरीत डेकार्ट्स आत्मा के माध्यम से ईश्वर और जगत की ओर संक्रमण करते हैं। वास्तव में स्पिनोज़ा

का दर्शन एक मौलिक दर्शन है। उन्होंने अपने मौलिक दृष्टिकोण से डेकार्ट्स के विचारों की समीक्षा की। डेकार्ट्स के दर्शन में जो बातें उनके दृष्टिकोण के अनुकूल थीं, उनका तो उन्होंने समर्थन किया पर जो बातें उनके दृष्टिकोण के प्रतिकूल थीं उनमें संशोधन करने में वे कभी भी नहीं चूके। फाल्केन वर्ग (R. Falckenberg) ने अपने आधुनिक दर्शन के इतिहास में लिखा है—

"स्पिनोज़ा के दर्शन की तार्किक पूर्व-मान्यताएं डेकार्ट्स के मूलभूत विचारों में ही पाई जाती हैं जिनको स्पिनोज़ा ने महत्त्व दिया, रूपान्तरित किया और अन्त में अंगीकार किया"[1] कहा जाता है कि स्पिनोज़ा के दर्शन में डेकार्ट्स का द्वैतवाद अद्वैतवाद में, केवलीश्वरवाद सर्वेश्वरवाद में और क्रिया-प्रतिक्रियावाद समानान्तरवाद में परिणत हो जाता है। इन पर हम पृथक् पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे।

(1) **द्वैतवाद से अद्वैतवाद**—स्पिनोज़ा डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित द्रव्य की परिभाषा को तो स्वीकार करते हैं पर उनके द्वैतवाद को अस्वीकार कर देते हैं। स्पिनोज़ा का कथन है कि यदि डेकार्ट्स के द्रव्य की परिभाषा को स्वीकार कर लिया तो द्रव्य दो नहीं वरन् एक ही होगा। यदि स्वतन्त्र अस्तित्व को द्रव्य का लक्षण मान लिया जाय तो द्रव्य एक से अधिक कदापि नहीं हो सकता। डेकार्ट्स ने जो पर-द्रव्य और अपर-द्रव्य में भेद किया है वह स्पिनोज़ा को स्वीकार्य नहीं है। जब स्तन्त्रता द्रव्य का लक्षण है तो अपर-द्रव्य जो अपने अस्तित्व के लिए परद्रव्य पर आश्रित है, द्रव्य की कोटि में किस प्रकार रखा जा सकता है ? इस प्रकार स्पिनोज़ा के अनुसार पर-द्रव्य (ईश्वर) जो एक मात्र स्वतन्त्र सत्ता है, वही एक मात्र द्रव्य कहलाने का अधिकारी है। अपर-द्रव्य की **कल्पना वद्तोव्याघात** है। पुनः जब अपर-द्रव्य ही द्रव्य नहीं है तो आत्मा और जड़-तत्त्व किस प्रकार द्रव्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं ? स्पिनोज़ा ने आत्मा और जड़-तत्त्व के द्वैत को तो स्वीकार किया पर यह द्वैत द्राव्यिक न होकर केवल गुणात्मक ही है। बात यह है कि आत्मा और चैतन्य में कोई भेद नहीं है ; इसी प्रकार जड़-तत्त्व और विस्तार के बीच भी कोई भेद नहीं है। आत्मा और जड़-तत्त्व द्रव्य तो नहीं हो सकते क्योंकि वे दोनों अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं, हाँ उन्हें गुण की श्रेणी में अवश्य स्थान दिया जा सकता है। चैतन्य रूप आत्मा एवम् विस्तार रूप जड़-तत्त्व को गुण रूप में स्वीकार करने से पर-द्रव्य (ईश्वर) की निरपेक्षता और अखण्डता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता और साथ ही आत्मा और जड़-तत्त्व को द्रव्य के गर्भ में स्थान भी मिल जाता है। द्रव्य तो एक ही है पर उसके भीतर अनेक गुण निवास कर सकते हैं। इस प्रकार स्पिनोज़ा ने डेकार्ट्स के चेतन द्रव्य (आत्मा) एवम् विस्तृत द्रव्य (जड़-तत्त्व) को द्रव्य के स्तर से उतारकर गुण के स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया। द्रव्य एक है पर उसके भीतर अनन्त गुण निवास करते हैं। पर इन सभी गुणों का हमें ज्ञान नहीं होता। हमें केवल चैतन्य और विस्तार इन दो ही गुणों का ज्ञान हो पाता है क्योंकि वे दो गुण ही हमारे भीतर पाए जाते हैं। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या डेकार्ट्स जो इतने बड़े दार्शनिक और गणितज्ञ

---

1. Falckenberg, R. "The logical pre-suppositions of Spinoza's philosophy lie in the fundamental ideas of Descartes which Spinoza accentuates, transforms and adopts."

थे, उपर्युक्त अन्तर्विरोधों से बिलकुल अनभिज्ञ थे ? पर वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। डेकार्ट्स पर-द्रव्य एवम् अपर-द्रव्य में निहित अन्तर्विरोधों से भली भाँति परिचित थे पर चर्च के भय के कारण शायद उनको यह स्पष्ट कहने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने अपने दर्शन को ईसाई धर्म के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए कह दिया कि ईश्वर-परतन्त्र होने से आत्मा और जड़-तत्त्व के द्रव्यत्व को कोई हानि नहीं पहुँचती। इस प्रकार चित् और अचित् दो स्वतन्त्र द्रव्य न होकर एक ही द्रव्य ईश्वर के दो समानान्तर गुण हैं। इस प्रकार डेकार्ट्स का द्वैतवाद स्पिनोज़ा के दर्शन में अद्वैतवाद के रूप में परिणत हो गया।

(2) **केवलीश्वरवाद से सर्वेश्वरवाद**—डेकार्ट्स के दर्शन में ईश्वर की कल्पना भी दोषपूर्ण है। उनका ईश्वर केवलीश्वरवाद कहा जाता है जिसके अनुसार ईश्वर और जगत के बीच बाह्य सम्बन्ध है। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। यदि ऐसी बात है तो ईश्वर पूर्ण न होकर केवल अपूर्ण ही होगा। पर अपूर्ण ईश्वर वदतोव्याघात है। ईश्वर की पूर्णता को अक्षुण्ण रखने के लिए स्पिनोज़ा ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर व सृष्टि के बीच अभेद सम्बन्ध है। ब्रूनों के समान स्पिनोज़ा ने कहा कि ईश्वर सृष्टि से अतीत न होकर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। वे अन्तर्यामी (Immanent) है पर (Transcendent) नहीं। ईश्वर के दो गुण चैतन्य और विस्तार के परस्पर समानान्तर होने के कारण ही उनमें अभेद सम्बन्ध पाया जाता है। इस प्रकार डेकार्ट्स का केवलीश्वरवाद स्पिनोज़ा के दर्शन में सर्वेश्वरवाद के रूप में परिणत हो जाता है।

(3) **क्रिया-प्रतिक्रिवाद से समानान्तरवाद**—इसी प्रकार डेकार्ट्स का क्रिया प्रति क्रियावाद भी स्पिनोज़ा को मान्य नहीं है। यदि आत्मा और शरीर दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उनके बीच सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। पीनियल ग्रन्थि की प्राक्कल्पना भी एक तदर्थ योजना (Makeshift Device) ही है, उसके माध्यम से किसी स्थायी दार्शनिक समाधान की आशा करना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार ग्यूलिंक्स का निमित्तवाद (Occasinalism) भी ईश्वर की स्थिति को हास्यास्पद बना देता है। निमित्तवाद में उसकी स्थिति एक टेलीफोन आपरेटर से अधिक नहीं हो सकती। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रियावाद और निमित्तवाद दोनों स्पिनोज़ा को मान्य नहीं है। उनके अनुसार आत्मा और शरीर दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं ही नहीं, वास्तव में दोनों एक ही तत्त्व ईश्वर के दो फलक मात्र हैं। एक ही तत्त्व के दो फलक होने के कारण उनके बीच न तो क्रिया-प्रतिक्रिया की आवश्यकता है और न निमित्तवाद की ही कोई सार्थकता है। आत्मा और शरीर दो द्रव्य न होकर चैतन्य और विस्तार नामक दो समानान्तर गुण मात्र हैं। दो पृथक् गुण होते हुए भी उनके बीच परस्पर संगति इसलिए पाई जाती है कि वे एक ही द्रव्य (ईश्वर) के दो समानान्तर गुण हैं। इस प्रकार डेकार्ट्स का क्रिया-प्रतिक्रियावाद स्पिनोज़ा के दर्शन में समानान्तरवाद का रूप धारण कर लेता है।

जिस प्रकार डेकार्ट्स का दर्शन द्रव्य गुण एवम् पर्याय की व्याख्या करता है उसी प्रकार स्पिनोज़ा का दर्शन भी द्रव्य, गुण और पर्याय की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि डेकार्ट्स की अपेक्षा स्पिनोज़ा की व्याख्या अधिक तर्कसंगत है।

द्रव्य
(Substance)

स्पिनोज़ा द्वारा प्रतिपादित द्रव्य की परिभाषा का मूल मन्तव्य प्रायः वही है जो डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित परिभाषा का मूल तात्पर्य है किन्तु स्पिनोज़ा ने उससे भिन्न निष्कर्षों की स्थापना की है। स्पिनोज़ा ने द्रव्य को निम्न प्रकार परिभाषित किया है—"द्रव्य से मेरा तात्पर्य उस वस्तु से है जो स्वतन्त्र रूप में स्थित हो और जो स्वतोगृहीत या आत्म-ज्ञात हो, अर्थात् जिसके चिन्तन के लिए किसी अन्य वस्तु के चिन्तन की अपेक्षा न हो।"[1] अस्तित्व-स्वातन्त्र्य द्रव्य का प्रधान लक्षण है। जो अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हो वही द्रव्य है। ऐसा द्रव्य ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर की सहायता के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व या ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं। द्रव्य वह है जो स्वयं तो किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न हो पर जिस पर सभी अन्य वस्तुएँ आश्रित हों। स्पिनोज़ा के अनुसार ईश्वर या द्रव्य की निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(1) ईश्वर **स्वतन्त्र** है। यह विशेषता द्रव्य की परिभाषा में ही निहित है। स्पिनोज़ा के अनुसार स्वातन्त्र्य द्रव्य का अनिवार्य लक्षण है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि ईश्वर के भीतर न तो अतन्त्रता (Indeterminism) है और न परतन्त्रता (Determinism) ही। उनके भीतर केवल स्वतन्त्रता पाई जाती है। ईश्वर अपने नियमों द्वारा ही संचालित होता है, अन्य द्वारा स्थापित नियमों से उनका कोई सरोकार नहीं होता।

(2) द्रव्य **निरपेक्ष** (Absolute) है क्योंकि अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए वह किसी अन्य सत्ता पर आश्रित नहीं है।

(3) द्रव्य **अद्वितीय** (Non-dual) या अद्वैत रूप है। इसका कारण यह है कि यदि द्रव्य के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता में विश्वास किया जाय तो वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं रह पाएगा। दो वस्तुओं के होने का अर्थ ही है कि उनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होगा और सम्बन्ध स्थापित होते ही वह वस्तु सापेक्ष और परतन्त्र हो जायेगी।

(4) द्रव्य **स्वयं-भू** (Self-caused) है। वह स्वयं अपना कारण है पर उसका कोई कारण नहीं है। यदि द्रव्य का भी कारण माना जाय तो वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं रह जायगा और साथ ही उसमें अनवस्था-दोष की भी प्राप्ति होगी।

(5) द्रव्य **नित्य** (Eternal) है क्योंकि जो स्वयं-भू होगा वह नित्य अवश्य होगा।

(6) द्रव्य **स्वतः-सिद्ध** (Self-proved) और **स्वयं-प्रकाश** (Self-revealed) है क्योंकि अपने ज्ञान के लिए वह किसी अन्य सत्ता पर आश्रित नहीं है।

(7) द्रव्य **अपरिच्छिन्न या अपरिमित** (Infinite) है। द्रव्य निरपेक्ष और अद्वितीय है। अतः उसे परिच्छिन्न अथवा सीमित करने के लिए किसी अन्य सत्ता का अभाव है। इसीलिए द्रव्य को अनन्त (Ens absolute infinitum) कहा जाता है।

---

1. By substance I understand that which is in itself and is conceived by means of itself i.e., that the conception of which can be formed without the aid of the conception of any other thing."

(8) द्रव्य **पूर्ण** (Perfect) और **आप्तकाम** है। द्रव्य स्वतन्त्र होने के कारण पूर्ण और आप्तकाम है। आप्तकाम होने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की कोई इच्छा या प्रयोजन नहीं है। उसके सभी कार्य स्वाभाविक रूप में सम्पादित होते हैं।

(9) द्रव्य **अन्तर्यामी** (Immanent) है। स्पिनोज़ा का द्रव्य संसार की प्रत्येक वस्तु में विराजमान है। चैतन्य और विस्तार के समानान्तर गुण होने के कारण ईश्वर और जगत में अभेद सम्बन्ध पाया जाता है। ईश्वर जगत में अन्तर्यामी है पर वह जगत से अतीत नहीं है।

(10) द्रव्य या ईश्वर **चेतन** और **अचेतन** दोनों है। वह चैतन्य गुण की दृष्टि से चेतन है पर विस्तार गुण की दृष्टि से अचेतन है।

(11) द्रव्य **निर्गुण** और **अनिर्वचनीय** है। द्रव्य को निर्गुण कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके भीतर गुणों का आत्यन्तिक अभाव है। वास्तव में द्रव्य के भीतर उन्नत गुण पाये जाते हैं। उसके भीतर गुणों की पराकाष्ठा है। अतः निर्गुण का वास्तविक अर्थ गुणों का अभाव नहीं है वरन् सीमित गुणों का अभाव है। जिस द्रव्य के भीतर विस्तार का गुण पाया जाता है वह निर्गुण कैसे हो सकता है ?

निर्गुण होने के कारण स्पिनोज़ा ने द्रव्य को अनिर्वचनीय कहा है। वास्तव में गुण भावात्मक न होकर निषेधात्मक ही होते हैं। स्पिनोज़ा की प्रसिद्ध उक्ति है—**प्रत्येक गुण निषेधात्मक** है। (Determinatio est negatio) जब हम किसी वस्तु के भीतर एक गुण की प्रतिष्ठा करते हैं तो उसे अनेक गुणों से वंचित भी कर देते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई वस्तु लाल है, तो इसका अर्थ यह है कि वह नीली नहीं है, पीली नहीं है, हरी नहीं है, इत्यादि। एक सीमित गुण की प्रतिष्ठा का अर्थ है—अनेक गुणों से उसका वंचन। इस विवेचन के अनुसार निर्गुण का वास्तविक अर्थ गुणों का अभाव नहीं, वरन् सीमित गुणों का अभाव है। अपरिच्छिन्न होने के कारण द्रव्य के भीतर गुणों की पराकाष्ठा पाई जाती है।

निर्गुण होने के कारण द्रव्य अनिर्वचनीय भी होगा। निर्वचन सदा सीमित गुणों का ही होता है। यदि संख्या और परिमाण की दृष्टि से गुण असीमित हैं तो वाणी द्वारा उसका निर्वचन सम्भव नहीं है। द्रव्य अपरिच्छिन्न है, अतः वह निर्गुण और अनिर्वचनीय है।

(12) ईश्वर जगत का **निमित्त** एवम् **उपादान कारण दोनों** है। स्पिनोज़ा का ईश्वर यहूदी, इस्लाम या ईसाई धर्म का ईश्वर नहीं है जो सृष्टि का केवल निमित्त कारण है। इन धर्मों का ईश्वर सप्रयोजन व्यापार करता है, वह दुष्टों को दण्ड तथा सज्जनों को पुरस्कार वितरित करता है ; वह भक्तों को अपने समीप स्वर्ग में स्थान देता है ; वह साकार व देहधारी मानव है। अतः स्पिनोज़ा के अनुसार उपर्युक्त सभी धर्म निरीश्वरवादी या नास्तिक हैं जो ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते।

(13) स्पिनोज़ा के दर्शन को **सर्वेश्वरवाद** (Pantheism) के नाम से अभिहित किया जा सकता है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर और सृष्टि में अभेद सम्बन्ध है। केवलीश्वरवाद ईश्वर में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद मानता है। इस्लाम धर्म इसी केवलीश्वरवाद का अनुयायी है। इसके विपरीत ईश्वरवाद ईश्वर में सजातीय और विजातीय भेद स्वीकार नहीं करता, वह केवल स्वगत भेद मानता है। ईसाई धर्म इसी ईश्वरवाद को स्वीकार करता है। इन दोनों के बीच स्पिनोज़ा का सर्वेश्वरवाद है जिसके अनुसार ईश्वर में सजातीय,

विजातीय अथवा स्वगत किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह सदा अखण्ड और एक रस रहता है।

(14) स्पिनोज़ा के द्रव्य के विषय में जो अन्तिम प्रश्न हमारे समक्ष उत्पन्न होता है वह यह है कि यदि स्पिनोज़ा के दर्शन में ईश्वर, द्रव्य और प्रकृति को समानार्थक माना गया है तो उन्हें द्रव्य या प्रकृति से ही ईश्वर का काम ले लेना चाहिए था, उसके लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि स्पिनोज़ा केवल तत्त्व का ही अनुसंधान नहीं करना चाहते थे, वरन् उसके साथ वे उस परम शिव-तत्त्व का भी अन्वेषण करना चाहते थे जो हमारे जीवन की सम्पूर्ण आवश्कयताओं एवम् इच्छाओं को सन्तुष्ट करने की क्षमता रखता है। भारतीय दर्शन की भाषा में उसे सच्चिदानन्द कहते हैं। यही कारण है कि स्पिनोज़ा ने अपने श्रेष्ठ ग्रन्थ का नाम सत्ता-विज्ञान (Ontology) न रख उसका नाम नीति-शास्त्र रखा। नीति-शास्त्र परम शुभ का विज्ञान है जिसका अनुसंधान करना ही दर्शन-शास्त्र का परम उद्देश्य है।

(15) द्रव्य या ईश्वर की व्याख्या तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक कि ईश्वर और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट न किया जाए। स्पिनोज़ा के अनुसार जगत् ईश्वर की **सृष्टि** (Creation) नहीं है क्योंकि सृष्टि के लिए किसी इच्छा या प्रयोजन की आवश्यकता होगी जो ईश्वर पर लागू नहीं होगी। ईश्वर आप्तकाम हैं। इसी प्रकार जगत ईश्वर का **निस्सरण** (Emanation) भी नहीं है। बात यह है कि ईश्वर से निस्सरण की प्रक्रिया तभी सम्भव है जबकि बाहर कोई रिक्त स्थान (Vacuum) हो जो ईश्वर की पूर्णता के कारण सम्भव नहीं है। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए स्पिनोज़ा कहते हैं कि ईश्वर और जगत के बीच **अनिवार्य सम्बन्ध** (Necessary Relation) है। ईश्वर और जगत में वही सम्बन्ध है जो किसी हेत्वानुमान के आधार-वाक्य (Premiss) और निष्कर्ष वाक्य (Conclusion) के बीच सम्बन्ध होता है अथवा जो किसी त्रिभुज और उसके तीनों कोणों के योग के बीच सम्बन्ध होता है। सृष्टि ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सृष्टि ईश्वर में उसी प्रकार निवास करती है जिस प्रकार निष्कर्ष आधार-वाक्यों में अथवा कोण त्रिभुज के भीतर निवास करते हैं। ईश्वर और सृष्टि में कारण-कार्य सम्बन्ध न होकर तादात्म्य-सम्बन्ध पाया जाता है।

ईश्वर और सृष्टि के बीच सम्बन्ध को हम दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। ईश्वर और सृष्टि के बीच न **दैशिक** (Spatial) सम्बन्ध सम्भव है और न **कालिक** (Temporal) सम्बन्ध ही क्योंकि ऐसे दोनों सम्बन्ध ईश्वर को सीमित और परिच्छिन्न सिद्ध करते हैं। यदि किसी सर्वदैशिक और सर्वकालिक सत्ता को सिद्ध करना है तो उस सत्ता और अन्य इतर सत्ताओं के बीच **तार्किक** (Logical) अथवा **गणितीय** (Mathematical) सम्बन्ध ही सम्भव हो सकता है। ऐसा नहीं है कि आधार-वाक्य पहले है और निष्कर्ष-वाक्य बाद में है अथवा त्रिभुज पहले है और उसके तीनों कोणों का योग बराबर दो समकोण के होता है बाद में है। दोनों का अस्तित्व युगपद है। जिस प्रकार आधार-वाक्य निष्कर्ष को अपने भीतर समाहित करता है अथवा त्रिभुज अपने तीनों कोणों को अपने भीतर समाहित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी जगत को अपने भीतर आपादित करता है।

(16) स्पिनोज़ा ने ईश्वर के तीन रूपों का वर्णन किया है—प्रथम **विश्व-रूप** (Natura Naturata), द्वितीय **विश्वात्म-रूप** (Natura Naturans) एवम् तृतीय **पर-रूप** (Ens Absolutum Inderterminatum)। जब हम विश्व को पर्यायों की दृष्टि से देखते हैं तो वह विश्व-रूप में दिखाई देता है। विभिन्न आत्माओं और भैतिक वस्तुओं के समुच्चय को विश्व कहते हैं। इसे निष्क्रिय प्रकृति (Passive Nature) भी कहा जाता है। इस रूप में समस्त विकारों को सृष्टि या **तूला प्रकृति** (Natura Naturata) कहते हैं। यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या भेद का स्तर है। ईश्वर का यह निम्नतम रूप है। इसके विपरीत जब हम ईश्वर को पर्यायों की दृष्टि से न देखकर गुणों की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं तो वह विश्वात्म रूप में दिखाई पड़ता है। इसमें हम भौतिक पर्यायों को विस्तार की कोटि में तथा चेतन पर्यायों को चैतन्य की कोटि में समाहित करने की चेष्टा करते हैं। यह भेद का स्तर नहीं बल्कि भेदाभेद का स्तर है। इस रूप में यह साक्षात द्रव्य या प्रकृति ही है। इसे **मूला-प्रकृति** या **परा-प्रकृति** (Active Nature) भी कहा जाता है। यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का स्तर न होकर बुद्धि का स्तर है। इन दोनों से पृथक् जब हम ईश्वर को पर्यायों एवम् गुणों की दृष्टि से न देखकर विशुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं तो वह पर-रूप में दिखाई देता है। शरीर आदि आत्मा के सीमित रूप में प्रतीत होने वाला निर्गुण और अनिर्वचनीय तत्त्व ईश्वर का पर-रूप है। वस्तुतः ईश्वर का निर्वचन सम्भव नहीं है क्योंकि निर्वचन उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है जिनके भीतर सीमित गुण पाए जाते हैं। निर्वचन मात्र निषेधात्मक होता है। नेति-नेति ईश्वर का सर्वोत्तम निर्वचन है। यह न इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का स्तर है और न बुद्धि का स्तर है। यह विशुद्ध निर्विकल्प अनुभूति का स्तर है। यह विशुद्ध अभेद का स्तर है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब स्पिनोज़ा अपने द्रव्य को निर्गुण कहते हैं तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके भीतर गुणों का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। द्रव्य को निर्गुण कहने का उनका वास्तविक तात्पर्य यह है कि उसके भीतर सीमित गुणों का अभाव है। स्पिनोज़ा का द्रव्य उस रूप में निर्गुण नहीं है जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म निर्गुण है। स्पिनोज़ा का द्रव्य उस रूप में निर्गुण हो भी नहीं सकता क्योंकि विस्तार उसका अनिवार्य गुण है। पर-द्रव्य ईश्वर का उच्चतम रूप है जिसे हम निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही जान सकते हैं।

गुण का स्वरूप
(Nature of Attributes)

गुण द्रव्य के अनिवार्य धर्म हैं। द्रव्य केवल अपने अस्तित्व से ही हमें प्रभावित नहीं करता, वह अपने गुणों के माध्यम से भी हमें प्रभावित करता है। किसी द्रव्य के भीतर अनन्त धर्म पाए जाते हैं। जैनियों[1] का भी यही मत था। पर हमें उन अनन्त धर्मों में केवल दो ही धर्मों का ज्ञान हो पाता है जो हमारे भीतर पाए जाते हैं : चैतन्य और विस्तार। हम सभी धर्मों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : (i) अनिवार्य धर्म (Essential Qualities) तथा (ii) आगन्तुक धर्म (Accidental Qualities)। आवश्यक धर्मों को लक्षण या गुण (Attributes) कहा जाता है तथा आगन्तुक धर्मों को उपलक्षण, विकार या पर्याय (Modes)

1. जैन दर्शन, अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्।

कहा जाता है। यहाँ हम केवल द्रव्य के अनिवार्य धर्मों (गुण) का वर्णन करेंगे।

स्पिनोज़ा गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं "गुण से मेरा अभिप्राय उस धर्म से है जिसे बुद्धि द्रव्य का सार या तत्त्व समझती है।"[1] किसी द्रव्य में तत्त्व की जितनी ही अधिक मात्रा पाई जाती है उसमें गुण भी उतनी ही अधिक मात्रा में विद्यमान होगा। इस प्रकार अनन्त द्रव्य में अनन्त गुण पाए जाएँगे जिनमें से प्रत्येक गुण द्रव्य के किसी न किसी सत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। ईश्वर अशेष-गुणाकर समस्त गुण-सम्पन्न है। गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न होकर द्रव्य पर पूर्णतया आश्रित है। चित्-अचित् पुरुष-प्रकृति जीव-जगत, आत्मा-शरीर इनको द्रव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे ईश्वर के गुण मात्र हैं। यद्यपि मनुष्य ईश्वर को केवल चेतन और विस्तृत द्रव्य के रूप में ही जानता है पर इससे ईश्वर के पूर्ण और यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती क्योंकि ईश्वर का प्रत्येक सत्त्व उसके स्वभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति करता है।

गुण तात्त्विक है अथवा आरोपित—स्पिनोज़ा द्वारा प्रतिपादित गुण की प्रकृति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार ईश्वर के गुणों की सत्ता तात्त्विक या वास्तविक है तथा अन्य व्याख्याकारों के अनुसार ईश्वर के गुण तात्त्विक न होकर मानव बुद्धि द्वारा आरोपित गुण हैं। अब हमें यह निर्णय करना है कि गुणों के सम्बन्ध में स्पिनोज़ा का वास्तविक मन्तव्य क्या था ? उसके गुण वास्तविक हैं अथवा आरोपित ? सच पूछा जाय तो इस विवाद के लिए स्पिनोज़ा स्वयं उत्तरदायी हैं। उनकी परिभाषा के अनुसार—"गुण से हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जिसे बुद्धि द्रव्य का सार या तत्त्व समझती है।" इस परिभाषा में यदि "द्रव्य का सार या तत्त्व" पर आग्रह किया जाय तो गुण द्रव्य के वास्तविक धर्म होंगे किन्तु यदि "बुद्धि समझती है" पर आग्रह किया जाय तो गुण मानवीय बुद्धि द्वारा आरोपित या मानसिक धर्म होंगे। इस प्रकार स्पिनोज़ा के अनुयायियों ने उनके गुण की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है : प्रथम विज्ञानवादी व्याख्या एवम् द्वितीय वस्तुवादी व्याख्या।

(i) विज्ञानवादी व्याख्या (Idealistic Interpretation)—हेगल (Hegel) एवम् **अर्डमान** (Erdmann) ने स्पिनोज़ा के गुणों की विज्ञानवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। इन दोनों दार्शनिकों ने स्पिनोज़ा की परिभाषा के पूर्वार्ध **"बुद्धि समझती है"** (The understanding perceives) पर विशेष बल दिया है। अर्थात् उनके अनुसार गुण द्रव्य या ईश्वर के तात्त्विक गुण नहीं है ; केवल हमारी बुद्धि ऐसा समझती है कि वे द्रव्य के तात्त्विक गुण हैं। इस व्याख्या के अनुसार गुण मानवीय बुद्धि के काल्पनिक आरोप अथवा ईश्वर के विवर्त मात्र हैं। जहाँ तक द्रव्य की बात है वह न तो चेतन है और न विस्तृत ही। वह केवल हमारी बुद्धि को चेतन और विस्तृत रूप में दिखाई पड़ता है। अतः गुण बौद्धिक ज्ञान के केवल प्रकार (Modes of Intellectual Apprehension) हैं, वास्तविक नहीं। हेगल और अर्डमान की उपर्युक्त व्याख्या स्पिनोज़ा के उस कथन से सर्वथा संगत है जिसके अनुसार द्रव्य निर्गुण और अनिर्वचनीय है तथा गुणमात्र को निषेधात्मक कहा गया है। यदि द्रव्य

---

1. By an attribute is meant that which the understanding perceives of substance as constituting the essence of it—Spinoza.

वस्तुतः निर्गुण है तो उसमें तात्त्विक गुणों की प्रतिष्ठा किस प्रकार की जा सकती है ? द्रव्य का निर्गुण और सगुण दोनों एक साथ होना आत्म-व्याघातक है। अतः यहाँ गुणों को आरोपित धर्म के रूप में स्वीकार करना ही स्पिनोज़ा को अभीष्ट था।

(ii) वस्तुवादी व्याख्या (Realistic Interpretation)—उपर्युक्त विज्ञानवादी व्याख्या के विपरीत **कूनो फिशर** (Kuno Fischer) ने स्पिनोज़ा के गुणों की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने गुण की परिभाषा के उत्तरार्ध **"द्रव्य का सार या तत्त्व"** (As constituting the essence of substance) पर विशेष आग्रह किया है। उनके अनुसार स्पिनोज़ा के गुण ईश्वर के वास्तविक या तात्त्विक धर्म है। वे बौद्धिक ज्ञान के प्रकार नहीं वरन् द्रव्य के स्वरूप धर्म हैं। आत्मनिष्ठवाद (Subjectivism) स्पिनोज़ा के दर्शन के बिलकुल प्रतिकूल सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त् स्पिनोज़ा ने अपने गुण को द्रव्य की शक्ति (Power) या साध्य-धर्म (Potentia) कहा है जिससे प्रगट होता है कि गुण द्रव्य के तात्त्विक धर्म है। "प्रत्येक गुण निषेधात्मक है" स्पिनोज़ा की इस उक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं है कि द्रव्य निर्विशेष या निर्गुण है ; इसका अर्थ केवल इतना ही है कि द्रव्य के भीतर सीमित गुणों का अभाव है। वास्तव में ईश्वर या द्रव्य के भीतर गुण और परिमाण की दृष्टि से गुणों की पराकाष्ठा पाई जाती है।

अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि गुणों की विज्ञानवादी व्याख्या स्पिनोज़ा के दर्शन के साथ अधिक तर्कसंगत है अथवा वस्तुवादी व्याख्या। मेरी दृष्टि से गुणों की वस्तुवादी व्याख्या उनकी विज्ञानवादी व्याख्या से अधिक तर्कसंगत है। इसका कारण यह है कि स्पिनोज़ा ने चैतन्य और विस्तार को समानान्तर गुण के रूप में स्वीकार किया है। न तो विस्तार के ऊपर चैतन्य की श्रेष्ठता है और न चैतन्य के अपर विस्तार का आनयन। **विज्ञानवादी व्याख्या वहीं स्वीकार्य होती है जहाँ चैतन्य को मौलिक गुण और विस्तार को व्युत्पन्न (Derivative) गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है।** स्पिनोज़ा के दर्शन में विस्तार के ऊपर चैतन्य को कहीं भी श्रेष्ठता प्रदान नहीं की गई है। उनके लिए विस्तार और चैतन्य दों समकोटिक गुण हैं। अतः उनका दर्शन न तो विज्ञानवादी हो सकता है और न भौतिकवादी।

पाश्चात्य दर्शन के कुछ भारतीय इतिहाकारों[1] ने स्पिनोज़ा के गुणों की वस्तुवादी व्याख्या की अपेक्षा विज्ञानवादी व्याख्या पर विशेष बल दिया है। डॉ० चन्द्रधर शर्मा ने गुणों के विषय में लिखा है, "स्पिनोज़ा का दर्शन शंकराचार्य के दर्शन से बहुत से अंशों में साम्य रखता है।"[2] पर ऐसी व्याख्या स्पिनोज़ा के दर्शन के साथ समुचित न्याय नहीं करती। शंकराचार्य ने चैतन्य को ही एक मात्र सत् माना है, विस्तार को वे माया-जन्य मानते हैं। इसके विपरीत स्पिनोज़ा चैतन्य और विस्तार दोनों को समकोटिक और समकक्षीय गुण मानते हैं। ऐसी स्थिति में स्पिनोज़ा के गुणों की विज्ञानवादी व्याख्या गलत हो जाती है। अतः गुणों की वस्तुवादी व्याख्या ही सही प्रतीत होती है। स्पिनोज़ा के गुणों के सम्बन्ध में दर्शन शास्त्र में अनेक व्याख्याएँ प्रचलित हैं पर इन व्याख्याओं में **हेनरी पोलक** की व्याख्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार गुण द्रव्य का एक फलक या पक्ष (Aspect) होता है। द्रव्य के अनेक पक्ष

1. शर्मा, डॉ० चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, पृ० 104
2. वही।

हैं। प्रत्येक पक्ष में उसकी पूर्णता अभिव्यक्त होती है। पक्ष के प्रत्यय में दृष्टिभेद एवम् वास्तविकता-भेद दोनों प्रत्यय समाहित हो जाते हैं। यद्यपि द्रव्य के अनेक फलक या पक्ष हैं तथापि मानव-बुद्धि उनमें से केवल दो को ही ग्रहण कर सकती है। वे दोनों गुण चैतन्य (Thought) एवम् विस्तार (Extension) हैं। चैतन्य और विस्तार मात्र दृष्टि में नहीं हैं ; वे द्रव्य में भी विद्यमान हैं। इन दोनों ही बातों को पक्ष या फलक सिद्धान्त भलीभाँति व्यक्त करता है। गुणों की यह सर्वोत्तम व्याख्या है जो विज्ञानवादी एवम् वस्तुवादी व्याख्याओं के बीच समन्वय स्थापित करती है।

जहाँ तक गुणों की संख्या का प्रश्न है, स्पिनोज़ा उसका स्पष्ट समाधान प्रस्तुत नहीं करते। यदि गुण अनन्त हैं तो मानवीय बुद्धि केवल दो ही गुणों को क्यों ग्रहण कर सकती है अन्य गुणों को क्यों नहीं ग्रहण करती। **लियोनराथ** के अनुसार हम द्रव्य के अनन्त गुणों में केवल दो ही गुणों को इस कारण ग्रहण कर पाते हैं क्योंकि हम अपूर्ण हैं और केवल चैतन्य और विस्तार ही हमारे भीतर पाए जाते हैं। पर इस अपूर्णता के कारण मानव को कोई हानि नहीं होती। वस्तुतः प्रत्येक गुण द्रव्य की पूर्ण अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार एक ही गुण को जान लेने से द्रव्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध
(Mind-Body Relation)

आत्मा और शरीर के बीच पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए स्पिनोज़ा ने **समानान्तरवाद** (Parallelism) की स्थापना की है। वे डेकार्ट्स के क्रिया-प्रतिक्रियावाद (Interactionism) से सन्तुष्ट नहीं हैं। जब चित् और अचित् दो पृथक् व स्वतन्त्र द्रव्य है, तो उनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार सम्भव है। स्पिनोज़ा के अनुसार डेकार्ट्स के दर्शन के सारे अन्तर्विरोध उसके द्रव्यात्मक द्वैतवाद (Substantival Dualism) के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन विरोधों को दूर करने के लिए उन्होंने चित् और अचित् को द्रव्य की श्रेणी से उतार कर गुण की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। वे चैतन्य और विस्तार के गुणात्मक भेद को तो स्वीकार करते हैं पर द्राव्यिक भेद को अस्वीकार करते हैं। डेकार्ट्स ने इनको दो परस्पर-विरुद्ध और परस्पर-निरपेक्ष द्रव्य मानकर द्वैतवाद की जो भयंकर भूल की थी उसे स्पिनोज़ा ने दूर कर दिया। गुण रूप में भिन्न होते हुए भी एक ही द्रव्य के दो गुण होने के कारण उनको परस्पर-विरुद्ध नहीं माना जा सकता। चैतन्य और विस्तार के द्रव्य न होने के कारण उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। क्रिया-प्रतिक्रिया की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वे दोनों एक ही द्रव्य के दो समानान्तर गुण हैं। प्रत्येक घटना दैहिक और आध्यात्मिक दोनों है। यदि कोई प्रश्न करता है कि जब चैतन्य और विस्तार एक ही द्रव्य के दो समानान्तर गुण हैं तो उनके बीच सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में स्पिनोज़ा का उत्तर है कि चैतन्य विस्तार के समानान्तर गुण होते हुए भी उनके बीच परस्पर संगति इसलिए पाई जाती है कि वे एक ही ईश्वर के दो गुण हैं। यही स्पिनोज़ा का समानान्तरवाद है।

विस्तार या देश सर्वत्र विद्यमान है। शून्यता का आत्यन्तिक अभाव है। इसी प्रकार चैतन्य भी सर्वव्यापी व अखण्ड है। जिस प्रकार विस्तार-जगत में विस्तार का कहीं आत्यन्तिक

अभाव नहीं है उसी प्रकार चैतन्य-जगत में चैतन्य का कहीं आत्यन्तिक अभाव नहीं है। संसार में प्रागभाव, ध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव तो है पर अत्यन्ताभाव कहीं नहीं है। पर वस्तु के अस्तित्व का कभी अभाव नहीं होता, केवल उसके सीमित रूप में ही परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य रूप में प्रत्येक वस्तु नित्य, शाश्वत् और अपरिवर्तनशील होनी है।

स्पिनोज़ा के समानान्तरवाद का निहितार्थ यह है कि बिना विस्तार के चैतन्य की कल्पना नहीं की जा सकती तथा इसी प्रकार बिना चैतन्य के विस्तार की कल्पना नहीं की जा सकती। विचार ज्ञाता है और विस्तार ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों सापेक्ष हैं और दोनों साथ-साथ निवास करते हैं। ज्ञेय उतना ही चेतन है जितना ज्ञाता विस्तृत है। पर फिर भी दोनों एक नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय न तो बिलकुल विरुद्ध हैं और न सर्वथा समान ही हैं। उनके बीच भेदाभेद सम्बन्ध पाया जाता है।

चेतन जगत के व्यक्तिगत तथ्यों को वृत्ति (Idea) एवम् विस्तृत जगत के व्यक्तिगत तथ्यों को वस्तु (Thing) कहा जाता है। यद्यपि वृत्तियों एवम् वस्तुओं की अपनी पृथक् दुनियाँ है पर फिर भी एक ही द्रव्य की क्रमिक अभिव्यक्ति होने के कारण दोनों के व्यक्तिगत तथ्य एक ही हैं। वृत्ति वस्तु है तथा वस्तु वृत्ति है। चैतन्य दृष्टि से जो तथ्य वृत्ति है वही विस्तार दृष्टि से वस्तु है। वृत्ति और वस्तु एक ही तथ्य के दो फलक हैं। भारतीय दर्शन की भाषा में हम इसे "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" या "यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे" का सिद्धान्त कह सकते हैं।

पर्याय का स्वरूप
(Nature of Modes)

किसी द्रव्य के अनिवार्य धर्मों को गुण कहते हैं किन्तु उसके आगन्तुक अथवा आकस्मिक धर्मों को पर्याय या विकार के नाम से अभिहित किया जाता है। स्पिनोज़ा ने पर्याय को इस प्रकार परिभाषित किया है—"पर्याय से मेरा तात्पर्य द्रव्य की विक्रियाओं से अथवा पर्याय वह है जो दूसरी वस्तु में रहता है और उसके ही द्वारा समझा भी जाता है।"[1]

पर्याय पराश्रित और पर ग्राह्य हैं। वे परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं। यदि उनका अस्तित्व पराश्रित है तो उनके अस्तित्व में इतरेतराश्रय अथवा अनवस्था-दोष अवश्य पाया जाएगा और उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं हो पाएगी। इन दोषों से बचने के लिए उन्हें अन्ततः किसी ऐसी सत्ता पर अवश्य आश्रित होना होगा जो स्वतन्त्र और वस्तुनिष्ठ हो। वह सत्ता द्रव्य है। पर्याय अपने अस्तित्व और ज्ञान दोनों के लिए द्रव्य पर आश्रित होते हैं। यही उनकी आपातिकता (Contingency) है।

स्पिनोज़ा के अनुसार पर्याय दो प्रकार के हैं : प्रथम अनन्त व द्वितीय सान्त। ईश्वर के शरीर के रूप में पर्याय अनन्त और नित्य है पर व्यक्ति रूप में पर्याय सान्त और अनित्य हैं। वैसे तो सभी पर्याय सान्त और अनित्य ही होते हैं किन्तु दृष्टि भेद के कारण एक ही पर्याय अनित्य या नित्य तथा अनन्त या सान्त हो सकता है। चैतन्य के रूप में बुद्धि

---

1. By a mode is meant the affections or modifications of substance or that is in another thing throngh which also it is conceived."—Spinoza

(Understanding) और संकल्प (Will) अनन्त और नित्य पर्याय हैं किन्तु जीवात्माओं के रूप में सान्त और अनित्य पर्याय हैं। इसी प्रकार विस्तार के रूप में गति (Motion) और स्थिति (Rest) अनन्त और नित्य पर्याय हैं तथा विभिन्न जड़-पदार्थों के रूप में सान्त और अनित्य हैं।

पर्यायों के वास्तविक स्वरूप को हम एक अन्य दृष्टि से भी भली भाँति समझ सकते हैं। यदि पर्यायों की द्रव्य से तुलना की जाय तो हम देखेंगे कि द्रव्य का अस्तित्व अनिवार्य है किन्तु पर्याय का अस्तित्व केवल सम्भाव्य है। द्रव्य का ज्ञान और द्रव्य का अस्तित्व दोनों अभिन्न हैं अर्थात् द्रव्य का सत्त्व (Essence) और उसका अस्तित्व (Existence) दोनों अभिन्न हैं[1] किन्तु पर्याय के सत्त्व (Essence) और उसके अस्तित्व (Existence) में अभिन्नता नहीं पाई जाती है।[2] यही उनकी आपातिकता (Contingency) है पर यह आराजकता नहीं है। संसार में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं वे पूर्ण रूप में निर्धारित एवम् नियत होती हैं। प्रत्येक वैयक्तिक, ससीम और सगुण वस्तु या घटना इसी प्रकार की अन्य वैयक्तिक, ससीम और सगुण वस्तु या घटना द्वारा निर्धारित होती है और पुनः यह द्वितीय वस्तु या घटना किसी तृतीय वैयक्तिक, ससीम और सगुण वस्तु या घटना द्वारा निर्धारित होती है और इस प्रकार यह प्रक्रिया अनन्त तक जारी रहती है। कारण-कार्य श्रेणी की अनन्तता के कारण इस व्यावहारिक जगत में कोई प्रथम या आदि कारण नहीं हो सकता। सभी ससीम कारण द्वितीय कारण होते हैं, प्राथमिक या आदि कारण तो ईश्वर ही हो सकता है। जगत के सभी सीमित पर्याय कारण-कार्य की अटूट शृंखला में इस प्रकार आबद्ध होते हैं कि उनमें आकस्मिकता, विकल्प और प्रयोजन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। कोई भी घटना जिस प्रकार है, या घटित हो रही है, उससे अन्यथा घटित नहीं हो सकती। प्रकृति में पूर्ण नियतत्ववाद (Determinism) है। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगत में पूर्ण नियतत्ववाद लागू होता है।

यद्यपि पर्याय अपने अस्तित्व के लिए द्रव्य पर पूर्णतया आश्रित हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पर्यायों के बिना द्रव्य की कल्पना की जा सकती है। न तो द्रव्य के बिना पर्यायों की कल्पना की जा सकती हैं और न पर्यायों के बिना द्रव्य की कल्पना की जा सकती है। द्रव्य नित्य विकारवान है। वह नित्य, क्रियाशील गतिशील और परिणमनशील है। परिणमनशीलता द्रव्य का स्वाभाविक लक्षण है। जिस प्रकार त्रिभुज की परिभाषा से त्रिभुज के अनेक गुण स्वाभाविक रूप से निगमित होते हैं उसी प्रकार द्रव्य की परिणमनशीलता से उसके अनेक पर्याय व्युत्पन्न होते हैं।

इस सन्दर्भ में कुछ दार्शनिकों ने सन्देह प्रगट किया है कि नित्य द्रव्य से पर्यायों या विकारों की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है ? हेगल ने कटाक्ष किया है, "स्पिनोज़ा का ईश्वर उस सिंह की खोह है, जिसकी ओर सभी पद-चिह्न जाते हैं पर जहाँ से कोई पद-चिह्न बाहर नहीं लौटते।" यहाँ हेगल का तात्पर्य यह है कि पर्यायों से द्रव्य का अस्तित्व तो सिद्ध होता है पर द्रव्य से पर्यायों का अस्तित्व किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थात्

---

1. "Essence involves existence."

द्रव्य से पर्यायों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इसे स्पिनोज़ा ने कहीं स्पष्ट नहीं किया है।

पर स्पिनोज़ा के विरुद्ध हेगल का उपर्युक्त आक्षेप तर्कसंगत नहीं है। यह आक्षेप स्पिनोज़ा के दर्शन के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा पर आश्रित है। स्पिनोज़ा का द्रव्य निष्क्रिय, अचल, स्थिर और कूटस्थ नहीं है। वह स्वभावतः क्रियाशील है तथा वह अपनी सृजन-शक्ति का सदा उपयोग करता रहता है। उससे स्वाभाविक रूप में पर्याय उत्पन्न होते रहते हैं। जिस प्रकार पर्याय द्रव्य के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं उसी प्रकार द्रव्य भी पर्यायों को उत्पन्न करता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि द्रव्य और उसके पर्यायों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है ? उनके बीच कारण-कार्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि कारण-कार्य सम्बन्ध के लिए दो पृथक् इकाइयों की आवश्कयता होती है पर स्पिनोज़ा के दर्शन में केवल एक ही इकाई है जो द्रव्य या ईश्वर है। वस्तुतः द्रव्य और पर्याय में आधार और आधेय का सम्बन्ध है। मार्टिनो के अनुसार पर्याय द्रव्य का एक प्रतिदर्श (Sample) है। जिस प्रकार किसी प्रतिदर्श की परीक्षा करने से सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार किसी पर्याय के माध्यम से सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पर्यायों के दो रूप हैं : व्यष्टि रूप एवम् समाष्टि रूप। व्यष्टि रूप में प्रत्येक पर्याय द्रव्य है। समाष्टि रुप में सभी पर्याय मिलकर विश्व (Natura Naturata) का निर्माण करते हैं। व्यष्टि और समष्टि के बीच एकता होती है क्योंकि दोनों में एक ही द्रव्य उभयनिष्ठ होता है।

ऊपर स्पिनोज़ा ने कहा है कि व्यष्टि रूप में प्रत्येक पर्याय द्रव्य है तथा पर्याय अनेक हैं। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि द्रव्य अनेक हैं ? इसी बात को लेकर एक बार जॉन केयर्ड (John Caird) ने कहा था कि अन्ततः स्पिनोज़ावाद बहुलवाद में परिवर्तित हो जाता है अथवा जैसा प्रो० पाण्डेय ने लिखा है : "स्पिनोज़ावाद की इति उसके अथ (आरम्भ) के ठीक विपरीत है।"[1] उसका प्रारम्भ तो द्रव्य के अद्वैतवाद से होता है किन्तु उसका अन्त पर्यायों के बहुलवाद में होता है जो किसी न किसी रूप में द्रव्य की बहुलता को सिद्ध करता है।

पर यदि स्पिनोज़ा के दर्शन का वास्तविक मर्म समझ लिया जाय तो केयर्ड का उपर्युक्त आक्षेप सही नहीं होगा। स्पिनोज़ा ने पर्यायों को द्रव्य अवश्य कहा है पर वे उसी दृष्टि से द्रव्य नहीं हैं जिस दृष्टि से ईश्वर द्रव्य है। ईश्वर के द्रव्यत्व एवम् पर्यायों के द्रव्यत्व में महान अन्तर है। यहाँ स्पिनोज़ा ने दो दृष्टियों का उल्लेख किया है : प्रथम **व्यावहारिक या अनित्य दृष्टि** (Sub Specie Temporis) और द्वितीय **पारमार्थिक या नित्य दृष्टि** (Sub Specie Aeternitatis)। व्यावहारिक दृष्टि से सभी पर्याय द्रव्य रूप में दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्य अनेक हैं ; सभी जीवात्माएँ एवम् सभी भौतिक वस्तुएँ द्रव्य-रूप में दिखाई देती हैं। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर केवल एक अद्वितीय द्रव्य ही दिखाई देता है। तथाकथित जीवात्माएँ एवम् भौतिक वस्तुएँ द्रव्य न होकर केवल विकार रूप में ही दिखाई पड़ती हैं। द्रव्य की एकता और द्रव्य की अनेकता में हमें जो अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है उसका वास्तविक कारण यह है कि हम उपर्युक्त दो दृष्टियों में भेद नहीं करते। केवल एक

---

1. पाण्डेय, संगल लाल, आधुनिक दर्शन की भूमिका, पृ० 821

ही दृष्टि से देखने पर द्रव्य की एकता और अनेकता दोनों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। नित्य दृष्टि से द्रव्य की एकता एवम् अनित्य दृष्टि से द्रव्य की अनेकता का ज्ञान होता है। अतः स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद और बहुलवाद में कोई विरोध नहीं है।

स्पिनोज़ा ने वैचारिक एवम् वैस्तारिक इन दो दृष्टियों से पर्यायों की दो विधाओं का वर्णन किया है। इन दोनों विधाओं से दो प्रकार के पर्याय व्युत्पन्न होते हैं—समष्टि पर्याय एवम् व्यष्टि पर्याय। वैचारिक विधा के भीतर "ईश्वर" समष्टि पर्याय है तथा जीवात्माएँ व्यष्टि पर्याय। इसी प्रकार वैस्तारिक विधा के भीतर "विराट" समष्टि पर्याय है तथा भौतिक वस्तुएँ व्यष्टि पर्याय। "ईश्वर" और "विराट" का एक क्रम है तथा "जीवात्माओं" और "भौतिक वस्तुओं" का एक दूसरा क्रम है। प्रत्येक वस्तु के अनुरूप एक वृत्ति है तथा प्रत्येक वृत्ति के अनुरूप एक वस्तु है। संसार में जितनी वस्तुएँ है उतनी ही वृत्तियाँ हैं तथा जितनी वृत्तियाँ हैं उतनी ही वस्तुएँ पाई जाती हैं। ईश्वर और विराट तथा वृत्तियों और वस्तुओं के बीच समानान्तर सम्बन्ध पाया जाता है।

ज्ञान-मीमांसा
(Epistemology)

स्पिनोज़ा के दर्शन में ज्ञान-मीमांसा का उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जितना तत्त्व-मीमांसा का है। डेकार्ट्स के दर्शन में तत्त्व-मीमांसा की अपेक्षा ज्ञान-मीमांसा का अधिक महत्त्व है पर स्पिनोज़ा के दर्शन में तत्त्व-मीमांसा प्रधान है तथा ज्ञान-मीमांसा गौण है। अतः स्पिनोज़ा की ज्ञान-मीमांसा उनकी तत्त्व-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही समझी जा सकती है।

स्पिनोज़ा चैतन्य और विस्तार के समानान्तरवाद में विश्वास करते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु आत्मा और शरीर, बिम्ब और प्रतिबिम्ब, प्रत्यय और प्रत्यक्, दृष्टा और दृश्य तथा वृत्ति और वस्तु दोनों युगपद हैं। आत्मा और शरीर तात्त्विक दृष्टि से एक ही हैं ; केवल उनके बीच दृष्टिकोण का अन्तर है। आत्मा शरीर का ही एक प्रत्यय है तथा शरीर आत्मा का ही एक प्रत्यक् है। आत्मा और शरीर के तादात्म्य-सम्बन्ध के कारण ही आत्मिक और शारीरिक विकास-क्रम में समानान्तरवाद पाया जाता है। मानसिक विकास और शारीरिक विकास एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। स्पिनोज़ा के अनुसार मानव-मन के विकास के तीन सोपान पाए जाते हैं :

1. अज्ञान और परतन्त्रता का स्तर।
2. ज्ञान और स्वतन्त्रता का स्तर।
3. दर्शन और ईश्वर से बौद्धिक प्रेम का स्तर।

मानव-मन के उपर्युक्त विकास-क्रम को ध्यान में रखकर स्पिनोज़ा ने तीन प्रकार के ज्ञानों का उल्लेख किया है—

(1) काल्पिनक ज्ञान (Imaginatio)

(2) बौद्धिक ज्ञान (Ratio)

(3) प्रातिभ ज्ञान (Intuitio)

इन तीन प्रकार के ज्ञानों के विषय में हम पृथक्-पृथक् रूप में विचार करेंगे।

(1) **काल्पनिक ज्ञान (Imaginatio)**—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान को स्पिनोज़ा ने काल्पनिक ज्ञान कहा है क्योंकि यह ज्ञान अस्पष्ट (Confused) और अपर्याप्त (Inadequate) होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न नहीं होता क्योंकि हमें उनके बाह्य कारणों का साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान में हम इस बात का निर्णय करने में सदा असमर्थ रहते हैं कि कहाँ तक वह ज्ञान बाह्य वस्तुओं के प्रभाव के कारण है और कहाँ तक शरीर के प्रभाव के कारण है। इस ज्ञान के भीतर अमूर्त प्रत्ययों का ज्ञान, संवेदनाओं का ज्ञान तथा स्मृति का ज्ञान शामिल है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि कोई अपर्याप्त विज्ञान स्वतः अयथार्थ नहीं होता ; वह अयथार्थ तब होता है जब हम उसकी अपर्याप्तता का विचार न करके उसे पर्याप्त और सत्य मान लेते हैं। उदाहरण के लिए, सामान्य प्रत्यय (General Concepts), लक्ष्य का प्रत्यय (The Idea of Ends) एवम् संकल्प-स्वातन्त्र्य का प्रत्यय (The Idea of the Freedom of Will) सभी अयथार्थ प्रत्यय हैं क्योंकि सभी "अपर्याप्त" प्रत्यय हैं। हमें केवल उनके आसन्न (Proximate) कारणों का ही ज्ञान है ; उनके दूरस्थ (Remote) कारणों के विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। एक प्यासा बालक यही समझता है कि वह अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य द्वारा जल की माँग कर रहा है तथा एक कायर व्यक्ति यही सोचता है कि वह अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य के कारण पलायन कर रहा है पर वास्तविकता ऐसी नहीं होती। किसी व्यक्ति की प्यास या उसका पलायन उतना ही नियन्त्रित है जितना किसी वृक्ष से फल का पृथ्वी पर गिरना नियन्त्रित है। संक्षेप में : हमारा कारण-कार्य का ज्ञान सदा अस्पष्ट और अपर्याप्त होता है। अतः वे सभी ज्ञान काल्पनिक ज्ञान के भीतर समाहित किए जाते हैं।

इसी प्रकार श्रुत ज्ञान और संकेतों से प्राप्त ज्ञान भी काल्पनिक ज्ञान के भीतर आते हैं। जन-श्रुतियों, लोक-कथाओं, किंवदन्तियों इत्यादि से प्राप्त ज्ञान श्रुत ज्ञान है। संकेत-ज्ञान शब्द ज्ञान है। स्पिनोज़ा के अनुसार शब्द वास्तविक वस्तुओं की ओर संकेत न कर काल्पनिक वस्तुओं की ओर ही संकेत करते हैं। काल्पनिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान न होकर केवल विश्वास (Belief) या मत (Opinion) ही हो सकता है। काल्पनिक ज्ञान द्वारा हमें तत्त्व के **विश्व-रूप** (Natura Naturata) का ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) **बौद्धिक ज्ञान (Ratio)**—यह काल्पनिक ज्ञान से उच्चतर ज्ञान है। जहाँ काल्पनिक ज्ञान में हमें "भेदों" का ज्ञान होता है वहीं बौद्धिक ज्ञान में भेदों में अनुस्यूत अभेद अथवा द्वैत में निहित अद्वैत का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें हमें ईश्वर के "**विश्वात्म-रूप**" (Natura Naturans) का ज्ञान होता है। इसमें अमूर्त प्रत्ययों (Abstract Ideas) के माध्यम से ज्ञान प्राप्त न कर "सामान्य तत्त्वों" (Common Notions) और निगमन (Deduction) द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। बौद्धिक ज्ञान में मूल प्रत्ययों (Simple Ideas) का ज्ञान भी शामिल है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें केवल प्रतिबिम्बों का ही ज्ञान होता है पर बौद्धिक ज्ञान द्वारा हम बिम्बों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रतिबिम्ब कल्पना है जो अनित्य दृष्टि (Sub Specie Temporis) द्वारा प्राप्त की जाती है ; इसके विपरीत बिम्बों का ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है जो नित्य दृष्टि (Sub Specie Aeternitatis) द्वारा प्राप्त किया जाता है। "सामान्य तत्त्वों" (Common Notions) से स्पिनोज़ा का तात्पर्य अमूर्त सामान्यों (Abstract Universals)

से न होकर उन सामान्य गुणों से है जो सामान्य रूप से सभी वृत्तियों और वस्तुओं में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए सभी वस्तुओं में विस्तार (Extension) नामक गुण पाया जाता है तथा सभी आत्माओं में चैतन्य (Thought) नामक गुण पाया जाता है। विस्तार एवम् चैतन्य नामक तत्त्वों का ज्ञान बौद्धिक ज्ञान कहा जाता है। "जो सभी वस्तुओं में सामान्य है और जो अंश तथा पूर्ण में समान रूप से विद्यमान है उसका ज्ञान हमें पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है।"[1] विस्तार और चैतन्य का ज्ञान पर्याप्त ज्ञान (Adequate Knowledge) है। किसी वस्तु या वृत्ति का पर्याप्त ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उसका आन्तरिक सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित किया जाय क्योंकि ईश्वर के बिना न तो उसका अस्तित्व हो सकता है और न उसका ज्ञान। "वे सभी विज्ञान जो ईश्वर से सम्बद्ध किए जाते हैं यथार्थ होते हैं।"[2]

मूल प्रत्ययों एवम् सामान्य तत्त्वों के ज्ञान से **निगमन** होता है। स्पिनोज़ा के अनुसार निगमन दो प्रकार का होता है : प्रथम कार्य से कारण निगमन करना तथा द्वितीय आधार-वाक्यों (Premises) से निष्कर्ष (Conclusion) को निष्कर्षित करना। निगमन एक प्रकार का परोक्ष ज्ञान है क्योंकि इसमें हेतु के माध्यम से पक्ष एवम् साध्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। बौद्धिक ज्ञान को स्पिनोज़ा ने यथार्थ विश्वास (True Belief) के नाम से अभिहित किया है।

(3) प्रातिभ ज्ञान (Intuitio)—काल्पनिक ज्ञान द्वारा हमें विश्व का ज्ञान प्राप्त होता है ; बौद्धिक ज्ञान द्वारा हमें विश्वात्म का ज्ञान प्राप्त होता है पर प्रातिभ ज्ञान के द्वारा हमें ईश्वर के अद्वितीय, निर्गुण एवम् अनिर्वचनीय रूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इसी अपरोक्ष ज्ञान को स्पिनोज़ा ने प्रातिभ ज्ञान (Scientia Intuitiva) की संज्ञा प्रदान की है।

प्रातिभ ज्ञान में चार विशेषताएँ पाई जाती हैं। प्रथम यह ईश्वर के गुणों के सत्त्व का ज्ञान है। इसमें ईश्वर के गुण पृथक्-पृथक् अवभासित न होकर एक ही अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें ईश्वर को एक ही गुण का पूर्ण ज्ञान होने पर हमें पूर्ण ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रातिभ ज्ञान के स्तर पर चैतन्य और विस्तार का भेद भी समाप्त हो जाता है। द्वितीय, प्रातिभ ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब कोई वस्तु केवल अपने तत्त्व रूप में देखी जाती है। तृतीय, जब कोई वस्तु अपने आसन्न कारण के माध्यम से देखी न जाकर अपने आदि कारण (ईश्वर) के द्वारा देखी समझी जाती है तो प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है। चतुर्थ, प्रातिभ ज्ञान बिलकुल स्पष्ट और सुभिन्न प्रत्यय का परिणाम है। संक्षेप में—**"जब हम ईश्वर के गुणों के पर्याप्त ज्ञान द्वारा वस्तुओं के सत्त्व का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उसे प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है।"**[3]

स्पिनोज़ा ने एक मूर्त दृष्टान्त द्वारा काल्पनिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान एवम् प्रातिभ ज्ञान के भेद और सम्बन्ध को समझाने की चेष्टा की है। मान लिया कि तीन संख्याएँ दी हुई हैं और

---

1. "That which is common to all things and which is equally in the part and the whole, cannot but be adequately conceived."
2. All ideas, in so far as they are referred to God are true."
3. "This kind of knowledge proceeds from an adequate idea of the absolute essence of certain attributes of God to the adequate knowledge of the essence of things"—Ethics.

उनके आधार पर चौथी संख्या को प्राप्त करना है। वह चौथी संख्या ऐसी है कि उसका तीसरी संख्या से वही सम्बन्ध है जो दूसरी संख्या का पहली संख्या से सम्बन्ध है। काल्पनिक ज्ञान जो बिलकुल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है, उपर्युक्त समस्या का समाधान करने में पूर्णतया असमर्थ होगा। केवल प्रत्यक्ष के आधार पर किसी भी समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। साधारण व्यापारी उपर्युक्त समस्या का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम दूसरी और तीसरी संख्या का गुणनफल निकालेगा और पुनः उसमें पहली संख्या द्वारा भाग देकर चतुर्थ संख्या को प्राप्त कर लेगा। स्पिनोज़ा का यही बौद्धिक ज्ञान है। पर यदि संख्याएँ बिलकुल साधारण हैं अथवा कोई व्यक्ति असाधारण प्रातिभा का है तो इस गुणा-भाग की भी आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए यदि संख्याएँ 1, 2 और 3 हैं तो बिना किसी गुणा-भाग के ही हम कह सकते हैं कि चौथी संख्या 6 होगी। स्पिनोज़ा का यही प्रातिभ ज्ञान है।

स्पिनोज़ा के प्रातिभ ज्ञान में सत्य ज्ञान के सभी लक्षण विद्यमान होते हैं। प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न ज्ञान है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से इसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। बौद्धिक ज्ञान का मूल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भले ही ढूँढ़ लिया जाय, पर प्रातिभ ज्ञान में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का कुछ भी अंश विद्यमान नहीं होगा। प्रातिभ ज्ञान विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है जो सदा सत्य और प्रामाणिक होता है क्योंकि मनुष्य की बुद्धि ईश्वर की अनन्त बुद्धि का ही एक अंश है। स्पिनोज़ा की प्रसिद्ध उक्ति है—"जहाँ तक हमारी बुद्धि वस्तुओं को सत्यतः देखती है वहाँ तक वह ईश्वर की अनन्त बुद्धि का अंश है।"[1] प्रातिभ ज्ञान बुद्धि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

सत्य और असत्य का निकष
(Criterion of Truth and Falsehood)

स्पिनोज़ा ने **स्पष्टता** (Clearness), **सुभिन्नता** (Distinctness) और **निश्चयात्मकता** (Certainty) को सत्य का निकष माना है। प्रथम दो निकष तो वही है जिनका डेकार्ट्स ने प्रतिपादन किया था, केवल तीसरा निकष स्पिनोज़ा का अपना निकष है। उपर्युक्त तीनों सत्य के आन्तरिक (Intrinsic) निकष हैं। इनके अतिरिक्त सत्य का एक बाह्य (Extrinsic) निकष भी है जिसे **संवादिता** (Correspondence) का निकष कहा जाता है। जब किसी वृत्ति और वस्तु के बीच अनुरूपता होती है तो वह ज्ञान सत्य कहा जायगा, पर यदि उनके बीच अनुरूपता या संवादिता नहीं है तो वह ज्ञान असत्य कहा जायेगा। मान लिया कि हमारे समक्ष आलमारी रखी हुई है। यदि हमारे आलमारी के विज्ञान तथा बाह्य आलमारी के गुणों में अनुरूपता है तो हमारा विज्ञान सत्य समझा जायेगा अन्यथा वह असत्य होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कल्पना और विश्वास के प्रत्ययों की सत्यता संवादिता के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त सत्यता के आन्तरिक निकष के आधार पर जो सत्य की कसौटी निर्धारित की गई है उसे संसक्तता (Coherence) के नाम से अभिहित किया जाता है। जहाँ तक स्पिनोज़ा का सम्बन्ध है वह सत्य के निकष रूप में संवादिता एवम् संसक्तता दोनों को मान्यता

1. नीतिशास्त्र, भाग 2, प्रमेय 11 "Hence, it follows that the human mind is part of the infinite intellect of God."

प्रदान करते हैं। वे कहते हैं, "सत्यता के स्वरूप के विषय में यह निश्चित है कि किसी सत्य विचार की असत्य विचार से केवल बाह्य लक्षणों द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता, प्रत्युत विशेषतः आन्तरिक लक्षणों द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी कारीगर ने मकान की वास्तविक अवधारणा की है यद्यपि वह मकान अस्तित्व में न था, न है और न कभी रहेगा, तो भी उसकी अवधारणा वही है चाहे वह मकान हो या न हो।"[1] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि यहाँ स्पिनोज़ा ने संवादिता को सत्य का निकष न मानकर संसक्तता को ही सत्य का निकष स्वीकार किया है। वास्तव में संसक्तता और संवादिता एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर-पूरक ही हैं। संसक्तता संवादिता के बिना अधूरी है। यहाँ संवादिता से स्पिनोज़ा का तात्पर्य अपने स्वभाव की अनुरूपता से है। "प्रत्यय को अपने स्वाभाविक सत्य (Formal Essence) के अनुरूप होना चाहिए। स्पष्ट है कि बुद्धि प्रकृति के रूपाकार को यथार्थतः प्रतिबिम्बित कर सके, इसके लिए उसे अपने सभी प्रत्ययों को उस प्रत्यय से व्युत्पन्न करना है जो सम्पूर्ण प्रकृति के उद्‌भव तथा स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है ताकि वह अन्य प्रत्ययों का भी स्रोत बन सके।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि संसक्तता के प्रत्यय में संवादिता का प्रत्यय अन्तर्निहित है किन्तु यदि संवादिता का अर्थ प्रत्यय और विषय की अनुरूपता है न कि प्रत्यय का अपने स्वभाव की यथार्थता के अनुरूप होना तब स्पिनोज़ा के मत के अनुसार संसक्तता के भीतर संवादिता का प्रत्यय शामिल नहीं किया जा सकता।

संसक्तता के प्रत्यय में संवादिता का प्रत्यय शामिल नहीं है, इस बात से भी प्रगट होता है कि स्पिनोज़ा ने **पर्याप्तता** (Adequacy) को भी सत्य का निकष स्वीकार किया है। उनके अनुसार सभी सत्य प्रत्यय पर्याप्त हैं तथा सभी पर्याप्त प्रत्यय सत्य हैं। पर्याप्तता सत्यता की अनिवार्य प्रागपेक्षा है। पर्याप्तता को परिभाषित करते हुए स्पिनोज़ा लिखते हैं "पर्याप्त प्रत्यय से मेरा तात्पर्य उस प्रत्यय से है जिसमें यदि उसका स्वतः अर्थात् बिना किसी विषय के सन्दर्भ में विवेचन किया जाय, एक सत्य प्रत्यय के सभी गुण या आन्तरिक लक्षण पाए जाते हैं।"[2] आन्तरिक लक्षण की आगे व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि आन्तरिक लक्षण का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया है जिससे कि बाह्य लक्षण अर्थात् प्रत्यय की बाह्य विषय से अनुरूपता का निषेध किया जा सके। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सत्य के वे आन्तरिक लक्षण क्या हैं जिनका यहाँ स्पिनोज़ा संकेत कर रहे हैं ? वे स्पष्टता, सुभिन्नता और निश्चयात्मकता ही है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्य के निकष के रूप में स्पिनोज़ा को संवादिता की अपेक्षा संसक्तता अधिक स्वीकार्य है।

सत्य के निकषों का विवेचन करने के बाद स्पिनोज़ा अब सत्य और असत्य की व्याख्या की ओर उन्मुख होते हैं। "हमारे जो भी प्रत्यय निरपेक्ष अर्थात् पर्याप्त और पूर्ण हैं, वे सत्य हैं।"[3] हमारे किसी प्रत्यय को पर्याप्त और पूर्ण कहने का तात्पर्य यह है कि एक पर्याप्त और

1. बुद्धिशोध, 69।
2. नीतिशास्त्र, भाग 2, परिभाषा, 4, "By an adequate idea, I mean an idea which is so far as it is considered in itself, without relation to the object, has all the properties or intrinsic marks of a true idea."
3. नीतिशास्त्र, भाग 2, प्रमेय 34 "Every idea, which in us is absolute or adequate and perfect, is true."

पूर्ण प्रत्यय ईश्वर में है। ईश्वर मानव मन या बुद्धि का अन्तर्यामी तत्त्व है अतः यह प्रत्यय बुद्धि में स्वतः अंकुरित होता है। "जहाँ तक सभी प्रत्ययों का सम्बन्ध ईश्वर से है, वहाँ तक वे सभी सत्य हैं। कोई प्रत्यय स्वतः असत्य नहीं है।"[1]

असत्य सत्य का आत्यन्तिक अभाव नहीं है, "असत्य से तात्पर्य केवल ज्ञान के साधारण अभाव से है जो प्रत्येक अपर्याप्त, खण्डित एवम् अस्पष्ट विज्ञान में पाया जाता है।"[2] सच पूछा जाय तो "असत्य विज्ञानों में ऐसी कोई भावात्मक बात नहीं होती जिसके कारण उन्हें असत्य घोषित किया जाता है।"[3] असत्य प्रत्यय से तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसका उन प्रत्ययों से ठीक सामञ्जस्य नहीं बैठता जो ईश्वर के प्रत्यय से अनिवार्यतः निगमित होते हैं। सत्य प्रत्यय वही है जिसका ईश्वर से निगमित प्रत्ययों के साथ सामञ्जस्य बैठता हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पिनोज़ा सत्य के **संसक्तता सिद्धान्त** (Coherence Theory) को अपने दर्शन में सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

सत्य और असत्य के निकष का विवेचन करने के बाद हम विचार करेंगे कि स्पिनोज़ा ने जो काल्पनिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान एवम् प्रातिभ ज्ञान में भेद किया है उनमें किस ज्ञान को सत्य तथा किस ज्ञान को असत्य की संज्ञा दी जायेगी। उपर्युक्त तीन प्रकार के ज्ञान की सत्यता के विषय में स्पिनोज़ा कहते हैं कि "केवल प्रथम प्रकार का ज्ञान असत्यता का कारण है, द्वितीय और तृतीय प्रकार का ज्ञान अनिवार्यतः सत्य है।"[4] प्रथम प्रकार का ज्ञान स्वतः प्रामाणिक नहीं होता उसे प्रमाणित या सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। "द्वितीय और तृतीय प्रकार का ज्ञान ही हमें असत्य से सत्य को पृथक् करने की शिक्षा देता है, प्रथम प्रकार का ज्ञान नहीं।"[5] द्वितीय और तृतीय प्रकार के ज्ञान केवल स्वतः प्रमाणित ही नहीं हैं वरन् प्रथम प्रकार के ज्ञान को भी प्रमाणित करने की क्षमता रखते हैं। जिस प्रकार प्रकाश अपने को और अन्धकार दोनों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सत्य, सत्य और असत्य दोनों को प्रकाशित करता है। सत्य, सत्य का ज्ञान और सत्य के प्रति विश्वास तीनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं।[6]

द्वितीय प्रकार का ज्ञान अर्थात् बौद्धिक ज्ञान निगमनात्मक होने के कारण अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्ततः तृतीय प्रकार के ज्ञान अर्थात् प्रातिभ ज्ञान पर निर्भर होता है। किसी निगमन के निष्कर्ष तभी प्रामाणिक और सत्य हो सकते हैं जबकि उसके आधार-वाक्य स्वतः प्रामाणिक हों। यदि किसी हेत्वानुमान (syllogism) के आधार-वाक्य स्वतः प्रामाणिक नहीं हैं तो उन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी दूसरे हेत्वानुमान की आवश्यकता होगी और

---

1. वही, प्रमेय 32 "All ideas in so far as they are referred to God, are true".
2. नीतिशास्त्र, भाग 2, प्रमेय 35, "Falsity consists in the privation of knowledge which inadequate, fragmentary or confused ideas involove."
3. वही, प्रमेय 33, "There is nothing positive in ideas, which causes to be called false."
4. नीतिशास्त्र, भाग 2, प्रमेय 41, "Knowledge of the first kind is the only source of falsity, knowledge of the second and third kind is necessarily true."
5. वही, प्रमेय, 42, "Knowledge of the second and third kind....teaches us to distinguish the true from the false".
6. वही, प्रमेय, 43. "He who has true idea simultaneously knows that he has a true idea and cannot doubt of the truth of the thing perceived."

पुनः इस द्वितीय हेत्वानुमान के आधार-वाक्यों को प्रमाणित करने के लिए किसी तृतीय हेत्वानुमान की आवश्कयता होगी और इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था-दोष (Fallacy of Infinite Regress) अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। इस दोष से हम तभी वच सकते हैं जबकि निगमन के आधार-वाक्य स्वतः प्रामाणिक हों। वह प्रातिभ ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। प्रतिभान द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही एक मात्र स्वतः प्रामाणिक ज्ञान है जो काल्पनिक ज्ञान एवम् बौद्धिक ज्ञान दोनों का प्रमापक है। इसका कारण यह है कि केवल प्रातिभ ज्ञान के भीतर ही सत्य ज्ञान के तीनों निकष अर्थात् स्पष्टता, सुभिन्नता एवम् निश्चयात्मकता पाए जाते हैं।

काल्पनिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान एवम् प्रातिभ ज्ञान की उत्तरोत्तर वैधता को सिद्ध करने के लिए स्पिनोज़ा ने हमारे सूर्य के ज्ञान का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

(1) सूर्य के विषय में जो हमारा निम्नतम ज्ञान है वह बताता है कि सूर्य पृथ्वी से लगभग 200 फीट की ऊँचाई पर है, उसका आकार गोल थाली के समान है, वह पूरब में उगता है और दिन भर की यात्रा के बाद पश्चिम में डूब जाता है। संकुचित और सीमित दृष्टिकोण से यह ज्ञान भले ही सत्य और पर्याप्त हो पर जब हम बौद्धिक और व्यापक दृष्टिकोण से इसे देखने का प्रयत्न करते हैं तो यह ज्ञान असत्य और अपर्याप्त ही दिखाई पड़ता है। यही स्पिनोज़ा का काल्पनिक ज्ञान है।

(2) सूर्य के विषय में जो हमारा द्वितीय उच्चतर ज्ञान है, उसके अनुसार सूर्य एक विशाल पिण्ड है जो पृथ्वी से 14,48,41,00 कि० मी० ऊँचाई पर स्थित है, वह पृथ्वी से लगभग 1½ लाख गुना बड़ा है तथा सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर पश्चिम से पूरब की ओर चक्कर लगाती है—यह ज्ञान काल्पनिक ज्ञान न होकर विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है।

(3) पर जब हम इस बौद्धिक ज्ञान से भी आगे बढ़कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में सूर्य का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे समक्ष एक उच्चतम ज्ञान प्रगट होता है। यही प्रातिभ ज्ञान है। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सूर्य नहीं है वरन् असंख्य सूर्यों में से केवल एक सूर्य है। कुछ तो इस सूर्य से भी अति विशालकाय सूर्य हैं। अतः इन तमाम सूर्यों के सन्दर्भ में जब हम अपने सूर्य का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं तो जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। प्रत्येक ज्ञान अपने स्तर पर तो पर्याप्त है पर अपने श्रेष्ठतर ज्ञान के सन्दर्भ में अपर्याप्त है।

स्पिनोज़ा के दर्शन का मूल्यांकन

स्पिनोज़ा निस्सन्देह विश्व के श्रेष्ठतम दार्शनिकों में से एक हैं। पाश्चात्य दर्शन में यदि उनकी किसी दार्शनिक से तुलना की जा सकती है तो वे प्लेटो या हेगल ही हो सकते हैं। भारतीय दर्शन में यदि उनकी किसी दार्शनिक से उपमा दी जा सकती है तो वे या तो शंकराचार्य होंगे या श्री अरविन्द घोष। मध्ययुग के बाद डेकार्ट्स ने दर्शनशास्त्र को एक नवीन दार्शनिक प्रणाली प्रदान की तो स्पिनोज़ा ने एक नया दार्शनिक निकाय (System) दिया। उनके दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता उनकी **बौद्धिकता** है। अपने विशुद्ध बुद्धिवाद के आधार पर स्पिनोज़ा दर्शन के उस उच्च शिखर पर पहुँचे जहाँ पहुँचने के लिए अन्य दार्शनिकों ने रहस्यवाद (Mysticism) का सहारा लिया।

यद्यपि स्पिनोज़ा के दर्शन में कई परस्पर-विरोधी विचारों का संगम देखने को मिलता है पर उन्होंने इन परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के बीच ऐसा पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया जैसा अन्य दर्शनों में देखना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। प्रकृतिवाद और रहस्यवाद, बहुलवाद और अद्वैतवाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, भक्तिवाद और ज्ञानवाद, वस्तुवाद और विज्ञानवाद, निरीश्वरवाद और ईश्वरवाद इत्यादि परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ उनमें एक साथ दिखाई पड़ती हैं। इतना होते हुए भी स्पिनोज़ा का दर्शन **संकलनवाद या सर्वसंग्रहवाद** (Eclecticism) नहीं है। उनका दर्शन सर्वथा नवीन व मौलिक दर्शन है।

पर उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी स्पिनोज़ा के दर्शन में कुछ ऐसी खटकने वाली बातें दिखाई देती हैं जिनका कोई भी दार्शनिक बुद्धि समर्थन नहीं कर सकती। उनके दर्शन में निम्न दोष आसानी से देखे जा सकते हैं—

(1) स्पिनोज़ा का सम्पूर्ण दर्शन ज्यामितिक प्रणाली पर आधारित है। वे दर्शन में भी गणित के समान असंदिग्ध निष्कर्ष की प्राप्ति करना चाहते थे। गणित की स्पष्टता और असंदिग्धता को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि इसे अन्यत्र क्यों नहीं अपनाया जा सकता ? इसी कारण उन्होंने कहा कि मैं मानव की क्रिया तथा वासना पर रेखा और धरातल के समान विचार करना चाहता हूँ।[1] किन्तु मानवीय क्रियाओं के ऊपर ज्यामितिक प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ज्यामिति का सम्बन्ध विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध (Relations of Ideas) से होता है जबकि दर्शन और मनोविज्ञान का सम्बन्ध तथ्य-जगत (Matters of Fact) से होता है। ज्यामिति की प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषणात्मक होती हैं किन्तु दर्शन और मनोविज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ संश्लेषणात्मक होती हैं। अतः ज्यामितिक अथवा गणितीय प्रणाली दर्शन-शास्त्र के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं है।

(2) स्पिनोज़ा के अनुसार मानव-मन में संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of Will) का अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार भौतिक जगत की घटनाएँ कारण-कार्य शृंखला में पूर्णतया आबद्ध हैं उसी प्रकार मानसिक घटनाएँ भी कारण-कार्य शृंखला में पूर्णतया आबद्ध हैं। स्पिनोज़ा का यह सिद्धान्त नीतिशात्र के लिए कठिनाई उत्पन्न करता है। नैतिक कर्म के लिए संकल्प-स्वातन्त्र्य की आवश्यकता होती है। पर स्पिनोज़ा का दर्शन नियतिवाद पर बल देता है। मानव प्रकृति का एक अविच्छेद्य अंग है। उसका व्यवहार पूर्णतः यान्त्रिक है। अतः वह स्वतन्त्र संकल्प नहीं कर सकता क्योंकि मन स्वयं कारण-शृंखला में एक कार्य है।[2] अतः यदि स्पिनोज़ा के नियतिवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो नीति-शास्त्र, विधि-विज्ञान इत्यादि विज्ञान समाप्त हो जायेंगे।

(3) स्पिनोज़ा का द्रव्य-सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। एक ओर स्पिनोज़ा द्रव्य के भीतर अनन्त गुणों की स्थापना करते हैं और दूसरी ओर उसे निर्गुण और निराकार घोषित करते हैं।

---

1. नीतिशास्त्र, भाग 3, आमुख, "I shall consider human actions and appetites just as if I were considering lines or bodies."
2. नीतिशास्त्र, भाग 2, प्रमेय XLVIII "In the mind, there is no absolute or free will ; but the mind is determined to wish this or that by a cause which has also been determined by another cause, and so this last by another cause and so on to infinity

भला जिस द्रव्य के भीतर विस्तार का गुण विद्यमान होगा वह निर्गुण कैसे हो सकता है ? स्पिनोज़ा का यह कथन कि हम द्रव्य को निर्गुण इसलिए नहीं कहते कि उसके भीतर गुणों का आत्यन्तिक अभाव है बल्कि उसे निर्गुण इसलिए कहते हैं कि उसके भीतर गुणों की पराकाष्ठा है, स्वीकार्य नहीं हो सकता।

(4) स्पिनोज़ा ने द्रव्य के भीतर परस्पर-विरोधी गुणों की स्थापना की है। चैतन्य और विस्तार परस्पर-विरोधी गुण हैं। वे एक ही द्रव्य के भीतर किस प्रकार निवास कर सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि जिस द्रव्य में विस्तार गुण अनिवार्य रूप में विद्यमान होगा वह भला भौतिक गुणों से किस प्रकार वंचित रह सकता है ? भौतिक वस्तु तत्त्व का स्थान कभी भी नहीं ले सकती। यही कारण है कि आगे चलकर लाइब्नित्ज़ ने विस्तार का परित्याग कर केवल चैतन्य को ही तत्त्व के रूप में स्वीकार किया।

(5) स्पिनोज़ा का सर्वेश्वरवाद (Pantheism) भी दोषमुक्त नहीं है। यदि ईश्वर और जगत् के बीच अभेद सम्बन्ध है तो जगत के सारे दोष ईश्वर के ऊपर आरोपित हो जायेंगे एवम् ईश्वर के सम्पूर्ण गुण जगत् पर आरोपित करने होंगे जो उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का अनन्यत्व-सिद्धान्त स्पिनोज़ा के अभेद-सिद्धान्त से अधिक श्रेष्ठ है। शंकराचार्य के अनुसार जगत ब्रह्म का केवल विवर्त है। जगत ब्रह्म पर पूर्णतया आश्रित है किन्तु ब्रह्म जगत के ऊपर किसी भी प्रकार आश्रित नहीं है। इसी को अद्वैत वेदान्त में अनन्यत्व कहा जाता है जिसका निहितार्थ यह है कि ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से स्पिनोज़ा का सर्वेश्वरवाद सर्वथा दोषपूर्ण है।

3. गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइब्नित्ज़

(Gottfried Wilhelm Leibnitz 1646-1716)

जीवन-वृत्त—लाइब्नित्ज़ बुद्धिवादी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक हैं। उनका जन्म 21 जून 1645 में जर्मनी के लीपजिग (Leipzig) नगर में हुआ था। उनके पिता लीपजिग विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) के प्रोफेसर थे। लाइब्नित्ज़ जब छः वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। माँ ने जो स्वयं एक प्रोफेसर की पुत्री थी, अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। किन्तु माँ भी लाइब्नित्ज़ का बहुत दिनों तक साथ न दे सकीं। पर वे निराश नहीं हुए। घर पर ही उन्होंने अपने पिता की लाइब्रेरी का खूब सदुपयोग किया और शीघ्र ही वे कई विषयों के पारंगत हो गए। बारह वर्ष की अवस्था तक वे ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेञ्च इत्यादि कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

1663 से 1666 तक लाइब्नित्ज़ ने जेना (Jena) नामक स्थान पर न्याय-शास्त्र (Jurisprudence) का गम्भीर अध्ययन किया। जेना में जब वे न्यायशास्त्र पढ़ रहे थे, उन्होंने विधि-शिक्षा पर एक शोध-निबन्ध लिखा जिससे प्रभावित होकर मेञ्ज (Mainz) के प्रधान पादरी ने अपने राजनीतिक विभाग में काम करने के लिए उनकी नियुक्ति कर दी। इसी सिलसिले में 1672 में लाइब्नित्ज़ को फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें के पास धर्म विरोधी मिस्र पर आक्रमण करने को सलाह देने के लिए पेरिस भेजा गया। वे अपने दौत्य कार्य में सफल तो नहीं हुए पर इस यात्रा के कारण उन्हें पेरिस में चार वर्ष तक रहने का स्वर्ण अवसर प्राप्त

हुआ। वहाँ उन्होंने फ्रान्सीसी दार्शनिक मेलेब्रांश (Malebranche), धर्मशास्त्री आर्नाल्ड (Arnauld) एवम् भौतिकशास्त्री ह्यूगेन्स (Huyghens) से परिचय प्राप्त किया यहाँ रहकर लाइब्नित्ज़ ने एक परिकलन-यन्त्र (Calculating Machine) का आविष्कार किया। जो योग, घटाना, गुणा, भाग और वर्गमूल सभी कार्य कर सकती थी। इसके बाद 1673 में वे लन्दन गए जहाँ उन्हें नूतन विज्ञान, गणित और दर्शन के अध्ययन का पर्याप्त अवसर मिला। 1676 में लाइब्नित्ज़ लन्दन से जर्मनी लौट आना चाहते थे। रास्ते में एक माह तक एमस्टर्डन रहकर उन्होंने स्पिनोज़ा की रचनाओं का अध्ययन किया। वे स्पिनोज़ा से भी मिले और उनसे पर्याप्त देर तक दार्शनिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। 1676 में ही लाइब्नित्ज़ ने चलन-कलन (Differential Calculus) का अविष्कार किया। अन्त में हनोवर (Hanover) में 1716 में उनकी मृत्यु हो गई।

चलन-कलन के अतिरिक्त प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र (Symbolic logic) के आविष्कार का श्रेय भी लाइब्नित्ज़ को जाता है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र से सम्बन्धित उसकी सारी पाण्डुलिपियाँ हनोवर के राजकीय पुस्तकालय में दबी पड़ी थी और बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) को दुबारा इसका आविष्कार करना पड़ा। मृत्यु के बाद भी लाइब्नित्ज़ उपेक्षित रहे। जब वे 1716 में मृत्यु को प्राप्त हुए, हनोवर के राजदरबार का एक भी प्रतिनिधि उनके अन्तिम संस्कार में शामिल नहीं हुआ। 1716 के युग ने लाइब्नित्ज़ की भले ही उपेक्षा की हो पर बीसवीं शताब्दी का युग लाइब्नित्ज़ की मौलिक रचनाओं एवम् दर्शन, विज्ञान, गणित एवम् प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र सम्बन्धी अनुसंधानों के लिए विशेष ऋणी है।

ज्ञान विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ लाइब्नित्ज़ ने सभी ईसाई सम्प्रदायों की एकता तथा रोमन कानूनी संहिता के तार्किक पुनर्वर्गीकरण के लिए भी अथक् प्रयास किया। स्वयं प्रोटेस्टेण्ट ईसाई होते हुए भी उन्होंने केथॉलिक और प्रोटेस्टेण्ट मतों में सन्धि कराने का प्रयत्न किया। उनमें धार्मिक कट्टरता नाम मात्र की भी नहीं थी। वे गिरजाघर तक न जाते थे। इस कारण ईसाई पादरियों को उन पर सन्देह प्रगट करने का अवसर मिला और उन्होंने लाइब्नित्ज़ का नाम बिगाड़कर लॉवेनिक्स (Lovenix) रखा जिसका शाब्दिक अर्थ है : नास्तिक। लाइब्नित्ज़ के धार्मिक लेखों से पता चलता है कि उनकी प्राकृतिक धर्म (Natural Law) में जितनी श्रद्धा थी, उतनी सम्प्रदायवादी धर्मों में नहीं। वे पूर्ण रूप में मानवतावादी दार्शनिक थे।

रचनाएँ—चिदणु शास्त्र (Monadology) और **प्रकृति और अनुग्रह के सिद्धान्त** (Principles of Nature and Grace) उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। पोर्ट रॉयल लॉजिक (Port Royal Logic) के लेखक ऑर्नाल्ड (Arnauld) के साथ लाइब्नित्ज़ का पत्राचार चलता था। इसी ऑर्नाल्ड के लिए लाइब्नित्ज़ ने अपने दर्शन का संक्षेप सैंतीस अनुच्छेदों में लिखा जिसे **तत्त्वविज्ञान का विमर्श** (Discourse on Metaphysics) कहा जाता है। **थियोडिसी** (Theodicy) लाइब्नित्ज़ का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसे उन्होंने द्वैतवादी पियर बेले (Pierre Bayle) के उत्तर में लिखा था। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **नवीन निबन्ध** (Nouveaux) है जिसे उन्होंने लॉक की पुस्तक "मानव बुद्धि पर निबन्ध" की समीक्षा के रूप में लिखा था। लॉक एवम् लाइब्नित्ज़ बिलकुल समकालीन दार्शनिक थे।

लॉक अनुभववादी था तो लाइब्नित्ज़ बुद्धिवादी। लॉक के अनुसार हमारे ज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभव है। लॉक के सिद्धान्त पर आपत्ति प्रगट करते हुए लाइब्नित्ज़ ने लिखा कि "बुद्धि को छोड़कर बुद्धि के पास जो कुछ भी है उसका स्रोत इन्द्रियानुभव ही है।"[1] इस प्रकार लाइब्नित्ज़ ने सिद्ध करने की चेष्टा की कि बुद्धि इन्द्रियानुभव से उत्पन्न नहीं होती बल्कि स्वयं इन्द्रियानुभव ही बुद्धि से उत्पन्न होता है। उनका **"मानवीय बुद्धि पर नवीन निबन्ध"** (New Essays on the Human Understanding) उनके जीवन में प्रकाशित न हो सका। उनकी मृत्यु के पचीस साल बाद उसे प्रकाशित किया गया। लाइब्नित्ज़ की इस पुस्तक का काण्ट के दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसी पुस्तक से प्रभावित होकर काण्ट ने ह्यूम के संशयवाद का खण्डन किया था। दर्शन के इतिहासकारों का विचार है कि यदि बर्कले और ह्यूम को लाइब्नित्ज़ की इस पुस्तक का ज्ञान होता तो तत्कालीन इंग्लैण्ड की दार्शनिक विचारधारा का कुछ और ही स्वरूप होता।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

लाइब्नित्ज़ के पहले दर्शन-जगत में स्पिनोज़ा (1632-1677) और लॉक (1632-1704) का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। स्पिनोज़ा बुद्धिवादी एवम् सर्वेश्वरवादी थे। इसके विपरीत लॉक अनुभववादी एवम् व्यक्तिवादी थे। लाइब्नित्ज़ के दर्शन में स्पिनोज़ा के बुद्धिवाद एवम् लॉक के व्यक्तिवाद का अपूर्व योग पाया जाता है। बुद्धिवादी रूप में लाइब्नित्ज़ लॉक की अपेक्षा स्पिनोज़ा से अधिक सहमत है : उनके अनुसार बुद्धि के जन्मजात प्रत्ययों के विश्लेषण से ही जगत के विषय में वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी रूप में लाइब्नित्ज़ स्पिनोज़ा की अपेक्षा लॉक से अधिक सहमत हैं : उनके अनुसार स्वतन्त्र क्रियाशक्ति द्रव्य का प्रधान लक्षण है। इस प्रकार लाइब्नित्ज़ के दर्शन को **बुद्धिवादी व्यक्तिवाद** (Rationalistic Individualism) की संज्ञा दी जा सकती है। उनके अनुसार चैतन्य ही एक मात्र सत् है ; जिसे हम जड़ कहते हैं वह वास्तव में चैतन्य का ही एक पर्याय है। इस प्रकार चैतन्य को ही एक मात्र सत् मानकर लाइब्नित्ज़ ने अपने दर्शन में एक प्रकार के अद्वैतवाद की स्थापना की है। पुनः लाइब्नित्ज़ के अनुसार इन्द्रिय-संवेदन विचार का एक अपरिहार्य एवम् अनिवार्य सोपान है। इन्द्रिय-संवेदन का परिहार करने से नहीं वरन् उसका सदुपयोग करने से हमें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार उन्होंने अनुभव के तथ्यात्मक सत्यों (Factual Truths of Experience) का बुद्धि के अनिवार्य सत्यों (Necessary Truth of Reason) के साथ भेद स्थापित करके अपने दर्शन में इन्द्रियानुभव को समुचित स्थान दिया। तथ्यात्मक सत्य पर्याप्त कारणता नियम (Principle of Sufficient Reason) द्वारा संचालित होते हैं तथा अनिवार्य सत्य व्याघात नियम (Principle of Contradiction) द्वारा संचालित होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लाइब्नित्ज़ ने अपने दर्शन में बुद्धिवाद और अनुभववाद, अद्वैतवाद और बहुलवाद, सर्वेश्वरवाद और व्यक्तिवाद इन तमाम परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

1. "Nothing can exist in the intellect that did not first exist in sensation except the intellect itself."

बुद्धिवाद और अनुभववाद के समन्वय की समस्या के साथ लाइब्नित्ज़ के समक्ष डेकार्ट्स के द्वैतवाद से उत्पन्न समस्या थी जिसका स्पिनोज़ा ने पूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं किया था। डेकार्ट्स ने चित् और अचित् के बीच आत्यन्तिक विरोध स्वीकार कर ज्ञान को बिलकुल असम्भव बना दिया था। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट्स के द्वैतवाद को समाप्त कर अद्वैतवाद के माध्यम से सारी समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया पर उनके समाधान में भी पर्याप्त त्रुटियाँ थी। प्रथम त्रुटि तो यह थी कि यद्यपि स्पिनोज़ा ने द्रव्यों के द्वैतवाद को समाप्त कर दिया था पर गुणों के द्वैतवाद को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा उनके द्रव्य में चैतन्य और विस्तार नामक दो समानान्तर गुण पाए जाते हैं। पर हमारे समक्ष समस्या यह है कि एक ही द्रव्य में चैतन्य और विस्तार दो परस्पर-विरोधी गुण किस प्रकार पाए जा सकते हैं। स्पिनोज़ा ने इसका कोई समुचित उत्तर नहीं दिया था। स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद में दूसरी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उन्होंने आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता का अपहरण कर लिया था। यदि ईश्वर को ही एकमात्र सत् मान लिया जाय तो आत्माओं के संकल्प-स्वातन्त्र्य की हानि अवश्य होगी। लाइब्नित्ज़ ने अपने दर्शन में इन दोनों त्रुटियों को दूर कर घोषित किया कि चित् और अचित् न तो दो विपरीत द्रव्य हैं और न दो पृथक् गुण ही। वे वास्तव में एक ही हैं जिनमें प्रकार-भेद न होकर केवल मात्रा का ही भेद पाया जाता है। इसे उन्होंने दो विपरीत दिशाओं से सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

(अ) आत्मा की चार चित्त-भूमियाँ होती हैं : स्वचेतन (Self-Conscious), चेतन (Conscious), उपचेतन (Sub-Conscious) एवम् अचेतन (Unconscious)। अचेतन का अर्थ चैतन्य का आत्यन्तिक अभाव नहीं है, अचेतन का वास्तविक अर्थ है : चैतन्य की निम्नतम मात्रा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें चैतन्य का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता हो। वास्तव में लाइब्नित्ज़ के अनुसार चैतन्य ही एक मात्र सत् है तथा संसार में अन्य सत्ताएँ उसी एक तत्त्व के विभिन्न पर्याय हैं। इस प्रकार उन्होंने अचेतन के आत्यन्तिक विरोध को समाप्त कर चैतन्य के अद्वैतवाद की स्थापना की।

(ब) जिस प्रकार चैतन्य का विश्लेषण कर लाइब्नित्ज़ ने चेतन और अचेतन के भेद को समाप्त करने की चेष्टा की उसी प्रकार उन्होंने अचित् तत्त्व का विश्लेषण कर अचेतन और चेतन के बीच द्वैत को समाप्त करने का प्रयत्न किया। लाइब्नित्ज़ के जीवन-काल में न्यूटन के भौतिक शास्त्र का बोलबाला था। न्यूटन के परमाणु (Atom) की कल्पना यह थी कि यदि किसी भौतिक वस्तु का सतत् विभाजन किया जाय तो अन्ततः एक ऐसी अवस्था आएगी जब उसका आगे विभाजन करना सम्भव न हो जाय। भौतिक वस्तु की इस निम्नतम एवम् लघुतम मात्रा को परमाणु कहते हैं। इस परमाणुवाद के विरुद्ध लाइब्नित्ज़ का आक्षेप यह है कि यदि परमाणु भौतिक है तो उसके भीतर विस्तार का गुण अवश्य पाया जाएगा और जहाँ विस्तार है वहाँ विभाजन भी सम्भव है। यदि किसी परमाणु का व्यावहारिक विभाजन सम्भव नहीं है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह अविभाज्य है। विस्तृत वस्तु कभी अविभाज्य हो ही नहीं सकती। विस्तार और विभाजन दोनों साथ-साथ पाए जाएँगे। इस प्रकार लाइब्नित्ज़ के अनुसार कोई भी जड़-पदार्थ "विभाज्य" होने के कारण मूल द्रव्य की श्रेणी में कभी भी रखा नहीं जा सकता। जो पदार्थ मिश्रित, विभाज्य, क्षुण्ण और अनित्य है वह भला

"तत्त्व" कैसे हो सकता है। इस प्रकार लाइब्नित्ज़ ने जड़-पदार्थ को तत्त्व की श्रेणी से बहिष्कृत कर आत्म-तत्त्व के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि जो अमिश्रित, अविभाज्य, अक्षुण्ण और नित्य हो वही "तत्त्व" की श्रेणी में रखा जा सकता है। चूँकि उपर्युक्त सारी विशेषताएँ चैतन्य की ही एकान्तिक विशेषताएँ हैं जड़-पदार्थ में नहीं, अतः चैतन्य ही एकमात्र तत्त्व है।

चिदणुवाद
(Monadology)

लाइब्नित्ज़ ने अपने तत्त्व विज्ञान को चिदणुवाद की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार चिदणु (Monad) ही एकमात्र तत्त्व है जो चैतन्य स्वरूप है। संसार में जड़-तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है। स्पिनोज़ा के तत्त्वविज्ञान की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए लाइब्नित्ज़ ने कहा कि यदि डेकार्ट्स एवम् स्पिनोज़ा के द्रव्य की परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो हमें अनेक विसंगतियों का सामना करना पड़ेगा। यद्यपि उनका दर्शन कार्टीशियन परम्परा से ही निगमित किया गया है पर वह उसका एक परिमार्जित रूप है। सच पूछा जाय तो लाइब्नित्ज़ का दर्शन **कार्टीशियन तत्त्वविज्ञान** (Cartesian Metaphysics) एवम् **परमाणुवादी विज्ञान** (Atomistic Science) दोनों पर आधारित है जिनका हम नीचे संक्षेप में वर्णन करेंगे :

(अ) **कार्टीशियन तत्त्वविज्ञान**—कार्टीशियन तत्त्वविज्ञान ने द्रव्य के प्रत्यय को अपने विचारों का केन्द्र बनाया। लाइब्नित्ज़ इस विचार से पूर्णतया सहमत हैं कि द्रव्य का प्रत्यय सम्पूर्ण दर्शन का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए और इसके आगे बढ़कर यह भी स्वीकार करते हैं कि **स्वातन्त्र्य** (Independence) द्रव्य का प्रधान लक्षण है। पर जब कार्टीशियन दार्शनिक स्वातन्त्र्य को अस्तित्व स्वातन्त्र्य के अर्थ में लेने लगते हैं, लाइब्नित्ज़ उसे स्वीकार करने में अपने को बिलकुल असमर्थ पाते हैं। उनका कथन है कि यदि "स्वातन्त्र्य" का अर्थ "**स्वतन्त्र सत्ता**" अथवा स्वयं सत्ता (Aseity) से किया जाय तो द्रव्य केवल एक ही हो सकता है जैसा स्पिनोज़ा ने सोचा था। पर कठिनाई यह है कि स्पिनोज़ा का अद्वैतवाद जगत की सम्पूर्ण सत्ताओं विशेषकर जीवात्माओं के संकल्प-स्वातन्त्र्य का अपहरण कर लेता है जिसे कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः, यदि स्पिनोज़ा के उपर्युक्त निष्कर्ष से बचना है तो द्रव्य को स्वतन्त्र अस्तित्व के माध्यम से परिभाषित न कर "**स्वतन्त्र क्रियाशक्ति**" के माध्यम से परिभाषित करना चाहिए। द्रव्य वह नहीं है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वरन् द्रव्य वह है जिसमें स्वतन्त्र क्रियाशक्ति पाई जाती है।[1] दूसरे शब्दों में : द्रव्य वह है जिसमें अपनी विभिन्न परिवर्तनशील अवस्थाओं को धारण करने की क्षमता विद्यमान है। यहाँ लाइब्नित्ज़ द्रव्य को सक्रिय शक्ति (Active Force) के द्वारा परिभाषित करने की चेष्टा करते हैं। यह सक्रिय शक्ति शास्त्रीयवादियों की सम्भावना अथवा साध्यता (Potentiality) से कहीं अधिक श्रेयस्कर है जो जगत की और उत्तम व्याख्या प्रस्तुत करती है। द्रव्य वह है जिसमें स्वतन्त्र रूप में क्रिया

---

1. "Substance is not that which exists through itself, but that which acts through itself."

करने की क्षमता विद्यमान होती है।[1] किसी परतन्त्र सत्ता (Potentiasive Facultas) को सक्रिय बनाने के लिए उस पर बाहर से शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता होती है पर स्वतन्त्र सत्ता (Vis Activa) के क्रियाशील होने के लिए मात्र बाह्य अवरोध को दूर करने की आवश्यकता होती है। लाइब्नित्ज़ का द्रव्य बहुत कुछ इसी प्रकार का द्रव्य है।

लाइब्नित्ज़ द्वारा क्रियाशक्ति एवम् अस्तित्व के बीच तादात्म्य स्थापित करने का निहितार्थ यह है कि वैयक्तिक वस्तुओं का द्रव्यत्व जिसका स्पिनोज़ा ने अपहरण कर लिया था, उन्हें पुनः प्राप्त हो जाता है। अपनी आन्तरिक क्रियाशक्ति के कारण प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु एक व्यक्ति-विशेष है जो अन्य अस्तित्ववान वस्तुओं से पृथक् होती है। इस विश्व के प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ शक्ति है ; प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेषता है। अतः प्रत्येक पदार्थ जिसमें अपनी स्वतन्त्र शक्ति और विशिष्टता हो, वह द्रव्य कहलाने का अधिकारी है। लाइब्नित्ज़ का द्रव्य एक "शक्तिमान विशेष" (Self Active Individual) है। डेकार्ट्स ने तीन द्रव्यों में विश्वास किया, स्पिनोज़ा ने केवल एक द्रव्य को स्वीकार किया किन्तु लाइब्नित्ज़ ने द्रव्यों में संकल्प-स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा के लिए असंख्य द्रव्यों की कल्पना की। यही लाइब्नित्ज़ का बहुलवाद (Pluralism) है।

(ब) **परमाणुवाद**—लाइब्नित्ज़ का परमाणुवाद भौतिक परमाणुवाद न होकर आध्यात्मिक परमाणुवाद है। वे भौतिक परमाणुवादियों के सामान्य सिद्धान्तों से तो सहमत हैं पर उन्होंने परमाणुओं के जिस स्वभाव का वर्णन किया है लाइब्नित्ज़ उससे बिलकुल सहमत नहीं हैं। भौतिक परमाणुवादी जगत की व्याख्या के लिए सरल, निरवयव, अविभाज्य एवम् शाश्वत परमाणुओं में विश्वास करते थे। पर लाइब्नित्ज़ के अनुसार, भौतिक होने के कारण परमाणुओं में सरलता, निरवयवता, अविभाज्यता एवम् शाश्वतता के गुण कभी भी विद्यमान नहीं हो सकते। कोई भी भौतिक वस्तु चाहे वह कितनी ही लघु हो, दैशिक और विस्तृत होने के कारण अनन्त तक विभाज्य होगी और विभाज्य होने के कारण भौतिक परमाणु कभी भी तत्त्व की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। यदि हम वास्तव में सरल, निरवयव, अविभाज्य और शाश्वत इकाइयों तक पहुँचना चाहते हैं, तो हमें भौतिक परमाणुओं का तब तक विभाजन करते रहना चाहिए जब तक कि वे अपनी भौतिकता का परित्याग कर अभौतिक अथवा चेतन रूप में परिणत न हो जाँय। इसी अभौतिक, चेतन परमाणु को लाइब्नित्ज़ ने **चिदणु** (Monad) की संज्ञा दी है। यहीं मूल तत्त्व है। चेतन होने के कारण इसी मूल तत्त्व में सरलता, निरवयवता, अविभाज्यता व शाश्वतता के गुण पाए जा सकते हैं जो तत्त्व के प्रधान लक्षण हैं। इन्हीं मूल तत्त्वों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है।

लाइब्नित्ज़ दार्शनिक होने के साथ एक बहुत बड़े वैज्ञानिक और गणितज्ञ भी थे। इसी कारण उनके "चिदणु" की कल्पना में तत्कालीन दर्शन, विज्ञान और गणित तीनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। वास्तव में लाइब्नित्ज़ ने अपने दर्शन में "चिदणु" के प्रत्यय को ब्रूनो (Bruno) से ग्रहण किया था। चिदणु के प्रत्यय में गणित एवम् विज्ञान का अपूर्व योग पाया जाता है। गणित के बिन्दु सरल, निरवयव और अविभाज्य हैं पर तात्त्विक (Real) नहीं हैं ; वे काल्पनिक हैं। इसके विपरीत विज्ञान के परमाणु तात्त्विक तो हैं पर वे सरल, निरवयव

---

1. भारतीय दर्शन में बौद्धों का यही मत है : 'अर्थ क्रिया समर्थं सत्'—धर्मकीर्ति।

और अविभाज्य नहीं हैं। तत्त्वविज्ञान को एक ऐसे बिन्दु की आवश्यकता थी जिसमें गणित के बिन्दु की सरलता, निरवयवता और अविभाज्यता तो हो पर उसकी काल्पनिकता का सर्वथा अभाव पाया जाता हो ; उसी प्रकार उस बिन्दु में विज्ञान के परमाणु की तात्त्विकता तो पाई जाती हो पर उसकी संसृष्टता, सावयवता और विभाज्यता का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता हो। यही लाइब्नित्ज़ का चिदणु (Monad) है। चिदणु में गणित के बिन्दु की अविभाज्यता है किन्तु उसकी काल्पनिकता और अचेतनता नहीं। उसी प्रकार चिदणु में भौतिक परमाणु की तात्त्विकता है किन्तु उसकी विभाज्यता और जड़ता नहीं। लाइब्नित्ज़ का चिदणु सरल, निरवयव, अविभाज्य और तात्त्विक है। अविभाज्य होने के कारण वह शाश्वत और चेतन भी है।

चिदणुओं की विशेषताएँ (Characteristics of Monads)

लाइब्नित्ज़ ने चिदणुओं की निम्न विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है :

(1) चिदणु परम **स्वतन्त्र** एवम् **आत्म-निर्भर** (Self-Dependent) हैं। उसके अविभाज्य, अदैशिक, शाश्वत और चेतन होने का अर्थ यह है कि उस पर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी सारी अवस्थाओं को अपने अन्दर से ही प्रकट करता है। उसे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। लाइब्नित्ज़ ने इस तथ्य को अपने ढंग से निम्न प्रकार व्यक्त किया है—"चिदणुओं में गवाक्ष अथवा द्वार नहीं है जिनके द्वारा कोई वस्तु उनमें प्रविष्ट कर सके या उनसे बाहर, निकल सके।"[1] अनुभववादी इन्द्रियों को आत्मा का द्वार मानते है जिनके माध्यम से आत्मा बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष करती है। लाइब्नित्ज़ इस प्रकार की आत्मा में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार आत्मा एक शाश्वत और चेतन परमाणु है जिसमें कोई इन्द्रिय द्वार नहीं है और न आत्मा के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। प्रत्येक चिदणु एक पूर्ण और स्वतन्त्र इकाई है, अतः किन्हीं दो चिदणुओं का पारस्परिक सम्बन्ध असम्भव है।

(2) प्रत्येक चिदणु **अकल** और **अविभाज्य** होने के कारण अनश्वर या शाश्वत है। उसमें न तो विस्तार (Extension) है और न आकार (Figure) ही क्योंकि यदि वह विस्तृत और आकारवान होता तो वह निश्चित ही विभाज्य और नश्वर होता। अनश्वर और शाश्वत होने के कारण चिदणु चेतन और आध्यात्मक इकाइयाँ हैं।

(3) सभी मूल द्रव्यों या सृष्ट चिदणुओं को **पूर्णक** (Entelechy) कहा जा सकता है क्योंकि उनमें एक प्रकार की पूर्णता विद्यमान होती है। वे वर्तमान समय में भले ही पूर्ण न हो पर उन सब में पूर्ण होने की क्षमता विद्यमान होती है। यही पूर्णता उनकी आन्तरिक प्रक्रियाओं का स्रोत बनती है।

(4) प्रत्येक चिदणु में **प्रत्यक्ष** (Perception) और **चरिष्णुता** (Appetition) दो प्रकार की प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं। प्रत्यक्ष चिदणु की आन्तरिक अभिव्यक्ति है। चिदणु अपने भीतर समस्त जगत को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है और क्रमशः वह उसे अभिव्यक्त

---

1. Monadology, 7, "The monads have no windows through which anything can enter or go forth."

करता है। "**प्रत्येक चिदणु अपने ढंग से विश्व का दर्पण है।**"[1] इसके विपरीत, चरिष्णुता परिवर्तन का सिद्धान्त है जिसके कारण चिदणु एक प्रत्यक्ष से स्वभावतः दूसरे प्रत्यक्ष तक संक्रमण करता है। चिदणु के "**आन्तरिक सिद्धान्त की उस प्रक्रिया को जिसके कारण वह एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होता है चरिष्णुता कहते हैं।**"[2]

(5) लाइब्नित्ज़ के अनुसार संसार में जितने चिदणु हैं उनमें चैतन्य की एक अटूट शृंखला पाई जाती है। उन्हें हम निम्नतम चैतन्य से उच्चतम चैतन्य तक इस प्रकार श्रेणीबद्ध कर सकते हैं कि किन्हीं दो चिदणुओं के बीच किसी भी प्रकार की रिक्तता नहीं पाई जाती है। इसका निहितार्थ यह है कि प्रत्येक चिदणु **सातत्य-नियम** (Law of Continuity) के अनुसार संचालित होता है। प्रकृति में आकस्मिकता, विषमता, अवखण्डन, रिक्तता, पुनरावृत्ति एवम् अनावश्यकता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें एक सतत तारतम्य पाया जाता है। प्रकृति में कहीं भी आकस्मिक लंघन (Leap) नहीं पाया जाता। वह सदा सातत्य-नियम द्वारा संचालित है। प्रकृति में कोई भी दो चिदणु एक ही समान नहीं पाए जा सकते। यदि किन्हीं दो चिदणुओं के बीच पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके भीतर किसी प्रकार की रिक्तता या अवखण्डन है ; इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उन दो विषम चिदणुओं के बीच ऐसे असंख्य चिदणु विद्यमान हैं जो उन दोनों चिदणुओं को क्रमबद्ध या शृंखलाबद्ध करते हैं। जिस प्रकार किन्हीं दो संख्याओं के बीच अनन्त (Infinite) संख्याओं को अन्तर्वेशित किया जा सकता है, इसी प्रकार किन्हीं दो चिदणुओं के बीच भी अनन्त चिदणुओं को क्रमबद्ध किया जा सकता है। उनके बीच किसी प्रकार की रिक्तता नहीं पाई जाती।

(6) यद्यपि सभी चिदणुओं में चैतन्य समान रूप से विद्यमान नहीं होते, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि चिदणुओं की विभिन्न जातियाँ होती हैं। चिदणुओं की जाति एक ही है क्योंकि सभी चेतन हैं। लाइब्नित्ज़ के अनुसार चिदणुओं में गुणात्मक अद्वैतवाद (Qualitative Monism) एवम् परिमाणात्मक बहुलवाद (Quantitative Pluralism) पाया जाता है। उनमें सजातीय भेद (Homogeneous Differences) भले ही पाए जाते हों पर उनमें विजातीय भेद (Heterogeneous Differences) के लिए कोई अवकाश नहीं है। गति और विराम, अच्छाई और बुराई तथा प्रकाश और अन्धकार के बीच कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। सूक्ष्म गति को ही विराम कहते हैं ; अल्पतर प्रकाश ही अन्धकार है ; क्षुद्र अच्छाई ही बुराई है। जीव-जन्तु, कंकड़-पत्थर, घास-फूस तथा पेड़-पौधे सबकी एक ही जाति है। केवल प्राणिमात्र ही नहीं वरन् भूतमात्र की एक जाति है। इसका निहितार्थ यह है कि सभी चिदणु **सादृश्य-नियम** (Law of Similarity) द्वारा अनुशासित हैं। सभी चैतन्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

(7) यद्यपि सभी चिदणु चैतन्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है, पर किन्हीं दो चिदणुओं में चैतन्य की एक ही मात्रा नहीं पाई जाती। उनमें गुणात्मक अद्वैतवाद के साथ परिमाणात्मक

---

1. Monadology 63, ".......every monad is a mirror of the Universe according to its fashion."
2. वही, 15, "The action of the internal principle which causes the change or the passage from one perception to another, may be called Appetition."

बहुलवाद पाया जाता है। प्रत्येक चिदणु का अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। कोई दो वस्तुएँ, दो व्यक्ति या दो घटनाएँ समरूप नहीं होतीं। उनमें कुछ न कुछ विषमताएँ अवश्य पाई जाती हैं। प्रकृति में कहीं पुनरावृत्ति नहीं है। इतिहास अपने को कभी भी नहीं दोहराता। इसका तात्पर्य यह है कि सभी चिदणु **वैसादृश्य-नियम** (Law of Dissimilarity) द्वारा संचालित होते हैं। वैसादृश्य-नियम को लाइब्नित्ज़ ने **अदृश्यों का अभेद** (Identity of Indiscernibles) नाम दिया है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ भेद हमसे अदृश्य रह जायँ वहाँ वस्तुओं को अभेद रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। वास्तविक सत्य तो यह है कि संसार में पूर्ण अभेद या समरूपता कहीं भी नहीं है। यदि हम ध्यानपूर्वक वस्तुओं का निरीक्षण करें तो उनमें कुछ न कुछ विशिष्टता या विलक्षणता अवश्य ही दिखाई देगी। यही वैसादृश्य-नियम है जिसके अनुसार किन्हीं भी दो वस्तुओं को परमार्थतः समरूप नहीं कहा जा सकता। उनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य पाया जाता है।

(8) डेकार्ट्स ने गति के संरक्षण का नियम ढूँढ़ निकाला था जिसके अनुसार संसार में वास्तविक गतियों का महायोग सदा एक रहता है। लाइब्नित्ज़ ने इस नियम में संशोधन कर गति के संरक्षण के स्थान पर **शक्ति के संरक्षण का नियम** (Law of Conservation of Energy) स्थापित किया जिसके अनुसार संसार में क्रियात्मक शक्ति या गतिज ऊर्जा (Kinetic Energy) का महायोग सदा स्थिर रहता है। आधुनिक युग में लाइब्नित्ज़ का यह मत भी गलत सिद्ध हो चुका है। आधुनिक मत के अनुसार गतिज ऊर्जा एवम् संभाव्य ऊर्जा (Potential Energy) का महायोग सदा स्थिर रहता है। स्वयं लाइब्नित्ज़ ने भी अपने दर्शन में गतिज ऊर्जा एवम् सम्भाव्य ऊर्जा के बीच भेद स्थापित किया था। उसके चिदणु इस नियम का अक्षरशः पालन करते हैं।

(9) लाइब्नित्ज़ के सभी चिदणु चेतन हैं। चेतन होने के कारण **जगत का प्रतिनिधान** (Representation) अथवा प्रतिबिम्बन ही उनका कार्य है। इसे प्रत्यक्ष (Perception) की संज्ञा भी दी जा सकती है। अपने शक्ति सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए लाइब्नित्ज़ ने प्रत्यक्ष की निम्न परिभाषा प्रदान की है : "**बाह्य का आभ्यन्तर एवम् अनेकता का एकता में प्रतिनिधान ही प्रत्यक्ष है।**"[1] प्रत्यक्ष के भीतर आत्मा के केवल चेतन कार्य (Conscious Activities) ही नहीं आते वरन् उसके अचेतन कार्यों (Unconscious Activities) का भी उसमें समावेश हो जाता है। यहाँ लाइब्नित्ज़ ने "मात्र प्रतिनिधान" (Mere Representation) एवम् "चेतन प्रतिनिधान" (Conscious Representation) अथवा प्रत्यक्ष (Perception) एवम् आत्म-प्रत्यक्ष (Appetition) में भेद किया है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने समुद्र की गर्जना का उदाहरण दिया है। समुद्र के किनारे जाने पर हमें जो उसकी गर्जना सुनाई देती है वह वास्तव में कई लहरों की संयुक्त ध्वनियों का परिणाम होती है। किसी एक तरंग-गति की जो संवेदना हमें प्राप्त होती है, वह क्षीण, अचेतन, अस्पष्ट और अस्त-व्यस्त होती है पर इस प्रकार की कई तरंगों की विभिन्न संवेदनाएँ परस्पर संयुक्त होकर चेतन प्रत्यक्ष का निर्माण करती हैं। अचेतन और चेतन प्रतिनिधान दोनों मिलकर एक चिदणु के जीवन का निर्माण करते हैं।

1. Monadology, 13, "Perception is the representation of the external in the internal, of multiplicity in unity."

(10) **प्रत्येक चिदणु सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करता है** क्योंकि निरवयव होने के कारण वह स्वयं में पूर्ण (Entelechy) होता है। प्रत्येक सर्व-संकेन्द्रित (Concentrated all) होता है तथा वह सम्पूर्ण विश्व का दर्पण है। प्रत्येक व्यष्टि में समष्टि, तथा अणु में विराट विद्यमान है। प्रत्येक सान्त वस्तु में अनन्तता तथा सर्वोच्च चैतन्य निहित है। प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व का इतिहास भरा पड़ा है ; उसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कुछ केन्द्रीभूत है। भूत ने वर्तमान पर अपनी छाप छोड़ रखी है तथा भविष्य में ऐसी कोई घटना होने वाली नहीं है जिसका मूल वर्तमान में न पाया जाता हो। वर्तमान के गर्भ में भूत और भविष्य दोनों संकेन्द्रित हैं, अथवा यों कहा जाय कि भूत, वर्तमान और भविष्य एक ही अखण्ड और अजस्र धारा के तीन कल्पित भाग हैं। इसी कारण लाइब्नित्ज़ के अनुसार प्रत्येक चिदणु गवाक्षहीन होते हुए भी सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता रखता है।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि यद्यपि सभी चिदणु एक ही विश्व को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करते हैं, पर सभी चिदणु भिन्न-भिन्न रूप में विश्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई चिदणु किस प्रकार विश्व का प्रतिनिधित्व करता है, वह उसकी क्रियाशीलता पर निर्भर करता है। कोई चिदणु जितना ही अधिक क्रियाशील होगा, उसके प्रत्यक्षों में उतनी ही अधिक स्पष्टता पाई जायगी और वह उतनी ही अच्छी प्रकार विश्व को प्रतिविम्वित कर सकेगा। इस प्रकार केवल ईश्वर के ही प्रत्यक्ष पूर्ण रूप में स्पष्ट होते हैं क्योंकि वही एक ऐसा चिदणु है जिसमें पूर्ण क्रियाशीलता (Actus Purus) पाई जाती है। अन्य जितने चिदणु हैं उनमें क्रियाशीलता (Activity) के साथ निष्क्रियता (Passivity) भी पाई जाती है। इसी निष्क्रियता के कारण इतर चिदणुओं के प्रत्यक्ष स्पष्ट (Clear) और अस्पष्ट (Confused) दोनों होते हैं।

(11) लाइब्नित्ज़ के अनुसार सभी चिदणु चेतन हैं। अतः उनके बीच भौतिक सम्बन्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है। उनके अनुसार विश्व एक **पिण्डक** (Plenum) है जिसमें सभी वस्तुएँ इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं कि एक की क्रिया का दूसरी वस्तुओं की क्रिया पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होता है। इसी प्रकार एक वस्तु में जो क्रिया पाई जाती है वह अन्य वस्तुओं की सम्मिलित क्रिया का परिणाम होती है। चेतन होने के कारण चिदणुओं में भौतिक सम्बन्ध तो नहीं है पर उनमें तार्किक (Logical) या आध्यात्मिक (Ideal) सम्बन्ध तो अवश्य ही पाया जाता है। उनमें अंगाङ्गि सम्बन्ध पाया जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर लाइब्नित्ज़ ने प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा भी दी है जिसके अनुसार "अन्य चिदणुओं के भीतर घटित होने वाली घटनाओं की प्रत्येक चिदणु में आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही प्रत्यक्ष कहते हैं।"[1] चिदणुओं में आध्यात्मिक सम्बन्ध होने के कारण ही प्रत्येक चिदणु सम्पूर्ण विश्व का जीवित दर्पण होता है।

(12) चिदणुओं की अन्तिम विशेषताओं के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि सभी चिदणु चेतन हैं पर उनमें चैतन्य की एक ही मात्रा नहीं पाई जाती। चिदणुओं में **चैतन्य का तारतम्य** पाया जाता है। सभी चिदणुओं में चित्शक्ति की समानता होते हुए भी उस शक्ति के क्रियान्वयन में भिन्नता पाई जाती है। किसी चिदणु में जितनी ही अधिक क्रियाशीलता पाई जाएगी वह उतना ही उच्चकोटि का चिदणु माना जायगा। इसके विपरीत, जिस चिदणु में क्रियाशीलता की मात्रा जितनी कम होगी वह उतना ही निम्नकोटि का चिदणु माना जायगा।

---

1. Perceptions are the expressions in each of what occurs in all the rest."

जिसे हम जड़ (Matter) कहते हैं वह वास्तव में सुप्त चैतन्य ही है। अचेतन का अर्थ "चेतना का अभाव" नहीं वरन् "चेतना की कमी" है। लाइब्नित्ज़ संसार में भौतिकता के आत्यन्तिक अभाव का प्रतिपादन करते हैं।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि तात्त्विक दृष्टि से सभी चिदणु चेतन हैं तो वे सभी एक साथ ही अपनी चित्शक्ति का विकास क्यों नहीं कर लेते ? क्या उनमें ऐसी कोई अवरोधक शक्ति विद्यमान होती है जो उन्हें अपनी चित्शक्ति को पूर्ण रूप में विकसित करने से रोकती है ? इस प्रकार का उत्तर देते हुए लाइब्नित्ज़ कहते हैं कि यह ठीक है कि प्रत्येक चिदणु में क्रियाशीलता का तत्त्व पाया जाता है पर इसके साथ-साथ उसमें निष्क्रियता (Passivity) का तत्त्व भी पाया जाता है। इसी तत्त्व के कारण विभिन्न चिदणुओं के चैतन्य में न्यूनाधिक्य पाया जाता है। निष्क्रियता के इस तत्त्व को **मूलभूत तत्त्व** (Materia Prima) कहते हैं। ईश्वर ही एक ऐसे चिदणु हैं जिनमें चित् शक्ति की पूर्ण क्रियान्विति पाई जाती है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी चिदणुओं में गत्यवरोध का बीज विद्यमान होता है जो उनकी चित्शक्ति को पूर्ण अभिव्यक्त होने से रोकता है। यही मूलभूत तत्त्व है। इस मूलभूत तत्त्व के साथ **एक गौणभूत तत्त्व** (Materia Secunda) भी होता है जो मूलभूत तत्त्व का सीधा परिणाम होता है। मूलभूत तत्त्व वास्तविक और प्राथमिक है, गौणभूत तत्त्व आभासिक एवम् आनुषंगिक है। गौणभूत तत्त्व चिदणु का गुण नहीं होता ; वह चिदणुओं के समूह का आभास मात्र ही होता है। मूलभूत तत्त्व के अस्तित्व के कारण ही चिदणुओं में विकास का तारतम्य पाया जाता है। वैसे तो तात्त्विक दृष्टि से सभी चिदणु चेतन और क्रियाशील हैं, पर इस चैतन्य और क्रियाशीलता के साथ-साथ उनमें अचेतनता और निष्क्रियता के अवयव भी विद्यमान होते हैं। जिनमें यह अचेतनता और निष्क्रियता अधिक मात्रा में पाई जाती है वे विकास के क्रम में निम्न श्रेणी के चिदणु कहे जाते हैं तथा जिन चिदणुओं में यह अचेतनता और निष्क्रियता कम पाई जाती है वे विकास की श्रेणी में उच्च कोटि के चिदणु कहे जाते हैं।

ज्ञान-मीमांसा
(Epistemology)

लाइब्नित्ज़ एक बुद्धिवादी दार्शनिक थे। उन्होंने बुद्धिवादी परिप्रेक्ष्य में ही ज्ञान की समस्या का समाधान करने की चेष्टा की है। उन्होंने प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष एक अज्ञात अनुभव (Unconscious Experience) है जिसे चिदणु की चेतना स्पष्ट रूप में नहीं जानती। यह "अज्ञात अनुभव बाद में ज्ञात अनुभव (Conscious Experience) का स्वरूप धारण कर लेता है जिसमें संवेदना और स्मृति दोनों शामिल हैं। पुनः इस ज्ञात चेतना का भी विकास होता है और वह आत्म-प्रत्यक्ष (Apperception) का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार लाइब्नित्ज़ के अनुसार ज्ञान की तीन अवस्थाएँ होती हैं : प्रत्यक्ष, चेतन प्रत्यक्ष एवम् आत्म-प्रत्यक्ष।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ज्ञान क्या है तथा ज्ञान हमारे भीतर किस प्रकार उत्पन्न होता है ? लाइब्नित्ज़ डेकार्ट्स से इस बात में पूर्ण सहमत हैं कि आत्मा के भीतर कुछ न कुछ जन्मजात प्रत्यय अवश्य विद्यमान होते हैं ; बाहर से कोई भी विज्ञान आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे लॉक से भी इस बात में सहमत हैं कि संवेदनाओं से

ही विचारों की उत्पत्ति होती है। संवेदना विचार की पूर्वगामिनी होती है। इस प्रकार कुछ बातों में डेकार्ट्स और लॉक दोनों से सहमत होकर लाइब्नित्ज़ ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी ज्ञान-मीमांसा का ईसाई धर्म के केथौलिक सम्प्रदाय के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के साथ भी सामञ्जस्य स्थापित किया। जिस प्रकार केथौलिक सम्प्रदाय में निष्पाप माँ (Immaculate Mother) से क्राइस्ट के आविर्भाव की कल्पना की गई है, ठीक उसी प्रकार लाइब्नित्ज़ की ज्ञान-मीमांसा में विज्ञानों के संवेदनाओं से उत्पन्न होने पर भी उन्हें मौलिकता प्रदान की गई है। लाइब्नित्ज़ ने आत्मा की उपमा "कोरे कागज" से न देकर "संगमरमर के खण्ड" से दी है जिसमें किसी मूर्ति की रेखाएँ पहले से ही अंकित होती हैं। प्राचीन शास्त्रीयवादियों ने कहा कि "बुद्धि में ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो पहले इन्द्रियों में न रहा हो।" लाइब्नित्ज़ ने इसमें संशोधन करते हुए कहा "हाँ, बुद्धि को छोड़कर बुद्धि में ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो पहले इन्द्रियों में न रहा हो।" इस प्रकार लाइब्नित्ज़ ने अपने विज्ञानों की व्याख्या में यान्त्रिकवाद (Mechanism) एवम् प्रयोजनवाद (Teleology) दोनों का सहारा लिया है। उन्हें डेकार्ट्स एवम् काण्ट के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना जा सकता है। उनके अनुसार पहले से ही आत्मा में अनिवार्य सत्य स्पष्ट रूप से विद्यमान नहीं होते ; वे क्रमशः इन्द्रिय-संवेदनाओं से ही प्रस्फुटित और पल्लवित होते हैं। इतना होते हुए भी लाइब्नित्ज़ को अनुभववादी नहीं माना जा सकता।

ज्ञान न तो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न संस्कार (Impressions) है और न स्वप्न की भाँति मनोमय रचना (Mental Creations) ही है। वह चिदणु की आन्तरिक अभिव्यक्ति है। चिदणु के भीतर जो अव्यक्त है वह ज्ञान के रूप में व्यक्त होता है। सभी ज्ञान पहले से ही चिदणुओं में सूक्ष्म रूप में विद्यमान होते हैं। उन्हें केवल व्यक्त करने की ही आवश्यकता होती है। इतना होते हुए भी लाइब्नित्ज़ ने दो प्रकार के ज्ञानों में भेद किया है—

(i) "मीठी वस्तु तिक्त नहीं होती" यह जन्मजात ज्ञान नहीं है क्योंकि मिठास और तिक्तता दोनों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है।

(ii) "वर्ग वृत्त नहीं है" यह जन्मजात ज्ञान है क्योंकि वर्ग और वृत्त के प्रत्यय स्वयं बुद्धि से उत्पन्न होते हैं।

अब हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों में किस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। उनकी उत्पत्ति के स्रोतों द्वारा तो उनमें भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि सभी ज्ञान चिदणु की आन्तरिक अभिव्यक्ति के परिणाम होते हैं। यदि कभी लाइब्नित्ज़ कहते हैं कि बाह्य वस्तुएँ इन्द्रियों के माध्यम से हमारी आत्मा में प्रवेश करती हैं तो उसका वही अर्थ होता है जो कॉपर्निकस के अनुयायी के लिए सूर्योदय का अर्थ होता है। अतः उपर्युक्त दो प्रकार के ज्ञानों का भेद उनकी उत्पत्ति (Origin) द्वारा नहीं वरन् उनके स्वभाव (Nature) द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का ज्ञान दैशिक (Spatial), विस्तृत (Extended) और भ्रान्त (Confused) होता है क्योंकि उस ज्ञान के विभिन्न अवयवों के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं होती। दूसरे प्रकार का ज्ञान अदैशिक (Non-Spatial) एवम् अभ्रान्त (Distinct) होता है। प्रथम ज्ञान तात्कालिक प्रत्यक्ष (Immediate Perception) पर आधारित है पर द्वितीय ज्ञान व्याघात नियम (Law of Contradiction) पर आधारित है। दोनों ज्ञान पृथक-पृथक् होते हुए भी उनमें एक सम्नन्ध पाया जाता है। अनिवार्य सत्य तथ्यात्मक

सत्य के आधार होते हैं। इस दृष्टि से अपने अस्तित्व का ज्ञान भी अनिवार्य नहीं हो सकता। यह अनिदर्शनीय (Indemonstrable) तो है पर अनिवार्य (Necessary) नहीं है।

सभी प्रकार के ज्ञान का वर्गीकरण करते हुए लाइब्नित्ज़ ने कहा कि "ज्ञान या तो स्पष्ट है या अस्पष्ट। स्पष्ट ज्ञान भ्रान्त है या अभ्रान्त है, अभ्रान्त ज्ञान अपर्याप्त या पर्याप्त है, अथवा वह प्रतीकात्मक या प्रातिभ है।

इसे हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—
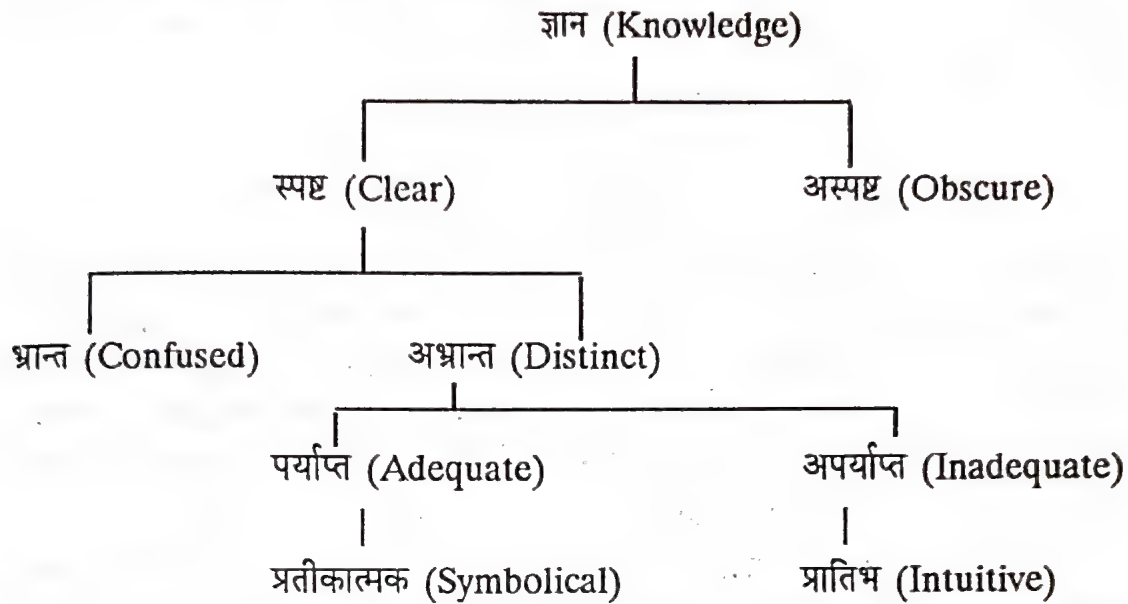
स्पष्ट ज्ञान—जब एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से पर्याप्त रूप में भेदनीय या विशेषणीय हो तो उसे स्पष्ट ज्ञान कहते हैं।

अस्पष्ट ज्ञान—जब एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से पर्याप्त रूप में भेदनीय या विशेषणीय न हो तो उसे अस्पष्ट ज्ञान कहते हैं।

अभ्रान्त ज्ञान—जब किसी ज्ञान के विभिन्न अवयव भेदनीय या विशेषणीय होते हैं तो उसे अभ्रान्त ज्ञान कहते हैं।

भ्रान्त ज्ञान—जब किसी ज्ञान के विभिन्न अवयव पर्याप्त रूप में भेदनीय या विशेषणीय नहीं होते तो उसे भ्रान्त ज्ञान कहते हैं।

पर्याप्त ज्ञान—जब किसी ज्ञान के प्रत्येक घटक का ज्ञान अभ्रान्त होता है तो उसे पर्याप्त ज्ञान कहते हैं। गणित का ज्ञान इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

अपर्याप्त ज्ञान—जब किसी ज्ञान के प्रत्येक घटक का ज्ञान अभ्रान्त नहीं होता तो उसे भ्रान्त ज्ञान कहते हैं।

प्रातिभ ज्ञान—जब विश्लेषण के प्रत्येक स्तर पर ज्ञान के प्रत्येक घटक का स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान हो तो उसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं।

प्रतीकात्मक ज्ञान—जब हम किसी बृहद् विश्लेषण के कारण किसी ज्ञान के प्रत्येक घटक का एक साथ स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उसे हम विभिन्न संकेतों या प्रतीकों के माध्यम से समझने का प्रयत्न करते हैं। इसी ज्ञान को प्रतीकात्मक ज्ञान कहते हैं। ज्यामिति, बीजगणित, और अंकगणित में हम ऐसे अनेक नियमों का सहारा लेते हैं जिनकी

उपपत्ति का हमें प्रातिभ ज्ञान नहीं हो पाता। उन्हें हम अन्ध ज्ञान के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इसी को प्रतीकात्मक ज्ञान कहा जाता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम पूर्ण ज्ञान की संज्ञा किसे प्रदान करेंगे। लाइब्नित्ज़ के अनुसार पूर्ण ज्ञान वही हो सकता है जो स्पष्ट, अभ्रान्त, पर्याप्त और प्रातिभ हो। इसी पूर्ण ज्ञान की खोज में लाइब्नित्ज़ ने सार्वभौम गणित (Universal Mathematics) या सार्वभौम विज्ञान (Universal Science) की कल्पना की। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र जिसका लाइब्नित्ज़ ने सर्वप्रथम अनुसंधान किया था, इसी सार्वभौम विज्ञान के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण सोपान था।

चिदणुओं के प्रकार
(Kinds of Monads)

सच पूछा जाय तो चिदणुओं के उतने ही प्रकार होंगे जितनी कि उनकी संख्या पाई जाती है क्योंकि वैसादृश्य-नियम के अनुसार कोई भी दो चिदणु एक समान नहीं हैं। प्रत्येक चिदणु का एक विशिष्ट संसार होता है। फिर भी समान प्रतिनिधान के आधार पर स्थूल रूप में चिदणुओं को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है जो चित्त की पाँच भूमियों पर आधारित हैं : विशुद्ध चेतन, स्वचेतन, चेतन, उपचेतन और अचेतन। इनका यहाँ हम पृथक्-पृथक् रूप में विवेचन प्रस्तुत करेंगे :

(1) **साधारण या नग्न चिदणु (Simple or Naked Monad)**—चिदणुओं की श्रेणी में साधारण या नग्न चिदणु निकृष्टतम कोटि के चिदणु हैं जिनमें क्षीणतम चैतन्य पाया जाता है। इनमें चैतन्य सुप्त अथवा मूर्छित होता है। वे जड़-जगत का निर्माण करते हैं। पर यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि किसी चिदणु को जड़ कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें चैतन्य का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। किसी चिदणु को जड़ कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसमें चैतन्य की निम्नतम मात्रा पाई जाती है। उपनिषदों में इसे **"अन्नमय कोश"** कहा जाता है।

(2) द्वितीय श्रेणी में उपचेतन चिदणुओं को रखा जा सकता है जिनमें स्वप्नवत चैतन्य पाया जाता है। यह क्षीणतर चैतन्य का स्तर है जहाँ प्राण-स्पन्दन पाया जाता है। लाइब्नित्ज़ के अनुसार सभी वनस्पति-जगत् इन्हीं उपचेतन चिदणुओं से निर्मित है। उपनिषद की भाषा में इसे **"प्राणमय कोश"** कहते हैं। अचेतन ओर उपचेतन दोनों प्रकार के चिदणुओं को मिलाकर लाइब्नित्ज़ ने **"साधारण चिदणु"** या "नग्न चिदणु" नाम दिया है।

(3) **चेतन चिदणु (Soul Monad)**—यह क्षीण-स्पष्ट ज्ञान का स्तर है। इसमें चिदणुओं को स्पष्ट पर भ्रान्त ज्ञान होता है। इन चिदणुओं में विमर्शात्मक ज्ञान तो नहीं पाया जाता पर मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts) अवश्य पाई जाती हैं। इन्हें "जीव" भी कह सकते हैं। जीव-चिदणुओं में स्मृति भी पाई जाती है जिससे उनके विज्ञानों में क्रम-सम्बन्ध (Consecutiveness) पाया जाता है। उपनिषदों में इन्हें **मनोमय कोश** कहा जाता है।

(4) **स्वचेतन चिदणु (Spirit Monad)**—यह स्पष्ट, अभ्रान्त और विमर्शात्मक ज्ञान का स्तर है। किसी चिदणु को स्वचेतन कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें सुप्तावस्था या मूलप्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। स्व-चेतन के जीवन का सर्वाधिक भाग मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही संचालित होता है। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि कल

पूरब में सूर्योदय होगा तो हम यह अपने दैनिक अनुभव के आधार पर ही कहते हैं, खगोल विद्या के ज्ञान के आधार पर नहीं। केवल खगोल शास्त्री को ही इसका विशुद्ध ज्ञान होता है। सम्पूर्ण मानव-जगत का निर्माण इन्हीं स्व-चेतन चिदणुओं द्वारा सम्पन्न होता है। उपनिषदों में इन्हें **विज्ञानमय कोश** की संज्ञा दी गई है।

(5) ईश्वर-चिदणु (God Monad)—जब किसी चिदणु में ज्ञान की पराकाष्ठा होती है तो उसे परम् चिदणु या ईश्वर कहा जाता है। इसमें स्पष्टतम या पूर्ण चैतन्य पाया जाता है। वह "पुरुषोत्तम" है। इसमें पूर्ण क्रिया-शक्ति पाई जाती है तथा मूलभूत तत्त्व का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। उपनिषदों की भाषा में इसे **आनन्दमय कोश** कहा जाता है।

ऊपर चिदणुओं की जिन पाँच श्रेणियों का वर्णन किया गया है वे सर्वथा एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, वरन् परस्पर-सम्बद्ध होती हैं। प्रत्येक उच्चतर श्रेणी निम्नतर सभी श्रेणियों को अपने भीतर समाहित करती है। नीचे की श्रेणी का आदर्श ऊपर की श्रेणी में अग्रसर होना है। इन श्रेणियों में कोई जातिगत भेद नहीं है ; उनमें केवल विकास का भेद पाया जाता है। यद्यपि सभी चिदणु अपनी-अपनी शक्ति के केन्द्र है, तथापि वास्तविक स्वातन्त्र्य केवल ईश्वर-चिदणु में ही पाया जाता है। लाइब्नित्ज़ के दर्शन में स्वातन्त्र्य का अर्थ ज्ञान-तन्त्रता से है। इसका अर्थ न परतन्त्रता है और न अतन्त्रता ही। इसका वास्तविक अर्थ स्वतन्त्रता है। सभी चिदणुओं का एक मात्र लक्ष्य सर्वोत्तम चिदणु या ईश्वर के समान बनना है। ज्यों-ज्यों चिदणु अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी ज्ञान-तन्त्रता और स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है अथवा उनमें उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। ईश्वर समान होने पर ही यह विकास-प्रक्रिया समाप्त होती है। यही लाइब्नित्ज़ का विकासवाद है।

आत्मा और शरीर
(Mind and Body)

लाइब्नित्ज़ के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ चिदणुओं के पुञ्ज हैं। सभी चिदणु चैतन्य के केन्द्र हैं। इसका अर्थ यह है कि चेतन चिदणुओं के अतिरिक्त संसार में किसी जड़ या शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ?

पर बात ऐसी नहीं है। लाइब्नित्ज़ के दर्शन में आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न उतना ही सार्थक है जितना अन्य दर्शनों में पाया जाता है। उनके अनुसार ईश्वर को छोड़कर सभी चिदणु देही या शरीरी हैं। वास्तव में जिसे हम एक व्यक्ति या प्राणी कहते हैं वह असंख्य चिदणुओं का एक समुच्चय होता है। इस समुच्चय में जितने भी चिदणु होंगे उनमें चैतन्य का तारतम्य पाया जाएगा। इसमें एक चिदणु ऐसा होगा जिसमें चैतन्य की अधिकतम मात्रा पाई जाएगी तथा शेष उससे निम्नतर श्रेणी के चिदणु पाए जाएँगे। यहाँ अधिकतम चैतन्य वाले चिदणु को "आत्मा" तथा इतर श्रेणी के चिदणुओं के समूह को उसका शरीर कहा जाएगा।

आत्मा को पूर्णक (Entelechy) एवम् शरीर को पिण्डक (Body) भी कहते हैं। पूर्णक चिदणु शरीर का संगठक या "प्रभु" है तथा इतर चिदणु अथवा शरीर चिदणु उस प्रभु आत्मा के अधीन कार्य करते हैं। ईश्वर को छोड़कर अन्य जितने भी चिदणु हैं उनमें आत्मा और शरीर दोनों पाए जाते हैं। आत्मा शरीर को संगठित तथा प्रेरित करता है। आत्मा साध्य है और शरीर उसका

साधन है। आत्मा अंशहीन है एवम् शरीर अंशवान है। उसके प्रत्येक भाग में अनेक शरीर हैं। इस प्रकार प्रत्येक शरीर के भीतर शरीरों का अनन्त तारतम्य पाया जाता है।

आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध को कुछ उदाहरणों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ हम मधुमक्खियों या चीटियों का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। शरीर के घटक चिदणु उसी प्रकार कार्य करते हैं जैसे मधुमक्खियाँ छत्ते में कार्य करती हैं अथवा चीटियाँ अपने समूह में कार्य करती हैं। प्रत्येक मधुमक्खी या प्रत्येक चींटी अन्य मधुमक्खियों या अन्य चींटियों से स्वतन्त्र है ; उनकी एक साम्राज्ञी मधुमक्खी (Queen Bee) या साम्राज्ञी चींटी होती है जिसके इर्द-गिर्द अन्य मधुमक्खियाँ या चीटिंयाँ कार्य करती हैं। साम्राज्ञी मधुमक्खी या साम्राज्ञी चींटी ही "आत्मा" हैं तथा शेष मधुमक्खियाँ या चींटियाँ उस समूह के शरीर का निर्माण करती हैं।

चिदणुओं के संघात या पुञ्ज को लाइब्नित्ज़ ने **गौणभूत तत्त्व** (Materia Secunda) कहा है। **मूलभूत तत्त्व** (Materia Prima) तो वास्तविक है पर गौणभूत तत्त्व अवास्तविक है। गौणभूत तत्त्व किसी चिदणु का गुण या पक्ष नहीं है ; वह चिदणु के समूह का आभास मात्र है। चिदणुओं का कोई स्थिर संघात नहीं होता ; वह सदा परिवर्तनशील होता है। चिदणु एक संघात (शरीर) को छोड़कर दूसरे संघात (शरीर) में आते जाते रहते हैं। इस समूह-परिवर्तन के कारण एक गौणभूत तत्त्व लुप्त होता है तथा उसके स्थान पर दूसरा गौणभूत तत्त्व प्रकट हो जाता है। जब यह परिवर्तन आत्यन्तिक होता है तो उसे जन्म-मृत्यु की संज्ञा दी जाती है। जन्म-मृत्यु संघातों का परिवर्तन-मात्र है, यह कोई वास्तविक घटना नहीं है। संघात परिवर्तन से न तो किसी तत्त्व का नाश होता है और न किसी तत्त्व की उत्पत्ति ही होती है। मूलभूत तत्त्व चिदणु सदा नित्य व अमर होता है।

आत्मा और शरीर का अटूट सम्बन्ध होता है। आत्मा के बिना शरीर तथा शरीर के बिना आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध उतना ही मौलिक और अनश्वर है जितना स्वयं चिदणु क्योंकि यही चिदणु का स्वरूप है।

लाइब्नित्ज़ ने आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए **पूर्वस्थापित सामञ्जस्य सम्बन्ध** (Relation of Pre-established Harmony) की स्थापना की है। हम पहले ही जानते हैं कि सभी चिदणु परस्पर निरपेक्ष और पूर्ण स्वतन्त्र हैं। ऐसी स्थिति में उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। लाइब्नित्ज़ के लिए यह एक विकट समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने ईश्वर की शरण ली है किन्तु ऐसा करने से उनके दर्शन में कई अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं जिनका उनके दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समन्वय करना कठित हो जाता है।

लाइब्नित्ज़ के अनुसार ईश्वर सभी चिदणुओं का स्रष्टा है। उन्होंने चिदणुओं को स्वतन्त्र तो अवश्य बनाया पर साथ ही उन्हें एकतन्त्रता के सूत्र में आबद्ध भी कर दिया। एक चिदणु की स्वतन्त्रता दूसरे चिदणुओं की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं करती। प्रत्येक चिदणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता और विशेषता रखते हुए भी परस्पर सामञ्जस्य रखते हैं। इसका कारण यह है कि जब ईश्वर ने विभिन्न चिदणुओं का निर्माण किया, निर्माण करते समय ही उन्होंने उनमें ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी कि उनके कार्यों में स्वतन्त्रता होते हुए भी उनके बीच एक प्रकार का सामञ्जस्य पाया जाता है। इस सार्वभौम ईश्वरीय नियम को

लाइब्नित्ज़ ने **पूर्वस्थापित सामञ्जस्य** की संज्ञा दी है। इसकी तुलना उन्होंने विविध वाद्ययन्त्रों के समूह अथवा वृन्दवाद्य (Orchestra) से की है। वृन्दवाद्य में प्रत्येक वाद्ययन्त्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वर-वैशिष्ट्य रखते हुए भी अन्य वाद्ययन्त्रों के स्वरों से संगति रखता है और इस प्रकार एकतान संगीत का निर्माण करता है। सभी वाद्ययन्त्रों का लक्ष्य एक ही है ; एकतान संगीत का निर्माण। सभी वाद्ययन्त्र अपने-अपने पृथक् नियमों द्वारा संचालित होते हुए भी लक्ष्य की एकता के कारण परस्पर मिलकर एकतान संगीत का निर्माण करते हैं। यही बात चिदणुओं पर भी लागू होती है। ईश्वर ने भी चिदणुओं को निरपेक्ष और स्वतन्त्र बनाया पर स्वतन्त्र बनाने के साथ उनमें ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी कि वे परस्पर सामञ्जस्य के साथ अपनी चित्शक्ति का विकास करें। सभी चिदणुओं का लक्ष्य अपनी चित्शक्ति का विकास करके पूर्णता को प्राप्त करना है और यह सामञ्जस्य के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए जन्म के समय ही ईश्वर ने चिदणुओं के बीच ऐसा सामञ्जस्य स्थापित कर दिया कि परस्पर-स्वतन्त्र होते हुए भी उनके कार्यों में समन्वय पाया जाता है। चिदणुओं की उत्पत्ति सोद्देश्य की गई है। उनकी व्यवस्था ही इस प्रकार की गई है कि आत्मा-चिदणु में जो हेतु पाया जाता है, उसी को ध्यान में रखकर ईश्वर ने प्रारम्भ में ही शरीर-चिदणुओं में तदनुसार परिवर्तन की व्यवस्था कर दी।[1] उनमें पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य है। चिदणुओं के अस्तित्व के पार्थक्य में लक्ष्य की एकतन्त्रता है। उनकी बहुलता में सामञ्जस्य की एकता है। विश्व की भेदता में अभेदता अनुस्यूत है। प्रत्येक अणु विराट को प्रतिबिम्बित करता है क्योंकि विराट में जो कुछ हो रहा है वह प्रत्येक अणु में चरितार्थ होता है। यह सामञ्जस्य ईश्वर ने पहले से ही चिदणुओं में स्थापित कर दिया है।

प्रत्येक चिदणु "हेतु" और "परिणाम" दोनों है क्योंकि वह "आत्मा" और "शरीर" दोनों है। यदि कोई चिदणु "हेतु" है तो वह दूसरे निम्नतर चिदणुओं को प्रभावित करता है तथा यदि वह "परिणाम" है तो दूसरे उच्चतर चिदणुओं द्वारा प्रभावित होता है। किसी चिदणु के अन्दर विकास की प्रक्रिया उस चिदणु के अन्य चिदणुओं के साथ सम्बन्धों के महायोग पर आधारित होती है। किसी चिदणु या किसी वस्तु का स्वभाव उस चिदणु या उस वस्तु के संसार के अन्य चिदणुओं या वस्तुओं के साथ जैविक सम्बन्ध (Organic Relation) पर आधारित होता है।

चिदणुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की उपर्युक्त व्याख्या उनकी गवाक्षहीनता (Windowlessness) और पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (Pre-established Harmony) को एक नया महत्त्व प्रदान करती है। जब लाइब्नित्ज़ चिदणुओं को गवाक्षहीन कहते हैं तो इससे उनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया बिलकुल ही नहीं होती। उनके भीतर क्रिया प्रतिक्रिया अवश्य होती है पर यान्त्रिक क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती जैसा अनुभववादी या शरीर-विज्ञानवादी समझते हैं ; वास्तव में उनके भीतर तार्किक या वैचारिक (Ideal) क्रिया-प्रतिक्रिया ही होती है। जिस प्रकार ह्वाइटहेड (Whitehead) की वास्तविक इकाइयों (Actual Entities) में आन्तरिक सम्बन्ध होता है उसी प्रकार लाइब्नित्ज़ के चिदणुओं में भी उनके चेतन होने के कारण आन्तरिक सम्बन्ध (Internal Relations)

1. G. V. II 475 "The modifications of one (mind) are ideal causes of those (bodies) of another, in so far as the reasons appear in one monad which led God in the beginning to arrange for. modifications in the other."

पाया जाता है। उन्हीं के शब्दों में "चूँकि जगत एक पिण्डक (Plenum) है और उसकी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और जिस प्रकार किसी पिण्डक में प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं को उनकी दूरी के अनुसार प्रभावित करती हैं जिसके कारण कोई वस्तु केवल उन्हीं वस्तुओं को ही प्रभावित नहीं करती जो उनके सम्पर्क में हैं बल्कि उनके द्वारा वह अन्य वस्तुओं को भी प्रभावित करती है जिनके साथ वह परस्पर सम्बद्ध है और साथ-साथ उनके द्वारा प्रभावित भी होती है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस अन्तःसंचार का विस्तार किसी भी दूरी तक चाहे वह कितनी ही बड़ी हो फैल सकता है। परिणामस्वरूप, संसार में जो भी घटना घटित होती है या घटित हो चुकी है या घटित होने वाली है उसका प्रभाव संसार के प्रत्येक पिण्ड में देखा या पढ़ा जा सकता है—वह घटना देश या काल की दृष्टि से वर्तमान से कितनी दूर है, इससे निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं होता।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जब लाइब्नित्ज़ ने अपने चिदणुओं को गवाक्षहीन कहा तो उनका तात्पर्य यह कदापि नहीं था कि उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है, इससे उनका तात्पर्य केवल इतना ही था कि उनमें दैशिक या भौतिक सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है।

वास्तव में लाइब्नित्ज़ के चिदणुओं की गवाक्षहीनता से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। (1) प्रथम, सभी सम्बन्ध आन्तरिक होते हैं जिससे प्रत्येक चिदणु अन्य चिदणुओं को प्रभावित करते हुए वह स्वयं उनके द्वारा प्रभावित होता है। (2) इस आन्तरिक सम्बन्ध के कारण प्रत्येक चिदणु सम्पूर्ण विश्व का जीवित दर्पण होता है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व सूक्ष्म रूप में इसके भीतर विद्यमान होता है। (3) चूँकि प्रत्येक चिदणु का दूसरे चिदणुओं पर प्रभाव यान्त्रिक न होकर तार्किक और वैचारिक होता है, इस कारण एक चिदणु का दूसरे चिदणु पर वास्तविक प्रभाव ईश्वर के हस्तक्षेप द्वारा ही सम्भव है। संक्षेप में : सम्पूर्ण विश्व एक जैविक इकाई (Organic Whole) है जिसमें प्रत्येक अंग परस्पर और उस जैविक इकाई के साथ आन्तरिक सम्बन्ध द्वारा जुड़े हुए हैं।

पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य द्वारा लाइब्नित्ज़ ने देहात्म-सम्बन्ध समस्या का भी समुचित समाधान करने की चेष्टा की है। डेकार्ट्स ने आत्मा और शरीर को दो स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया की स्थापना की। ग्यूलिंक्स एवम् मेलेब्राञ्श ने इनको निमित्त मानकर प्रत्येक ज्ञान और कर्म के लिए ईश्वर को शक्त कारण माना। स्पिनोज़ा ने आत्मा और शरीर को एक ही द्रव्य के गुण मात्र मानकर इनकी दो समानान्तर धाराओं का प्रतिपादन किया। लाइब्नित्ज़ के अनुसार आत्मा और शरीर न तो दो भिन्न द्रव्य हैं जिनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया हो सके और न वे दो भिन्न गुण ही हैं जो परस्पर समानान्तर हों। इनमें न कोई तात्त्विक भेद है और न गौण ; वे एक ही चैतन्य की जागृत और सुप्त दो अवस्थाएँ हैं। निमित्तवादियों के समान प्रत्येक ज्ञान और कर्म के समय ईश्वर का हस्तक्षेप आवश्यक बताना ईश्वर का उपहास करना है। ईश्वर सर्वसमर्थ है। उन्हें आत्मा और शरीर में बार-बार हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में ही एक ही बार आत्मा और शरीर में इस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है कि परस्पर स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हुए भी उनके कार्यों में अनुरूपता पाई जाती है।

आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए लाइब्नित्ज़ ने दो

---

1. Monadology, 61 ।

घड़ियों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। कल्पना कीजिए कि दो घड़ियाँ हैं जो एक-दूसरे के बिलकुल अनुरूप हैं। यह अनुरूपता तीन प्रकार से व्यक्त हो सकती है। प्रथम विधि में दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा दोनों के बीच अनुरूपता हो सकती है। दूसरी विधि यह है कि दोनों किसी कुशल कारीगर की सतत निगरानी में हों जो उनकी अनुरूपता को सदा बनाता रहता है। तीसरी विधि यह है कि दोनों घड़ियाँ प्रारम्भ में ही इतनी कुशलता से निर्मित की गई हों कि हम उनकी अनुरूपता के विषय में पूर्ण रूप से आश्वस्त हों। प्रथम विधि क्रिया-प्रतिक्रियावाद की है ; दूसरी विधि ईश्वर-निमित्तवाद की है ; तीसरी विधि पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य की है जिसका लाइब्नित्ज़ प्रतिपादन करते हैं।

लाइब्नित्ज़ के दर्शन का मूल्यांकन

लाइब्नित्ज़ का दर्शन बुद्धिवाद का चरम उत्कर्ष है किन्तु केवल चरम उत्कर्ष होने से ही कोई दर्शन स्वीकार्य नहीं हो सकता। बुद्धिवाद एक एकांगी दर्शन है जो अनुभववाद के अभाव में किसी समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। लाइब्नित्ज़ के बुद्धिवाद में निम्न त्रुटियाँ पाई जाती हैं :

(1) चिदणुओं की बहुलता लाइब्नित्ज़ के दर्शन की महानतम भूल है। जब सभी चिदणु चेतन हैं और संसार में जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है तो एक चिदणु का दूसरे चिदणु से भेद किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? गुणात्मक अद्वैतवाद रहते हुए परिमाणात्मक बहुलवाद की बात हास्यास्पद प्रतीत होती है।

(2) लाइब्नित्ज़ द्वारा स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद का विरोध कर उसके स्थान पर चिदणुओं के बहुलवाद की स्थापना करने का एक मात्र उद्देश्य आत्माओं में संकल्प-स्वातन्त्र्य की स्थापना करनी थी जिसके बिना पाप-पुण्य की कल्पना निरर्थक हो जाती है। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि लाइब्नित्ज़ इसमें भी सफल नहीं हुए। उनका "पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य सिद्धान्त" चिदणुओं को इस प्रकार जकड़ देता है कि वे अन्त तक उसका पिण्ड छुड़ा नहीं सकते। किसी चिदणु को संसार में आकर किस प्रकार व्यवहार करना है वह पूर्व-निर्धारित होता है। अतः, चिदणुओं में किसी भी प्रकार का संकल्प-स्वातन्त्र्य नहीं है। संकल्प-स्वातन्त्र्य के अभाव में पाप-पुण्य का विचार बिलकुल निरर्थक हो जाता है।

(3) लाइब्नित्ज़ के चिदणु अनादि, अनन्त, नित्य और शाश्वत हैं और साथ ही ईश्वर सृष्ट भी हैं। इन दोनों बातों में परस्पर-विरोध पाया जाता है।

(4) यदि चिदणु वास्तव में गवाक्षहीन (Windowless) और एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तो वे सम्पूर्ण विश्व को किस प्रकार प्रतिबिम्बित कर सकते हैं ? चिदणुओं की गवाक्षहीनता विश्व को एक "स्वप्न" के रूप में परिणत कर देती है जिसमें हमें यह भी वास्तविक रूप में ज्ञात नहीं हो सकता कि संसार में कोई अन्य चिदणु हैं अथवा नहीं। लाइब्नित्ज़ के दर्शन में "विश्व" का अर्थ है चिदणु और उसके प्रतिबिम्ब। परन्तु बिम्बों के ज्ञान के अभाव में प्रतिबिम्ब का भी ज्ञान असम्भव है। डॉ० शर्मा का यह कथन बिलकुल सत्य है "लाइब्नित्ज़ का विश्व दर्पणों का समूह है जिसमें प्रत्येक दर्पण अन्य सभी दपर्णों को अपने भीतर प्रतिबिम्बित कर रहा है।"[1]

1. डॉ० शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, पृ० 131।

(5) लाइब्नित्ज़ का चिदणुवाद इस तार्किक मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक यथार्थ तर्क-वाक्य में विधेय उद्देश्य के भीतर निहित होता है (Predicatum inest subjects)। लाइब्नित्ज़ के पहले तर्कशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का उपयोग केवल सामान्य तर्क-वाक्यों (General Propositions) के विषय में ही किया था। लाइब्नित्ज़ की विशेषता यह है कि उन्होंने इस सिद्धान्त का उपयोग विशेष तर्क-वाक्यों (Particular Propositions) के विषय में भी किया। उदाहरण के लिए 'पी॰वी॰ नरसिंह राव ने भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया को संचालित किया' इस तर्कवाक्य का विधेय 'भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया को संचालित किया' उसके उद्देश्य "पी॰ वी॰ नरसिंह राव" में पहले से ही निहित था जिसे उन्होंने कालान्तर में अभिव्यक्त किया। इसका तात्पर्य यह है कि नियति ने पी॰वी॰ नरसिंह राव को भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया को संचालित करने के लिए ही नियुक्त किया है। इस प्रकार लाइब्नित्ज़ का दर्शन "तार्किक सत्कार्यवाद" अथवा "सद्विधेयवाद" कहा जा सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर ही लाइब्नित्ज़ ने कहा था कि प्रत्येक चिदणु केवल उद्देश्य है जो कभी विधेय नहीं बन सकता तथा उनके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वह उसमें पहले से ही निहित है। इसी सिद्धान्त से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि दो चिदणुओं में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों व्यक्ति-विशेष होते हैं।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि लाइब्नित्ज़ की उपर्युक्त बात तभी सत्य हो सकती है जबकि जो तार्किक अनिवार्यता हो वह तात्त्विक अनिवार्यता भी हो। पर यह कोई आवश्यक नहीं है। जो तार्किक दृष्टि से उद्देश्य है, यह कोई आवश्यक नहीं कि वह तात्त्विक दृष्टि से भी उद्देश्य हो। अतः लाइब्नित्ज़ की तार्किक एवम् तात्त्विक उद्देश्य की एकता का सिद्धान्त तर्क सम्मत नहीं है। यह चिदणुवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता है। चिदणु तात्त्विक उद्देश्य नहीं हो सकते। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि सभी तर्क-वाक्य विश्लेषणात्मक होते हैं तो फिर लाइब्नित्ज़ का अनिवार्य (Necessary) और आपातिक (Contingent) इन दो प्रकार के सत्यों तथा उनकी सत्यता की कसौटी के रूप में व्याघात-नियम (Law of Contradiction) एवम् पर्याप्त हेतु नियम (Law of Sufficient Reason) इन दो कसौटियों को मानने की क्या आवश्यकता है ? उपर्युक्त बातें उनकी इस मान्यता के बिलकुल विपरीत हैं कि तार्किक उद्देश्य एवम् तात्त्विक उद्देश्य एक ही हैं।

(6) लाइब्नित्ज़ का चिदणुवाद उनके तर्कशास्त्र के सद्विधेयवाद एवम् गणित के आकलन (Calculus) से निगमित है। बर्ट्रण्ड रसेल ने ठीक ही कहा है कि यह कोई अनिवार्य नहीं है कि जो तार्किक एवम् गणितीय सम्भावना हो वह तत्त्वतः यथार्थ ही हो। तर्कशास्त्र और गणित का सम्बन्ध विज्ञान-जगत (Relations of Ideas) से होता है पर दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध वस्तु-जगत (Matters of Facts) से है। अतः एक को दूसरे से निगमित करना ठीक नहीं है। आधुनिक तर्कशास्त्र विशेषकर गणितीय तर्कशास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि तर्कशास्त्र और तत्त्व-विज्ञान परस्पर निरपेक्ष शास्त्र हैं।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि लाइब्नित्ज़ एक महान दार्शनिक थे।

□□□

3

अनुभववाद
(Empiricism)

अनुभववाद वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है जिसके अनुसार इन्द्रियानुभव ही वास्तविक ज्ञान का एक मात्र स्रोत है। अनुभववाद की मान्यता यह है कि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल बुद्धि द्वारा कदापि नहीं हो सकती। बुद्धिवाद बुद्धि को नियामक एवम् उपादानात्मक दोनों तत्त्व मानता है किन्तु अनुभववाद के अनुसार बुद्धि केवल नियामक तत्त्व है ; वह उपादानात्मक तत्त्व का स्थान कभी भी ग्रहण नहीं कर सकती। यदि हमें कोई ऐसा ज्ञान प्राप्त करना हो जो वास्तविक और वस्तुनिष्ठ हो, तो वह ज्ञान केवल अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। बुद्धिवाद एवम् अनुभववाद के बीच जो दूसरा भेद है वह यह है कि बुद्धिवाद केवल उसी ज्ञान को "ज्ञान" की संज्ञा देगा जिसमें अनिवार्यता एवम् सार्वभौमता का गुण विद्यमान हो किन्तु अनुभववाद के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह ज्ञान के विषय में पर्याप्त उदार है। उसके अनुसार ज्ञान अनिवार्य और सम्भाव्य दोनों हो सकता है। यदि ज्ञान अनिवार्य है तो वह केवल विश्लेषणात्मक ही होगा। इसके विपरीत यदि ज्ञान सम्भाव्य है तो वह वस्तु-जगत के विषय में होने के कारण संश्लेषणात्मक वाक्य होगा। अनुभववाद के अनुसार वस्तु-जगत के विषय में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान संश्लेषणात्मक एवम् अनुभव-सापेक्ष होगा। इसके लिए संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य (Synthetic Apriori Judgement) एक तार्किक असम्भावना है। ब्रिटिश दर्शन सदा ही अनुभववादी दर्शन रहा है। लॉक, बर्कले एवम् ह्यूम अनुभववाद के प्रतिनिधि दार्शनिक रहे हैं।

1. जॉन लॉक
(John Locke : 1632-1704)

जीवन-वृत्त—लॉक का जन्म इंग्लैण्ड के रिंगटन, सोमरसेट में 29 अगस्त 1632 में हुआ था। वे अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थे। प्रथम उनकी शिक्षा घर पर ही हुई पर बाद में वह वेस्टमिन्स्टर स्कूल में भर्ती हुए। 1652 में वे स्कूल की शिक्षा समाप्त कर उच्च अध्ययन के लिए क्राइस्ट चर्च कालेज ऑक्सफोर्ड में भर्ती हुए जहाँ से उन्होंने एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। ऑक्सफोर्ड में लॉक ने पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की और वहीं वे ग्रीक भाषा के प्राध्यापक बना दिए गए। इस बीच उन्होंने ग्रीक भाषा के साथ लैटिन, इब्रानी तथा अरबी भाषाएँ भी सीख लीं जिनके माध्यम से उन्हें कई भाषाओं में प्रस्तुत दर्शन के ग्रन्थों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ।

अपने विद्यार्थी जीवन में लॉक ने यूनानी दर्शन और ईसाई दर्शन का विशेष अध्ययन किया था पर उन्हें इन दर्शनों से कोई विशेष सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ। हाँ डेकार्ट्स की चिन्तन प्रणाली व उसकी दार्शनिक पद्धति ने उनके मन को विशेष प्रभावित किया। वास्तव में लॉक

की ज्ञान-मीमांसा डेकार्ट्स की तत्त्व-मीमांसा पर ही आधारित है। लॉक का ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद (Epistemological Dualism) डेकार्ट्स के तत्त्व मीमांसीय द्वैतवाद (Metaphysical Dualism) का ही एक संस्करण है।

लॉक का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं था। वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए 1675 में फ्रान्स गए जहाँ 1680 तक रहकर स्वास्थ्य-लाभ करते रहे। इस बीच डेकार्ट्सवादियों एवम् डेकार्ट्स विरोधी लोगों से उनका सम्पर्क हुआ। गैसेण्डी की विचारधारा का लॉक पर विशेष प्रभाव पड़ा। गैसेण्डी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी फ्रैन्सिस बर्नियर के साथ भी लॉक की मैत्री थी। बर्नियर दार्शनिक होने के साथ-साथ डॉक्टर और भ्रमणकारी भी थे। इस प्रकार लॉक को उससे गैसेण्डी का दर्शन ही नहीं वरन् बाहरी संसार का भी ज्ञान प्राप्त हुआ।

रचनाएँ—**'मानवीय बुद्धि से सम्बन्धित निबन्ध'** (An Essay Concerning Human Understanding) लॉक की प्रथम रचना है। यह अंग्रेजी भाषा में लिखा गया उच्चकोटि के दर्शन का प्रथम ग्रन्थ है। बीस साल के अनवरत प्रयत्न के परिणामस्वरूप 1690 में सर्वप्रथम यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें लॉक ने ज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त लॉक की अन्य रचनाएँ भी हैं जो राजनीति, शिक्षा, धर्म और आचार-व्यवहार से सम्बन्धित हैं। **शासन पर दो निबन्ध** (Two Treatises on Government), **शिक्षा पर विचार** (Thoughts on Education), **ईसाई मत की युक्तियुक्तता** (Reasonableness of Christianity), **सहिष्णुता पर चार लेख** (Four Letters on Toleration) इत्यादि लॉक की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लॉक के पूर्व दर्शन का प्रधान विषय तत्त्व विवेचन था। तत्त्व क्या है ? तत्त्व का स्वभाव क्या है ? संसार में तत्त्व कितने प्रकार के हैं ? उनकी संख्या कितनी है ? इन्हीं सब बातों पर लॉक के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने विचार किया था। यदि कहीं ज्ञानमीमांसा के विषय में चर्चा भी की गई थी तो वह या तो आनुषंगिक रूप में या तत्त्वविज्ञान के एक अंग के रूप में ही उसका विवेचन किया गया था। जॉन लॉक ऐसे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने दर्शन के आकर्षण केन्द्र को तत्त्व-मीमांसा से हटाकर ज्ञानमीमांसा पर केन्द्रित किया। उनके अनुसार जब तक ज्ञान के स्रोत, ज्ञान के स्वभाव, ज्ञान की वैधता तथा ज्ञान की सीमा का निर्धारण न हो जाय, तब तक हमें तत्त्व के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। उन्होंने बड़ी गम्भीरतापूर्वक विशद रूप में ज्ञान के उद्भव उसके स्वरूप व सीमा का विवेचन किया। आगे चलकर काण्ट ने भी ज्ञान का विशद विवेचन प्रस्तुत किया पर उनके विवेचन और लॉक के विवेचन में स्पष्ट भेद है। काण्ट के विवेचन में ज्ञान के स्वभाव व वैधता की प्रधानता पाई जाती है पर लॉक के विवेचन में ज्ञान के उद्भव की प्रधानता है। दृष्टिकोणों के इस भेद के कारण ही लॉक की ज्ञानमीमांसा मनोविज्ञान मात्र रह गई और काण्ट की ज्ञानमीमांसा दर्शन के पर्याय रूप समझी जाने लगी। काण्ट की प्रेरणा का स्रोत ह्यूम रहा है और ह्यूम लॉक का ही एक विकसित रूप है। इस दृष्टि से ज्ञानमीमांसा को दर्शनपीठ पर आसीन कराने का श्रेय लॉक को ही जाता है।

दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है वह यह है कि डेकार्ट्स का बुद्धिवाद और लॉक का अनुभववाद दोनों तत्त्वमीमांसीय द्वैतवाद की उपज है। डेकार्ट्स जानते थे कि जब आत्मा और जड़-तत्त्व के बीच आत्यन्तिक विरोध है, उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती और आत्मा को प्रतिबिम्ब-रूप में भी जड़-जगत का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण आत्मा और जड़-जगत के बीच खाई को समाप्त करने के लिए उन्होंने आजानिक प्रत्ययों (Innate Ideas) की कल्पना की थी जो प्रत्येक आत्मा के भीतर जन्म से ही विद्यमान होता है। यदि आजानिक प्रत्ययों के विचार का निषेध किया जाय तो जड़-जगत के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र स्रोत आगन्तुक विज्ञान (Adventitions Ideas) ही होंगे जो इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वस्तुओं के आत्मा पर प्रभाव के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। लॉक के दर्शन की यही मान्यता है। यद्यपि वे स्वीकार करते हैं कि आत्मा और जड़-तत्त्व के बीच आत्यन्तिक विरोध है पर फिर भी उनका विश्वास है कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आत्मा और जड़-पदार्थ में सम्बन्ध स्थापित होता है। यही उनके अनुभववाद का मूल स्रोत है। यही बात लॉक के दर्शन में नाना प्रकार के विरोधाभासों को उत्पन्न करती है। इन विरोधाभासों पर विचार करने के पूर्व हम लॉक द्वारा आजानिक विज्ञानों के खण्डन पर विचार करेंगे जो उनके अनुभववाद का आधार है।

लॉक द्वारा आजानिक विज्ञानों का खण्डन

डेकार्ट्स, स्पिनोज़ा, लाइब्नित्ज़ इत्यादि बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान का मूल स्रोत इन्द्रियातीत आजानिक विज्ञान है जो आत्मा में जन्म से ही निगूढ़ होते हैं। वे सहज (Innate), सार्वभौम (Universal) और प्रागनुभविक (Apriori) होते हैं। इसके विपरीत गैसेण्डी और उसके अनुयायी सभी प्रत्ययों और सिद्धान्तों को आनुभविक मानते थे। लॉक का भी यही मत था। आजानिक प्रत्ययों में विश्वास करने वाले लोगों में बुद्धिवादियों के अतिरिक्त कैम्ब्रिज प्लेटोवाद और ईसाई मत के कुछ नैयायिकों (Schoolmen) को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिनके अनुसार सार्वभौम, अनिवार्य और स्वयंसिद्ध प्रत्यय आत्मा में पहले से ही निगूढ़ होते हैं। सॉक्रिटीज़ और प्लेटो का **अनुस्मरण-सिद्धान्त** (Recollection Theory) इन्हीं आजानिक और निगूढ़ विज्ञानों के अस्तित्व को सिद्ध करता है। लॉक ने निम्न आधारों[1] पर आजानिक प्रत्ययों के विचार का खण्डन किया है—

(1) **प्राकृतिक शक्तिमूलक युक्ति**—कुछ बुद्धिवादियों के अनुसार हम जन्म से ही कुछ आजानिक विज्ञानों को अपने साथ लेकर संसार में आते हैं जिनके विश्लेषण से सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लॉक इसका खण्डन करते हैं। उनके अनुसार हमारे भीतर ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनका उपयोग करने से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है किन्तु उनके आधार पर आजानिक प्रत्ययों के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'यदि ईश्वर ने रंग के विज्ञानों को प्राप्त करने के लिए हमें दृष्टि-संवेदना प्रदान की है तो यह कहना धृष्टता ही होगी कि रंग के विज्ञान आजानिक हैं। इसी प्रकार जब हम सभी सत्यों का ज्ञान अपनी प्राकृतिक शक्तियों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें जन्मजात और आजानिक कहना

1. लॉक, मानवीय बुद्धि से सम्बन्धित निबन्ध, अध्याय 21

अविवेकपूर्ण कार्य ही होगा।'[1] इस प्रकार, लॉक के अनुसार हमारे सभी विज्ञान अनुभव-सापेक्ष (Aposteriori) ही होते हैं।

(2) **सामान्य सम्मतिमूलक युक्ति (General Assent)**—आजानिक विज्ञानों के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि बहुत से ऐसे विज्ञान हैं जो सभी मानवों को सर्वसम्मति से मान्य हैं जैसे—तादात्म्य-नियम, व्याघात-नियम, मध्यम-परिहार-नियम इत्यादि। उक्त सत्य निश्चित रूप में सभी मनुष्यों के मन में विद्यमान होते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि वे आत्माओं में पहले से ही निगूढ़ हैं। यदि उन्हें निगूढ़ न मानकर आगन्तुक माना जाय तो वे सर्वसम्मत कदापि नहीं हो सकते।

बुद्धिवादियों के उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए लॉक कहते हैं कि सर्वसम्मति से विज्ञानों की निगूढ़ता या आजानिकता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह विज्ञानों की अनुभव-सापेक्षता के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, पुस्तक को देखकर सब लोगों के मन में "पुस्तक" के प्रति सर्वसम्मति हो सकती है। पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि "पुस्तक" का विज्ञान आजानिक है। दूसरी बात यह है कि किसी भी विज्ञान या प्रत्यय के प्रति सर्वस्म्मति शायद ही प्राप्त की जा सकती है। "ईश्वर" के विज्ञान को ही लिया जाय। लोगों के मन में ईश्वर के प्रति भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो ईश्वर के प्रत्यय में विश्वास ही नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि कोई भी प्रत्यय सर्वसम्मत नहीं है जिसे आत्मा में निगूढ़ माना जा सके। सभी प्रत्यय अनुभवजन्य हैं। यही बात सार्वभौम सहमति (Universal Consent) के विषय में भी कही जा सकती है।

(3) **स्वयंसिद्धतामूलक युक्ति**—आजानिक विज्ञानों के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि कुछ ऐसे स्वयंसिद्ध नियम और सिद्धान्त हैं जिनकी वैधता को सिद्ध करने के लिये किसी बाह्य वस्तु की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती। इससे स्पष्ट होता है कि वे आत्मा में पहले से ही निगूढ़ होते हैं। यदि वे आत्मा में पहले से ही विद्यमान न होते तो उन्हें स्वयंसिद्ध कभी भी नहीं कहा जाता। आत्मा का प्रत्यय, कारणता-नियम इसी कोटि में आते हैं।

उपर्युक्त युक्ति का उत्तर देते हुए लॉक कहते हैं कि तथाकथित स्वयंसिद्ध नियम एक विशिष्ट दृष्टिकोण से ही स्वयंसिद्ध होते हैं, दूसरे दृष्टिकोण से वे कदापि स्वयंसिद्ध नहीं होते। उदाहरण के लिए 'एक सरल रेखा पर एक बिन्दु से केवल एक ही प्रलम्ब खींचा जा सकता है' यह सत्य यूक्लिड ज्यामिति के लिए स्वयंसिद्ध है पर ठोस ज्यामिति (Solid Geometry) के लिए नहीं। इससे सिद्ध होता है कि कोई स्वयंसिद्ध नियम सभी दृष्टिकोणों से स्वयंसिद्ध नहीं है।

(4) **अव्यक्ततामूलक युक्ति**—बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान और विज्ञान आत्मा में निगूढ़ होते हैं। पर निगूढ़ होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे सदा व्यक्त होते हैं। ज्ञान और विज्ञान आत्मा में सूक्ष्म या साध्य रूप में सदा विद्यमान रहते हैं भले ही वे अव्यक्त रूप में ही क्यों न हों। अव्यक्त ज्ञान को व्यक्त करने के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। "अनुभव" ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते वे केवल उसे जाग्रत ही करते हैं। अतः ज्ञान विज्ञान

1. वही।

आजानिक हैं।

आजानिक विज्ञानों के पक्ष में दिए गए अव्यक्ततामूलक युक्ति का खण्डन करते हुए लॉक कहते हैं कि ज्ञान अव्यक्त कभी भी नहीं हो सकता। अव्यक्त ज्ञान की कल्पना बदतोव्याघात है। यह कथन कि ज्ञान आत्मा में निगूढ़ है किन्तु हमें उसका ज्ञान नहीं है, आत्मव्याघातक विचार है। जो "अव्यक्त" है उसे ज्ञान की संज्ञा कदापि नहीं टी जा सकती। "अव्यक्त" का वास्तविक अर्थ यही हो सकता है कि आत्मा ज्ञान-शून्य है। उसे सम्पूर्ण विज्ञान अनुभव से ही प्राप्त हो सकते हैं, बुद्धि द्वारा नहीं। आजानिक प्रत्यय मिथ्या कल्पना है।

(5) **शक्तिमूलक युक्ति**—कुछ बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा की एक शक्ति है जो उसमें सदा विद्यमान रहती है। आत्मा की शक्ति के कारण ही उसमें ज्ञान पाए जाते हैं। अतः ज्ञान-विज्ञान आगन्तुक न होकर आजानिक ही होते हैं।

उपर्युक्त युक्ति का खण्डन करते हुए लॉक कहते हैं कि यह ठीक है कि आत्मा में कुछ मौलिक शक्ति निहित होती है पर यह मौलिक शक्ति ज्ञान की शक्ति न होकर मूल-प्रवृत्तियों की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक आत्मा में आत्म-अनुरक्षण एवम् जाति-अनुरक्षण की मूल-प्रवृत्तियाँ जन्मजात रूप में पाई जाती हैं। चरिष्णुता, सहज-क्रियाएँ एवम् मूल-प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप में आत्मा में आजानिक होती हैं पर ज्ञान इन्द्रियानुभव द्वारा हम आगन्तुक रूप में ही प्राप्त करते हैं। लॉक के अनुसार ज्ञान एक उपलब्धि है, आजानिक नहीं।

(6) **यदि विज्ञान आजानिक होते तो उनका ज्ञान बच्चों, पागलों और मूर्खों को भी होता**—आजानिक प्रत्ययों के विरुद्ध अपना निर्णायक उत्तर देते हुए लॉक कहते हैं कि यदि सहज प्रत्यय आत्मा में पहले से ही विद्यमान होते तो उनका ज्ञान बालकों, मूर्खों और पागलों को भी होना चाहिए और उनके विषय में पूर्ण मतैक्य होना चाहिए। पर ऐसा कही नहीं देखा जाता। तादात्म्य-नियम, व्याघात-नियम, मध्यम परिहार-नियम इत्यादि किसी सार्वभौम नियम का ज्ञान इन्हें नहीं होता। यह कहना कि उपर्युक्त सार्वभौम नियम आजानिक रूप में आत्मा में विद्यमान रहते हैं, केवल हमें उनका ज्ञान नहीं होता, वदतोव्याघात है। यदि ईश्वर की प्रतीति को सहज मान लिया जाय तो फिर संसार में नास्तिकों का अस्तित्व नहीं होना चाहिए। किन्तु विश्व में नास्तिकों की कमी नहीं है। इसी प्रकार, आचार सम्बन्धी एक भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो सब देशों और सभी युगों के लोगों को समान रूप से मान्य रहा हो। पुनः यदि मान भी लिया जाय कि आचार और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त आजानिक और सहज हैं तो उन्हें युक्तियों द्वारा सिद्ध करने की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? इससे तो यही सिद्ध होता है कि वे आजानिक और सहज नहीं है।

(7) **यदि बुद्धि सार्वभौम सत्यों का अनुसंधान करती है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे आजानिक हैं**—कुछ बुद्धिवादियों के अनुसार आत्मा को कुछ ऐसे सार्वभौम और अनिवार्य नियमों का ज्ञान होता है जिन्हें हम इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। यदि इन्द्रियानुभव द्वारा उन्हें प्राप्त किया जाता है वे सम्भाव्य ही होते, अनिवार्य कभी न होते। अतः चूकि हम उन्हें इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त न कर बुद्धि द्वारा ही प्राप्त करते हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे आजानिक और सहज हैं।

उपर्युक्त युक्ति का खण्डन करते हुए लॉक कहते हैं कि बुद्धि (Reason) का कार्य केवल ज्ञात सत्यों से अज्ञात सत्यों को निगमित करना है। यदि बुद्धिवादियों के अनुसार स्वयंसिद्धियाँ (Axioms) और प्रमेय (Theorems) दोनों आजानिक हैं तो प्रमेयों को बुद्धि द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है ? बाह्य संसार की दृश्य वस्तुओं का अनुसंधान करने के लिए भी बुद्धि की आवश्यकता होती है पर इससे यह कोई नहीं कहता कि उनका ज्ञान आजानिक होता है। इस प्रकार यह कहना कि अव्यक्त प्रत्ययों को जानने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है, इस कथन के बराबर होगा कि मनुष्य को ज्ञान और अज्ञान दोनों साथ-साथ होता है जो असम्भव है।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर लॉक निष्कर्ष निकालते हैं कि आजानिक प्रत्ययों की कल्पना मिथ्या है। हमारा सभी ज्ञान अनुभव-सापेक्ष (Aposteriori) होता है। तो क्या इससे निष्कर्ष निकाला जाय कि लॉक प्रागनुभविक (Apriori) ज्ञान में विश्वास प्रगट नहीं करते ? लॉक ने अपने दर्शन में कहीं भी प्रागनुभविक ज्ञान का व्यवहार नहीं किया है। इससे कुछ दार्शनिकों ने यह अर्थ निकाला कि लॉक प्रागनुभविक ज्ञान में बिलकुल ही विश्वास नहीं करते। इस सन्दर्भ में लॉक-दर्शन के प्रमुख अधिकारी विद्वान आरों[1] (R.I. Aaron) का कथन है कि यदि प्रागनुभविक ज्ञान का अर्थ उन सिद्धान्तों के ज्ञान से लिया जाय जिनके द्वारा हम अनुभव को व्यवस्थित करते हैं अथवा जगत के उस ज्ञान से लिया जाय तो विशुद्ध बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तो निस्सन्देह लॉक इस प्रकार के ज्ञान में विश्वास नहीं करते।' किन्तु यदि प्रागनुभविक ज्ञान का अर्थ उस ज्ञान से लिया जाय जो सार्वभौम और अनिवार्य होता है तो लॉक इस प्रकार के प्रागनुभविक ज्ञान की सम्भावना से इनकार नहीं करते। वे स्वीकार करते हैं कि दो प्रत्ययों के बीच जो अनिवार्य सम्बन्ध होता है उसका ज्ञान सार्वभौम और निश्चयात्मक ही होता है। किन्तु यह ज्ञान किसी संवेदन विशिष्ट द्वारा उत्पन्न न होकर प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही उत्पन्न होता है। इसकी उपलब्धि प्रातिभ (Intuitive) और निदर्शनात्मक (Demonstrative) ज्ञान द्वारा ही होती है। यह आगमन प्रणाली द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि लॉक के दर्शन में बुद्धि केवल नियामक सिद्धान्त (Regulative Principle) के रूप में ही कार्य करती है, उपादानात्मक सिद्धान्त (Constitutive Principle) के रूप में नहीं।

ज्ञान का स्रोत
(Origin of Knowledge)

ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में समझने के पहले आत्मा के स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है। लॉक आत्मा को एक आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में लेते हैं। आत्मा को आध्यात्मिक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा चेतन है। उसके आध्यात्मिक होने का केवल इतना ही अर्थ है कि वह एक अभौतिक द्रव्य है। भौतिक द्रव्य निष्क्रिय है किन्तु आध्यात्मिक द्रव्य क्रियाशील है। चैतन्य आत्मा का सहज स्वभाव नहीं है क्योंकि यदि चैतन्य आत्मा का स्वभाव होता तो वह सदा चिन्तन किया करता। पर वास्तव में ऐसा कहीं नहीं पाया जाता। जिस प्रकार गति भौतिक द्रव्य का एक व्यापार (Activity) है उसी प्रकार चिन्तन

1. आरों, आर० आई०, जॉन लॉक, पृ० 97-98

आत्मा का स्वभाव न होकर उसका केवल एक व्यापार ही है। यहाँ लॉक की आत्मा की मीमांसक कुमारिल भट्ट भी आत्मा के साथ पर्याप्त समानता है। विज्ञानों को ग्रहण करने में आत्मा बिलकुल निष्क्रिय होती है। जब तक बाह्य वस्तुएँ आत्मा को प्रभावित नहीं करती, आत्मा विज्ञानों को ग्रहण नहीं कर सकती। आत्मा की उपमा एक "दर्पण" से दी जा सकती है जो बिना किसी प्रकार की स्वतन्त्र प्रक्रिया द्वारा बाहय वस्तुओं के प्रतिबिम्बों को ग्रहण कर लेता है। प्रारम्भ में आत्मा बिलकुल रिक्त और ज्ञान शून्य होता है। आत्मा एक "स्वच्छ पट्टिका" (Clean Slate) के समान है जिस पर अनुभव अपनी संवेदन और स्वसंवेदन रूपी उंगुलियों से ज्ञान रूपी अक्षर लिखता रहता है। इसी प्रकार लॉक ने आत्मा की उपमा एक **"सफेद कागज"** (White Paper)[1] से दी है जिस पर कोई अक्षर अंकित नहीं होते और वह बिलकुल विज्ञान शून्य होता है। इसी प्रकार उन्होंने आत्मा को एक **"रिक्त कमरे"**[2] (Empty Chamber) के समान भी माना है जिसमें इन्द्रियों के द्वारा विशिष्ट विज्ञान प्रेषित किए जाते हैं। आत्मा रूपी **"अंधेरी कोठरी"**[3] (Dark Room) में अनुभव रूपी सूर्य का ज्ञान रूपी प्रकाश संवेदन और स्वसंवेदन रूपी दो खिड़कियों में से होकर आता है और उसे आलोकित करता है। इस प्रकार लॉक के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है जिसका ज्ञान एक आगन्तुक गुण है। ज्ञान विज्ञान के अधीन होता है या वह प्रत्ययाकार है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लॉक का विज्ञान से क्या तात्पर्य है ? अपने निबन्ध की भूमिका में लॉक ने विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है ; 'यह वह पद है जो बुद्धि का विषय है जब कि कोई मनुष्य सोचता है। मैने इसका प्रयोग वह सब अभिव्यक्त करने के लिए किया है जो कल्पना (Phantom), बोध (Notion), जाति (Species) अथवा चिन्तन में मन जो कुछ भी व्यवसाय करता है, को सार्थकता प्रदान करते हैं।"[4] उन्होंने उसी स्थान पर विज्ञान की एक दूसरी परिभाषा भी दी है जिसके अनुसार 'प्रत्यक्ष, विचार या बुद्धि के अपरोक्ष विषय को विज्ञान कहते हैं।'[5] यह विज्ञान की एक व्यापक परिभाषा है जिसके भीतर चेतना का कोई विषय सम्मिलित किया जा सकता है। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विज्ञान का वास्तविक स्रोत क्या है ? वे कहाँ उत्पन्न होते हैं ? लॉक का उत्तर है कि हमारे सम्पूर्ण विज्ञानों का एक मात्र स्रोत अनुभव है। अनुभव से ही सभी ज्ञान स्थापित होते हैं और उसी से वह अन्ततः निगमित होता है। अनुभव दो प्रकार का होता है ; 1. संवेदन (Sensation) एवम् 2. स्वसंवेदन (Reflection)। वे ही दो ज्ञान के स्रोत हैं जिनसे सभी विज्ञान जिन्हें हम प्राप्त करते हैं या स्वभावतः प्राप्त कर सकते हैं, उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्षों के साथ ही विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि ज्यों ही हम प्रत्यक्ष करना बन्द कर देते हैं, विज्ञान समाप्त हो जाते हैं।

1. निबन्ध, बुक II अध्याय 1, अधिकरण 2।
2. वही, I, i, 15।
3. वही, II, xi, 17।
4. Essay, I, i, 8. "Whatever is the object of the understanding when a man thinks. I have used it to express phantoms, notions, species or whatever it is which the mind can be employed about in thinking.
5. Ibid, II, viii, 8. "An idea is the immediate object of perception, thought or understanding.

(1) **संवेदन (Sensation)**—संवेदन के सरल विज्ञान ज्ञान के प्रथम स्रोत हैं। लॉक ने "संवेदन" शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। कभी तो इसका प्रयोग इन्द्रिय-प्रदत्तों (Sense-Data) के लिए किया है जैसे—रूप, रंग, शब्द, स्पर्श इत्यादि। कभी इसका प्रयोग संवेद्य गुणों (Sensible Qualities) जैसे पीला, सफेद, गर्म, ठंडा इत्यादि के लिए किया गया। "संवेदना" को परिभाषित करते हुए लॉक कहते हैं, 'संवेदना शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हुई गति या संस्कार है, जो बुद्धि में कुछ प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है।'[1] संवेदना की उत्पत्ति की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है ; बाह्य वस्तुएँ इन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। इन्द्रियाँ इस प्रभाव की सूचना मस्तिष्क को देती हैं। मस्तिष्क इस सूचना से मन को प्रभावित करता है जिसके फलस्वरूप मन में एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार मन में विज्ञान उत्पन्न होने की प्रक्रिया को ही संवेदना कहते हैं। "आत्मा में संवेदना और विज्ञान समकालिक उत्पन्न होते हैं"।[2] यही संवेदना हमारे विज्ञानों के मौलिक स्रोत होते हैं।

(2) **स्वसंवेदन (Reflection)**—स्वसंवेदन हमारे ज्ञान का दूसरा स्रोत है। लॉक की परिभाषा के अनुसार ' स्वसंवेदन संवेदना द्वारा प्राप्त विज्ञानों पर किए गए मन के व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण है।'[3] ज्यों ही आत्मा को संवेदना द्वारा विज्ञान प्राप्त होते हैं वह इन पर प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन, सन्देह, विश्वास, तर्कणा, जानना, संकल्प करना इत्यादि व्यापार करने लगती है। जब आत्मा इन व्यापारों पर आत्मालोचन करती है, तो उसे कुछ स्पष्ट विज्ञान प्राप्त होने लगते हैं जिन्हें स्वसंवेदन कहा जाता है। संवेदन हमें बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं पर स्वसंवेदन हमें आन्तरिक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होते हैं। स्वसंवेदन के विज्ञानों को लॉक प्रतिवर्त विज्ञान (Reflex Idea) का नाम देते हैं। स्वसंवेदन के विज्ञान उतने ही मौलिक और प्राथमिक होते हैं जितने संवेदन के विज्ञान। उनमें अन्तर केवल इतना ही है कि जब तक आत्मा को पहले संवेदन के विज्ञान प्राप्त नहीं हो जाएँगे तब तक न तो आत्मा का उन पर कोई व्यापार होगा और न ही स्वसंवेदन के विज्ञान उत्पन्न हो सकेंगे। इस प्रकार संवेदन के विज्ञान पहले उत्पन्न होते हैं और स्वसंवेदन के विज्ञान बाद में। अन्य बातों में उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

संवेदन और स्वसंवेदन दो ऐसे द्वार हैं जिनके द्वारा विज्ञान रूपी प्रकाश आत्मा रूपी अंधेरी कोठरी में प्रवेश करता है। किन्तु विशेष बात यह है कि वे दोनों द्वार अंधेरी कोठरी में एक साथ नहीं खुलते, एक दूसरे के बाद खुलते हैं। उनमें संवेदन प्रथम एवम् प्रधान द्वार है। स्वसंवेदन बाद में आता है और सदा संवेदन की अपेक्षा रखता है।

लॉक ने संवेदन और स्वसंवेदन को विज्ञान (Idea) के रूप में घोषित किया है। विज्ञान के रूप में प्रथम को **संवेदन के विज्ञान** (Idea of Sensation) एवम् द्वितीय को **स्वसंवेदन के विज्ञान** (Idea of Reflection) की संज्ञा प्रदान की है। इन दो प्रकार के विज्ञान के अतिरिक्त लॉक ने विज्ञानों का दो अन्य प्रकार से विभाजन भी प्रस्तुत किया है।

---

1. Essay, II, I, 13. 'Sensation is an impression or motion made in some part of the body as produces some perception in the understanding'.
2. Ibid, 'I conceive that ideas in the understanding are coeval with sensation.'
3. Essay II 4, 'Reflection is the perception of the operation of our own minds within us as it is employed about the ideas if has got'.

इनमें प्रथम विभाजन सरल विज्ञान (Simple Ideas) एवम मिश्र विज्ञान (Complex Ideas) के बीच है तथा द्वितीय विभाजन मूल गुणों के विज्ञान (Ideas of Primary Qualities) एवम् उपगुणों के विज्ञान (Ideas of Secondary Qualities) के बीच है। इनका हम पृथक्-पृथक् वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(1) **सरल विज्ञान (Simple Ideas)**—सरल विज्ञान वे विज्ञान हैं जो संवेदन या स्व-संवेदन या दोनों से उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत मिश्र विज्ञान वे विज्ञान हैं जो सरल विज्ञानों के योग या मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। सरल विज्ञानों के ग्रहण में आत्मा निष्क्रिय होती है। पर मिश्र विज्ञानों के निर्माण में आत्मा को सक्रिय होना पड़ता है। यहाँ दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि सरल विज्ञान आत्मा के लिए प्रदत्त (Data) होते हैं ; आत्मा न उन्हें उत्पन्न कर सकती है और न नष्ट ही कर सकती है। इनके विषय में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सरल विज्ञान सदा आणविक (Atomic), अयौगिक (Uncompounded), अमिश्रित और अविभाज्य होते हैं।

सरल विज्ञान चार प्रकार के होते हैं : (i) वे सरल विज्ञान जो केवल एक इन्द्रिय के संवेदन द्वार से आत्मा में प्रवेश करते हैं जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द एवम् स्पर्श। (ii) वे सरल विज्ञान जो एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं जैसे दृष्टि और स्पर्श इन्द्रियों से हमें विस्तार (Extension), आकार (Figure) और गति (Motion) के सरल विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त होता है। (iii) वे सरल विज्ञान जो स्वसंवेदन के द्वार के आत्मा में प्रवेश करते हैं। ऐसे विज्ञान आत्मा के व्यापारों पर ही मनन करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्षीकरण (Perception), चिन्तन (Thinking), इच्छा शक्ति (Will) स्वसंवेदन से उत्पन्न होने वाले सरल विज्ञान हैं। (iv) चौथे प्रकार के सरल विज्ञान वे विज्ञान हैं जो संवेदन और स्वसंवेदन दोनों द्वारों से आत्मा में प्रवेश करते हैं जैसे सुख (Pleasure), दुःख (Pain), सत्ता (Existence), शक्ति (Power), एकता (Unity), अनुक्रम (Succession) इत्यादि। इन्हीं चार प्रकार के सरल अथवा मौलिक विज्ञानों से हमारा सम्पूर्ण ज्ञान निर्मित हुआ है। जिस प्रकार परिमित अक्षरों से अनन्त वाङ्मय का निर्माण होता है उसी प्रकार इन सरल विज्ञानों से समस्त मानव-ज्ञान का निर्माण होता है।

(2) **मिश्र विज्ञान (Complex Ideas)**—सरल विज्ञानों के मिश्रण से बने विज्ञानों को मिश्र विज्ञान कहते हैं। सरल विज्ञानों के ग्रहण में आत्मा निष्क्रिय होती है पर मिश्र विज्ञानों के निर्माण में आत्मा को सक्रिय होना पड़ता है। आत्मा की सक्रियता की तीन अवस्थाएँ हैं जिनके द्वारा मिश्र विज्ञान उत्पन्न होते हैं—

(i) **संयोजन (Combination)**—इसके द्वारा आत्मा विभिन्न सरल विज्ञानों को संयुक्त कर मिश्र विज्ञानों का निर्माण करती है। सभी मिश्र विज्ञान इसी प्रकार निर्मित होते हैं।

(ii) **संतुलन (Comparison)**—इसके द्वारा आत्मा दो विज्ञानों को एक दूसरे के पास रखकर उनके प्रति एक तात्कालिक दृष्टि अपनाती है। सम्बन्ध के सभी विज्ञान (Ideas of Relation) आत्मा की इस संतुलन प्रक्रिया पर आश्रित होते हैं।

(iii) **अमूर्तीकरण (Abstraction)**—इसमें आत्मा कुछ सरल विज्ञानों को अन्य सरल विज्ञानों से पृथक् कर सामान्य विज्ञानों (General Ideas) का निर्माण करती है। सभी

सामान्य विज्ञान इसी प्रकार निर्मित होते हैं।

आत्मा की इन तीन सक्रिय प्रक्रियाओं के द्वारा तीन प्रकार के मिश्र विज्ञान उत्पन्न होते हैं। संयोजन-प्रक्रिया द्वारा पर्याय (Modes) नामक मिश्र विज्ञान उत्पन्न होते हैं। आत्मा की संतुलन-प्रक्रिया द्वारा सम्बन्ध (Relations) नामक मिश्र विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार आत्मा की अमूर्तीकरण-प्रक्रिया द्वारा सामान्य विज्ञान (General Ideas) उत्पन्न होते हैं। इन सभी मिश्र विज्ञानों का यहाँ हम पृथक-पृथक् वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(i) पर्याय विज्ञान (Modes)—पर्याय विज्ञान वे मिश्र विज्ञान है जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती और जो अपनी सत्ता के लिए द्रव्य पर निर्भर होते हैं। पर्याय विज्ञान भी दो प्रकार के होते हैं। प्रथम सरल पर्याय (Simple Modes) और द्वितीय मिश्रित पर्याय (Mixed Modes)। एक ही प्रकार के सरल विज्ञानों से निर्मित पर्याय सरल होते हैं जैसे—आकार, स्थान, दूरी, निकटता इत्यादि आकाश के सरल विज्ञानों से निर्मित सरल पर्याय हैं। क्षण, मिनट, घंटा, दिन, पक्ष, मास इत्यादि समय के सरल विज्ञानों से निर्मित सरल पर्याय हैं। पुनः मिश्रित पर्याय वे पर्याय हैं जो कई प्रकार के सरल विज्ञानों से मिलकर बनते हैं। उदाहरण के लिए सौन्दर्य का पर्याय मिश्रित पर्याय है क्योंकि वह वर्ण, आकार, प्रसन्नता और सुख का ऐसा समुच्च्य है जो अपने आस्तित्व के लिए किसी सुन्दर द्रव्य पर आश्रित होता है।

(ii) सम्बन्ध विज्ञान (The Ideas of Relation)—सम्बन्ध विज्ञान वे मिश्र विज्ञान हैं जो एक विज्ञान के दूसरे विज्ञान के साथ तुलना करने पर आत्मा में उत्पन्न होते हैं। ऐसे विज्ञान किसी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते ; वे स्वयं अपना ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके सम्बन्ध में हम यह नहीं पूछते कि इनकी बाह्य वस्तुओं के साथ संगति है अथवा नहीं बल्कि हम यह पूछते हैं कि बाह्य वस्तुओं की इनके साथ संगति है या नहीं। कारण-कार्य विज्ञान, अभेद-भेद का विज्ञान सम्बन्ध के विज्ञान है।

सम्बन्ध का विज्ञान वास्तव में मिश्र विज्ञान नहीं माना जा सकता। द्रव्य और पर्याय के विज्ञानों की तरह वे सरल विज्ञानों के संघात या समुच्चय से उत्पन्न नहीं होते ; वे उनकी तुलना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। लॉक ने इस बात को समझकर ही अपने निबन्ध के चतुर्थ संस्करण में विज्ञानों का एक दूसरा वर्गीकरण प्रस्तुत किया जिसमें सरल विज्ञान, मिश्र विज्ञान, सम्बन्ध-विज्ञान और सामान्य विज्ञान इन चार प्रकार के विज्ञानों को मान्यता प्रदान की गई। इस वर्गीकरण की विशेषता यह है कि इसमें सम्बन्ध विज्ञान को मिश्र विज्ञानों से पृथक् माना गया है।

(iii) द्रव्य-विज्ञान (The Idea of Substance)—द्रव्य के विज्ञान वे मिश्र विज्ञान हैं जो उन सरल विज्ञानों से निर्मित होते हैं जो स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लॉक कि अनुसार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें बाह्य वस्तुओं से कई प्रकार के सरल विज्ञान प्राप्त होते हैं। विज्ञान निश्चित ही आत्मा में पाए जाते हैं किन्तु वे बाह्य वस्तुओं में किस प्रकार निवास करते हैं, इस विषय में लॉक कुछ भी नहीं कहते। उनके अनुसार 'कुछ सरल विज्ञान नियत रूप में एक साथ पाए जाते हैं।[1] इस प्रकार हम विश्वास कर लेते हैं कि वे एक ही वस्तु में

1. Essay, II, XXIII, I. '......a certain number of these simple ideas go constantly together'.

पाए जाते हैं और उन्हें हम एक "नाम" दे देते हैं। उदाहरण के लिए गोलाई, लालिमा, कठोरता और एक निश्चित प्रकार के मीठे स्वाद को कई बार एक साथ अनुभव करने के बाद हम असावधानी से ही सही (Inadvertently) विश्वास कर लेते हैं कि वे एक ही वस्तु में पाए जाते हैं और तुरन्त हम उन्हें एक वस्तु "सेब" का नाम दे देते हैं। यद्यपि "सेब" का विज्ञान एक मिश्र विज्ञान है पर हम इसे एक सरल विज्ञान के रूप में ले लेते हैं। चूँकि हम कल्पना नहीं कर सकते कि वे सरल विज्ञान जो नियत रूप में सदा एक साथ पाए जाते हैं, स्वतन्त्र रूप में स्थित रह सकते हैं, अतः हम उनके नित्य निवास के लिए एक ऐसे अधिष्ठान (Support or Substratum) की कल्पना कर लेते हैं जिसमें सभी विभिन्न गुण एक साथ निवास कर सकें। यही लॉक का द्रव्य (Substance) है।

यह द्रव्य या अधिष्ठान है क्या इसके विषय में हम स्पष्ट और निर्दिष्ट रूप में कुछ भी नहीं कह सकते। यह "किसी वस्तु" (Something) की एक अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट कल्पना ही है, जिसके विषय में 'हम कुछ नहीं जानते' (We know not what)। द्रव्य विभिन्न आगन्तुक गुणों का एक अनिवार्य आधार है।

द्रव्य पर हम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं। द्रव्य विभिन्न परिणामों में एक अपरिणामी तत्त्व है। परिणाम या परिवर्तन केवल आगन्तुक गुणों (Accidents) में ही पाया जाता है, पर जहाँ तक उनके अधिष्ठान द्रव्य का प्रश्न है वह सदा अपरिणामी ही रहता है। वह अपरिणामी या नित्य द्रव्य है क्या इसके विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। लॉक कहते हैं, 'यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि वह कौन सी वस्तु है जिसमें रंग या भार समवेत है तो ठोस विस्तृत भागों के अतिरिक्त उसे कहने को कुछ भी शेष नहीं बचेगा। और यदि उससे यह पूछा जाय कि वह कौन सी वस्तु है जिसमें घनत्व और विस्तार समवेत है, तो उसकी स्थिति उस भारतीय से अच्छी न होगी जिससे उसके यह कहने पर कि सम्पूर्ण विश्व का आधार एक बहुत बड़ा हाथी है, पूछा गया कि हाथी का आधार क्या है जिसका उसने उत्तर दिया कि हाथी का आधार एक बहुत बड़ा कछुवा है। किन्तु पुनः उससे यह जानने के लिए पूछा गया कि उस विस्तृत पीठ वाले कछुवे का आधार क्या है, उस भारतीय ने उत्तर दिया कि वह कोई वस्तु है जिसके विषय में उसे कोई जानकारी नहीं है।[1]

यहाँ विडम्बना यह है कि लॉक इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि द्रव्य वास्तव में अज्ञेय है, कहते हैं कि हम द्रव्य के एक सामान्य, अस्पष्ट और सापेक्षिक विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं। उनके अनुसार द्रव्य का विज्ञान मिश्र विज्ञान होते हुए भी यह एक सरल विज्ञान के रूप में प्रतीत होता है। पर वास्तविकता यह है कि यह सरल विज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि यह न तो संवेदन का विज्ञान और न स्वसंवेदन का ही। अतः सच पूछिए तो अपने दर्शन के अनुसार लॉक को द्रव्य के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करना चाहिए था। पर वे न तो अपने दर्शन की मान्यताओं में कोई परिवर्तन चाहते हैं और न ही द्रव्य के विज्ञान को ही छोड़ने के लिए तैयार हैं। "अनुभव" के प्रति सत्यनिष्ठता के नाम पर यह विरोध लॉक के दर्शन में पाया जाता है।

लॉक के अनुसार जिस प्रकार संवेदन के सरल विज्ञानों को संकलित कर हम भौतिक

1. Essay, II, xxiii, 2.

पिण्डों (Bodies) का निर्माण करते हैं उसी प्रकार स्वसंवेदन के सरल विज्ञानों जैसे प्रत्यक्षीकरण, तर्कणा, कल्पना, भय इत्यादि को संकलित कर हम जीवात्माओं (Spirits) के मिश्र विज्ञान का निर्माण करते हैं। उपर्युक्त क्रियाओं का सम्पादन भौतिक पिण्डों द्वारा नहीं हो सकता। अतः उन्हें सम्पादित करने के लिए आध्यात्मिक द्रव्यों की आवश्यकता है। यही जीवात्माएँ हैं। इसी प्रकार भौतिक पिण्डों एवम् जीवात्माओं के साथ हम ईश्वर के मिश्र विज्ञान का निर्माण भी बहुत कुछ इसी प्रकार करते हैं। "सत्ता", "बल", "शक्ति", "ज्ञान", "आनन्द", "अनन्तता" इत्यादि सरल विज्ञानों को संकलित कर हम "ईश्वर" (God) के मिश्र विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं।

द्रव्य एवम् अमूर्त प्रत्यय (Substance and Abstract Ideas)—लॉक के दर्शन में द्रव्य की कल्पना का उसके अमूर्त प्रत्यय की कल्पना के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। अतः उसके द्रव्य की कल्पना को अच्छी प्रकार आत्मसात् करने के लिए उसके अमूर्त या सामान्य प्रत्यय की कल्पना को समझना अत्यावश्यक है।

लॉक ने सामान्य प्रत्ययों की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है : प्रथम मनोवैज्ञानिक व्याख्या एवं द्वितीय तार्किक व्याख्या। **मनोवैज्ञानिक व्याख्या** की मुख्य बात कुछ इस प्रकार है—एक बालक अपने घर में माँ-बाप, भाई-बहन, चाचा-चाची इत्यादि कई प्रकार के व्यक्तियों को देखता है। यद्यपि इन व्यक्तियों में रूप, रंग, लम्बाई, चौड़ाई इत्यादि कई बातों में असमानताएँ हैं, पर इतना होते हुए भी उनमें कुछ सामान्य विशेषताएँ अवश्य ही पाई जाती है। इन सामान्य और सर्वगत विशेषताओं को लेकर बालक अपने मन में एक सामान्य मनुष्य के प्रत्यय का निर्माण करता है। इस प्रत्यय के निर्माण में बालक मनुष्यों की असामान्य विशेषताओं का निराकरण करता है तथा सामान्य विशेषताओं को ग्रहण कर सामान्य प्रत्यय का निर्माण करता है। इसी प्रकार सामान्य प्रत्ययों की **तार्किक व्याख्या** बहुत कुछ इस प्रकार है। विज्ञान और तर्कशास्त्र में हम वर्गीकरण करते हैं। वर्गीकरण तभी सम्भव है जब हमारे मन में वर्ग, जाति या सामान्य प्रत्ययों का अस्तित्व हो। सामान्य प्रत्ययों के निर्माण में दो प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं : प्रथम प्रत्याहार या निराकरण (Abstraction) एवम् द्वितीय संयोजन (Combination)। वस्तुओं की सामान्य विशेषताओं को पृथक् करना प्रत्याहार कहा जाता है। पुनः सामान्य विशेषताओं को उन सभी विशिष्ट प्रत्ययों जिनमें कि वे सत् होती हैं, संयुक्त करना संयोजन कहलाता है। मनुष्य के सामान्य प्रत्यय के निर्माण में हम विभिन्न मनुष्यों के सामान्य लक्षणों को उनके विशिष्ट लक्षणों से पृथक् कर पुनः हम सामान्य लक्षणों को उनके विशिष्ट लक्षणों के साथ संयुक्त कर देते हैं जिससे कि वे निर्जीव न रह जाँय। यही सामान्य प्रत्ययों के निर्माण में प्रत्याहार व संयोजन की प्रक्रियाएँ हैं। पर सामान्य प्रत्ययों का निर्माण कोई आसान प्रक्रिया नहीं होती। इसमें हमें बहुत सी विरोधी बातों का एक साथ चयन या निराकरण करना पड़ता है। लॉक ने इन कठिनाइयों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। उन्हीं के शब्दों में : 'उदाहरण के लिए त्रिभुज के सामान्य प्रत्यय के निर्माण में क्या कुछ कष्ट और कुशलता की उपेक्षा नहीं होती ? कारण वह न तो तिरछा हो और न सीधा, न तो विषमबाहु हो, न समद्विबाहु और न समत्रिबाहु ही, बल्कि वह एक साथ सभी और इनमें से कोई एक भी नहीं हो। परिणामस्वरूप वह कोई अपूर्ण वस्तु है जो सत्

कभी नहीं हो सकती। यह एक प्रत्यय है जिसमें अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों के कुछ अंश एक साथ रखे जाते हैं।'[1] लॉक के इसी उदाहरण को बर्कले ने अपनी आलोचना का विषय बनाया और कहा कि सामान्य प्रत्यय के अनेक विरोधी और असंगत प्रत्ययों के संघात होने के कारण ही वह असत् होता है। लॉक उपर्युक्त अनुच्छेद द्वारा सामान्य प्रत्यय की रचना में होने वाली कठिनाइयों का ही परिचय देना चाहते हैं, न कि स्वयं सामान्य प्रत्यय का परिचय। अतः उपर्युक्त उदाहरण, सामान्य प्रत्यय के विषय में लॉक द्वारा प्रतिपादित किसी मत का परिचय नहीं देता। उसके वास्तविक मत को जानने के लिए हमें अन्य अनुच्छेदों का अध्ययन करना पड़ेगा।

लॉक के सामान्य प्रत्यय के सिद्धान्त को पाश्चात्य दर्शन की कोटियों और विकल्पों के माध्यम से भी समझा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन में सामान्य के सम्बन्ध में तीन प्रकार की अवधारणाएँ हैं—वस्तुवाद (Realism), अवधारणावाद (Conceptualism), एवम् तीसरा नामवाद (Nominalism)। **वस्तुवाद** के अनुसार 'सामान्य' केवल मानसिक प्रत्यय ही नहीं है वरन् उसकी बाह्य सत्ता भी होती है। प्लेटो इस अर्थ में वस्तुवादी थे। **नामवाद** के अनुसार 'सामान्य' न तो कोई बाह्य सत्ता है और न ही कोई मानसिक सत्ता वरन् वह नाममात्र ही है। हॉब्स इसी मत के प्रवर्तक थे। भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन नामवाद का ही प्रतिपादन करता है। इन दोनों से भिन्न **अवधारणावाद** है जिसके अनुसार 'सामान्य' न कोई बाह्य सत्ता है और न केवल नाम है वरन् यह एक मानसिक प्रत्यय है जो विशिष्ट प्रत्ययों के सामान्य अंशों को संयोजित कर मानस में निर्मित किया जाता है। यदि इन तीनों सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में लॉक के मत का परीक्षण किया जाय तो उनका मत बहुत कुछ अवधारणावाद (Conceptualism) से मिलता है। पर अवधारणावाद का यह अर्थ नहीं है कि लॉक का 'सामान्य' हमारी मनोमय कल्पना है ; वह दृष्ट प्रत्ययों के सामान्य अंशों के प्रत्याहार के परिणामस्वरूप निर्मित होता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'सामान्य' के सम्बन्ध में लॉक का मत अवधारणावाद है।

मूलगुण और उपगुण (Primary Qualities and Secondary Qualities)—लॉक ने भौतिक पिण्डों के भीतर तीन प्रकार के गुणों की चर्चा की है। सर्वप्रथम वे विज्ञानों और गुणों में भेद करते हैं। विज्ञान 'आत्मा के प्रत्यक्ष हैं'[2] तथा गुण "भौतिक पिण्डों के द्रव्यों के परिवर्तन हैं जो आत्मा में प्रत्ययों को उत्पन्न करते हैं"[3] विज्ञान आत्मा के भीतर हैं तथा गुण वाह्य वस्तुओं के भीतर हैं। गुण तीन प्रकार के हैं—

1. **मूल गुण (Primary Qualities)**—मूल गुण वे गुण हैं जो 'किसी भी परिस्थिति में भौतिक पिण्डों से अवियोजनीय होते हैं।'[4] आकार (Figure), विस्तार (Extension), संख्या (Number), गति (Motion), विराम (Rest), घनत्व (Solidity) इत्यादि अपरिहार्य गुण मुलगुण कहे जाते हैं। वे जहाँ पाए जायेंगे वहाँ भौतिक पिण्ड होगा तथा जहाँ

1. निबन्ध, IV, 1719।
2. '......they are perceptions in our minds'
3. "......they are modifications of matter in the bodies which cause perceptions in us.'
4. They are utterly inseparable from body in whatsoever state it may be'.

इन गुणों का अभाव पाया जायगा, वहाँ भौतिक पिण्ड नहीं पाए जाएँगे ॥

मूल गुणों का स्वभाव ऐसा होता है कि इनका मापन किया जा सकता है। अतः परिमाणों द्वारा इनकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। इन गुणों के गणितीय होने के कारण हमें इनका स्पष्ट और सुभिन्न ज्ञान होता है। जगत के यान्त्रिक सम्बन्धों की व्याख्या के लिए इन गुणों का वर्णन आवश्यक होता है।

मूलगुण आत्मा के भीतर मूल गुणों के विज्ञानों (Ideas of Primary Qualities) को उत्पन्न करते हैं जो मूलगुणों के पूर्ण प्रतिबिम्ब या अनुकृति होते हैं। 'उनकी रचना बाह्य वस्तुओं में ठीक उसी प्रकार पाई जाती है।'[1] वे विज्ञान मूल गुणों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। मूल गुणों के विज्ञान **प्रत्यक्ष के प्रतिनिधानवाद** (Representative Theory of Perception) को जन्म देते हैं जिसके अनुसार विज्ञान बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब होते हैं।

2. उपगुण (Secondary Qualities)—वस्तुओं के मूलगुण असंवेद्य होते हैं। इन वस्तुओं के असंवेद्य मूलगुणों के कारण हमारे भीतर विभिन्न प्रकार के संवेद्य जैसे रंग, शब्द, गन्ध, स्वाद इत्यादि उत्पन्न करने की क्षमता होती है उन्हें उपगुण कहा जाता है। लॉक ने इन्हें संवेद्य गुण (Sensible Qualities) का नाम दिया है। वे वस्तुओं के परिमाणात्मक पक्षों की अभिव्यक्ति न कर उनके गुणात्मक पक्षों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। उपगुण वस्तुओं में न होकर आत्मा में ही पाए जाते हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उपगुणों को आत्मा उत्पन्न करती है। उपगुणों को उत्पन्न करने की शक्ति (Power) तो बाह्य वस्तुओं में ही पाई जाती है।

उपगुण आत्मा के भीतर उपगुणों के विज्ञानों (Ideas of Secondary Qualities) को उत्पन्न करते हैं। उपगुणों के विज्ञान बाह्य वस्तुओं के गुणों का प्रतिनिधित्व तो नहीं करते पर उनकी ओर संकेत अवश्य करते हैं। वे वस्तुओं की उन शक्तियों की ओर संकेत करते हैं जो हमारे भीतर उपगुणों के विज्ञानों को उत्पन्न करती हैं। उपगुणों को वस्तुओं का लाक्षणिक गुण कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ गुण का वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। गुण का वाच्यार्थ मूल गुण में ही है। उपगुण केवल वस्तुओं की शक्ति के वाचक हैं। उपगुण प्रत्यक्ष के **कारणात्मक या संवादिता सिद्धान्त** (Causal or Correspondence Theory of Perception) को जन्म देते हैं।

3. तृतीयक गुण (Tertiary Qualities)—मूलगुणों और उपगुणों के अतिरिक्त लॉक के अनुसार वस्तुओं में एक तीसरे प्रकार का गुण भी पाया जाता है जिसे तृतीयक गुण भी कहा जा सकता है। वे उपगुणों की तरह मात्र शक्ति (Power) हैं जो किसी वस्तु में रहती है और अन्य वस्तुओं की रचना में कुछ ऐसा परिवर्तन लाती है जो द्रष्टा की आत्मा में किसी नवीन उपगुण के विज्ञान को उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए सूर्य के भीतर मोम को इस प्रकार प्रभावित करने की शक्ति है कि जो भी मनुष्य इस परिवर्तन को देखता है उसकी आत्मा में एक नए रंग का विज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अब यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपगुणों को वस्तुओं की मात्र शक्ति न मानकर उनका वास्तविक गुण क्यों मान लेते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लॉक

---

1. 'Their patterns do really exist in the bodies themselves.'

कहते हैं कि ऐसा इसलिए होता है कि "इन उपगुणों को उनके असंवेद्य कारण मूल गुण किस प्रकार उत्पन्न करते हैं इसका हमें ज्ञान नहीं होता।"[1] यदि मूलगुणों और उपगुणों के बीच जो हेतु-फल सम्बन्ध है, उसका हमें यथेष्ट ज्ञान होता तो इन गुणों की स्थापना हम बाह्य वस्तुओं में कभी न करते। इसका एकमात्र कारण हमारा अज्ञान ही है। मूलगुणों एवम् उपगुणों में इतनी असमानता पाई जाती है फिर भी उनके हेतु-फल सम्बन्ध में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आता। जिस प्रकार चाकू द्वारा शरीर के चीरे जाने में और उससे उत्पन्न पीड़ा में असमानता होते हुए भी उनके बीच हेतु-फल सम्बन्ध पाया जाता है, उसी प्रकार असंवेद्य मूल गुणों और संवेद्य उपगुणों के स्वभाव में असमानता होते हुए भी उनमें हेतु-फल सम्बन्ध पाया जाता है। अज्ञानता के कारण ही हम उपगुणों को बाह्य वस्तुओं में स्थापित कर देते हैं। तृतीयक गुणों के साथ यह बात घटित नहीं होती। तृतीयक गुणों को हम वस्तुओं के भीतर स्थापित न कर उन्हें मात्र शक्ति रूप में ही स्वीकार करते हैं क्योंकि इन वस्तुओं और तृतीयक गुणों के बीच जो हेतु-फल सम्बन्ध है उसकी हमें पूर्ण जानकारी होती है। उदाहरण के लिए जब अग्नि मोम को द्रवित कर देती है, द्रवत्व-गुण की स्थापना अग्नि के भीतर नहीं की जाती, पर वही अग्नि-जब हमारे भीतर गर्मी या द्युति को उत्पन्न करती है, हम चट अग्नि में इन गुणों की स्थापना कर देते हैं। प्रथम स्थिति में हमें हेतु का ज्ञान होता है पर द्वितीय स्थिति में हमें असंवेद्य हेतु का ज्ञान नहीं होता।

मूलगुणों और उनके प्रत्ययों में हेतु-फल का ही नहीं वरन् बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भी सम्बन्ध पाया जाता है। उपगुणों और उनके प्रत्ययों में केवल हेतु-फल का ही सम्बन्ध पाया जाता है। इस प्रकार मूलगुण और उपगुण में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। मूलगुण वस्तुतः गुण हैं किन्तु उपगुण केवल शक्तिरूप हैं। मूलगुण वस्तुनिष्ठ हैं तो उपगुण आत्मनिष्ठ हैं। उपगुण अपने अस्तित्व के लिए मूलगुणों पर आश्रित होते हैं। मूलगुण मौलिक हैं तो उपगुण निष्कर्षित हैं। मूलगुण द्रष्टा के मन में अपने प्रतिबिम्बों को उत्पन्न करते हैं पर उपगुण जो केवल शक्तिरूप हैं, द्रष्टा के मन में केवल अपना फल उत्पन्न करते हैं। मूलगुण को गुण समझना यथार्थ ज्ञान है पर उपगुण को गुण समझना अयथार्थ ज्ञान है। विज्ञानों का प्रतिबिम्बवाद (Copy Theory) मूलगुणों पर आधारित है तथा विज्ञानों का प्रतिनिधानवाद (Representationism) या संवादितावाद (Correspondence Theory) उपगुणों पर आधारित है।

लॉक ने ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में **प्रतिनिधानवाद** (Representationism) का प्रतिपादन किया है। यह एक कारणात्मक (Causal) सिद्धान्त है। लॉक ने ज्ञान की प्रक्रिया के सम्पादन के लिए तीन घटक तत्त्वों को अनिवार्य माना है—

(i) आत्मा (ii) बाह्य भौतिक पिण्ड एवम् (iii) आत्मा और बाह्य भौतिक पिण्डों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम विज्ञान। आत्मा के भीतर जो विज्ञान उत्पन्न होते हैं लॉक ने उनकी यान्त्रिक व्याख्या प्रस्तुत की है। बाह्य भौतिक पिण्ड मानवीय शरीर को प्रभावित करते हैं और मानवीय शरीर आत्मा को प्रभावित कर उसमें विज्ञानों को उत्पन्न करता है।

---

1. Essays, II, viii, 25, '......they appear not to our senses to operate in their production.'

हमें बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान प्राप्त न होकर केवल परोक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है। आत्मा को साक्षात् ज्ञान केवल विज्ञानों का ही होता है जो बाह्य वस्तुओं के प्रतिनिधि (Representative) होते हैं। लॉक बौद्ध दर्शन के वैभाषिकों की तरह बाह्य प्रत्यक्षवादी (Presentationist) नहीं हैं ; वे बौद्ध दर्शन के सौत्रान्तिकों की तरह बाह्यानुमेयवादी (Representationist) हैं। हमें प्रत्यक्ष केवल विज्ञानों का ही होता है जिनके आधार पर हम बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर लेते हैं। ज्ञान के विषय (Object) और प्रदत्त (Datum) में द्वैत होने के कारण लॉक के दर्शन को **ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद** (Epistemological Dualism) भी कहते हैं। भौतिक पिण्ड का हमें कभी भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वह हमारे लिए अज्ञेय (Unknowable) है। द्रव्य "सर्वत्र एक-सा" (The same everywhere) और "मैं नहीं जानता क्या" (I know not what) है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, द्रव्य विभिन्न विज्ञानों का समुच्चय मात्र है।

यहाँ एक बात की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि लॉक के दर्शन में हमारा ज्ञान विज्ञानों तक ही सीमित है, पर फिर भी अपने मत के विरुद्ध विज्ञानों से आगे बढ़कर उन्होंने जड़-जगत, आत्म-जगत और ईश्वर इन तीन अज्ञेय तत्त्वों में विश्वास कर लिया। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि लॉक के स्वयं के ज्ञान के ऊपर उनकी ज्ञान-मीमांसा लागू नहीं होती। वस्तु-जगत के विषय में लॉक का ज्ञान उनकी ज्ञान-मीमांसा का एक अपवाद है। दर्शन की भाषा में इसे **ज्ञान-मीमांसक दोष** (Epistemologist's Fallacy) कहते हैं। लॉक की ज्ञान-मीमांसा में "ज्ञान-मीमांसक दोष" अवश्य पाया जाता है अन्यथा वे उपर्युक्त तीन तत्त्वों में विश्वास कभी न करते।

ज्ञान का स्वभाव
(The Nature of Knowledge)

लॉक पहले ही कह चुके हैं कि विज्ञान हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय हैं, अतः हम 'केवल उन्हीं के विषय में अभिज्ञ हो सकते हैं।'[1] आगे चलकर भी उन्होंने एक स्थल पर लिखा है, 'यह बिलकुल स्पष्ट है कि आत्मा को बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वरन् प्राप्त विज्ञानों के हस्तक्षेप द्वारा ही आत्मा को उनका ज्ञान प्राप्त होता है।'[2] अतः जहाँ तक ज्ञान की सामग्री का प्रश्न है, विज्ञान ही एक मात्र ज्ञान की सामग्री है। इन्हीं विज्ञानों से ही ज्ञान का निर्माण किया जा सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर लॉक ने ज्ञान की निम्न परिभाषा दी: 'ज्ञान हमारे विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का उनकी संगति या असंगति और प्रातिकूल्य का दर्शन मात्र है'[3] उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि सफेद काला नहीं है तो हम सफेद और काला इन दो विज्ञानों की प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग बराबर दो समकोण के होता है तब हम

---

1. Essay, IV, I, I, 'Our knowledge is only conversant about them.'
2. Ibid, IV, 4, 3, 'It is evident that the mind knows not things immediately, but only by intervention of the ideas it has of them'.
3. Ibid, IV, 1, 2. 'Knowledge is the perception of the connection of and agreement or disagreement and repugnancy of any of our ideas.'

त्रिभुज के तीनों कोण और समकोण इन दो विज्ञानों की अनुकूलता का प्रत्यक्ष करते हैं। लॉक ने प्रत्ययों के बीच चार प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता का विचार किया है—

(1) अभेद या भेद (Identity or Difference)—दो प्रत्ययों की अभिन्नता को अभेद कहते हैं जैसे 'पीला पीला है' अथवा 'श्वेत श्वेत है'। इसी प्रकार दो प्रत्ययों की भिन्नता को भेद कहते हैं जैसे 'पीला लाल नहीं है' अथवा 'श्वेत कृष्ण नहीं है'। प्रत्ययों का भेदाभेद ज्ञान के लिए आवश्यक होता है।

(2) सम्बन्ध (Relation)—प्रत्ययों के बीच जो अमूर्त सम्बन्ध होता है, उसे "सम्बन्ध" कहते हैं। वे विशेषतः गणित के प्रत्ययों में विद्यमान होते हैं।

(3) सह-अस्तित्व (Co-existence)—जब दो प्रत्ययों का किसी उद्देश्य में युगपद भाव या अभाव हो तो उसे सह-अस्तिस्व कहते हैं। उदाहरण के लिए हम जब कहते हैं कि 'रसगुल्ला, सफेद और मीठा है' तो रसगुल्ले में हम सफेदी और मिठास इन दो प्रत्ययों के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'लकड़ी नरम और स्निग्ध नहीं है' तो लकड़ी में हम नरमी और स्निग्धता इन दो प्रत्ययों के अस्तित्व का अभाव देखते हैं।

(4) यथार्थ सत्ता (Real Existence)—यह मिश्र विज्ञानों एवम् सरल विज्ञानों की संगति या असंगति का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए 'ईश्वर का प्रत्यक्ष सम्भव है' यहाँ ईश्वर का प्रत्यक्ष ईश्वर की यथार्थ सत्ता के अनुरूप है। इसी प्रकार 'ईश्वर पक्षपाती है' इसमें पक्षपात का प्रत्यक्ष ईश्वर की यथार्थ सत्ता के प्रत्यक्ष के अनुरूप नहीं है।

यद्यपि लॉक ने उपर्युक्त चार प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया है, पर वे प्रथम तीन प्रकार के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते। केवल चौथे प्रकार का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है। किन्तु यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि हमारा ज्ञान विज्ञानों तक ही सीमित है तो हम कैसे कह सकते हैं कि **हमारे विज्ञानों** की वाह्य वस्तुओं के साथ संगति या असंगति है। वह कौन सा मानदण्ड है जिसके आधार पर हम कह सकें कि अमुक विज्ञान यथार्थ है और अमुक विज्ञान अयथार्थ है ? यह प्रश्न ज्ञान की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है जिस पर अभी विचार किया जायगा।

लॉक द्वारा दी गई ज्ञान की परिभाषा के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष है। ज्ञान प्रत्ययों का सम्बन्ध नहीं है वरन् उस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष है। अब यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्ययों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष से लॉक का क्या तात्पर्य है ? क्या प्रत्ययों के प्रत्यक्ष में और प्रत्ययों के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में कोई अन्तर है ? वास्तव में बात ऐसी नहीं है। लॉक ने प्रत्ययों के प्रत्यक्ष को प्रत्ययों के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष से भिन्न किया है। किन्तु एक ही शब्द "प्रत्यक्ष" (Perception) के प्रयोग के कारण उन्होंने भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी है। वास्तव में जब लॉक ने प्रत्ययों के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष की बात कही है तो उनका तात्पर्य साधारण प्रत्यक्ष से न होकर मानसिक स्वीकृति या निर्णय (Judgement) से है। वह प्रत्यक्ष इन्द्रियों की शक्ति न होकर बुद्धि की शक्ति है। ज्ञान निर्णयात्मक (Judgemental) होता है। लॉक के अनुसार ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के बीच का सम्बन्ध न होकर दो विज्ञानों की संगति या असंगति का निर्णय (Judgement) है।

ज्ञान की वैधता
(Validity of Knowledge)

ज्ञान की उत्पत्ति और उसके स्वभाव के वर्णन के पश्चात् लॉक ज्ञान की वैधता पर विचार करते हैं। ज्ञान की वैधता पर विचार करते हैं। ज्ञान के प्रत्यय के भीतर उसकी वैधता का प्रश्न भी शामिल होता है। ज्ञान के प्रत्यय में सत्य-असत्य, यथार्थ-अयथार्थ, अभ्रम-भ्रम का विवेक भी शामिल होता है। अतः ज्ञान की उत्पत्ति और उसके स्वभाव के साथ उसकी वैधता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

जहाँ तक हमारे प्रत्यक्षों और विज्ञानों का प्रश्न है वे न तो सत्य होते हैं और न असत्य। सत्यता और असत्यता के प्रश्न तो तब उत्पन्न होते हैं जब हम उन प्रत्यक्षों और विज्ञानों को बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्धित कर उनके विषय में निर्णय (Judgement) देते हैं। यथार्थता और अयथार्थता विज्ञानों के गुण न होकर प्रतिज्ञप्तियों के ही गुण होते हैं।

सत्यता (Truth) की परिभाषा देते हुए लॉक कहते हैं—'**संकेतित वस्तुओं की संगति या असंगति के अनुसार संकेतों की संगति या असंगति को सत्यता कहते हैं।**'[1] संकेतों की संगति या असंगति को प्रतिज्ञप्ति (Proposition) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—मानसिक (Mental) और शाब्दिक (Verbal)। कोई प्रत्यय स्वयं न तो सत्य होता है और न असत्य। जिस प्रतिज्ञप्ति का वह अंग होता है वही वास्तव वे सत्य या असत्य होती है। प्रतिज्ञप्तियों से पृथक प्रत्ययों की सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता। प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता विज्ञानों और वस्तुओं की अनुरूपता द्वारा निर्धारित होती है। '**विज्ञानों और वस्तुओं की सत्ता के बीच अनुरूपता को ही सत्यता कहते हैं।**'[2] अतः लॉक के अनुसार संवादिता या सारूप्यता ही ज्ञान का निकष है। जिन प्रतिज्ञप्तियों की तथ्यों के साथ संवादिता (Correspondence) होती है वे यथार्थ कही जाती है किन्तु जिन प्रतिज्ञप्तियों की तथ्यों के साथ संवादिता नहीं पाई जाती वे अयथार्थ कही जाती हैं।

संवादिता के साथ प्रतिज्ञप्तियों के लिए मानसिक स्वीकृति की भी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए जब हम "मेज" और "आयताकार" इन दो प्रत्ययों की अनुकूलता को लेते हैं तो 'यह मेज आयताकार है' प्रतिज्ञप्ति निर्मित होती है। जब हमारी आत्मा इस प्रतिज्ञप्ति की यथार्थता का प्रत्यक्ष करती है, तो वह इसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर देती है। किन्तु जब किसी प्रतिज्ञप्ति और तत्सम्बन्धी तथ्य में असंवादिता होती है तो आत्मा उस प्रतिज्ञप्ति को अस्वीकृत कर देती है। आत्मा द्वारा किसी प्रतिज्ञप्ति की स्वीकृति सत्यापन है तथा आत्मा द्वारा उसकी अस्वीकृति उसका खण्डन।

प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता या असत्यता के साथ लॉक ने विज्ञानों के सत् (Real) और असत् (Fantastical) रूप का भी वर्णन किया है। सत् विज्ञान वे विज्ञान हैं जो अपने आदि रूपों (Archetypes) के अनुरूप होते हैं। इसके विपरीत, जिन विज्ञानों की आदि रूपों के साथ अनुरूपता नहीं होती, वे असत् कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए "मनुष्य," "पुस्तक" या

---

1. Essays, IV, 5, 2, Truth is the joining or separating of signs as the things signified by them do agree or disagree one with another.'
2. Ibid, 'Truth is a conformity between our ideas and the reality of things.'

किसी अन्य वस्तु का विज्ञान सत् है क्योंकि इनके संवादी बाह्य जगत में पाए जाते हैं। परन्तु आकाश-कुसुम, नृसिंह, राहु-केतु के विज्ञान असत् हैं क्योंकि इनके संवादी-बिम्ब बाह्य जगत् में नहीं पाए जाते।

विज्ञानों के सत् और असत् होने के साथ-साथ वे पर्याप्त (Adequate) और अपर्याप्त (Inadequate) भी होते हैं। विज्ञान **पर्याप्त** तब कहे जाते हैं 'जब वे अपने आदिरूपों जिनसे उनकी उत्पत्ति की कल्पना की जाती है, का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।'[1] इसके विपरीत **अपर्याप्त विज्ञान** वे विज्ञान हैं जो अपने तथा-कथित आदिरूपों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करते। यहाँ भी लॉक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि हमें विज्ञानों के आदिरूपों का पूर्ण वास्तविक प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकता पर फिर भी वे विज्ञानों की वास्तविकता और पर्याप्तता में विश्वास करते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे ज्ञान को स्वतः प्रामाणिक मानते हैं। ज्ञान स्वभावतः सत्य ही होता है ; वह असत्य कभी नहीं होता। असत्यता का कारण ज्ञान की प्रक्रिया नहीं है, इसका वास्तविक कारण निर्णय की प्रक्रिया की त्रुटि है। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य में विश्वास करने के कारण ही, यद्यपि हमें आदिरूपों का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता, लॉक ज्ञान की सत्यता व पर्याप्तता में विश्वास कर लेते हैं।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे कौन से विज्ञान सत् हैं, और कौन असत् हैं, हमारे कौन से विज्ञान पर्याप्त हैं और कौन अपर्याप्त हैं, हमारे कौन से विज्ञान सत् और पर्याप्त दोनों हैं तथा कौन से सत् होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। जहाँ तक **सरल विज्ञानों** का प्रश्न है वे लॉक के अनुसार सत् और पर्याप्त दोनों हैं क्योंकि वे बाह्य वस्तुओं की शक्तियों जो उन्हें उत्पन्न करती हैं के पूर्ण संवादी होते हैं। सरल विज्ञानों में मूल गुणों के विज्ञान और उपगुणों के विज्ञान दोनों शामिल होते हैं। मूलगुणों के विज्ञानों के विषय में तो कहा जा सकता है कि वे बाह्य वस्तुओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः वे सत् और पर्याप्त दोनों हैं ; किन्तु यही बातें उपगुणों के विज्ञानों के विषय में नहीं कही जा सकती। उपगुणों के विज्ञान किसी भी बाह्य वस्तु या गुणों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ऐसी स्थिति में उन्हें सत् नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उनके पर्याप्त होने का भी कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि लॉक ने कहा कि मूल गुणों के विज्ञान मूलगुणों के प्रतिबिम्ब होते हैं, पर इसके साथ ही उन्होंने यह भी घोषित किया कि मूलगुणों के विज्ञान असंवेद्य परमाणुओं द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। यदि मूलगुण असंवेद्य हैं तो मूलगुणों के विज्ञान मूलगुणों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करते हैं या नहीं करते, इसका हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार लॉक का यह कथन कि सरल विज्ञान सत् और पर्याप्त दोनों है स्वीकार्य नहीं हो सकता।

जहाँ तक **मिश्र विज्ञानों** का प्रश्न है, पर्याय-विज्ञान और सम्बन्ध-विज्ञान बाह्य पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने का दावा ही नहीं करते, अतः उनके सत् होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उन्हें हमारी आत्मा स्वयं निर्मित करती है। वे स्वयं अपने ही आदिरूप (Archetypes) हैं। यद्यपि पर्याय-विज्ञानों एवम् सम्बन्ध-विज्ञानों के सत् या असत् होने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता परन्तु उनके पर्याप्त या अपर्याप्त होने का प्रश्न अवश्य उत्पन्न

1. Essays, II 31. Those ideas are adequate 'which perfectly represent those archetypes which the mind supposes them taken from.'

होता है। पर्याय-विज्ञान एवम् सम्बन्ध-विज्ञान पर्याप्त ही होते हैं क्योंकि वे स्वयम् आत्मा की रचना के ही आदिरूप हैं। मिश्र विज्ञानों में "द्रव्य" का विज्ञान सत् तो है पर वह पर्याप्त कभी नहीं हो सकता। द्रव्य के अस्तित्व के विषय में लॉक को कोई सन्देह नहीं है। द्रव्य के अज्ञेय होते हुए भी हमें उसके अस्तित्व के विषय में विश्वास कर लेना चाहिए। इसके लिए लॉक तीन प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

1. हमारे संवेदनों का कारण बाह्य द्रव्य ही हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी ज्ञानेन्द्रिय से वंचित है तो वह तत्सम्बन्धी संवेदनों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थ ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हमारी आत्मा में संवेदनाओं को उत्पन्न करते हैं।

2. यदि बाह्य द्रव्यों का अस्तित्व न होता तो प्रत्यक्ष और स्मृति में कोई अन्तर ही न होता। प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली होते हैं पर स्मृति अस्पष्ट और मन्द होती है। इसका केवल यही कारण है कि प्रत्यक्ष बाह्य द्रव्यों द्वारा उत्थापित होते हैं पर स्मृति एक आभ्यान्तरिक उत्पत्ति है।

3. हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी-अपनी संवेदनाओं से बाह्य द्रव्यों की सत्ता को सिद्ध करती हैं। जिस पुष्प को मैं देखता हूँ, उसे सूँघ भी सकता हूँ एवम् उसका स्पर्श भी कर सकता हूँ। उपर्युक्त तीनों तथ्य बाह्य वस्तु की सत्ता को सिद्ध करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्य का विज्ञान एक सत् का विज्ञान है। पर जहाँ तक द्रव्य के विज्ञान की पर्याप्तता का प्रश्न है वह कभी भी पर्याप्त नहीं हो सकता। चाहे हम कितने ही अधिक सरल विज्ञानों को संयुक्त कर द्रव्य के मिश्र विज्ञान बनाने का प्रयत्न करें, हम कभी भी इस बात से आश्वस्त नहीं हो सकते कि वह बाह्य द्रव्य के प्रत्येक पक्ष का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करता है। द्रव्य का कोई भी मिश्र विज्ञान उसके सत्त्व या आन्तरिक रचना (Internal Constitution) की पूर्ण आभिव्यक्ति नहीं कर सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लॉक की ज्ञान-मीमांसा हमें ज्ञान की वैधता (Validity) का बोध कराने में सर्वधा असमर्थ है। यदि हमें अपने विज्ञानों की सत्यता या असत्यता का ज्ञान नहीं हो सकता तो लॉक की ज्ञान-मीमांसा हमारे लिए बिलकुल व्यर्थ है।

ज्ञान के प्रकार

(Kinds of Knowledge)

लॉक के अनुसार ज्ञान तीन प्रकार का होता है—1. प्रातिभ ज्ञान, 2. निदर्शनात्मक ज्ञान और 3. संवेदन-ज्ञान। इन तीनों प्रकार के ज्ञान में एक प्रकार का तारतम्य पाया जाता है। इनमें प्रातिभ ज्ञान सर्वोत्तम एवम् सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान है तथा संवेदन-ज्ञान निकृष्टतम ज्ञान है। इन तीनों प्रकार के ज्ञान के विषय में हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

1. प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge)—जब दो विज्ञानों की अनुकूलता या प्रतिकूलता का ज्ञान बिना किसी तृतीय विज्ञान के माध्यम से होता है तो उसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। यह स्वतः सिद्ध, निश्चयात्मक, असंदिग्ध एवम् सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान है। उदाहरण के लिए सफेद काला नहीं होता, दो और दो मिलकर चार होते हैं, प्रातिभ ज्ञान कहे जाते हैं। प्रतिभान (Intuition) आत्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य का त्वरित साक्षात्कार

करती है। यह एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जो किसी अकाट्य सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है। स्वतः सिद्ध नियमों के ज्ञान के अतिरिक्त अपने अस्तित्व का ज्ञान या अपनी आन्तरिक अवस्थाओं का ज्ञान भी प्रातिभ ज्ञान के भीतर समाहित किया जाता है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि लॉक का **आनुभविक प्रतिभान** (Empirical Intuition) डेकार्ट्स के **बौद्धिक प्रतिभान** (Intellectual Intuition) से बिलकुल भिन्न है। 'सफेद काला नहीं है' आनुभविक प्रतिभान का उदाहरण है। इसके विपरीत "मैं चिन्तन करता हूँ, अतः मेरा अस्तित्व है" बौद्धिक प्रतिभान का उदाहरण है। प्रथम अनुभव पर आधारित है तो दूसरा बुद्धि पर आधारित है।

2. निदर्शात्मक ज्ञान (Demonstrative Knowledge)—जब दो विज्ञानों की अनुकूलता या प्रतिकूलता का ज्ञान किसी तृतीय विज्ञान के माध्यम द्वारा प्राप्त होता है तो उसे निदर्शनात्मक ज्ञान कहते हैं। गणित और तर्कशास्त्र के ज्ञान बहुत कुछ इसी प्रकार के ज्ञान होते हैं। उदाहरण के लिए यदि अ = ब, ब = स, स = द और द = य है तो अ = य होगा। यह ज्ञान निदर्शन (Demonstration) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने के कारण निदर्शनात्मक ज्ञान है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जिन माध्यमों के द्वारा हमें निदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है उनका ज्ञान भी हमें प्रातिभ ज्ञान के द्वारा प्राप्त होना चाहिए। अतः निदर्शनात्मक ज्ञान प्रातिभ ज्ञान का ही विस्तार है। दूसरे शब्दों में शृंखलाबद्ध प्रातिभ ज्ञान को ही निदर्शनात्मक ज्ञान कहते हैं। निदर्शनात्मक ज्ञान कई शृंखलाओं या सोपानों द्वारा सम्पन्न होता है जिसका प्रत्येक सोपान या तो प्रातिभ ज्ञान होता है या निदर्शनात्मक ज्ञान। पुनः, यदि वह निदर्शनात्मक ज्ञान है तो उसके विविध सोपान या तो प्रातिभ होंगे अथवा निदर्शनात्मक। पुनः, यदि वह निदर्शनात्मक है तो उसके विभिन्न सोपान या तो प्रातिभ होंगे या निदर्शनात्मक। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक सभी सोपान प्रातिभ ज्ञान का रूप धारण नहीं कर लेते। इस प्रकार किसी निदर्शनात्मक ज्ञान की प्रामाणिकता अन्ततः प्रातिभ ज्ञान पर ही आश्रित रहती है। लॉक के अनुसार गणित का ज्ञान निदर्शनात्मक ज्ञान का सर्वोत्तम उदाहरण है।

3. संवेदन-ज्ञान (Sensitive Knowledge)—अन्त में ज्ञान की एक तीसरी भी अवस्था होती है और वह निकृष्टतम अवस्था है जिसे संवेदन-ज्ञान कहते हैं। लॉक के अनुसार हम संवेदना द्वारा साक्षात् जानते हैं कि सूर्य है, यह मेज है यह वृक्ष है इत्यादि। हमें संवेदन-ज्ञान द्वारा पूर्ण विश्वास है कि इन बाह्य वस्तुओं का हमसे स्वतन्त्र अस्तित्व है। संवेदन-ज्ञान के भीतर सरल विज्ञानों और मिश्र विज्ञानों दोनों का ज्ञान शामिल होता है। सरल विज्ञान सत् और पर्याप्त दोनों है। मिश्र विज्ञानों में पर्याय विज्ञान और सम्बन्ध-विज्ञान बाह्य पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने का दावा नहीं करते, अतः उनके सत् या असत् तथा पर्याप्त या अपर्याप्त होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। द्रव्य-विज्ञान ही एक ऐसा मिश्र विज्ञान है जिसके सत् या असत् तथा पर्याप्त या अपर्याप्त होने का प्रश्न उत्पन्न होता है। द्रव्य-विज्ञान सत् तो है पर पर्याप्त नहीं। इन सभी को मिलाकर संवेदन-ज्ञान निर्मित होता है।

यहाँ लॉक की ज्ञान-मीमांसा में एक असंगति दिखाई पड़ती है। एक ओर लॉक संवेदना को केवल ज्ञान की सामग्री ही मानते हैं, ज्ञान नहीं, और दूसरी ओर संवेदना को ही ज्ञान का

एक प्रकार मान बैठते हैं। पुनः, एक स्थान पर वे लिखते हैं कि सूर्य, मेज़ और वृक्ष मिश्र प्रत्यय हैं जो आत्मा की सक्रियता द्वारा उत्पन्न होते हैं और फिर दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि सूर्य, मेज़, वृक्ष इत्यादि विज्ञानों का हमें साक्षात् ज्ञान होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहाँ लॉक "संवेदना" शब्द को एक नए अर्थ में ले रहे हैं। यहाँ संवेदन का अर्थ उस भावना या विश्वास से है जो बाह्य वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रकट करता है। आत्मा से स्वतन्त्र बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है, यही संवेदना व्यक्त करती है।

संवेदन-ज्ञान उतना प्रामाणिक नहीं है जितना प्रातिभ ज्ञान या निदर्शनात्मक ज्ञान प्रामाणिक होता है। मूल गुणों या द्रव्य के अज्ञेय होने के कारण इस ज्ञान की प्रामाणिकता को युक्तियुक्त सिद्ध नहीं किया जा सकता। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संवेदन-ज्ञान बिलकुल ही अप्रामाणिक है। इसके भीतर कुछ न कुछ प्रामाणिकता अवश्य होती है 'क्योंकि यह सत् (Real) ज्ञान होता है। इसके भीतर पर्याप्तता हो या न हो पर सत्यता तो अवश्य ही पाई जाती है। यदि संसार में मूल गुणों या द्रव्यों का अस्तित्व न होता, संवेदन-ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी। इस प्रकार संवेदन-ज्ञान सत् होने के साथ-साथ प्रामाणिक भी होता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोई संवेदन-ज्ञान कितना प्रामाणिक है, इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता।

ज्ञान की सीमाएँ
(Limits of Knowledge)

बुद्धिवाद के अनुसार तो ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती, किन्तु अनुभववाद के अनुसार ज्ञान की सीमाएँ होती हैं। लॉक के अनुसार सामग्री, उत्पत्ति, वैधता व स्वभाव सभी दृष्टियों से ज्ञान की कुछ मर्यादाएँ हैं जिनका हम कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकते। इन मर्यादाओं का हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

1. **सामग्री की दृष्टि से ज्ञान की सीमा**—लॉक के अनुसार विज्ञानों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष को ही ज्ञान कहते हैं। इस परिभाषा से दो निष्कर्ष निगमित होते हैं। प्रथम यह कि हमारा ज्ञान प्रत्ययों तक ही सीमित है। द्वितीय यह कि ज्ञान विज्ञानों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष से आगे नहीं बढ़ सकता। हम अपने सभी विज्ञानों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष नहीं करते। केवल कुछ ही विज्ञान ऐसे होते हैं जिनकी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष करने की हमें आवश्यकता महसूस होती है। अतः हमारा ज्ञान, वास्तव में विज्ञानों से भी कम है।

2. **उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान की सीमा**—लॉक के अनुसार हमारे विज्ञानों के दो ही स्रोत हैं—संवेदन या स्वसंवेदन। इनके अतिरिक्त विज्ञानों का कोई तृतीय स्रोत नहीं है। जहाँ तक संवेदनाओं का प्रश्न है वे अन्ततः ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ केवल पाँच हैं और उनकी क्षमता भी सीमित होती है। यदि ज्ञानेन्द्रियों की संख्या पाँच से अधिक होती तथा उनकी क्षमता पर्याप्त प्रबल एवम् प्रभावी होतीं तो हम जगत के विषय में अधिक एवम् पर्याप्त विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने में सफल होते। पर व्यवहार में ऐसा नहीं है। संवेदन पर निर्भर होने के कारण स्वसंवेदन भी उतना ही सीमित होता है जितना संवेदन। पुनः स्वसंवेदन द्वारा आत्मा

के विषय में सभी विज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो जाते ; जो थोड़े-बहुत हमें प्राप्त भी होते हैं, वे इतने अस्पष्ट एवम् अस्थिर होते हैं कि उन पर आसानी से विश्वास नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे पास विज्ञानों का केवल अभाव ही नहीं है, वरन् जो कुछ विज्ञान हमारे पास हैं भी, उनका भी हम सम्यक् रूप में प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। अतः हमारा जगत के विषय में ज्ञान पर्याप्त सीमित होता है।

3. निश्चयात्मकता की दृष्टि से ज्ञान की सीमा—हम पहले ही देख चुके हैं कि ज्ञान तीन प्रकार का होता है : प्रातिभ ज्ञान, निदर्शनात्मक ज्ञान एवम् संवेदन-ज्ञान। सभी ज्ञान का प्रातिभ ज्ञान न होना ही इस बात का प्रमाण है कि हमारे सभी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होते। प्रातिभ ज्ञान का क्षेत्र पर्याप्त संकुचित है। निदर्शनात्मक ज्ञान भी अन्ततः प्रातिभ ज्ञान पर ही आधारित होने के कारण उसका क्षेत्र भी संकुचित ही होता है। इसके सभी सोपानों को प्रातिभ ज्ञान द्वारा जानना असम्भव ही होता है। जहाँ तक संवेदन ज्ञान का प्रश्न है, वह तो सीमित होता ही है। बाह्य वस्तुओं के अज्ञेय होने के कारण हमारी संवेदनाओं की सत्यता और पर्याप्तता का पता लगाना असम्भव ही होता है। इन सभी कारणों से लॉक ने निष्कर्ष निकाला कि हमारा ज्ञान वास्तव में बहुत सीमित होता है।

4. ज्ञान की प्रकृति की दृष्टि से ज्ञान की सीमा—ज्ञान की प्रकृति की दृष्टि से भी ज्ञान की सीमा प्रकट हो जाती है। लॉक के अनुसार विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को ही ज्ञान कहते हैं। यह सम्बन्ध चार प्रकार का हो सकता है—अभेद या भेद, अमूर्त सम्बन्ध, सह-अस्तित्व और यथार्थ सत्ता। उपर्युक्त चारों सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विज्ञानों पर ही निर्भर होते हैं। जब विज्ञान स्वयं संकुचित और सीमित होते हैं तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी उतने ही सीमित और संकुचित होंगे। जब हम विज्ञानों की सीमा का अतिक्रमण कर अविज्ञेय वस्तुओं की ओर अग्रसर होते हैं वहाँ भी अप्रामाणिकता एवम् अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से हमारा ज्ञान सीमित और संकुचित ही होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि लॉक ने मानवीय ज्ञान को सीमित और संकुचित कहा है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपने ज्ञान को विस्तृत और प्रामाणिक नहीं बना सकते। लॉक के अनुसार हम दो उपायों द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं—प्रथम अनुभव की वृद्धि कर और द्वितीय अपने विज्ञानों को स्पष्ट, पर्याप्त एवम् अभ्रान्त करके। पूर्वाग्रह का अभाव, सूक्ष्म नियन्त्रण, वैज्ञानिक संयंत्रों का प्रयोग एवम् वैज्ञानिक विधि द्वारा हम अपने अनुभवों में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं। पुनः, दार्शनिक अनुशीलन, गणित, तर्कशास्त्र इत्यादि उपायों द्वारा हम अपने विज्ञानों को स्पष्ट, अभ्रान्त तथा उनके सम्बन्धों की खोज कर सकते हैं। इन दो प्रमुख उपायों द्वारा हम ससीम से असीम एवम् सान्त से अनन्त की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

लॉक के दर्शन की आलोचना
(Criticism of Locke's Philosophy)

लॉक एक अनुभववादी दार्शनिक हैं। उनके दर्शन में वे सारे दोष विद्यमान हैं जो एक

अनुभववादी दर्शन में पाए जाते हैं।

1. केवल इन्द्रियानुभव द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इन्द्रियों द्वारा केवल विशिष्ट संवेदनाओं की पृथक्-पृथक् प्रतीति ही होती है, उनका हमें ज्ञान नहीं होता। एक संवेदन का दूसरे संवेदन से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। जब तक इन विशिष्ट संवेदनाओं को बुद्धि की मौलिक धारणाओं एवम् विकल्पों द्वारा व्यवस्थित व नियमित न किया जाय तब तक वे मात्र "संवेदन" रहेंगे ; वे "ज्ञान" का रूप कभी भी धारण नहीं कर सकते। अतः केवल इन्द्रियानुभव हमारे ज्ञान का स्रोत कदापि नहीं हो सकता। संवेदना ज्ञान का केवल **उपादानात्मक तत्त्व** (Constitutive Principle) हो सकती है **नियामक तत्त्व** (Regulative Principle) नहीं। नियामक तत्त्व के अभाव में संवेदना ज्ञान के रूप में कभी भी परिणत नहीं हो सकती।

2. यदि केवल इन्द्रियानुभव को ही ज्ञान का उद्गम माना जाय तो हमारा ज्ञान आपातिक (Contingent) और सम्भाव्य (Probable) ही होगा। उसमें अनिवार्यता, वैधता एवम् सार्वभौमता (Universality) के गुण जो ज्ञान के अनिवार्य लक्षण है, कदापि नहीं पाए जा सकते। वे विशेषताएँ विशिष्ट संवेदनाओं से उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। उनका स्रोत बुद्धि के सामान्य विकल्प ही हो सकते हैं जिन्हें लॉक स्वीकार नहीं करते।

3. लॉक के आत्मा की कल्पना भी बिलकुल हास्यास्पद है। उनके अनुसार "आत्मा" एक द्रव्य है जिसका ज्ञान एक आगन्तुक धर्म है। वस्तुतः, ज्ञान आत्मा का सार है। बिना ज्ञान के आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लॉक का यह कथन कि आत्मा "कोरे कागज" या "अंधेरे कमरे" के समान है स्वीकार नहीं किया जा सकता। आत्मा निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-संवेदनाओं को ग्रहण नहीं करती। निष्क्रिय होने पर कोई भी इन्द्रिय-संवेदना आत्मा के ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। आत्मा सक्रिय होकर ही संवेदनाओं को ग्रहण करती है। इन्द्रियों के द्वार भले ही खुले हों पर यदि आत्मा सक्रिय नहीं है तो संवेदनाओं का हमें ज्ञान ही नहीं हो सकता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि संवेदनाओं के ग्रहण के पहले भी आत्मा में सक्रियता विद्यमान रहती है।

4. लॉक के अनुसार ही आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध न तो जड़-तत्त्व से होता है और न उसके मूल और उपगुणों से ही। आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध केवल विज्ञानों (Ideas) से ही होता है। यदि यह बात सत्य है कि हमें केवल विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, अन्य वस्तुओं का नहीं तो एक ओर "विज्ञान" और "गुण" तथा दूसरी ओर "गुण" और "द्रव्य" का भेद समाप्त हो जाता है। जब हमें "गुण" और "द्रव्य" इन दो वस्तुओं में किसी का भी ज्ञान नहीं है तो हम उनके बीच भेद भी किस प्रकार कर सकते हैं। यही कारण है कि आगे चलकर वर्कले ने केवल विज्ञानों की सत्ता में ही विश्वास प्रगट किया।

5. यदि हमारा ज्ञान विज्ञानों तक ही सीमित है तो हमें किसी भी तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। न हमें जड़-तत्त्व का ज्ञान होता है और न आत्मा तथा ईश्वर का ही। तत्त्व के अज्ञेय होते हुए भी लॉक ने जड़-तत्त्व, आत्म-तत्त्व एवम् ईश्वर-तत्त्व इन तीन सत्ताओं में विश्वास प्रगट किया, जो दार्शनिक दृष्टि से कभी भी मान्य नहीं हो सकता।

6. लॉक के दर्शन में विज्ञानों की पर्याप्तता (Adequacy) या अपर्याप्तता

(Inadequacy) का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उनके अनुसार सरल विज्ञान सदा यथार्थ और पर्याप्त होते हैं किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उपगुणों के सरल विज्ञान किसी भी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अतः उनके यथार्थ और पर्याप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मूल गुणों के विज्ञान जिनके विषय में कहा जाता है कि वे बाह्य गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, बिना उपगुणों के ज्ञान के जाने ही नहीं जा सकते। पुनः, लॉक ने यह भी नहीं बताया कि मूल गुण वस्तुओं के **असंवेद्य भागों** (Insensible Parts) में पाए जाते हैं। यदि ऐसी बात है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि मूलगुणों के विज्ञान मूलगुणों के समान होते हैं ? पुनः, मूलगुण द्रव्य में पाए जाते हैं जो स्वयं लॉक के अनुसार अज्ञेय हैं। यदि द्रव्य अज्ञेय है तो हम कैसे कह सकते हैं कि द्रव्य हमारे विज्ञानों को उत्पन्न करता है ? इस प्रकार सरल विज्ञानों की पर्याप्तता कर कोई ठोस प्रमाण हमें नहीं प्राप्त होता है।

7. लॉक की ज्ञान-मीमांसा भी पर्याप्त त्रुटिपूर्ण है। विज्ञानों एवम् वस्तुओं के बीच सादृश्य (Resemblance) सम्बन्ध एवम् बाह्य वस्तुओं और विज्ञानों के बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध (Causation) पाया जाता है। हमारा ज्ञान केवल विज्ञानों तक ही सीमित है, बाह्य वस्तुएँ हमारे लिए अज्ञेय ही होती हैं। यदि ऐसी बात है तो हम **सत्यता के निकष** (Criterion of Truth) से सदा वंचित रह जाते हैं। लॉक यहाँ एक विचित्र उभयतोपाश में आवद्ध हो जाते हैं—

(i) यदि लॉक का सिद्धान्त सही है, तो उसे स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई युक्ति नहीं है।

(ii) यदि लॉक के सिद्धान्त की युक्तियाँ प्राप्त हैं, तो उसका सिद्धान्त कभी भी सत्य नहीं है। इस उभयतोपाश से बचने के लिए लॉक के पास कोई उपाय नहीं है।

8. लॉक के द्रव्य (Substance) का प्रत्यय उसके अनुभववाद से संगत नहीं है। मान लिया कि A एक वस्तु है जिसके भीतर Q_1, Q_2, Q_3, Q_4, और Q_5 पाँच गुण पाए जाते हैं। यदि वस्तु गुणों का समुच्चय मात्र है तो A, Q_5 है द्विरुक्ति होगा, किन्तु यदि A गुणों के समुच्चय से भिन्न है तो A (Q_1—Q_5+ x) है, अबोधमम्य होगा क्योंकि x हमारे लिए सर्वथा अज्ञेय है। अतः दोनों स्थितियाँ हमारे लिए ज्ञान की समस्या उत्पन्न कर देती हैं।

9. लॉक का दर्शन **ज्ञानमीमांसक दोष** (Epistemologists Fallacy) से ग्रस्त है। इस दोष का अर्थ यह है कि यदि कोई दार्शनिक ज्ञानमीमांसा के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तो उसका सिद्धान्त अन्य व्यक्तियों के ज्ञान पर तो लागू होगा पर स्वयं उसका ज्ञान इसका अपवाद होगा। पर इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता।

जॉर्ज बर्कले

(George Berkeley : 1685-1753)

जीवन-वृत्त—लॉक इंग्लैण्ड के रहने वाले थे तो जार्ज बर्कले आयरलैंड के निवासी थे। इनका जन्म 12 मार्च, 1685 में आयरलैण्ड के किलक्रिन नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता का नाम विलियम बर्कले था जो इंग्लैण्ड में पैदा होने के बावजूद आयरलैंड में आकर बस गए थे। उनकी माँ आयरलैंड की ही रहने वाली थीं। जार्ज बर्कले अपने माँ बाप की

प्रथम संतान थे।

बर्कले की शिक्षा सर्वप्रथम किलकेनी स्कूल से प्रारम्भ हुई। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर वे मार्च, 1700 में ट्रिनिटी कालेज डबलिन में प्रविष्ट हुए जहाँ उन्होंने तर्कशास्त्र, गणित, दर्शन एवं लैटिन का उच्च ज्ञान प्राप्त किया। आगे चलकर वहीं से उन्होंने बी० ए० एवं एम० ए० की उपाधियाँ भी प्राप्त कीं। पुनः, 1707 में बर्कले डबलिन में ही फेलो (अध्यापक) नियुक्त किए गए और 1709 में आयरलैंड के गिरजाघर में डकन (Deacon), अर्थात तृतीय श्रेणी के पादरी बने। आगे चलकर 1710 में उन्हें प्रीस्ट (Priest) अर्थात् द्वितीय श्रेणी का पादरी बनाया गया और अन्त में 1724 में उन्हें डीन (Dean) अर्थात् प्रथम श्रेणी का पादरी बनाया गया। डीन बनने पर बर्कले ने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया और वे सारा समय पादरी के काम में ही व्यतीत करने लगे।

ट्रिनिटी कालेज डबलिन में बर्कले को डेकार्ट्स, हॉब्स, लॉक एवं न्यूटन के ग्रन्थों को पढ़ने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। बाद में फ्रान्सीसी दार्शनिक कृतियों के अनुशीलन का भी उन्हें शौक हुआ। मेलेब्रान्श से उन्होंने विज्ञानवाद और जॉन टोलैण्ड से केवलीश्वरवाद (Deism) की शिक्षा ग्रहण की। ईसाई धर्म की शिक्षा तो कालेज का प्रधान विषय ही था। इन शिक्षाओं से बर्कले को दर्शन और धर्म का ज्ञान प्राप्त हो गया। जिन दो दार्शनिकों ने बर्कले के जीवन-दर्शन को प्रेरित किया, वे थे—मेलेब्रान्श और लॉक। मेलेब्रान्श ने बर्कले को विज्ञानवादी दर्शन की रूपरेखा दी और लॉक ने उसे एक चिन्तन-प्रणाली प्रदान की। इस प्रकार लॉक की चिन्तन-प्रणाली द्वारा मेलेब्रान्श के दर्शन को स्थापित करना अथवा आनुभविक प्रणाली द्वारा ईश्वरवाद को सिद्ध करना ही बर्कले के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य था।

बर्कले एक प्रतिभावान, धार्मिक और मधुर स्वभाव वाले व्यक्ति थे। 1713 में वे लन्दन गए और वहाँ विख्यात दार्शनिकों और साहित्यकारों से सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने योरोप का भी भ्रमण किया और एक दिव्य समाज की स्थापना करने के उद्देश्य से अमेरिका गए। केलिफोर्निया प्रदेश में उन्होंने बर्कले नामक नगर बसाया। किन्तु अमेरिका में उन्हें बहुत अधिक सफलता नहीं मिली। आयरलैंड लौटकर वे दक्षिण आयरलैंड के एक गिरजाघर के पादरी बनाए गए। पादरी-जीवन का उनके दर्शन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। ईसाई धर्म का प्रचार और रोगियों की सेवा-सुश्रूषा में उनकी विशेष अभिरुचि थी। जीवन के अन्तिम दिनों में वे ऑक्सफोर्ड चले गए जहाँ उनकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ—बर्कले एक बहुत ही प्रतिभाशाली दार्शनिक थे। बचपन में ही उनकी दार्शनिक प्रतिभा प्रस्फुटित होने लगी थी। 1707 में उनकी गणित की दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनका अर्थमेटिक और मिसलेनिया मैथमेटिका (Arithmetic and Miscellania Mathematica) नाम था। 1709 में उनका मनोविज्ञान से सम्बन्धित एक मौलिक निबन्ध 'दृष्टि का एक नवीन सिद्धान्त' (A New Theory of Vision) प्रकाशित हुआ। बर्कले की सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक कृति 'मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Human Knowledge) 1710 में प्रकाशित हुई। यह ज्ञान-मीमांसा की पुस्तक है। 1713 में 'हाइलस और फाइलोनूस' के तीन संवाद 'Three Dialogues between Hylas and Philonous) और 1932 में एल्सिफ्रन या सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक (Alciphron or the

Minute Philosopher) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए जो बर्कले के दर्शन के विभिन्न पक्षों का सरल भाषा में वर्णन करते हैं। 1712 में उनकी एक साधारण रचना निष्क्रिय आज्ञापालन (Passive Obedience) निकली।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि बर्कले के भीतर रोगियों की सेवा-सुश्रूषा की विशेष अभिरूचि थी। इस रूचि के परिणामस्वरूप उन्होंने एक चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया जिसे 'कोलतार-जल-दर्शन' (Tar-Water Philosophy) कहते हैं। उनका विचार था कि इस जल द्वारा सभी रोग दूर किए जा सकते हैं। अपने दार्शनिक और चिकित्सा-सम्बन्धी विचारों को उन्होंने एक शृंखला (Siris) नामक ग्रन्थ में 1744 में प्रकाशित किया। इस प्रकार सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों क्षेत्रों में बर्कले न अपनी दक्षता प्रकट की।

बर्कले की सारी रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग के भीतर वे रचनाएँ आती हैं जिन्हें बर्कले ने ट्रिनिटी कालेज डबलिन में प्रकाशित करायी थीं। 'मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त' तथा 'तीन संवाद' इस भाग की रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन रचनाओं में बर्कले का प्रमुख दृष्टिकोण आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism) या अंहवाद (Solipsism) का है। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'मैं और मेरे विज्ञान' ही एक मात्र सत्य हैं और संसार की अन्य वस्तुएँ बिलकुल असत् हैं। द्वितीय भाग के भीतर वे रचनाएँ आती हैं जिन्हें बर्कले ने अपने प्रवास-काल में लिखी थीं। इस भाग में 1713 और 1736 के बीच की सारी रचनाएँ आ जाती हैं। इस समय की प्रमुख दार्शनिक रचनाएँ एल्सिफ्रॉन या सूक्ष्म दार्शनिक और दृष्टि-सिद्धान्त हैं। इस रचनाओं में बर्कले का प्रमुख दृष्टिकोण ईश्वर गोचरवाद (Theocentric Phenomenalism) है जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ ईश्वर के प्रत्यय रूप हैं। तृतीय भाग के भीतर वे सारी रचनाएँ आ जाती हैं जो 1714 और 1754 के बीच बर्कले के आयरलैण्ड लौटने पर लिखी गई थीं। इस समय वे एक ओर दार्शनिक चिन्तन करते थे और दूसरी और कोलतार-जल द्वारा रोगियों की चिकित्सा करते थे। 'एक शृन्खला' (Siris) इस समय की प्रमुख रचना है। इस पुस्तक में बर्कले का दृष्टिकोण आन्तरातीत ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद (Panentheism) है जिसके अनुसार ईश्वर जगत में अन्तर्यामी होते हुए भी जगत से अतीत है। यह रहस्यवाद की अवस्था है।

बर्कले का आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद या अहंवाद बर्कले के ऊपर लॉक का स्पष्ट प्रभाव है। यहाँ वे विशुद्ध आनुभविक प्रणाली का प्रयोग करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या विज्ञान (Idea) से समुत्पन्न है। आगे चलकर बर्कले के इस दृष्टिकोण ने ह्यूम एवं जॉन स्टुअर्ट मिल के दर्शनों को उत्पन्न किया। अपने मानसिक विकास की दूसरी अवस्था में उन्होंने दो प्रकार के ज्ञान में विश्वास किया : इन्द्रिय-समुत्पन्न ज्ञान या विज्ञान (Idea) और अनुत्पन्न ज्ञान या सम्बोध (Notion)। इस अवस्था में विज्ञान और सम्बोध के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त नहीं किया गया। आगे चलकर बर्कले के इस दृष्टिकोण को रीड और हैमिल्टन ने अपने दर्शनों में विकसित किया। तीसरी अवस्था में बर्कले ने विज्ञान और सम्बोध दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष बल दिया और कहा कि दोनों के साहचर्य से ही किसी वास्तविक ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। आगे चलकर काण्ट और हेगल के दर्शन बर्कले के इस तृतीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यद्यपि बर्कले के दर्शन में इन तीन विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन होते हैं पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके दर्शन में कोई सर्वनिष्ठ तत्त्व नहीं है। ईश्वरवाद, विज्ञानवाद और अभौतिकवाद उनके विचारों में हर अवस्था में चरितार्थ होते हैं। वे अपने विचारों की सिद्धि के लिए कम से कम दो प्रणालियों का उपयोग करते हैं—प्रथम आनुभविक प्रणाली (Empirical Method) है और द्वितीय बोधमय प्रणाली (Notional Method)। यद्यपि इन दो प्रणालियों को एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परस्पर सम्मिलित प्रणालियाँ हैं, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रारम्भ में वे बाह्य जगत की सिद्धि के लिए आनुभविक प्रणाली का प्रयोग करते हैं और बाद में आत्मा और ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए बोधमय प्रणाली का प्रयोग करते हैं।

बर्कले का विज्ञानवाद
(Berkeley's Idealism)

जिस प्रकार स्पिनोजा का दर्शन डेकार्ट्स के दर्शन की त्रुटियों के दूर करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार बर्कले का दर्शन जॉन लॉक की त्रुटियों के परिहार-स्वरूप उत्पन्न हुआ। लॉक का दर्शन विरोधों का पिटारा है। उसके दर्शन में इतनी असंगतियाँ थीं कि कोई भी दार्शनिक बुद्धि उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकती थी। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि लॉक और बर्कले के दर्शन में कोई समानतायें नहीं थीं। दोनों ही अनुभववादी हैं, यद्यपि बर्कले का अनुभववाद एक विशेष प्रकार का अनुभववाद है। बर्कले अनुभववाद को विज्ञानानुभववाद कहते हैं। हमारे सभी विज्ञान संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा उत्पन्न होते हैं, आत्मा विज्ञानों का आश्रय है, विज्ञान सरल और मिश्र दो प्रकार के होते हैं—लॉक के ये सभी विचार बर्कले को मान्य हैं। अन्य बातों में बर्कले ने लॉक से भिन्न निष्कर्ष निकाले हैं।

बर्कले कहते हैं कि यदि लॉक के ज्ञान के प्रतिनिधानवाद (Representationism) को सत्य मान लिया जाय तो हमें इस सिद्धान्त की सत्यता की जानकारी कदापि नहीं हो सकती क्योंकि हमारा ज्ञान केवल विज्ञानों तक ही सीमित होगा और हम विज्ञानों और बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध के विषय में सदा अनभिज्ञ ही रहेंगे। इस प्रकार हम केवल विज्ञानों की परिधि में ही सीमित रहेंगे और हमें बाह्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों का कुछ भी ज्ञान न होगा। इस सिद्धान्त की चरम परिणति अहंमात्रवाद (Solipsism) में होती है जिसके अनुसार संसार में केवल मेरा ही अस्तित्व विद्यमान है तथा जिसे हम जगत कहते हैं वह केवल मेरा विज्ञान ही है। पर दार्शनिक दृष्टि से अहंमात्रवाद एक संगत सिद्धान्त नहीं हो सकता। इसके अन्दर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ विद्यमान हैं। यदि अहंमात्रवाद गलत है तो ज्ञान का प्रतिनिधानवाद जिसका अहंमात्रवाद सीधा परिणाम है कभी भी सत्य नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि प्रतिनिधानवाद त्रुटिपूर्ण है तो इसके भीतर कौन-सी त्रुटियाँ विद्यमान हैं ? बर्कले के अनुसार प्रतिनिधानवाद की जो प्रधान भूल है, वह यह है कि वह एक अप्रत्यक्ष जड़-जगत में विश्वास करता है। जब लॉक मानते हैं कि विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एक मात्र स्रोत हैं तथा जिन वस्तुओं के विज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकते,

वे हमारे ज्ञान के विषय नहीं हो सकते, तो अप्रत्यक्ष जगत के अस्तित्व में विश्वास करने की आवश्यकता ही क्या है ? जगत वह नहीं है जिसका हमें प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। हमारे लिए वास्तविक जगत वही है जिराका हमें प्रत्यक्ष होता है। यही बर्कले का विज्ञानवाद है। अब हम इस विज्ञानवाद के विविध पक्षों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

विज्ञान ही एक मात्र सत्य है—बर्कले कहते हैं कि जब लॉक मानते हैं कि हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय विज्ञान हैं, तब उनके कारण-रूप मूल गुणों, उपगुणों और द्रव्यों के अस्तित्व में विश्वास करने की आवश्यकता ही क्या है ? लॉक के अनुसार संसार में जड़-तत्त्व है जिसके भीतर कुछ मूल गुण और कुछ उपगुण पाए जाते हैं। जब ये मूल गुण और उपगुण हमारी आत्मा को प्रभावित करते हैं तो उसके भीतर इन मूल गुणों और उपगुणों के प्रतिबिम्ब उत्थापित होते हैं। इन प्रतिबिम्बों को ही विज्ञान कहते हैं। विज्ञान-रूप इन प्रतिबिम्वों के आधार पर ही हम बिम्ब-रूप गुणों और बाह्य द्रव्य का अनुमान कर लेते हैं। पर यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब हमारा ज्ञान केवल विज्ञानों तक ही सीमित है और जीवन में एक बार भी हमें न तो गुणों का ज्ञान होता है और न द्रव्य का ही, तो इन प्रतिबिम्बों के आधार पर हम गुणों और द्रव्य का अनुमान ही कैसे कर सकते हैं। पुनः, बिम्बों के ज्ञान के अभाव में हम यह भी नहीं कह सकते कि विज्ञान प्रतिबिम्ब है। बिम्ब के ज्ञान के अभाव में हम बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच तुलना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रतिबिम्ब के यथार्थ या अयथार्थ होने का प्रश्न भी नहीं उठाया जा सकता। हमारे लिए विज्ञान ही एक मात्र सत्य हैं। विज्ञानों के एक मात्र सत्य होने के कारण विज्ञानों और उनके कारण रूप गुणों में भेद नहीं किया जा सकता और जब संसार में गुण ही नहीं हैं तो उनके अधिष्ठान रूप द्रव्य के अस्तित्व में विश्वास करने की आवश्यकता भी शेष नहीं रह जाती। बर्कले के दर्शन में द्रव्य-गुण भेद अमान्य है। विज्ञान ही एक मात्र सत्य है। विस्तार, गति, घनत्व इत्यादि जिन्हें हम मूलगुण कहते हैं, वे वास्तव में रंग, ताप, और मिठास की तरह मानसिक धर्म ही है। जहाँ तक अवेध्यता (Impenetrability) का प्रश्न है, वह प्रतिरोध (Resistance) की भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कोई मूलगुण न होकर मानसिक धर्म ही है।

सभी विज्ञान उपगुणों के विज्ञान हैं—लॉक के मूलगुणों और उपगुणों के विज्ञानों का भेद भी बर्कले को मान्य नहीं है। लॉक के अनुसार मूलगुण द्रव्य के वास्तविक धर्म हैं जो उसमें सदा विद्यमान रहते हैं तथा आत्मा के भीतर संवेदनों के माध्यम से मूलगूणों के विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इन मूलगुणों का दूसरा कार्य यह है कि वे अपनी शक्ति द्वारा हमारी आत्मा में संवेदनों के रूप में उपगुणों के विज्ञानों को उत्पन्न करते हैं। मूलगुणों के विज्ञानों का मूलगुणों के साथ साम्य (Resemblance) होता है, पर उपगुणों के विज्ञान उपगुणों की ओर केवल संकेत (Correspond) ही करते हैं। उपगुण संवेदन-रूप हैं और आत्मा में रहते हैं। मूलगुण बाह्य पदार्थ में रहते हैं और आत्मा में केवल अपने समान प्रतिबिम्ब अंकित करते हैं। आकार, विस्तार, दूरी, गति इत्यादि मूलगुण हैं। इसके विपरीत रूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि उपगुण हैं। लॉक के इस भेद के विरोध में बर्कले का मत यह है कि मूलगुणों और उपगुणों का भेद ठीक नहीं है। इसके लिए उन्होंने तीन तर्क दिए हैं—

1. मूलगुण और उपगुण दोनों विज्ञान-रूप होने के कारण आत्मा पर निर्भर हैं। दोनों मानसिक धर्म हैं। उपगुणों के समान मूलगुण भी द्रष्टा पर निर्भर होते हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर एक ही वस्तु गोल, अंडाकार, रैखिक और बिन्दु रूप में दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में हम कैसे कह सकते हैं कि मूलगुण बिलकुल वस्तुनिष्ठ है। उपगुण आत्मनिष्ठ होते हैं, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को उष्ण, दूसरे को शीतल एवं तीसरे को कोष्ण प्रतीत होती है। पीलिया के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि मूलगुण और उपगुण दोनों ही आत्म-सापेक्ष हैं। इनमें से एक को वस्तुनिष्ठ और दूसरे को आत्मनिष्ठ कहना समीचीन नहीं है।

2. मूलगुण और उपगुण दोनों एक साथ रहते हैं। विना मूलगुणों के उपगुणों का ज्ञान और बिना उपगुणों के मूलगुणों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि दोनों एक ही प्रकार के गुण हैं और आत्मनिष्ठ हैं। उनका भेद कल्पित है।

3. विस्तार, आकार, दूरी, गति इत्यादि को लॉक मूलगुणों के विज्ञान मानता है। पर सच पूछा जाय तो ये विज्ञान या संवेदन-रूप है ही नहीं। ये केवल सम्वन्ध (Relations) हैं जिन्हें हम चिन्तन करते समय उपगुणों के विज्ञानों के साथ संयुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार उपगुणों के विज्ञान तथा-कथित मूलगुणों के विज्ञानों से भी अधिक प्राथमिक हैं। उपगुणों के विज्ञान प्राथमिक और मूलगुणों के विज्ञान व्युत्पन्न हैं। इस प्रकार बर्कले ने निष्कर्ष निकाला कि सभी विज्ञान उपगुणों के विज्ञान हैं और आत्म-सापेक्ष हैं। आत्मा से स्वतंत्र किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती।

विज्ञान और वस्तुओं का भेद अनुचित है—लॉक ने विज्ञानों और वस्तुओं में भेद किया था। उसके दर्शन को ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद (Epistemological Dualism) कहा जाता है जिसके अनुसार हमें बाह्य वस्तु का साक्षात् ज्ञान न होकर केवल मध्यवर्ती विज्ञानों का ही साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। बर्कले ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का विरोध कर उसके स्थान पर ज्ञानमीमांसीय अद्वैतवाद (Epistemological Monism) का प्रतिपादन करते हैं। इस मत के प्रतिपादन में उन्हें लॉक के आलोचक ज़ॉन सर्जेण्ट की पुस्तक ठोस दर्शन (Solid Philosophy) से पर्याप्त सहायता मिली है। ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद की आलोचना में जॉन सर्जेण्ट ने कहा कि इसमें अनवस्था दोष (Infinite Regress) पाया जाता है। कल्पना कीजिए कि हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उसका ज्ञान हमें किसी विज्ञान $व_1$ के माध्यम से ही हो सकता है (लॉक)। अब प्रश्न यह है कि हमें इस $व_1$ का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है। लॉक के नियम के अनुसार उसे हम किसी विज्ञान $व_2$ के माध्यम से ही जान सकते हैं। इसी प्रकार हम $व_2$ को $व_3$ से, $व_3$ को $व_4$ से तथा $व_4$ को $व_5$ से जानने का प्रयत्न करेंगे। यह शृंखला अनन्त तक जारी रहेगी। स्पष्ट है कि जब तक हमें इन अनन्त मध्यस्थ विज्ञानों का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वस्तु का ज्ञान असम्भव है। पर इन अनन्त विज्ञानों को जानना असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में हमें विज्ञानों के माध्यम से किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तु का ज्ञान अनवस्था दोष से ग्रसित है। इस अनवस्था दोष से हम तभी मुक्त हो सकते हैं, जबकि हम मान लें कि किसी वस्तु का ज्ञान उसके विज्ञान

के माध्यम से नहीं, वरन् साक्षात् होता है। ऐसा मानने पर ज्ञान की अवस्था में वस्तु और विज्ञान का भेद मिट जाएगा अथवा यों कहिए कि वस्तु और उसका विज्ञान, दोनों एक ही हो जाते हैं। ज्ञान की अवस्था में हमें वस्तु का ही साक्षात् ज्ञान होता है ; किसी विज्ञान के माध्यम से वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वस्तु और विज्ञान में भेद नहीं है। दर्शन में इस मत को ज्ञानमीमांसीय अद्वैतवाद (Epistemological Monism) कहते हैं। बर्कले का यही मत है।

बर्कले को लॉक का यह मत स्वीकार्य है कि हमारे प्रत्येक ज्ञान का स्रोत विज्ञान है, पर वे लॉक के इस मत को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि विज्ञानों के अतिरिक्त भी कुछ वस्तुएँ हैं। जब बाह्य वस्तुएँ अज्ञेय हैं तो उनके अस्तित्व में विश्वास करने की आवश्यकता ही क्या है ? सच पूछा जाय तो बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जो कुछ भी है, वह विज्ञान की परिधि के भीतर ही है। बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के अभाव में हम विज्ञानों को प्रतिबिम्ब भी नहीं कह सकते। यदि उन्हें प्रतिबिम्ब मान भी लिया जाय तो ज्ञान बिलकुल ही असंभव हो जायगा। पुनः, विज्ञानों के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास करने से हम अनुभववाद की सीमा का अतिक्रमण भी करेंगे। इन सब कारणों से बर्कले विज्ञान और वस्तु के भेद का निषेध करते हैं। इस दृष्टि से लॉक की अपेक्षा वे अधिक सुसंगत अनुभववादी हैं। जहाँ लॉक का दर्शन प्रतिनिधानवाद है, वहीं बर्कले का दर्शन पुरोधानवाद (Presentationism) है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष का विषय किसी विज्ञान द्वारा नहीं, वरन् साक्षात् हमारी आत्मा में उत्पन्न होता है। भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त एवं समकालीन पाश्चात्य दर्शन में ऑस्टिन (J.L. Austin) बर्कले के इस मत का समर्थन करते हैं।

बाह्य वस्तुओं के आत्मा से स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध करके बर्कले ने जड़वाद के स्थान पर विज्ञानवाद (Idealism) की स्थापना की। विज्ञाता से स्वतंत्र विज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। बर्कले ने संसार की सभी वस्तुओं को विज्ञानों में घटित करके यह दिखाने का प्रयत्न किया कि दृश्य जगत् सदा द्रष्टा पर ही आधारित होता है। जिस प्रकार बिना द्रष्टा के दृश्य की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना आत्मा के विज्ञानमय जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती। बर्कले का यही विज्ञानवाद है।

बर्कले ने अपने दर्शन में 'विज्ञान' शब्द का चार अर्थों में प्रयोग किया है। प्रथम अर्थ में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय को विज्ञान कहते हैं, जैसे—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इत्यादि। इन्हें आधुनिक दर्शन की भाषा में इन्द्रिय-दत्त (Sense-Data) कहा जाता है। 'विज्ञान' शब्द का दूसरा प्रयोग अन्तर्दर्शन के विषय के लिए किया गया है। मानसिक भाव और व्यापार अन्तर्दर्शन के विषय हैं जिन्हें अन्तर्दर्शन-दत्त (Introspective Data) कहा जाता है। पुनः, इन्द्रिय-दत्त और अन्तर्दर्शन-दत्त के सम्मिश्रण से जो कल्पना या 'स्मृति' बनती है, उसे भी बर्कले ने 'विज्ञान' की संज्ञा दी है। विज्ञान का यह तृतीय प्रयोग है। इन तीन प्रयोगों के अतिरिक्त विज्ञान शब्द का एक चौथा महत्त्वूपर्ण प्रयोग भी है जो विज्ञानों के संघात या समुच्चय के लिए प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, चीनी का विज्ञान सफेदी, खुरदुरापन, भंजनशीलता, मिठास इत्यादि विज्ञानों का समुच्चय है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में जो कुछ है वह विज्ञान ही है अथवा वह विज्ञानों का पुंज है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ लॉक की दार्शनिक प्रणाली मूल रूप से

मनोवैज्ञानिक प्रणाली थी जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति और विकास के क्रम को ही दिखाया गया था, वहाँ बर्कले की दार्शनिक प्रणाली मूल रूप से तत्त्वदार्शनिक प्रणाली है जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति और विकास पर कम, पर ज्ञान के विषय के स्वभाव पर विशेष चिन्तन किया गया है। इसी प्रणाली के आधार पर वे अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन व मूर्त प्रत्ययों का मण्डन कर विज्ञानवाद की स्थापना करते हैं।

अमूर्त विज्ञानों का खण्डन—बर्कले अपने विज्ञानवाद की स्थापना के लिए अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अमूर्त प्रत्ययों में विश्वास करने के कारण ही दार्शनिकों ने जड़-तत्त्व में विश्वास किया है। अब प्रश्न यह है कि यह अमूर्त प्रत्यय या अमूर्त सामान्य वास्तव में क्या है ? लॉक के अनुसार संसार में केवल विशेषों का ही अस्तित्व है, पर आत्मा अपने अपकर्षण या अमूर्तीकरण की शक्ति के द्वारा अपने भीतर अमूर्त विज्ञानों (Abstract Ideas) का निर्माण कर सकती है। इसके विपरीत, बर्कले का यह विचार है कि संसार में विशेष ही एक मात्र सत्य हैं, चाहे वे अस्तित्व रूप में हों अथवा विज्ञानों के रूप में हों। सभी सत्ताएँ विशिष्ट सत्ताएँ हैं और सभी विज्ञान विशिष्ट विज्ञान हैं। बर्कले अपने विज्ञानवाद की स्थापना के लिए सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञानों का खण्डन करते हैं और पुनः जड़-तत्त्व के खण्डन के लिए उन्मुख होते हैं।

(अ) जहाँ तक अमूर्त विज्ञानों के खण्डन की बात है, बर्कले कहते हैं कि हम दो-तीन कारणों से अमूर्त विज्ञानों में विश्वास करते हैं। प्रथम मनोवैज्ञानिक कारण है जिसकी वजह से हम अमूर्त विज्ञानों में विश्वास कर लेते हैं। वह मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि हमारी बुद्धि में अमूर्तीकरण या अपकर्षण की ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह अमूर्त विज्ञानों के निर्माण में सक्षम होती है। "वह प्रत्येक गुण को उन सभी गुणों से पृथक् करके, जिनसे वह संयुक्त है, सोच सकने के कारण अपने में अमूर्त विज्ञानों को उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए, हम एक विषय का चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं कि वह विस्तारयुक्त, वर्णयुक्त और गतियुक्त है। इस सम्मिश्रित या सामूहिक ज्ञान (समूहावलंबन) को बुद्धि सरल आकारक खण्डों में विभक्त करती है और प्रत्येक को अन्य शेष खण्डों से पृथक् देखती है। इस प्रकार बुद्धि विस्तार, वर्ण और गति के अमूर्त प्रत्ययों को उत्पन्न करती है।"[1] इस प्रकार बर्कले ने यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार विशेषों के सामूहिक ज्ञान से पृथक् होकर किसी सामान्य का अमूर्त विज्ञान बनता है।

"पुनश्च, बुद्धि देखती है कि इंद्रियगोचर विशिष्ट विस्तारों में कुछ सर्वगत और सर्वसामान्य बातें हैं और कुछ असामान्य बातें, जैसे यह या वह आकृति (Figure) या मात्रा (Magnitude) जो उनको परस्पर भिन्न करती हैं। इससे वह उस तत्त्व को जो सर्वगत है, पृथक् करती है या पृथक् सोचती है और इस क्रिया के फलस्वरूप विस्तार का अमूर्त प्रत्यय बनाती है। यह विस्तार न रेखा है, न धरातल, न ठोस आकृति और न कोई आकृति या मात्रा। यह एक प्रत्यय है जो इन सभी से पूर्णतया पृथक् है।"[2] इस प्रकार अमूर्तीकरण द्वारा बुद्धि विस्तार का अमूर्त प्रत्यय बनाती है। विशेषों के सादृश्य के कारण बुद्धि उनके सर्वगत अंशों का पता लगाकर अमूर्त सामान्यों का निर्माण करती है।

---

1. पांडेय, संगमलाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 13।
2. वही, पृ० 9।

अब बर्कले अमूर्त विज्ञान के मनोवैज्ञानिक कारण का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। अमूर्तीकरण की स्वाभाविक शक्ति का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं, "दूसरे लोगों में अपने प्रत्यक्षों को अमूर्त बनाने की यह विस्मयकारी शक्ति है कि नहीं ? इसको वे ही बता सकते हैं। जहाँ तक अपनी बात है, मैं पाता हूँ कि मुझमें सचमुच उन विशेष वस्तुओं के प्रत्यय की कल्पना करने की या अपने में प्रतिबिम्ब पैदा करने की और उन्हें मिश्रित तथा विभाजित करने की शक्ति है जिनको मैंने देखा है। मैं दो सिर वाले मनुष्य के ऊपरी भाग से संयुक्त अश्व के देह की, नराश्व या अश्विनी कुमार की कल्पना कर सकता हूँ। मैं हाथ, नाक, कान प्रत्येक की शेष देह से पृथक् करके कल्पना कर सकता हूँ किन्तु जिस भी हाथ या आँख की कल्पना मैं करता हूँ, उसका कुछ विशेष आकार और वर्ण अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार मैं मनुष्य का जो प्रत्यय करता हूँ, उसे अवश्य ही श्वेत, कृष्ण, कपिल, ऋजु या वक्र, लम्बा, छोटा या मझोला मनुष्य होना चाहिए"।[1] मनुष्य का अमूर्त प्रत्यय असम्भव है।

इसी प्रकार जो यह कहा जाता है कि सभी लोग अध्यवसाय और अध्ययन द्वारा अमूर्तीकरण की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, इसके विरोध में बर्कले कहते हैं, "मैं किसी भी वैचारिक प्रयत्न से उपर्युक्त अमूर्त प्रत्यय की कल्पना नहीं कर सकता। मेरे लिए यह भी असम्भव है कि मैं गतिशील पिण्ड से पृथक् गति के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण करूँ जो न तीव्र है, न मन्द ; न वक्राकार है न ऋजुरेखीय। ऐसा ही सभी अमूर्त विज्ञानों के बारे में समझना चाहिए"।[2]

उपर्युक्त उक्ति द्वारा बर्कले ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अमूर्त विज्ञानों की कल्पना वदतोव्याघात (Contradiction in terms) है। अतः यह काल्पनिक है। गति या तो तीव्र होगी या मन्द; रेखा या तो सरल होगी या वक्र। पर वे सभी विशेष रूप होंगी। सामान्य गति वही हो सकती है जो न तो तीव्र हो और न मन्द ; सामान्य रेखा वही हो सकती है जो न सरल हो और न वक्र। ये दोनों बातें ही असम्भव हैं। अतः, बर्कले के अनुसार अमूर्त विज्ञान एक काल्पनिक विज्ञान है।

(ब) अमूर्त विज्ञानों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक कारण के साथ भाषिक कारण भी प्रस्तुत किया जाता है। मनुष्य-समाज ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सर्वग्राह्य होती है, क्योंकि सभी मनुष्य किसी शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। ये शब्द सामान्य होते हैं जो संसार की एक विशिष्ट वस्तु के लिए प्रयुक्त न होकर उस प्रकार की सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसा किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? सामान्य शब्दों का अस्तित्व ही इस प्रकार है कि सामान्य या अमूर्त विज्ञान आत्मा में पाये जाते हैं। "सामान्य प्रत्यय के संकेत बनाए जाने के कारण ही शब्द सामान्य बन जाते हैं।"[3] शब्द सदा सामान्य संकेत होते हैं। इसकी सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि प्रत्येक सामान्य शब्द की संगति में सामान्य विज्ञान पाये जाते हों। अतः, सामान्य विज्ञान हैं।

उपर्युक्त तर्क का खण्डन करते हुए वर्कले कहते हैं कि भाषा या संभाषण के लिए

---

1. वही, पृ० 12।
2. वही, पृ० 12।
3. वही, पृ० 14 में उद्धृत।

अमूर्त विज्ञानों की आवश्यकता नहीं है। पुनः, यदि अमूर्त विज्ञानों को वास्तविक मान भी लिया जाय, तो उन्हें प्राप्त करना सभी मनुष्यों के लिए सरल नहीं है। "बच्चे अमूर्त प्रत्यय नहीं कर सकते। किन्तु क्या वे आपस में बातचीत नहीं करते ? क्या यह कल्पना करना कठिन है कि जो दो बच्चे आपस में अपने गट्टे, झुनझुने और अन्य खिलौनों के बारे में भी बिना आपस में असंख्य असंगतियों के नहीं बात कर सकते हैं, वे ही अपने मन में अमूर्त प्रत्यय बनाते हैं और जिस किसी साधारण नाम का वे उपयोग करते हैं, उसके साथ वे उन्हें संलग्न करते हैं।"[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अमूर्त प्रत्ययों के न होने से संभाषण में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता।

उपर्युक्त युक्ति में बर्कले ने सामान्य के सम्बन्ध में नाममात्रवाद (Nominalism) को माना है। विज्ञान सदा विशेष ही होता है। वह सामान्य कभी नहीं हो सकता। केवल भाषा ही सामान्य होती है जो अमूर्त विज्ञानों के भ्रम को उत्पन्न करती है। किसी भाषा या शब्द का सम्बन्ध केवल एक ही अर्थ से नहीं होता। "सभी नाम समभाव से अनेक विशेष प्रत्ययों का अर्थ देते हैं।"[2] भाषा या शब्द किसी सामान्य प्रत्यय के प्रतीक नहीं हैं। फिर, "कोई इनकार नहीं करेगा कि मननशील मनुष्यों के अनेक प्रयोग में ऐसे नाम हैं जो दूसरों को कोई निश्चित विशेष प्रत्यय या परमार्थतः कुछ भी नहीं बताते। थोड़ा ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि यह आवश्यक नहीं है कि सार्थक नाम जो प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जब-जब प्रयोग में आवें, तब वे बुद्धि में उन प्रत्ययों को उत्पन्न करें जिनके लिए वे प्रयुक्त होते हैं। पढ़ने और व्याख्यान देने में नामों का प्रायः वैसा ही प्रयोग होता है जैसे बीजगणित में अक्षरों का होता है। बीजगणित में यद्यपि प्रत्येक अक्षर किसी विशेष संख्या के लिए प्रयुक्त होता है तथापि ठीक तरह से प्रश्न करने में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कदम पर वह अक्षर हमारे विचार में उस विशेष संख्या को उत्पन्न करे"।[3]

भारतीय दार्शनिकों की भाँति बर्कले का भी विचार है कि भाषा या शब्द के माध्यम से हमें तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। सत् विशिष्ट है, पर भाषा सामान्य सत् का भ्रम उत्पन्न करती है। इसीलिए उनके अनुसार सुन्दर ज्ञानवृक्ष को देखने के लिए शब्दों के पर्दे को उठाना आवश्यक है।

(स) मनोवैज्ञानिक एवं भाषिक कारणों के अतिरिक्त एक और कारण भी है जिसके आधार पर अमूर्त विज्ञानों में विश्वास किया जाता है और वह सार्वभौम सत्य सम्बन्धी कारण है। इस कारण की मुख्य बात यह है कि यदि संसार में सार्वभौम और व्यापक सत्य हैं तो अमूर्त विज्ञानों का होना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, हम इस सार्वभौम सत्य को लें कि

1. वही, पृ० 18।
2. वही, पृ० 21।
3. वही, पृ० 22। बर्कले की यह उक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। बीजगणित में जब हम किसी प्रतीक का प्रयोग करते हैं तो या तो वह किसी संख्या का प्रतीक नहीं होता अथवा वह किसी विशिष्ट संख्या का प्रतीक होता है, जैसे—यदि क =2 और ख =3 तो

$$\frac{क^2 - ख^2}{क - ख} = \frac{(क + ख)(क - ख)}{(क - ख)} = क + ख = 2 + 3 = 5$$

केवल अन्तिम चरण में ही हम विशिष्ट प्रत्यय का विचार करते हैं।

त्रिभुज के तीनों कोणों का योग बराबर हो समकोण के होता है। यह प्रमेय किसी विशेष त्रिभुज के विषय में ही न होकर सभी प्रकार के त्रिभुजों के विषय में सत्य है। ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए है कि उक्त प्रमेय किसी समत्रिबाहु या समद्विबाहु या विषमबाहु त्रिभुज-विशेष के विषय में ही सत्य न होकर सामान्य त्रिभुज के विषय में सत्य है। अतः, अमूर्त विज्ञान का अस्तित्व है। बर्कले के शब्दों में "इस प्रमेय को सार्वभौम सिद्ध करने के लिए या तो हमें प्रत्येक त्रिभुज के बारे में ऐसा सिद्ध करना चाहिए जो असम्भव है और या तो सब त्रिभुजों के लिए एक ही बार सिद्ध करने के लिए इसे त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय के बारे में सिद्ध करना है जो कि सभी विशेष त्रिभुजों को समभाव से अभिव्यक्त करता है और समभाव से अपने में भागी बनाता है।"[1] अतः, त्रिभुज का अमूर्त विज्ञान अवश्य विद्यमान होना चाहिए। समत्रिबाहु, समद्विबाहु और विषमबाहु त्रिभुज विशिष्ट त्रिभुज हैं। ये सामान्य त्रिभुज का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। सामान्य त्रिभुज वह हैं जो न तो समत्रिबाहु हों, न समद्विबाहु और न विषमबाहु ही हों, किन्तु फिर भी वह इन सबको अपने भीतर सम्मिलित करता हो। अतः सार्वभौम सत्यों की सिद्धि के लिए अमूर्त विज्ञानों का होना नितान्त आवश्यक है।

अब बर्कले सार्वभौम सत्य-सम्बन्धी कारण का खंडन करते हैं। वे सार्वभौम सत्यों के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग बराबर दो समकोण के होता है, एक सार्वभौम सत्य है जो किसी विशेष त्रिभुज पर ही लागू न होकर सभी प्रकार के त्रिभुजों पर एक साथ लागू होता है। पर उनके अनुसार यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस सत्य की सिद्धि के लिए त्रिभुज के किसी अमूर्त विज्ञान की आवश्यकता है। बर्कले के शब्दों में, "जब हम उपर्युक्त प्रमेय को सिद्ध करते हैं तब यद्यपि हम अपनी दृष्टि में उदाहरणार्थ, एक समद्विबाहु समकोण त्रिभुज लेते हैं जिसकी भुजाओं की लम्बाई सुनिश्चित है, तथापि हम विश्वस्त हो सकते हैं कि हमारा प्रमेय सभी प्रकार और आकार के समस्त त्रिभुजों के बारे में लागू होता है। ऐसा इसलिए है कि प्रमेय को सिद्ध करने में न तो समकोण को और न तो दो भुजाओं की समानता को और न तो भुजाओं की किसी निश्चित लम्बाई को उपयोग में लाया जाता है। यह सत्य है कि जिस आकृति का हम प्रयोग करते हैं, उसमें ये सभी विशेष सम्मिलित हैं, किन्तु इस प्रमेय की उत्पत्ति में इन सबका लेशमात्र भी वर्णन नहीं कहा जा सकता कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण इसलिए है कि उनमें से एक कोण समकोण के बराबर है या कि इस कोण को बनाने वाली दोनों भुजाएँ बराबर-बराबर हैं। वह पर्याप्त रूप से प्रगट करता है कि यदि यह कोण अधिक कोण होता है और भुजाएँ असमान होतीं तो भी उपुर्यक्त उपपत्ति सत्य होती। इस कारण हम निष्कर्ष निकालते हैं कि जिसे हमने एक विशेष समकोण समद्विबाहु त्रिभुज के बारे में सिद्ध किया है, वह किसी विषमकोण या विषमबाहु त्रिभुज के बारे में भी सिद्ध होता है और वह इसलिए सिद्ध नहीं होता कि हम त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय के बारे में उसे सिद्ध करते हैं।"[2] यहाँ बर्कले ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब हम किसी सार्वभौम सत्य को सिद्ध करते हैं, तो उसमें विशेष प्रत्यय का ही सहारा लिया जाता है। चूँकि उस सत्य की सिद्धि में उस विशेष प्रत्यय की किसी विशेषता का उपयोग नहीं होता है, इस कारण यदि

1. वही, पृ० 19।
2. वही पृ० 19।

उस विशेष प्रत्यय के स्थान पर कोई दूसरा विशेष प्रत्यय होता तो वे सत्य सिद्ध होते। सभी तर्कों में हम विशेष प्रत्यय से विशेष प्रत्यय तक ही अग्रसर होते हैं। सार्वभौम सत्य के नाम पर उनमें किसी प्रकार के अमूर्त विज्ञान की खोज करना व्यर्थ है।

बर्कले द्वारा प्रस्तुत अमूर्त प्रत्यय के खण्डन को हम दूसरे प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं। समत्रिबाहु, समद्विबाहु एवं विषमबाहु त्रिभुज के प्रत्यय हैं। जब भी हम किसी त्रिभुज की आकृति खींचेंगे, या उस पर विचार करेंगे, वह कोई विशेष और मूर्त आकृति ही होगी। त्रिभुज का अमूर्त प्रत्यय वही होगा जो न समत्रिबाहु हो, न समद्विबाहु और न विषमबाहु ही हो, जो असम्भव है। इस प्रकार अमूर्त प्रत्यय या विज्ञान की कल्पना वदतोव्याघात है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन किया है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्होंने सामान्य प्रत्ययों का भी खण्डन किया है। वे अमूर्त प्रत्यय और सामान्य प्रत्यय में भेद करते हैं। वे अमूर्त प्रत्ययों का तो खण्डन करते हैं, पर सामान्य प्रत्ययों का वे समर्थन करते हैं। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों को अमूर्त या सामान्य प्रतिबिम्ब (Generic Images) के रूप में लिया है। अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन में ऊपर जो उन्होंने तीन कारण दिये हैं, वे सामान्य प्रत्यय के नहीं, वरन् अमूर्त प्रत्यय का ही खण्डन करते हैं। अमूर्त प्रत्यय की कल्पना अवश्य ही वदतोव्याघात है, पर सामान्य प्रत्यय की कल्पना में ऐसी बात नहीं है। बर्कले ने स्वयं लिखा है, "कोई मनुष्य किसी आकृति को मात्र त्रिभुजाकार, बिना उसके कोणों के विशेष गुणों या भुजाओं के सम्बन्ध को सोचे हुए, सोच सकता है। यहाँ तक वह अमूर्तीकरण कर सकता है।"[1] और "मैं अपने को एक अर्थ में अमूर्त प्रत्यय करने में सक्षम पाता हूँ जैसे मैं कुछ भागों या गुणों को अन्य भागों से, जिनसे वे किसी वस्तु में संयुक्त हैं, पृथक् करके सोचता हूँ।"[2] यहाँ वे अमूर्त प्रत्यय के स्थान पर सामान्य प्रत्यय की बात कर रहे हैं। अमूर्त प्रत्यय तो असम्भव है। पर एक विशेष प्रत्यय अनेक विशेष प्रत्ययों का प्रतीक होकर सामान्य बन सकता है। इस प्रकार बर्कले मन में किसी सामान्य प्रत्यय की रचना को तो असम्भव मानते हैं, पर वे उसे अर्थ रूप से सामान्य अवश्य मान लेते हैं जो कई विशिष्ट प्रत्ययों का प्रतिनिधित्व करता है। अमूर्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा न तो अमूर्त प्रत्यय बन सकते हैं और न सामान्य प्रत्यय ही। किसी प्रत्यय के सामान्य बनने का केवल एक ही उपाय है और वह है संकेतवाद जिस पर आगे विचार किया जायेगा।

संकेतवाद और सामान्य प्रत्यय—संकेतवाद और सामान्य प्रत्यय में क्या सम्बन्ध है ? विशेष प्रत्यय सामान्य प्रत्यय के संकेत बन सकते हैं। "त्रिभुज" शब्द को समझने के लिए त्रिभुज के अमूर्त सामान्य प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संसार में ऐसा कोई अमूर्त सामान्य प्रत्यय होता ही नहीं। यदि "त्रिभुज" शब्द हमारी आत्मा में किसी विज्ञान को उत्पन्न भी करेगा तो वह किसी विशेष त्रिभुज का ही विज्ञान होगा। यह विशेष त्रिभुज का विज्ञान सभी त्रिभुजों का प्रतिनिधित्व कर सकता है और जिस सीमा तक वह अन्य त्रिभुजों का प्रतिनिधित्व करेगा, वह सामान्य प्रत्यय (General Idea) ही होगा। बर्कले सामान्य प्रत्यय का निषेध नहीं करते वे केवल अमूर्त सामान्य प्रत्ययों का ही निषेध करते हैं।

---

1. वही पृ० 19-20।
2. वही पृ० 12।

अब हम 'सामान्यत्व' का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। 'सामान्य' शब्द वह नहीं है जो एक विशेष सामान्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, सामान्य शब्द वह है जो एक वर्ग की सभी वस्तुओं के लिये सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है। बर्कले के ही शब्दों में "किसी तर्कवाक्य का सार्वभौम रूप में सत्य होना एक बात है और उसका किसी सार्वभौम सत्त्व या विज्ञान के विषय में होना दूसरी बात है।"[1] सामान्य शब्द किसी सामान्य सत्त्व या विज्ञान के लिए प्रयुक्त न होकर विशेष प्रत्ययों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं क्योंकि विशेष प्रत्यय ही एक मात्र सत् हैं। ये विशेष प्रत्यय ही सामान्य प्रत्ययों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं और ऐसी स्थिति में उन्हें "सामान्य प्रत्यय" के नाम से विभूषित किया जायेगा। यही बर्कले का सामान्य प्रत्यय का सिद्धान्त है।

जड़-तत्त्व का खण्डन
(Abolition of Materialistic Hypothesis)

बर्कले एक विज्ञानवादी और अध्यात्मवादी दार्शनिक थे। वे चर्च के पादरी भी रह चुके थे। उनके दर्शन का प्रमुख उद्देश्य ही जड़-तत्त्व का खण्डन और आत्म-तत्त्व का मण्डन करना था। लॉक ने आत्मा से स्वतन्त्र जड़-तत्त्व के अस्तित्व में विश्वास किया था जो हमारे लिए 'अज्ञेय' होता है। बर्कले विज्ञानवादी होने के कारण आत्मा से स्वतन्त्र किसी जड़-तत्त्व के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उन्होंने जड़-तत्त्व के खण्डन के लिए प्रमुख रूप से दो युक्तियाँ बताई हैं : प्रथम तार्किक युक्ति (Logical Argument) और द्वितीय ज्ञानमीमांसीय युक्ति (Epistemological Argument)। इन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

1. तार्किक युक्ति (Logical Argument)—बर्कले के अनुसार लॉक ने जो जड़-तत्त्व में विश्वास किया था, उसका एक मात्र कारण यह था कि वह अमूर्त सामान्य विज्ञानों (Abstract General Ideas) में विश्वास करता था। अतः अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन के साथ जड़-तत्त्व का भी स्वतः खण्डन हो जाता है। जिस प्रकार विशिष्ट विज्ञानों के आधार पर हम एक अमूर्त सामान्य विज्ञान की कल्पना कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आकस्मिक गुणों के सापेक्ष प्रत्ययों के आधार पर हम उनके अधिष्ठान रूप सामान्य सत् की कल्पना कर लेते हैं। बर्कले के शब्दों में "यदि हम प्रश्न करें कि सर्वाधिक कुशल दार्शनिक भौतिक द्रव्यों से क्या अभिप्राय लेते हैं तो हम उनको स्वीकार करते हुए पायेंगे कि वे इन ध्वनियों को अन्य अर्थ नहीं प्रदान करते, सिवाय इसके कि यह एक सामान्य सत् का प्रत्यय है और इसके साथ इसके आश्रित आकस्मिक गुणों का सापेक्ष प्रत्यय लगा हुआ है। सत् का सामान्य प्रत्यय मुझे अन्य सभी प्रत्ययों की अपेक्षा सबसे अधिक अमूर्त और अचिन्त्य प्रतीत होता है।"[2] जिस प्रकार

---

1. "It is one thing for a proposition to be universally true, and another for it to be about universal natures or notions."
2. वही, पृ० 40 : "If we inquire into what the most accurate philosophers declare themselves to mean by material substanse we shall find them acknowledge they have no other meaning annexed to those sounds but the idea of Being in general, together with the relative notion of its supporting accidents. The general idea of Being appeareth to me the most abstract and incomprehensible of all other."

विशिष्ट प्रत्ययों के आधार पर अमूर्त सामान्य प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती, ठीक उसी प्रकार विशिष्ट सापेक्षिक गुणों के आधार पर किसी सामान्य द्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। "इस प्रकार भौतिक द्रव्य इन शब्दों के अर्थ को जो दो शब्द बनाते हैं, उनको जब मैं सोचता हूँ, तब मुझे निश्चित ज्ञान होता है कि इन शब्दों के साथ कोई स्पष्ट अर्थ नहीं लगा हुआ है।"

प्रत्येक सत् विशेष होता है। सामान्य सत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सामान्य सत् वही होगा जो समस्त गुणों से पृथक् होगा पर ऐसा द्रव्य निरर्थक, बाधित और अचिन्त्य होगा। अतः, जड़-तत्त्व की कल्पना व्यर्थ है।

2. ज्ञानमीमांसीय युक्ति (Epistemological Argument)—बर्कले कहते हैं कि यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि तथाकथित जड़-तत्त्व का अस्तित्व है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम उसे कैसे जानते हैं ? उसे हम दो ही प्रकार से जान सकते हैं : इन्द्रियों द्वारा या बुद्धि द्वारा। "जहाँ तक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की बात है, वहाँ तक हम केवल अपने संवेदों, प्रत्ययों या उन वस्तुओं को, जिन्हें हम इन्द्रियों से साक्षात् देखते हैं, फिर हम उन्हें चाहे जिस नाम से पुकारें, जानते हैं। वे हमें सूचना नहीं देते कि मन के बाहर अदृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व है जो दृष्ट वस्तुओं के समान हैं।"[1] पुनः, यदि जड़-तत्त्व को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान सकते तो बुद्धि के द्वारा भी नहीं जान सकते। हमारे प्रत्ययों और बाह्य जड़-तत्त्व में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाया जाता। "हम जो देखते हैं, उससे कौन सी युक्ति हमें यह विश्वास दिला सकती है कि मन के बाहर वस्तुओं का अस्तित्व हैं क्योंकि जड़-तत्त्व के संरक्षक स्वयं नहीं बताते कि उनमें और हमारे प्रत्ययों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है।"[2] वास्तव में बुद्धि द्वारा दृष्ट वस्तु के आधार पर अदृष्ट का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। बुद्धि दृश्य वस्तुओं के बीच ही अनुमान कर सकती है। जड़-तत्त्व अदृष्ट या अदृश्य होने के कारण बुद्धि द्वारा अनुमेय भी नहीं है। अतः, तथाकथित जड़-तत्त्व को हम न तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा जान सकते हैं और न बुद्धि द्वारा ही। प्रत्येक अवस्था में जड़-तत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

3. कार्य-कारण युक्ति (Causal Argument)—कुछ दार्शनिकों के अनुसार बाह्य जड़-तत्त्व हमारे विज्ञानों का कारण है। वह हमारे लिए भले ही अज्ञेय हो, पर उत्तेजना (Stimulus) के रूप में वह हमारी आत्मा में विज्ञान के रूप में प्रतिक्रिया (Response) को उत्पन्न करता है। अर्थात्, जड़-तत्त्व हमारे विज्ञानों का बाह्य कारण है।

उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए बर्कले कहते हैं कि हमारे विज्ञानों के कारण रूप में तथाकथित बाह्य जड़-तत्त्व के अस्तित्व का प्रतिपादन करना अनावश्यक है, क्योंकि जिन तथ्यों की व्याख्या के लिए हमने जड़-तत्त्व का प्रतिपादन किया है, उन तथ्यों की व्याख्या बिना जड़-तत्त्व के ही कहीं और अच्छी प्रकार की जा सकती है। साथ-साथ मिथ्या भी हैं, क्योंकि यह कहना कि संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व है और हम उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, व्याघातक है। यह भी कथन व्याघातक है कि हमारी संवेदनाएँ या विज्ञान किसी ऐसी बाह्य वस्तु की अनुकृतियाँ (Copies) हैं जो स्वयं संवेदन या विज्ञान का रूप धारण नहीं कर सकतीं। विज्ञान ही हमारी आत्मा के एक मात्र विषय हो सकते हैं। सफेदी, मिठास, इत्यादि

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 18।
2. वही, 18।

जो संवेद्य गुण (Sensible Qualities) हैं, वे आत्मा के ही आत्मनिष्ठ विज्ञान हैं और अपने अस्तित्व के लिए आत्मा पर निर्भर होते हैं। चीनी, वृक्ष, पहाड़ इत्यादि वस्तुएँ जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वास्तव में ये विभिन्न संवेदनाओं या विज्ञानों के पुंज मात्र हैं।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि भले ही संवेदनाएँ आत्मा में निवास करती हों, परन्तु उन संवेदनाओं को आत्मा में उत्पन्न करने की शक्ति तो किसी वाह्य पदार्थ में ही हो सकती है। हमारी आत्मा उन संवेदनाओं को स्वयं तो उत्पन्न कर नहीं सकती। वह वाह्य पदार्थ एक जड़-तत्त्व ही तो हो सकता है। आलोचक इसके लिए हमारे समक्ष तीन कारण उपस्थित करते हैं—

(i) हमारी आत्मा के भीतर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिससे कि वह अपनी इच्छानुसार संवेदनाओं को उत्पन्न कर सके। आत्मा का कार्य संवेदनाओं को उत्पन्न करना नहीं, वरन् उन्हें ग्रहण करना है। इन संवेदनाओं की उत्पत्ति वाह्य जड़-पदार्थ द्वारा होती है।

(ii) प्रत्यय और कल्पना में अन्तर होता है। वह अन्तर इससे अधिक क्या हो सकता है कि प्रत्यक्षों का जनक कोई वाह्य पदार्थ है और कल्पनाओं का जनक स्वयं हमारी आत्मा। प्रत्यक्ष कोई कल्पना नहीं है। अतः, इसको उत्पन्न करने वाली सत्ता कोई वाह्य पदार्थ ही हो सकती है। यही जड़-तत्त्व है।

(iii) सभी आत्माओं को वाह्य वस्तुएँ लगभग एक ही रूप में दिखाई पड़ती हैं। यदि जगत् विशुद्ध आत्मनिष्ठ विज्ञान मात्र होता तो वह विभिन्न आत्माओं को भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देता। पर वात ऐसी नहीं है। हम सव लोग एक ही सामान्य जगत् का दर्शन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवात्माओं से स्वतन्त्र जड़-जगत् का अस्तित्व अवश्य है।

उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देते हुए वर्कले कहते हैं कि यह अनावश्यक और भ्रमपूर्ण विचार है। यह ठीक है कि संवेदनाओं को हमारी आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकती, किन्तु इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इन संवेदनाओं या विज्ञानों को तथाकथित जड़-पदार्थ उत्पन्न करते हैं। जड़-पदार्थ हमारे विज्ञानों के कारण क्यों नहीं हो सकते, इसके लिए वर्कले तीन तर्क उपस्थित करते हैं—

(i) जो जड़ (Matter) है, वह सजग विज्ञानों को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ? कारणता-नियम के अनुसार कारण और कार्य के स्वभाव में समानता होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो असत्कार्यवाद का दोष आ जायेगा। यही दोष जड़-पदार्थ को विज्ञानों का कारण मानने से उत्पन्न होता है। जड़-पदार्थ भौतिक (Physical) है, पर विज्ञान मानसिक (Psychical) होते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे मानसिक विज्ञानों का कारण तथाकथित जड़-पदार्थ कैसे माना जा सकता है ?

(ii) जड़-पदार्थ अशक्त (inert) और निष्क्रिय (Passive) है। जो अशक्त और निष्क्रिय है, उसके भीतर विज्ञानों को उत्पन्न करने की क्षमता ही कैसे विद्यमान हो सकती है ? विज्ञानों को वही वस्तु उत्पन्न कर सकती है जिसके अन्दर स्वयं

विज्ञानों का भण्डार हो। वह वस्तु जड़ न होकर आत्मा ही हो सकती है।

(iii) जड़-पदार्थ हमारे विज्ञानों के कारण इसलिए भी नहीं हो सकते, क्योंकि वे न तो दृष्टा रूप हैं और न दृश्य ही। जड़-पदार्थ के अदृश्य और अज्ञेय होने के कारण वह न तो ज्ञाता हो सकता है और न ज्ञेय। 'मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त' में हाइलस (Hylas) ने प्रश्न किया था कि क्या हमारे आत्मनिष्ठ विज्ञान बाह्य जड़-पदार्थों के आन्तरिक चित्र (Pictures) नहीं हो सकते ? इस प्रश्न के उत्तर में फाइलोनूस (Philonous) ने कहा था कि "एक विज्ञान, एक विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के समान नहीं हो सकता"।[1] क्षणिक, अनित्य और परिवर्तनशील विज्ञान शाश्वत, नित्य और अपरिवर्तनशील बाह्य पदार्थों के चित्र किस प्रकार हो सकते हैं ? विज्ञानों एवं बाह्य वस्तुओं की इस विभिन्नता या भेदता के आधार पर बर्कले ने निष्कर्ष निकाला कि तथाकथित जड़-पदार्थ हमारे विज्ञानों के कारण नहीं हो सकते।

कभी-कभी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों का सहारा लेकर कहा जाता है कि यह ठीक है कि बाह्य भौतिक पदार्थ हमारे विज्ञानों के कारण नहीं होते, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके कारण कोई अभौतिक पदार्थ हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार हमारे विज्ञानों के कारण कुछ 'असंवेद्य परमाणु' (Insensible Particles) हैं जो अपनी गतिशीलता के कारण हमारी आत्मा में विज्ञानों को उत्पन्न करते हैं। विज्ञान और गणित की भाषा में इन्हें वैद्युत-चुम्बकीय तरंगे (Electro-magnetic waves) कहते हैं। ये असंवेद्य परमाणु या वैद्युत-चुम्बकीय तरंगे स्वयं संवेद्य न होते हुए भी हमारे अन्दर रूप, रंग, शब्द, स्वाद इत्यादि संवेद्य गुणों को उत्पन्न करती हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये परमाणु या वैद्युत्-चुम्बकीय तरंगे वास्तव में हैं क्या ? इन्हें हम कैसे जानते हैं ? वे या तो प्रत्यक्ष के विषय होंगी या प्रत्यक्ष के विषय नहीं होंगी। यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय तो इन्हें असंवेद्य कभी नहीं कहा जा सकता, और यदि द्वितीय विकल्प स्वीकार किया जाय तो हमें उनके विषय में कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता। हम उनके अस्तित्व की भी कल्पना नहीं कर सकते। ज्यों ही हम इन्हें संवेद्य या प्रत्यक्ष के विषय मान लेते हैं, त्यों ही वे आत्मनिष्ठ होकर आत्मा के ऊपर आश्रित हो जाती हैं और स्वतन्त्र बाह्य पदार्थ की सारी कल्पना समाप्त हो जाती है। पुनः परमाणु एवं वैद्युत्-चुम्बकीय तरंगें असंवेद्य हैं, पर रंग, शब्द या स्वाद संवेद्य गुण। संवेद्य गुण असंवेद्य गुणों के चित्र (Pictures) किस प्रकार हो सकते हैं ? यदि किसी वस्तु का अस्तित्व मान्य है तो उसे संवेद्य होना चाहिए और यदि कोई वस्तु संवेद्य नहीं है तो उसका अस्तित्व नहीं है (Esse est percipi)। इस प्रकार बर्कले ने मिल (J.S. Mill) की 'संवेदना की स्थायी संभावनाओं' (Permanent Possibilities of Sensation) एवं रसेल (Russell) के संवेद्यार्थों' (Sensibilia) की कल्पना का निषेध किया है। संवेदना के रूप में ही किसी संवेद्य (Sensible)का अस्तित्व हो सकता है। रंग, स्पर्श, शब्द, स्वाद इत्यादि संवेदनाएँ बाह्य वस्तुओं में किन्हीं गुणों के समान ही होती हैं। वे उपगुण के विज्ञान होने के कारण आत्म-सापेक्ष होती हैं। अतः बर्कले ने निष्कर्ष निकाला कि असंवेद्य परमाणुओं या वैद्युत्-चुम्बकीय तरंगों

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 8 "...an idea can be like nothing but an idea."

या संवेद्यार्थों की कल्पना वदतोव्याघात है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि जड़-पदार्थ या उसका कोई अन्य सूक्ष्म रूप हमारी आत्मा के भीतर विज्ञानों को उत्पन्न नहीं कर सकता तो वह कौन-सी सत्ता है जो हमारे भीतर विज्ञानों को उत्पन्न करती है। यह हमने पहले देख लिया कि हमारी वैयक्तिक आत्मा इन विज्ञानों का कारण नहीं हो सकती। तो फिर इन विज्ञानों का जनक कौन है ? सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और कारण में समानता होनी चाहिए। विज्ञान मानसिक, सजीव और दृश्य रूप हैं। यदि विज्ञान मानसिक हैं तो उनका कारण भी मानसिक (आत्मा) होना चाहिए। यदि विज्ञान सजीव (Lively) हैं तो उनका कारण भी सजीव होना चाहिए और यह कारण तथाकथित जड़-पदार्थ कदापि नहीं हो सकता। यदि विज्ञान दृश्य रूप है तो उनका कारण कोई द्रष्टा ही हो सकता है, क्योंकि किसी द्रष्टा में ही दृश्य विद्यमान हो सकते हैं। जड़-पदार्थ भौतिक और निष्क्रिय है तथा जिसके भीतर स्वयं विज्ञानों का अभाव है, वह हमारे विज्ञानों का किस प्रकार कारण हो सकता है? मानसिक, सजीव और दृश्य-रूप विज्ञानों का कारण कोई चेतन (Thinking), संकल्पवान् (Willing) आत्मा (Self) ही हो सकती है।

(i) **चेतन** कारण ही हमारी आत्मा के भीतर मानसिक विज्ञानों को उत्पन्न कर सकता है।

(ii) **संकल्पवान्** कारण के भीतर ही हमारे अन्दर विज्ञानों को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान हो सकती है।

(iii) **द्रष्टा** ही हमारे भीतर दृश्य-रूप विज्ञानों को उत्पन्न कर सकता है। अतः, मानसिक सजीव व दृश्य-रूप विज्ञानों का कारण तथाकथित जड़-पदार्थ न होकर आत्मा है। पर यह कारण कोई वैयक्तिक आत्मा नहीं हो सकती। वैयक्तिक आत्माएँ विज्ञानों को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। दूसरी बात यह है कि विज्ञान पर्याप्त शक्तिशाली (Strong), सजीव (Lively), स्पष्ट (Distinct) और स्थिर (Steady) होते हैं जिनको ग्रहण करने में एक प्रकार की अनिवार्यता होती है। पुनः हमारे विज्ञान छिन्न-भिन्न, विविक्त और असम्बद्ध नहीं होते। उनमें नियमितता (Regularity), व्यवस्था (Order), संसक्तता (Coherence) और सामन्जस्य पाये जाते हैं। इससे प्रकट है कि हमारे विज्ञानों का कारण विशिष्ट आत्माएँ न होकर एक विशाल, अनन्त और शक्तिशाली आत्मा है जिसके अन्दर विज्ञानों के अपार अम्बार हैं। यह विशाल और शक्तिशाली आत्मा अन्य कुछ नहीं, वरन ईश्वर (God) ही है। कल्पना के विज्ञानों को जीवात्माएँ उत्पन्न करती हैं, पर वास्तविक प्रत्यक्षों को ईश्वर उत्पन्न करता है। ईश्वर द्वारा उत्पन्न विज्ञानों की सुसम्बद्ध समष्टि को ही प्रकृति (Nature) कहते हैं और उनके आनन्तर्य की नियत नियमिता (Constant Regularity) को प्रकृति के नियम (Laws of Nature) कहा जाता है।

उपर्युक्त तर्कों के अधार पर बर्कले ने सिद्ध किया कि आत्मा से स्वतन्त्र "अचेतन वस्तुओं का अस्तित्व निरर्थक शब्द है अथवा व्याघातक है।"[1] तथाकथित बाह्य जड़-पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। लॉक का यह अज्ञेय बाह्य तत्त्व जिसके विषय में वे कहते हैं कि यह "कुछ है, किन्तु मैं नही जानता कि क्या है" यह "मूर्खतापूर्ण चेतना शून्य जड़"

---

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 3 :........the absolute existence of unthinking things without any relation to their being perceived, that is to me perfectly unintelligible.'

वास्तव में शून्य है।[1]

पुनः बर्कले के अनुसार, जड़-पदार्थ के प्रत्यय में अनवस्था-दोष (Infinite Regress) पाया जाता है। "भौतिकवादी कहते हैं कि जड़-पदार्थ विस्तार का आश्रय है। विस्तार का जो आश्रय है, उसे स्वयं विस्तृत होना चाहिये, अन्यथा वह विस्तार का आश्रय नहीं हो सकेगा।" "फलतः प्रत्येक भौतिक पदार्थ विस्तार का आश्रय होने के कारण स्वतः अन्य विस्तार को अवश्य रखता है जिसके द्वारा यह आश्रय होने के योग्य होता है और एवमादि अनवस्था तक।"[2] भौतिकवादी इसके उत्तर में कह सकते हैं कि यद्यपि भौतिक पदार्थ विस्तार का आश्रय है, किन्तु वह स्वयं विस्तृत नहीं है। इसके विरोध में बर्कले कहेंगे कि इस प्रकार का भौतिक पदार्थ सर्वथा गुणरहित होगा और गुणरहित होने के कारण शून्य या असत् होगा। लॉक के जड़-तत्त्व के प्रतिकूल बर्कले की आलोचनाओं का सारांश यह है कि (i) जड़-तत्त्व की कल्पना व्याघातक है। और (ii) यह अचिन्त्य होने के कारण असम्भव है।

सत्ता अनुभवमूलक है।
(Esse est percipii)

जड़-तत्त्व का खण्डन करने के बाद बर्कले अपनी प्रसिद्ध अभ्युक्ति (Dictum) की स्थापना में अग्रसर होते हैं जिसका मूल मन्तव्य यह है कि सत्ता अनुभवमूलक है। इसे 'दृश्यते इति वर्तते', 'यत् सत् तद् दृश्यम्' या 'सत्यम् दृश्यम् या यत् दृश्यम् तद् सत्' इत्यादि रूपों में वर्णित किया जाता है। इन सभी उक्तियों का अर्थ एक ही है और वह यह है कि सत् वही है, जो दृश्य है और जो दृश्य नहीं है, उसे सत् की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यहाँ बर्कले ने सत्यं एवं दृश्यम् को पर्यायवाची शब्दों के रूप में लिया है। सत्य वही है जो अनुभव का विषय हो अथवा जिसका अनुभव किया जा सके। 'सत्ता अनुभवमूलक है' (Esse est percipii)। इस उक्ति के दो अर्थ हैं और दोनों अर्थ जड़वाद का खण्डन एवं विज्ञानवाद का मण्डन करते हैं—

(i) प्रथम अर्थ के अनुसार 'सत्ता अनुभवमूलक है' इसका अभिप्राय यह है कि उसी की सत्ता मान्य है जो अनुभावक या अनुभवकर्ता (Percipere) है। किसी वस्तु की सत्ता अनुभव करने में है। इस दृष्टि से आत्माएँ (Selves) और ईश्वर (God) सत्ता की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। तथाकथित जड़-पदार्थ को सत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अचेतन और विज्ञान विहीन है। उसमें अनुभव करने की क्षमता विद्यमान नहीं है।

(ii) द्वितीय अर्थ के अनुसार 'सत्ता अनुभवमूलक है' इसका अभिप्राय यह है कि उसी की सत्ता मान्य है जो अनुभव का विषय हो सकता है (To be perceived)। किसी वस्तु की सत्ता अनुभावित होने में है। इसके भीतर विज्ञानों को रखा जा सकता है, क्योंकि बर्कले के अनुसार विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हैं। सभी विज्ञान आत्मनिष्ठ होते हैं। तथाकथित जड़-पदार्थ जो अज्ञेय है और हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकता, कभी भी सत्ता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। विज्ञान के दो रूप हैं। संवेदन के विज्ञान और स्वसंवेदन

---

1. The stupid thoughtless somewhat, something I know not what is really nothing.
2. पांडेय, संगमलाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 142।

के विज्ञान। संवेदनों की सृष्टि ईश्वर करते हैं और स्वसंवेदनों की सृष्टि आत्मा करती है। लाइब्नित्स ने कहा था—"चिदणु एवं उनके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त संसार में किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है।" बर्कले ने कहा—"आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है।"

उपर्युक्त दोनों अर्थों में 'सत्ता अनुभवमूलक है' की व्याख्या करते हुए बर्कले अपने विज्ञानवाद की स्थापना करते हैं। आत्मा से स्वतंत्र किसी वस्तु की सत्ता असम्भव है। वस्तुवाद (Realism) के अनुसार संसार की वस्तुओं की सत्ता आत्मा से बिलकुल स्वतंत्र है। वस्तुवाद जड़वाद का पोषक है। इसके विपरीत, विज्ञानवाद (Idealism) के अनुसार संसार की वस्तुओं की सत्ता सदा किसी-न-किसी आत्मा के ऊपर आश्रित होती है। आत्मा और उसके विज्ञान ही एकमात्र सत् हो सकते हैं। अपने विज्ञानवाद की व्याख्या करते हुए बर्कले कहते हैं, "वह मेज जिस पर मैं लिखता हूँ, मैं कहता हूँ कि उसका अस्तित्व है, क्योंकि मैं उसे देखता और उसका स्पर्श करता हूँ। वहाँ गन्ध है, अर्थात् उसका घ्राण हुआ ; वहाँ एक ध्वनि है, अर्थात् उसका श्रवण हुआ ; वहाँ एक वर्ण या आकृति है, अर्थात् दृष्टि या स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष हुआ। इन तथा इनके समान अन्य अभिव्यक्तियों द्वारा मैं केवल इतना ही समझ सकता हूँ, क्योंकि अचेतन वस्तुओं के निरपेक्ष अस्तित्व की बात करना जो किसी के द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं है, हमारे लिए बिलकुल ही बोधगम्य नहीं है, उनका अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकृत होने में ही है।[1] यह मानना कि वर्ण या आकृति जो दृष्ट नहीं है, रस है जो चखा नहीं गया है, ध्वनि है जो सुनी नहीं गई है, शीतलता या उष्णता है जो स्पर्श में नहीं आई है, आदि असंगत और बाधित अपलाप हैं। इस प्रकार "अन्तरिक्ष की समस्त ध्वनि और पृथ्वी की सकल सामग्री, एक शब्द में, वे सभी पिण्ड जो जगत् की वृहत् रचना के घटक हैं, बिना मन के कोई अस्तित्व नहीं रखते, अर्थात् उनका अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकृत या ज्ञेय होने में ही है।"[2]

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा हमें जो साक्षात् अनुभव होता है, उसे संवेदन-प्रत्यय कहा जाता है। इन संवेदन-प्रत्ययों के संघात को वस्तु-प्रत्यय कहते हैं। उदाहरण के लिए, सेव एक वस्तु-प्रत्यय है, पर इसका रस, वर्ण, आकार इत्यादि संवेदन-प्रत्यय हैं। जहाँ तक संवेदन-प्रत्ययों की बात है, बर्कले का यत् सत् तद् दृश्यम् वाला सिद्धान्त पूरी तरह लागू होता है। पर यही बात वस्तु-प्रत्यय पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होती। वस्तु-प्रत्यय के ज्ञान के समय हमें उन सभी प्रत्ययों का एक साथ ज्ञान नहीं होता जो वस्तु-प्रत्यय के घटक हैं। उदाहरण के लिए, नाशपाती खाते समय उसका स्वाद, रंग तथा आकार ज्ञात संवेदन-प्रत्यय हैं, पर उसके अन्य घटक, जैसे

---

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त 3 : "The table I write on I say exists, that is, I see and feel it,.......There was an odour, that is, it was smelt, there was a sound, that is, it was heard; a colour of figure, and it was perceived by sight or touch. This is all that I can understand by these and the like expressions. For as to what is said of the absolute existence of unthinking things without any relation to their being perceived, that is to me perfectly unintelligible. Their esse est percipi."
2. वही, 6 : ".......that is all choir of heaven and the furniture of the earth, in a word, all those bodies which compose the mighty frame of the world, have no any subsistence without a mind, that their being is to be perceived or known."

वजन, घनत्व इत्यादि अज्ञात संवेद्यार्थ होते हैं। वस्तु-प्रत्यय इन्द्रिय-दत्तों और संवेद्यार्थों (Sensibilia) दोनों से निर्मित होता है। इन्द्रिय-दत्तों या संवेदन-प्रत्ययों के लिए सत्यं दृश्यम् (Esse est percipii) का सिद्धान्त लागू होता है, पर संवेद्यार्थों के लिए सत्यं दृश्यम्भावी (Esse est percipii posse) का सिद्धान्त लागू होता है। वस्तु-प्रत्यय के लिए आधा सत्यं दृश्यम् का सिद्धान्त और आधा सत्यं दृश्यम्भावी का सिद्धान्त लागू होता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है और वह यह है कि सत्यं दृश्यम् किसी वस्तु के अस्तित्व का केवल एक पक्ष है। उसका दूसरा पक्ष उसकी उत्पत्ति का कारण है। हमारे कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं जो दृश्य या संवेदन होने के साथ-साथ हम उन्हें उत्पन्न भी करते हैं, जैसे कल्पना, स्वप्न इत्यादि। इसके विपरीत, हमारे कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं जो दृश्य या संवेदन तो होते हैं, पर हम उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते। वे इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) या सम्पृक्त (Imprinted) होते हैं। अतः यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन इन्द्रिय-संवेदनों की उत्पत्ति कौन करता है ? हम पहले ही देख चुके हैं कि उनकी उत्पत्ति ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं कर सकती। ईश्वर उनकी उत्पत्ति का कारण है। अब, जिस प्रकार कल्पनाएँ एवं स्वप्न अपनी दृश्यता और अस्तित्व के लिए जीवात्माओं पर आश्रित होते हैं, ठीक उसी प्रकार संवेदन-प्रत्ययों की दृश्यता और अस्तित्व ईश्वर पर आश्रित होता है। सत्यं दृश्य (Esse est percipi) संवेदन-प्रत्ययों का अनिवार्य कारण तो है पर पर्याप्त कारण नहीं है। उनका पर्याप्त कारण ईश्वर द्वारा उत्पन्न होना (Esse est causari) ही हो सकता है। उपर्युक्त दोनों सूत्रों को संयुक्त करके हम कह सकते हैं कि संवेदन-प्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप 'सत्यं दृश्यम् कार्यम्' (Esse est percipi causari) है। 'सत्यं दृश्यम्' उनका अनिवार्य कारण है और 'सत्यं कार्यम्' उनका पर्याप्त कारण है।

वस्तुवाद का खण्डन—कुछ भौतिकवादियों का कथन है कि वस्तुओं को हम वास्तविक रूप में बाहर अपने से कुछ दूरी पर देखते हैं। वे मन से बिलकुल स्वतंत्र होती हैं। पर बर्कले के अनुसार बात ऐसी नहीं है। वे भी मन पर आश्रित होती हैं। "हम प्रायः स्वप्न में वस्तुओं को बड़ी दूरी पर स्थित देखते हैं किन्तु तो भी यह माना जाता है कि इन वस्तुओं का अस्तित्व मात्र मन में है।" आगे इसी बात को और स्पष्ट करते हुए बर्कले कहते हैं, "मैं कहता हूँ कि इसे सभी लोग स्वीकार करते हैं कि हम उन विज्ञानों द्वारा भी प्रभावित हो सकते हैं जिनके सदृश बाह्य जगत् में कोई वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं। स्वप्न, उन्माद एवमादि घटनाएँ इस बात को निर्विवाद सिद्ध करती हैं। अतः, स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुओं को मानना हमारे प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि कभी-कभी वे बिना बाह्य वस्तुओं के घटित और उत्पन्न होते हैं और सम्भवतः जिस प्रकार उनको हम वर्तमान समय में देखते हैं, उसी प्रकार वे सदैव उत्पन्न हो सकते हैं।"[1] स्वप्न, उन्माद, विभ्रम इत्यादि

1. वहीं, 18 : "I say it is granted on all hands and what happens in dreams, frenzies and the like, puts it beyond dispute—that it is possible we might be affected with all the ideas we have now, though there were no bodies existing without resembling them. Hence it is evident the supposition of external bodies is not necessary for producing our ideas ; since it is granted they are produced sometimes and might possibly be produced always in the same order, we see them in at present without their concurrence."

घटनाएँ इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि बाह्य वस्तुओं के बिना भी प्रत्यय मन में उत्पन्न हो सकते हैं। बर्कले के अनुसार ऐसा प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में भी होता है।

क्या जगत् असत् है ?—बर्कले ने जड़-तत्त्व का खण्डन और आत्म-तत्त्व का मण्डन किया है। पर क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके लिए जगत् बिलकुल मिथ्या है ? बर्कले ने जगत् का पुनर्मूल्यांकन अवश्य किया और कहा कि जगत् भौतिक न होकर पूर्णतया आध्यात्मिक है। इससे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध न होकर उसकी वास्तविकता ही सिद्ध होती है। जिस अर्थ में शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा, उस अर्थ में बर्कले का जगत् मिथ्या नहीं है। सच पूछा जाय तो बर्कले का दर्शन शंकराचार्य के दर्शन के बिलकुल विपरीत है। शंकराचार्य के अनुसार "यद् दृश्यं तन् मिथ्या' अर्थात् जो दृश्य है, वह मिथ्या है। इसके विपरीत बर्कले ने कहा कि 'यद् दृश्यं तत् सत्' अर्थात् जो दृश्य है, वह सत् है। दृश्यता-सम्बन्ध के सन्दर्भ के अतिरिक्त किसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जब बर्कले 'जो दृश्य है, वह सत् है' को स्वीकार करते हैं तो वे दृश्य जगत् को मिथ्या किस प्रकार घोषित कर सकते हैं ? उनके लिए दृश्यता ही सत् का लक्षण है। उन्हीं के शब्दों में, "जो कुछ भी हम देखते हैं, सुनते हैं अवितथ है। सृष्टि वास्तविक है तथा वास्तविकता और गल्प में भेद पूर्णतया विद्यमान है।"[1] "सत्यता या वास्तविकता का यहाँ जो अर्थ किया गया है, उसमें स्पष्टतया सभी वनस्पति, तारे, धातुएँ तथा समान्यतया भौतिक जगत् के सभी अंग हमारे सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उतने ही वास्तविक सत् हैं जितने वे किसी अन्य परिप्रेक्ष्य में हो सकते हैं।"[2] प्रत्येक वस्तु प्रत्यय या विज्ञान है और विज्ञान होने के कारण वास्तविक है, क्योंकि विज्ञान ही एकमात्र सत् है। यही बर्कले का विज्ञानवाद है।

विज्ञानवाद की आगे व्याख्या करते हुए बर्कले कहते हैं कि संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे किसी-न-किसी आत्मा के आश्रित हैं या किसी मन के भीतर हैं। इस कथन को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, जब मैं वस्तुओं को मन के अन्दर स्थित या इन्द्रियों पर संपृक्त कहता हूँ, तो मेरा अर्थ इन शब्दों का स्थूल शाब्दिक अर्थ नहीं है। मेरा वैसा अर्थ नहीं है जैसा, वस्तुएँ किसी स्थान के अन्दर हैं या मोम पर मोहर का संस्कार लगाया जाता है इन वाक्यों का अर्थ है। मेरा अर्थ केवल इतना है कि मन उनको समझता है या देखता है।"[3] अतः यहाँ बर्कले के अनुसार 'मन के बाहर' का वास्तविक अर्थ मन से देशतः बाह्य नहीं है, बल्कि 'मन से स्वतंत्र' है। संसार की प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी मन से सम्बन्धित अवश्य होती है।

यहाँ 'वस्तु' शब्द का अभिप्राय समझ लेना आवश्यक है। बर्कले 'वस्तुओं' (Things) के स्थान पर 'विज्ञान' (Idea) शब्द का प्रयोग करते हैं। इसके दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि साधारण भाषा में वस्तुओं को आत्मा के बाह्य स्थित माना जाता है जो दार्शनिक दृष्टि से ठीक नहीं है : दूसरा यह है कि 'वस्तु' के भीतर विज्ञानों के अतिरिक्त आत्माएँ भी समाहित हो जाती हैं। आत्माओं को पृथक् करने के लिए ही वे वस्तुओं के स्थान पर विज्ञानों का

---

1. वही, 34 : "Whatever we see, feel, hear or anywise conceive or understand, remains as secure as ever, and is as real as ever. There is a rerum natura, and the distinctions between realities and chimeras retain its full force."
2. वही।
3. हाइलस और फाइलोनूस के संवाद।

प्रयोग करते हैं। बर्कले के लिए विज्ञानों का समुच्चय ही 'वस्तु' है। वस्तुएँ विज्ञानमय हैं। यहाँ कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि यदि बाह्य वस्तुएँ केवल मानसिक विज्ञान हैं, तो क्या हम विज्ञानों को खाते हैं, विज्ञानों को पीते हैं और विज्ञानों को पहनते हैं ? बर्कले का उत्तर है कि यदि हमें 'विज्ञान' शब्द से चिढ़ है तो हम इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि हम उन वस्तुओं को खाते, पीते और पहनते हैं जिनका हम इन्द्रियों द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष करते हैं। केवल इसी अर्थ में वस्तुओं को विज्ञान कहा जाता है। बर्कले ने इसका एक और अच्छा उत्तर दिया है। उनकी प्रसिद्ध युक्ति है, "मैं वस्तुओं को विज्ञान नहीं बनाता, मैं विज्ञानों को वस्तु बना रहा हूँ।" विज्ञान ही एकमात्र सत्य है और उनकी सत्ता आत्मा के बाहर नहीं है। आत्मा का अर्थ यहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं। बहुत से विज्ञान मेरी आत्मा के बाहर हैं, पर परमात्मा के बाहर नहीं। संसार के सभी दृश्य पदार्थ जैसे घट, पट, मेज, कुर्सी, पौधे, पेड़ इत्यादि मेरे विज्ञान होते हुए भी अपने अस्तित्व के लिए मेरी आत्मा पर निर्भर नहीं हैं; वे परमात्मा के ऊपर आश्रित हैं। परमात्मा के ऊपर आश्रित होने के कारण जगत् कभी असत् नहीं हो सकता।

जगत् केवल सत् ही नहीं है, वह स्थायी (Permanent) भी है। मान लीजिए कि मेरे समक्ष मेज रक्खी हुई है। मेज कोई 'बाह्य जड़-पदार्थ' नहीं है, वह 'विज्ञान मात्र' है और आत्म-सापेक्ष है। जब तक मैं मेज देख रहा हूँ, उसका अस्तित्व है। पर यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि मैं कमरे के बाहर चला जाऊँ तो क्या मेज का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा ? बर्कले का उत्तर है : नहीं। इस बात की वे तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं—

(1) यदि किसी वस्तु को हम साक्षात् नहीं देख रहे हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व अवश्य है क्योंकि यदि हम उसे देखने की स्थिति में होते तो वस्तु हमें अवश्य दिखाई देती।

(2) यदि हम उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं तो कोई अन्य आत्मा उसका प्रत्यक्ष कर रही होगी।

(3) यदि कोई आत्मा उसका प्रत्यक्ष नहीं कर रही है, ईश्वर तो उसका प्रत्यक्ष अवश्य ही कर रहा है।

वस्तुओं के स्थायित्व के लिए बर्कले अपनी तीसरी व्याख्या पर विशेष बल देते हैं। ईश्वरीय प्रत्यक्ष ही वस्तुओं के सातत्य और स्थायित्व का आधार है। इस प्रकार ईश्वर के लिए दृष्टि ही सृष्टि है। वैयक्तिक आत्माओं पर दृष्टि सृष्टिवाद लागू नहीं होता। ईश्वर-सृष्ट होने के कारण जगत् असत् नहीं है। ईश्वर जगत् का अधिष्ठान है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास कर बर्कले ने भौतिकवाद के खण्डन से उत्पन्न असंगतियों को दूर कर दिया। विज्ञानों को न तो वैयक्तिक आत्माएँ उत्पन्न करती हैं और न तथा-कथित जड़-पदार्थ ही। उनको उत्पन्न करने वाली वास्तविक सत्ता ईश्वर ही है। बर्कले द्वारा वर्णित 'विज्ञान' के इस गम्भीर अर्थ को न समझकर तथा उसे प्रचलित अर्थ में बाह्य वस्तुओं द्वारा जनित संस्कार मानकर लोगों ने बर्कले का बड़ा मखौल उड़ाया। उनके द्वारा बाह्य पदार्थों के खण्डन को सुनकर डॉ० जान्सन ने जोर से जमीन पर पैर पटका और सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जगत् विज्ञानमय नहीं है। पर इससे बर्कले का मत खण्डित नहीं होता। जमीन पर पैर पटकने से हमें किसी

बाह्य जड़ पदार्थ का बोध न होकर विज्ञानों का ही तो बोध होता है। हम अपने अनुभव को संचालन-संवेदना और स्पर्श-संवेदना से पृथक् नहीं कर सकते। संवेदन-विज्ञान होने के कारण वे मानसिक या आत्मसापेक्ष हैं। उन्हें आत्मा से स्वतन्त्र भौतिक पदार्थ नहीं माना जा सकता। आश्चर्य तो तब होता है जब वारनाक जैसे विश्लेषणवादी दार्शनिक ने जान्सन की आलोचना को सही सिद्ध किया। उन्होंने फरमाया कि जान्सन ने जिसे मारा वह सचमुच मन के बाहर है। जान्सन की तरह बाइरन ने भी कहा कि "यदि जड़-तत्त्व नहीं है और बर्कले ने इसे सिद्ध किया है तो उनके कथन में कोई तत्त्व नहीं।"[1] ये सभी आक्षेप बिलकुल निर्मूल एवं तथ्यहीन हैं क्योंकि बर्कले ने 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किसी 'काल्पनिक विचार' के लिए न कर 'प्रतीति-विषय' के रूप में किया है। ईश्वर द्वारा उत्पन्न तथा वैयक्तिक आत्माओं के प्रतीति का विषय होने के कारण विज्ञान वास्तविक और सत्य ही होते हैं।

विषयनिष्ठ विज्ञानवाद

(Objective Idealism)

कुछ दार्शनिकों एवं आलोचकों ने बर्कले के दर्शन में आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism), मानसवाद (Mentalism) एवं अहंमात्रवाद (Solipsism) देखने की चेष्टा की है। इस मत के अनुसार हमारी आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। जीवात्मा ही इन्द्रिय-संवेदनों द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद सत्यं दृश्यं (Esse est percipi) का तार्किक परिणाम है। यदि अनुभववाद को माना जाय तो अहंमात्रवाद से बचा नहीं जा सकता। यह मत तार्किक दृष्टि से भले ही सुसंगत दीख पड़े, पर व्यावहारिक दृष्टि से इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। बर्कले के दर्शन का अभिप्राय न आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद है, न अहंमात्रवाद और न मानसवाद ही। जब उन्होंने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि जीवात्मा जगत् की सृष्टि नहीं करता, जीवात्मा का कार्य केवल ईश्वर द्वारा प्रेषित विज्ञानों को ग्रहण करना ही है, तो उनके दर्शन में आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद का या अहंमात्रवाद का दर्शन कैसे किया जा सकता है ? अपनी आत्मा के अतिरिक्त बर्कले अन्य आत्माओं एवं सबके ऊपर ईश्वर में विश्वास करते हैं। फिर उनके दर्शन में अहंवाद का दोष कैसे देखा जा सकता है ? हमारे विज्ञान व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होते हैं, अतः, उनके दर्शन में मानवकेन्द्रवाद (Anthropocentrism) का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता। तो फिर उनके दर्शन में इस प्रकार के दोष क्यों लगाए जाते हैं ?

बर्कले के दर्शन में इस प्रकार के दोषों को देखने का एक कारण यह हो सकता है कि अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद और मानव केन्द्रवाद का प्रतिपादन किया था। पर आगे चलकर उन्होंने आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद के स्थान पर ईश्वरनिष्ठ विज्ञानवाद (Theological Idealism) या विषयनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) तथा मानवकेन्द्रवाद के स्थान पर ईश्वरकेन्द्रवाद (Theocentrism) की स्थापना की। पर सच पूछा जाय तो बर्कले की रचनाओं में मानवकेन्द्रवाद और ईश्वरकेन्द्रवाद, दोनों साथ-साथ पाए जाते हैं। बर्कले ने अपनी किसी रचना में ईश्वरकेन्द्रवाद, या वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद का परित्याग

1. "If there is no matter and (Berkeley) has proved it, is no matter what he said."

नहीं किया। यह ठीक है कि बर्कले ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद पर विशेष बल दिया था। पर इसे इन्होंने कभी भी पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया। अतः, यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ से ही बर्कले का मन्तव्य वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद या ईश्वरनिष्ठ विज्ञानवाद की स्थापना करना था। इस मत के अनुसार जगत् वैयक्तिक आत्माओं के भले ही बाहर हो, पर वह ईश्वरीय आत्मा के बाहर नहीं हो सकता। आत्मबाह्य वस्तु के अस्तित्व में विश्वास आत्मव्याघातक है। आत्मा (जीवात्मा एवं परमात्मा) और उसके विज्ञान ही एक मात्र सत् हैं। दृश्य जगत् के साथ आत्माओं में विश्वास करने के कारण ही बर्कले ने अपने इस सूत्र को कि "सत्ता अनुभवमूलक है", बाद में इस रूप में परिवर्तित कर दिया कि "सत्ता अन्तर्बोधमूलक है" (Esse est Concipi)। जो इस सूत्र को ध्यान में नहीं रखते, वे ही बर्कले के विरुद्ध आत्मनिष्ठवाद, अहंमात्रवाद या मानसवाद का मिथ्या आरोप लगाते हैं।

यहाँ 'जगत् ईश्वराश्रित है' इसका अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। सभी विज्ञान मूल रूप में ईश्वरीय मन में स्थित हैं। इसका क्या अर्थ है ? क्या विज्ञान जिस प्रकार जीवात्माओं में स्थित रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर में भी स्थित रहते हैं ? स्पष्ट है कि नहीं। ईश्वर विज्ञानों का द्रष्टा न होकर उनका कर्त्ता होता है। हमें विज्ञान बाहर से प्राप्त होते हैं, अतः हमें उनका प्रत्यक्ष होता है। पर ईश्वर को बाहर से किसी विज्ञान के प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः, सत्यं दृश्यं (Esse est percipi) केवल जीवात्मा के लिए ही सही हो सकता है, ईश्वर के लिए नहीं। अतः, हम कह सकते हैं कि बर्कले के मत का सही रूप 'सत्यं दृश्यं कार्य' (Esse est percipi causari) ही हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप
(Nature of the Self)

लॉक ने प्रत्यक्ष जगत् की सिद्धि के लिए आनुभविक प्रणाली (Empirical Method) का प्रयोग किया जिसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता उसके प्रत्यक्षीकृत होने में है। पर क्या हमें आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है या हो सकता है ? आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ? तो फिर आत्मा का हमें किस प्रकार ज्ञान प्राप्त होता है ? क्या हमें आत्मा का ज्ञान कभी नहीं होता ? और यदि होता भी है तो किस प्रकार होता है ?

आत्मा के ज्ञान के लिए बर्कले ने बोधमय प्रणाली (Notional Method) का उपयोग किया है जिसके अनुसार हमें आत्मा का विज्ञान (Idea) न होकर केवल संबोध (Notion) ही होता है। मानव-ज्ञान के सिद्धान्त के द्वितीय संस्करण में बोध की व्याख्या करते हुए बर्कले लिखते हैं, "यह कहा जा सकता है कि हम अपने मन, आत्मा या कर्तव्य का कुछ ज्ञान या बोध रखते हैं और हमारे पास पारिभाषिक अर्थ में इसका विज्ञान नहीं हैं। इसी प्रकार हम जानते हैं कि हमारे पास वस्तुओं या विज्ञानों के सम्बन्धों का बोध है। ये सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से, विज्ञानों या वस्तुओं से भिन्न हैं, क्योंकि सम्बन्धों के प्रत्यक्ष के बिना विज्ञानों या वस्तुओं का प्रत्यक्ष सम्भव है। मुझे प्रतीत है कि विज्ञान, आत्मा और सम्बन्ध अपने-अपने प्रकार के अधिकरण हैं और जो भी हम जानते हैं कि जिनका भी हम बोध रखते हैं, उनमें से प्रत्येक का संकेत 'विज्ञान' शब्द से करना अनुपयुक्त है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बर्कले

1. पांडेय, संगमलाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 87-88।

के लिए द्रष्टा का बोध वैसे ही प्रदत्त है जैसे दृश्य का विज्ञान प्रदत्त होता है।

बोध और विज्ञान में अग्रलिखित भेद पाए जाते हैं—

1. विज्ञान इन्द्रिय-संवेद्य (Sensible) होता है, पर बोध बुद्धिगम्य (Intelligible) होता है।
2. इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने के कारण विज्ञान पशुओं को भी सुलभ है, पर बोध केवल मानवों को ही हो सकता है, पशुओं को नहीं। बोध वस्तु ज्ञान से भिन्न अर्थज्ञान है जिसे पशु कदापि नहीं प्राप्त कर सकते।
3. बोधमय ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है। यह स्मृति-ज्ञान के समान परोक्ष या व्यवहित ज्ञान नहीं है। विज्ञान के विषय में यह बात लागू नहीं होती।
4. विज्ञान का ज्ञान विशेषों का ज्ञान है, पर बोध द्वारा हमें सामान्य या सार्वभौम ज्ञान प्राप्त होता है।

बोधमय प्रणाली द्वारा हमें आत्माओं, मानसिक व्यापारों एवं विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि बोधमय ज्ञान के सभी विषय आध्यात्मिक हैं। आत्माएँ, उनके व्यापार एवं विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध सभी आध्यात्मिक हैं। बाह्य विज्ञान बोधमय ज्ञान के विषय कदापि नहीं हो सकते। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि बोधमय ज्ञान के विषय का विज्ञानों से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आत्माएँ विज्ञानों का प्रत्यक्ष करती हैं। मानसिक व्यापार विज्ञानों के विषय में ही होने वाले व्यापार होते हैं। इसी प्रकार विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों का विज्ञानों से सम्बन्ध होता ही है। इस प्रकार यद्यपि विज्ञान बोधमय ज्ञान के विषय नहीं हैं, तथापि उन्हें बोधमय ज्ञान के विषय का विषय कहा जा सकता है। विज्ञान आत्मा के विषय हैं और आत्मा बोधमय ज्ञान का विषय है।

बर्कले द्वारा बोध को सामान्य कहे जाने के कारण कुछ विद्वानों का यह विचार है कि वह एक प्रकार का अमूर्त प्रत्यय (Abstract Idea) है। पर यह मत ठीक नहीं है। बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों का तो खण्डन किया है, पर बोध का समर्थन। अमूर्त विज्ञानों का खण्डन एवं बोध का समर्थन दोनों युगपद होने के कारण बोध को अमूर्त विज्ञान नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार एडमण्ड हुसर्ल (Edmund Husserl) ने कहा कि स्वसंवेदन-विज्ञान (Idea of Reflection) ही बर्कले का बोध है। पर बात ऐसी नहीं है। स्वसंवेदन-विज्ञान आन्तरिक इन्द्रिय के विषय हैं जो सदा विशेष ही होते हैं। किन्तु बोध का इन्द्रिय-ज्ञान से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त वह सामान्य ज्ञान होता है। इन दो कारणों से स्वसंवेदन विज्ञान और बोध, दोनों एक नहीं कहे जा सकते। इसी बोध द्वारा बर्कले आत्मा एवं आत्मा के व्यापारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ईश्वरवाद की स्थापना भी इसी बोध द्वारा ही सम्पन्न होती है।

यहाँ एक अत्यन्त मनोरंजक बात जो उत्पन्न होती है वह यह है कि बोधमय प्रणाली स्वीकार करने के कारण क्या बर्कले आनुभविक प्रणाली का परित्याग कर देते हैं ? फ्रेजर और हिक्स जैसे भाष्यकारों का कथन है कि बोधमय प्रणाली स्वीकार करके बर्कले आनुभविक प्रणाली से बहुत दूर चले जाते हैं। बोध एक साक्षात् एवं अपरोक्ष ज्ञान है। वह इन्द्रियों-बाह्य

या आन्तरिक के माध्यम से प्राप्त होने वाला ज्ञान नहीं है। अतः, फ्रेजर और हिक्स की इस बात में पर्याप्त सत्यता दिखाई पड़ती है कि बोधमय प्रणाली का आनुभविक प्रणाली से मेल नहीं खाता। बर्कले निश्चित रूप से दो भिन्न प्रणालियों में विश्वास करते हैं : विज्ञानात्मक एवं बोधात्मक। विज्ञानात्मक प्रणाली द्वारा हमें विज्ञानों एवं वस्तुओं का ज्ञान होता है तथा बोधात्मक प्रणाली द्वारा हमें आत्मा और उसके व्यापारों का ज्ञान होता है। प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान में बोध निहित है, क्योंकि आत्मा और उसके व्यापारों के ज्ञान के बिना इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता।

इस बोधमय प्रणाली के आधार पर बर्कले आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। विज्ञान या सांसारिक वस्तुएँ दृश्य हैं, पर आत्मा एक अदृश्य तत्त्व है। तो क्या 'सत्यं दृश्यं' सूत्र के अनुसार आत्मा को असत् माना जाये ? बर्कले का कथन है कि नहीं। आत्मा की सत्ता प्रत्यक्षीकृत (Percipi) होने में नहीं वरन्, प्रत्यक्षकर्त्ता या द्रष्टा (Percipere or intelligere) होने में है। द्रष्टा के अस्तित्व के बिना 'दृश्य' के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य है। बर्कले ने आत्मा के अस्तित्व को निम्न तर्कों के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है—

1. **प्रातिभ ज्ञान द्वारा**—बर्कले के अनुसार हमें आत्मा का अपरोक्ष (Immediate) और प्रातिभ (Intuitive) ज्ञान प्राप्त होता है। "मैं जानता हूँ कि मैं 'मैं' और 'स्वयं मैं' इन शब्दों का क्या अर्थ करता हूँ। मैं इसे अपरोक्ष एवं प्रातिभ रूप में जानता हूँ। यह ठीक है कि मैं इसे इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं करता हूँ, जैसे मैं किसी त्रिभुज, वर्ण या ध्वनि का करता हूँ।"[1] डेकार्ट्स की तरह बर्कले भी प्रातिभ ज्ञान द्वारा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि डेकार्ट्स के लिए आत्मा के ज्ञान के लिए किसी बाह्य विज्ञान की आवश्यकता नहीं है, पर बर्कले अनुभववादी होने के कारण आत्म-ज्ञान और बाह्य विज्ञान के ज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

2. **स्व-संवेदन द्वारा**—बर्कले के अनुसार जिस प्रकार हम संवेदनाओं द्वारा बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार स्व-संवेदनाओं द्वारा हम आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। "हम अपने अस्तित्व को आभ्यन्तर भावना या मनन (Reflexion) से जानते हैं।"[2] "अपने अस्तित्व को अर्थात् अपनी आत्मा, मन या चित् द्रव्य को मैं स्पष्टतापूर्वक मनन से जानता हूँ।" आगे, "मैं अपने अस्तित्व को जानता हूँ या इससे सचेत हूँ और मैं स्वयं अपना प्रत्यय नहीं हूँ, किन्तु अपने प्रत्ययों से भिन्न एक सत्ता है—चित् और कर्त्ता सत् है जो प्रत्यक्ष करता है। मैं जानता हूँ कि मैं ही अहम्, रंगों और ध्वनियों दोनों का प्रत्यक्षकर्त्ता हूँ और रंग ध्वनि का प्रत्यक्ष नहीं करता है और न ध्वनि रंग का। इस कारण मैं रंग और ध्वनि से भिन्न एक विशेष सत् हूँ और इस युक्ति के अनुसार मैं अन्य संवेद्य वस्तुओं और निष्क्रिय प्रत्ययों से भिन्न हूँ।"[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि बर्कले स्व-संवेदन द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास के तीन रूप हैं : प्रथम यह कि द्रष्टा के आधार पर

---

1. हाइलस और फाइलोनूस का संलाप, 3।
2. पांडेय, संगम लाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 87।
3. वही, पृ० 153-154।

ही दृश्य की सिद्धि होती है। यदि 'दृश्य' है ता द्रष्टा का अस्तित्व अनिवार्य है ; द्वितीय रूप यह है कि विज्ञानों के संघात, तुलना, स्मरण इत्यादि के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है ; और तीसरा रूप यह है कि आत्मा प्रत्ययों या विज्ञानों का अधिष्ठान है। अतः आत्मा का अस्तित्व है।

3. **कर्तृत्व द्वारा**—आत्मा के कर्त्तापन द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। इसे वे अनुभूति एवं युक्ति, दोनों आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अनुभूति का प्रमाण यह है, "मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इच्छानुसार अपने मन में प्रत्ययों को उत्तेजित कर सकता हूँ तथा उन्हें जितना उपयुक्त समझूँ, उतना परिवर्तित कर सकता हूँ। यह मात्र इच्छा-व्यापार है। यह या वह प्रत्यय सीधे मेरी कल्पना में उदय होता है और उसी शक्ति से वह अस्त हो जाता है तथा दूसरे प्रत्यय के लिए वह मार्ग प्रशस्त करता है। प्रत्ययों को इस प्रकार बनाना या बिगाड़ना कर्त्ता-मन का उपयुक्त लक्षण निर्धारित करता है।"[1]

पुनः, युक्ति के बल पर वे आत्मा के अस्तित्व को इस प्रकार सिद्ध करते हैं, "हम प्रत्ययों के सतत् अनुक्रम का प्रत्यक्ष करते हैं। इनमें से कुछ नये ढंग से उत्तेजित हैं, कुछ परिवर्तित हैं या पूर्णतया ओझल हो जाते हैं। अतः, इन प्रत्ययों का कुछ कारण है जिस पर ये आश्रित हैं और जो इनको उत्पन्न तथां परिवर्तित करता है। यह कारण कोई गुण या प्रत्यय या प्रत्यय-संघात नहीं हो सकता है। अतः इसे कोई द्रव्य होना है। किन्तु यह सिद्ध किया जा चुका है कि कोई दैहिक या भौतिक द्रव्य नहीं है। अतः परिशेष से सिद्ध है कि प्रत्ययों का कारण कोई अदैहिक सक्रिय द्रव्य या आत्मा है।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कर्तृत्व-भाव से आत्मा की सत्ता है। उसकी सत्ता उसका कर्तृत्व है (Esse est Agere or Volle)। दूसरे तर्क में आत्मा को द्रष्टा, पर तीसरे तर्क में आत्मा को कर्त्ता माना गया है। कर्तृत्व से आत्मा का अस्तित्व प्रकट हो जाता है। बर्कले ने अपनी द्वितीय युक्ति द्वारा ह्यूम के इस मत का खण्डन कर दिया है कि आत्मा स्व-संवेदनों का पुन्ज मात्र है। दो विज्ञानों की तुलना करने के लिए अथवा विज्ञानों को संकलित करने के लिए किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता होती है जो उनसे भिन्न हो। वही भिन्न तत्त्व आत्मा है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि बर्कले के समान शंकराचार्य ने भी बौद्धों के संघातवाद के विपरीत बहुत कुछ इसी प्रकार का तर्क

1. मानव विज्ञान के सिद्धान्त, 28 : "I find I can excite ideas in my mind at pleasure and vary and shift the scene as oft as I think fit. It is no more than willing and straightway this or that idea arises in my fancy ; and by the same power it is obliterated and makes way for another. This making and unmaking of ideas both very properly denominate the mind active. Thus much is certain and grounded on experience, but when we talk of unthinking agents or of exciting ideas exclutive of volition, we only amuse ourselves with words."
2. वही 26 : "We perceive a continual succession of ideas, some are anew excited, others are changed or totally disappear. There is therefore some cause of these ideas where on they depend and which produces and changes them. That this cause cannot be any quality or idea or combination of ideas, is clear from preceding section. It must therefore be a substance ; but it has been shown that there is no corporeal or material substance ; it remains therefore that the cause of ideas is an incorporeal active substance or spirit."

दिया था।

4. ज्ञातृत्व द्वारा—बर्कले के अनुसार आत्मा कर्त्ता होने के साथ ज्ञाता भी है। उसके ज्ञातृत्व से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। बाह्य जगत् का अस्तित्व उसके ज्ञेय या प्रत्यक्षीकृत होने में है, पर आत्मा का अस्तित्व उसके ज्ञातृत्व या प्रत्यक्षकर्ता होने में है।[1] आत्मा सदा चैतन्य-स्वरूप है ; उसके अस्तित्व को उसके ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता। आत्मा का चैतन्य से अनिवार्य सम्बन्ध है। वह नित्य चेतन है। उसका नित्य चैतन्य उसकी इकाई (Identity) और स्थायित्व (Permanence) का आधार है।

आगे आत्मा के स्वभाव के विषय में वर्णन करते हुए बर्कले लिखते हैं, "आत्मा एक साधारण अकल कर्त्ता या सत् है। वह विज्ञानों का प्रत्यक्ष करता है, इसलिए उसे बुद्धि कहा जाता है ; यह उनको उत्पन्न करता है या अन्यथा उनसे व्यापार करता है, इसलिए संकल्प कहा जाता है। अतः, आत्मा का कोई विज्ञान नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि सभी विज्ञान निष्क्रिय और उदासीन होने के कारण कल्पना या प्रतिबिम्ब के द्वारा हमें वह नहीं अभिव्यक्त कर सकते जो कर्म करता है।"[2]

कर्त्ता और ज्ञाता होने के साथ आत्मा प्रकृत्या अमर है। वह चेतन स्वरूप है और शरीर से पूर्णतया भिन्न है। बर्कले के ही शब्दों में, "चाहे जिस ढाँचे और बनावट के शरीर हों, वे सभी मन में मात्र निष्क्रिय प्रत्यय हैं। मन शरीर से जितना दूर और भिन्न है, उतना प्रकाश भी अन्धकार से नहीं है। हमने सिद्ध किया है कि आत्मा अविभाज्य, अशरीरी, अविस्तृत और परिणामस्वरूप निर्दोष है। इससे अधिक कुछ और स्पष्ट नहीं हो सकता कि गति, परिवर्तन, पतन तथा नाश जिनको हम घण्टे-घण्टे पर प्राकृतिक पिण्डों में घटित होते देखते हैं सम्भवतः किसी कर्त्ता, शुद्ध, असंघटित द्रव्य का स्पर्श नहीं कर सकते।"[3] शरीर से भिन्नता के कारण आत्मा देह की मृत्यु के बाद भी अस्तित्व में रहती है। मृत्यु का सम्बन्ध केवल शरीर से है, आत्मा से नहीं। इतना होते हुए भी बर्कले स्वीकार करते हैं कि आत्मा ससीम है और पूर्ण

---

1. वही, 139 : "........all the unthinking objects of the mind agree in that they are entirely passive, and their existence consists only in being perceived ; where as a soul or spirit is an active being, whose existence consists, not in being perceived, but in perceiving ideas and thinking. It is therefore, necessary that we distinguish between spirit and idea."
2. वही, 27 : "A spirit is one, simple, undivided active being—as it perceives ideas it is called the understanding, and as it produces or otherwise operates about them, it is called the will. Hence there can be no idea formed of a soul or spirit : for, all ideas whatever, being passive or inert, cannot represent unto us, by way of image or likeness, that which acts."
3. वही, 141 : "......bodies, of what frame or texture soever, are barely passive ideas in the mind which is more distant and hetero-geneous from them than light is from darkness. We have shown that the soul is indivisible, incorporeal, unextended, and it is consequently incorruptible. Nothing can be plainer than that the motions, changes, decays and dissolutions which we hourly see befall natural bodies, can not possibly affect an active, simple, uncompounded substance."

रूप में ईश्वर पर आश्रित है क्योंकि ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा आत्माओं का नाश कर सकते हैं।[1] यहाँ बर्कले के दर्शन के ऊपर ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

अन्य आत्माओं का अस्तित्व

अपनी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर बर्कले अन्य आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अग्रसर होते हैं। आत्मा इन्द्रियानुभव का विषय नहीं है, अतः हमें इसका विज्ञान (Idea) नहीं हो सकता। आत्माओं का हमें केवल संबोध (Notion) ही हो सकता है। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अन्य आत्माओं के विषय में हमें यह 'संबोध' किस प्रकार उत्पन्न होता है ? बर्कले के अनुसार हमें यह संबोध विशेष रूप में दो प्रकार से प्राप्त होता है : प्रथम अनुमान (Hypothesis) द्वारा और द्वितीय उपमान (Analogy) द्वारा। हम इन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे—

1. अनुमान (Hypothesis)—हम संसार में कुछ गति, परिवर्तन के संवेदन-प्रत्यय प्राप्त करते हैं। इन संवेदन-प्रत्ययों को एक निश्चित क्रम द्वारा हम उत्पन्न और नष्ट होते हुए भी देखते हैं। इनसे हम अनुमान कर लेते हैं कि इन गतियों एवं परिवर्तनों को उत्पन्न करने वाली कोई सक्रिय सत्ता अवश्य है जो आत्मा है। बर्कले के ही शब्दों में "मैं अनेक गतियों, परिवर्तनों और विज्ञान-समूहों को देखता हूँ जो मुझे सूचना देते हैं कि मेरी भाँति कुछ विशेष कर्त्ता-पुरुष हैं। ये गतियाँ, परिवर्तन और विज्ञान-समूह उन कर्त्ता-पुरुषों के सहगामी हैं और उनकी उत्पत्ति में एकत्र हैं। अतः, हम अन्य आत्माओं का जो ज्ञान प्राप्त करते है, वह अपने विज्ञानों के ज्ञान की भाँति अपरोक्ष नहीं है, किन्तु उन विज्ञानों के माध्यम पर आश्रित है जिनकी हम अपनी आत्मा से भिन्न अन्य कर्त्ताओं या आत्माओं से जन्य कार्य या सहवर्ती संकेत मानते हैं।"[2] अतः, अन्य आत्माओं का अस्तित्व है।

2. उपमान (Analogy)—हम अपनी आत्मा के कर्तृत्व और अपने द्वारा उत्पन्न प्रत्ययों को जानते हैं। जिस प्रकार हमारी आत्मा द्वारा उत्पन्न प्रत्यय हैं, वैसे ही प्रत्यय हमें बाहर से भी प्राप्त होते हैं। अतः, सादृश्यानुमान द्वारा हम सोच लेते हैं कि इन बाह्य प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली अन्य आत्माएँ अवश्य विद्यमान हैं। बर्कले के शब्दों में : "जब हम किसी मनुष्य के वर्ण, आकार तथा गति को देखते हैं, तब अपने मन में उत्पन्न कुछ संवेदों या प्रत्ययों को ही देखते हैं और चूँकि ये हमारी दृष्टि में समस्त विभिन्न समूहों में आते हैं, अतः ये हमें हमारे सदृश ससीम और सृष्ट आत्माओं के अस्तित्व का संकेत देते हैं। अतः, यदि मनुष्य का अर्थ वह है जो वैसे ही रहता है, चलता है, सोचता है जैसे हम, तो स्पष्ट है कि हम किसी मनुष्य को नहीं देखते हैं।"[3] अतः, अन्य आत्माओं का अस्तित्व है।

---

1. वही, 141 : "It must not be supposed that they who assert the natural immortality of the soul are of the opinion that it is absolutely incapable of annihilation even by the infinite power of the Creator who first gave it being."
2. वही, 145 : "I perceive several motions, changes and combinations of ideas, that inform me there are certain particular agents, like myself, which accompany them and concur in their production."
3. पाण्डेय, संगम लाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 105।

उपर्युक्त दो युक्तियों के साथ बर्कले ने अन्य बातों के द्वारा भी अन्य आत्माओं के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। जैसे उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि अपनी आत्मा के ज्ञान में अन्य आत्माओं का ज्ञान निहित है। "हम अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के द्वारा जानते हैं और इस अर्थ में हमारी आत्मा अन्य आत्माओं का प्रत्यय या प्रतिबिम्ब है।"[1] बर्कले का यह कथन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। हमें अन्य आत्माओं का ज्ञान बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के समान नहीं होता, वरन् हमारे आत्म-ज्ञान में ही अन्य आत्माओं का ज्ञान समाहित होता है। यहाँ उनके कथन का तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुओं के बीच तो बाह्य सम्बन्ध होता है, पर आत्माओं के बीच बाह्य सम्बन्ध न होकर आन्तरिक सम्बन्ध ही होता है। इसके साथ दृश्य संकेतों या चिन्हों को देखकर भी हम अदृश्य आत्मा का अनुमान कर लेते हैं। भाषा भी हमें अन्य आत्माओं के अस्तित्व का बोध कराती है। जब हम किसी के साथ संलाप करते हैं, उसका अस्तित्व स्वतः प्रकट हो जाता है। हम अन्य आत्माओं की एकता एवं स्थायित्व को अपनी आत्मा की एकता और स्थायित्व के आधार पर निगमित कर लेते हैं।

ईश्वर (God)

जिस प्रकार अनुमान और उपमान द्वारा हम अन्य आत्माओं के अस्तित्व को जानते हैं, उसी प्रकार इन उपायों द्वारा हम ईश्वर के अस्तित्व को भी जानते हैं। अनुमान और उपमान के अतिरिक्त अन्य युक्तियाँ भी हैं जिनके द्वारा हम ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—जैसे कारण-कार्यमूलक युक्ति, प्रयोजनमूलक युक्ति इत्यादि। इन सब युक्तियों का हम क्रमशः अध्ययन करेंगे।

1. अनुमान (Hypothesis)—बर्कले के अनुसार हमें ईश्वर का ज्ञान अन्य आत्माओं के ज्ञान से भी अधिक अपरोक्ष और निश्चयात्मक होता है। "हम यहाँ तक कह सकते हैं कि मनुष्य के अस्तित्व की अपेक्षा ईश्वर के अस्तित्व को अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है, क्योंकि मानवीय कर्त्ताओं की अपेक्षा हमारी आत्मा पर प्रकृति के प्रभाव अत्यधिक और असंख्य हैं। मनुष्य को इंगित करने वाला ऐसा कोई संकेत नहीं है जो उस महान् आत्मा के अस्तित्व को और स्पष्ट रूप से व्यक्त न करता हो जिसे हम प्रकृति का लेखक (Author of Nature) कहते हैं। क्योंकि यह स्पष्ट है कि दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करने में मनुष्य के संकल्प का लक्ष्य उसके शरीर के अंगों को गति ही होता है ; किन्तु इस प्रकार की गति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में किसी विज्ञान को उत्पन्न करे, पूर्णरूप से स्रष्टा की इच्छा पर निर्भर होता है।"[2]

वास्तव में बर्कले के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण जगत् में परिव्याप्त है। वह अन्तर्यामी है। ईश्वर के बिना दृश्य जगत् का पर्याप्त ज्ञान असम्भव है। "प्रकृति के प्रपंचों के कुछ सादृश्य, अव्यभिचार और एकरूपता हैं जो सामान्य नियमों के अधिष्ठान हैं। प्रकृति को या दृश्य जगत्

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 140 : "Moreover, as we conceive the ideas that are in the minds of other spirits by means of our own, which we suppose to be resemblances of them ; so we know other spirits by means of our own soul which in that sense is the image or idea of them."
2. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 147 : "There is not any one mark that denotes a man, or effect produced by him, which does not more strongly evince the being of that spirit who is the Author of Nature."

में कार्यों की उस शृंखला को जिससे हम पूर्व-दर्शन करने में समर्थ होते हैं कि वस्तुओं की स्वाभाविक गतिविधि में क्या घटित होगा, समझने के लिए ये व्याकरण हैं।—क्योंकि संकेत एवं संकेतित वस्तुओं का प्राकृतिक सम्बन्ध नियमित और अव्यभिचरित है, इसलिए यह युक्ति युक्त वार्ता का एक प्रकार है और इस कारण एक बुद्धिमान कारण का कार्य है।"[1] इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि दृश्यों में व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध होने के कारण दृश्यों को देखकर हम ईश्वर का अनुमान कर सकते हैं।

2. उपमान (Analogy)—आत्मा की तरह ईश्वर की सत्ता उपमान द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। जिस प्रकार किसी मनुष्य के रूप, रंग, आकृति, आकार इत्यादि विज्ञान-पुंजों को देखकर हम आत्मा का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति के दृश्य पुंजों को देख कर हम ईश्वर का अनुमान कर लेते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि "जहाँ विज्ञानों के ससीम और संकुचित पुंज एक विशिष्ट मानवीय आत्मा की ओर निर्देश करते हैं, वहाँ हम जिस किसी ओर अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं, सर्वदा और सर्वत्र उस दिव्य-शक्ति के प्रतीकों का दर्शन करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य द्वारा उत्पन्न गतियाँ मानवीय आत्मा के प्रतीक हैं, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसे हम देखते हैं, स्पर्श करते हैं या किसी अन्य प्रकार किसी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, ईश्वर की शक्ति का प्रतीक या कार्य होता है।"[2] अतः, उपमान द्वारा बर्कले एक ऐसी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, "जिसमें हम स्थित हैं, विचरण करते हैं और अपना अस्तित्व धारण करते हैं।"

3. कारण-कार्यमूलक युक्ति (Empirical Argument)—जिन विज्ञानों को हम बाहर से प्राप्त करते हैं, उनका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन विज्ञानों के चार सम्भावित कारण हो सकते हैं—(i) विज्ञान (ii) जड़-तत्त्व, (iii) आत्मा और (iv) ईश्वर। परिहार विधि द्वारा विज्ञान, जड़-पदार्थ और आत्माएँ हमारे विज्ञानों के कारण न होकर केवल ईश्वर ही उनका कारण हो सकता है। विज्ञान निष्क्रिय एवं कार्यरूप हैं, वे हमारे विज्ञानों के कारण नहीं हो सकते। यदि विज्ञानों को ही विज्ञानों का कारण माना जाय, तो इसमें अनवस्था-दोष अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। इसी प्रकार जड़-तत्त्व भी विज्ञानों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि बर्कले के अनुसार संसार में जड़-तत्त्व का अस्तित्व ही नहीं है। बर्कले के दर्शन का उद्देश्य ही जड़-तत्त्व का खण्डन और आत्म-तत्त्व का मण्डन था। पुनः, जीवात्माएँ भी विज्ञानों का कारण नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका कार्य मात्र विज्ञानों को ग्रहण करना ही है। जीवात्माओं के भीतर वह क्षमता नहीं कि वे विज्ञानों को उत्पन्न कर सकें। सच पूछा जाय तो विज्ञानों में वह शक्ति और अनिवार्यता होती है कि आत्माओं के पास उन्हें ग्रहण करने के सिवा कोई दूसरा विकल्प ही नहीं होता। पुनः, ये

---

1. पाण्डेय, संगमलाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 279-80।
2. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 148 : "Where as some one finite and narrow assemblage of ideas denotes a particular human mind, whither soever, we direct our view we do at all times and in all places perceive manifest tokens of the Divinity : everything we see, hear, feel or any wise perceive by Sense, being a sign or effect of the power of God ; as is our perception of those very motions which are produced by men.

विज्ञान किसी विशेष आत्मा में ही उत्पन्न नहीं होते, किन्तु सभी आत्माओं में प्रायः समान रूप से उत्पन्न होते हैं। इन विज्ञानों में एकतंत्रता और निश्चित क्रम पाया जाता है। अतः ऐसे विज्ञानों का स्रष्टा जीवात्माएँ न होकर केवल ईश्वर (God) ही हो सकता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। यह विश्वास अंधविश्वास नहीं है। यह युक्तियुक्त और अन्वोंध का विश्वास है। ईश्वर की सत्ता इसी विश्वास पर आधारित है (Esse est Credi)।

4. प्रयोजन-मूलक युक्ति (Teleological Argument)—इस युक्ति का सार यह है कि सृष्टि के भीतर जो व्यवस्था, क्रम व विन्यास है, उसे देखकर कोई भी कह सकता है कि इसकी रचना के पीछे कोई अनन्त बुद्धि अवश्य कार्य कर रही है।[1] बर्कले के शब्दों में, "यदि हम ध्यानपूर्वक प्राकृतिक वस्तुओं की अव्यभिचरित नियमानुकूलता, व्यवस्था और शृंखला पर विचार करें, यदि हम सृष्टि के विशाल अवयवों की विस्मयकारिणी शोभा, सुन्दरता और पूर्णता और छोटे अवयवों की उत्कृष्ट रचना तथा उसके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के संतुलन और अविरोध पर विचार करें और सबके ऊपर पशुओं की वासनाओं, क्षुधाओं, प्रेरणाओं या मूलप्रवृत्तियों और सुख-दुख की भावनाओं के अनतिशलाध्य नियमों पर विचारें, मैं कहता हूँ यदि इन समस्त वस्तुओं को हम विचारें और साथ-ही साथ एक नित्य अनन्त ज्ञान, शिव तथा पूर्ण इन गुणों के अर्थ और तात्पर्य पर ध्यान दें, तो हम स्पष्टतया देखेंगे कि वे उपर्युक्त आत्मा से सम्बन्धित है जो सर्वत्र कर्म करती है और जिसमें सभी वस्तुएँ समाविष्ट हैं।"[2] संक्षेप में, प्रकृति की सुसंगत और एकरूप रचना एक अनन्त बुद्धि या परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध करती है।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध होने के बाद बर्कले ईश्वर के स्वभाव के विषय में विचार करते हैं। ईश्वर जगत् के स्रष्टा हैं। वे जगत् के केवल निमित्त कारण नहीं हैं, वरन् उपादान कारण भी हैं। सत्यं दृश्यम् के अनुसार ईश्वर से बाहर जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जिस रूप में हम सृष्टि को देखते हैं, उसी रूप में ईश्वर भी उसे देखते हैं ? ईश्वर के लिए सृष्टि क्या है ? कुछ भाष्यकारों के अनुसार ईश्वर के लिए सृष्टि का अस्तित्व ही नहीं है। सृष्टि का अस्तित्व केवल जीवात्माओं के लिए ही है। जिस प्रकार हम सृष्टि का प्रत्यक्ष करते हैं, ईश्वर उसी रूप में सृष्टि का प्रत्यक्ष नहीं करता है। जिस सृष्टि का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वह अनित्य प्रतिबिम्ब (Temporal Ectypes) होता है। जहाँ तक मूल नित्य बिम्बों (Eternal Archetypes) का प्रश्न हैं, उन्हें हम नहीं जानते। वे केवल ईश्वर को ही ज्ञात हैं। जिस सृष्टि को हम जानते हैं वह ईश्वरीय मूल बिम्बों का प्रतिबिम्ब होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्कले जगत् की पारमार्थिक एवं व्यवहारिक सत्ता में भेद करते हैं। साधारण प्राणियों को जगत् की व्यावहारिक सत्ता का ही ज्ञान हो सकता है।

1. ब्रह्मसूत्र, रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्।
2. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, 146 : "But, if we attentively consider the constant regularity, order and concatenation of natural things the surprising magnificence, beauty and perfection of the larger, and the exquiste contrivance of the smaller parts of creation, together with the exact harmony and correspondence of the whole.....and at the same time attend to the meaning and import of the attributes, one, Eternal, Infinitely Wise, Good and Perfect, we shall clearly perceive that they belong to the aforesaid Spirit 'who works all in all' and by whom all things consist."

पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान केवल ईश्वर को ही होता है।

जहाँ तक ईश्वर और जगत् के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है, बर्कले अतीश्वरवाद (Panentheism) में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार यद्यपि जगत् ईश्वर के भीतर स्थित है, पर ईश्वर जगत् से अतीत है। उसका सिद्धान्त स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद (Pantheism) से बिलकुल भिन्न है।

पुनः, जीवात्मा और परमात्मा का भेद करते हुए बर्कले कहते हैं कि जीवात्माएँ सक्रिय होते हुए भी निष्क्रिय होती हैं। जीवात्माओं में सक्रियता और निष्क्रियता, दोनों अवयव विद्यमान होते हैं। यही कारण है कि उनमें कम सत्यता पाई जाती है। ईश्वर मूल बिम्बों को उत्पन्न करते हैं, पर जीवात्माएँ इन्हें उत्पन्न न कर केवल ग्रहण ही करती हैं। जीवात्माएँ केवल प्रतिबिम्बों को ही उत्पन्न कर सकती हैं। जीवात्माओं और परमात्मा के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। विज्ञानों के पुंज-रूप में जगत् का अस्तित्व आत्माओं के अधीन है। इस दृष्टि से बर्कले प्रत्ययवादी होने की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक हैं। जगत् अध्यात्ममय है। हम सभी ब्रह्मलोक के निवासी हैं। एक शृंखला (Siris) में बर्कले ने लिखा है कि जीवात्मा, परमात्मा का ही एक अंश है। "मनुष्य की आत्मा में, बुद्धि से पूर्व और महान् एक उच्चतर स्वभाव है जिसके कारण हम एक हैं। . . . . इस एकता के कारण हम ईश्वर से अधिक समीपतः संयुक्त हैं।[1] इसी प्रकार मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त में वे कहते हैं, "ईश्वर में हम स्थित हैं, विचरण करते हैं और अस्तित्व को धारण करते हैं।"[2]

यहाँ एक बहुत ही गम्भीर प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर जीवात्माओं को क्यों और किस प्रकार उत्पन्न करते हैं? जीवात्माओं की उत्पत्ति और विज्ञानों की उत्पत्ति में क्या समानता या विभिन्नता है? यदि सब कुछ ईश्वर ही है तो जीवात्माओं और जगत् की आवश्यकता ही क्या है? इन प्रश्नों का बर्कले ने अपनी रचनाओं में कोई उत्तर नहीं दिया है। वेदान्त-दर्शन में शंकराचार्य ने इन प्रश्नों का जो संतोषजनक उत्तर दिया है, बर्कले उसे स्पर्श तक न कर पाए हैं।

आलोचना

बर्कले के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अनुभववाद के परिप्रेक्ष्य में विज्ञानवादी दर्शन की स्थापना की। एक दो अपवादों को छोड़कर वे प्रारम्भ से अन्त तक अनुभववाद के अनुयायी बने रहे। आत्माओं और ईश्वर के संबोध (Notion) को छोड़कर संसार में अन्य जितनी वस्तुएँ हैं उन सबका ज्ञान हमें विज्ञानों द्वारा होता है। अनुभववाद (Empiricism) और विज्ञानवाद (Idealism) इन दोनों के अप्राकृतिक सम्मिश्रण के कारण बर्कले के दर्शन में कई त्रुटियाँ भी उत्पन्न हो गई हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

1. आध्यात्मिक बहुलवाद (Spiritualistic Pluralism) एक व्यावहारिक सत्य भले ही हो पर दार्शनिक दृष्टि से इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब आत्माएँ अविस्तृत द्रव्य हैं और चैतन्य उनका स्वभाव है तो एक आत्मा को हम दूसरी आत्मा से किस

1. 'एक शृंखला (Siris), अधिकरण 345।
2. पाण्डेय, संगमलाल, बर्कले-संग्रह, पृ० 105 ".........in whom we live and move and have our being:"

प्रकार पृथक् कर सकते हैं ? केवल भौतिक द्रव्यों के विषय में ही बहुलवाद की कल्पना की जा सकती है। आध्यात्मिक द्रव्यों के विषय में नहीं।

2. बर्कले के सत्यं दृश्यं (Esse est Percipi) की बाद के दार्शनिकों ने पर्याप्त आलोचना की है। बीसवीं शती के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक जी० ई० मूर (G.E. Moore) ने बर्कले के विज्ञानवाद का खण्डन किया[1] जो चिरप्रतिष्ठित हो गया है। उनके खण्डन की प्रमुख बात यह है कि 'सत्यं दृश्यं है' इस तर्क-वाक्य में सत्यं और दृश्यं के बीच या तो पूर्ण तादात्म्य, या अपूर्ण तादात्म्य, और या अनुमेयता का सम्बन्ध हो सकता है। यदि सत्यं दृश्यं में पूर्ण तादात्म्य है तो 'सत्यं दृश्यं' तर्क-वाक्य द्विरुक्ति (Tautology) होगा जो किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। यदि सत्यं और दृश्यं के बीच अपूर्ण तादात्म्य माना जाय तो सत्यं, दृश्यं से कहीं अधिक होगा और यह विज्ञानवाद की स्थापना न कर वस्तुवाद (Realism) की स्थापना करेगा। यदि तीसरे और अन्तिम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो 'सत्यं दृश्यं' तर्क-वाक्य अनिवार्य (Necessary) और संश्लेषणात्मक दोनों होगा जो वदतोव्याघात है। अतः, हम किसी भी दृष्टिकोण से विचार करें, सत्यं दृश्यं विज्ञानवाद की स्थापना नहीं करता जैसा मूर के अनुसार बर्कले ने सोचा था।

पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मूर ने बर्कले के जिस विज्ञानवाद का खण्डन किया है वह ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद (Epistemological Idealism) या आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism) है। पर यदि बर्कले के दर्शन का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया जाय तो वह न तो ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद है और न आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद ही। वह वास्तव में **वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद** (Objective Idealism) या ईश्वरकेन्द्रिक विज्ञानवाद (Theocentric or Theological Idealism) है। मूर ने बर्कले के विज्ञानवाद की वस्तुनिष्ठता या ईश्वरकेन्द्रिता की बिलकुल उपेक्षा की है। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि बर्कले का सिद्धान्त केवल सत्यं दृश्यं (Esse est percipi) का सिद्धान्त नहीं है; वह सत्यं दृश्यं कार्यम् (Esse est percipi causari) का सिद्धान्त है। इस प्रकार बर्कले का विज्ञानवाद मूर की सभी आलोचनाओं से परे है। मूर ने सत्यं दृश्यं के जितने अर्थ किए हैं उनमें कोई भी अर्थ बर्कले का मत नहीं है। मूर के प्रथम अर्थ के अनुसार सत्यं और दृश्यं में तादात्म्य सम्बन्ध है। पर बर्कले ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि सत्यं और दृश्यं में अभेद सम्बन्ध है। सत्यं केवल दृश्यं ही नहीं है, वह कार्यम् या द्रष्टा रूप भी है। अतः, मूर का प्रथम विकल्प अर्थहीन हो जाता है। जहाँ तक द्वितीय विकल्प की बात है वह सत्यं को दृश्यं से अधिक अवश्य मानता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्यं दृश्यं और कार्यम् का केवल अंकगणितीय योग मात्र है। बर्कले के कथन का वास्तविक तात्पर्य यह है कि दृश्यं सत्यं का अनिवार्य कारण या हेतु है और कार्यम् उसका पर्याप्त कारण या हेतु है। अतः मूर का दूसरा विकल्प भी बर्कले के विज्ञानवाद का वास्तविक खण्डन नहीं कर सका। मूर का तीसरा विकल्प जिसके अनुसार सत्यं और दृश्यं में भेद सम्बन्ध है, बर्कले को स्वीकार्य नहीं है। दृश्यं या कार्यम्, सत्यं का स्वरूप लक्षण है। अतः उनमें भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। इस प्रकार मूर का "विज्ञानवाद का खण्डन" वास्तव में खण्डन नहीं है।

---

1. Moore, G.E. Refutation of Idealism, Mind, 1903.

3. बर्कले ने **सत्य और असत्य का निरूपण** तो अवश्य किया है पर उन्होंने हमें सत्य की कोई ऐसी कसौटी प्रदान नहीं की जिसके द्वारा हम सत्य या असत्य का स्वयं निर्णय कर सके। उन्होंने कहा कि वे विज्ञान जो ईश्वर के मन में स्थित हैं, वास्तविक (Real) हैं पर जो ईश्वर के मन में स्थित न होकर केवल मानवीय मन में स्थित हैं, अवास्तविक या काल्पनिक (Unreal or imaginary) हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या हम सत्य की कसौटी का सफलतापूर्वक उपयोग कर सकते हैं ? ईश्वर को अपने और हमारे दोनों विज्ञानों की जानकारी हो सकती है, पर जहाँ तक जीवात्माओं का प्रश्न है, उन्हें, जब तक कोई दिव्य-दृष्टि (Divine Revelation) प्राप्त न हो जाय, ईश्वरीय विज्ञानों की जानकारी कदापि नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में बर्कले द्वारा प्रदत्त सत्य की कसौटी अनुपयोगी ही रहेगी। यदि यह कहा जाय कि बर्कले को दिव्य दृष्टि प्राप्त होने से सत्य की इस कसौटी की जानकारी थी, तो उनके दर्शन में ज्ञानमीमांसक दोष (Epistemologist's Fallacy) अवश्य आ जायगा।

यदि बर्कले यह कहें कि ईश्वर के मन में उस प्रकार के विज्ञान नहीं होते जिस प्रकार कि जीवात्माओं के मन में विज्ञान होते हैं तो भी समस्या का समाधान नहीं निकलता। एक स्थल पर बर्कले कहते हैं कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो ईश्वर के मन में विज्ञान (Ideas) होते ही नहीं क्योंकि विज्ञान निष्क्रिय होते हैं और वे बाहर से किसी आत्मा द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। ईश्वर विशुद्ध रूप में क्रियाशील हैं और वे किसी भी वस्तु द्वारा प्रभावित (Suffer) नहीं हो सकते। यदि बर्कले की इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो उन वस्तुओं के सतत् अस्तित्व की बात असिद्ध हो जाती है जिन्हें कोई आत्मा प्रत्यक्ष नहीं कर रही है। अतः, बर्कले द्वारा स्थापित सत्य की कसौटी हमारे लिए निरर्थक हो जाती है।

4. **ऐच्छिक** (Voluntary) और **अनैच्छिक** (Involuntary) प्रत्यक्ष पर यदि विचार किया जाय तो भी हमें सत्य और असत्य का भेद-ज्ञान ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। बर्कले के अनुसार वे विज्ञान जो हमारी इच्छा के विपरीत स्वतन्त्र रूप में हमारी आत्मा में प्रवेश करते हैं, ईश्वर द्वारा उत्पन्न विज्ञान हैं। इसके विपरीत जिन विज्ञानों को हम स्वयं अपनी इच्छानुसार उत्पन्न करते हैं वे सत्य न होकर काल्पनिक ही होते हैं। किन्तु यदि हम भ्रम (Illusions) और भ्रान्तियों (Delusions) पर विचार करें तो वे अनैच्छिक रूप में हमारी आत्मा में प्रवेश करती हैं, पर उन्हें कोई भी सत्य नहीं कह सकता। यही बात स्वप्नों (Dreams) पर भी लागू होती है।

5. बर्कले ने सत्य और असत्य में भेद करने के लिए एक और कसौटी दी है जो यह है कि वे विज्ञान जो हमारे समक्ष एक **निश्चित क्रम** (Settled order) में उत्पन्न होते हैं वे तो सत्य हैं पर जो विज्ञान यदृच्छया या असंसक्त या **अनिश्चित क्रम** (Unsettled order) में उत्पन्न होते हैं वे असत् हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हमें प्रकृति के इस निश्चित क्रम की कभी जानकारी होती है ? प्रकृति के निश्चित क्रम का ज्ञान प्रकृति के नियमों (Laws of Nature) के ज्ञान द्वारा ही हो सकता है और प्रकृति के नियमों का ज्ञान अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पर बर्कले ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया था कि अनुभव विज्ञानों के अनिवार्य सम्बन्ध (Necessary Connection) को कभी भी व्यक्त नहीं करता। उन्हीं के शब्दों में : "कि भोजन पोषण करता है, निद्रा स्फूर्ति प्रदान करती है, अग्नि ताप देती है

.......इन बातों को हम विज्ञानों में किसी अनिवार्य सम्बन्ध के अन्वेषण द्वारा नहीं जानते, बल्कि प्रकृति के निश्चित नियमों के निरीक्षण द्वारा ही जानते हैं।"[1] यहाँ बर्कले ने स्वीकार किया कि हमें अनुभव द्वारा प्रकृति के किसी सार्वभौम नियम का ज्ञान नहीं हो सकता। पर जब तक हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक हमें प्रकृति की किसी निश्चित व्यवस्था का अनुभव कभी नहीं हो सकता। यदि हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान नहीं है, उसकी किसी निश्चित व्यवस्था का भी हमें ज्ञान नहीं हो सकता। अतः, सत्य और असत्य की यह कसौटी भी हमारे लिए निरर्थक हो जाती है।

6. **स्पष्टता** (Clarity) और **सजीवता** (Vividness) की कसौटी द्वारा भी बर्कले ने सत्य और असत्य के बीच भेद करने का प्रयत्न किया। पर इस कसौटी को भी बहुत उपयोगी नहीं माना जा सकता। स्पष्टता और सजीवता केवल यथार्थ प्रत्यक्षों के ही गुण नहीं होते। कभी-कभी भ्रम और भ्रान्तियाँ यथार्थ प्रत्यक्षों से अधिक स्पष्ट और सजीव होती है तथा यथार्थ प्रत्यक्ष भ्रम और भ्रान्तियों से कम स्पष्ट और कम सजीव होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि किसी अनुभव के आन्तरिक गुणों द्वारा उसकी सत्यता या असत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्कले का आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद, यथार्थता और अयथार्थता के बीच अन्तर स्पष्ट करने में सदा असफल रहता है।

बर्कले के विचारों की आलोचना प्रो० मूर के अतिरिक्त बर्ट्रेण्ड रसेल और प्राइस (B. Russell and H. H. Price) ने भी पृथक्-पृथक् रूप में किया। इन दार्शनिकों ने बर्कले की आलोचना सहानुभूतिपूर्वक नहीं की है क्योंकि उनके सभी खण्डन बर्कले के दर्शन की गलत व्याख्या पर आधारित हैं। इसमें रसेल का खण्डन अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः, इस पर हम सबसे पहले विचार करेंगे।

7. रसेल की आलोचना[2] को दो भागों में बाँटा जा सकता है : प्रथम तार्किक युक्तियाँ (Logical Arguments) और द्वितीय आनुभविक युक्तियाँ (Empirical Arguments)। हम उन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे—

तार्किक युक्तियाँ—रसेल ने बर्कले के विज्ञानवाद के खण्डन के लिए कई युक्तियाँ दी हैं—

(अ) बर्कले ने कहा कि "किसी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का अव्यवहित विषय किसी अचेतन द्रव्य में स्थित हो अथवा वह सभी आत्माओं से स्वतन्त्र हो, यह स्वयं स्पष्टतया बदतोव्याघात है।[3] रसेल के अनुसार उपर्युक्त तर्क में दोष है। जैसे यदि कोई कहे कि "चाचा के बिना भतीजे का अस्तित्व असम्भव है, क एक भतीजा है, अतः यह अनिवार्य है कि क का कोई चाचा होना चाहिए।" यदि यह दिया है कि क भतीजा है तो अवश्य कोई न कोई चाचा होना

---

1. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त—31, "That food nourishes, sleep refreshes and fire warms us...we know, not by discovering any necessary connexion between our ideas, but only by the observation of settled laws of nature."
2. रसेल, बी०, हिस्ट्री ऑव फिलॉसॉफी, पृ० 674,
3. फ्रेजर, I पृ० 406, "that any immediate object of the senses.......should exist in an unthinking substance, or exterior to all minds is in itself an evident contradiction."

चाहिए, पर 'क' के विश्लेषण से यह ज्ञात नहीं हो सकता कि क एक भतीजा है। इसी प्रकार यदि यह दिया है कि कोई वस्तु किसी प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय है तो वह अवश्य ही किसी आत्मा से सम्बन्धित होगी पर उस वस्तु के विश्लेषण से यह कदापि प्रकट नहीं हो सकता कि बिना किसी आत्मा के उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। पर रसेल का यह तर्क दो कारणों से मान्य नहीं हो सकता : प्रथम तो यह कि बर्कले ने सदा यह कहा है कि "संवेद्य वस्तुएँ वही हो सकतीं है जो प्रत्यक्ष के अव्यवहित विषय हों।"[1] अतः यदि वे सदा किसी न किसी प्रत्यक्ष के विषय हैं, उनका किसी न किसी आत्मा से अवश्य ही सम्बन्ध होगा। दूसरी बात यह है कि स्वयं रसेल के तर्क में एक तार्किक दोष पाया जाता है। रसेल का तर्क यह है कि "यदि कोई वस्तु प्रत्यक्ष का विषय है तो उसका किसी न किसी आत्मा से अवश्य सम्बन्ध होगा, अतः यदि कोई वस्तु किसी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तो उसका सम्बन्ध किसी आत्मा से न होगा।" अर्थात् किसी आत्मा से सम्बन्ध न रहने पर भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। स्पष्ट है कि रसेल के तर्क में "हेतु वाक्य के निषेध का दोष" (Fallacy of Denying the Antecedent) पाया जाता है।

(ब) रसेल बर्कले की तार्किक युक्ति को इस प्रकार व्यक्त् करते हैं—

संवेद्य वस्तुएँ अवश्य ही संवेद्य होनी चाहिए।

क एक संवेद्य वस्तु है,

अतः क अवश्य ही संवेद्य होना चाहिए।

रसेल के अनुसार उपर्युक्त युक्ति तभी वैध हो सकती है जबकि क संवेद्य वस्तु (अर्थात् जो वास्तव में संवेदन का विषय हो) हो। पर यह उपर्युक्त हेत्वानुमान का निष्कर्ष-वाक्य होने के कारण आधार-वाक्य कभी नहीं हो सकता। यदि रसेल निष्कर्ष वाक्य को आधार-वाक्य बनाते हैं तो उनके दर्शन में सिद्ध-साधन दोष अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। और यदि वे सोचते हैं कि क के अन्य गुणों (संवेद्य गुणों के अतिरिक्त) से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि क संवेद्य (संवेदन का वास्तविक विषय) है, तो उनकी युक्ति अप्रासंगिक हो जाती है क्योंकि बर्कले ने यह कभी नहीं कहा कि कोई वस्तु असंवेद्य हो सकती है। वास्तव में, रसेल की युक्ति या तो द्विरुक्ति (Tautology) है या अप्रासंगिक है।

आनुभविक युक्तियाँ

(अ) संवेदनाओं की आत्मनिष्ठता के विषय में जो बर्कले ने युक्तियाँ दी हैं उनके विरोध में रसेल का कथन है कि बर्कले ने दुःख (Pain) और सुख (Pleasure) को दो अर्थों में लिया है—प्रथम तो संवेदना के गुण (Quality of Sensation) के अर्थ में और द्वितीय स्वयं उस संवेदना के लिए जिसके भीतर यह गुण पाया जाता है (The sensation that has the quality)। अर्थात् हम लोगों को यह कहने की अपेक्षा कि 'भयंकर और तीव्रतम ताप एक भयंकर दुःख है, हमें यह कहना चाहिए कि 'ताप दुःख का कारण है।' रसेल के शब्दों में "हम कहते हैं कि टूटा पैर दुःख का कारण है, पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि

---

1. वही, पृ० 383, "Sensible things are those only which are immediately perceived by sense."

पैर मेरे मन में स्थित है।[1] पर दुःख को संवेदना का गुण मानने से कोई विशेष अन्तर नहीं आता, क्योंकि अनुभव गुणों का ही तो होता है ? इससे बर्कले की ही बात सिद्ध होती है। और यदि दुःख को एक पृथक् संवेदना माना जाय तो 'ताप दुःख का कारण है' इसका यही अर्थ हो सकता है कि 'एक संवेदना दूसरी संवेदना को उत्पन्न कर रही है।' इससे भी बर्कले की बात खण्डित नहीं होती। वास्तव में बर्कले इसी बात को स्थापित करना चाहते थे। सच पूछा जाय तो स्वयं रसेल ही 'ताप' शब्द को दो विभिन्न अर्थों में ले रहे हैं—(i) ताप को इन्द्रिय-दत्त (Sense-Datum) के अर्थ में ले रहे हैं या (ii) ताप को किसी बाह्य वस्तु की भौतिक अवस्था के रूप में ले रहे हैं। अनुभववाद के आधार पर 'ताप' का केवल प्रथम अर्थ ही स्वीकार्य हो सकता है जो बर्कले के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है।

(ब) इसी प्रकार रसेल द्वारा बर्कले के इस मत का खण्डन कि एक ही कोष्ण जल तप्त व शीतल दोनों होने से आत्मनिष्ठ है, स्वीकार्य नहीं है। एक ही कोष्ण जल जब तप्त और शीतल दोनों एक साथ प्रतीत होता है, यह अनुमानजन्य नहीं है, क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार की तुलना शामिल नहीं है। हम एक हाथ में "तप्तर" (Warmer) और दूसरे हाथ में 'शीतलतर' (Colder) महसूस नहीं करते बल्कि एक ही कोष्ण जल को एक साथ तप्त और शीतल महसूस करते हैं। एक ही जल के युगपद परस्पर विरोधी विशेषताओं के धारण करने के कारण ही बर्कले ने कहा था कि वे आत्मनिष्ठ हैं। अतः, रसेल यहाँ इस बात को सिद्ध करने में सर्वथा असफल रहे हैं कि तप्तता और शीतलता बाह्य वस्तु की वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ हैं।

मूर और रसेल के अतिरिक्त प्रो० प्राइस ने भी बर्कले के मतों का खण्डन किया है। उनके द्वारा बर्कले का खण्डन प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही है, क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तक[2] में ह्यूम के इस मत का खण्डन किया है कि 'अनुभव निरपेक्ष संवेद्यार्थों का अस्तित्व असम्भव है।"[3] ह्यूम के इस तथाकथित मत का खण्डन होने से बर्कले के 'सत्यम् दृश्यम्' सिद्धान्त का भी स्वतः खण्डन हो जाता है। चूँकि प्राइस ने बर्कले का परोक्ष रूप में खण्डन किया है, अतः उसके खण्डन की बात हम यहाँ नहीं करेंगे।

डेविड ह्यूम

(David Hume) (1711-1766)

जीवन वृत्त—डेविड ह्यूम अठारहवीं शताब्दी के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। उनके दर्शन में वे सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जो उस समय के चिन्तन में विद्यमान थीं। ह्यूम के दर्शन में अनुभववाद की पराकाष्ठा मिलती है।

डेविड ह्यूम का जन्म 26 अप्रैल सन् 1711 को एडिनबरा, स्कॉटलैंड में हुआ था। उनका परिवार धनी नहीं था। प्रारम्भ में उनकी शिक्षा दीक्षा घर पर ही प्रारम्भ हुई। जब वे बारह वर्ष के हुये, उन्हें एडिनबरा विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु भरती किया गया। उस समय विश्वविद्यालय में प्रारंभ में बालकों को मुख्यतया भाषा की ही शिक्षा दी जाती थी।

1. रसेल, हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसॉफी, पृ० 679।
2. प्राइस, एच० एच, ह्यूम, द थियरी ऑव द इक्स्टर्नल वर्ल्ड, पृ० 105।
3. There can be no unsensed sensibilia.

इस प्रथा के अनुसार ह्यूम को लैटिन, फ्रेन्च और अंग्रेजी की शिक्षा दी गई। बालकों को भाषा की शिक्षा 14-15 साल की उम्र तक दी जाती थी। जब वे भाषा में पूर्णतया प्रवीण हो जाते थे, उन्हें अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कराया जाता था। साहित्य, दर्शन और इतिहास के प्रति उनकी विशेष रूचि थी। दर्शन का अनुशीलन उन्होंने अपने स्वाध्याय से किया। तर्क-शास्त्र, काव्य और कथानक के प्रति उनकी विशेष रूचि थी।

रचनाएँ—ब्रिस्टल में व्यापार के असफल होने के बाद ह्यूम फ्रांस में बसने के हेतु गए। फ्रांस में वे लाफ्लेश नामक स्थान पर जाकर बस गए जहाँ एक शताब्दी पूर्व डेकार्ट्स ने शिक्षा ग्रहण किया था। वहीं उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'मानव स्वभाव पर एक ग्रन्थ' (A Treatise on Human Nature) लिखा। यह पुस्तक तीन भागों में लिखी गई थी जिसके दो भाग 1739 और तीसरे भाग 1740 में लन्दन में प्रकाशित हुए। उस समय दर्शन की इस युगान्तकारी रचना की लोगों ने उपेक्षा की। ह्यूम ने स्वयं लिखा है, 'प्रेस से मानों वह मृतक उत्पन्न हुई थी।' इस ग्रंथ में ह्यूम ने द्रव्यों का खंडन और संशयवाद का मण्डन किया है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि फ्रांस के लाफ्लेश नामक नगर में ही शिक्षित होकर डेकार्ट्स ने आत्मवाद और निश्चय-वाद की स्थापना की थी। पुनः, इसी लाफ्लेश में ह्यूम ने आत्मवाद का खंडन करके संशयवाद की स्थापना किया।

"मानव स्वभाव पर एक ग्रन्थ" लिखने के बाद ह्यूम फ्रांस छोड़कर स्वदेश स्कॉटलैंड लौट आये। यहाँ राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में अपना ध्यान लगाया। 1741 में उन्होंने अपनी द्वितीय पुस्तक "नैतिक और राजनीतिक निबन्ध" (Essays : Moral and Political) प्रकाशित किया। इस पुस्तक के कारण उन्हें पैसा और यश दोनों मिला। उन्होंने इसी बीच दो बार विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति के लिए प्रयत्न किया, पर अपने संशयवाद व निरीश्वरवाद के कारण वे उसमें सफल न हो सके। इसके बाद 1748 में उन्होंने "मानव बुद्धि से संबंधित दार्शनिक निबन्ध" (Philosophical Essays Concerning Human Understanding), 1751 में "सदाचार के सिद्धान्तों से सम्बन्धित एक विमर्श" (An Inquiry Concerning the Principles of Morals), तथा 1752 में "राजनीतिक विवेचन" (Political Discourse) प्रकाशित किया। इसके एक वर्ष बाद 1752 में ह्यूम एडिनवरा की एडवोकेट लाइब्रेरी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इस नियुक्ति से उन्हें अध्ययन की पर्याप्त सुविधा मिली जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने पाँच खण्डों में "इंगलैंड का इतिहास" (History of England) 1754 से 1762 तक प्रकाशित कराया। 1757 में ह्यूम ने चार ग्रन्थ (Four Dissertations) प्रकाशित कराया जो क्रमशः निम्न हैं : धर्म का प्राकृतिक इतिहास (The Natural History of Religion), संवेग (On Passions), दुखान्त नाटक (Of Tragedy) और रूचि का प्रतिमान (Of the Standard of Taste)।

प्रत्यक्षवाद

(Positivism)

प्रत्यक्षवादी विचारधारा लॉक से प्रारम्भ होती है पर उन्होंने अपने दर्शन में कुछ ऐसे तत्त्वों को स्वीकार किया जो प्रत्यक्षवाद के बिलकुल विपरीत जाते थे। जैसे विशुद्ध प्रत्यक्षवाद के आधार पर जड़-जगत, आत्मा और ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। लॉक ने

प्रत्यक्षवाद को जड़वाद से सम्बन्धित कर अपने दर्शन में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी थीं। बर्कले ने अपने दर्शन को जड़वाद से तो मुक्त कर दिया पर उसके स्थान पर अध्यात्मवाद को लाकर प्रतिष्ठित कर दिया। बर्कले का अध्यात्मवाद प्रत्यक्षवाद के उतना ही विपरीत है जितना लॉक का जड़वाद। ह्यूम ने स्पष्ट रूप से कहा कि प्रत्यक्षवाद के आधार पर किसी प्रकार के तत्त्ववाद की स्थापना नहीं की जा सकती। प्रत्यक्षवाद एक शुद्ध ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है; इसका तत्त्वमीमांसा से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। प्रत्यक्षवाद के लिए सत्यं दृश्यं का सिद्धान्त ही मान्य हो सकता है। जो दृश्य नहीं है वह सत्य की परिधि में नहीं लाया जा सकता। ह्यूम ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया। 'मानवीय बुद्धि से सम्बन्धित विमर्श' के अंत में ह्यूम ने जो लिखा है वह उसकी प्रत्यक्षवादी प्रवृत्ति को अच्छी प्रकार व्यक्त करता है—

"इन सिद्धान्तों को मानते हुए जब हम किसी पुस्तकालय में जाते हैं तो हमें कौन सा विध्वंस करना है ? उदाहरण के लिए यदि हम धर्मशास्त्र या ईसाई निकायों के तत्त्ववाद की किसी किताब को उठाते हैं तो हमें पूछना चाहिए : क्या इसमें गुण या संख्या के विषय में कोई अमूर्त चिन्तन है ? नहीं। क्या इसमें वस्तु-तथ्य और अस्तित्व के विषय में कोई प्रयोग मूलक चिन्तन है ? नहीं। तब इसको जला दो क्योंकि इसमें सिवाय वितण्डा और भ्रम के और कुछ नहीं है।"[1]

यहाँ ह्यूम ने दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की है : प्रथम विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Knowledge of the Relations of Ideas) और दूसरा वस्तु-जगत का ज्ञान (Knowledge of the Matters of Fact)। प्रथम प्रकार का ज्ञान अनिवार्य और निश्चयात्मक होता है जिसका निषेध वदतोव्याघात होता है। गणित और तर्कशास्त्र के ज्ञान इसी प्रकार के होते हैं। 7+5=12 विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान है जो कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता। यह एक आकारिक ज्ञान (Formal Knowledge) ही होता है। और इसका वस्तु जगत से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत, दूसरे प्रकार के ज्ञान का सम्बन्ध वस्तु-जगत से है और यह इन्द्रियानुभव (Empirical Knowledge) पर प्रतिष्ठित है। यहाँ अनिवार्य निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। पृथक्-पृथक् और विशिष्ट संवेदनाओं पर आधारित होने के कारण वस्तु-जगत का ज्ञान सम्भाव्य (Probable) ही होता है। इस ज्ञान का निषेध वदतोव्याघात नहीं होता। उदाहरण के लिए 'अग्नि जलाती है' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है क्योंकि आगे भी अग्नि हमें जलाती रहेगी, इसका हमें आज कोई पूर्ण आश्वासन नहीं दे सकता। इस प्रकार ह्यूम प्रत्येक विज्ञान को इन दो सत्यों में विभाजित करते हैं। किसी तीसरे प्रकार के सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इन्हीं दो प्रकार के

---

1. Inquiry Concerning the Human Understanding, "When we run over our libraries, persuaded of these principles, what havoc must we make ? If we take in our hand any volume ; of divinity or school metaphysics, for instance ; let us ask, Does it contain any abstract reasoning concerning quantity or number ? No. Does it contain an experimental reasoning concerning matter of fact and existence ? No. Commit it then to the flames : for it can contain nothing but sophistry and illusion."

सत्यों की ओर संकेत करते हुए ह्यूम ने कहा था कि यदि कोई ऐसा ग्रन्थ है जिसमें इन दो सत्यों में से किसी का वर्णन नहीं है तो वह अत्यन्त तुच्छ है और वह जला देने के योग्य है।

विज्ञान का अर्थ

लॉक, बर्कले और ह्यूम इन तीनों दार्शनिकों के अनुसार विज्ञान (Idea) ही एक मात्र हमारे ज्ञान के विषय हैं। पर तीनों ने अपने दर्शन में विज्ञान (Idea) को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया है। यद्यपि तीनों दार्शनिक प्रतिबिम्बवाद (Copy-Theory) में विश्वास करते हैं पर उनके बिम्बों में पर्याप्त अन्तर है। लॉक के अनुसार विज्ञान बाह्य जड़-पदार्थों के मूल गुणों और उपगुणों के प्रतिबिम्ब हैं। बर्कले के अनुसार विज्ञान ईश्वरीय विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। ह्यूम के अनुसार विज्ञान न तो बाह्य पदार्थों के गुणों के प्रतिबिम्ब हैं और न ईश्वरीय विचारों के प्रतिबिम्ब, वे संस्कारों (संवेदनाओं और स्वसंवेदनाओं) के ही प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार प्रत्येक अनुभववादी दार्शनिक के लिए विज्ञान एक प्रतिबिम्ब ही है।

मानवीय ज्ञान के घटक

मानवीय ज्ञान को समझने के लिए उसके घटक-तत्त्वों को समझना अत्यन्त आवश्यक है जिनसे मिलकर वह ज्ञान निर्मित होता है। ह्यूम के अनुसार हमारा ज्ञान प्रत्यक्षों (Perceptions) से मिलकर बनता है। इन प्रत्यक्षों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : संस्कार (Impressions) और विज्ञान (Idea)। संस्कार शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ह्यूम ने ही किया पर इस शब्द का अर्थ नवीन नहीं है। लॉक और बर्कले ने जिस अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'संवेदना' और 'स्वसंवेदना' शब्दों का प्रयोग किया था उसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए ह्यूम 'संस्कार' शब्द का प्रयोग करते हैं। संस्कार और विज्ञान का भेद गौण है अथवा अनुभव की स्पष्टता और तीव्रता के न्यूनाधिक्य का भेद है।

लॉक और बर्कले ने प्रत्यक्ष की कारणगत व्याख्या (Causal Theory of Perception) प्रस्तुत की थी। पर यदि हमारे प्रत्यक्षों का कारण सदा अज्ञात है तो उसकी कारणगत व्याख्या कभी भी संतोषप्रद नहीं हो सकती। यही सोचकर ह्यूम ने प्रत्यक्षों की कारणगत व्याख्या का परित्याग कर दिया था।[1] जब बाह्य अस्तित्व का ज्ञान असम्भव है, तो उसके माध्यम से प्रत्यक्ष की किस प्रकार व्याख्या हो सकती है ? इसी कारण ह्यूम ने प्रत्यक्षों की व्याख्या उनके बाह्य कारणों द्वारा न कर उनके आन्तरिक स्वभाव द्वारा करने की चेष्टा की है।

संस्कारों और विज्ञानों का भेद स्पष्ट करते हुए ह्यूम कहते हैं कि जो प्रत्यक्ष तीव्र और स्पष्ट होते हैं उन्हें संस्कार कहते हैं पर जो प्रत्यक्ष क्षीण और अस्पष्ट हैं उन्हें विज्ञान कहते हैं। "इन दोनों का भेद उस तीव्रता और स्पष्टता की मात्रा में है जिसके साथ वे हमारे मानस से टकराते हैं और हमारी आत्मा में प्रवेश करते हैं। उन प्रत्यक्षों को जो बड़ी शक्ति और तेजी के साथ आते हैं हम 'संस्कार' कहते हैं और इस नाम के अन्तर्गत मैं अपने सभी इन्द्रिय-संवेदनों, मनोवेगों और भावनाओं को समझता हूँ जो आत्मा में सबसे पहले प्रवेश करती हैं। 'विज्ञानों'

---

1. मानव स्वभाव पर ग्रन्थ, पुस्तक 1, भाग 2, अधि० 6।

से मेरा तात्पर्य विचार या चिन्तन में प्रयुक्त होने वाले इनके प्रतिरूपों से हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सामान्यतया संस्कारों और विज्ञानों में प्रगाढ़ता का अंतर पाया जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि विज्ञान पर्याप्त तीव्र और स्पष्ट है पर संस्कार क्षीण और अस्पष्ट। ह्यूम के ही शब्दों में : 'सोने में, बुखार में, पागलपन में, या आत्मा के किन्हीं अन्य बहुत गर्म-संवेगों में, हमारे प्रत्यय हमारे संस्कार की भाँति हो सकते हैं और कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे संस्कार इतने धूमिल और मन्द होते हैं कि हम उन्हें अपने प्रत्ययों से भिन्न नहीं कर सकते हैं। परन्तु इन कुछ उदाहरणों में दोनों की समानता के बावजूद दोनों सामान्यतः एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और दोनों को दो वर्गों में बाँटने में किसी को आपत्ति न होगी।"[2]

साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि संस्कार तीव्र और शक्तिशाली होते हैं पर विज्ञान क्षीण और शक्तिहीन होते हैं। संस्कार मौलिक और विम्बवत हैं पर विज्ञान गौण और प्रतिबिम्बवत हैं। काल की दृष्टि से संस्कार पूर्ववर्ती है और विज्ञान परवर्ती। संस्कार प्रदत्त है तो विज्ञान निर्मित। संक्षेप में : संस्कारों और विज्ञानों में सजीवता, प्रबलता, पूर्वापर व मूलता-गौणता का अन्तर पाया जाता है।

संस्कारों और विज्ञानों के प्रकार—लॉक के समान ह्यूम ने भी संस्कारों और विज्ञानों के दो भेद किए हैं : प्रथम सरल (Simple) और द्वितीय मिश्र (Complex)। लॉक के अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो संवेदन या स्वसंवेदन या दोनों से प्राप्त होते हैं तथा मिश्र विज्ञान वे हैं जिनको आत्मा सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनाती है। इस सम्बन्ध में ह्यूम के विचार लॉक से बिलकुल भिन्न हैं। उनके अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो अपने मूल संस्कारों के प्रतिरूप होते हैं तथा मिश्र विज्ञान वे हैं जिनके मूल संस्कारों का होना अनिवार्य नहीं है। ह्यूम के अनुसार सामान्य रूप में "संस्कारों और विज्ञानों में सादृश्य-सम्बन्ध होता है।"[3] पर यह नियम प्रत्येक परिस्थिति में लागू नहीं होता। सरल और मिश्र विज्ञानों को परिभाषित करते हुए ह्यूम कहते हैं : "सरल प्रत्यक्ष या संस्कार और विज्ञान वे हैं जिनमें भेदता या वियोजनीयता सम्भव नहीं है। इसके विपरीत मिश्र प्रत्यक्ष या संस्कार और विज्ञान वे हैं जिनके घटकों में भेद सम्भव है।"[4] सरल विज्ञानों की आगे व्याख्या करते हुये ह्यूम कहते हैं, "प्रत्येक सरल विज्ञान का एक सरल संस्कार होता है और प्रत्येक सरल संस्कार का एक संवादी विज्ञान होता

---

1. वही, प्र० 1, भाग 1, अधि० 1, "The difference between these consists in the degrees of force and liveliness with which they strike upon the mind, and make their way into our thought or conscious-ness. Those perceptions which enter with most force and violence, we may name impressions, and under this name I comprehend all our sensations, passions and emotions, as they make their first appearance in the soul. By ideas, I mean the faint images of these in thinking and reasoning."
2. वही।
3. वही, ग्रन्थ 1, भाग 1, अधि० 1, "that all our ideas and impressions are resembling."
4. वही, "Simple perceptions or impressions and ideas are such as admit of no distinction nor separation. The complex ideas are contrary to these, and may be distinguished into parts."

है।"[1] किन्तु यह नियम सभी विज्ञानों और संस्कारों के बीच लागू नहीं होता। पहले तो ह्यूम ने कहा कि विज्ञान संस्कारों के प्रतिबिम्ब होते हैं। बाद में जब उन्होंने देखा कि यह नियम सार्वभौम नहीं हो सकता तो इसमें सुधार करने के लिए विज्ञानों के सरल और मिश्र दो भेद कर दिये और कहा कि सरल विज्ञानों के मूल बिम्बों का होना अनिवार्य है किन्तु मिश्र विज्ञानों के लिए इन मूल बिम्बों का होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए हम 'सुनहरे पर्वत' (Golden Mountain) का मिश्र विज्ञान बना सकते हैं यद्यपि इसका कोई पूर्ववर्ती संस्कार हमें प्राप्त नहीं है। विज्ञानों की तरह संस्कार भी दो प्रकार के होते हैं : सरल संस्कार और मिश्र संस्कार। सरल संस्कार मौलिक हैं जो संवेदन या स्वसंवेदन द्वार से उत्पन्न होते हैं। इन सरल संस्कारों को संयुक्त कर हम मिश्र संस्कारों का निर्माण करते हैं। सरल संस्कार ही ज्ञान के मूल स्त्रोत हैं। जहाँ संस्कार नहीं हैं वहाँ विज्ञान नहीं हो सकता।[2] जिस वस्तु का संस्कार नहीं होता उसका ज्ञान केवल भ्रम है।

संस्कारों का एक दूसरा भी विभाजन है : संवेदन-संस्कार और स्व-संवेदन संस्कार। "प्रथम प्रकार के संस्कार आत्मा में मूलतः अज्ञात कारणों से उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार के संरकार अधिकतर हमारे विज्ञानों से ही उत्पन्न होते हैं।"[3] इनके उत्पन्न होने की विधि निम्न है : कोई संस्कार सर्वप्रथम इन्द्रियों पर आघात करता है और हमसे उष्णता या शीतलता, प्यास या भूख, सुख या दुख या किसी और का प्रत्यक्ष कराता है। इस संस्कार की एक प्रतिलिपि मन ले लेता है जो इस संस्कार के नष्ट होने के बाद रह जाती है। इसे हम विज्ञान कहते हैं। सुख या दुख का यह विज्ञान जब आत्मा में वापस आता है तब यह इच्छा और द्वेष, आशा और भय के नए संस्कार पैदा करता है जिन्हें अच्छी प्रकार स्वसंवेदन के संस्कार कहा जा सकता है क्योंकि वे स्वसंवेदन से उत्पन्न हैं। स्मृति और कल्पना के द्वारा इनकी प्रतिलिपि पुनः ले ली जाती है जो विज्ञान हो जाती है। इस प्रकार स्वसंवेदन के संस्कार अपने अनुरूप विचारों के केवल पूर्ववर्ती ही नहीं है वरन् संवेदना के संस्कारों के परवर्ती और उनसे उत्पन्न हैं।"[4] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि केवल संस्कार ही विज्ञानों को उत्पन्न नहीं करते, विज्ञान भी संस्कारों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

पुनः, विज्ञानों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है : प्रथम स्मृति (Memory) के विज्ञान और द्वितीय कल्पना (Imagination) के विज्ञान। "हम अनुभव से जानते हैं कि जब मन में कोई संस्कार उपस्थित रहता है, तब यह पुनः विज्ञान के रूप में प्रकट होता है। ऐसा यह दो भिन्न प्रकारों से कर सकता है। प्रथम यह अपने नए रूप में पहले की सजीवता की पर्याप्त मात्रा रखता है और एक संस्कार तथा एक विज्ञान का मध्यवर्ती जैसा है। दूसरे, यह उस चमक की पूर्णता खो बैटता है और एक पूर्ण विज्ञान बन जाता है। प्रथम रीति से हम अपने संस्कारों की आवृति जिस शक्ति से करते हैं उसे स्मृति कहा जाता है और दूसरी रीति

---

1. वही, "Every simple idea has a simple impression, which resembles it, and every simple impression a correspondent idea."
2. वही, "There can be no idea without an antecedent impression."
3. वही, अधिकरण "The first kind arises in the soul originally, from unknown causes. The second is derived in a great measure, from our ideas."
4. वही, अधि० 2।

से जिस शक्ति से करते हैं उसे कल्पना।"[1] मानव-ज्ञान के पूर्ण अंगों को हम निम्न तालिका द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—
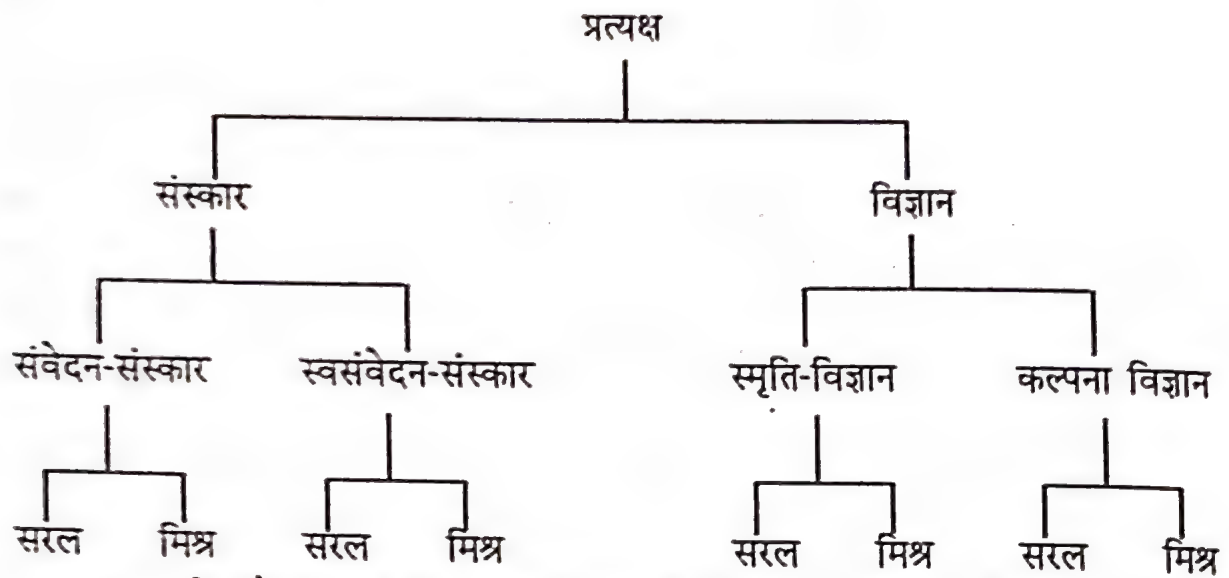
संस्कारों और विज्ञानों में संस्कार मौलिक हैं और विज्ञान व्युत्पन्न हैं। हमें अपने प्रत्येक ज्ञान का विश्लेषण इन्हीं संस्कारों की कोटियों में करना है। यदि हमारे पास कोई ऐसा ज्ञान है जो संस्कारों में घटित नहीं किया जा सकता तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। ह्यूम के शब्दों में : "जब हमें संदेह हो कि अमुक दार्शनिक शब्द या विज्ञान निरर्थक है तब हमें केवल यही पूछना है—वह तथाकथित विज्ञान किस संस्कार से व्युत्पन्न है ? यदि किसी संस्कार को बता सकना असम्भव है, तो हमारा संदेह पुष्ट हो जाता है। विज्ञानों पर इतना स्पष्ट प्रकाश डालकर हम यह युक्तियुक्त आशा कर सकते हैं कि विज्ञानों के स्वभाव व यथार्थता के सम्बन्ध में जितने विवाद उठते हैं उन्हें हम उठा देंगे।[2]

मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद

(Psychological Atomism)

ह्यूम के अनुसार ऐसे कोई दो संस्कार नहीं है जो पूर्णतया अवियोजनीय हों। वे यहाँ तक कहते हैं कि जो विचार में वियोजनीय हैं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। वे मानव स्वभाव पर ग्रन्थ के परिशिष्ट में लिखते हैं : "जो वस्तुएँ भिन्न हैं उनका भेद दिखाया जा सकता है, और जिन वस्तुओं का भेद दिखाया जा सकता है वे चिन्तन या कल्पना द्वारा पृथक् की जा सकती हैं। सभी प्रत्यक्ष भिन्न हैं। अतः उनको भिन्न तथा पृथक् किया जा सकता है। उनको पृथकतया सत् समझा जा सकता है। वे बिना किसी बाध या असंगति के

1. वहीं, अधि० 3।
2. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, 2 "When we entertain any suspicion that a philosophical term is employed without any meaning or idea, we need but inquire, from what impression is that supposed idea derived ? And if it be impossible to assign any, this will serve to conform our suspicion. By bringing ideas into so clear a light, we may reasonably hope to remove all dispute, which may arise concerning their nature and reality.

सत् हो सकते हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष चाहे वे संस्कार हों या विज्ञान, अस्तित्व के पृथक् परमाणु हैं। अतः उनके बीच साहचर्य केवल आपातिक और सम्बन्ध साधारण ही हो सकता है। जिस सिद्धान्त के अनुसार हमारा सम्पूर्ण अनुभव मूल वियोजनीय परमाणुओं में घटित किया जा सकता है, मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद कहलाता है।

नामवाद

(Nominalism)

यदि हमारे सभी संस्कार और विज्ञान मनोवैज्ञानिक परमाणु हैं और एक परमाणु का दूसरे परमाणु से कोई सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी स्थिति में क्या ह्यूम के दर्शन में अमूर्त सामान्य विज्ञानों का कोई स्थान हो सकता है ? लॉक ने इस बात को स्वीकार करते हुये कि हमारे सभी विज्ञान विशेष हैं, एक अमूर्त विज्ञान की कल्पना की थी। बर्कले ने आगे चलकर अमूर्त सामान्य का खंडन किया और कहा कि हम किसी ऐसी आकृति की कल्पना नहीं कर सकते जो न त्रिभुजाकार हो, न आयताकार, न वर्गाकार और न किसी अन्य विशेष आकार का हो। उसने केवल विशेषों के अस्तित्व को ही स्वीकार किया और कहा कि ये विशेष किसी समान वस्तु के सदस्यों के संकेत (Sign) रूप में कार्य कर सकते हैं। उदाहरण के लिए लाल उन सभी वस्तुओं का वह रंग है जो टमाटर के समान होते हैं।

ह्यूम ने और आगे बढ़कर कहा कि जो भेदनीय है वह वियोजनीय अवश्य होगा, अर्थात् जो भेदनीय नहीं है वह वियोजनीय नहीं हो सकता। आकार, आकृति और रंग वियोजनीय नहीं हैं, अतः वे भेदनीय भी नहीं हो सकते। ये तीनों एक ही विज्ञान में संयुक्त है ; उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम किसी ऐसी आकृति की कल्पना नहीं कर सकते जिसका कोई आकार या रंग न हो। इसी प्रकार, हम किसी ऐसे सामान्य त्रिभुज की कल्पना नहीं कर सकते जो न समत्रिबाहु हो, न समद्विबाहु और न विषमबाहु हो। सामान्य विशेषताएँ (General Characters) तो हो सकती हैं पर सामान्य विज्ञान की कल्पना एक बाधित कल्पना है।

अतः ह्यूम के अनुसार कोई सामान्य विज्ञान नहीं है, सामान्य केवल नाम है जो किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं की सामान्य विशेषताओं या सादृश्यों की ओर निर्देश करता है। दर्शन में सामान्य के इस सिद्धान्त को नामवाद (Nominalism) कहते हैं। ह्यूम के ही शब्दों में : "सामान्य विज्ञान विशिष्ट विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो किसी पद के साथ संयुक्त कर दिये जाते हैं जो उन्हें एक विस्तृत महत्त्व प्रदान करता है और जो अवसरानुकूल ऐसे व्यष्टियों का प्रत्याहान करता है जो उनके समान होते हैं।"[2] पर यहाँ देने की बात यह है कि

1. मानव स्वभाव पर ग्रन्थ, परिशिष्ट, "Whatever objects are different, are distinguishable, and whatever objects are distinguishable are separable by thought and imagination. All our perceptions are distinct and may be considered as separately existent."
2. "General ideas are nothing but particular ones, annexed to a certain term, which gives them a more extensive signification, and makes them recall upon occasion other individuals, which are similar to them."

सादृश्य (Resemblance) स्वयं एक सामान्य विशेषता का नाम है जिसके लिये उसी प्रकार की व्याख्या नहीं दी जा सकती। जैसा रसेल[1] (B. Russell) ने संकेत किया है कि यदि सामान्य विज्ञानों की व्याख्या सामान्य विशेषताओं के माध्यम से किया जाय तो भी कम-से-कम एक सामान्य अवश्य बच रहेगा जिसे सादृश्य (Resemblance) कहते हैं। आगे हम देखेंगे कि सामान्य तत्त्व की उपेक्षा से ह्यूम की ज्ञानमीमांसा में ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है कि उनका समाधान करना कठिन हो जाता है।

साहचर्य-नियम

(Laws of Association)

जब हमारे सभी संस्कार और विज्ञान स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करते हैं और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे किस प्रकार परस्पर संयुक्त होकर हमारे ज्ञान का निर्माण करते हैं। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि "संक्षेप में, दो सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके बीच मैं परस्पर संगति नहीं स्थापित कर सकता, और न उनमें से किसी को त्यागने की ही मेरे भीतर शक्ति है, अर्थात् हमारे सभी स्पष्ट प्रत्यक्ष भिन्न अस्तित्व रखते हैं और आत्मा इन भिन्न अस्तित्वों में कोई वास्तविक सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं करती।"[2] इस स्थिति में ऐसी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो इन स्वतंत्र अस्तित्वों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हो। ह्यूम ने इसे **साहचर्य-नियम** (Laws of Association) कहा है जो विज्ञानों के बीच काम करता है। यह साहचर्य कल्पना का कार्य है। हमारे सभी संस्कार और विज्ञान स्वतन्त्र हैं और कल्पना भी अपने व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्वतन्त्र कल्पना स्वतन्त्र अस्तित्वों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित करेगी वह कोई अनिवार्य और वस्तुगत सम्बन्ध न होकर आपातिक और आत्मगत ही होगा। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि इन नियमों में कोई सार्वभौम सिद्धान्त या अनिवार्यता नहीं है। इनमें केवल आनन्तर्य ही पाया जाता है। दूसरी बात जो इनमें पाई जाती है वह यह है कि इनमें आत्यन्तिक विरोध का अभाव पाया जाता है। एक विज्ञान के अनन्तर जो दूसरा विज्ञान आता है वह पहले विज्ञान का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता।

साहचर्य-नियम के आन्तरिक स्वभाव का वर्णन करते हुए ह्यूम कहते हैं कि यह कोई सुदृढ़ शक्ति नहीं है। यह केवल एक मन्द शक्ति ही है जो इस अर्थ में स्वाभाविक कही जा सकती है कि यह मनुष्य के व्यक्तिगत मनोविज्ञान में स्वतः कार्य कर रही है। "यदि विज्ञान पूर्णतया पृथक् और असंबद्ध होते तो संयोग ही उनको संयुक्त करता और बिना उनके पारस्परिक सम्बन्ध के या किसी साहचर्य-गुण के जिससे एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को स्वभावतः प्रस्तुत करता है, यह असम्भव होता कि वह शुद्ध विज्ञान नियमतः किन्हीं मिश्रित विज्ञानों के अन्दर होते जैसा कि प्रायः होता है। विज्ञानों के इस साहचर्य-सिद्धान्त को एक अवियोजनीय

---

1. प्राबलम्स ऑव फिलॉसॉफी—दशम् अध्याय।
2. मानव-ज्ञान पर निबन्ध, परिशिष्ट 'In short, there are two principles which I cannot render consistent; nor is it in my power to renounce either of them, viz that all our distinct perceptions are distinct existences and that the mind never perceives any real connection among distinct existences."

सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए क्योंकि वह कल्पना से पहले ही बहिष्कृत है। हम यह भी नहीं कह सकते कि इसके बिना मन दो विज्ञानों को संयुक्त नहीं कर सकता है क्योंकि कल्पना से स्वतन्त्र अन्य कोई वस्तु नहीं है। किन्तु हमें इसे केवल मन्द शक्ति (Gentle Force) ही समझना है जो साधारण रूप से व्याप्त है। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त भाषाओं में जो आपसी संवादिता है उसका कारण यह शक्ति है जो किसी मिश्र विज्ञान में संगठित होने के उपयुक्त हैं। जिन गुणों से यह साहचर्य उत्पन्न होता है और जिन गुणों से मन इसके अनुसार एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान को सोचता है वे तीन हैं : अर्थात् सादृश्य (Resemblance), कालगत या देशगत सामीप्य (Contiguity) और कारण तथा कार्य (Cause and Effect)।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ह्यूम ने विज्ञानों के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की है—**प्रथम सादृश्य सम्बन्ध** (Association of Resemblance or Similarity)—दो वस्तुएँ या विज्ञान यदि परस्पर समान हों तो एक का विज्ञान होने पर दूसरी वस्तु का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है। दूसरा **कालगत या देशगत सम्बन्ध** (Association of Contiguity in Time or Space)—यदि दो विज्ञान या घटनाएँ एक के बाद एक घटित हों अथवा एक ही स्थान में घटित होती हों तो एक विज्ञान से दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जायेगा। उपर्युक्त दोनों साहचर्य-सम्बन्ध इंद्रिय-प्रत्यक्ष के भीतर ही कार्य करते हैं। एक तीसरा साहचर्य सम्बन्ध भी है जो प्रत्यक्ष से बाहर की वस्तु-जगत की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है जिसे कारण-कार्य सम्बन्ध कहते हैं। यह तीसरा **कारण-कार्य-सम्बन्ध**—(Association of Causality) वह साहचर्य-सम्बन्ध है जिसमें एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करता है। ह्यूम के अनुसार जड़-जगत के समान विज्ञान-जगत में भी आकर्षण का नियम (Law of Gravitation) कार्य करता है। विज्ञान-जगत में इन नियमों का वही महत्त्व है जो जड़-जगत में आकर्षण-नियम का है। इन्हीं तीन साहचर्य-नियमों के अनुसार हमारे ज्ञान के विषयों का निर्माण होता है।

कारणता का विश्लेषण
(Analysis of Causation)

ह्यूम ने ऊपर दो प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा की : दार्शनिक सम्बन्ध जो विज्ञानों पर ही पूर्णतया आश्रित होते हैं और दूसरा प्राकृतिक सम्बन्ध (Natural Relation) जो विज्ञानों पर ही आश्रित न होकर अनुभव पर आश्रित होते हैं। अभेद, सामीप्य और कारणता के सम्बन्ध इसी कोटि में आते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ह्यूम ने कारणता को प्राकृतिक और दार्शनिक दोनों प्रकार के सम्बन्धों में समाहित किया है। अतः, उन्होंने कारणता का दो प्रकार से खण्डन भी किया है : उन्हें कारणता दार्शनिक सम्बन्ध रूप में और प्राकृतिक सम्बन्ध रूप में किसी भी प्रकार मान्य नहीं है।

कारण-कार्य-सम्बन्ध ही एक ऐसा सम्बन्ध है जो मानव को उन वस्तुओं और घटनाओं के विषय में निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित करता है जो हमारे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं।

---

1. वही, ग्रन्थ 1, भाग 1, अधि० 4।

कुछ दार्शनिकों का कथन है कि ह्यूम ने कारणता-नियम का खण्डन किया है पर प्रो० प्राइस[1] (H.H. Price) के अनुसार ऐसा सोचना परम भूल होगा। इसी प्रकार प्रो० एयर (A.J. Ayer) का मत है कि ह्यूम द्वारा कारणता-नियम के निषेध की बात तो दूर है, उन्होंने उसे परिभाषित करने का ही सतत प्रयत्न किया।[2] यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि ह्यूम ने कारणता नियम का निषेध नहीं वरन् उसे स्वीकार ही किया जैसा विज्ञान, दर्शन और धर्म में स्वीकार किया जाता है किन्तु ह्यूम के पहले कारणता-नियम को एक सार्वभौम नियम के रूप में माना जाता रहा है। इसी नियम के आधार पर विज्ञान ने जड़-तत्त्व की, दर्शन ने आत्म-तत्त्व की एवं धर्म ने ईश्वर-तत्त्व की सिद्धि किया। ह्यूम ने इन तीनों तत्त्वों का खण्डन करने के पहले इस मूल नियम पर ही कुठाराघात किया। अतः यह कहना कि ह्यूम ने कारणता-नियम का खण्डन नहीं किया, उचित नहीं जान पड़ता।

ह्यूम के अनुसार तर्क दो प्रकार के होते हैं : प्रथम विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध (Relations of Ideas) के विषय में और द्वितीय वस्तु-जगत (Matters of Fact) के सम्बन्ध में। दोनों प्रकार के तर्कों का सहारा लेकर ह्यूम कारणता नियम का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

उनका तर्क इस प्रकार है। यदि मान लिया जाय कि कारणता-नियम नाम की कोई वस्तु संसार में है, तो हमें उसका ज्ञान होना चाहिए। उसका ज्ञान हमें केवल दो ही प्रकार से हो सकता है, या तो बुद्धि द्वारा या अनुभव द्वारा। दोनों विकल्पों पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

1. बुद्धि (Reason) द्वारा—यदि मान लिया जाय कि कारणता नियम का ज्ञान हमें बुद्धि द्वारा (Apriori) होता है तो इससे जिस ज्ञान की उत्पत्ति होगी वह केवल विश्लेषणात्मक (Analytic) ही हो सकता है। विशुद्ध बुद्धि का कार्य विज्ञानों का मात्र विश्लेषण करना ही होता है, नवीन विधेयों (New Predicates) को उत्पन्न करना नहीं। कारणता-नियम कोई विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य नहीं है, यह संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य है। अतः बुद्धि द्वारा इसका ज्ञान होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि किसी संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य का ज्ञान बुद्धि द्वारा हो सकता है ; इसके विरोध में ह्यूम ने निम्न तर्क उपस्थित किए हैं—

(अ) प्रत्येक वस्तु सकारण है इसे युक्ति द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। "सभी भिन्न विज्ञान एक दूसरे से पृथक् हैं। चूँकि कारण का विज्ञान कार्य के विज्ञान से स्पष्टतः भिन्न है, इसलिए हम आसानी से सोच सकते हैं कि कोई वस्तु इस क्षण असत् है और आगामी क्षण सत् है और वह किसी कारण या उत्पादक शक्ति के विज्ञान से संयुक्त नहीं है। अतः कारण के विज्ञान को कार्य के विज्ञान से पृथक् करना कल्पना के लिए सम्भव है। फलतः इन विषयों का यथार्थ पार्थक्य यहाँ तक सम्भव है कि इसमें कोई बाध या असंगति नहीं है। यह तर्क मात्र विज्ञानों पर आधारित किसी युक्ति से खण्डित नहीं किया जा सकता है।"[3]

1. The Permanent Significance of Hume's Philosophy, Philosophy, XV ; No 57.
2. Language, Truth and Logic, p, 54.
3. मानव स्वभाव पर एक ग्रन्थ, भाग 1, खण्ड 3, अधिकरण, 3।

(ब) कुछ लोग कहते हैं कि कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है अतः केवल कारण के ज्ञान से ही हम कार्य के विषय में निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ह्यूम इसका खण्डन करते हैं। उनके अनुसार कारण के विज्ञान में ऐसी कोई बात नहीं होती कि उसके आधार पर कार्य, जो उसके बाहर है, के विषय में कोई निष्कर्ष निकाला जा सके। "किसी बड़े बुद्धिमान और योग्य आदमी को कोई वस्तु दीजिए जो उसके लिए बिलकुल नया हो, वह उसके संवेद्य गुणों के सूक्ष्म परीक्षणों के द्वारा उसके कारणों या कार्यों की खोज नहीं कर सकता है। यदि हम मान लें कि मनुष्य की बौद्धिक शक्तियाँ पूर्ण थीं तो भी वह जल की तरलता और पारदर्शिता से अनुमान नहीं कर सकता था कि यह उसका गला घोट देगा या आग के प्रकाश और गरमी से वह अनुमान नहीं कर सकता था कि यह उसको खा जाएगी।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कारण और कार्य की खोज बुद्धि द्वारा नहीं वरन् अनुभव द्वारा ही हो सकती है। "जहाँ तक बुद्धि की बात है हर वस्तु किसी वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ एक कंकड़ का फेंकना सूर्य को बुझा सकता है या किसी मनुष्य की कामना नक्षत्रों को उनकी कक्षों में नियंत्रित कर सकती। यह मात्र अनुभव है जो हमें कारण और कार्य के यथार्थ स्वभाव और सीमाओं को सिखाता है और एक वस्तु के अस्तित्व से दूसरी वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करने के लिए हमें योग्य बनाता है।"[2]

(स) कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए क्योंकि कार्य की अवधारणा में ही कारण की अवधारणा निहित है। इसका खण्डन करते हुए ह्यूम कहते हैं कि यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य का अनिवार्य रूप में कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि संसार की प्रत्येक वस्तु सकारण है। उदाहरण के लिए यह सही है कि यदि कोई व्यक्ति पति है तो उसकी पत्नी अवश्य होनी चाहिए। किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति पति है। इसी प्रकार यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिए पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संसार की सभी वस्तुएँ सकारण है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ह्यूम ने कारण-कार्य सम्बन्ध के भीतर बौद्धिक अनिवार्यता का खण्डन किया है। उनके खण्डन का सार यह है कि कारणता-नियम दो विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। अतः इसे केवल बुद्धि के आधार पर जानने का प्रयत्न करना बेकार है। ह्यूम के अनुसार कारणता-नियम का सम्बन्ध दो विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध से न होकर वस्तु-जगत से है। अतः यदि हमें इसका ज्ञान हो सकता है तो वह केवल अनुभव द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अव हम यहाँ देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या अनुभव द्वारा हमें

---

1. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अधिकरण 4।
2. वही अधिकरण, 12, भाग 3 : "If we reason apriori, anything may appear able to produce anything. The falling of a pebble may, for ought we know, extinguish the sun ; or the wish of a man control the planets in their orbits. It is only experience which teaches us the nature and bounds of cause and effect and enables us to infer the existence of one object from that of another."

कारणता-नियम का ज्ञान हो सकता है अथवा नहीं।

2. अनुभव (Experience) द्वारा—कारणता से सम्बन्धित तर्कवाक्य संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य होते हैं क्योंकि कार्य कारण में पहले से ही निहित नहीं होता है और न कारण ही कार्य में पहले से निहित होता है। कारण और कार्य दोनों का पृथक् अस्तित्व होता है। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि कारणता का ज्ञान हमें अनुभव से प्राप्त होता है तो बाह्य संसार में हमें उसका कोई संस्कार मिलना चाहिए। पर ह्यूम कहते हैं कि कारण का प्रत्यक्ष करने पर हमें कारणता का कोई संस्कार प्राप्त नहीं होता।" जिन दो वस्तुओं को हम कारण और कार्य कहते हैं, उन पर दृष्टिपात करें और उनको चारों ओर घुमाकर वह संस्कार देखें जिससे कारणता का विज्ञान उत्पन्न होता है। प्रथम दृष्टि में ही मैं देखता हूँ कि मुझे उस वस्तु के विशेष गुणों में उसे न खोजना चाहिए क्योंकि उनमें से जिस किसी गुण को मैं देखता हूँ मुझे कोई ऐसी वस्तु मिल जाती है जिसमें वह गुण नहीं है। किन्तु फिर भी वह कारण और कार्य के नाम से कहा जाता है।"[1] कारणता का गुण किसी वस्तु में प्राप्त न होने पर भी इसका स्रोत किसी वस्तुगत सत्ता में ही ढूँढना चाहिए क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तु-जगत से होता है। वह वस्तुगत सत्ता क्या है जिसमें हमें कारणता के संस्कार का दर्शन होता है ?

ह्यूम ने कारणता-सम्बन्ध के तीन सम्बन्ध घटकों की ओर संकेत किया है : समीपता (Contiguity), आनन्तर्य (Succession) और अनिवार्य सम्बन्ध (Necessary Connection)। इन पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे—

(i) समीपता (Contiguity)—ह्यूम कहते हैं कि यदि कारण और कार्य को वस्तुओं का गुण नहीं माना जा सकता तो वह दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त कर सकता है। समीपता वह प्रथम सम्बन्ध है। इस बात को कोई इनकार नहीं कर सकता कि कारण और कार्य एक दूसरे के समीप होते हैं। यह समीपता कभी तो बिना व्यवधान होती है और कभी उसमें व्यवधान हो सकता है। पर इस व्यवधान में भी अनेक कारणों और कार्यों की शृंखला समाहित होती है जो एक दूसरे के निकट होती है। यहाँ समीपता से ह्यूम का तात्पर्य दैशिक (Spatial) सम्बन्ध से है। पर अन्त में ह्यूम कहते हैं कि समीपता कारणता का अनिवार्य अंग नहीं है। भावनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध पाया जाता है किन्तु उनमें दैशिक समीपता की कल्पना नहीं की जा सकती।" किसी नैतिक विचार को किसी भावना के बाँए या दाँए नहीं रखा जा सकता। गन्ध या ध्वनि न तो वृत्ताकार हो सकती है और न ही वर्गाकार। इन विषयों और प्रत्यक्षों को विशेष देश या स्थान की आवश्यकता नहीं है। देश से उनका कोई मेल नहीं है, कल्पना भी उनको देशस्थ नहीं कर सकती।"[2] इतना होते हुए भी कारण और कार्य में समीपता मानी जा सकती है जिसे हम अपने अनुभव द्वारा जान सकते हैं।

---

1. वही, 1, भाग 3, अधिकरण 2 "Let us therefore cast our eyes on any two objects which we call cause and effect, and turn them on all sides in order to find that impression which produces an idea of such prodigious consequence. At first sight I perceive that I must not search for it any of the particular qualities of the object ; since whichever of these qualities I pitch on, I find some object that is not possessed of it and yet falls under the denomination of cause or effect."
2. वही।

(ii) पूर्ववर्तिता (Succession)—दूसरा सम्बन्ध जो हम कारण और कार्य के बीच पाते हैं वह है कारण की कालगत पूर्ववर्तिता[1] (Priority of Time)। कारण नियमतः अपने कार्य का पूर्ववर्ती होता है। कारण और कार्य के बीच इस सम्बन्ध को आनन्तर्य या पौर्वापर्य (Succession) कहते हैं। इस पौवापर्य सम्बन्ध की जानकारी हमें अनुभव द्वारा प्राप्त भी हो जाती है। पर क्या नियत पौर्वापर्य संबंध कारणता की यथेष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है ? संसार में बहुत सी घटनाएँ हैं जिनमें पैर्वापर्य सम्बन्ध पाया जाता है : जैसे हम मेज पर बैठकर लिख रहे हैं और उसके बाद हमने एक गिलास पानी पिया। पर हमारे मेज पर लिखने और पानी पीने में पौर्वापर्य सम्बन्ध होते हुए भी उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। स्वयं ह्यूम इस विषय पर लिखते हैं, क्या हम समीपता और पौर्वापर्य के इन दो सम्बन्धों को कारण के प्रत्यय की पूर्ण व्याख्या मान लें ? नहीं ! कोई विषय दूसरे विषय के समीप और पूर्ववर्ती हो सकता है किन्तु वह उसका कारण नहीं भी हो सकता है। यह एक अनिवार्य सम्बन्ध है जिसका विचार करना है। यह सम्बन्ध समीपता और पौर्वापर्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[2] अनिवार्य सम्बन्ध से ह्यूम का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कारण अनिवार्यतः अपने कार्य को उत्पन्न करता है। अब हम विचार करेंगे कि यह अनिवार्य सम्बन्ध वास्तव में क्या है ?

(iii) अनिवार्य सम्बन्ध (Necessary Connection)—ह्यूम के अनुसार समीपता व पौर्वापर्य को तो हम अनुभव द्वारा जान सकते हैं, पर कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को अनुभव द्वारा जानना असम्भव है। अनिवार्य सम्बन्ध के विज्ञान का ऐसा कोई पूर्ववर्ती संस्कार (Impression) नहीं है जिससे उसे व्युत्पन्न किया जा सके। दो संस्कारों या विज्ञानों में परस्पर कितना ही अधिक नियत साहचर्य हो पर इनमें अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। दो संस्कारों या उनके परवर्ती विज्ञानों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का हम बिना वदतोव्याघात के निषेध कर सकते हैं। ह्यूम ने इसे सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया था कि "जिस किसी वस्तु की स्पष्ट रूप में कल्पना की जा सकती है उसका अस्तित्व सम्भव है।"[3] अर्थात्, यदि दो विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का निषेध किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह है कि उनके बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

पर यहाँ स्पष्ट रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि दो संस्कारों या विज्ञानों के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाया जा सकता तो हम उनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे कर सकते हैं ? यदि हम अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना करते हैं तो ऐसा कोई संस्कार अवश्य होना चाहिए जिससे यह कल्पना निष्पन्न हुई है।

ह्यूम के अनुसार ऐसी दो प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा हम दो घटनाओं के बीच अनिवार्य

---

1. न्याय दर्शन "अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्य नियत पूर्ववृति कारणम्।"
2. वही, "Shall we then rest contented with these two relations of contiguity and succession, as affording a complete idea of causation ? By no means. An object may be contiguous and prior to another without being considered as its cause. There is a necessary connection to be taken into consideration, and that relation is of much greater importance than any of the other two above mentioned."
3. वही, ग्रन्थ 1., भाग 2, अधि० 2. "Whatever can be clearly imagined is a possible existent"

सम्बन्ध की कल्पना कर लेते हैं। प्रथम नियत संयोग (Constant Conjunction) है और द्वितीय आगमन (Induction) है।

(अ) **नियत संयोग (Constant Conjunction)**—कारण से कार्य के विषय में निष्कर्ष कारण के निरीक्षण द्वारा नहीं निकाला जा सकता क्योंकि दो वस्तुओं या घटनाओं के बीच किसी प्रकार का तार्किक सम्बन्ध नहीं पाया जाता। दो घटनाओं के बीच सम्बन्ध का ज्ञान केवल अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। पर अनुभव द्वारा केवल इतना ही पाते है कि एक घटना के बाद नियत रूप से दूसरी घटना घटित होती है। एक घटना के संवेदन से हमें दूसरी घटना का संवेदन होता है। इन घटनाओं के नियत आनन्तर्य या संयोग के अतिरिक्त हमें किसी अनिवार्य सम्बन्ध का अनुभव कदापि नहीं होता। जब दो घटनाओं के बीच हम अनेक बार आनन्तर्य सम्बन्ध या नियत संयोग का अनुभव करते हैं तो एक घटना के संस्कार उपस्थित होने पर साहचर्य (Association) द्वारा हम दूसरी घटना के विषय में भी कल्पना कर लेते हैं। बिना किसी अन्य औपचारिकता के हम एक को कारण और दूसरे को कार्य कहने लगते हैं और एक के अस्तित्व के आधार पर दूसरे के अस्तित्व के विषय में निष्कर्ष निकालने लगते हैं।"[1] इस प्रकार ह्यूम के अनुसार दो घटनाओं के सतत् संयोग के अनुभव के कारण ही हम उनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना कर लेते हैं। दो घटनाओं के बीच नियत संयोग ही उनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध के भ्रम को उत्पन्न करता है।

(ब) **आगमन (Induction)**—नियत संयोग के बाद अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करने का दूसरा चरण आगमनात्मक तर्क है। आगमनात्मक तर्क की मूल बात यह है कि भूतकाल में जिन वस्तुओं या घटनाओं के बीच नियत संयोग या साहचर्य रहा है वह नियत संयोग भविष्य में भी बना रहेगा—**जिन घटनाओं के बीच सतत् संयोग होता है, उनमें सार्वभौम सम्बन्ध पाया जाता है**।[2] किन्तु यहाँ ह्यूम का कथन है कि नियत संयोग से सार्वभौम सम्बन्ध की ओर जो संक्रमण है इसे कोई भी तर्क प्रमाणित नहीं कर सकता। नियत संयोग की बार-बार आवृत्ति सार्वभौमता का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है क्योंकि ऐसा सम्भव है कि आगामी घटना उस सार्वभौम सम्बन्ध को अप्रामाणिक सिद्ध कर दे।" इस आवृति की संख्या में कितनी ही वृद्धि क्यों न कर दी जाय पर इस सम्भावना को शून्य नहीं किया जा सकता। जहाँ भी हम विशेषों से सामान्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करेंगे हमारे तर्क में अवैध सामान्यीकरण (Illicit Generalisation) का दोष अवश्य आ जायेगा।

कुछ विद्वानों का कथन यह है कि हम आगमनात्मक तर्क में विशेषों से सामान्य की ओर इस कारण अग्रसर होते हैं कि हम इस आगमनात्मक सिद्धान्त (Inductive Principle) को पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं कि **भविष्य में आने वाले दृष्टान्त भूतकाल के दृष्टान्तों के ही समान होंगे**।[3] पर ह्यूम के अनुसार यह आगमनात्मक सिद्धान्त स्वयं एक प्रकार का आगमन है जिसका निदर्शन असम्भव है। यदि हम एक आगमन को सिद्ध करने के लिए दूसरे आगमन का सहारा लेते हैं तो हमारे चिन्तन में सिद्ध-साधन दोष (Fallacy of Petitio Principii)

1. "Without any further ceremony, we call one the cause, and the other the effect, and infer the existence of the one from that of the other."
2. 'What has been frequently conjoined is universally connected.'
3. 'Future instances must resemble past instances.'

अवश्य आ जायेगा। आगमनात्मक सिद्धान्त स्वयं एक सम्भाव्य सिद्धान्त है, अतः उसके आधार पर स्थापित निष्कर्ष भी सम्भाव्य ही होगा।

इसके अतिरिक्त कुछ दूसरे प्रकार के विद्धानों का मत है कि हम नियत संयोग के आधार पर अनिवार्य सम्बन्ध का विचार इसलिए कर लेते हैं क्योंकि यह **प्रकृति के एकरूपता नियम** (Law of the Uniformity of Nature) का साक्षात् परिणाम है। पर यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रकृति का एकरूपता-नियम क्या है और यह कैसे जाना जाता है ? प्रकृति का एकरूपता-नियम स्वयं एक प्रकार का आगमन है। अतः यदि हम एक आगमन को सिद्ध करने के लिए दूसरे आगमन का सहारा लेते हैं तो हमारे चिन्तन में चक्रक-दोष (Fallacy of Circular Reasoning) अवश्य आ जाएगा। यदि प्रकृति के एकरूपता-नियम को सम्भाव्य माना जाय तो उसके आधार पर स्थापित नियम भी सम्भाव्य ही होगा।

आगमनात्मक तर्क के विषय में एक तीसरा भी मत है जिसके अनुसार यह ठीक है कि हम कुछ अपूर्ण दृष्टान्तों के आधार पर निश्चित रूप में किसी सार्वभौम नियम की स्थापना नहीं कर सकते, पर भूतकाल में किसी नियत संयोग की बार-बार आवृति के आधार पर भविष्य में घटित होने वाली घटना के विषय में सम्भाव्य (Probable) निर्णय तो ले ही सकते हैं। पर ह्यूम के अनुसार यह भी सम्भव नहीं है। भविष्य में घटित होने वाली घटना के विषय में न तो हम कोई निश्चयात्मक निर्णय ले सकते हैं और न सम्भाव्य ही। हमारा सम्भाव्य निर्णय भी इस बात पर आधारित होगा कि भविष्य के दृष्टान्त भूतकाल के दृष्टान्तों के समान होंगे जो स्वयं एक प्रकार का आगमन है।

कुछ विचारकों का यह कथन है कि भूतकाल में हमने नियत संयोग के आधार पर अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना की और हम कभी निराश नहीं हुए। अतः हम आसानी से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नियत संयोग के आधार पर अनिवार्य सम्बन्ध के विषय में भविष्य में निकाले गये निष्कर्षों में भी हम कभी निराश न होंगे। पर ह्यूम के अनुसार यह तर्क भी अप्रात्राणिक है क्योंकि इस तर्क में भी आगमनात्मक सिद्धान्त (Inductive Principle) शामिल है जो स्वतः प्रामाणिक नहीं है। अतः ह्यूम के अनुसार हम किसी भी दृष्टिकोण से विचार क्यों न करें, कारण और कार्य के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना प्रामाणिक रूप में सिद्ध नहीं की जा सकती। यह भी स्पष्ट है कि कारण-कार्य-सिद्धान्त को हम अनुभव से भी नहीं जान सकते क्योंकि अनुभव द्वारा हम भूत और वर्तमान में घटित घटनाओं को ही जान सकते हैं। हम अनुभव द्वारा यह कभी नहीं जान सकते कि भविष्य में घटित होने वाली घटनाएँ भूतकाल में घटित घटनाओं के समान हैं। बर्ट्रण्ड रसेल ने स्पष्ट किया है कि सम्भावना स्वयं आगमन पर आधारित है, अतः आगमन को सम्भाव्य नहीं कहा जा सकता।

(स) अनिवार्य सम्बन्ध (Necessary Connection)—अब यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि हम दो घटनाओं के बीच अनिवार्य सम्बन्ध को न तो तर्क द्वारा सिद्ध कर सकते हैं और न अनुभव द्वारा ही, तो फिर हम इसमें विश्वास ही क्यों करते हैं ? ह्यूम ने स्पष्ट रूप से कहा कि बिना अनिवार्य सम्बन्ध के कारण-कार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती और बिना कारण-कार्य सम्बन्ध के वस्तु-जगत के विषय में कोई भी तर्क

प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यह अनिवार्य सम्बन्ध क्या है ? ह्यूम के अनुसार जब दो संस्कारों में बार बार नियत संयोग होता है तो उनके बीच एक अभ्यस्त साहचर्य उत्पन्न हो जाता है और यही अभ्यस्त साहचर्य अनिवार्य सम्बन्ध के भाव को जागरित कर देता है। वास्तव में अनिवार्य सम्बन्ध का विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जिसकी संगति में बाह्य संसार में हमें कोई संवेदन-संस्कार प्राप्त नहीं होता। तो क्या अनिवार्य सम्बन्ध का विज्ञान केवल हमारा भ्रम है ? ह्यूम के अनुसार बिना किसी पूर्ववर्ती संस्कार के किसी विज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि हमारे भीतर अनिवार्य सम्बन्ध का विज्ञान है तो इसका पूर्ववर्ती संस्कार क्या है ? ह्यूम के अनुसार अनिवार्य सम्बन्ध के विज्ञान का पूर्ववर्ती संवेदन संस्कार न होकर स्वसंवेदन-संस्कार है। जब दो संस्कारों के नियत संयोग से हम पूर्णतया अभ्यस्त हो जाते हैं, एक संस्कार की उपस्थिति दूसरे संस्कार की उपस्थिति के विषय में हमारे भीतर एक प्रत्याशा (Expectation) को उत्पन्न कर देती है। यही प्रत्याशा का स्वसंवेदन-संस्कार हमारे भीतर अनिवार्य सम्बन्ध के विज्ञान को उत्पन्न करता है। ह्यूम के शब्दों में : "घटनाओं के बीच में अनिवार्य सम्बन्ध का विज्ञान इन घटनाओं के सदृश घटनाओं के बार-बार घटित होने से उत्पन्न होता है। इस विज्ञान का संकेत इन घटनाओं के केवल एक दृष्टान्त के पर्यवेक्षण में नहीं मिल सकता है।...किन्तु एक समान घटना के बार-बार घटने से मन में एक आदत पैदा होती है जो एक घटना के अनुभव से उसकी सहवर्ती घटना की प्रत्याशा मन में पैदा करती है। अतः यह अनिवार्य सम्बन्ध जिसका हम मन में अनुभव करते हैं, एक विषय से उसके सामान्य सहवर्ती दूसरे विषय की कल्पना की परम्पराजन्य एक भावना या संस्कार है जिससे हम अनिवार्य सम्बन्ध या शक्ति के विज्ञान की रचना करते हैं।"[1]

नियत संयोग और **आगमन** द्वारा हमारे अन्दर एक **प्रत्याशा** की भावना (Feeling) उत्पन्न होती है जो प्रथा या **परम्परा** (Custom) द्वारा पुष्ट होती है और अन्ततः यह विश्वास (Belief) के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही अनिवार्य सम्बन्ध के विज्ञान की जननी है। विश्वास "और कुछ नहीं वरन् एक सबल और स्पष्ट विज्ञान है जो तत्सम्बन्धित एक वर्तमान संस्कार से व्युत्पन्न होता है।"[2] विश्वास का सबल और स्पष्ट विज्ञान संस्कारों की उन आवृतियों द्वारा भी उत्पन्न हो सकता है जिनमें कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार वैज्ञानिक तर्क और अंध-विश्वास का आधार एक ही है। दोनों में मात्रा का भेद भले ही हो पर उनमें प्रकार-भेद नहीं है। यही कारण है कि ह्यूम ने आगमनात्मक या

---

1. मानव बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श, अध्याय 7 खण्ड 2, The idea of a necessary connection among events arises from a number of similar instances, which occur, of the constant conjunction of these events, nor can that idea ever be suggested by any of these instances, surveyed in all possible lights and positions..........that after a repetition of similar instances, the mind is carried by habit upon the appearance of one event, to expect its usual attendant, and to believe that it will exist. This connection, therefore, which we feel in the mind, this customary transition of the imagination from one object to its usual attendant, is the sentiment or impression from which we form the idea of power or necessary connection.
2. Belief is nothing but a strong and livley idea derived from a present impression related to it.

सम्भाव्य तर्क को संवेदनाओं की ही एक उपजाति (Species) कहा है।

ह्यूम और काण्ट दोनों ने कारणता नियम की व्याख्या की है पर दोनों की व्याख्याओं में मौलिक अन्तर है। ह्यूम कारणता को एक भावना या विश्वास मानते हैं जो स्वसंवेदन-संस्कार से व्युत्पन्न है। अर्थात ह्यूम के लिए कारणता एक अनुभव-सापेक्ष विज्ञान है। इसके विपरीत काण्ट के अनुसार कारणता एक वर्गणा या कोटि (Category) है जो अनुभव-निरपेक्ष (Apriori) है क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि में कारणता निवास करती है। कारणता हमारे अनुभव के समस्त विषयों को निर्धारित करती है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि ह्यूम और काण्ट दोनों के अनुसार कारणता हमारे सभी बौद्धिक ज्ञान का आधार है। इस बात पर दोनों सहमत हैं। उनमें विवाद केवल इतना ही है कि कारणता अनुभव-सापेक्ष है या अनुभव निरपेक्ष। इस विवाद में ह्यूम और काण्ट दोनों की अपनी कुछ मान्यताएँ हैं और उन मान्यताओं के सन्दर्भ में दोनों के विचार सही प्रतीत होते हैं। दोनों ने दो दृष्टिकोणों से कारणता का विचार किया है : ह्यूम ने प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण और काण्ट ने बुद्धिवादी दृष्टिकोण के अनुसार। ह्यूम ने इस सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मैं इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई भी कार्य अकारण हो सकता है। मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कारण-कार्य-भाव के अनिवार्य और आवश्यक सम्बन्ध का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से।" कारण-कार्य सम्बन्ध हमारी एक मनोवैज्ञानिक कल्पना है, यह वस्तुगत आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार ह्यूम के दर्शन में संशयवाद (Scepticism) अनिवार्य हो जाता है।

जड़-तत्त्व का निरसन

(Elimination of Material Substance)

हम पहले ही देख चुके हैं कि विज्ञान ने जड़-तत्त्व में, दर्शन ने आत्म-तत्त्व में और धर्म ने ईश्वर-तत्त्व में इसीलिए विश्वास प्रकट किया था कि वे तीनों कारणतावाद में पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं। यदि इनका आधार कारणतावाद ही संशयपूर्ण हो जाय तो जड़-तत्त्व, आत्म-तत्त्व और ईश्वर-तत्त्व में विश्वास का कोई कारण ही नहीं रहेगा। यही ह्यूम का संशयवाद है। उन्होनें इन तीनों द्रव्यों के प्रति संशय प्रकट किया। भारतीय दर्शन की भाषा में ह्यूम के मत को अनात्मवाद (Substancelessness) कहा जा सकता है। सर्वप्रथम हम जड़-तत्त्व का निरसन करेंगे।

ह्यूम का अनात्मवाद उनके मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद का सीधा परिणाम है। उनके मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद की मूलभूत बात यह है कि "जो भी वस्तुएँ भिन्न हैं, वे भेदनीय हैं और जो भी वस्तुएँ भेदनीय हैं, वे वियोजनीय हैं।" तथा "हमारे सभी भिन्न प्रत्यक्ष भिन्न अस्तित्व हैं और आत्मा भिन्न अस्तित्वों में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं देखती।"[1] इन्हीं दो सिद्धान्तों को आधार मानकर ह्यूम द्रव्यों के खण्डन की ओर अग्रसर होते हैं।

जड़-तत्त्व के निरसन के लिए ह्यूम इस प्रकार तर्क प्रस्तुत करते हैं। यदि जड़-तत्त्व नामक कोई बाह्य वस्तु संसार में विद्यमान है तो इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। वाह्य वस्तु

---

1. वही, परिशिष्ट।

के ज्ञान के दो ही उपाय हैं : प्रथम बुद्धि द्वारा और द्वितीय अनुभव द्वारा।

(i) बुद्धि द्वारा—ह्यूम के अनुसार जड़-तत्त्व का ज्ञान बुद्धि द्वारा असम्भव है क्योंकि जड़-तत्त्व का ज्ञान विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Knowledge of the Relations of Ideas) न होकर वस्तु-जगत का ज्ञान (Knowledge of the Matters of Fact) है। बुद्धि केवल विज्ञानों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध की ही स्थापना कर सकती है, तथ्यों का अनुसंधान नहीं कर सकती। अतः बुद्धि द्वारा जड़-तत्त्व का ज्ञान असम्भव है।

(ii) अनुभव द्वारा—अतः, यदि जड़-तत्त्व नाम की कोई वस्तु संसार में मौजूद है तो यह वस्तु-जगत का ज्ञान होने के कारण अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु ह्यूम के अनुसार इस तथाकथित जड़-तत्त्व का हमें कभी भी 'अनुभव' प्राप्त नहीं होता। अनुभव द्वारा हमें केवल गुणों या शक्तियों के संस्कार का ही ज्ञान होता है। तथाकथित अज्ञेय जड़-तत्त्व जो इन गुणों का अधिष्ठान समझा जाता है, वास्तव में एक अनावश्यक कल्पना (Unnecessary Fiction) है। गुणों के नित्य सादृश्य के लिए किसी समरूप तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती। जड़-तत्त्व गुणों के समुच्चय के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

अपने जड़-तत्त्व सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए ह्यूम लिखते हैं : "मैं उन दार्शनिकों से, जो अपने विचारों का आधार द्रव्य और पर्याय के भेद को मानते हैं और कल्पना करते हैं कि उनको इनका स्पष्ट ज्ञान होता है, पूछना चाहूँगा कि द्रव्य का विज्ञान संवेदन-संस्कार से उत्पन्न होता है या स्व-संवेदन संस्कार से ? यदि द्रव्य का हमें संवेदन होता है, तो मैं पूछता हूँ कि किन इन्द्रियों से और किस प्रकार ? यदि द्रव्य की प्रतीति आँख से होती हो तो उसका रूप होना चाहिए, यदि कान से तो उसका शब्द होना चाहिए, यदि रसना से तो उसका रस होना चाहिए, और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु मेरा विश्वास है कि कोई यह नहीं कहेगा कि द्रव्य रूप है, या शब्द है या रस है। अब यदि द्रव्य सत्य है तो उसका विज्ञान स्व-संवेदन-संस्कार से आना चाहिए। किन्तु स्व-संवेदन-संस्कार या तो हमारी भावनाएँ हैं या हमारे मनोवेग और इन दोनों में से कोई भी द्रव्य नहीं हो सकता। अतः, द्रव्य का विज्ञान वस्तुतः कल्पना द्वारा संयुक्त सरल विज्ञानों के उस समूह के अतिरिक्त कुछ और नहीं है जिस समूह को द्रव्य का नाम दे दिया जाता है।"[1] हमारे कुछ संस्कारों में नियत संयोग या साहचर्य पाया जाता है। उदाहरण के लिए मिठास (Sweetness), वर्गता (Squareness), रुक्षता (Roughness) और सफेदी (Whiteness) के संस्कारों को बार-बार एक साथ देख-कर हम चीनी (Sugar) के विज्ञान की कल्पना कर लेते हैं। पर इन संस्कारों के साहचर्य में कोई अनिवार्यता नहीं है। इन संस्कारों के बीच जो हमें एक प्रकार का बन्धन (Bond) दिखाई पड़ता है, वह कोई सबल बन्धन नहीं है और न उसमें कोई अनिवार्यता ही है। प्रत्येक प्रत्यक्ष का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, और दो प्रत्यक्षों के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाया जाता। हमारे सारे संस्कार और विज्ञान पृथक्-पृथक् विशेष और क्षणिक संस्कार और विज्ञान होते हैं जिनमें किसी नित्य अधिष्ठान की प्रतीति हमें

1. वही, भाग 1, खण्ड 1, अधि० 6, "Substance is nothing but a collection of simple ideas, that are united by the imagination, and have a particular name assigned to them by which we are able to recall that collection."

कभी नहीं होती। हमारे संस्कारों और विज्ञानों की एक निरन्तर धारा बहती रहती है जिसमें साहचर्य और आनन्तर्य तो पाया जाता है पर तादात्म्य और नित्यत्व कहीं देखने को नहीं मिलता। अनुभव द्वारा हमें कहीं भी नित्य संस्कार या नित्य विज्ञान नहीं प्राप्त होता। अतः, नित्य द्रव की कल्पना एक भ्रम है।

यहाँ एक बात को समझ लेना आवश्यक है। ह्यूम बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। उनके वस्तुओं के विज्ञानों के पुंज कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हम उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ह्यूम के अनुसार हमें बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व में स्वाभाविक विश्वास होना चाहिए। "संशयवादी के लिए बाह्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है, यद्यपि वह उसकी प्रामाणिकता को दर्शन-शास्त्र के किन्हीं तर्कों से सिद्ध नहीं कर सकता है। प्रकृति ने इसको उसकी स्वेच्छा या पसन्द पर नहीं छोड़ रखा है। उसने निस्संदेह इसको अनिश्चित तर्कों और चिन्तनों के भरोसे पर छोड़ने के योग्य विषय नहीं समझा है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि बाह्य वस्तु के अस्तित्व में हमारा विश्वास कौन-कौन कारण उत्पन्न करते हैं ? किन्तु यह पूछना व्यर्थ है कि बाह्य वस्तु है कि नहीं ? यह एक ऐसा विषय है जिसे हमें अपनी समस्त तर्कणाओं में अवश्य स्वीकार करना है।"[1] इस प्रकार ह्यूम बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। हाँ, उनके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के विषय में संशय अवश्य उपस्थित करते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि हमारे सभी विज्ञान और संस्कार पृथक्-पृथक् और विशिष्ट हैं, तो उनमें हमें तादात्म्य, नित्यता और स्थायित्व के दर्शन क्यों कर होते हैं ? ह्यूम के अनुसार हमारी कल्पना ही संस्कारों के सातत्य और संसक्तता का कारण है। कल्पना के विज्ञानों और प्रत्यक्ष के विज्ञानों में विभेद करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष के विज्ञानों में कल्पना के विज्ञानों की अपेक्षा एक स्थिरता या समरूपता (Constancy) पाई जाती है, जो एक नित्य द्रव्य की ओर संकेत करते हैं। "ये पहाड़ और मकान और पेड़ जो इस समय हमारी दृष्टि के अन्दर हैं, हमें इसी क्रम में सदा प्रतीत हुए हैं। जब मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ या सिर दूसरी ओर घुमा लेता हूँ और उनको आँखों से ओझल पाता हूँ तब उसके तुरन्त बाद ही वे पुनः बिना किसी परिवर्तन के सामने वापस आ जाते हैं। मेरी चारपाई और मेज, मेरी पुस्तक व कापियाँ एक ही रूप में अपने को प्रकट करती हैं। यद्यपि उनको देखने में मेरे मन में व्यवधान होता है तथापि इस कारण उनमें कोई परिवर्तन या व्यवधान नहीं होता है।"[2] इस प्रकार हमारे संस्कारों और विज्ञानों में पृथकता और विशिष्टता होते हुए भी एक समरूपता पाई जाती है जो एक नित्य द्रव्य के विचार को उत्पन्न करती है।

नित्य द्रव्य के विचार का दूसरा कारण हमारे संस्कारों और विज्ञानों की संसक्तता (Coherence) है। वस्तुएँ अपनी स्थितियों को सदा बदलती रहती हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद उनमें एक समन्वय या संसक्तता सदा बनी रहती है। एक में परिवर्तन होने से दूसरे में भी तदनुरूप परिवर्तन हो जाते हैं जिनके कारण उनमें समन्वय सदा बना रहता है। यह समन्वय एक नित्य द्रव्य के अस्तित्व को प्रकट करता है। "जब एक घण्टे के बाद मैं अपने

---

1. वही, भाग 1, खण्ड 4, अधि० 2।
2. वही।

कमरे में वापस आता हूँ तो हालाँकि मैं अपनी आग को उस स्थिति में नहीं पाता हूँ, जिसमें मैंने उसे छोड़ा था, तो भी मैं तदनुरूप परिवर्तन उतने ही काल में अन्य वस्तुओं में भी देखने का आदी हूँ, फिर मैं चाहे उपस्थित रहूँ या अनुपस्थित, नजदीक रहूँ या दूर। अतः, उनके परिवर्तनों की यह संसक्तता बाह्य वस्तुओं की एक विशेषता है और उनकी समरूपता है।"[1]

संस्कारों और विज्ञानों की समरूपता और संसक्तता हमारे अन्दर वस्तुओं के निरन्तर अस्तित्व को प्रकट करती है। "जब हम कुछ संस्कारों में समरूपता देखने को अभ्यस्त हो जाते हैं और पाते हैं कि सूर्य या समुद्र के प्रत्यक्ष, उदाहरणार्थ, अपने अनुरूप वस्तुओं के साथ उस क्रम में कुछ अनुपस्थिति या नाश के बाद पुनः हमारे पास आते हैं जिस क्रम में वे प्रथम बार प्रकट हुए थे, तब हम इन व्यवधान सहित प्रत्यक्षों को विभिन्न नहीं मानते हैं (जो यथार्थतः वे हैं) किन्तु उन्हें हम तत्त्वतः उनके सादृश्य के आधार पर एकरूप मानते हैं।"[2] "यह सादृश्य हजारों बार देखा जाता है और स्वभावतः हमारे व्यवधान सहित विज्ञानों को संयुक्त करता है और मन को एक प्रत्यक्ष से दूर प्रत्यक्ष तक आसानी से ले जाता है। इन विविध और व्यवधान सहित प्रत्यक्षों के साथ कल्पना की सहज गति प्रायः मन की वही गति हो जाती है जिसके द्वारा वह किसी स्थिर और व्यवधान रहित प्रत्यक्ष का विचार करता है। मन इन प्रत्यक्षों के क्रम को आसानी से पार कर जाता है और उन्हें एक वस्तु समझता है। इसलिए वह क्रम को एकता समझ लेता है।"[3]

संक्षेप में : ह्यूम के अनुसार हमें केवल क्षणिक संस्कारों और विज्ञानों का ही ज्ञान होता है जो एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं और आत्मा उनमें किसी भी प्रकार के सम्वन्ध का प्रत्यक्ष नहीं करती। हमारे संस्कारों में केवल सादृश्य (Similarity), समरूपता (Constancy) और संसक्तता (Coherence) ही पाई जाती है पर हम भ्रमवश उनमें अभेदता (Identity), एकता (Unity) और सातत्य (Continuity) का दर्शन कर लेते हैं। ह्यूम के ही शब्दों में "सदृश प्रत्यक्षों को अभेदता प्रदान करने की प्रवृत्ति ही सतत् अस्तित्व की कल्पना को उत्पन्न करती है। चूँकि वह कल्पना और साथ-साथ अभेदता दोनों अयथार्थ है, जैसा कि सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, और जिनका एक मात्र कार्य हमारे प्रत्यक्षों के व्यवधानों का निवारण करना है, केवल एक यही परिस्थिति है जो उनकी अभेदता के प्रतिकूल जाती है।"[4] अर्थात ह्यूम के अनुसार, सदृश प्रत्यक्षों में अभेदता का दर्शन करने की प्रवृति ही जड़-तत्त्व के सतत् अस्तित्व के भ्रम को उत्पन्न करती है। वास्तव में हमें किसी ऐसे नित्य, अभेद और सतत् तत्त्व का कभी ज्ञान नहीं होता।

प्रत्यक्षों का अतिक्रमण करना हमारे लिए कभी भी सम्भव नहीं है। क्षणिक संस्कारों

---

1. वही।
2. वही।
3. वही।
4. वही, भाग 1 खण्ड 4, अधि० 2, "This propention to bestow an identity on our resembling perceptions, produces the fiction of a continued existence, since that fiction as well as the identity, is really false, as is acknowledged by all philosophers, and has no other effect than to remedy the interruption of our perceptions which is the only circumstance that is contrary to their identity."

और विज्ञानों से अतीत किसी नित्य द्रव्य का दर्शन करना हमारे लिए बिलकुल असम्भव है। "प्रत्यक्षों के अतिरिक्त मन के समक्ष कभी कुछ उपस्थित नहीं होता है। सभी विज्ञान मन के सामने उपस्थित अपने पूर्ववर्ती संस्कारों से उत्पन्न होते हैं। सिद्ध है कि संस्कारों और विज्ञानों से तत्त्वतः भिन्न किसी वस्तु का कोई विज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए असम्भव है। चलिए हम यथाशक्ति अपने से बाहर अपना ध्यान ले चलें। आकाश तक या ब्रह्माण्ड की चरम सीमाओं तक अपनी कल्पना का पीछा करें, किन्तु हम कभी अपने से बाहर वास्तव में एक कदम भी नहीं बढ़ते हैं। हम उन प्रत्यक्षों के अतिरिक्त जो इस संकुचित सीमा के अन्दर घटित होते हैं, अन्य किसी प्रकार की सत्ता का विज्ञान नहीं कर सकते हैं। यह हमारी कल्पना का ब्रह्माण्ड है। जो यहाँ उत्पन्न होता है उसके अतिरिक्त हमें किसी वस्तु का कोई विज्ञान नहीं होता।"[1] इस प्रकार ह्यूम ने निष्कर्ष निकाला कि संस्कारों और विज्ञानों के बाहर हमारे ज्ञान की गति नहीं हो सकती।

आत्म-तत्त्व का निरसन
(Elimination of the Self)

ह्यूम ने आत्म-तत्त्व का निरसन उसी आधार पर किया है जिस आधार पर उन्होंने जड़-तत्त्व का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि आत्म-तत्त्व नाम की कोई वस्तु संसार में विद्यमान है तो उसका हमें ज्ञान होना चाहिए। किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने के दो ही उपाय हैं : या तो हम उसका ज्ञान अनुभव द्वारा कर सकते हैं या बुद्धि द्वारा। तीसरा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

(i) बुद्धि द्वारा—ह्यूम के अनुसार आत्मा का ज्ञान बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि आत्मा का ज्ञान विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है ; वह वस्तु-जगत का ज्ञान है। बुद्धि द्वारा वस्तु-जगत के विषय में ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(ii) अनुभव द्वारा—यदि बुद्धि द्वारा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता तो क्या अनुभव द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? ह्यूम का उत्तर है : नहीं।

आत्मा के विषय में साधारण लोगों की और कुछ दार्शनिकों की भी यह विचारधारा है कि वह एक कूटस्थ और नित्य द्रव्य (Enduring Substance) है जो परिवर्तनों के बीच एक अपरिणामी तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है। संस्कारों और विज्ञानों की तो एक क्षणिक और निरन्तर धारा प्रवाहित होती रहती है, पर इन क्षणिक संस्कारों और विज्ञानों का जो द्रष्टा है वह अभेद रूप में विद्यमान रहता है। तथाकथित आत्मा के विषय में एक अन्य विचारधारा यह है कि यह संस्कारों और विज्ञानों का एक अधिष्ठान (Support or Substratum) है

---

1. वही, भाग 1, खण्ड 2, अधि० 6, "Let us fix our attention out of ourselves as much as possible, let us chase our imagination to the heavens, or, to the utmost limits of the universe ; we never really advance a step beyond ourselves, nor can conceive any kind of existence, but those perceptions which have appeared in that narrow compass. This is the universe of the imagination, nor have we any idea but what is there produced."

जैसा कि लॉक ने सोचा था। जिस प्रकार जड़-तत्त्व बाह्य गुणों का आधार है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व संस्कारों और विज्ञानों का आधार है। आत्मा हमारे अनुभवों में समन्वय स्थापित करने वाली इकाई या एक मनोवैज्ञानिक मेरुदण्ड है जिससे हमारे सभी अनुभव सम्बद्ध होते हैं। ह्यूम आत्मा के विषय में इन विचारों का निषेध करता है।

यदि अनुभव द्वारा हमें आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है तो वह बाह्य निरीक्षण द्वारा न होकर अन्तर्दर्शन (Introspection) द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। ह्यूम कहते हैं कि यदि हम अन्तर्दर्शन द्वारा अपने भीतर झाँकने का प्रयत्न करें तो हमारा निरन्तर प्रवाहित होने वाली अनुभव की श्रेणी से ही साक्षात्कार होता है जिसमें चिन्तन, इच्छा, विश्वास, भय, आश्चर्य इत्यादि क्षणिक वृत्तियाँ पाई जाती हैं। हमें अन्तर्दर्शन द्वारा किसी ऐसी शाश्वत आत्मा का दर्शन नहीं होता जो चिन्तन, इच्छा, विश्वास, भय या आश्चर्य का अनुभव करती है। ह्यूम के ही शब्दों में : "यदि कोई संस्कार हमें आत्मा के विज्ञान को प्रदान करता है, तो वह संस्कार हमारे सम्पूर्ण जीवन-पथ में सदा निश्चित रूप में अपरिणामी ही रहना चाहिये क्योंकि आत्मा को इसी रूप में अस्तित्ववान समझा जाता है। किन्तु ऐसा कोई संस्कार नहीं है जिसे समरूप और अपरिणामी कहा जा सके। दुःख और सुख, शोक और प्रसन्नता, भावनाएँ और संवेदनाएँ आनन्तर्य रूप में एक के बाद एक घटित होती रहती हैं और कभी भी वे एक साथ स्थित नहीं होतीं। अतः इन संस्कारों से या किसी अन्य से, आत्मा का विज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।"[1] ह्यूम के कथन का तात्पर्य यह है कि चूँकि हमें अन्तर्दर्शन द्वारा किसी नित्य संस्कार का अनुभव नहीं होता, अतः नित्य कूटस्थ आत्मा नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है।

पुनः ह्यूम लिखते हैं : "मैं चाहता हूँ कि वे दार्शनिक जो यह बहाना बनाते हैं कि उन्हें आत्म-तत्त्व के विज्ञान की प्रतीति होती है, यह बतायें कि यह विज्ञान किस संस्कार से उत्पन्न होता है ? क्या यह संवेदन का विज्ञान है अथवा स्वसंवेदन का ? क्या यह सुख रूप है या दुःख रूप अथवा तटस्थ ? क्या यह सदा बना रहता है अथवा एक-एक कर उत्पन्न होता है ?— कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो यह कल्पना करते हैं कि हमें अपने आत्म-तत्त्व की प्रतिक्षण ज्वलन्त अनुभूति होती रहती है, कि हमें सत्ता का और इस सत्ता की अविच्छिन्नता का साक्षात् अनुभव होता है, और जो इस आत्मा को प्रमाणातीत पूर्ण एकता और कूटस्थता में विश्वास रखते हैं।—जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो जब-जब इस 'आत्मा' को देखने के लिए इसके भीतर खूब गहरा घुसता हूँ तब-तब किसी न किसी शेष संवेदना या विज्ञान से ही टकरा कर रह जाता हूँ, जो संवेदन या विज्ञान, गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, दुःख या सुख आदि के होते हैं। बिना किसी संवेदन या विज्ञान के मैं तो अपनी 'आत्मा' को कभी नहीं पकड़ पाता और न मुझे संवेदना या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी की अनुभूति होती

1. वही, भाग 1, खण्ड 4, अधि० 6, "If any impression gives rise to the idea of self, that impression must continue invariably the same through the whole course of our lives, since self is supposed to exist after that manner. But there is no impression constant and invariable. Pain and pleasure, grief and joy, passions and sensations succed each other and never all exist at the same time. It cannot, therefore, be from any of these impressions or from any other that the idea of self is derived ; and consequently there is no such idea.

है। जब भी ये अनुभव मुझसे अलग हो जाते हैं, जैसे प्रगाढ़ निद्रा में, तब मुझे अपनी, 'आत्मा' का अनुभव नहीं होता और उस समय सचमुच मेरा अस्तित्व नहीं रहता। यदि मृत्यु द्वारा मेरे ये सब अनुभव मिटा दिए जाएँगे तो मुझे पूर्ण असत् बना देने के लिए और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि किसी अन्य व्यक्ति को, गम्भीर और निष्पक्ष विचार के बाद भी अपनी 'आत्मा' का इससे भिन्न अनुभव होता है, मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं उससे तर्क नहीं कर सकता। अपने विषय में मैं निश्चित् रूप से कह सकता हूँ कि मुझमें कोई 'आत्म-तत्त्व' नहीं है। आत्मा का अस्तित्व मानने वाले कुछ दार्शनिक महानुभावों को छोड़कर अन्य सब लोगों के लिए तो मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वे लोग उन विभिन्न संवेदनों के पुन्ज या समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं जो संवेदन अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण धारा निरन्तर बह रही है।"[1]

संक्षेप में—ह्यूम के अनुसार अनुभववाद के आधार पर हमें केवल पृथक्-पृथक् विशिष्ट और क्षणिक संस्कारों या विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, किसी नित्य 'आत्मा' का नहीं। तथाकथित 'आत्म-तत्त्व' वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनुभव इन विज्ञानों के अधिष्ठान रूप में किसी आत्मा का हमें ज्ञान नहीं प्राप्त कराता। वास्तव में संस्कारों और विज्ञानों को किसी अधिष्ठान की आवश्यकता भी नहीं होती क्योंकि उनका स्वयं स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यहाँ ह्यूम का दर्शन बौद्धों के क्षणिकवाद से स्पष्ट मिलता जुलता है। बौद्धों के अनुसार भी तथा-कथित आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का केवल एक संघात है। 'आत्मा' केवल एक नाम है (Nominalism) जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है। हमें अनुभव द्वारा किसी नित्य, एक, समरस और कूटस्थ आत्मा का कभी भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि हमारे सभी संस्कार और विज्ञान अनित्य, अनेक, विशेष और क्षणिक ही होते हैं। इन संस्कारों और विज्ञानों में सादृश्य (Similarity), समरूपता (Constancy) और संसक्तता (Coherence) के गुण पाये जाते हैं, पर भ्रमवश हम उनमें अभेदता (Identity), एकता (Unity) और सातत्य (Continuity) का दर्शन कर लेते हैं। हम विज्ञानों के अजस्र प्रवाह में 'नित्यता' की भ्रान्ति करके एक 'नित्य आत्मा' को मान लेते हैं, पर वास्तव में यह हमारा भ्रममात्र है, इसमें कोई वास्तविकता नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि कोई शाश्वत आत्मा नहीं है तो हमें व्यक्तिगत तादात्म्य (Personal Identity) का अनुभव क्यों होता है। यदि क्षणिक संस्कारों के समुच्चय को ही 'आत्मा' का नाम दिया जाता है, एक 'समुच्चय' दूसरे 'समुच्चय' के बिलकुल समान कभी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में 'व्यक्तिगत तादात्म्य' का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं

1. वही, There are some philosophers who imagine, we are every moment intimately conscious of what we call our self, that we feel its existence and its continuance in existence ......" "For my part, when I enter more intimately into what I call myself, I always stumble on some particular perception or other, of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure, I never can catch myself at anytime without a perception." "Setting aside some metaphysicians of this kind .... the rest of mankind ..... are nothing but a bundle or collection of different perceptions which succeed each other with an inconceivable rapidity and in a perpetual flux and movement."

होता। 'व्यक्तिगत तादात्म्य' एक काल्पनिक विचार है जो संस्कारों और विज्ञानों के घनिष्ठ साहचर्य से उत्पन्न होता है। विज्ञानों का सादृश्य, समरूपता और संसक्तता इस 'व्यक्तिगत तादात्म्य' के विचार को उत्पन्न करती हैं। ह्यूम के अनुसार 'व्यक्तिगत तादात्म्य' को उत्पन्न करने में सादृश्य (Resemblance) और कारणता (Causation) का विशेष हाथ होता है। सादृश्य और कारणता का ज्ञान हमें स्मृति (Memory) द्वारा सम्भव होता है। स्मृति के द्वारा ही हमें प्रत्यक्षों के आनन्तर्य के विस्तार और सातत्य का ज्ञान होता है। पर यह कहना भूल है कि स्मृति के द्वारा "व्यक्तिगत तादात्म्य' का भाव उत्पन्न होता है। सादृश्य और कारणता ही 'व्यक्तिगत तादात्म्य' को उत्पन्न करती हैं। यह सब कब और कैसे होता है, इसका हमें तत्काल ज्ञान नहीं होता। अतः स्मृति इस 'व्यक्तिगत तादात्म्य' को उत्पन्न नहीं करती, वह हमारे विविध प्रत्यक्षों में कारण-कार्य सम्बन्ध बताकर इसकी खोज करती है।

ह्यूम ने आत्मा की उपमा एक रंगमंच से की है जहाँ अनेक प्रत्यक्ष आते हैं और पुनः चले जाते हैं। 'आत्मा एक प्रकार का रंगमंच है जहाँ अनेक प्रत्यक्ष आते हैं, पुनः-पुनः आते हैं, और अनन्त स्थितियों और मुद्राओं में मिलते हैं। किसी विशेष समय में इसकी कोई यथार्थ सरलता या शुद्धता नहीं है। और न इसकी कोई इकाई है। रंगमंच की उपमा से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्यक्ष क्रमशः होते हैं। वे ही आत्मा हैं। हमें उस जगह का ज्ञान नहीं है जहाँ ये दृश्य होते हैं और न हम उन तत्त्वों को जानते हैं जिससे आत्मा निर्मित है।"[1]

सादृश्य, सामीप्य और कारण-कार्य के साहचर्य भाव व्यक्तिगत एकता को उत्पन्न करते हैं। "मानव मन के सच्चे प्रत्यय को विविध प्रत्यक्षों या सत्ताओं का एक मण्डल समझना चाहिए जो कारण और कार्य के सम्बन्ध से परस्पर बँधे हैं और एक दूसरे को उत्पन्न, नष्ट, प्रभावित और विशेषित करते हैं। ..... इस प्रसंग में मैं आत्मा की तुलना एक गणतन्त्र या राष्ट्र-मण्डल से बढ़कर और किसी से नहीं कर सकता जिसमें सभी सदस्य शासक और शासित के आपसी बंधनों से संयुक्त हैं और ऐसे अन्य मनुष्यों को पैदा करते हैं जो उसी गणतन्त्र का विस्तार लगातार उसके भागों में परिवर्तन लाते हुए करते हैं। जैसे एक ही व्यक्तिगत गणतन्त्र अपने सदस्यों को ही नहीं किन्तु अपने कानूनों और संविधानों को भी बदल सकता है उसी प्रकार एक ही आदमी अपने चरित्र और रुचि तथा संस्कारों और प्रत्ययों को, बिना अपनी एकता को नष्ट किये हुए, बदल सकता है। वह जिन परिवर्तनों को उत्पन्न करता है उसके सभी भाग हमेशा कारणता के सम्बन्ध के द्वारा उनसे सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार हमारी भावनात्मक एकता हमारे दूरवर्ती प्रत्यक्षों को एक दूसरे से प्रभावित कराकर और हमारे भूतकालीन या भविष्यकालीन दुःखों या सुखों के प्रति हमारे अन्दर वर्तमानकालीन चिन्ता

---

1. वही, "The mind is a kind of theatre where several perceptions successively make their appearance, pass, repass, glide away, and mingle in an infinite variety of postures and situations. There is properly no simplicity in it at one time, nor identity in different, whatever natural propension we may have to imagine that simplicity and identity. The comparison of the theature must not mislead us. They are the successive perceptions only that constitute the mind ; nor have we the most distant notion of the place where these scenes are represented or of the materials of which it is composed."

कराकर हमारी कल्पनात्मक एकता को सिद्ध करती है।"[1]

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है ? ह्यूम का स्पष्ट उत्तर है कि नहीं। जब आत्मा संस्कारों और विज्ञानों के समुच्चय के अतिरिक्त कुछ नहीं है, मृत्यु के बाद इन संस्कारों और विज्ञानों के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अतः, मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व का भी कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। मृत्यु के विषय में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए एक दिन ह्यूम ने कहा था, "यह सम्भव है कि आग पर रखने से कोयले का एक टुकड़ा न जले।" उनके इस उत्तर का अर्थ यह है कि यदि कारण-कार्य सम्बन्ध भविष्य में ऐसे ही रहता है जैसा कि वह है तो मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। किन्तु यदि भविष्य में इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन होता है, तो मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है।

ईश्वर-तत्त्व का निरसन

(Elimination of God)

कारण-कार्य-प्रकरण में ही हम देख चुके हैं कि विशुद्ध अनुभववाद के आधार पर किसी भी तत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। तर्क और अनुभव किसी भी आधार पर न तो हम जगत् के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते हैं और न आत्मा के ही अस्तित्व को। हम जगत् और आत्मा में केवल विश्वास कर सकते हैं। विज्ञान के रूप में सृष्टि-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों असम्भव है। जो बात जगत् और आत्मा के विषय में सही है, वही बात ईश्वर पर भी लागू होती है। तत्त्व-ज्ञान के विषय में ह्यूम अज्ञेयवादी (Agnostic) हैं। इस सम्बन्ध में उनके निम्न वाक्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—"संक्षेप में दो सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके बीच मैं संगति स्थापित नहीं कर सकता हूँ और न उनमें से किसी का परित्याग ही कर सकता हूँ। एक है—हमारे सभी विभिन्न प्रत्यक्ष विशिष्ट सत् हैं और दूसरा है—आत्मा इन विशिष्ट सतों में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं देखती है। यदि हमारे प्रत्यक्ष किसी सरल और व्यक्तिगत द्रव्य में समवेत होते या यदि आत्मा उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध देखती तो इस प्रसंग में कोई कठिनाई न होती। जहाँ तक मेरी बात है मैं एक संशयवादी (अज्ञेयवादी) होने का दावा करता हूँ और मानता हूँ कि यह कठिनाई मेरी समझ में बहुत बड़ी है। किन्तु मैं यह दावा नहीं करता कि यह कठिनाई दुर्निवार है। अन्य लोग या शायद मैं ही कुछ और अधिक दृढ़ चिन्तन करने पर कोई सिद्धान्त खोज सकता हूँ जो इन विरोधी कथनों में संगति स्थापित कर देगा।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ह्यूम अपने को प्रत्यक्ष तक ही सीमित रखना चाहते हैं। प्रत्यक्षों से अतीत कोई नित्य सत्ता विद्यमान है या नहीं, यह एक खुले प्रश्न के रूप में छोड़

---

1. वही, "..........the true idea of the human mind is to consider it as a system of different perceptions or different existences which are linked together by the relation of cause and effect and mutually produce, destroy, influence and modify each other...........I cannot compare the soul more properly to anything than to republic or commonwealth in which the several members are united by the reciprocal ties of government and subordination and give rise to other persons who propagate the same republic in the incessant changes of its parts."
2. मानव-स्वभाव पर एक ग्रन्थ, परिशिष्ट।

देना चाहते हैं। वे यह कभी नहीं कहते कि जगत, आत्मा या ईश्वर का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। उनके कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्यक्ष या तर्क द्वारा हम उनमें से किसी के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। तत्त्व सम्बन्धी सभी युक्तियाँ कारणता-नियम पर आधारित होती है और कारणता-नियम का अर्थ है : दृष्ट के आधार पर अदृष्ट के विषय में निष्कर्ष निकालना जो एक असम्भव कार्य है। इसी आधार पर वे ईश्वर-विज्ञान का खण्डन करते हैं।

ईश्वर के सम्बन्ध में ह्यूम का तर्क यह है कि हम ईश्वर को बुद्धि द्वारा नहीं जान सकते क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान न होकर वस्तु-जगत् का ज्ञान है। ईश्वर को हम अनुभव द्वारा भी नहीं जान सकते क्योंकि उसका कोई भी संस्कार हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है और न भविष्य में प्राप्त होने की सम्भावना ही है। ह्यूम के शब्दों में : "यह सत्य है कि हम नहीं जानते कि पिण्ड कैसे एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं। उनका बल या शक्ति पूर्णतया अचिन्त्य है। किन्तु परमात्मा किस प्रकार अपने ऊपर या पिण्ड पर क्रिया करता है, क्या उस विधि या बल के बारे में हम उतने ही बड़े अज्ञानी नहीं हैं ? मेरी प्रार्थना है कि आप इस विज्ञान को कहाँ से प्राप्त करते हैं ? अपने अन्दर हमें उस शक्ति की कोई भावना या चेतना नहीं मिलती है। अपनी इन्द्रियों के ऊपर मनन करने से हम जो सीखते हैं उसके अतिरिक्त हमें परम-तत्त्व का कोई विज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अतः, यदि किसी वस्तु के निराकरण के लिए हमारा अज्ञान प्रमाण है तो जैसे हम स्थूलतम जड़-तत्त्व के समस्त शक्ति का निराकरण करते हैं वैसे ही हमें परम-तत्त्व की समस्त शक्ति का निराकरण करना चाहिए। निश्चय ही जैसे पहले की क्रियाओं के विषय में, वैसे ही दूसरे की भी क्रियाओं के विषय में ज्ञान नहीं है।"

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि हमें कभी भी ईश्वर की असीम शक्ति का संस्कार प्राप्त नहीं होता। अतः, हमारे लिए ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। ह्यूम के तर्कों के समक्ष कोई भी तत्त्व जड़-तत्त्व या ईश्वर-तत्त्व टिक नहीं पाता। डेकार्टस और लॉक ने आत्मा, जड़ और ईश्वर इन तीन तत्त्वों में विश्वास किया। बर्कले ने कहा कि आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ह्यूम ने आत्मा का भी निषेध कर दिया और घोषित किया कि संस्कारों और विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार ह्यूम के दर्शन को अनुभववाद (Empiricism), प्रत्यक्षवाद (Positivism), संवेदनवाद (Sensationalism), गोचरवाद (Phenomenalism) इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है।

संशयवाद (Scepticism)

लॉक का इन्द्रियानुभववाद ह्यूम के दर्शन में संशयवाद के रूप में परिणत हो जाता है। अनुभव द्वारा हमें केवल पृथक्-पृथक् संस्कारों या विज्ञानों का ही ज्ञान होता है जिनके बीच बुद्धि किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं करती। इसके कारण ह्यूम के दर्शन में तीन प्रकार का संशयवाद उत्पन्न होता है—

(i) बुद्धि के विषय में संशयवाद—ह्यूम स्वीकार करते हैं कि बीजगणित और अंकगणित सम्बन्धी तर्क सदा यथार्थ ही होते हैं क्योंकि वे इकाई के स्पष्ट प्रतिभान पर आधारित होते

हैं, पर फिर भी हम इस विषय में पूर्ण रूप से आश्वत नहीं हो सकते कि बुद्धि ने बीजगणित और अंकगणित के नियमों का ठीक प्रकार पालन किया। इस प्रकार ज्यामिति, बीजगणित और अंकगणित के निष्कर्ष भी हमारे लिए केवल संभाव्य ही होते हैं। यदि कहा जाय कि इन विज्ञानों के निष्कर्षों की कई बार जाँच और परीक्षण करके उनको पूर्णतया यथार्थ बनाया जा सकता है, यह सही नहीं है क्योंकि जाँच और परीक्षण की प्रणाली केवल आगमनात्मक प्रणाली (Inductive Method) ही होती है, जो निष्कर्षों की केवल सम्भाव्यता (Probability) को ही बढ़ा सकती है, उन्हें पूर्णतया निश्चयात्मक नहीं बना सकती। यहाँ तक कि आधुनिक संगणक यन्त्र भी त्रुटियाँ करते हैं। उनकी वही सीमाएँ होती हैं जो मानवीय मस्तिष्क की होती हैं। अतः, निदर्शन या गणित के तर्क केवल सिद्धान्तः (In Principle) ही निश्चयात्मक माने जा सकते हैं, व्यवहारतः ये केवल सम्भाव्य ही होते हैं। ह्यूम ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी गणित के तर्क की बार-बार जाँच-पड़ताल करने से उसकी सम्भाव्यता बढ़ने की अपेक्षा घट जाती है क्योंकि पिछली गलतियों का स्मरण और अनुभव करने से इस प्रकार के तर्क के प्रति हमारी आस्था कम हो जाती है। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार निर्णय (Judgement) एक मूल-प्रवृत्यात्मक प्रक्रिया (Instinctive Actvity) है जो सम्भाव्य तर्क पर आधारित होता है।

(ii) इन्द्रियों के विषय में संशयवाद—इन्द्रियों के विषय का संशयवाद वास्तव में एक प्रकार का जगत् के विषय में अज्ञेयवाद (Agnosticism) है। हमें अनुभव द्वारा किन-किन वस्तुओं का ज्ञान होता है ? अनुभव द्वारा हमें केवल पृथक्-पृथक् संस्कारों और विज्ञानों का ही ज्ञान होता है जिनके बीच आत्मा कोई सम्बन्ध नहीं देख पाती। हमारे संस्कारों में केवल सादृश्य (Resemblance), समरूपता (Constancy) और संसक्तता (Coherence) ही पाई जाती है, पर भ्रमवश हम उन्हें अभेदता, सातत्य और एकता के रूप में ग्रहण कर एक जड़-जगत की कल्पना कर लेते हैं। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जड़-जगत के विषय में ह्यूम का संशयवाद केवल उसके ज्ञान तक ही सीमित है। जहाँ तक जड़-जगत के अस्तित्व का प्रश्न है, ह्यूम इसे एक खुले प्रश्न के रूप में छोड़ देते हैं।

इस प्रश्न पर 'जड़-तत्त्व के निरसन' प्रकरण में पूर्ण रूप से विचार किया जा चुका है। इनका व्यर्थ पिष्टपेषण अनावश्यक है।

(iii) आत्मा के विषय में संशयवाद—जो बात जड़-तत्त्व के विषय में सही है, वही आत्म-तत्त्व पर भी लागू होती है। ह्यूम अन्तर्दर्शन द्वारा 'आत्मा' की खोज करना चाहता था। पर वह संस्कारों, विज्ञानों, इच्छाओं और भावनाओं से ही टकराकर रह गया। उसे अन्तर्दर्शन द्वारा किसी नित्य और शाश्वत आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। हमारे क्षणिक संवेदनों और विज्ञानों में सादृश्य तथा आनन्तर्य है पर एकता और नित्यता नहीं है। जल-प्रवाह या दीपशिखा के समान इन क्षणिक विज्ञानों की धारा बड़े वेग से निरन्तर बह रही है। इस तीव्र वेग और अनवच्छिन्नता के कारण समानता, अभेदता का रूप ग्रहण कर लेती है। ज्ञान की दृष्टि से आत्मा नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है।

यहाँ इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि ह्यूम ने आत्मा के ज्ञान के विषय में भी संशय प्रकट किया, उसके अस्तित्व का जहाँ तक प्रश्न है, वे उसे एक खुले प्रश्न के

रूप में ही छोड़ देना चाहते हैं। इस विषय में ह्यूम अज्ञेयवादी (Agnostic) हैं। उनके संशयवाद का केवल इतना अर्थ है कि आत्मा के अस्तित्व को न तो हम युक्तियों द्वारा जान सकते हैं और न अनुभव द्वारा ही। केवल कल्पना (Imagination) ही हमें उसके अस्तित्व में विश्वास करने को बाध्य करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जो बात जड़-तत्त्व व आत्म-तत्त्व पर लागू होती है वही ईश्वर-तत्त्व पर भी लागू होती है।

ह्यूम संशयवाद को एक रोग मानते हैं जो जड़ से कभी भी अच्छा नहीं हो सकता। लापरवाही (Carelessness) और अनवधान (Inattention) ही इस रोग का उपचार है। उन्हीं के शब्दों : "बुद्धि और इन्द्रियों के ऊपर यह संशयवादी सन्देह एक रोग है जो जड़ से कभी अच्छा नहीं हो सकता है। हम चाहें जितना इसको भगाएँ या कभी-कभी चाहे हम अपने को इससे पूर्ण मुक्त समझ लें, किन्तु यह प्रतिक्षण मेरे पास आता रहता है। किसी भी दर्शन के आधार पर बुद्धि या इन्द्रियों का पक्ष लेना असम्भव है। जब हम उनके पक्ष में प्रमाण देने चलते हैं तब हम उन्हें और अधिक कमजोर पाते हैं। चूँकि विषयों पर गम्भीर और प्रगाढ़ चिन्तन करने से यह संशयवादी सन्देह उत्पन्न होता है, इसलिए हम चाहे इसके पक्ष में तर्क करें या विपक्ष में, किन्तु जैसे-जैसे हम चिन्तन करते जाते हैं वैसे यह बढ़ता है। लापरवाही और अनवधान ही हमें इसकी दवा दे सकती है। इस कारण मैं बिलकुल उन पर निर्भर करता हूँ।"[1]

लापरवाही और अनवधान की आगे व्याख्या करते हुए ह्यूम कहते हैं, "मन की इस प्रवृत्ति के शैथिलीकरण द्वारा या किसी उपव्यवसाय द्वारा इन्द्रियों के किसी सजीव संस्कार द्वारा प्रकृति इस दार्शनिक विषाद और उन्माद से हमारा उपचार कर देती है। मैं भोजन करता हूँ, बैकगैमन का खेल खेलता हूँ, मैं वार्तालाप करता हूँ, मित्रों के साथ मैं आमोद-प्रमोद करता हूँ, और तीन या चार घंटे के इस प्रकार के विनोद के बाद जब मैं पुनः उन परिकल्पनाओं पर लौट आता हूँ तो वे इस प्रकार भावशून्य, कष्टकल्पित और हास्यास्पद प्रतीत होती हैं कि मेरा हृदय उनमें से किसी के प्रति आकर्षित नहीं हो पाता।"[2] यहाँ ह्यूम का संशयवाद पूर्ण रूप

1. मानव-स्वभाव पर एक ग्रन्थ 1 खण्ड 4, अधि० 2, "This sceptical doubt, both with regard to reason and the senses, is a malady which can never be radically cured, but must return upon us every moment, however we may chase it away, and sometimes may seem entirely free from it. It is impossible, upon any system to defend either our understanding or senses, and we but expose them further when we endeavour to justfy them in that manner..........Carelessness and inattention alone can afford us the remedy. For this reason I rely entirely upon them."
2. वही, "Nature herself....... cures me of this philosophical melancholy and delirium, either by relaxing this bent of mind or by some avocation, and lively impression of my senses, which obliterates all these chimeras. I dine, I play a game of back gammon, I converse, am merry with friends, and when, after three or four hour's amusement, I would return to these speculations, they appear so cold, and strained, and ridiculous that I can not find in my heart to enter into them any further."

रूप में ही छोड़ देना चाहते हैं। इस विषय में ह्यूम अज्ञेयवादी (Agnostic) हैं। उनके संशयवाद का केवल इतना अर्थ है कि आत्मा के अस्तित्व को न तो हम युक्तियों द्वारा जान सकते हैं और न अनुभव द्वारा ही। केवल कल्पना (Imagination) ही हमें उसके अस्तित्व में विश्वास करने को बाध्य करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जो बात जड़-तत्त्व व आत्म-तत्त्व पर लागू होती है वही ईश्वर-तत्त्व पर भी लागू होती है।

ह्यूम संशयवाद को एक रोग मानते हैं जो जड़ से कभी भी अच्छा नहीं हो सकता। लापरवाही (Carelessness) और अनवधान (Inattention) ही इस रोग का उपचार है। उन्हीं के शब्दों : "बुद्धि और इन्द्रियों के ऊपर यह संशयवादी सन्देह एक रोग है जो जड़ से कभी अच्छा नहीं हो सकता है। हम चाहें जितना इसको भगाएँ या कभी-कभी चाहे हम अपने को इससे पूर्ण मुक्त समझ लें, किन्तु यह प्रतिक्षण मेरे पास आता रहता है। किसी भी दर्शन के आधार पर बुद्धि या इन्द्रियों का पक्ष लेना असम्भव है। जब हम उनके पक्ष में प्रमाण देने चलते हैं तब हम उन्हें और अधिक कमजोर पाते हैं। चूँकि विषयों पर गम्भीर और प्रगाढ़ चिन्तन करने से यह संशयवादी सन्देह उत्पन्न होता है, इसलिए हम चाहे इसके पक्ष में तर्क करें या विपक्ष में, किन्तु जैसे-जैसे हम चिन्तन करते जाते हैं वैसे यह बढ़ता है। लापरवाही और अनवधान ही हमें इसकी दवा दे सकती है। इस कारण मैं बिलकुल उन पर निर्भर करता हूँ।"[1]

लापरवाही और अनवधान की आगे व्याख्या करते हुए ह्यूम कहते हैं, "मन की इस प्रवृत्ति के शैथिलीकरण द्वारा या किसी उपव्यवसाय द्वारा इन्द्रियों के किसी सजीव संस्कार द्वारा प्रकृति इस दार्शनिक विषाद और उन्माद से हमारा उपचार कर देती है। मैं भोजन करता हूँ, वैकगैमन का खेल खेलता हूँ, मैं वार्तालाप करता हूँ, मित्रों के साथ मैं आमोद-प्रमोद करता हूँ, और तीन या चार घंटे के इस प्रकार के विनोद के बाद जब मैं पुनः उन परिकल्पनाओं पर लौट आता हूँ तो वे इस प्रकार भावशून्य, कष्टकल्पित और हास्यास्पद प्रतीत होती हैं कि मेरा हृदय उनमें से किसी के प्रति आकर्षित नहीं हो पाता।"[2] यहाँ ह्यूम का संशयवाद पूर्ण रूप

1. मानव-स्वभाव पर एक ग्रन्थ 1 खण्ड 4, अधि० 2, "This sceptical doubt, both with regard to reason and the senses, is a malady which can never be radically cured, but must return upon us every moment, however we may chase it away, and sometimes may seem entirely free from it. It is impossible, upon any system to defend either our understanding or senses, and we but expose them further when we endeavour to justfy them in that manner..........Carelessness and inattention alone can afford us the remedy. For this reason I rely entirely upon them."
2. वही, "Nature herself....... cures me of this philosophical melancholy and delirium, either by relaxing this bent of mind or by some avocation, and lively impression of my senses, which obliterates all these chimeras. I dine, I play a game of back gammon, I converse, am merry with friends, and when, after three or four hour's amusement, I would return to these speculations, they appear so cold, and strained, and ridiculous that I can not find in my heart to enter into them any further."

से असफल हो जाता है यहाँ वे संशयवाद से विश्वासवाद की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

ह्यूम अपनी प्रारम्भिक रचना 'मानव-स्वभाव पर एक ग्रन्थ' में स्पष्ट रूप से संशयवादी थे। किन्तु अपने द्वितीय ग्रन्थ 'मानव-बुद्धि से सम्बन्धित एक विमर्श' में उन्होंने संशयवाद को छोड़ दिया। वहाँ उन्होंने स्वीकार किया है कि पूर्ण संशयवाद जिसे उन्होंने पिरोवाद (Pyrrhonism) कहा है, व्यर्थ एवं हानिकारक है। उक्त पुस्तक में ह्यूम ने एक प्रकार के विनम्र या उदार संशयवाद (Mitigated Scepticism) का प्रतिपादन किया है। इसे उन्होंने शास्त्रीय संशयवाद (Acadmical Scepticism) की भी संज्ञा दी है। इस उदार संशयवाद के दो लाभ हैं। प्रथम तो यह हमें सिखाती है कि हमें अपने निर्णयों में सदा निष्पक्ष होना चाहिए तथा कोई निर्णय लेते समय सभी प्रकार के रूढ़िवाद और पूर्वाग्रहों से मुक्त रहना चाहिए। यह अहंकार एवं दुराग्रह का भी प्रतिकारक है। पूर्ण संशयवाद भी एक प्रकार का दुराग्रह ही है। इससे बचने के लिए उदार संशयवाद की आवश्यकता होती है। संक्षेप में : 'सन्देह' सावधानी व नम्रता की कुछ मात्रा तार्किक के पास सभी प्रकार के निश्चय और निर्णय लेते समय सदा साथ रहना चाहिए।"[1]

उदार संशयवाद की दूसरी उपयोगिता यह है कि यह मानव-बुद्धि के विभिन्न पहलुओं की सीमाओं को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, हमारी कल्पनाशक्ति (Imagination) पर्याप्त निरंकुश होती है जो कितनी ही ऊँचाई और दूरी की उड़ान भर सकती है पर यथार्थ निर्णय (Correct Judgement) के लिए हमें अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग साधारण जीवन के अनुभवों की परिधि के भीतर ही करना चाहिये। पुनः मानव-बुद्धि जिन अल्प विषयों को जानती भी है उन सबकी प्रामाणिकता का एक सा मानदण्ड नहीं है। तर्कशास्त्र और गणित के तर्कवाक्यों की प्रामाणिकता का मानदण्ड संसक्तता (Coherence) है पर विज्ञान के तर्क-वाक्यों की प्रामाणिकता का मानदण्ड याथार्थ्य (Correspondence) है। हमारी बुद्धि की कई शक्तियाँ हैं जिनके अपने-अपने विशिष्ट विषय हैं। प्रत्येक शक्ति केवल अपने विषयों तक ही सीमित है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष केवल संस्कारों और विज्ञानों तक ही सीमित है। इसी प्रकार बुद्धि मात्रा या संख्या के विषय में ही निश्चित धारणाएँ बना सकती है। बुद्धि वस्तु-जगत के विषय में कोई यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती। उदार संशयवाद अन्धविश्वास से हमें बचाता है। ह्यूम का उदार संशयवाद जैन-दर्शन के स्याद्वाद की झलक प्रस्तुत करता है।

ह्यूम विश्वास (Belief) के कारण पूर्व संशयवाद से उदार संशयवाद की ओर अग्रसर होता है। वह समझता है कि हमारे नित्य प्रति के व्यवहार, व्यवसाय और आचरण पूर्ण संशयवाद का खण्डन करने के लिए पर्याप्त हैं। हम अपने अध्ययन-कक्ष में वस्तु-जगत् के विषय में भले ही पूर्ण संशयवादी हों, पर कक्ष के बाहर जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करते ही हम अपना पूर्ण संशयवाद भूल जाते हैं। प्रकृति स्वयं पूर्ण संशयवाद का उच्छेद करती है। किन्तु ह्यूम इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रकृति की एकता में विश्वास करना एक बात है और उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करना दूसरी बात है। निश्चयात्मक ज्ञान केवल गणित और

---

1. मानव-बुद्धि संबंधित एक विमर्श, अध्याय 12, "In general there is a degree of doubt, caution and modesty which in all kinds of scrutiny and decision, ought for ever to accompany a just reasoner."

तर्क-शास्त्र में ही प्राप्त हो सकता है। जो वस्तु-जगत् के विषय में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने की आशा रखते हैं, उन्हें अन्त में निराशा ही हाथ लगेगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तु-जगत् के ज्ञान के सम्बन्ध में ह्यूम ने संशयवाद का प्रतिपादन किया है।

ह्यूम के दर्शन की आलोचना

ह्यूम अनुभववाद के एक महान दार्शनिक हैं। यदि अनुभववाद को एक मत के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, तो हम ह्यूम के निष्कर्षों से कदापि नहीं बच सकते। ह्यूम का दर्शन अनुभववाद की चरम परिणति है। आज तक जितने भी अनुभववादी दार्शनिक हुए हैं, वे अनुभव के तार्किक विवेचन और विश्लेषण में ह्यूम को मात नहीं कर सके हैं। सभी अनुभववादी दार्शनिकों की बुद्धि ह्यूम के समक्ष नतमस्तक हो जाती है।

(1) अनुभववाद सत्रहवीं शताब्दी के भौतिकवाद और द्वैतवाद का साक्षात् परिणाम था। भौतिकवाद ने भौतिक परमाणुओं और उनकी गति के माध्यम से आत्मा की व्याख्या करना चाहा। उसके अनुसार आत्मा जड़-तत्त्व का ही उपफल है। पर यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जड़-तत्त्व, आत्म-तत्त्व को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? यह बिलकुल असम्भव है। इसी प्रकार द्वैतवाद ने आत्मा और जड़-तत्त्व की पृथकता को स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में संसार के भीतर आत्मा एक सीमित और विशिष्ट इकाई ही होगी और उसका बाह्य जगत से सम्बन्ध परोक्ष रूप में ही हो सकता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि एक विशिष्ट आत्मा बाह्य जगत का ज्ञान ही किस प्रकार प्राप्त कर सकती है ? संसार की यह द्वैतवादी व्याख्या प्रत्यक्ष या ज्ञान के प्रतिनिधानवाद (Representationism) को जन्म देती है। पर प्रत्यक्ष के प्रतिनिधानवाद में प्रत्यक्ष के कारण-सिद्धान्त के समान ही कई विकट समस्याएँ उत्पन्न हो जातीं हैं जिनका समाधान करना आसान नहीं होता।

प्रतिनिधानवाद में आत्मा को ऐसी दो वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है जिनमें एक वस्तु तो ज्ञेय होती है पर दूसरी वस्तु सदा अज्ञेय होती है। यहाँ हमें केवल विज्ञानों का ही साक्षात् ज्ञान होता है, उनके कारण रूप बाह्य वस्तुएँ ज्ञान की परिधि के बाहर ही होती हैं।

प्रतिनिधानवाद की दुर्निवार कठिनाईयों से घबड़ाकर अनुभववादी अपनी पूर्व स्थिति में परिवर्तन करने को बाध्य हो जाता है। इस बाध्यता के परिणामस्वरूप वह बाह्य, अगम्य वस्तु का ही परित्याग कर देता है जिस पर कि उसका मौलिक अनुभववाद आधारित था। बाह्य वस्तुओं के निरसन के बाद अनुभववाद विशुद्ध गोचरवाद (Phenomenalism) में परिणत हो जाता है।

बाह्य जगत को ग्रसित करने के बाद अनुभववादी की दृष्टि उसकी आत्मा पर पड़ती है। वह आत्मा को अपने अन्तर्दर्शन द्वारा ढूँढने का प्रयत्न करता है पर विभिन्न प्रत्यक्षों, संस्कारों, भावनाओं और विज्ञानों जो क्षणिक और विशेष होते हैं, के अतिरिक्त वह किसी नित्य और शाश्वत आत्मा को नहीं ढूँढ़ पाता। अपने अनुभववाद के प्रति पूर्ण निष्ठा व्यक्त करने के लिए वह इस नित्य आत्मा को भी चट कर डालता है। अब विभिन्न क्षणिक और अनित्य संस्कारों और विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह

जाता। "संशयवादी उच्छेदवाद" (Sceptical Nihilism) इसका सीधा परिणाम उत्पन्न होता है।

अनुभववाद पृथक्-पृथक् विशिष्ट संवेदनों को ही अपने सम्पूर्ण ज्ञान का आधार मानता है। ये पृथक् और विशिष्ट संवेदन ऐसे हैं कि इनमें कोई सार्वभौम तत्त्व (Universal Element) देखने को नहीं मिलता। विशुद्ध अनुभववाद के अनुसार हमारे अनुभवों में न केवल सम्बन्ध ही देखनें को नहीं मिलता वरन् उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी को मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद (Psychological Atomism) कहते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान किसी की भी कल्पना नहीं की जा सकती। ज्ञान तभी सम्भव है जबकि ज्ञाता और ज्ञेय एक तन्त्रबद्ध संस्थान (Systematic Structure) के अंग हों। तन्त्रबद्ध संस्थान ही पदों और उनके सम्बन्धों को निर्धारित करता है। यह तन्त्रबद्ध संस्थान केवल एक मूर्त सामान्य (Concrete Universal) ही हो सकता है जिसके अभाव में पदों और उनके सम्बन्धों की सार्थकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता को ज्ञेय के विषय में ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों किसी तन्त्रबद्ध साकल्प (Systematic Whole) के अनिवार्य अंग हों। अन्यथा ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद में जो अनुभववाद का साक्षात् परिणाम होता है, इस तन्त्रबद्ध साकल्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभववाद ज्ञान की समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

2. यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि अनुभववाद ज्ञान को सम्भावित करता है तो उस ज्ञान में निश्चयात्मकता, सार्वभौमता और अनिवार्यता का सदा अभाव रहेगा। जब हमारा ज्ञान केवल वर्तमान संवेदनाओं तक ही सीमित है और कारण-कार्यभाव सम्बन्ध भी एक सम्भाव्य सम्बन्ध ही है, तो हमें भविष्य के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। भूत और भविष्य दोनों हमारे लिए अगम्य होंगे। निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव में हमें ज्ञान का कोई प्रतिमान ही प्राप्त नहीं हो सकता। संशयवाद (Scepticism) इसका अनिवार्य परिणाम है।

3. संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धान्त है जो स्वयं अपने को समाप्त कर देता है। यदि हम प्रत्येक ज्ञान के विषय में सन्देह व्यक्त कर सकते हैं तो स्वयं संदेहवाद के विषय में भी सन्देह व्यक्त कर सकते हैं। अतः, संदेहवाद के आधार पर संदेहवाद भी अक्षुण्ण नहीं रह सकता। इस प्रकार ह्यूम का संशयवाद तत्त्व और ज्ञान सभी का उच्छेदन कर डालता है।

4. यदि केवल विशुद्ध अनुभव को ही ज्ञान का स्रोत मान लिया जाय तो मनुष्यों और पशुओं के ज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। इन्द्रियानुभव द्वारा हमें केवल पृथक्-पृथक्, क्षणिक विशिष्ट संवेदनों का प्रत्यक्ष होता है। पर इन्हीं विशिष्ट संवेदनों को ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। संवेदनों को ज्ञान बनने के लिए उनके बीच क्रम, व्यवस्था, समन्वय और संसक्तता की आवश्यकता होती है जो अनुभव प्रदान नहीं कर सकता। इन्हें बुद्धि ही प्रदान कर सकती है। सार्वभौमता, अनिवार्यता और निश्चयात्मकता के बिना हम किसी ज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते। इस सार्वभौमता, अनिवार्यता और निश्चयात्मकता का ज्ञान हमें न

अनुभव से हो सकता है और न अनुमान से ही। ह्यूम की कल्पना (Imagination) भी इनका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। इनका ज्ञान मौलिक सत्यों का ज्ञान है जो बुद्धि की निर्विकल्प अनुभूति (Intuiton) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान की उत्पत्ति को बुद्धि के स्वतः सिद्ध नियमों में न खोजकर केवल इन्द्रियानुभूति में खोजना ह्यूम की भंयकर भूल थी। इस दृष्टि से ह्यूम के दर्शन की अपेक्षा काण्ट का दर्शन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

5. आत्मा का निषेध ह्यूम की भयंकरतम भूल थी। वे आत्मा को इस आधार पर खोजना चाहते थे कि आत्मा ज्ञान का 'विषय' हो सकती है या नहीं। पर आत्मा का स्वरूप उसका ज्ञातृत्व है। आत्मा सदा 'ज्ञाता' है, वह 'ज्ञेय' कभी नहीं हो सकती। जब आत्मा सदा 'ज्ञाता' है तो उसे 'विषय' रूप में हम किस प्रकार जान सकते हैं ? पुनः विज्ञान स्वयं अपना अनुभविता नहीं हो सकता। विज्ञान सदा ज्ञेय रूप होते हैं। उनकी सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब उनका कोई विज्ञाता हो। पुनः, किसी नित्य और शाश्वत आत्मा के विना स्मृति और व्यक्तिगत तादात्म्य (Personal Identity) की सिद्धि नहीं की जा सकती। भूत की वर्तमान में स्मृति तभी सम्भव है जबकि कोई ऐसा नित्य द्रव्य हो जो भूत और वर्तमान दोनों में समान हो। वह आत्मा ही हो सकती है।

4

आलोचनात्मक विज्ञानवाद
(Critical Idealism)

इमैन्युएल काण्ट
(Immanuel Kant) (1724-1804)

जीवन-वृत्त—काण्ट आधुनिक दर्शन के महानतम दार्शनिक हैं। इनका जन्म 1724 में जर्मनी के कोनिग्जबर्ग (Konigsberg) नगर के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम जे० जी० कैण्ट (J.G. Cant) था जो जीनसाजी का काम करते थे। बचपन से इनकी शिक्षा काफी अनुशासनबद्ध और धार्मिक रूप में हुई थी। बाद में वे कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में भरती हुये जहाँ उन्होंने गणित, विज्ञान और दर्शन की उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त करके काण्ट पूरे नौ वर्ष तक जीविका-निर्वाह के लिये इधर-उधर के सम्पन्न परिवारों में शिक्षक का कार्य करते रहे। पुनः 1770 में कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में एक साधारण प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई जहाँ अध्यापन के साथ-साथ छह वर्ष तक वे उपग्रंथालयी का कार्य भी सम्पादित करते थे। वे अपने प्रान्त के बाहर कभी नहीं गए। उनका जीवन बड़ा साधारण, सरल और ईमानदार था। काण्ट ने जीवन में विवाह नहीं किया। वे प्रत्येक व्यक्ति को साध्य-रूप मानते थे और किसी को अपनी इच्छा या वासना का साधन नहीं बनाना चाहते थे। उनका प्रत्येक कार्य निश्चित समय पर व नियमानुकूल हुआ करता था। कहा जाता है कि जब वे प्रातःकाल घूमने निकलते थे तो लोग उन्हें देखकर अपनी घड़ियाँ ठीक करते थे।

1797 में काण्ट ने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया। उनके भीतर कर्तव्य-निष्ठा और सत्यप्रेम, कूट-कूट कर भरा था। उनके अन्दर संश्लेषणात्मक और प्रातिभ शक्ति होने के साथ-साथ विश्लेषणात्मक और विवेकमय बुद्धि का अपूर्व संयोग विद्यमान था। लाइब्नित्स ने जगत् की परिमाणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जहाँ संवेदना और विचार, भावना और ज्ञान तथा शुभ और अशुभ के बीच प्रकारात्मक भेद न होकर केवल मात्रात्मक भेद ही था। इसके विपरीत, काण्ट ने जगत की गुणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने स्वलक्षण परमार्थों, इन्द्रिय, बुद्धि, प्रज्ञा एवं आत्मा के विशिष्ट कार्यों का सम्यक विवेचन प्रस्तुत किया।

रचनाएँ—प्रारम्भ में काण्ट ने दर्शन की अपेक्षा विज्ञान पर अधिक लिखा। जब लिस्बन में भूचाल आया तो उन्होंने भूचाल के सिद्धान्तों पर एक पुस्तक लिख दिया। उसी प्रकार इस प्रश्न कि क्या पश्चिमी वायु जब अटलांटिक सागर पार कर योरोप पहुँचती है, नम हो जाती है, उन्होंने वायु पर एक पुस्तक लिख डाली। भौतिक भूगोल (Physical Geography) एक ऐसा विषय था जिसमें काण्ट विशेष रुचि रखते थे। इस विषय का उनके दर्शन पर भी विशेष प्रभाव पड़ा था।

काण्ट की वैज्ञानिक रचनाओं में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है : सामान्य प्राकृतिक इतिहास एवं खगोल सिद्धान्त (General Natural History and Theory of the

Heavens, 1755) जिसने आगे चलकर लाप्लाज की नीहारिका प्राक्कल्पना (Nebular Hypothesis) का रूप लिया। इस पुस्तक के द्वारा सौर्य-मंडल की उत्पत्ति के इतिहास पर पर्याप्त पर प्रकाश पड़ता है। जब ह्यूम जैसे संशयवादियों ने काण्ट को ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में चुनौती दी तो काण्ट ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम भूत द्रष्टा के स्वप्न (Dreams of a Ghost Seer) रक्खा। इस पुस्तक में उन्होंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि ज्ञान में इन्द्रियानुभव की अपेक्षा बुद्धि और प्रतिभान का विशेष योगदान होता है।

काण्ट की दार्शनिक रचनाओं में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक शुद्ध बुद्धि की समीक्षा (Critique of Pure Reason) है जो 1781 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसका द्वितीय परिवर्धित संस्करण 1789 में प्रकाशित हुआ। 1783 में उनकी प्रत्येक भावी तत्त्वविज्ञान के लिए प्राक्कथन (Prolegomena to every Future Metaphysics) प्रकाशित हुई जिसमें तत्त्वविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। इसके बाद 1788 में नीति विज्ञान पर उनकी व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा (Critique of Practical Reason) प्रकाशित हुई। इसके बाद 1790 में उनकी दर्शन की तीसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक सौन्दर्य-बुद्धि की समीक्षा (Critique of Judgement) प्रकाशित हुई। इन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के अतिरिक्त भी काण्ट ने दर्जनों पुस्तकें लिखी जिनमें सभी का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—केवल बुद्धि की परिधि के भीतर धर्म (Religion within the Limits of Reason only, 1793), प्राकृतिक विज्ञान के तात्त्विक अवयव (The Metaphysical Elements of Natural Science, 1786) नीतिशास्त्र का तत्त्व विज्ञान (Metaphysics of Ethics, 1797)। इन पुस्तकों के अतिरिक्त काण्ट ने सैकड़ों दार्शनिक लेख लिखे हैं, जो दर्शन के विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

दार्शनिक पृष्ठभूमि—सर्वप्रथम काण्ट की शिक्षा वुल्फ (Wolff) के मताग्रही बुद्धिवाद में हुई थी। मताग्रही बुद्धिवाद (Dogmatic Rationalism) के प्रति उनकी निष्ठा पर्याप्त समय तक बनी रही। बाद में उन्होंने अनुभव किया कि बुद्धिवाद हमें ज्ञान में निश्चयात्मकता दे सकता है पर सत्यता नहीं दे सकता। ज्ञान में सत्यता लाने के लिए अनुभववाद की शरण में जाना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए वे ब्रिटिश दर्शन विशेषकर ह्यूम की ओर आकर्षित हुए। आगे चलकर अनुभववाद के भीतर भी उन्हें त्रुटियाँ दिखाई देने लगीं। उन्होंने अनुभव किया कि अनुभववाद की स्वाभाविक परिणति संशयवाद (Scepticism) में ही हो सकती है। संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धान्त है जो कभी भी दर्शन का निष्कर्ष नहीं हो सकता। संशयवाद की त्रुटियों को देखकर एक बार पुनः वे बुद्धिवाद की ओर आकर्षित हुए। लाइब्नित्स के नवीन लेखों (Nouveaux Essais) ने उन्हें विशेष प्रभावित किया। पर अन्त में उन्होंने यह भी अनुभव किया कि विशुद्ध बुद्धिवाद ज्ञान को सत्यता प्रदान नहीं कर सकता। अतः, काण्ट एक बार पुनः अनुभववाद की ओर आकृष्ट हुए। अन्ततः ह्यूम ने उनकी मताग्रही निद्रा को सदा के लिए भंग कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उनकी संसार-प्रसिद्ध "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" 1781 में प्रकाशित हुई। "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" में काण्ट ने अपने आलोचनात्मक दर्शन का प्रतिपादन किया है। इसमें उन्होंने बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए उनके केवल गुणों के आधार पर आलोचनात्मक दर्शन (Critical

Philosophy) की स्थापना की। काण्ट के अनुसार अनिवार्यता और सत्यता ज्ञान के दो प्रमुख लक्षण हैं। ज्ञान की अनिवार्यता बुद्धि प्रदान करती है तथा ज्ञान की सत्यता अनुभव से आती है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों का योगदान होता है। काण्ट का यही आलोचनात्मक दर्शन है।

काण्ट के दर्शन की पूर्व-मान्यताएँ—

काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन कुछ पूर्व-मान्यताओं पर स्थापित किया गया है। ये मान्यताएँ मुख्यता तीन प्रकार की है : कुछ मनोवैज्ञानिक (Psychological) पूर्व-मान्यताएँ हैं जो निर्णयों और अनुमानों के वर्गीकरण में परिलक्षित होती हैं। कुछ पूर्व-मान्यताओं का स्वभाव विशुद्ध तार्किक (Logical) है जो अतीन्द्रिय रूपों और बुद्धि-विकल्पों में दिखाई देता है। इनके अतिरिक्त कुछ पूर्व-मान्यताएँ तात्त्विक (Metaphysical) स्वभाव की हैं जिनका प्रतिनिधित्व काण्ट के वस्तु-सन्मात्र (Things-in-themselves) करते हैं। अब हम काण्ट के दर्शन की कुछ प्रमुख पूर्व-मान्यताओं के विषय पर विचार करेंगे—

1. काण्ट ने मानवीय मस्तिष्क की छः शक्तियों (Faculties) का वर्णन किया है जिसमें प्रथम संवेदनशक्ति (Faculty of Sensibility) है जिसके द्वारा हम बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं; द्वितीय बुद्धि-शक्ति (Faculty of Understanding) है जिसके द्वारा हम बुद्धि-विकल्पों द्वारा बाह्य संवेदनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तृतीय भाव-शक्ति (Faculty of Feeling) है जिसके द्वारा हमें सुख, इच्छाओं इत्यादि का बोध होता है, चौथी संकल्प-शक्ति (Faculty of Will) है जिसके द्वारा हम नैतिक-अनैतिक का बोध कर उनके अनुसार आचरण करते हैं। बुद्धि-शक्ति या ज्ञान-शक्ति (Faculty of Cognition) को काण्ट ने पुनः तीन भागों में विभाजित किया है : प्रथम प्रत्यय-शक्ति (Faculty of Concepts), द्वितीय, निर्णय-शक्ति (Faculty of Judgement) और तीसरा, अनुमान शक्ति (Faculty of Inference)। इस प्रकार कुल मिला कर काण्ट ने छः मानवीय शक्तियों का वर्णन किया है जिनके द्वारा हमारे जीवन के कार्य संचालित होते हैं।

2. काण्ट की दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं मूलभूत मान्यता संवेदन-शक्ति एवं ज्ञान-शक्ति के स्वभाव एवं पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में है। इन दोनों शक्तियों में मात्रा का भेद न होकर प्रकार-भेद पाया जाता है। संवेद्यता (Sensibility) संवेदन प्राप्त करने की शक्ति है। इसी प्रकार प्रत्ययों या विकल्पों के प्राप्त करने की शक्ति को बुद्धि (Understanding) कहते हैं। संवेदनाएँ विशेष हैं, पर विकल्प सामान्य प्रतिनिधान (General Representations) होते हैं। संवेदनाएँ बाह्य वस्तुओं के साथ अपरोक्ष सम्बन्ध स्थापित करती हैं पर विकल्पों का बाह्य वस्तुओं के साथ परोक्ष सम्बन्ध ही होता है। संवेदन में आत्मा केवल संग्राहक होती है पर संप्रत्ययशक्ति (Conception) में आत्मा स्वतः प्रवृत्त हो जाती है। काण्ट के शब्दों में : "संवेदनाओं के द्वारा वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं, प्रत्ययों के द्वारा वे परिकल्पित होती हैं।"[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि संवेदनाओं और प्रत्ययों में से किसी एक के द्वारा ही ज्ञान का निर्माण नहीं किया जा सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए दोनों ही तत्त्वों की आवश्यकता होती है। इस

1. काण्ट "Through intuitons, objects are given to us; through concepts, they are thought."

दृष्टि से बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनों ही दोषी हैं क्योंकि दोनों ने ही ज्ञान के निर्माण के लिए इनमें से केवल एक ही तत्त्व की आवश्यकता पर बल दिया था।

3. प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए द्रव्य (Matter) और आकार (Form) दोनों की आवश्यकता होती हैं जिन्हें हम उपादान कारण और स्वरूप कारण कह सकते हैं। 'घट' नामक पदार्थ के निर्माण के लिए मिट्टी रूप उपादान और विशिष्ट आकृति रूप आकार की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार ज्ञान के निर्माण के लिए इन्द्रिय-संवेदन रूपी द्रव्य या उपादान की तथा बुद्धि-विकल्प रूपी स्वरूप देने वाले साँचे की आवश्यकता होती है। बुद्धि-विकल्पों के अभाव में हमें केवल अस्त-व्यस्त, विश्रृंखल एवं असम्बद्ध विशिष्ट इन्द्रिय संवेदनों की ही वेदना होगी जो पशुओं को भी होती है। पर इसे ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में बुद्धि विकल्प निष्क्रिय बने रहेंगे। संवेदन एवं बुद्धि के आकार आत्मा में प्रागनुभविक (Apriori) रूप में पहले से ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं, पर उन्हें सक्रिय बनाने के लिए बाह्य उत्तेजना की अनिवार्य आवश्यकता है। ज्योंही संवेदनाओं के रूप में आत्मा को बाह्य उत्तेजना प्राप्त होती है, संवेदन और बुद्धि के आकार सक्रिय होकर ज्ञान का निर्माण कर बैठते हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आत्मा को ज्ञान कहीं बाहर से प्राप्त होता है। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, उसके कहीं बाहर से आने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। बाह्य उत्तेजनाएँ आत्मा को केवल इस बात का अवसर प्रदान करती हैं कि वह बीज रूप ज्ञान को विकसित करे। इसीलिए काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों को "मौलिक रूप में अर्जित" (Originally Acquired) कहा है। इसी बात को ध्यान में रखकर काण्ट ने अपनी "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा, "यद्यपि हमारे समस्त ज्ञान का प्रारम्भ अनुभव से होता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि उसकी उत्पत्ति अनुभव से होती है।"[1] बुद्धि विकल्पों को यहाँ प्रागनुभविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे काल की दृष्टि से अनुभव से पहले आते हैं, उन्हें प्रागनुभविक कहने का मात्र इतना अर्थ है कि वे अनुभव पर आश्रित नहीं हैं। वे अनुभव से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे अनुभव निरपेक्ष हैं।

ज्ञान के उपर्युक्त विश्लेषण को हम एक दूसरे ढंग से भी प्रस्तुत कर सकते हैं। काण्ट के अनुसार वास्तविक ज्ञान में, यथार्थता, सार्वभौमता एवं अनिवार्यता नामक तीन गुण सदा विद्यमान रहना चाहिए। ज्ञान में सत्यता या यथार्थता इन्द्रिय-संवेदनों द्वारा उत्पन्न होती है पर उसकी सार्वभौमता और अनिवार्यता बुद्धि-विकल्पों द्वारा उत्पन्न होती है। इन्द्रिय-संवेदनों एवं बुद्धि-विकल्पों के बीच परस्पर-पूरकता या अन्योन्याश्रयता का सम्बन्ध है। इसी बात को काण्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है। "इन्द्रिय-संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य है तथा बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय-संवेदन अन्ध हैं।"[2]

(4) काण्ट ने अपने दर्शन को समीक्षात्मक एवं अतीन्द्रिय विज्ञानवाद की संज्ञा दी है। उन्होंने अपने दर्शन को समीक्षात्मक इसलिए कहा कि उसमें बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों

1. प्रस्तावना, But, although all our knowledge begins with experience it by no means follows that it all originates from experience.
2. काण्ट, Concepts without percepts are empty and percepts without concepts are blind."

की समीक्षा की गयी है। काण्ट के अनुसार बुद्धि का पर्यवसान रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास में होता है तथा अनुभववाद का पर्यवसान सन्देहवाद में होता है। यह ठीक है कि हमें अनुभववाद ज्ञान का उपादान प्रदान करता है तथा बुद्धिवाद हमें ज्ञान का स्वरूप देता है पर दोनों पृथक्-पृथक् रूप में ज्ञान का निर्माण नहीं कर सकते। ज्ञान के निर्माण में दोनों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार काण्ट का दर्शन बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के दोषों से बचने का प्रयत्न करता है। इसीलिए उसके दर्शन को समीक्षात्मक कहते हैं।

अब हम अतीन्द्रिय शब्द पर विचार करेंगे। हमने देख लिया कि ज्ञान के निर्माण के लिए इन्द्रिय-संवेदन एवं बुद्धि-विकल्प दोनों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें इन्द्रिय-संवेदन हमें प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होते हैं पर जहाँ तक बुद्धि-विकल्पों का प्रश्न है, वे अतीन्द्रिय (Transcendental) हैं। उन्हें अनुभव द्वारा निष्कर्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके बिना अनुभव की प्राप्ति नहीं हो सकती। काण्ट ने स्वयं कहा है कि ज्ञान हमारे अनुभव का विषय हो सकता है पर उसकी प्रागपेक्षाएँ हमारे अनुभव के विषय नहीं हो सकतीं। ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ हमारे अनुभव के विषय इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं अनुभव उन प्रागपेक्षाओं पर आश्रित है। इसीलिए काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों को अतीन्द्रिय कहा है।

अब हम काण्ट द्वारा प्रयुक्त तृतीय शब्द विज्ञानवाद पर विचार करेंगे। काण्ट ने यहाँ विज्ञानवाद शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। विज्ञानवाद के दो रूप हैं—प्रथम तत्त्वमीमांसीय विज्ञानवाद (Metaphysical Idealism) है जिसके अनुसार तत्त्व भौतिक न होकर चेतन है। द्वितीय ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद (Epistemological Idealism) है जिसके अनुसार ज्ञान का विषय ज्ञाता के ऊपर आश्रित होता है। काण्ट का विज्ञानवाद तत्त्वमीमांसीय विज्ञानवाद बिलकुल नहीं है। हाँ, उसे ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद कहा जा सकता है। पर पूर्ण रूप से काण्ट ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवादी भी नहीं है। उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान अपनी सामग्री के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है। काण्ट का दर्शन दृष्टि सृष्टिवाद (Subjective Idealism) भी नहीं है। ज्ञान का विषय हमारी मनोमय कल्पना नहीं है। ज्ञान के विषय पारमार्थिक स्व-लक्षणों (Things-in-themselves) द्वारा उत्थापित होते हैं जिनका हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। इस दृष्टि से काण्ट के दर्शन को आनुभविक वस्तुवाद (Empirical Realism) एवं अतीन्द्रिय विज्ञानवाद (Transcendental Idealism) कहा जाता है।

काण्ट द्वारा ज्ञान की समस्या का समाधान

काण्ट के पहले पाश्चात्य दर्शन-जगत में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं। प्रथम बुद्धिवाद (Rationalism) की जिसके डेकार्ट्स, स्पिनोजा और लाइब्नित्स मुख्य प्रतिनिधि थे, दूसरी अनुभववाद (Empiricism) की विचारधारा थी जिसके लॉक, बर्कले और ह्यूम मुख्य प्रतिनिधि थे। बुद्धिवाद के इस विचार के बावजूद कि मानवीय बुद्धि के भीतर ज्ञान प्राप्ति की अपूर्व क्षमता है, डेकार्ट्स, स्पिनोजा और लाइब्नित्स तत्त्व के विषय में एक मत न हो सके। इससे काण्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि कोरे बुद्धिवाद से वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। लॉक, बर्कले एवं ह्यूम का अनुभववाद भी ज्ञान की समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। ह्यूम का सन्देहवाद (Scepticism) लॉक के

अनुभववाद का साक्षात् परिणाम था। प्रारम्भ में काण्ट, लाइब्नित्स और वुल्फ के बुद्धिवाद से विशेष प्रभावित थे, किन्तु ह्यूम के तर्क-प्रहारों ने बुद्धिवाद का प्रासाद सदा के लिए ढहा दिया। ह्यूम के सन्देहवाद ने काण्ट को इतना प्रभावित किया कि उन्हें कहना पड़ा कि "ह्यूम ने मुझे रूढ़िवादी मोहनिद्रा से जगा दिया।"[1] उन्होंने ह्यूम के सन्देहवाद को काफी गम्भीरता से लिया। रूढ़िवादी मोह-निद्रा से उद्‌बुद्ध होने पर काण्ट ने अनुभव किया कि ह्यूम के संशयवादी निष्कर्ष लॉक के अनुभववाद के साक्षात् परिणाम हैं। अतः, उन्होंने लॉक की प्रारम्भिक प्राक्कल्पनाओं को प्रतिवर्तित करके घोषित किया कि ज्ञान को बाह्य वस्तुओं के अनुरूप न होकर स्वयं बाह्य वस्तुओं को ही ज्ञान के अनुरूप होना चाहिए। इसकी तुलना काण्ट ने खगोल-विद्या के कॉपरनिकस की क्रांति से की है। कॉपरनिकस के पहले खगोल-विद्या में पृथ्वी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र माना जाता था। इसे भू-केन्द्रिक सिद्धांत (Geo-centric Theory) कहते थे। बाद में कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी न होकर सूर्य है। खगोल-विद्या में इसे सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त (Heleo-centric Theory) कहते हैं। खगोल-विद्या में इसे कॉपरनिकस की क्रांति कहते हैं। काण्ट ने भी दर्शन के क्षेत्र में कॉपरनिकस जैसी क्रांति उपस्थित की। उन्होंने स्पष्ट रूप में देखा कि यदि ज्ञान के लिए आनुभविक सोपपाधिकता (Empirical Conditionality) के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय तो ज्ञान असम्भव हो जायेगा। यही कारण है कि उन्होंने ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए अतीन्द्रिय सोपपाधिकता (Transcendental Conditionality) में विश्वास कर लिया। यह ठीक है कि इसके लिए काण्ट को 'अज्ञेयवाद' (Agnosticism) का दोष भागी बनना पड़ा पर ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए इस मूल्य को चुकाने के सिवा उनके पास कोई विकल्प नहीं था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए काण्ट ने इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्त्व दिया। इस सन्दर्भ में उनकी इस उक्ति "बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है" का विशेष महत्त्व है।[2]

शुद्ध बुद्धि की समीक्षा की प्रमुख समस्या
(Main Problem for the Critique of Pure Reason)

शुद्ध बुद्धि की परीक्षा की प्रमुख समस्या थी : अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य किस प्रकार सम्भव है।[3] इन तर्क-वाक्यों की यह विशेषता होती है कि इनमें सत्यता, सार्वभौमता एवं अनिवार्यता सभी गुण पाये जाते हैं। किन्तु अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्यों पर विचार करने के पहले हमें उन परिस्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है जिन्होंने काण्ट के दर्शन के निर्माण में सहायता पहुँचाई।

संश्लेषणात्मक एवं अनुभव-निरपेक्ष वाक्य के निर्माण में काण्ट को प्रथम प्रेरणा थेलीज (Thales) से मिली। थेलीज ने कहा कि यदि हमें त्रिभुज की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना है तो इसके लिए हमें किसी आनुभविक त्रिभुज के निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है, वरन् केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम त्रिभुज के उस प्रत्यय को प्रस्तुत करें जिसका कि हमने प्रागनुभविक रूप में अपने मस्तिष्क में निर्माण कर रखा है। पुनः, किसी

---

1. "Hume aroused me from my dogmatic slumber."
2. काण्ट, "Understanding makes nature."
3. "How are apriori synthetic judgements possible ?"

आनुभविक त्रिभुज में हम यह देखें कि हमारे मानक त्रिभुज का यह आनुभविक त्रिभुज किस सीमा तक प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार जब गेलीलियो (Galileo) यह पता लगाना चाहता था कि शून्यक (Vacuum) में सिक्का और पंख एक साथ ही पृथ्वी पर क्यों गिरते हैं तो इसके लिए उसे किसी वस्तु के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि प्रकृति में शून्यक कहीं है ही नहीं। इन प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि प्रकृति के पास शिष्य बनकर नहीं जाती ; वह न्यायाधीश के समान प्रश्न पूछती है और उसका उत्तर देने के लिए प्रकृति को बाध्य करती है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि काण्ट ने अपने संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों के द्वारा किस प्रकार बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित किया। काण्ट वाक्यों को पहले दो भागों में विभाजित करते हैं ; पुनः उनमें एक को दुबारा दो भागों में विभाजित करते हैं। उनका वाक्यों का सम्पूर्ण वर्गीकरण निम्न प्रकार का है—
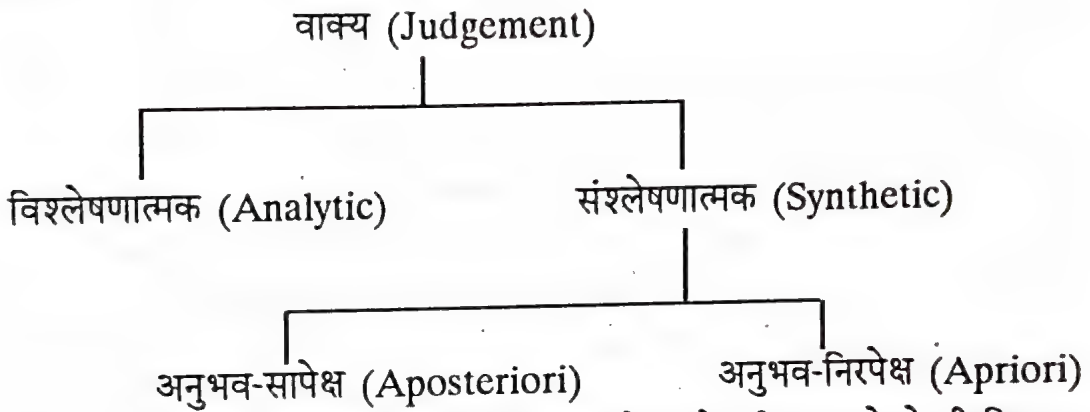
विश्लेषणात्मक वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान होता है। इसमें विधेय का उद्देश्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इसमें विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन बात नहीं बताता ; वह उद्देश्य में निहित विचारों का मात्र विश्लेषण करता है। उदाहरण के लिए "पिण्ड विस्तृत होता है" (Body is extended), विश्लेषणात्मक वाक्य का उत्तम उदाहरण है। इसके विपरीत, संश्लेषणात्मक वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान नहीं होता। इनमें विधेय सदा उद्देश्य के बाहर होता है यद्यपि वह उद्देश्य के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित अवश्य रहता है। यहाँ विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन सूचना अवश्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिए "पिण्ड भारी है" (Body has weight) संश्लेषणात्मक वाक्य का उत्तम उदाहरण है।

इसके बाद संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य को काण्ट दो भागों में विभाजित करते हैं—प्रथम अनुभव-सापेक्ष वाक्य तथा द्वितीय अनुभव-निरपेक्ष वाक्य।

संश्लेषणात्मक अनुभव-सापेक्ष वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता ही है, साथ-साथ वह वाक्य पूर्ण रूप से अनुभव पर आश्रित होता है। उदाहरण के लिए "अग्नि जलाती है" (Fire burns) यह वाक्य संश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ अनुभवाश्रित भी है क्योंकि बिना अनुभव के हमें इस वाक्य का बोध नहीं हो सकता।

संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता है, पर वह अनुभवाश्रित न होकर अनुभव से बिलकुल स्वतन्त्र होता है। उदाहरण

के लिए 'प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है" (Every event must have its cause) संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य का एक उत्तम दृष्टान्त है। यह संश्लेषणात्मक वाक्य है क्योंकि कारण का प्रत्यय घटना या कार्य के प्रत्यय से बिलकुल पृथक् है। कारण का प्रत्यय कार्य के प्रत्यय में उसी प्रकार शामिल नहीं है जिस प्रकार कि विस्तार का प्रत्यय पिण्ड के प्रत्यय में शामिल होता है। पुनः, यह वाक्य संश्लेषणात्मक होते हुए भी अनुभवसापेक्ष नहीं है। प्रत्येक अनुभव-सापेक्ष वाक्य संश्लेषणात्मक होता है पर प्रत्येक संश्लेषणात्मक वाक्य अनुभव-सापेक्ष नहीं होता। "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है" यह वाक्य अनुभव-सापेक्ष इसलिए नहीं है कि स्वयं बहुत से अनुभव इस पर आश्रित हैं तथा इस वाक्य में जो अनिवार्यता और सार्वभौमता पाई जाती है वह अनुभव-सापेक्ष वाक्यों में मिलनी असम्भव है। यह स्पष्ट है कि किसी वाक्य की अनिवार्यता और सार्वभौमता केवल बुद्धि से ही प्राप्त होती है। इसीलिए ऐसे वाक्यों को काण्ट ने संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य कहा है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त वाक्यों में हम किन वाक्यों को ज्ञान की श्रेणी में स्थान देंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि काण्ट उसी वाक्य को ज्ञान की श्रेणी में रखेगा जिसके भीतर सत्यता, सार्वभौमता व अनिवार्यता के गुण पाए जाते हों। इसी मापदण्ड के आधार पर उपर्युक्त वाक्यों की हम परीक्षा करेंगे। विश्लेषणात्मक वाक्य को ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें सार्वभौमता व अनिवार्यता होने के बावजूद सत्यता नहीं पाई जाती। इसी प्रकार संश्लेषणात्मक अनुभव-सापेक्ष वाक्यों को भी ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि उनमें सत्यता होते हुए भी सार्वभौमता व अनिवार्यता नहीं पाई जाती। काण्ट के अनुसार उसी वाक्य को हम ज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं जिसके भीतर सत्यता, सार्वभौमता व अनिवार्यता तीनों गुण पाए जाते हों। इस कसौटी पर केवल संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य (Synthetic apriori judgements) ही खरे उतरते हैं। ये वाक्य हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हैं और साथ-साथ इनमें सार्वभौमता व अनिवार्यता के गुण पाए जाते हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान का यही आदर्श है।

संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों द्वारा काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है। जहाँ तक कोई वाक्य संश्लेषणात्मक है उसका किसी न किसी रूप में अनुभव से अवश्य संबंध होगा क्योंकि प्रत्येक आनुभविक वाक्य संश्लेषणात्मक होता है। इसी प्रकार जहाँ तक कोई वाक्य अनुभव-निरपेक्ष है वह प्रागनुभविक (Apriori) अवश्य होगा अर्थात वह बुद्धि पर आश्रित होगा। इस प्रकार संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष वाक्य द्वारा काण्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के बीच लगातार संघर्ष की स्थिति को समाप्त किया।

अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्य किस प्रकार सम्भव है ?

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्य किस प्रकार सम्भव है ? (How are apriori synthetic judgements possible) शुद्ध बुद्धि की समीक्षा की यही प्रमुख समस्या है। काण्ट के अनुसार दो ऐसे विज्ञान हैं जिनके वाक्य संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य हैं : प्रथम गणित और दूसरा भौतिकी। इन विज्ञानों के

अस्तित्व में काण्ट अविश्वास नहीं करते। वे इन विज्ञानों को उसी प्रकार स्वीकार कर लेते हैं। इनके विषय में प्रश्न केवल इतना है कि वे हैं तो किस प्रकार हैं ? काण्ट इन बातों को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

1. शुद्ध गणित किस प्रकार सम्भव है ? (How is pure mathematics possible) ?

2. शुद्ध भौतिकी किस प्रकार सम्भव है ? (How is pure physics possible) गणित और भौतिकी के संश्लेषणात्मक एवं अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों में काण्ट ज्यों के त्यों विश्वास कर लेते हैं। पर यही बात तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics) के विषय में लागू नहीं होती। तत्त्व-विज्ञान ऐसा विज्ञान नहीं है कि उसके विषय में सभी लोग सहमत हों। अतः, तत्त्व-विज्ञान की सम्भाव्यता (Possibility) पर काण्ट अवश्य विचार करते हैं। इसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

3. **क्या तत्त्व विज्ञान सम्भव है** ? (Is a science of metaphysics possible ?) यही काण्ट की प्रमुख समस्या है जिसका उन्होंने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में वर्णन किया है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि शुद्ध बुद्धि की समीक्षा किसी मत का प्रतिपादन नहीं करती वरन् वह केवल शुद्ध बुद्धि की समीक्षा करती है। यह हमारे ज्ञान में विस्तार नहीं करती। इसका काम बुद्धि के स्वभाव का परीक्षण है और इसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न है। इस प्रकार इसका महत्त्व केवल निषेधात्मक ही है। शुद्ध बुद्धि की समीक्षा का सम्बन्ध उस अतीन्द्रिय ज्ञान (Transcendental Knowledge) से है जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है कि हमें वस्तुओं का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है। यह प्रयत्न अनुभव-निरपेक्ष ही हो सकता है। काण्ट के अतीन्द्रिय दर्शन (Transcendental Philosophy) का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान की संरचनात्मक योजना (Architectonic Plan) का उद्घाटन करना है। इसमें काण्ट ने आनुभविक तत्त्व (Empirical Element) को दूर रखा है जिससे कि उसकी वैधता में किसी भी प्रकार का अन्तर न पड़े।

अतीन्द्रिय दर्शन के दो भाग हैं : प्रथम भाग में उन तत्त्वों या अवयवों का वर्णन है जो ज्ञान के मूलाधार हैं। इसे काण्ट ने **अवयवों का मत** (Doctrine of Elements) का नाम दिया है। द्वितीय भाग में उस विधि का वर्णन मिलता है जिसके प्रयोग से ज्ञान का निर्माण होता है। काण्ट ने इसे **विधि का मत** (Doctrine of Method) कहा है। मानवीय ज्ञान की दो शाखाएँ हैं। प्रथम संवेद्यता (Sensibility) और द्वितीय बुद्धि (Understanding)। एक के द्वारा बाह्य वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं और दूसरी के द्वारा वस्तुएँ परिकल्पित होती हैं। इस पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

संवेदनालंब समीक्षा
(Transcendental Aesthetic)

अब तक इस बात पर विचार किया गया कि संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य को ही ज्ञान की संज्ञा प्रदान की जाती है। यहाँ इस बात का विवेचन किया जायेगा कि ये

संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य किस प्रकार सम्भव हैं। ऐसे वाक्यों की सम्भावना पर ही शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

शुद्ध बुद्धि की समीक्षा नामक ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का नाम 'संवेदनालंब समीक्षा' है, द्वितीय भाग का नाम 'बोधालंब-समीक्षा' (Transcendental Analytic) है एवं तृतीय भाग का नाम 'प्रज्ञालंब-समीक्षा' (Transcendental Dialectic) है। प्रथम संवेदनालंब-समीक्षा पर विचार किया जायेगा।

संवेदन का अर्थ हमारी संवेद्यता का बाह्य वस्तुओं से संस्कारों के ग्रहण करने की क्षमता है। वह प्रत्यक्ष जो संवेदन के माध्यम से किसी बाह्य वस्तु की ओर संकेत करता है, आनुभविक प्रत्यक्ष (Empirical Perception) कहते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष के निरुपाधिक विषय को काण्ट ने 'तथ्य' (Phenomenon) कहा है। "तथ्य के उस अवयव को जिसकी संवेदन के साथ संगति पाई जाती है, मैं द्रव्य कहता हूँ तथा उस अवयव को जिसके द्वारा तथ्य के विभिन्न अंशों में विन्यास कायम किया जाता है, स्वरूप या आकार कहते हैं।"[1]

वह स्वरूप या आकार जिसके द्वारा संवेदनाओं के बीच विन्यास स्थापित किया जाता है, स्वयं संवेदन नहीं हो सकता। तथ्य का द्रव्य हमें बाहर से अनुभव द्वारा प्राप्त होता है। यह अनुभव-सापेक्ष (Aposteriori) है, किन्तु उसका स्वरूप जो संवेदनाओं से पृथक् है, अनुभव-निरपेक्ष (Apriori) है। इसीलिए इसको संवेदनों से पृथक् कर अध्ययन किया जा सकता है।

संवेद्यता (Sensibility) के विशुद्ध स्वरूप को विशुद्ध प्रत्यक्ष (Pure Perception) कहते हैं। यदि किसी पिण्ड के ज्ञान में बुद्धि-प्रदत्त एवं संवेदन-प्रदत्त सामग्रियों को पृथक कर लिया जाय तो जो अवशेष रहेगा वही विशुद्ध प्रत्यक्ष होगा। काण्ट के अनुसार संवेद्यता के ये साँचे प्रागनुभविक होते हैं जो सम्वेदन या किसी विषय-वस्तु की अनुपस्थिति में भी आत्मा में विद्यमान रहते हैं। काण्ट ने इन्हें देशकाल कहा है।

देश और काल इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प के बीच दो द्वार हैं। इन्द्रिय-सम्वेदन इन्हीं द्वारों से होकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। देश और काल कोई बाह्य पदार्थ नहीं है, ये हमारे ही मानसिक चश्मे हैं जिनके माध्यम से हम बाह्य वस्तुओं को देखते हैं। लॉक, बर्कले और ह्यूम के अनुसार हमारी आत्मा संवेदना ग्रहण करती हैं। किन्तु काण्ट के अनुसार हमारी आत्मा सक्रिय होकर बाह्य संवेदनाओं को केवल ग्रहण ही नहीं करती वरन् उन्हें व्यवस्थित व नियमित भी करती है।

देश-काल का तात्त्विक प्रतिपादन
(Metaphysical Exposition of Space-Time)

संसार की सारी वस्तुयें दिक्कालपरिच्छित हैं। देश-काल के बिना हम किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। काण्ट ने देश-काल का तात्त्विक प्रतिपादन निम्न प्रकार से

1. संवेदनालंब-समीक्षा, "That element in the phenomenon which corresponds to sensation I call the matter, while that element which makes it possible that the various determinations of the phenomenon should be arranged in certain ways relatively to one another is its form."

किया है—

1. देश-काल का प्रत्यय कोई **आनुभविक प्रत्यय** (Empirical Conception) नहीं है जिसे हमने अनुभव से व्युत्पन्न किया है। देश-काल के प्रत्यय अनुभव पर इसलिये आश्रित नहीं है क्योंकि स्वयं अनुभव देश-काल के प्रत्ययों पर आश्रित है। जब अनुभव स्वयं देश-काल पर आधारित है तो देश-काल अनुभव पर किस प्रकार आधारित हो सकते हैं ? बाह्य अनुभव देश-काल दोनों पर आश्रित है पर आन्तरिक अनुभव केवल काल पर आश्रित है।

2. देश-काल अनिवार्यतः **प्रागनुभविक विज्ञान** (Apriori Idea) हैं जो प्रत्येक बाह्य प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित होते हैं। देश-काल के प्रत्यय के बिना हमें बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हो ही नहीं सकता। देश और काल की कल्पना बिना बाह्य वस्तुओं के की जा सकती है पर बाह्य वस्तुओं की कल्पना बिना देश-काल के नहीं की जा सकती। इसीलिये देश और काल बाह्य वस्तुओं या आन्तरिक अनुभूतियों के ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ (Pre-conditions) हैं। बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूतियों की प्रागपेक्षाएँ होने के कारण ही काण्ट ने इन्हें प्रागनुभविक कहा है।

3. देश-काल न **विमर्शात्मक** (Discursive) हैं न सामान्य प्रत्यय (General Conception) ही हैं। वे **विशुद्ध प्रत्यक्ष** (Pure Perception) हैं। हमें केवल एक अखण्ड देश और काल का ही ज्ञान होता है। ऐसा नहीं है कि पहले हमें आंशिक देश-काल (विभिन्न खण्डों) का अनुभव होता है और तत्पश्चात् उन्हें संयुक्त कर हम एक पूर्ण देश-काल का निर्माण कर लेते हैं क्योंकि देश-काल के आंशिक खण्ड पूर्ण देश-काल के न तो पहले हैं और न बाद में हैं ; वे उनके भीतर विद्यमान हैं। देश-काल के आंशिक खंड अखंड देश-काल के ही परिसीमित रूप हैं। अतः आंशिक खंडों में अखंड देश-काल का प्रत्यय पूर्व-निहित होता है। इसीलिए काण्ट ने देश-काल के प्रत्यय को प्रागनुभविक कहा है। इसी प्रकार देश-काल का प्रत्यय कोई सामान्य प्रत्यय भी नहीं है जिसे हमने आंशिक देश-काल को प्रत्यक्ष करके सामान्यीकरण (Generalisation) द्वारा निर्मित किया है। इसका कारण यह है कि बिना अखंड देश-काल के प्रत्यय के आंशिक खंडों का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिये काण्ट कहते हैं कि देश-काल के प्रत्यय न तो विमर्शात्मक प्रत्यय हैं और न सामान्य प्रत्यय ही ! **वे विशुद्ध प्रत्यक्ष हैं।**

4. देश-काल हमारी चेतना के समक्ष एक **अनन्त वितान** (Magnitude) **के रूप में उपस्थित होता है।** सामान्य देश और सामान्य काल का विशिष्ट देश और विशिष्ट काल के साथ सामान्य और विशेष का सम्बन्ध नहीं है वरन् पूर्ण और अंश का सम्बन्ध है। पूर्ण देश-काल के भीतर आंशिक देश-काल अनन्त रूप में अवस्थित रहते हैं। इसीलिये काण्ट के अनुसार देश-काल प्रागनुभविक प्रत्यय हैं। प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यक्षों को अपने अन्तर्गत (Under) रखता है किन्तु देश-काल विशिष्ट प्रत्यक्षों को अपने भीतर (Within) समाहित करता है।

देश-काल का अतीन्द्रिय प्रतिपादन
(Transcendental Exposition of Space-Time)

काण्ट ने देश-काल के तात्त्विक प्रतिपादन के साथ-साथ एक अतीन्द्रिय प्रतिपादन भी

प्रस्तुत किया है। देश-काल के अतीन्द्रिय प्रतिपादन का अर्थ यह है कि यद्यपि देश-काल सम्बन्धी सभी तर्क-वाक्य अनुभव से प्रारम्भ होते हैं पर ज्योंही हमें उन तर्क-वाक्यों का ज्ञान हो जाता है वे अनुभव से स्वतन्त्र होकर प्रागनुभविक हो जाते हैं क्योंकि वे सम्भाव्य सत्य न होकर अनिवार्य और निदर्शात्मक होते हैं। यह तभी सम्भव है जब कि देश-काल के प्रत्यय अनुभव-जन्य न होकर आत्मा में पहले से ही विद्यमान हों। यही देश-काल का अतीन्द्रिय प्रतिपादन है।

यहाँ ध्यान में रखने की वात यह है कि यद्यपि देश-काल के प्रत्यय मानसिक हैं पर वे कल्पना मात्र नहीं हैं। मानसिक होते हुये भी इनके भीतर वस्तुनिष्ठ वैधता (Objective Validity) पाई जाती है। देश-काल के कारण ही गणित-शास्त्र की प्रतिज्ञाएँ संश्लेषणात्मक एवं अनुभव-निरपेक्ष होती हैं तथा उनमें सार्वभौमता व निश्चयात्मकता पाई जाती है। रेखागणित देश के प्रत्यय पर निर्भर है ; अंकगणित काल के प्रत्यय पर निर्भर है तथा गति-विज्ञान (Mechanics) देश-काल दोनों पर निर्भर है।

बोधालंब समीक्षा
(Transcendental Analytic)

ज्ञान के निर्माण के लिये इन्द्रिय-संवेदनों का देश और काल द्वारा व्याकृत होना ही पर्याप्त नहीं है। देश और काल के माध्यम से होकर संवेदनों का वुद्धि तक पहुँचना तथा वहाँ पहुंचने पर बुद्धि-विकल्पों के साँचे में ढलकर ज्ञान के रूप में परिणत होना भी आवश्यक है। इसके लिए बुद्धि-विकल्पों का परीक्षण आवश्यक है। काण्ट ने वोधालंव-समीक्षा में इन्हीं बुद्धि-विकल्पों का विस्तृत विवेचन किया है।

ज्ञान प्राप्ति के मूलतः दो स्रोत हैं : संवेदन (Sensation) और संप्रत्यय (Conception)। ये दो प्रक्रियाएँ मानवीय मस्तिष्क की दो शक्तियों के द्वारा सम्पादित होती हैं : प्रथम संवेद्यता (Sensibility) और द्वितीय बुद्धि (Understanding) द्वारा। संवेद्यता से काण्ट का तात्पर्य आत्मा की उस ग्रहणशीलता (Receptivity) से है जिसके द्वारा वह बाह्य संस्कारों को प्राप्त करती है। इसके विपरीत, बुद्धि से काण्ट का तात्पर्य आत्मा की उस नैसर्गिक शक्ति या स्वतः प्रवर्तिता (Spontaneity) से है जिसके द्वारा वह विज्ञानों को वाह्य तथ्यों की सहायता के बिना ही स्वयं उत्पन्न करती है।

संवेद्यता के बिना किसी वस्तु को ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा वुद्धि के विना किसी वस्तु की परिकल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों शक्तियों में किसी को भी एक दूसरे से श्रेष्ठतर नहीं कहा जा सकता। दोनों में अन्योन्याश्रय या परस्पर-निर्भरता पाई जाती है। **हमारे प्रत्ययों को ऐन्द्रिक बनाने की उतनी ही अनिवार्यता है जितनी हमारे संवेदनाओं को बोधगम्य बनाने की अनिवार्यता है।** बुद्धि स्वयं किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती तथा इन्द्रियाँ स्वयं किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। ज्ञान इन्द्रिय और बुद्धि दोनों की संयुक्त क्रिया का परिणाम होता है।

अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र
(Transcendental Logic)

काण्ट ने दो प्रकार के तर्क-शास्त्र की चर्चा की है : प्रथम आकारिक तर्कशास्त्र (Formal

Logic) और द्वितीय अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र (Transcendental Logic)। आकारिक तर्कशास्त्र केवल रूपात्मक होते हुए भी उसका अनुभवजगत से सम्बन्ध होता है किन्तु अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का अनुभव-जगत की वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका सम्बन्ध विशुद्ध विज्ञानों से ही होता है। यह विशुद्ध विज्ञानों (Pure Concepts) की उत्पत्ति, सीमा और वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता (Objective Validity) से सम्बन्धित होता है।

जिस प्रकार संवेदनालम्ब-समीक्षा में हमने संवेद्यता (Sensibility) को अन्य वस्तुओं से पृथक् करके देखा था, उसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों को जानने के लिए बुद्धि (Understanding) को अन्य वस्तुओं से पृथक् करना होगा। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस विशुद्ध तत्त्व का प्रयोग तभी किया जा सकता है जबकि बाह्य तथ्यों की संवेदना हमें पहले ही प्राप्त हो गई हो। अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का वह भाग जो ज्ञान के उन विशुद्ध तत्त्वों का अनुसन्धान करता है जिनके अभाव में कोई वस्तु हमारे चिन्तन का विषय नहीं हो सकती, **बोधालम्ब समीक्षा** (Transcendental Analytic) कहा जाता है। यह सत्य या याथार्थ्य का तर्कशास्त्र (Logic of Truth) है क्योंकि कोई भी ज्ञान इसे बाधित नहीं कर सकता। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस तर्कशास्त्र की सत्यता और प्रामाणिकता तभी तक निश्चित रहती है जब तक कि इसका प्रयोग अनुभव की सीमा के भीतर किया जाता है। ज्योंही हम बुद्धि के आकारिक विकल्पों का प्रयोग अगोचर और अनुभवातीत वस्तुओं के लिए करने लगते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार के अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendental Illusions) उत्पन्न हो जाते हैं। बुद्धि के इस प्रयोग या दुष्प्रयोग को द्वन्द्वन्याय (Dialectic) कहते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का द्वितीय भाग जो अतीन्द्रिय भ्रमों की आलोचना करता है, द्वन्द्वन्याय कहलाता है। उसे द्वन्द्वन्याय इसलिए नहीं कहते कि यह हमारे भीतर अतीन्द्रिय भ्रमों को उत्पन्न करता है बल्कि इसे द्वन्द्वन्याय इसलिए कहते हैं कि यह बुद्धि और प्रज्ञा (Reason) की आलोचना प्रस्तुत करता है। यह बुद्धि और प्रज्ञा के उस मिथ्याभिमान एवं दम्भ का पर्दाफाश करता है जिसके द्वारा वे अतीन्द्रिय एवं अनुभवातीत वस्तुओं के ज्ञान का व्यर्थ दावा करते हैं।

बोधालम्ब समीक्षा के दो भाग हैं : प्रथम भाग बुद्धि के विकल्पों का उद्‌घाटन करता है जिसे काण्ट ने **प्रत्यय-समीक्षा** (Analytic of Conceptions) नाम दिया है। इसका दूसरा भाग बुद्धि के निर्णयों का वर्णन करता है जिसे काण्ट **निर्णय-समीक्षा** (Analytic of Judgements) नाम देता है। इसका हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

प्रत्यय या विकल्प-समीक्षा

(Analytic of Conceptions)

विकल्प बुद्धि से उत्पन्न होते हैं तथा वे विशुद्ध एवं अमिश्रित होते हैं। विशुद्ध एवं अमिश्रित होने के कारण सभी विकल्प एकता के सूत्र में आबद्ध होते हैं। मूलभूत विकल्प एक ऐसा तन्त्र-बद्ध तत्त्व (Systematic Principle) है जिसके भीतर सभी बुद्धि के विकल्प समाहित होते हैं।

काण्ट ने बुद्धि को ज्ञान की अनुभवातीत शक्ति के रूप में परिभाषित किया है।[1] चूँकि बिना संवेद्यता के कोई प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है अतः बुद्धि प्रत्यक्ष प्राप्त करने की शक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त करने का दूसरा स्रोत संप्रत्यय ही होता है। अतः बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान संप्रत्ययों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्षात्मक (Perceptive) न होकर विमर्शात्मक (Discursive) ही होता है। सभी प्रत्यक्ष इन्द्रियगत होने के कारण प्रभावों (Affections) पर आधारित होते हैं पर बौद्धिक ज्ञान प्रक्रिया (Functions) पर आधारित होते हैं। प्रक्रिया से यहाँ काण्ट का तात्पर्य बौद्धिक कार्य की उस एकता से है जिसके द्वारा विभिन्न प्रत्यय एक सामान्य सर्वोच्च प्रत्यय के भीतर समाहित किए जाते हैं। संप्रत्ययन विचारों की नैसर्गिकता पर आधारित होते हैं पर ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष संवेदनाओं की ग्रहणशीलता पर आधारित होते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि बुद्धि जो अपनी नैसर्गिक शक्ति के द्वारा प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, उसकी उपयोगिता क्या है ? काण्ट के अनुसार बुद्धि इन प्रत्ययों या विकल्पों के आधार पर बाह्य संवेदनाओं पर निर्णय (Judgement) देती है। प्रत्यक्ष द्वारा हमें वस्तुओं के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित होता है पर संप्रत्ययों द्वारा हमारा वस्तुओं के साथ परोक्ष सम्बन्ध ही स्थापित होता है। अतः निर्णय "वस्तुओं का परोक्ष ज्ञान या ज्ञान का ज्ञान है।"[2] निर्णय के द्वारा बुद्धि ज्ञान की सामग्री में समन्वय स्थापित करती है। चूँकि बुद्धि के सभी कार्य निर्णयात्मक होते हैं, अतः बुद्धि को निर्णय-शक्ति का आधार माना जा सकता है।[3] बुद्धि विकल्पों के माध्यम से ही निर्णय देती है। अतः यदि हमें बुद्धि-विकल्प की यथार्थ जानकारी प्राप्त करनी है तो इसके लिये बुद्धि के द्वारा प्राप्त निर्णयों का विश्लेषण करना होगा। विकल्प निर्णयों या तर्क-वाक्यों के विधेय (Predicates) होते हैं। इन विधेयों का अनुसंधान कर हम विकल्पों का भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं।

बुद्धि-विकल्पों का तात्त्विक निगमन
(Metaphysical Deduction of the Categories)

आकारिक तर्क-शास्त्र में निर्णयों या तर्क-वाक्यों को चार दृष्टियों से विभाजित किया गया है।

(क) परिणाम—

1. सर्वव्यापी (Universal)—सभी मनुष्य मरणशील हैं।
2. अंशव्यापी (Particular)—कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं।
3. एकव्यापी (Singular)—मोहन बुद्धिमान है।

(ख) गुण—

4. विधायक (Affirmative)—मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है।

---

1. काण्ट, "Understanding is the non-sensuous faculty of knowledge."
2. काण्ट, बोधालम्ब समीक्षा, "Judgement is the indirect knowledge of an object or the knowledge of knowledge."
3. Understanding is a faculty of judgement.

5. निषेधात्मक (Negative)—जानवर एक विवेकशील प्राणी नहीं है।
6. अपरिमित (Infinite)—प्रत्येक घट एक अपट है।

(ग) सम्बन्ध—

7. निरुपाधिक (Categorical)—बलक चंचल होते हैं।
8. हेत्वाश्रित (Hypothetical)—यदि पानी बरसता है तो तुम्हारे कपड़े गीले हो जायेंगे।
9. वियोजक (Disjunctive)—बालक या तो बुद्धिमान है या मूर्ख है।

(घ) प्रकार—

10. सम्भावित (Problematic)—सम्भव है कि ईश्वर का अस्तित्व हो।
11. प्रकृत (Assertoric)—यह मनुष्य ईमानदार है।
12. अनिवार्य (Apodeictic)—प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।

उपर्युक्त बारह प्रकार के तर्क-वाक्यों से बारह प्रकार के बुद्धि-विकल्प व्युत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार तर्क-वाक्यों का चार दृष्टियों से विभाजन कर प्रत्येक विभाजन के अन्तर्गत तीन तर्क वाक्य आते हैं उसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों का भी चार दृष्टियों से विभाजन कर प्रत्येक विभाजन के अन्तर्गत तीन-तीन बुद्धि-विकल्पों को समाहित किया गया है।

बुद्धि-विकल्पों की निम्न तालिका सारी बातों को स्पष्ट कर देती है—

(क) परिणाम—

1. एकता (Unity)
2. अनेकता (Plurality)
3. समग्रता (Totality)

(ख) गुण—

4. भाव (Reality)
5. अभाव (Negation)
6. परिसीमन (Limitation)

(ग) सम्वन्ध—

7. द्रव्य-गुण (Substance and Accident)
8. कारण-कार्य (Cause and Effect)
9. अन्योन्याश्रय (Reciprocity between the Active and the Passive)

(घ) प्रकार—

10. सम्भावना-असम्भावना (Possibility and Impossibility)
11. सत्ता-असत्ता (Existence and Non-Existence)
12. अनिवार्य-यादृच्छिकता (Necessity and Contingency)

प्रत्येक विषय के ज्ञान में हम इन बारह बुद्धि-विकल्पों का उपयोग करते हैं। ये बारह

विकल्प प्रत्येक ज्ञान या अनुभव की प्रागपेक्षाएँ हैं। इन विकल्पों को अनुभवजन्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं अनुभव इन बुद्धि-विकल्पों पर आश्रित होता है। अनुभवों से निगमित करने पर इनमें सिद्ध-साधन या चक्रक-दोष उत्पन्न हो जायेगा। काण्ट ने इन बुद्धि-विकल्पों को तात्त्विक निगमन कहा है क्योंकि इन्हें तर्क-वाक्यों के स्वभाव के आधार पर निगमित किया गया है। इन बारह विकल्पों के आधार पर काण्ट ने कुछ बड़े दिलचस्प निष्कर्ष निकाले हैं—

1. बारह विकल्पों में प्रथम छह विकल्पों को स्थैतिक (Mathematical) विकल्प कहते हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष के विषयों के साथ होता है तथा शेष छह विकल्प गत्यात्मक (Dynamic) विकल्प कहलाते हैं जो वस्तुओं के अस्तित्व को, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को तथा वस्तुओं और बुद्धि के सम्बन्धों को बताते हैं।

2. ये बारह विकल्प चार विभागों में विभाजित हैं और प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत केवल तीन विकल्प आते हैं। इसका कारण यह है कि बुद्धि सदा द्विभाजन-सिद्धान्त (Principle of Dichotomy) के अनुसार कार्य करती है। इससे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। इनमें तीसरा विकल्प प्रथम और द्वितीय विकल्पों के सम्मिश्रण से बनता है। किन्तु यह तीसरा विकल्प प्रथम एवं द्वितीय विकल्पों का केवल योग ही नहीं है, यह एक नवीन विकल्प है जो प्रथम एवं द्वितीय विकल्पों के समन्वय से निकला है।

3. विकल्पों के इन चार विभागों से काण्ट ने चार बातों का खण्डन किया है—परिमाण से अणुवाद (Atomism) का, गुण से शून्यवाद (Nihilism) का, कारण-कार्य सम्बन्ध से संयोगवाद (Accidentalism) का तथा प्रकार से चमत्कारवाद (Super-naturalism) का खण्डन किया है।

4. ये बारहों बुद्धि-विकल्प इन्द्रय-संवेदनों को व्यवस्थित करके उन्हें ज्ञान का रूप प्रदान करते हैं। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता और अनिवार्यता है वह इन्हीं विकल्पों द्वारा ही आती है। काण्ट के अनुसार बुद्धि-विकल्पों का यही तात्त्विक निगमन है।

बुद्धि विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन

(Transcendental Deduction of the Categories)

काण्ट ने 'बुद्धि-विकल्पों' के तात्त्विक निगमन के साथ-साथ एक अतीन्द्रिय निगमन की भी चर्चा की है। वे अतीन्द्रिय निगमन को आनुभविक निगमन (Empirical Deduction) से पृथक करते हैं। आनुभविक निगमन का तात्पर्य यह है कि कोई प्रत्यय अनुभव से किस प्रकार निष्कर्षित किया गया है। इसमें पहले अनुभव आता है और बाद में उसके आधार पर प्रत्यय निर्मित किये जाते हैं। इसके विपरीत, बुद्धि विकल्पों के अतीन्द्रित निगमन (Transcendental Deduction) का तात्पर्य यह है कि किस प्रकार कोई बुद्धि-विकल्प प्रागनुभविक रूप में विषय वस्तुओं से सम्बन्धित होता है। तार्किक दृष्टि से इसमें बुद्धि-विकल्प पहले आते हैं और वस्तुओं का अनुभव बाद में आता है क्योंकि जब तक हम बुद्धि-विकल्पों को बाह्य संवेदनाओं पर आरोपित नहीं करते तब तक कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकती। ये बुद्धि-विकल्प हमारे सभी सम्भावित अनुभवों की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ हैं। चूँकि ये विकल्प हमारे अनुभव को सम्भव बनाते हैं, इसी कारण प्रत्येक अनुभव के लिये

अनिवार्य कहे जाते हैं। हमारे अनुभवों के विश्लेषण से जिनमें ये विकल्प पाए जाते हैं इन विकल्पों को निगमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुभव इन्हें केवल निदर्शित करते हैं।

यदि अनुभव का विश्लेषण किया जाय तो उनमें हमें सदा दो असमान या भिन्न तत्त्व प्राप्त होंगे : प्रथम ज्ञान का द्रव्य (Matter of Knowledge) जिसे हम ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य संसार से प्राप्त करते हैं। ज्ञान के स्वरूप को ही काण्ट ने बुद्धि-विकल्प कहा है जिसके द्वारा हम ज्ञान के द्रव्य या वस्तु-सामग्री के बीच व्यवस्था स्थापित करते हैं। इन्हें अनुभव से इसलिये व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वयं अनुभव इन बुद्धि-विकल्पों पर आश्रित होते हैं। अतः, इनकी उत्पत्ति का स्रोत अनुभव नहीं हो सकता, उसे अनुभव से स्वतन्त्र होना चाहिए। इसी कारण बुद्धि-विकल्पों की उत्पत्ति के लिए काण्ट ने इसे अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction) की संज्ञा दी है।

अब काण्ट के समक्ष जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन होता है तो नवीन प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि विचार की आत्मनिष्ठ प्रागपेक्षाओं में वस्तुनिष्ठ वैधता किस प्रकार पाई जाती है ?

उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए हमारे समक्ष केवल दो विकल्प हैं जिनके द्वारा बुद्धि-विकल्पों एवं बाह्य वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है : प्रथम विकल्प के अनुसार बुद्धि-विकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न है। ऐसी स्थिति में बुद्धि-विकल्पों में वस्तुनिष्ठता की तो स्थापना हो जाएगी किन्तु उनमें अनिवार्यता एवं सार्वभौमता का अभाव बना रहेगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार स्वयं बाह्य वस्तुएँ बुद्धि-विकल्पों द्वारा उत्पन्न हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि-विकल्पों में वस्तुनिष्ठता, अनिवार्यता एवं सार्वभौमता सभी गुणों की स्थापना हो जाती है। काण्ट ने ज्ञान की सम्भाव्यता के लिये द्वितीय विकल्प को स्वीकार किया है क्योंकि बुद्धि विकल्पों के बिना संसार की कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। काण्ट के ही शब्दों में "वस्तुओं के प्रत्यय, सामान्यतया, सभी आनुभविक वस्तुओं की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ हैं। प्रागनुभविक प्रत्यय के रूप में बुद्धि-विकल्पों की वस्तुनिष्ठ वैधता इस तथ्य पर आधारित है कि जहाँ तक विचार के स्वरूप का प्रश्न है, उनके द्वारा ही कोई अनुभव सम्भव हो सकता है।"[1]

ह्यूम की कठिनाई यह थी कि वह कारण-कार्य जैसे अनिवार्य सम्बन्धों को इन्द्रियानुभव से निगमित करना चाहता था। जब उसने देखा कि इन अनिवार्य सम्बन्धों की स्थापना इन्द्रियानुभव के आधार पर नहीं हो सकती, उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि ये सम्बन्ध काल्पनिक हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका दर्शन आत्मघाती सन्देहवाद से पीड़ित हो गया। ह्यूम की कठिनाई का उत्तर देते हुए काण्ट कहते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्ध इन्द्रियानुभव से प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु इससे यह सम्बन्ध काल्पनिक नहीं हो जाता। केवल इन्द्रियानुभव से किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। यदि बुद्धि-विकल्प

1. क्रिटीक ऑव प्योर रीजन ए 93-बी 126 "Concepts of objects in general, thus underlie all empirical knowledge as its apriori conditions. The objective validity of the categories as apriori concepts rests therefore, on the fact, that so far as the form of thought is concerned, through them alone does experience become possible."

बाह्य जगत को निर्धारित न करें तो हमें बाह्य जगत का कोई अनुभव हो ही नहीं सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना सार्वभौम व अनिवार्य ज्ञान की तो बात ही दूर है, यह बाह्य जगत भी हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। अतः यदि विशुद्ध इन्द्रियानुभव के आधार पर हम इन सामान्य विकल्पों को प्राप्त नहीं करते तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे काल्पनिक हैं, हम उन्हें इन्द्रियानुभव से इसलिये प्राप्त नहीं करते क्योंकि वे अनुभव के आधार है। जिनके आधार पर अनुभव स्वयं सम्भावित होता है, वे अनुभव से निगमित नहीं किये जा सकते। काण्ट द्वारा बुद्धि-विकल्पों का यही अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction) है।

बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है

(Understanding makes nature)

आधुनिक दर्शन के इतिहास में काण्ट की इस उक्ति का पर्याप्त महत्त्व है। ऊपर हमने देखा कि विचार की आत्मनिष्ठ प्रागपेक्षाओं में प्रकृति की वस्तुनिष्ठता किस प्रकार निहित होती है। जब काण्ट ने कहा कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, उन्होंने बुद्धि शब्द का प्रयोग तत्त्व मीमांसीय अर्थ में न कर केवल ज्ञान मीमांसीय अर्थ में किया। बुद्धि प्रकृति का निर्माण उस अर्थ में नहीं करती जैसी मिट्टी घड़े का निर्माण करती है अथवा सोना आभूषण का निर्माण करता है। बुद्धि द्वारा प्रकृति के निर्माण का अर्थ केवल इतना ही है कि बुद्धि-विकल्पों के आरोपण के बिना प्रकृति की कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकती। काण्ट ने स्वयं कहा है—

> "किसी सम्भाव्य अनुभव की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ, सामान्यतया, अनुभव के विषयों की सम्भाव्यता की ही प्रागपेक्षाएँ होती हैं। वे अनिवार्यतः प्रागनुभविक रूप में अनुभव के विषयों से ही सम्बन्धित होती है क्योंकि उनके माध्यम से ही अनुभव का कोई विषय विचार का विषय बन सकता है।"[1]

काण्ट के अनुसार बुद्धि अनुभव की दासी नहीं है जैसा अनुभववादियों ने कहा था, बल्कि उसकी स्वामिनी है जो अनुभव का नियमन करती है। बुद्धि अपने सहज विकल्पों द्वारा बाह्य जगत का सफल और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त कर लेती है। भौतिक विज्ञानों की सफलता प्रमाणित करती है कि बाह्य जगत को सुव्यस्थित तथा नियमित करने में बुद्धि का बड़ा योगदान होता है। जब हम कहते हैं कि "अग्नि जलाती है" यह केवल अनुभव पर ही प्रतिष्ठित नहीं है। यह कारण-कार्य-भाव-रूपी बुद्धि के सहज नियम पर आधारित है। अनुभववादियों का यह कथन कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों से उत्पन्न होता है, सर्वथा असत्य है। हमारी बुद्धि इन्द्रिय सम्वेदनों को निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं करती। बुद्धि अपने सहज नियमों से इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित और नियमित करके उसे सार्वभौम ज्ञान का रूप देती है। काण्ट का यह मत दर्शनशास्त्र में कॉपर्निकसीय क्रान्ति कहा जाता है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि बुद्धि-विकल्पों द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल

---

1. वही, "...........the apriori conditions of a possible experience in general are at the same time conditions of the possibility of objects of experience............They relate of necessity and a priori to objects of experience, for the reason that only by means of them can any object whatsoever of experience be thought."

अनुभव तक ही सीमित होता है। इनसे हमें पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रकृति के अस्त-व्यस्त, विश्रृंखल एवं क्षणिक सम्वेदनों को संगृहीत करके उनको व्यवस्थित, नियमित और नित्य ज्ञान के रूप में परिणत करना मानवीय बुद्धि का ही कार्य है। प्राकृतिक नियमों की सार्वभौमता और अनिवार्यता बुद्धि से ही आती है। बुद्धि प्रकृति के पास शिष्य बनकर नहीं जाती, वह न्यायाधीश के समान प्रकृति से प्रश्न पूछती है और उनका उत्तर देने के लिए प्रकृति को बाध्य करती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए ही काण्ट ने कहा, "बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है।"

विशुद्ध समाकल्पन की अतीन्द्रिय मौलिक संश्लेषणात्मक एकता
(The Transcendental Original Synthetic Unity of Pure Apperception)

हम पहले ही देख चुके हैं कि काण्ट परस्पर संयुक्त एवं सम्बद्ध अवयवों की समष्टि को ज्ञान कहता है। किन्तु विषयों और वस्तुओं की सम्बद्धता और एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उनके मूल में चैतन्य की एकता (Unity of Consciousness) न पाई जाती हो। चैतन्य की एकता के अभाव में वस्तुओं का अवबोध सम्भव ही नहीं हो सकता। इस मौलिक, विशुद्ध और कूटस्थ चैतन्य को काण्ट ने अतीन्द्रिय-समाकल्पन (Transcendental Apperception) की संज्ञा दी है। भारतीय वांगमय में इसे विशुद्धात्मा (Pure self) कहते हैं। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है; अतः यह अद्वय तत्त्व हैं जिसमें किसी प्रकार की अनेकता या नानात्व की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा सभी प्रकार के ज्ञान की प्रागनुभविक अपेक्षा है क्योंकि सभी ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान होता है। विषयी या ज्ञाता के अभाव में विषय या ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती।

काण्ट के अनुसार हमारे प्रत्येक विषय-चैतन्य (Object-Consciousness) के मूल में आत्म-चैतन्य (I-Consciousness) निहित रहता है, अन्यथा हमें किसी विषय का ज्ञान ही नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में : यदि प्रत्येक विषय-चैतन्य में आत्म-चैतन्य निहित न हो तो मुझे ऐसी वस्तु का ज्ञान होगा जिसका ज्ञान नहीं हो सकता जो बदतोव्याघात है। भारतीय दर्शन के मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर ने अपने त्रिपुटी-प्रत्यक्षवाद में इसी बात की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक विषयवित्ति में अहं-वित्ति शामिल होती हैं जिसके अभाव में ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता।

काण्ट की इस आत्मा के विषय में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि आत्मा का ज्ञान एक विषयी या ज्ञाता का ज्ञान है, यह विषय या ज्ञेय का ज्ञान नहीं है। आत्म-ज्ञान एक सहज और स्वाभाविक ज्ञान है, यह कोई आगन्तुक ज्ञान नहीं है।[1] इसी बात को स्पष्ट करने के लिए काण्ट ने आत्म-ज्ञान को विशुद्ध समाकल्पन (Pure Apperception) की संज्ञा दी है और आनुभविक समाकल्पन (Empirical Apperception) से इसका भेद स्पष्ट किया है। यह एक प्रकार की अपरोक्षानुभूति है। ह्यूम आत्मा को अपरोक्षानुभूति का

1. काण्ट, The "I think" is an act of spontaneity, which cannot possibly be due to sense.

विषय न मानकर प्रत्यक्ष का विषय मानता था। इसीलिये वह उसे प्राप्त न कर सका। जब उसने देखा कि वह आत्मा को प्रत्यक्ष के विषय के रूप में नहीं जान सकता तो उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं। ह्यूम की इसी समस्या का समाधान करते हुए काण्ट कहते हैं कि आत्मा को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं बल्कि अपरोक्षानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है।

पुनः आत्म-चैतन्य मौलिक समाकल्पन (Original Apperception) है। यह सभी ज्ञान का अधिष्ठान है पर इसका कोई अधिष्ठान नहीं है। यदि आत्मा को भी किसी अन्य चैतन्य का विषय मान लिया जाय तो इसमें अनवस्था-दोष (Fallacy of Infinite Regress) आ जाएगा। आत्मा वह चरम बिन्दु है जहाँ सभी प्रत्यक्षों या ज्ञान का पर्यवसान होता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर ही काण्ट ने आत्मा को मौलिक समाकल्पन माना है। इसके अतिरिक्त काण्ट ने आत्मा को एक अतीन्द्रिय एकता (Transcendental Unity) के रूप में स्वीकार किया है जिसके ऊपर सभी प्रकार के प्रागनुभविक ज्ञान आधारित हैं। प्रत्यक्ष में जो हमें विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है वे मेरे ज्ञान कभी न होते यदि उनका सम्बन्ध किसी चेतन एकता से न होता। हमें इस अतीन्द्रिय एकता का ज्ञान भले ही न हो पर प्रत्येक ज्ञान के लिए इस अतीन्द्रिय एकता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यह वह एकता है जो विषय के द्वैत से सर्वथा अतीत है। यह अधिष्ठान-चैतन्य (Foundational Consciousness) है।

उक्त चैतन्य के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए काण्ट कहते हैं कि आत्मा विभिन्न विषयों के बीच संश्लेषण का कार्य करती है। काण्ट के शब्दों में : "चूँकि मैं विभिन्न विषयों को जो मेरे समक्ष प्रस्तुत होते हैं, एक चैतन्य के भीतर सूत्रबद्ध कर सकता हूँ, इसी कारण मुझे यह अनुभव हो पाता है कि प्रत्येक विषय में चैतन्य समान है।"[1] समाकल्पन की विश्लेषणात्मक एकता तभी सम्भव है जब कि उसके पीछे संश्लेषणात्मक एकता विद्यमान हो। प्रत्यक्ष के सभी विषय मेरे हैं क्योंकि मैं उन सभी विषयों को अपने आत्म-चैतन्य में समाहित करने की क्षमता रखता हूँ। विषयों के ज्ञान में हमें इस आत्म-चैतन्य का स्पष्ट बोध भले ही न हो पर आत्मचैतन्य प्रत्येक ज्ञान की प्रागपेक्षा है जिसके बिना ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। आत्मा जो सभी प्रत्यक्षों का अधिष्ठान है, स्वयं प्रत्यक्ष द्वारा गम्य नहीं है। इसका ज्ञान प्रागनुभविक (Apriori) है। यह सभी प्रकार के ज्ञान की पूर्व-मान्यता है। यहाँ काण्ट की आत्मा और अद्वैत वेदान्त की आत्मा की कल्पना में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।

संक्षेप में : बुद्धि-विकल्पों के बिना हम किसी वस्तु के विषय में विचार नहीं कर सकते तथा संवेदनाओं के बिना हम किसी वस्तु का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। यथार्थ ज्ञान के लिए संवेदनाओं की उपस्थिति अनिवार्य है। ज्ञान के लिए विशुद्ध प्रत्यक्ष और विशुद्ध विकल्प दोनों की आवश्यकता है और ये दोनों प्रागनुभविक हैं। इन दोनों की समरूपता के विषय में दो ही विकल्प हैं : या तो प्रत्यक्ष संप्रत्ययों को निर्धारित करते हैं या संप्रत्यय प्रत्यक्ष को

---

1. काण्ट "It is only because I am capable of combining in one consciousness the various determinations presented to me, that I can become aware that in every one of them the consciousness is the same."

निर्धारित करते हैं। प्रथम विकल्प असम्भव है। अतः संप्रत्यय ही प्रत्यक्षों को निर्धारित करते हैं।

सिद्धान्तों की समीक्षा
(Analytic of Principles)

बुद्धि के भीतर सामान्यतया दो प्रकार की शक्तियाँ पाई जाती है : प्रथम नियमों की शक्ति (Faculty of Rules) और द्वितीय निर्णय-शक्ति (Faculty of Judgements)। बुद्धि नियमों की शक्ति के द्वारा केवल विशुद्ध विकल्पों का निर्माण करती है पर अपनी निर्णय-शक्ति के द्वारा बुद्धि यह देखने का प्रयास करती है कि क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु है जो इन नियमों के अन्तर्गत आ सकती है ? अथवा क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु है जिसका इन नियमों के भीतर अन्तर्भाव (Subsumption) किया जा सकता है ? आकारिक या सामान्य तर्क-शास्त्र (Formal or General Logic) में हम विषय वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि आकारिक तर्कशास्त्र का सम्बन्ध वस्तु (Matter) से न होकर केवल आकार (Form) से ही होता है। पर इसके विपरीत अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र (Transcendental Logic) उस विषय-वस्तु पर भी विचार करता है जिस पर हम बुद्धि के नियमों का प्रयोग करते हैं।

निर्णय-शक्ति के अतीन्द्रिय सिद्धान्त के भीतर दो बातें आती हैं :

1. **ऐन्द्रिक उपाधि (Sensuous Condition)**—यह वह उपाधि है जिसके अन्तर्गत ही बुद्धि के नियमों का प्रयोग किया जा सकता है। इसे विशुद्ध बुद्धि का आकृति-कल्प (Schematism of the Pure Understanding) कहा जाता है।

2. **संश्लेषणात्मक निर्णय (Synthetic Judgements)**—दूसरे भाग में हम उन संश्लेषणात्मक निर्णयों का वर्णन करेंगे जो बुद्धि के विकल्पों के इन्द्रिय-संवेदनाओं पर आरोपित करने से उत्पन्न होते हैं। इन्हें विशुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त (Principle of Pure Understanding) कहते हैं।

विशुद्ध विकल्पों के आकृति-कल्प
(Schematism of the Pure Concepts)

किसी वस्तु का किसी विकल्प के भीतर अन्तर्भाव (Subsumption) तभी हो सकता है जब कि वे दोनों सजातीय (Homogeneous) हों। पर हम देखते हैं कि विशुद्ध बुद्धि के विकल्पों एवं ऐन्द्रिक संवेदनों में विजातीय (Heterogeneous) सम्बन्ध पाए जाते हैं। अतः, दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? अन्य विज्ञानों जैसे गणित या भौतिक शास्त्र में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि उनमें प्रयुक्त विकल्पों और ऐन्द्रिक संवेदनाओं के बीच उतना विजातीय सम्बन्ध नहीं होता जितना वर्तमान स्थिति में पाया जाता है। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि बुद्धि-विकल्पों और ऐन्द्रिक संवेदनाओं के बीच ऐसी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो इन दो परस्पर-विरुद्ध और विजातीय तत्त्वों के बीच मध्यस्थता स्थापित करती हो। वही वस्तु इन दोनों के बीच मध्यस्थता स्थापित कर सकती है जिसके भीतर दोनों तत्त्वों के गुण विद्यमान हों। वह वस्तु विकल्पों की तरह विशुद्ध और संवेदनाओं की तरह ऐन्द्रिक (Sensuous) दोनों होनी चाहिए। उसी प्रकार

उसे विकल्पों की तरह आभ्यन्तरिक (Inner) और बोधगम्य (Intelligible) एवं संवेदनाओं की तरह बाह्य और ऐन्द्रिक (Sensuous) दोनों होना चाहिए। काल (Time) एक ऐसा तत्त्व है जिसके भीतर ये सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं और वही बुद्धि-विकल्पों एवं संवेदनाओं के बीच मध्यस्थता स्थापित कर सकता है। बाह्य संवेदनायें जब काल द्वारा निर्धारित हो जाती हैं तो वे बुद्धि-विकल्पों के अधिक समीप आ जाती हैं। काण्ट ने 'काल' को अतीन्द्रिय आकृति-कल्प का नाम दिया है।

1. परिमाण (Quantity)—संख्या इसका आकृति-कल्प है—

एकता (Unity)—काल के सभी क्षण (All)

अनेकता (Plurality)—काल के अनेक क्षण (Some)

समग्रता (Totality)—काल का एक क्षण (One)

परिमाण का विकल्प कालश्रेणी (Time-Series) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होता है।

2. गुण (Quality)—

भाव (Reality)—काल में भाव (Being in time)

अभाव (Negation)—काल में अभाव (Not being in time)

परिसीमन (Limitation)—काल में कुछ भाव (Intensity of Sensation)

गुण का विकल्प काल-अर्न्तवस्तु (Time-Content) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होता है।

3. सम्बन्ध (Relation)—

द्रव्य-गुण (Substance-Accident)—परिवर्तनशील वस्तुओं के बीच कुछ अव्याहत वस्तु शेष रहती है। (Permanence in time)

कारण-कार्य (Cause-Effect)—कुछ वस्तुओं में अनिवार्य सम्बन्ध पाया जाता है। (Regular Succession in time)

अन्योन्याश्रय (Reciprocity)—कुछ गुण काल में एक साथ दिखाई पड़ते हैं। (Coexistence in time)

सम्बन्ध के विकल्प काल-क्रम (Time-Order) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

4. प्रकार (Modality)—

सम्भावना-असम्भावना (Possibility-Impossibility)—किसी एक समय में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at any time)

सत्ता-असत्ता (Existence-Non-Existence)—सभी एक निश्चित समय में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at a definite time)

अनिवार्यता-यादृच्छिकता (Necessity-contingency)—सभी समयों में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at all times)

प्रकार के विकल्प काल-बोध (Time Comprehension) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

बुद्धि के सिद्धान्त

सिद्धान्तों की समीक्षा (Analytic of Principles) यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि संवेदनाओं के देश-काल के भीतर ग्रहण में ही बुद्धि के कार्य सन्निहित होते हैं। यह इस बात को दिखाने का प्रयत्न करता है कि प्रत्यक्ष के संस्थान (Forms of Intuition) में ही बुद्धि के सिद्धान्त (Principles of Understanding) पहले से ही विद्यमान होते हैं। विशुद्ध बुद्धि के आकृति-कल्प (Schematism of the Pure Understanding) वे ऐन्द्रिक उपाधियाँ हैं जिनके अन्तर्गत ही बुद्धि के नियमों का प्रयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत, सिद्धान्तों की समीक्षा (Analytic of Principles) उन संश्लेषणात्मक निर्णयों का वर्णन है जो बुद्धि के विकल्पों को इन्द्रिय-संवेदनाओं पर आरोपित करने से उत्पन्न होते हैं। इन्हें बुद्धि के सिद्धान्त (Principles of the Understanding) कहते हैं।

बुद्धि के सिद्धान्त यह बताते हैं कि पदार्थों का प्रयोग अनुभव में कैसे और क्यों होता है ? विकल्प और आकृति-कल्प स्वयं सिद्धान्त नहीं है। वे मात्र संप्रत्यय हैं। इन संप्रत्ययों के व्यवहार के विषय में जो सिद्धान्त हैं वे ही अनुभव की अनिवार्य प्रागपेक्षाएँ हैं। इन सिद्धान्तों को काण्ट बुद्धि के सिद्धान्त कहते हैं।

बुद्धि के कुल आठ सिद्धान्त हैं जिन्हें चार भागों में विभाजित किया गया है। चार प्रकार के बुद्धि-विकल्पों के अनुसार चार प्रकार के बुद्धि के सिद्धान्त भी होते हैं।

1. परिमाण—संवेदना के स्वयंसिद्ध सूत्र (Quantity)—(Axioms of Intuition)
2. गुण—प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण (Quality)—(Anticipations of Perception)
3. सम्बन्ध—अनुभवों के सादृश्य (Relation)—(Analogies of Experience)
4. प्रकार—सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित अभ्युपगम (Modality) (Postulates of Empirical Thought in General)

1. संवेदना के स्वयंसिद्ध सूत्र (Axioms of Intuition)—इस सिद्धान्त का स्वरूप निम्न है—

"सभी संवेद विस्तृत परिमाण हैं।"[1] इस सिद्धान्त का सम्बन्ध परिमाण से है। यह कहता है कि हमारे प्रत्यक्ष के जितने विषय होते हैं उनमें कुछ न कुछ मात्रा अवश्य होती है।

2. प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण (Anticipations of Perception)—"समस्त संवृति में जो सत् संवेदन का विषय होता है वह गहन परिमाण वाला होता है अर्थात् उस परिमाण की कोटि या श्रेणी भी होती है।"[2]

---

1. काण्ट, "All intuitions are extensive quantities."
2. काण्ट, "In all phenomena, the Real., which is the object of sensation has intensive quantity, i.e., degree."

बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध गुण से है। हमारे संवेद या प्रत्यक्ष के विषयों में परिमाण के साथ उस परिमाण की एक कोटि भी होती है जो उसके पूर्ण अस्तित्व से लेकर शून्य अस्तित्व के बीच विचरण करती है। यही प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण हैं।

3. अनुभवों के सादृश्य (Analogies of Experience)—"अनुभव केवल प्रत्यक्षों के किसी अनिवार्य सम्बन्ध के प्रतिनिधान द्वारा ही सम्भव है।"[1] बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध (Relation) नामक विकल्पों से है। 'काल' की तीन वृत्तियाँ हैं, स्थिति (Duration), अनुक्रम (Succession) और सहभाव (Co-existence)। इस प्रकार प्रत्यक्षों के अनिवार्य सम्बन्ध के तीन रूप हो जाते हैं। इन तीनों रूपों को लेकर अनुभवों के तीन सादृश्य हो जाते हैं।

प्रथम सादृश्य—'संवृतियों के सभी परिवर्तनों में द्रव्य नित्य और शाश्वत होता है जिसकी मात्रा प्रकृति में न कभी बढ़ती है और न कम ही होती है।'[2]

द्वितीय सादृश्य—'समस्त परिवर्तन कारण-कार्य-सम्बन्ध-नियम के अनुसार संचालित होते हैं।'[3]

तृतीय सादृश्य—'सभी द्रव्य जहाँ तक वे देश में एक साथ घटित होते हुए प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध में स्थिर होते हैं।'[4]

अनुभवों के सादृश्य के समान सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित आधार-तत्त्व भी तीन हैं जो निम्न हैं—

4. सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित आधार-तत्त्व (Postulates of all Empirical Thought)—बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रकार-वाचक विकल्पों एवं आकृति-कल्प से है।

प्रथम—'जिसकी अनुभव की आकारगत उपाधियों से समरूपता है, वह सम्भव है।'[5]

द्वितीय—'जो अनुभव की वस्तुगत उपाधियों से सम्बन्धित है, वह वास्तविक है।'[6]

तृतीय—'जो वास्तविक सत्ता से सम्बन्धित होते हुए अनुभव की सार्वभौम उपाधियों से निर्धारित है, वह अनिवार्य है।'[7]

---

1. काण्ट, "Experience is possible only through the representation of a necessary connection of perceptions."
2. काण्ट, "In all changes of phenomena, the substance is permanent and its quantum is neither increased not diminished in nature."
3. काण्ट, "All changes take place according to the law of connection of cause and effect.
4. काण्ट, "All substances in so far as they can be perceived as coexistent in space are always affecting each other reciprocally:"
5. काण्ट, "What agrees with the formal conditions of experience is possible."
6. काण्ट, "What is connected with the material conditions of experience (sensation) is real."
7. काण्ट, "That which, in its connection with the real is determined by universal condition of experience is necessary.

यदि बुद्धि के उपर्युक्त सिद्धान्तों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि बुद्धि का प्रत्येक सिद्धान्त किसी न किसी आकार-योजना या आकृतिकल्प के प्रयोग का सिद्धान्त है। हम जानते हैं कि आकृति-कल्प के साथ संयुक्त होने पर ही कोई बुद्धि-विकल्प संवेदनाओं पर आरोपित किए जा सकते हैं। इस प्रकार बुद्धि के सिद्धान्त आकृतियुक्त विकल्पों के प्रयोग के सिद्धान्त हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ही आकृतियुक्त विकल्प हमारे अनुभव को सम्भव बनाते हैं।

संवृति और परमार्थ

(Phenomena and Noumena)

हम पहले ही देख चुके हैं कि काण्ट के लिए वास्तविक ज्ञान का अर्थ संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक (Synthetic apriori) ज्ञान है जो संवेदनाओं और बुद्धि-विकल्पों दोनों के संयोग से निर्मित होता है। ज्ञान स्वलक्षण-वस्तुओं से प्रारम्भ होकर संवेदन-संस्थानों (Forms of Intuition) से आकृति-कल्प तक होते हुए बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचता है। बुद्धि विकल्पों से प्रज्ञा के विज्ञानों द्वारा समन्वित होकर यह आत्मा तक पहुँचता है तब कहीं ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि काण्ट के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिए संवेदनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा हमारे ज्ञान में सत्यता कभी आ ही नहीं सकती। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तुएँ असंवेद्य हैं अर्थात् जिन वस्तुओं की हमें संवेदना नहीं प्राप्त होती वे वस्तुएँ हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर नहीं आ सकतीं। इस दृष्टिकोण से काण्ट के अनुसार हमारी संवेदनाओं के कारण स्व-लक्षण-वस्तुएँ (Things-in-themselves) अज्ञेय (Unknowable) हैं। सभी अतीन्द्रिय वस्तुएँ (Supersensible Objects) अज्ञेय होनी चाहिए क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तुओं की संवेदना हमें प्राप्त नहीं हो सकती। जहाँ संवेदना नहीं होगी वहाँ ज्ञान भी नहीं होगा। हम वास्तव में वस्तुओं को इस प्रकार नहीं जानते जैसे कि वे हैं; हमें उनका ज्ञान संवेदन-संस्थानों एवं बुद्धि-विकल्पों के साँचों के द्वारा ही प्राप्त होता है। जब तक हम संवेदनाओं के ऊपर संवेद-संस्थानों और बुद्धि-विकल्पों को आरोपित नहीं करेंगे, तब तक हमें ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। पर ज्यों ही हम संवेदनाओं के ऊपर संवेद-संस्थानों और बुद्धि विकल्पों का आरोपण करते हैं, परमार्थ का ज्ञान हमसे दूर चला जाता है। हम संवृति तक ही फँसे रह जाते हैं और परमार्थ के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। यह हमारी प्रमुख समस्या है। काण्ट ने इस समस्या को संवृति (Phenomena) और परमार्थ (Noumena) के भेद के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। इसके वास्तविक अर्थ को समझना हमारे लिए आवश्यक है।

काण्ट के अनुसार परमार्थ अज्ञेय है। इस अज्ञेयवाद को समझाने के पहले 'ज्ञान' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। ज्ञान सदा निर्णयात्मक या परामर्शात्मक (Judgemental) होता है। ज्ञान की अभिव्यक्ति परामर्शों के माध्यम से होती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जिस ज्ञान को हम परामर्शों के माध्यम से व्यक्त न कर सकेंगे उसे 'ज्ञान' की श्रेणी से निकाल दिया जाएगा। इस दृष्टि से जब काण्ट परमार्थ को अज्ञेय कहता है तो उसके कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि परमार्थ के विषय में हमें पूर्ण अज्ञान है, उसके अज्ञेय कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि परमार्थ का ज्ञान निर्णयों या परामर्शों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया

जा सकता। हाँ, उसका ज्ञान निर्णय या परामर्शविहीन (Non-Judgemental) हो सकता है। प्रतिभानात्मक (Intuitive) ज्ञान इसी प्रकार का परामर्श विहीन ज्ञान होता है।

जिस प्रतिभानात्मक ज्ञान की ऊपर चर्चा की गई उससे काण्ट का तात्पर्य किसी बौद्धिक प्रतिभान (Intellectual Intuition) से नहीं है। बुद्धि के पास कोई प्रतिभान नहीं है। बुद्धि अन्तः प्रज्ञात्मक (Intuitive) न होकर केवल विमर्शात्मक (Discursive) ही है। यह पहले तत्त्व का विघटन करती है और पुनः उसे संगठित कर तत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। पर तत्त्व को जानने की यह विधि उपयोगी नहीं है। कोरी बुद्धि तत्त्व के विषय में केवल कल्पना कर सकती है, उसके ज्ञान में कोई सत्यता या प्रामाणिकता नहीं आ सकती। काण्ट के अनुसार तत्त्व का ज्ञान न इन्द्रियानुभूति से हो सकता है और न बौद्धिक प्रतिभान से ही। तत्त्व का वास्तविक ज्ञान अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है जिसके लिए काण्ट ने अपने नीति शास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कुछ ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने काण्ट के अज्ञेयवाद का वास्तविक अर्थ न समझकर उसके विरुद्ध नाना प्रकार के आक्षेप लगाए हैं। विटगेन्स्टाइन (Wittgenstein) कहते हैं, "यदि हम चिन्तन की कोई सीमा निर्धारित करते हैं तो इसके लिए हमें सीमा के दोनों पार्श्वों का विचार करना होगा।"[1] इसी बात को ब्रैडले ने और स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "वह मनुष्य जो यह सिद्ध करने के लिए तत्पर है कि तत्त्व-विज्ञान असम्भव है, वह एक विरोधी सिद्धान्त का प्रतिपादक तत्त्व-विज्ञानी-बन्धु ही है।"[2] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब काण्ट ने तत्त्व-विज्ञान को असम्भव कहा था तो उसके कहने का यह अर्थ कदापि नहीं था कि तत्त्व को हम कभी जान ही नहीं सकते। तत्त्व-विज्ञान के असम्भव कहने का उसका तात्पर्य केवल इतना ही था कि निर्णयात्मक या परामर्शात्मक विधि से हम तत्त्व को नहीं जान सकते। हाँ! इससे भिन्न विधियों द्वारा हम तत्त्व का अवश्य साक्षात्कार कर सकते हैं।

उपर्युकत दृष्टिकोण के सिवा किसी अन्य दृष्टिकोण से अज्ञेयवाद की व्याख्या आत्मघाती होगी। यदि परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय है तो हम यह भी नहीं जान सकते कि वह अज्ञेय है। यदि परमार्थ तक बुद्धि-विकल्पों की गति नहीं है तो हम कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुतः हैं पर वे अज्ञेय हैं ? परमार्थों के विषय में हमें कम से कम इतना ज्ञान तो अवश्य ही है कि उनकी सत्ता है, पर उन्हें हम नहीं जान सकते। उनके ऊपर हम भाव (Reality), अभाव (Negation) और परिसीमन (Limitation) नामक विकल्पों का प्रयोग करते ही हैं। ऐसी स्थिति में परमार्थों को पूर्ण रूप में अज्ञेय कैसे माना जा सकता है ? काण्ट इस समस्या का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम किसी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं : प्रथम विधि रूप से और द्वितीय निषेध रूप से। विधि रूप ज्ञान सदा प्रत्यक्षों पर आधारित होता है। हम जानते हैं कि परमार्थ अतीन्द्रिय सत्ताएँ हैं। अतः, विधि रूप में हमें उनका ज्ञान होना असम्भव है। हाँ, निषेध रूप में परमार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ निषेध

1. विटगेन्स्टाइन, "In order to draw a limit to thinking, we should have to think both sides of this limit."
2. ब्रैडले, आभास और सत्, पृ० 1, "A man who is ready to prove that metaphysics is impossible is a brother metaphysician with a rival theory of his own."

का वास्तविक अर्थ ज्ञान की सीमा है। इस दृष्टि से अज्ञेयवाद का अर्थ हुआ : परामर्शात्मक ज्ञान की सीमा। ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान होता है और इसमें कोई विरोध नहीं है। परमार्थों का निषेध रूप ज्ञान 'नेति' 'नेति' का ज्ञान है। यह बताता है कि परमार्थों पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की कोई भी विशेषताएँ लागू नहीं होती; यह इस बात को भी बताता है कि परमार्थ देश और काल में नहीं है तथा निषेध रूप ज्ञान यह भी प्रदर्शित करता है कि यह अपरिवर्तनशील है। अतः, अज्ञेयवाद का अर्थ ज्ञान का आत्यन्तिक अभाव नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। अज्ञेयवाद की यह मान्यता है कि यद्यपि परमार्थों का हमें ज्ञान नहीं हो सकता पर वे बिलकुल अकल्पनीय नहीं हैं। परमार्थों या स्वलक्षण-वस्तुओं की कल्पना एक सीमान्त अवधारणा (Limiting Concept) है। यह बुद्धि की सीमा का निर्धारण करती है, यह परमार्थों का निषेध नहीं करती।

जिस प्रकार काण्ट बाह्य परमार्थों के अज्ञेयवाद में विश्वास करते हैं उसी प्रकार वे आन्तरिक परमार्थ या आत्मा के अज्ञेयवाद में भी विश्वास करते हैं। यह ठीक है कि मुझे अपने अस्तित्व, अपनी प्रक्रियाओं एवं अपनी स्वतः प्रवर्तिता की सहज अनुभूति है, पर आत्म-चैतन्य एवं आत्मा का ज्ञान ये दोनों चीजें एक ही नहीं है। काण्ट के अनुसार, जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष होगा उसी वस्तु का हमें ज्ञान प्राप्त हो सकता है। हमें आत्मा का प्रत्यक्ष होता नहीं। हम अपनी आत्मा को आन्तरिक अवस्थाओं के माध्यम से ही जानते हैं। हमारा प्रत्यक्ष आन्तरिक अवस्थाओं तक ही सीमित है। आत्मा अतीन्द्रिय है, अतः हमें उसका ज्ञान (परामर्शात्मक ज्ञान) प्राप्त नहीं हो सकता। अतः ऐसी स्थिति में हमें आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा अज्ञेय है। इस प्रकार तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics) जो किसी अनुभवातीत सत्ता के ज्ञान प्राप्त कराने का दावा करता है, असम्भव है। तत्त्व-विज्ञान असम्भव है।

यहाँ एक बात और है जिस पर विचार कर लेना चाहिए। क्या बाह्य परमार्थों को हमारी संवेदनाओं का कारण माना जा सकता है ? हम जानते हैं कि, कारण-कार्य बुद्धि-विकल्प है जिनकी गति संवृति तक ही सीमित है, परमार्थों तक उनकी पहुँच नहीं हैं। ऐसी स्थिति में स्व-लक्षण बाह्य पदार्थ हमारी संवेदनाओं के कारण नहीं हो सकते। बाह्य परमार्थ संवेदनाओं के मात्र अधिष्ठान (Substratum) हैं।

प्रज्ञालंब-समीक्षा
(Transcendental Dialectic)

काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन ह्यूम के संशयवाद एवं लाइब्नित्स के रूढ़िवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ था। ह्यूम के संशयवाद के विरोध में काण्ट ने कहा कि गणित और भौतिक शास्त्र में हम केवल संश्लेषणात्मक ज्ञान ही नहीं होता वरन् वह अनिवार्य और प्रागनुभविक भी होता है। लाइब्नित्स के विरुद्ध काण्ट ने कहा कि केवल बुद्धि के आधार पर हमें किसी अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। परिकल्पनात्मक तत्त्वविज्ञान (Speculative Metaphysics) जो केवल बुद्धि के आधार पर अतीन्द्रिय जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, असम्भव है। इस प्रकार काण्ट तत्त्व-विज्ञान की सम्भावना का निषेध करते हैं।

काण्ट ने बुद्धि एवं प्रज्ञा में भेद किया है। बुद्धि (Understanding) केवल उन्हीं विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है। पर प्रज्ञा (Reason) प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय (Super-sensible) का भी ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। 'अतीन्द्रिय' का ज्ञान केवल 'विचार' तक ही सीमित होता है, वह 'प्रत्यक्ष' का रूप धारण नहीं कर सकता। प्रज्ञा जब प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का ढोंग करती है तो वह प्रत्यक्ष (Percept) और विचार (Thought) के बीच भेद करने में असमर्थ हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप वह नाना प्रकार की 'द्वयर्थकताओं', 'अनेकार्थताओं', 'अप्रामाणिक अनुमानों' एवं 'विरोधाभासों' में अपने को आबद्ध कर लेती है। अतीन्द्रिय तत्त्व-विज्ञान में यही सब होता है। बुद्धि-विकल्प, जब तक उनका प्रयोग संवृति तक सीमित होता है, बिलकुल वैध हैं, पर ज्योंही हम उनका प्रयोग परमार्थ पर करने लगते हैं, वे अवैध हो जाते हैं। तत्त्व-विज्ञान जो अतीन्द्रिय सत्ता के विज्ञान होने का दावा करता है, संवृति और परमार्थ के भेद को भूल कर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग परमार्थों के ऊपर करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि यह अपने को नाना प्रकार के भ्रम-जाल में फँसा देता है। काण्ट ने इन भ्रमों को अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendent Illusions) का नाम दिया है। आनुभविक भ्रम (Empirical Illusions) एवं अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendent Illusions) में भेद है। आनुभविक भ्रम प्रत्यक्ष के क्षेत्र में कल्पना के दुष्प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है जिससे हमारी निर्णय-शक्ति भ्रमित हो जाती है। इसमें बुद्धि के नियमों का कोई गलत प्रयोग नहीं होता है। इसके विपरीत, अतीन्द्रिय भ्रम का सम्बन्ध उन सिद्धान्तों से होता है जिनका प्रत्यक्ष-जगत से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता पर फिर भी वे हमारे मन में ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देते हैं मानों उनके द्वारा स्थापित निष्कर्ष उतने ही वैध हैं जैसा कि बुद्धि के द्वारा स्थापित निष्कर्ष वैध होते हैं। इन समस्त सिद्धान्तों को जिनका प्रयोग प्रत्यक्ष-जगत तक ही सीमित है काण्ट ने लोकभूत (Immanent) सिद्धान्त कहा है; इसके विपरीत उन सिद्धान्तों को जो प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न करते हैं काण्ट ने लोकातीत (Transcendent) सिद्धान्त कहा है। लोकातीत सिद्धान्तों से काण्ट का तात्पर्य बुद्धि-विकल्पों के दोषपूर्ण प्रयोग से नहीं है जिसमें बुद्धि अपनी सीमित शक्ति का विचार न कर प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। इसे बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय प्रयोग (Transcendental Use) कहा जाएगा। काण्ट ने लोकातीत (Transcendent) एवं अतीन्द्रिय (Transcendental) शब्दों के बीच भेद किया है। अपनी प्रज्ञालंब-समीक्षा द्वारा उन्होंने प्रज्ञा के लोकातीत सिद्धान्तों के मिथ्याभिमान को दूर करने का प्रयत्न किया है।

प्रज्ञा के लोकातीत सिद्धान्तों द्वारा उत्पन्न भ्रम अपरिहार्य होते हैं क्योंकि आनुभविक भ्रमों के समान इनका निराकरण नहीं किया जा सकता। ये स्वाभाविक और सहज हैं। प्रज्ञालम्ब समीक्षा इन लोकातीत भ्रमों का अनुसंधान कर उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करती है जिससे कि हम उनके वास्तविक स्वभाव को समझकर उनसे भ्रमित न हो सकें।

बुद्धि और प्रज्ञा
(Understanding and Reason)

काण्ट ने बुद्धि और प्रज्ञा में भेद किया है। बुद्धि का कार्य प्रत्यक्ष तक ही सीमित है पर प्रज्ञा प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। बुद्धि विषयों के बीच एकीकरण स्थापित करती है, पर प्रज्ञा बुद्धि के व्यापारों के बीच एकीकरण को सम्भव बनाती है। बुद्धि के नियम वस्तु-जगत पर लागू होते हैं; वे प्रकृति का निर्माण करते हैं। अतः उन्हें उपादानात्मक नियम (Constitutive Principles) कहते हैं। इनके विपरीत, प्रज्ञा के नियम उपादानात्मक न होकर नियामक नियम (Regulative Principles) होते हैं। प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान में सत्यता या यथार्थता नहीं होती क्योंकि प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्त्व प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापित नहीं किए जा सकते। इन तत्त्वों का कोई इन्द्रिय-संवेदन नहीं होता, अतः इनके मौलिक पदार्थ वस्तु जगत में हैं या नहीं, इसकी हमें जानकारी नहीं हो सकती। प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्त्व वास्तविक न होकर सम्भाव्य ही होते हैं। सम्भाव्य होने के कारण, प्रज्ञा द्वारा स्थापित तत्त्वों के विषय में नाना प्रकार के परस्पर-विरोधी विचार उत्पन्न होते हैं जिन्हें 'द्वन्द्व' कहते हैं। न्नका आगे विस्तार पूर्वक वर्णन किया जायगा।

बुद्धि के नियमों को किसी उच्चतर सिद्धान्तों के भीतर सन्निवेश करने की शक्ति को प्रज्ञा कहते हैं। यह बुद्धि के निर्णयों के बीच एकीकरण का प्रयास करती है। किन्तु ये उच्चतर सिद्धान्त बुद्धि के लिए केवल लाघव-न्याय के आत्मनिष्ठ नियम ही हैं जिनके द्वारा वह विकल्पों के प्रयोग को निम्नतम संभाव्य संख्या में घटित करने का प्रयास करती है।

प्रज्ञा विषय-वस्तुओं के नियम को निर्धारित नहीं करती और न तो विषयों के ज्ञान की ही व्याख्या करती है। इसका प्रमुख कार्य जिज्ञासा का निर्देशन करना तथा पूर्णता के उन आदर्शों को प्रस्तुत करना है जिन्हें हमारा ज्ञान कभी भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकता। बुद्धि वस्तुगत जगत का संघटक (Constitutive) तत्त्व है जब कि प्रज्ञा वस्तुगत जगत के ज्ञान का नियामक (Regulative) तत्त्व है।

(i) प्रज्ञा हमारी सभी मानसिक प्रक्रियाओं को एक सामान्य विज्ञान के अन्तर्भूत करने का प्रयत्न करती है जिसे वह आत्मा (Soul) का नाम देती है। बौद्धिक मनोविज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

(ii) इसी प्रकार प्रज्ञा सभी भौतिक प्रक्रियाओं को प्रकृति (Nature) के अन्तर्भूत करती है। बौद्धिक संसृति-विज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

(iii) अन्त में, प्रज्ञा हमारी सभी प्रक्रियाओं को चाहे वे मानसिक हों या भौतिक, एक महाविज्ञान ईश्वर (God) के अन्तर्भूत करती है। बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

संक्षेप में : आत्मा आत्मगत बौद्धिक व्यापारों का संस्थान है, प्रकृति वस्तुगत बौद्धिक विषयों का संस्थान है तथा ईश्वर इन दोनों संस्थानों का एक महासंस्थान है जो मानसिक, भौतिक या अन्य सभी विषयों का समाहार प्रस्तुत करता है। प्रज्ञा का प्रत्येक संस्थान संग्रहालय मात्र नहीं है, वरन् एक इकाई भी है। उसमें सम्पूर्णता और एकता दोनों का समन्वय होता है।

प्रज्ञा के विज्ञान (Ideas) अनुभवातीत और लोकातीत (Transcendent) हैं, अनुभव

में किसी दृष्टान्त द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अतः हम किसी प्रतिभान या प्रत्यक्ष रूप में निरपेक्ष समग्रता को प्रस्तुत नहीं कर सकते। विज्ञान हमारे समक्ष एक ऐसी समस्या को प्रस्तुत करता है जिसका कोई समाधान नहीं है। फिर भी उसकी उपयोगिता है क्योंकि यह बुद्धि को निर्देश देता है तथा हमारे ज्ञान में अधिक से अधिक समन्वय लाने का प्रयत्न करता है।

प्रज्ञा के विज्ञानों का वस्तु-जगत से साक्षात् सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध ही होता है। इसीलिए इन विज्ञानों में अनिवार्यता और सार्वभौमता तो होती है पर सत्यता नहीं होती। इनका कार्य बुद्धि के सिद्धान्तों को संगठित कर एकता प्रदान करना है। इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि के व्यापारों से ही होता है। संवेद्यता के साथ इनका परोक्ष सम्बन्ध होता है। विज्ञान बुद्धि के व्यापारों में एकता स्थापित करने के साथ उसके समक्ष संपूर्णता का आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं।

बुद्धि और प्रज्ञा के बीच आगे भेद करते हुए काण्ट कहते हैं कि बुद्धि के विषय औपाधिक (Conditioned) हैं पर प्रज्ञा के विषय निरुपाधिक (Unconditioned) हैं। बुद्धि के विषय संवेदनाओं की अपेक्षा रखते हैं पर प्रज्ञा के विषयों का कोई निर्धारक तत्त्व नहीं है। वे अनुभवातीत और लोकातीत हैं जो अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र रूप में विचरण करते हैं। उनकी संवादिता में प्रत्यक्ष जगत में कोई वस्तु नहीं होती। प्रज्ञा के विज्ञानों के स्वतन्त्र होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वे हर प्रकार से स्वच्छन्द हैं, वे न तो अतन्त्र हैं और न परतंत्र हैं, वरन् वे प्रज्ञा के नैसर्गिक स्वभाव द्वारा उद्‌भूत होते हैं। चूँकि बुद्धि के व्यापार को वे संगठित करते हैं, अतः बुद्धि के साथ प्रज्ञा के विज्ञान का अनिवार्य सम्बन्ध होता है।

प्रज्ञा के आत्मा, प्रकृति एवं ईश्वर इन तीन विज्ञानों के आधार पर तीन प्रकार के शास्त्रों की स्थापना की गई है। आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए बौद्धिक मनोविज्ञान (Rational Psychology) की स्थापना की गई है। विराट प्रकृति जो सभी भौतिक प्रक्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती है, की सत्ता को सिद्ध करने के लिए बौद्धिक संसृतिविज्ञान (Rational Cosmology) का निर्माण किया गया है। इनके अतिरिक्त ईश्वर जो आत्मा एवं प्रकृति के बीच समन्वय स्थापित करता है, उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए बौद्धिक ईश्वर विज्ञान (Rational Theology) की रचना की गई है। काण्ट के अनुसार बौद्धिक मनोविज्ञान, बौद्धिक संसृति-विज्ञान तथा बौद्धिक ईश्वर विज्ञान जो आत्मा, प्रकृति तथा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का मिथ्याभिमान करते हैं, वास्तव में इन तत्त्वों की सत्ता को सिद्ध करने में सदा असफल रहेंगे। आत्मा, प्रकृति और ईश्वर तीनों अतीन्द्रिय सत्ताएँ हैं जहाँ बुद्धि की गति नहीं है। जब वहाँ तक बुद्धि की गति ही नहीं है तो बुद्धि द्वारा उनके विज्ञान की रचना ही किस प्रकार की जा सकती है ? बुद्धिगम्य न होते हुये भी यदि बुद्धि इन सत्ताओं के विषय में किसी तर्क की प्रतिष्ठा करती है तो उनके सम्बन्ध में द्वन्द्वों की सृष्टि अवश्य होगी। बुद्धि द्वारा उत्पन्न द्वन्द्वों की विशेषता यह होती है कि उनके पक्ष और विपक्ष दोनों में समान बल होता है जिसके कारण यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसका स्वीकरण किया जाय और किसका निराकरण किया जाय। परिणामस्वरूप उपर्युक्त तीनों विज्ञान

विरोधों के जाल में बुरी तरह फँस जाते हैं। तीनों शास्त्रों में उत्पन्न इन विरोधों को काण्ट ने तीन पृथक् नाम दिये हैं। बौद्धिक मनोविज्ञान में उत्पन्न विरोधों को काण्ट ने तर्काभास (Paralogisms) की संज्ञा दी है, बौद्धिक संसृति-विज्ञान के विरोधों को उन्होंने विप्रतिषेध (Antinomies) नाम दिया है तथा बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान को व्याघात (Contradictions) नाम दिया गया है। इन तीनों विरोधों के नामकरण में भले ही भेद हो पर उनका भाव लगभग एक ही है और वह है परस्पर-विरोधी तर्क।

बौद्धिक मनोविज्ञान के तर्काभास
(Paralogisms of Rational Psychology)

जब हम किसी निष्कर्ष की विषय-वस्तु पर ध्यान दिए बिना ही उसके औपचारिक दोषों का विचार करते हैं तो उसे तर्काभास (Paralogisms) कहा जाता है। अतीन्द्रिय तर्काभास का कारण अतीन्द्रिय ही होता है। मानवीय प्रज्ञा के स्वभाव में ही निहित होने के कारण यह अपरिहार्य होता है, पर इसका समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

"अहं चिन्तयामि" (I think) या आत्म-चैतन्य हमारे सभी ज्ञान व विचारों का आधार होता है। जब तक हम सभी विचारों और विज्ञानों को एक ही चैतन्य के भीतर समाहित नहीं कर लेते तब तक वे (मेरे) विचार नहीं कहे जा सकते। यद्यपि यह अधिष्ठान-चैतन्य आनुभविक चैतन्य से सर्वथा स्वतन्त्र है फिर भी यह प्रतिनिधान-शक्ति (Faculty of Representation) के भीतर दो विषयों में विभेद करने में सहायक होता है : अहं (I) जो आन्तरिक इन्द्रिय का विषय है जिसे आत्मा (Soul) कहा जाता है तथा इदं या शरीर जो बाह्य इन्द्रियों का विषय होता है। 'अहं' जो सभी प्रकार के चिन्तन का कर्त्ता है, मनोविज्ञान का विषय है।

आत्म-चैतन्य जो सभी प्रकार के विषयों और विषय-ज्ञान का आधार है, स्वयं इस द्वैत से आबद्ध नहीं हो सकता। स्वयं अतीन्द्रिय होने के कारण कोई आनुभविक विधेय इस पर लागू नहीं हो सकते। इस पर केवल अतीन्द्रिय विधेय ही लागू किए जा सकते हैं। यदि आत्मा के ऊपर हम आनुभविक विधेय आरोपित करते हैं तो उसकी बौद्धिक विशुद्धता नष्ट हो जाती है। इतना होते हुए भी मानव-स्वभाव की विशेषता है कि वह अतीन्द्रिय आत्मा के ऊपर आनुभविक विकल्पों को आरोपित करता है जिससे चिन्तन में कई प्रकार की त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

हम आत्मा के ऊपर निम्न चार प्रकार के बुद्धि-विकल्पों को आरोपित करते हैं।

1. आत्मा एक द्रव्य है।
2. गुण की दृष्टि से वह निरवयव (Simple) है।
3. उन विभिन्न काल-क्षणों में जिनमें इसकी सत्ता रहती है, इसकी संख्यात्मक एकात्मकता बनी रहती है। अर्थात् इसमें अनेकता न होकर एकता (Unity) है।
4. देश में सम्भाव्य विषयों के साथ इसका सम्बन्ध है।

विशुद्ध मनोविज्ञान के सभी प्रत्यय उपर्युक्त चार तत्त्वों के संयोग से निर्मित होते हैं। यह द्रव्य जो कि आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय का विषय है, अभौतिकता (Immateriality) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है, उसकी सरलता अक्षयता (Incorruptibility) के प्रत्यय को उत्पन्न

करता है, उसकी एकता व्यक्तित्व (Personality) के प्रत्यय को तथा तीनों प्रत्यय संयुक्त रूप में आध्यात्मिकता (Spirituality) के प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं; देश के सम्भाव्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध अमरत्व (Immortality) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त चार प्रत्ययों के आधार पर काण्ट ने अतीन्द्रिय मनोविज्ञान के चार तर्काभासों (Paralogisms) का वर्णन किया है। ये तर्काभास हमारे मन में यह विचार उत्पन्न करते हैं मानों उनके आधार पर हम आत्मा के विज्ञान को खड़ा कर रहे हैं किन्तु यह बुद्धि का एक भ्रम ही है। आत्मा के विषय में हम यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रत्यय (Concept) है, इसके विषय में हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि यह एक विशुद्ध चैतन्य है जो सभी प्रत्ययों का अधिष्ठान है। आत्मा हमारे सभी विचारों का अतीन्द्रिय उद्देश्य है जिसके विचार विधेय है।[1] इसके अतिरिक्त आत्मा के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। उपर्युक्त चार प्रकार के निष्कर्षों को बौद्धिक मनोविज्ञान चार तर्कों से सिद्ध करने का प्रयास करता है जिनको काण्ट ने निम्न चार तर्काभासों के नाम से अभिहित किया है—

(1) द्रव्यत्व का तर्काभास (Paralogism of Substantiality)

(2) सरलता का तर्काभास (Paralogism of Simplicity)

(3) व्यक्तित्व का तर्काभास (Paralogism of Personality)

(4) काल्पनिकता का तर्काभास (Paralogism of Ideality)

इन तर्काभासों पर हम पृथक्-पृथक् रूप में विचार करेंगे।

(1) द्रव्यत्व का तर्काभास (Paralogism of Substantiality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

'वह, जिसका प्रतीक हमारे सभी निर्णयों का निरपेक्ष उद्देश्य है और इसलिए जिसका प्रयोग किसी अन्य वस्तु के निरूपण के लिए नहीं किया जा सकता, एक द्रव्य है।

मैं, एक चिन्तनशील सत्ता के रूप में अपने सभी सम्भाव्य निर्णयों का निरपेक्ष उद्देश्य हूँ तथा मेरे इस प्रतीक का प्रयोग किसी अन्य वस्तु के विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता।

अतः, मैं एक चिन्तनशील सत्ता (आत्मा) के रूप में एक द्रव्य हूँ।'

हम अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र में पहले ही देख चुके हैं कि विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों, विशेषकर द्रव्य के बुद्धि-विकल्प का स्वयं में कोई वस्तुनिष्ठ अर्थ नहीं होता जब तक कि वे ऐन्द्रिक संवेदनाओं पर आश्रित न हों। हम भली भाँति जानते हैं कि अतीन्द्रिय सत्ता होने के कारण आत्मा की संवेदना हमें प्राप्त नहीं हो सकती। वैसे तो हम औपचारिक रूप में किसी भी वस्तु के लिए कह सकते हैं कि वह द्रव्य है जो गुणों या विधेयों से भिन्न है। ऐसी परिस्थिति में आत्मा को द्रव्य मानने से मनोविज्ञान को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

अब, यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि आत्मा को द्रव्य कहने की कुछ उपयोगिता है तो वह उपयोगिता केवल यही हो सकती है कि आत्मा नित्य और अविनाशी

1. काण्ट "By this I, or he, or it, which thinks, nothing is represented beyond a transcendental subject of thoughts that are its predicates.

है जो उत्पत्ति और विनाश दोनों से अतीत है। पर यदि विचार किया जाय तो 'द्रव्य' के प्रत्यय से उसकी नित्यता निगमित नहीं की जा सकती। अतः, इस अर्थ में भी आत्मा को 'द्रव्य' मानने से कोई लाभ नहीं निकलता।

एक तीसरी कठिनाई जो उपर्युक्त हेत्वानुमान में हमें दिखाई देती है, वह यह है कि साध्य-वाक्य में 'उद्देश्य' (Subject) का अर्थ 'नित्य द्रव्य' है तथा पक्ष-वाक्य में 'उद्देश्य' का अर्थ 'अविषय' है। 'उद्देश्य' शब्द की इस द्वयर्थकता के कारण यह तर्क दूषित हो गया है। इसी सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है और वह यह है कि यहाँ तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) एवं तात्त्विक उद्देश्य (Metaphysical Subject) को अभिन्न माना गया है जो सर्वथा दोषपूर्ण है।

(2) सरलता का तर्काभास (Paralogism of Simplicity)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'वह, जिसका कार्य अनेक वस्तुओं के कार्य का समवर्तन (Concurrence) नहीं माना जा सकता, सरल है।

अब, आत्मा, चिन्तनशील "मैं" ऐसी ही वस्तु है :

अतः, आत्मा सरल है।'

प्रत्येक मिश्रित द्रव्य अनेक द्रव्यों का संघात होता है और मिश्रित द्रव्य का कार्य उसके आंगिक द्रव्यों के पृथक् कार्यों का संघात होता है। ऐसा कार्य जो अनेक द्रव्यों के कार्यों के समवर्तन के कारण उत्पन्न हुआ हो, बाह्य कार्य ही हो सकता है किन्तु यही बात आन्तरिक विचारों पर लागू नहीं हो सकती। यदि कल्पना के लिए मान भी लिया जाय कि आत्मा एक मिश्रित द्रव्य है जो चिन्तन करती है तो आत्मा का प्रत्येक भाग चिन्तन-प्रक्रिया में प्रतिबिम्बित होगा जिससे विचार का तारतम्य टूट जाएगा। अतः, आत्मा अनेक चिन्तन करने वाली इकाइयों का संघात कभी नहीं हो सकती। उसे अनिवार्यतः सरल या निरवयव होना चाहिए।

यह प्रतिज्ञप्ति कि 'एक विचार किसी चिन्तनशील सत्ता की निरपेक्ष एकता का ही परिणाम हो सकता है' कोई विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति नहीं है क्योंकि किसी विचार की एकता विभिन्न द्रव्यों के विचारों के संकलित संघात का परिणाम भी हो सकती है। अतः, यदि हमें किसी चिन्तनशील सत्ता का अनुसंधान करना है तो उस सत्ता के स्थान पर हमें स्वयं को स्थानापन्न कर देना चाहिए क्योंकि वह सत्ता विषय न होकर विषयी ही है। किसी विषय के विषयी की निरपेक्ष एकता की माँग हम इसलिए करते हैं क्योंकि इसके अभाव में हम यह नहीं कह सकते कि "मैं चिन्तन करता हूँ।" इसका कारण यह है कि यद्यपि विचारों का विभाजन और वितरण विभिन्न सत्ताओं में हो सकता है किन्तु "मैं" का इस प्रकार विभाजन और वितरण नहीं किया जा सकता।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि आत्मा की सरलता "मैं चिन्तन करता हूँ इससे निष्कर्षित नहीं होती, वरन् "मैं चिन्तन करता हूँ," इसमें आत्मा की सरलता पहले से ही सन्निहित रहती है। जिस प्रकार डेकार्ट्स का "चिन्तयामि, अतः, अस्मि" तर्क न होकर एक निर्विकल्प अनुभूति है, उसी प्रकार "मैं सरल हूँ" भी एक प्रकार की निर्विकल्प अनुभूति या समाकल्पन

(Apperception) है। "मैं" के भीतर किसी प्रकार की बहुलता नहीं है, वह विशुद्ध तार्किक इकाई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा एक अतीन्द्रिय विषयी (Transcendental Subject) है जो सरल इसलिए है क्योंकि यह सविकल्प नहीं है। आत्मा की सरलता की सार्थकता इस बात में निहित है कि आत्मा के इसी गुण के माध्यम से इसे हम बाह्य भौतिक जगत से पृथक् कर सकते हैं जो जटिल होने के कारण नश्वर है। इस अतीन्द्रिय विषयी को यदि हम आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय के विषय (Object) के रूप में प्रदर्शित करने की कोशिश करें जैसा बौद्धिक मनोविज्ञान करता है तो वह वास्तविक आत्मा कभी न होगी।

सरलता के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध किया जाता है। किन्तु शंकराचार्य की तरह काण्ट ने भी दिखाया है कि वह सरलता जो अनुभूत है वह दैशिक ही हो सकती है। दैशिक होने के कारण उसका विभाजन हो सकता है। अतः अनुभूत सरलता आत्मा की अमरता को सिद्ध नहीं करती। यही मनोविज्ञान का तर्काभास है।

(3) व्यक्तित्व का तर्काभास (Paralogism of Personality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

'वह, जिसे विभिन्न समयों में अपनी संख्यात्मक एकता का ज्ञान है, अवश्य ही एक व्यक्ति होगा।

अब, आत्मा को इसका ज्ञान है।

अतः आत्मा एक व्यक्ति है।'

यदि अनुभव द्वारा हम किसी बाह्य वस्तु की संख्यात्मक एकता को जानना चाहते हैं तो हमें उस वस्तु के ऐसे शाश्वत तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो उसके विधेयों की अपेक्षा उद्देश्य मात्र हो। उसी प्रकार यदि हम आन्तरिक अनुभव द्वारा अपनी आत्मा की संख्यात्मक एकता को जानना चाहते हैं तो हमें आत्मा के उस शाश्वत तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो विभिन्न परिवर्तनों में एक अपरिवर्तनीय तत्त्व के रूप में बना रहता है। यही आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) की एकता है।

आत्म-चैतन्य द्वारा व्यक्ति की एकता स्पष्ट झलकती है। किन्तु यदि हम अपने को एक बाह्य द्रष्टा की दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं, तो आत्मा की एकता नष्ट हो जाती है। बाह्य द्रष्टा आत्मा को काल में देखता है यद्यपि काल स्वयं आत्मा में निहित है। आत्म-चैतन्य की एकता सभी विचारों की औपचारिक प्रागपेक्षा है। आत्मा एक तार्किक इकाई (Logical Identity) है। अतीन्द्रिय होने के कारण आत्मा को हम आन्तरिक प्रत्यक्षों में नहीं देख सकते। यही कारण है कि बौद्धिक मनोविज्ञान हमारे ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करता।

(4) काल्पनिकता का तर्काभाष (Paralogism of Ideality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'वह, जिसके अस्तित्व को बाह्य प्रत्यक्ष के कारण रूप में अनुमित किया जा सकता है संदिग्ध अस्तित्व वाला ही होगा।

अब, सभी बाह्य प्रतीतियों का ऐसा स्वभाव होता है कि उनके अस्तित्व का अव्यवहित प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उन्हें हम बाह्य प्रत्यक्ष के कारण रूप में ही अनुमित कर सकते हैं।

अतः, बाह्य इन्द्रियों के सभी विषयों का अस्तित्व संदिग्ध है।'

काण्ट ने उपर्युक्त मत को प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद (Idealism) की संज्ञा दी है क्योंकि यहाँ बाह्य वस्तुओं को काल्पनिक रूप में सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इसका विरोधी सिद्धान्त द्वैतवाद (Dualism) या वस्तुवाद (Realism) है जिसमें बाह्य वस्तुओं के अनिवार्य अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया गया है।

उपर्युक्त सिद्धान्त का मूल मन्तव्य यह है कि हमें केवल अपनी आत्मा के अस्तित्व का अपरोक्ष और असंदिग्ध ज्ञान हो सकता है। आत्मा से इतर वस्तुओं का हमें केवल परोक्ष या वैचारिक ज्ञान ही हो सकता है जिसके कारण वह ज्ञान सम्भाव्य ही हो सकता है। किसी कार्य से कारण का अनुमान इस कारण भी अनिश्चित होता है कि एक कार्य अनेक कारणों का संयुक्त परिणाम हो सकता है। अतः, हमारे प्रतिबिम्बों का बाह्य वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना असम्भव ही होता है।

काण्ट ने इस सन्दर्भ में दो प्रकार के भेदों की स्थापना की है : प्रथम अतीन्द्रिय विज्ञान-वाद (Transcendental Idealism) एवं आनुभविक विज्ञानवाद (Empirical Idealism) के बीच तथा द्वितीय अतीन्द्रिय वस्तुवाद (Transcendental Realism) एवं आनुभविक वस्तुवाद (Empirical Realism) के बीच। अतीन्द्रिय विज्ञानवाद का अर्थ यह है कि बाह्य प्रतीतियाँ वास्तविक सत्ताएँ न होकर केवल प्रतिबिम्ब हैं जो बुद्धि के अतीन्द्रिय प्रत्ययों द्वारा निर्मित हैं। इसके विपरीत आनुभविक विज्ञानवाद का अर्थ है कि बाह्य वस्तुओं का आत्मा से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है किन्तु उन बाह्य वस्तुओं की प्रतिलिपियाँ जो हमारी आत्मा में उत्पन्न होती हैं, बाह्य वस्तुओं का यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं करतीं (लॉक)। पुनः अतोन्द्रिय वस्तुवाद (Transcendental Realism) के अनुसार देश और काल हमारी संवेद्यता के आकार नहीं हैं वरन् बाह्य प्रदत्त हैं जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतीन्द्रिय वस्तुवाद बाह्य अवभासों को स्वलक्षण वस्तुओं के रूप में स्वीकार करता है जिनका हमारी आत्मा एवं हमारी संवेद्यता से स्वतन्त्र अस्तित्व है। आनुभविक वस्तुवाद अनुभव के विषय को वास्तविक मानता है जिसकी हमें विशिष्ट परिस्थितियों में साक्षात् अनुभूति हो सकती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन कोटियों में काण्ट की क्या स्थिति है ? काण्ट के दर्शन को अतीन्द्रिय विज्ञानवाद एवं आनुभविक वस्तुवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अतीन्द्रिय विज्ञानवाद एवं आनुभविक वस्तुवाद के बीच कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार हमारे प्रतिबिम्ब एक ओर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार वे बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं। हमारा आत्म-चैतन्य, आत्मा एवं बाह्य वस्तुओं दोनों का अपरोक्ष साक्षी होता है। इसके लिए किसी प्रकार के अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, यह बात और है कि इन दोनों अवस्थाओं में हमें केवल प्रतिबिम्बों का ही ज्ञान होता है।

उपर्युक्त तर्क का निहितार्थ यह है कि हमें स्व-लक्षण वस्तुओं : आत्मा या बाह्य सत्ता का पारमार्थिक ज्ञान कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यदि कोई मनोविज्ञान या

भौतिक विज्ञान किसी आत्मा या किसी जड़ तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करे और उनके सम्बन्ध में किसी विज्ञान की स्थापना करे तो वह अवास्तविक ही होगा।

बौद्धिक संसृति-विज्ञान के विप्रतिषेध

(The Antinomies of Rational Cosmology)

प्रज्ञा संसृति के सभी वस्तुनिष्ठ कारणों को एक चरम कारण (Ultimate Condition) या अननुबन्धित कारण (Unconditioned Cause) के रूप में घटित करना चाहती है। जगत की विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं को देखकर हम एक ऐसी समग्र प्रकृति के विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं जिस पर सम्पूर्ण संसृति आधारित है अथवा हम उस अननुबन्धित कारण को संवृति (Phenomena) के बीच ही ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। दोनों स्थितियों में हम ऐसे वैश्विक विज्ञानों का निर्माण करते हैं जो परस्पर विरोधी निष्कर्षों को उत्पन्न करते हैं। काण्ट ने ऐसे निष्कर्षों को विप्रतिषेध, सत्प्रतिपक्ष या विरुद्धाव्यभिचारी (Antinomies) नाम दिया है। इन विप्रतिषेधों की विशेषता यह होती है कि परस्पर-विरोधी होते हुए भी उनमें समान प्रामाणिकता पाई जाती है। उनकी दूसरी विशेषता यह होती है कि अनुभव इन अर्थ-वितण्डाओं को न तो प्रमाणित कर सकता है और न अप्रमाणित ही। दोनों में समान प्रामाणिकता होती है।

मात्रा, गुण, सम्बन्ध और प्रकार के अनुसार चार सत्प्रतिपक्ष पाए जाते हैं। प्रत्येक सत्प्रतिपक्ष में एक पक्ष और दूसरा प्रतिपक्ष होता है।

प्रथम सत्प्रतिपक्ष—

पक्ष—जगत सादि है और साथ-साथ देश में सीमित है।

विपक्ष—जगत अनादि है तथा देश में सीमित नहीं है।

द्वितीय सत्प्रतिपक्ष—

पक्ष—जगत का प्रत्येक यौगिक द्रव्य सरल अवयवों से निर्मित हुआ है। सरल या यौगिक द्रव्यों के अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई वस्तुएँ नहीं है।

विपक्ष—जगत् का कोई यौगिक द्रव्य सरल अवयवों से मिलकर निर्मित नहीं हुआ है तथा जगत् में कोई भी सरल द्रव्य नहीं है।

तृतीय सत्प्रतिपक्ष—

पक्ष—प्रकृति के नियमों में कारणता (Causality) ही ऐसा नियम नहीं है जिससे जगत की सारी घटनाएँ नियमित की जा सकती है। इन घटनाओं की सम्यक् व्याख्या के लिए कारणता के साथ स्वातन्त्र्य (Freedom) को भी स्वीकार करना चाहिए।

विपक्ष—जगत् में कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। जगत् की प्रत्येक घटना प्रकृति के नियमों के अनुसार ही घटित होती है।

चतुर्थ सत्प्रतिपक्ष—

पक्ष—एक अंग रूप में अथवा कारण-रूप में इस जगत् से सम्बन्धित एक पूर्णतः

अनिवार्य सत्ता अवश्य है।

विपक्ष—इस जगत् में पूर्णतः अनिवार्य सत्ता का कहीं भी अस्तित्व नहीं है और न इसके कारण के रूप में इसके बाहर ही उसका अस्तित्व है।

उपर्युक्त चारों सत्प्रतिपक्षों में यदि हम एक ओर केवल पक्षों को संकलित करें तो उससे बुद्धिवाद की स्थापना होती है; इसी प्रकार विपक्षों को एक साथ संकलित करने पर अनुभववाद की स्थापना होती है। बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों को एक साथ रखकर काण्ट ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि दोनों सही नहीं हैं, वे एक दूसरे को निष्प्रभावित कर देते हैं। पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि सत्प्रतिपक्षों के ये पक्ष-विपक्ष किसी दार्शनिक चिन्तन के दोष के कारण उत्पन्न नहीं होते। वे प्रज्ञा के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञा समस्त ब्रह्माण्ड को एक पूर्ण एकता में आबद्ध करना चाहती है, पर ऐसा करने में वह असफल रहती है क्योंकि उसे उसकी संवेदना प्राप्त नहीं होती। इन सत्प्रतिपक्षों की उत्पत्ति का दूसरा कारण यह है कि जो एकता प्रज्ञा के लिए पर्याप्त है, वह बुद्धि की पहुँच के बाहर है तथा जो एकता बुद्धि के अनुकूल है वह प्रज्ञा के लिए तुच्छ है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि काण्ट इन सत्प्रतिपक्षों के विरोध की समस्या का किस प्रकार समाधान प्रस्तुत करता है ? काण्ट ने उपर्युक्त चारों सत्प्रतिपक्षों को दो भागों में विभाजित किया है : प्रथम दो सत्प्रतिपक्ष गणित-सम्बन्धी हैं और अन्तिम दो गति-विज्ञान सम्बन्धी सत्प्रतिपक्ष हैं। इन दो प्रकार के सत्प्रतिपक्षों की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं। प्रथम दो गणित-सम्बन्धी सत्प्रतिपक्षों के विषय में काण्ट कहता है कि उनके पक्ष और विपक्ष दोनों गलत हैं अतः, उनके बीच कोई विरोधाभास नहीं है। प्रत्येक सत्प्रतिपक्ष का एक तीसरा विकल्प भी है जो दोनों में समन्वय स्थापित करता है और वह यह है कि जगत् न देश में है और न काल में। जगत एक आभास है। अन्तिम दो गति-विज्ञान सम्बन्धी सत्प्रतिपक्षों के समाधान में काण्ट कहता है कि उनके पक्ष और विपक्ष में कोई वास्तविक विरोध नहीं है क्योंकि दोनों दो विभिन्न दृष्टिकोणों से कहे गये हैं। इनमें पक्ष पारमार्थिक (Noumenal) दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है तथा विपक्ष व्यावहारिक (Phenomenal) दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं।

सत्प्रतिपक्षों का विरोध यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि बौद्धिक संसृति-विज्ञान जो पक्ष-विपक्ष के द्वैत पर आधारित है, बिलकुल मिथ्या है।

बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान के व्याघात

(Contradictions of Rational Theology)

प्रज्ञा सर्वप्रथम मानसिक प्रक्रियाओं को समाहित कर आत्मा के विज्ञान का निर्माण करती है, पुनः वह सभी भौतिक प्रक्रियाओं के बीच एकता स्थापित करने के लिए जगत् के विज्ञान का निर्माण करती है। अन्त में, आत्मा और जगत् दोनों के विज्ञानों में संश्लेषण स्थापित करने के लिए प्रज्ञा एक सर्वोच्च या उच्चतम विज्ञान की कल्पना करती है जिसे ईश्वर का विज्ञान (Idea of God) कहते हैं।

काण्ट के अनुसार उपर्युक्त तीनों विज्ञान काल्पनिक विज्ञान हैं। वे किसी वस्तुनिष्ठ

सत्ताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर इससे यह अर्थ नहीं निकाल लेना चाहिए कि वे बिलकुल ही अयथार्थ विज्ञान हैं। वे यथार्थ भी हो सकते हैं। उनके काल्पनिक कहने का भाव केवल इतना ही है कि आत्मा, जगत और ईश्वर इन तीनों सत्ताओं के अतीन्द्रिय होने के कारण प्रज्ञा द्वारा इनका वास्तविक ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वर एक लोकातीत (Transcendent) सत्ता है जहाँ इन्द्रियों, मन और बुद्धि की गति नहीं है। इस कारण ईश्वर की सत्ता का बुद्धि द्वारा न तो खण्डन किया जा सकता है और न मण्डन ही। इस बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान की कल्पना एक भ्रम ही है।

बौद्धिक ईश्वर विज्ञान ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए तीन युक्तियाँ देता हैं : प्रथम सत्तामूलक (Ontological) युक्ति, द्वितीय विश्व-कारण (Cosmological) युक्ति, एवं तृतीय भौतिक-धार्मिक (Physico-Theological) युक्ति। काण्ट के अनुसार ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने की सभी युक्तियाँ महत्त्वहीन हैं। ईश्वर तर्क का विषय नहीं है। उसे तर्क द्वारा सिद्ध करने के सभी प्रयत्न बेकार होंगे।

1. काण्ट ने सत्तामूलक युक्ति में निम्न दोष पाया है। इस युक्ति में ईश्वर की पूर्णता के विचार से उसकी सत्ता को सिद्ध किया गया है। किसी वस्तु के विचार मात्र से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। सौ डालर नोट की स्पष्ट अवधारणा से मेरी जेब में सौ डालर नोट नहीं आ जाता। इसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। एक दूसरी बात की ओर काण्ट ने जो हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह यह है कि उसके अनुसार अस्तित्व (Existence) कोई गुण नहीं है। सत्तामूलक युक्ति अस्तित्व को गुण मानकर चलती है। पर यह दोषपूर्ण है। सर्वप्रथम किसी वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए। उसके बाद ही उसमें किसी गुण की स्थापना की जा सकती है। यदि अस्तित्व को भी गुण मान लिया जाय तो अनवस्था-दोष अवश्य उत्पन्न हो जायगा। यह युक्ति दोषपूर्ण है।

2. इसी प्रकार काण्ट विश्व-कारण-युक्ति को भी दोषपूर्ण मानते हैं। इसमें ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का कारण माना गया है। पर कठिनाई यह है कि ईश्वर एक अतीन्द्रिय सत्ता है जिस पर कारणता नामक विकल्प आरोपित नहीं किया जा सकता। कारण मानने पर ईश्वर को व्यावहारिक जगत की वस्तु मानी जाएगी जो ठीक नहीं है। दूसरे, ईश्वर एक पूर्ण सत्ता है। पूर्ण सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। ऐसी स्थिति में कारण कार्य का भाव ही कैसे उत्पन्न हो सकता है ? विश्व-कारण युक्ति हमें एक उभयतोपाश (Dilemma) की ओर अग्रसर करती है—

(अ) यदि ईश्वर कारण-कार्य श्रृंखला की एक कड़ी है तो वह कभी भी पारमार्थिक नहीं कहा जायेगा।

(ब) यदि ईश्वर कारण-कार्य श्रृंखला की एक कड़ी नहीं है तो वह जगत का कारण हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण काण्ट निष्कर्ष निकालते हैं कि ईश्वर की सत्ता को किसी युक्ति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

3. उपर्युक्त दोनों युक्तियों की तरह भौतिक-धार्मिक युक्ति भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में असफल रहती है। यह युक्ति संसार की व्यवस्था और स्वभाव को देख कर एक परमसत्ता के अस्तित्व का अनुमान करती है। जगत के भीतर हम जो व्यवस्था, क्रम, सौन्दर्य

और विधान देखते हैं, उससे हम यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रह सकते कि इसकी सृष्टि किसी बुद्धिमान सत्ता ने की है। यह सृष्टि किसी पूर्ण सत्ता द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। वह सत्ता ईश्वर है।

(1) भौतिक-धार्मिक युक्ति की आलोचना करते हुए काण्ट कहते हैं कि यह युक्ति किसी बहुत बड़े बुद्धिमान प्राणी की सत्ता सिद्ध करती है ; यह पूर्ण ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं करती। (2) दूसरे, उपर्युक्त युक्ति सादृश्य-अनुमान (Argument from Analogy) पर आधारित है। जिस प्रकार मनुष्य कुर्सी, मेज और घर का निर्माण कर लेता है उसी प्रकार ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया है। पर हम जानते हैं कि सादृश्य-अनुमान से किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। (3) उपर्युक्त युक्ति में तीसरा दोष यह है कि यह उपादान कारण, स्वरूप कारण, निमित्त कारण एवं लक्ष्य-कारण के भेद पर आधारित है। अतः इस युक्ति द्वारा अधिक से अधिक एक विश्व-कर्मा (World-Architect) की ही सिद्धि होती है, इससे किसी जगत-सृष्टा की सिद्धि नहीं होती जो उपादान, स्वरूप, निमित्त और लक्ष्य कारण सब कुछ है। (4) भौतिक-धार्मिक युक्ति में चौथा दोष यह है कि यह जहाँ तक आनुभविक वस्तुओं के चरमकारण का अनुसंधान करती है, इसमें और विश्व-कारण (Cosmological) युक्ति में कोई अन्तर नहीं है। इन्द्रियानुभव के आधार पर हम किसी अतीन्द्रिय वस्तु की स्थापना नहीं कर सकते। (5) जब हम ईश्वर को भौतिक जगत का कारण मानते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम कारणता नामक बुद्धि-विकल्प को एक अतीन्द्रिय सत्ता पर प्रयोग कर रहे हैं जो स्वीकार्य नहीं है। बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग अनुभव की परिधि के भीतर ही किया जा सकता है। भौतिक-धार्मिक युक्ति इस नियम का उल्लंघन करती है।

उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर काण्ट निष्कर्ष निकालता है कि हम युक्तियों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि काण्ट ईश्वर के अनस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। तर्क-बुद्धि न तो ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करने में सक्षम है और न उसके अनस्तित्व का प्रतिपादन करने में समर्थ है। अतीन्द्रिय ईश्वरवाद की केवल निषेधात्मक उपयोगिता है। यह ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों की समीक्षा करता है। ईश्वरवाद के विरोध में यह कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व होते हुए भी हम उसे नहीं जान सकते। अनीश्वरवाद के विरोध में यह कहता है कि नैतिक चेतना के द्वारा हमें ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। काण्ट कहता है कि मनुष्य द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति का महत्त्व तभी हो सकता है जब कि एक ऐसा पुरूष हो जिसने निःश्रेयस की सिद्ध कर ली हो। निःश्रेयस की सिद्धि करने वाला पुरुष ही ईश्वर है।

काण्ट के दर्शन की समीक्षा

काण्ट एक महान दार्शनिक थे। ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में जितना विस्तृत, पुष्ट एवं पूर्ण दर्शन उन्होंने स्थापित किया वह श्लाघनीय ही कहा जाएगा। ज्ञान-मीमांसा के सभी सूक्ष्मतम पहलुओं पर काण्ट ने विस्तृत विचार प्रस्तुत किया। स्वलक्षण-वस्तुओं, संवेदनाओं, देश-काल, आकृति-कल्प, संश्लेषण-सिद्धान्त, बुद्धि-विकल्प, बुद्धि के सिद्धान्त एवं अतीन्द्रिय आत्मा तथा प्रज्ञा के विज्ञानों का जितना सूक्ष्म व सम्यक् विश्लेषण काण्ट ने उपस्थित किया उतना अन्यत्र मिलना असम्भव ही है। ह्यूम के संशयवाद ने भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं ईश्वर विज्ञान

इन तीनों की नींव हिला दी थी। काण्ट ने पुनः इन विज्ञानों में मनुष्य की आस्था को स्थापित किया। उन्होंने घोषित किया कि निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव है। वह संवृत्यात्मक ज्ञान भले ही हो, पर अपने क्षेत्र में वह निश्चयात्मक ज्ञान ही कहा जायेगा।

ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में काण्ट की दूसरी महान देन यह है कि उन्होंने ज्ञान के आनुभविक अनुबन्धिता (Empirical Conditionality) के स्थान पर अतीन्द्रिय अनुबंधिता (Transcendental Conditionality) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने अनुभव किया कि यदि ज्ञान की आनुभविक अनुबन्धिता को स्वीकार कर लिया जाता है तो हम ह्यूम के संशयवादी निष्कर्षों से अपने को नहीं बचा सकते। यदि निश्चयात्मक ज्ञान की प्रतिष्ठा करनी है तो ज्ञान के क्षेत्र में अतीन्द्रिय अनुबंधिता का कोई दूसरा विकल्प नहीं है। काण्ट ने यही किया भी। उसने बताया कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आत्मा की ओर से संवेद्यता के संस्थान, बुद्धि के विकल्पों, प्रज्ञा के विज्ञानों, एवं आत्मा की आवश्यकता होती है एवं बाह्य संसार की ओर से स्वलक्षण-वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार काण्ट ने ज्ञान के दो ध्रुवीय (Bipolar) स्वभाव को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। किन्तु ये दो-ध्रुव आनुभविक न होकर अतीन्द्रिय हैं। स्वलक्षण-वस्तुओं में विश्वास करने से काण्ट दृष्टिसृष्टिवाद (Subjective Idealism) के दोष से तथा आत्माओं में विश्वास करने के कारण वे भौतिकवाद के दोष से बच गए हैं। प्रत्येक ज्ञान के लिए द्रष्टा और दृश्य दोनों की आवश्यकता होती है।

काण्ट के दर्शन पर आक्षेप करते हुए कुछ विचारक कहते हैं कि यदि ज्ञान में ज्ञेय प्रदत्त वस्तु नहीं है बल्कि आत्मा के अतीन्द्रिय विकल्पों द्वारा निर्मित (Constructed) है तो फिर यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्ष का भेद ही मिट जायगा। पर यह आक्षेप काण्ट के दर्शन के अज्ञान के कारण है। जब काण्ट कहते हैं कि "बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है" तो वे बुद्धि शब्द का प्रयोग किसी मनोवैज्ञानिक या ज्ञानमीमांसीय अर्थ में नहीं करते। यदि बुद्धि शब्द का प्रयोग किसी मनोवैज्ञानिक या ज्ञानमीमांसीय अर्थ में किया जाय तो यह केवल गलत ही नहीं होगा वरन् व्याघातक भी माना जायेगा। बुद्धि या जीवात्मा इन अतीन्द्रिय विकल्पों का स्रोत नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं जीवात्माएँ इन अतीन्द्रिय विकल्पों पर आश्रित हैं। ज्ञान के अतीन्द्रिय अनुबन्धों को मानसिक कहना "अतीन्द्रिय विस्थापन के दोष" (Fallacy of Transcendental Dislocation) में फँस जाना होगा। बुद्धि-विकल्पों का वास्तविक स्रोत जीवात्मा नहीं वरन् विशुद्ध आत्मा या परमात्मा है। तभी उनके भीतर वस्तुनिष्ठ वैधता पाई जाती है। जीवात्माओं एवं स्वलक्षण-वस्तुओं दोनों को ईश्वर उत्पन्न करता है। इस प्रकार काण्ट का दर्शन दृष्टि-सृष्टिवाद न होकर वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) है जहाँ सभी कुछ ईश्वर के ऊपर आश्रित है

काण्ट के दो सुप्रसिद्ध शिष्यों एडवर्ड केयर्ड (Edward Caird) और एच० जे० पेटन (H.J. Paton) ने काण्ट के दर्शन की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। केयर्ड ने काण्ट के दर्शन की विज्ञानवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके विपरीत पेटन ने वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। केयर्ड शिकायत करते हैं कि काण्ट का दर्शन एक ओर ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को मिटा देता है तो दूसरी ओर इस भेद को अन्त तक कायम रखता है। वे कहते हैं, "एक

ओर कहा जाता है कि चैतन्य से स्वतन्त्र सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है, तो दूसरी ओर चैतन्य से स्वतन्त्र सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।[1]

पर ऊपर केयर्ड द्वारा जो काण्ट की आलोचना प्रस्तुत की गई है वह ठीक नहीं है। केयर्ड ने यहाँ चैतन्य (Thought) शब्द का गलत अर्थ लगाया है। यहाँ चैतन्य का तात्पर्य किसी व्यक्ति के चैतन्य से न होकर परम चैतन्य से है। अतः यदि कोई वस्तु चैतन्य पर आश्रित है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह प्रदत्त (Given) नहीं हो सकती। यदि प्रदत्त के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय तो प्रत्यक्ष और भ्रम में अन्तर ही नहीं रह जाएगा। हमारी समझ से पेटन द्वारा काण्ट की व्याख्या केयर्ड की व्याख्या से कहीं अधिक संतुलित है। पेटन कहते हैं "जगत् एक प्रदत्त है। वह हमारी बुद्धि या कल्पना की उपज नहीं है।"[2] स्वलक्षण-वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षों के कारण भले ही न हों पर वे प्रत्यक्ष के अतीन्द्रिय अनुबन्ध अवश्य हैं। स्वलक्षण-वस्तुओं का अस्तित्व काण्ट के दर्शन के लिए अत्यावश्यक है।

काण्ट के अनुसार मनुष्य में बौद्धिक संवेदना या प्रतिभान (Intellectual Intuition) की शक्ति नहीं है जिससे कि वह स्वलक्षण-वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सके। पर इसके आधार पर एक ऐसे अतिमानव की कल्पना की जा सकती है जिसके भीतर बौद्धिक संवेदना की शक्ति विद्यमान हो। वह ज्ञान कल्पनापोह या निर्विकल्प-प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। जहाँ तक सीमित मानवों का प्रश्न है उनके लिए स्वलक्षण-वस्तुएँ तार्किक संभावनाएँ (Logical Possibilities) मात्र हैं। जहाँ तक ज्ञान के विषय को हमारी बुद्धि निर्मित करती है वे संवृति मात्र ही हैं। वास्तविक ज्ञान तो वह होगा जिसे हमारी चेतना केवल प्रकाशित करती है। काण्ट चैतन्य के रचना-सिद्धान्त (Construction-Theory) में विश्वास न कर प्रकाशन-सिद्धान्त (Revelation-Theory) में विश्वास करते हैं। इसी कारण काण्ट स्वलक्षण-वस्तुओं को ही एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व स्वीकार करते हैं।

काण्ट के दर्शन के बाद किसी भी दार्शनिक को यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि ज्ञान की उत्पत्ति केवल प्रागनुभविक विज्ञानों से ही हो सकती है या केवल संवेदनाओं से ही हो सकती। काण्ट के अनुसार ज्ञान वह साकल्य (Whole) है जिसमें सामान्य और विशिष्ट दोनों तत्त्वों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः काण्ट के बाद विषयी और विषय का द्वैत सम्भव नहीं हो सकता। यह ठीक है कि प्रारम्भ में काण्ट ने स्वयं अपने दर्शन के अनिवार्य आपादनों को नहीं समझा, पर इससे उनके दर्शन का महत्त्व कम नहीं हो जाता। विषयी और विषय के सापेक्ष होने पर यह निष्कर्ष निकालना आसान हो जाता है कि दोनों एक ही आधार-भूत तत्त्व की निष्पत्तियाँ हैं। इस प्रकार काण्ट का दर्शन वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) की ओर अग्रसर होता है।

काण्ट के दर्शन में जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं जैसे उसका अज्ञेयवाद और संवृतिवाद, वे उसके द्वैतवाद (Dualism) के कारण उत्पन्न हुई हैं। काण्ट ने अपनी ज्ञान-मीमांसा के प्रारम्भ में ही जो जीवात्मा और स्वलक्षण-वस्तुओं के बीच द्वैत स्थापित कर दिया था उससे अज्ञेयवाद के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती थी।

1. केयर्ड, क्रिटिकल फिलॉसॉफी, 550
2. Paton, Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I., P. 70

आत्मा और प्रज्ञा, प्रज्ञा और बुद्धि, बुद्धि और संवेद्यता, संवेद्यता और संवेदना तथा संवेदना और स्वलक्षण-वस्तुओं के बीच जो काण्ट ने द्वैत स्थापित कर दिया था उससे अज्ञेयवाद के सिवा अन्य किसी वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती थी। काण्ट ने अपनी प्रथम समीक्षा (Critique) में स्व-लक्षण-वस्तुओं को भौतिक माना। किन्तु जब उन्होंने देखा कि चित् और अचित् के द्वैत से ज्ञान की समस्या का सम्यक् समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता तो तृतीय समीक्षा में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि स्वलक्षण-वस्तुएँ (Ding-an-sich) भौतिक न होकर चेतन सत्ताएँ हैं। जब तक काण्ट उन्हें भौतिक मानता रहा, तब तक ज्ञान की समस्या का समाधान हो ही नहीं सकता था।

संक्षेप में : "प्रज्ञा के उपेक्षक काण्ट ने पुरोहित बनकर विशुद्ध ज्ञाता के साथ इन्द्रिय-संवेदना को वैवाहिक सूत्र में बाँध दिया था। इस 'अनुचित सम्बन्ध' से द्वैतवाद और 'अज्ञेयवाद' रूपी दो वर्ण-संकर उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने न केवल अपने पिता के विशुद्ध नाम को ही कलंकित किया है किन्तु उसे पुनीत पुरोहित पर भी कलंक के छींटे मारे हैं जिसने इनके माता-पिता को एक सूत्र से बाँधने का दुःसाहस किया। इन दोषों के होने पर भी काण्ट की कीर्ति महनीय और उनकी महत्ता व्यापक है।"[1]

□□□

1. डॉ० शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, पृ० 186

5

जर्मन विज्ञानवाद
(German Idealism)

फ़िक्टे, शेलिंग और हेगल
(Fichte, Schelling and Hegel)

हमने काण्ट के दर्शन में देखा कि उसमें स्वलक्षण-वस्तुओं की कल्पना सबसे अधिक दोषपूर्ण कल्पना थी। यद्यपि काण्ट ने उसे पूर्ण रूप में अज्ञेय नहीं माना था फिर भी उसके समकालीन एवं परवर्ती दार्शनिकों ने स्व-लक्षण-वस्तुओं को अपनी आलोचना का प्रमुख विषय चुना। सर्वप्रथम स्व-लक्षण-वस्तुओं की कल्पना एक अमूर्त विचार के रूप में प्रकट होती है। पुनः, वह प्रज्ञा का एक अनिवार्य विज्ञान बन जाती है, एक नियामक विज्ञान जो आत्मा, जगत और ईश्वर के माध्यम से विभिन्न वस्तुओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है ; अन्त में, स्वलक्षण-वस्तुएँ स्वातन्त्र्य (Freedom), व्यावहारिक प्रज्ञा (Practical Reason) और संकल्प-शक्ति (Will) का रूप धारण कर लेती हैं। काण्ट स्वीकार करते हैं कि हमारे अन्दर बौद्धिक-प्रतिभान नहीं है जिसके द्वारा हम स्वलक्षण-वस्तुओं का निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त कर सकें ; हाँ, नैतिक चैतन्य और सौन्दर्यानुभूति के द्वारा हम तत्त्व का साक्षात्कार अवश्य कर सकते हैं। काण्ट ने आस्था (Faith) में भी विश्वास प्रकट किया था। उसका दर्शन मस्तिष्क और हृदय दोनों को एक साथ संतुष्ट करने की क्षमता रखता था। जर्मन दार्शनिकों को यह बात अधिक पसन्द आई। हम काण्ट के दर्शन में ही संकेत कर चुके हैं कि उसका दर्शन निरपेक्ष विज्ञानवाद (Absolute Idealism) की स्पष्ट भूमिका तैयार करता है। निरपेक्ष विज्ञानवाद जर्मन दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है। इसी के परिणामस्वरूप काण्ट के उत्तरवर्ती काल में विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई जिसके फ़िक्टे, शेलिंग और हेगल गणमान्य प्रतिनिधि हैं।

काण्ट के उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने एक साथ अनुभव किया कि काण्ट की सभी कठिनाइयों का एकमात्र कारण उसका आत्मा और स्वलक्षण-वस्तुओं का द्वैत था। इस द्वैतवाद को अस्वीकार कर उन्होंने अद्वैत-रूप चैतन्य को ही एकमात्र तत्त्व माना। चैतन्य एक आत्म-निर्धारक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो दर्शन की सारी समस्याओं को सुलझाने की शक्ति रखती है। यह आत्म-निर्धारक आध्यात्मिक शक्ति हमारे ज्ञान में एकता स्थापित करती है, बुद्धि-विकल्पों को संगठित करती है, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रज्ञा के बीच समन्वय स्थापित करती है तथा यान्त्रिकवाद (Mechanism) और प्रयोजनवाद (Teleology) के द्वैत को दूर करने में सहायक होती है। दर्शन एक निरपेक्ष विज्ञान है। तथ्यों के आनुभविक ज्ञान से ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि ज्ञान का अर्थ तत्त्व की सक्रिय, सजीव, संश्लेषणात्मक व आध्यात्मिक प्रक्रिया का ज्ञान है तो इसकी सिद्धि ऐसे आनुभविक ज्ञान द्वारा नहीं हो सकती

जिसकी गति परमार्थ तक न होकर केवल संवृति तक ही सीमित है। इस विषय में फिक्टे, शेलिंग और हेगल तीनों एक मत हैं।

सर्वप्रथम हम फिक्टे के दर्शन पर विचार करेंगे।

1. फ़िक्टे (Fichte)

फ़िक्टे का जीवन-वृत्त (1762-1814)—जॉन गाटलीब फ़िक्टे (Johann Gottlieb Fichte) का जन्म जर्मनी के एक गरीब बुनकर परिवार में सन् 1762 में हुआ था। वे असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति थे। बचपन में उनकी प्रतिभा देखकर एक धनी व्यक्ति ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी। सर्वप्रथम उन्होंने जेना और लीपजिग विश्वविद्यालयों में धर्म-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। पर गरीबी के कारण बीच-बीच में उन्हें अपना अध्ययन बन्द कर देना पड़ता था। कुछ दिनों तक गृह-शिक्षक के रूप में जब वे कुछ द्रव्य एकत्रित कर लेते थे, पुनः अध्ययन-कार्य आरम्भ कर देते थे। सन् 1790 में कुछ विद्यार्थियों ने उनसे काण्ट के दर्शन को पढ़ने की जिज्ञासा प्रकट की जिसके कारण उन्हें काण्ट के समीक्षात्मक दर्शन को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। काण्ट के दर्शन ने उनके जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी और उनके जीवन की दिशा का निर्देशन किया। 1794 में वे जेना विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त किए गए। वहीं उन्होंने अपने नवीन विज्ञानवाद की स्थापना की जो सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में सुधार करने का दावा करता है। उनकी 'श्रुति-परीक्षा' (Critique of All Revelation) नामक रचना को देखकर काण्ट पर्याप्त प्रभावित हुए और उसके प्रकाशन की व्यवस्था भी करा दी।

रचनाएँ—अपने जेना के कार्य-काल में फ़िक्टे ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें ज्ञान का विज्ञान (Science of Knowledge), प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) एवं नीति-विज्ञान सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनके निबन्ध 'दैवी जागतिक व्यवस्था में हमारे विश्वास के आधार' (On the Ground of our Belief in a Divine World Order) जिसमें उन्होंने ईश्वर और जगत के बीच तादात्मय-सम्बन्ध स्थापित किया था, के कारण उनके विरुद्ध अनीश्वरवाद का आक्षेप लगाया गया। इस आक्षेप के कारण फ़िक्टे ने जेना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के पद का परित्याग कर दिया और फिर बर्लिन चले गए जहाँ उन्होंने एक विश्वविद्यालय की स्थापना की।

मौलिक तत्त्व का स्वरूप

फ़िक्टे के दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त उनके संकल्प-स्वातन्त्र्य का विचार है। उनके अनुसार आत्मा संसार की अन्य वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं है अथवा आत्मा किसी कारण-कार्य शृंखला की कोई कड़ी नहीं है। **आत्मा एक स्वतन्त्र आत्मनिर्धारक प्रक्रिया** (Self-determining Activity) है। यही वास्तविक सत्ता है। यह जीवन, चैतन्य, ज्ञान, व्यवहार तथा सभी अनुभव-जगत का आधार है। आत्मा ही सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बुद्धि के बीच समन्वय स्थापित करती है। आत्म-तत्त्व स्वप्रकाश और स्वयं-ज्योति है। यह स्वतः सिद्ध है, इसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। आत्मा चित्शक्ति रूप है और चैतन्य संकल्प-रूप है। अपनी चित्शक्ति के कारण ही आत्मा चैतन्य और आत्म-चैतन्य

(Self-Consciousness) दोनों रूपों में प्रकट होती है। आत्म-चैतन्य में आत्मा स्वयं अपने को विषयी और विषय रूप में विभाजित कर अपने द्वारा ही अपना ज्ञान करती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा तो ज्ञाता है, वह ज्ञेय कैसे बन सकती है ? इससे सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न भी है। आत्मा ही एकमात्र तत्त्व है और वह ज्ञाता-रूप है पर बिना ज्ञेय के अस्तित्व के ज्ञाता का ज्ञातृत्त्व कैसे सार्थक हो सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए फिक्टे कहते हैं कि आत्मा स्वयं अपने आप को अपनी संकल्प-शक्ति से अनात्म रूप में प्रकट करती है तथा अनात्म को अपना ज्ञेय मानकर अपना ज्ञातृत्त्व सिद्ध करती है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और अजीव तथा चित् और अचित् दोनों एक ही आत्म-तत्त्व के दो विभिन्न रूप हैं। एक ही आत्म-तत्त्व के दो फलक होने के कारण आत्मा और अनात्मा में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्मा स्वयं अपनी स्वतंत्र संकल्प-शक्ति के कारण अपने को **परिसीमित** कर जीव और जगत के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि इसी परिसीमन के माध्यम से ही वह जीव-जगत की खण्डता व अपनी अखण्डता का ज्ञान प्राप्त करती है। चूँकि जीव-जगत का यह भेद अस्थायी, कल्पित व अतात्त्विक है, अतः उनके बीच समन्वय होना अनिवार्य है। यह आत्म-चैतन्य या स्वसंवेदन में सिद्ध होता है। आत्म-चैतन्य में विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक होकर परमात्म-रूप हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा को स्वानुभूति प्राप्त होती है।

मौलिक तत्त्व का ज्ञान

अब हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम इस मौलिक तत्त्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ? फिक्टे के अनुसार नैतिक नियम (Moral Law) के माध्यम से ही हम तत्त्व-साक्षात्कार कर सकते हैं। काण्ट की तरह फिक्टे भी स्वीकार करते हैं कि विमर्शात्मक बुद्धि (Discursive Understanding) के द्वारा हमें तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पर हमारा जीवन केवल विमर्शात्मक चिन्तन तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो कारण-कार्य-शृंखला में आबद्ध प्रकृति से हमें कभी मुक्ति ही नहीं मिलती। पर बात ऐसी नहीं है। हमारे पास स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति से उत्पन्न एक ऐसा **बौद्धिक प्रतिभान** विद्यमान है जो विश्व में निहित प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त करा देता है जिसके द्वारा हम प्रकृति के नियतिवाद से अपने को मुक्त करने में सफल हो जाते हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य, **नैतिक नियम एवं कर्त्तव्य-भावना** को तुष्ट करने से ही हमें तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इस सवातन्त्रय की प्राप्ति का एक व्यावहारिक साधन हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए **बाह्य प्रतिरोध** अनिवार्य है। जब तक हम बाह्य प्रतिरोध का सफलतापूर्वक निराकरण नहीं कर लेते तब तक हम स्वतन्त्र कैसे कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जीवात्मा और जगत दोनों सापेक्षिक सत्ताएँ हैं और अभिव्यक्ति के लिए दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता है। विमर्शात्मक चिन्तन द्वारा नही वरन् नैतिक आदर्शों के अनुशीलन से ही तत्त्व-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार फिक्टे के दर्शन को **नैतिक विज्ञानवाद** (Ethical Idealism) की संज्ञा दी जा सकती है।

बाह्य जगत

फिक्टे एक निरपेक्ष विज्ञानवादी दार्शनिक हैं। वे आत्मा को ही एक मात्र तत्त्व मानते

हैं। उनके अनुसार आत्मा के बाहर किसी भौतिक वस्तु या स्व-लक्षण-वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आन्तरिक मानसिक चैतन्य के आधार पर हम बाह्य भौतिक वस्तुओं की व्याख्या कैसे कर सकते हैं ? भौतिक जगत की व्याख्या के लिए फिक्टे ने **परिच्छेद या परिसीमन** (Limitation or Determination) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपनी स्वतन्त्र संकल्प शक्ति के कारण परमात्म-तत्त्व अपने को परिसीमित करके एक ओर जीवात्मा (Ego) के रूप में और दूसरी ओर अनात्म (Non-Ego) या **वस्तु-जगत** के रूप गें अभिव्यक्त होता है। परमात्म-तत्त्व अपने को परिसीमित करके जीव और जगत के रूप में क्यों प्रकट होता है, फिक्टे के अनुसार इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं की जा सकती। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यदि परमात्म-तत्त्व अपने को परिसीमित करके जीव और जगत के रूप में प्रकट न करे तो उसकी सार्थकता चरितार्थ ही नहीं हो सकती। जीव और जगत् जो परमात्म-तत्त्व से उत्पन्न हैं, भिन्न भले हों पर वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। अतः, उनकी भिन्नता में समन्वय होना अनिवार्य है। यह समन्वय सिद्ध आत्मा (Realised Ego) के रूप में होता है। यहाँ जीवात्मा (Ego-in-itself) पक्ष (Thesis) है, जगत (Ego-outside-itself) विपक्ष (Anti-thesis) है तथा सिद्ध आत्मा (Ego-in-and-for-itself) संपक्ष (Synthesis) है। पक्ष, विपक्ष और संपक्ष तीनों एक ही आत्मा की स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति के परिणाम हैं। आत्मा के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

आत्मा की उपर्युक्त द्वन्द्वात्मक (Dialectical) गति के आधार पर फिक्टे ने तीन नियमों की स्थापना की है : तादात्म्य (Identity), विरोध (Contradiction) और पर्याप्त कारण (Sufficient Reason)। इन्हीं को क्रमशः सत्ता (Reality), निषेध (Negation) और सीमा (Limitation) कहा जा सकता है। ये तीनों नियम आत्मचैतन्य के भीतर ही कार्य करते हैं। आत्मा अपने को परिसीमित करके जगत को उत्पन्न करती है, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि जगत भ्रम है। जगत उतनी ही वास्तविकता है जितनी कि आत्मा। जगत के भ्रम होने का प्रश्न तब उत्पन्न होता जब कि आत्मा से स्वतन्त्र स्वलक्षण-वस्तुओं (Things-in-themselves) का अस्तित्व होता। स्वलक्षण-वस्तुओं के अभाव में जगत को भ्रम कभी नहीं कहा जा सकता।

वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद

(Objective Idealism)

जब फ़िक्टे यह कहते हैं कि जगत की उत्पत्ति आत्म-चैतन्य से होती है, लोग बड़ी आसानी से इसे आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism) समझ कर फ़िक्टे के ऊपर दोषारोपण प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु जब फ़िक्टे जगत को आत्मा से उत्पन्न करते हैं तो यह आत्मा जीवात्मा न होकर विशुद्धात्मा (Pure Ego) होती है। विशुद्ध आत्मा जीवात्मा और वाह्य जगत दोनों का तात्त्विक व तार्किक अधिष्ठान है। साधारण ज्ञान द्वारा नहीं वरन् बौद्धिक प्रतिभान द्वारा ही हमें इसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। काण्ट ने प्रज्ञा को इस प्रकार के ज्ञान से वंचित कर दिया था पर फ़िक्टे प्रज्ञा द्वारा इस प्रकार के ज्ञान को सम्भव मानते हैं। जगत का आधार जीवात्मा न होकर परमात्मा (God) है। इस प्रकार फिक्टे का दर्शन न

दृष्टि-सृष्टिवाद है और न आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद। यह विशुद्ध वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) है। एक ही सार्वभौम आध्यात्मिक तत्त्व जीवात्माओं और जगत की वस्तुओं को एक ही सूत्र में बाँधे हुए है। आत्माएँ और वस्तुएँ एक ही तत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह आध्यात्मिक तत्त्व कोई स्थैतिक द्रव्य नहीं है वरन् एक सजीव, सक्रिय आत्मनिर्धारक प्रक्रिया है जो संसार की विभिन्न वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार फ़िक्टे ज्ञानामीमांसीय विज्ञानवाद के स्थान पर तत्त्वमीमांसीय विज्ञानवाद में विश्वास करते हैं। उन्होंने अपने दर्शन को **वास्तविक विज्ञानवाद** (Real Idealism) की संज्ञा दी है।

सार्वभौम असीम चैतन्य किस प्रकार अपने को जीवात्माओं और बाह्य वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त करता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फ़िक्टे कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश सामने अवरोध आने पर पहले बिखर जाता है और पुनः अपने स्रोत की ओर लौट पड़ता है, ठीक उसी प्रकार सार्वभौम चैतन्य अपने को परिसीमित कर अनेक आत्माओं और वस्तुओं के रूप में प्रकट होता है और पुनः समन्वित होकर आत्म-चैतन्य का रूप धारण कर लेता है। ये सारी प्रक्रियाएँ नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। इसके अतिरिक्त इनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। जीवात्मा के भीतर ऐसी क्षमता है कि वह बाह्य प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके सार्वभौम तत्त्व प्राप्त कर सकता है क्योंकि जीवात्मा अन्ततः परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

2. फ्रेडरिक विल्हम जोजेफ शेलिंग
(Friedrich Wilhelm Joseph Schelling)
(1775-1854)

जीवन-वृत्त—शेलिंग जर्मन विज्ञानवाद के दूसरे गणमान्य दार्शनिक हैं। इनका जन्म जर्मनी के लियोनबर्ग नगर में हुआ था। वे अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे। सर्वप्रथम उन्होंने ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में दर्शन एवं धर्मशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। कुछ दिनों तक शेलिंग ने व्यक्तिगत शिक्षक के रूप में विद्यार्थियों को पढ़ाया और सन् 1798 में वे जेना विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के आचार्य नियुक्त किये गये। वे हेगल के सहपाठी और मित्र थे। जब म्यूनिख में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, शेलिंग वहाँ दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त किए गये। बाद में वे बर्लिन चले गये। उस समय योरोप में स्वच्छन्दवादी (Romantic) प्रवृत्ति बड़ी तेजी से बढ़ रही थी और शेलिंग ने भी इसमें अपना योगदान किया। वे विज्ञान-परिषद (Academy of Sciences) और शिल्प परिषद (Academy of Plastic Arts) के अध्यक्ष भी थे।

रचनाएँ—शेलिंग की सभी कृतियों का संग्रह चौदह भागों में प्रकाशित हुआ है जिन्हें उनके पुत्र ने सम्पादित किया है। "मानवीय स्वातन्त्र्य" (On Human Freedom) एवं 'विश्व के युग' (Ages of the World) इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

प्रकृति-दर्शन
(Philosophy of Nature)

फ़िक्टे और शेलिंग के दर्शनों में पर्याप्त समानताएँ पाई जाती हैं। दोनों ही इस बात

में एकमत हैं कि आत्मा और अनात्मा में या चित् और अचित् में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। दोनों ही एक तृतीय परम तत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह परम तत्त्व निरपेक्ष चैतन्य स्वरूप है जिसमें क्रियाशीलता, जीवन-शक्ति और संकल्प सब कुछ पाया जाता है। यह एक आत्म-निर्धारक क्रिया-शक्ति है जो विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती है। परम-तत्त्व की चित शक्ति आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) रूप है जिसमें आत्मा और अनात्मा का समन्वय पाया जाता है। तत्त्व अद्वैत रूप नहीं वरन् विशिष्टाद्वैत रूप है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी फ़िक्टे और शेलिंग के विचारों में कुछ मौलिक भेद पाया जाता है। प्रथम भेद तो यही है कि जिस परम तत्त्व को फ़िक्टे आत्मा (Ego) कहता है उसी परम तत्त्व को शेलिंग ने प्रकृति (Nature) नाम दिया है। पर 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि शेलिंग का परम तत्त्व जड़ रूप है। फ़िक्टे की आत्मा और शेलिंग की प्रकृति दोनों चैतन्य रूप हैं और दोनों जीवात्मा और जगत के अधिष्ठान हैं। दोनों के बीच तीसरा भेद यह है कि फिक्टे के लिए जगत एक बन्धन या अवरोध है, पर नैतिक प्रगति के लिए यह आवश्यक भी है क्योंकि जगत का अतिक्रमण करके ही मनुष्य नैतिक प्रगति कर सकता है। फ़िक्टे की अभिधारणा थी कि "**प्रकृति हमारे कर्त्तव्य का आधार है।**"[1] पर जगत के विषय में शेलिंग का विचार इससे भिन्न है। उनके अनुसार प्रकृति नैतिक प्रगति का अवरोधक नहीं वरन सहायक है। वास्तव में जगत स्वयं आत्म-स्वरूप है। आत्मा से भिन्न जड़ का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब जगत आत्म-स्वरूप है, यह आत्मा की प्रगति में अवरोध कैसे उत्पन्न कर सकता है। आत्मा और प्रकृति का तादात्म्य स्थापित करते हुए शेलिंग कहते हैं—"**प्रकृति दृश्य आत्मा है और आत्मा अदृश्य प्रकृति है।**"[2] जब आत्मा और प्रकृति दोनों का स्वभाव एक है तो उनमें विरोध की कल्पना ही किस प्रकार की जा सकती है। दोनों के बीच चौथा भेद यह है कि फ़िक्टे की चैतन्य की कल्पना बड़ी सीमित है। वह चैतन्य का अर्थ चेतन चैतन्य (Conscious Intelligence) से लेता है। पर शेलिंग की चैतन्य की कल्पना पर्याप्त विस्तृत है। वे चैतन्य के भीतर दार्शनिकों के आत्म-चैतन्य से लेकर अचेतन, मूल-प्रवृत्त्यात्मक तथा उद्देश्यमूलक प्रक्रियाओं को भी समाहित करते हैं। दोनों में पाँचवाँ भेद यह है कि फ़िक्टे के दर्शन में जीवात्मा और जगत के बीच पक्ष और विपक्ष का भेद है पर शेलिंग के दर्शन में आत्मा जगत का ही एक विकसित रूप है। जहाँ फ़िक्टे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical Process) में विश्वास करते हैं, वहीं शेलिंग विकास की प्रक्रिया (Evolutionary Process) में विश्वास करते हैं। स्पिनोजा के दर्शन के समान यहाँ विस्तार और चैतन्य निरपेक्ष तत्त्व के समानान्तर गुण नहीं हैं वरन् वे विकास-प्रक्रिया के दो भिन्न सोपान हैं। जड़ एक प्रकार का सुप्त चैतन्य है। वनस्पतियों में प्राणशक्ति तथा पशुओं में चैतन्य का विकास पाया जाता है। मनुष्यों में चैतन्य का अधिकतम विकास पाया जाता है जो स्व-चैतन्य रूप होता है। वैसे ईश्वर या परमात्मा (World Soul) में चैतन्य की पराकाष्ठा पाई जाती है जहाँ पूर्ण समन्वय पाया जाता है। शेलिंग का यही विकासवाद है।

---

1. "Nature is the material of our duty."
2. "Nature is visible spirit and spirit is invisible nature."

आत्मा का दर्शन
(Philosophy of Mind)

शेलिंग द्वारा प्रस्तुत आत्मा का दर्शन उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "अतीन्द्रिय विज्ञानवाद का निकाय" (System of Transcendental Idealism) में विस्तारपूर्वक दिया गया है। इसमें विभिन्न कालों में आत्म-चैतन्य का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्राथमिक संवेदनाएँ किस प्रकार सर्जनात्मक कल्पना और अनुचिन्तन (Reflection) से होते हुए निरपेक्ष संकल्प-शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं, इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जिस प्रकार फ़िक्टे के दर्शन में निरपेक्ष आत्मा स्वयं को सीमित कर एक ओर जीवात्मा और दूसरी ओर जगत का निर्माण करती है, ठीक उसी प्रकार शेलिंग के दर्शन में **निरपेक्ष बुद्धि** (Absolute Reason) सर्वप्रथम अपने को परिसीमित कर बाह्य **अचेतन प्रकृति** (Inorganic Nature) का निर्माण करती है और इसके बाद आत्म-चैतन्य की प्राप्ति के लिए **जीवात्माओं** (Organic Nature) का निर्माण करती हैं। फ़िक्टे से शेलिंग का भेद स्पष्ट है। फ़िक्टे के दर्शन में प्रथम जीवात्मा और बाद में बाह्य प्रकृति की उत्पत्ति होती है। बाह्य प्रकृति जीवात्मा के मन में इन्द्रिय-संवेदनाएँ, बुद्धि-विकल्प एवं आत्म-चैतन्य को उत्पन्न करती है। शेलिंग के अनुसार जीवात्मा को संकल्प-स्वातन्त्र्य एवं आत्म-बोध की प्राप्ति के लिए समाज एवं संघटित राज्य की भी आवश्यकता होती है। समाज और संगठित राज्य में हमारी स्वार्थपूर्ण एवं वासनामय भावनाओं का स्वतः उदात्तीकरण हो जाता है और हम नैतिकता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाते हैं। आत्म-चैतन्य की उच्चतम अवस्था हमें कला में दिखाई देती है। कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा प्रकृति की सर्जनात्मक प्रक्रिया का अनुकरण करके निरपेक्ष तत्त्व का साक्षात्कार कर लेती है। तत्त्व स्वयं अपनी सर्जनात्मक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर आत्म-चैतन्य की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। फ़िक्टे के अनुसार नैतिकता मनुष्य की श्रेष्ठतम प्रक्रिया है पर शेलिंग के अनुसार कला मनुष्य का उच्चतम आदर्श है।

प्रकृति और आत्मा दोनों में **त्रिक नियम** (Triadic Law) के अनुसार होता है। प्रकृति में क्रमशः जिन रूपों का विकास होता है, वे हैं—आकर्षण, विकर्षण और गुरुत्वाकर्षण ; चुम्बक, विद्युत और रासायनिकता ; संवेदन, प्रतिवेदन और प्रजनन। आत्मा में विकास के निम्न सोपान हैं : इन्द्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष और बुद्धि-विकल्प। ये सभी आत्मा की चित्शक्ति के धर्म हैं। इन सब की पराकाष्ठा कलात्मक अनुभूति में पाई जाती है।

रहस्यवाद
(Mysticism)

शेलिंग का दर्शन एक प्रकार का सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है जिसमें विश्व को एक सजीव, विकासमान **जैविक इकाई** (Organic Unity) माना गया है। इसमें विषयी और विषय, स्वरूप और द्रव्य तथा आदर्श और यथार्थ सभी अवियोजनीय रूप में पाये जाते हैं। इसमें एकता में अनेकता और अनेकता में एकता पाई जाती है। इसमें अंश का ज्ञान अंशी के ज्ञान के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता ; इसी प्रकार अंशी का ज्ञान भी अंशों के ज्ञान के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता।

अब यहाँ हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस जैविक इकाई का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर में शेलिंग कहते हैं कि **चूँकि जगत बौद्धिक या चेतन है, अतः इसे बुद्धि के द्वारा भलीभाँति जाना जा** सकता है। उनका ज्ञान का आदर्श यह है कि जिस प्रकार विश्व एक अंगी है जिसके अनेक अंग पाये जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी हम एक ऐसे **तन्त्रवद्ध साकल्य** (Systematic Whole) का निर्माण कर सकते हैं जिसमें प्रत्येक वाक्य की सत्यता उस तन्त्र के अन्य वाक्यों एवं तन्त्र की सत्यता पर आधारित होती है। यहाँ उन्होंने स्पिनोजा की रेखागणित की पद्धति को मान्यता दी है। पर आगे चलकर शेलिंग ने अनुभव किया कि कुछ प्रागनुभविक (Apriori) स्वयंसिद्धियाँ पर आधारित तन्त्रवद्ध ज्ञान के आधार पर तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। स्वयंसिद्धियाँ यादृच्छिक होती हैं ; उनमें किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं पाई जाती। यदि हम स्वातन्त्र्य और स्व-निर्धारक तत्त्व को सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें स्वयं स्व-निर्धारक सजीव तत्त्व वनना होगा। इस स्वातन्त्र्य और स्व-निर्धारक सजीव तत्त्व का ज्ञान सहज अनुभूति या **बौद्धिक प्रतिभान** (Intellectual Intuition) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सजीव तत्त्व का ज्ञान स्थैतिक और निर्जीव विकल्पों के माध्यम से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। शेलिंग के अनुसार **"प्रक्रिया का ज्ञान प्रक्रिया के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।"**[1]

ऊपर जिस प्रतिभान की चर्चा की गई उसका स्पष्ट अर्थ समझ लेना आवश्यक है। पहले शेलिंग ने इसका नाम बौद्धिक प्रतिभान रखा। वाद में उन्होंने उसे **कलात्मक अनुभूति** (Artistic Intuition) का नाम दिया। इस परिवर्तन का कारण यह है कि प्रथम शेलिंग के लिए तत्त्व का आदर्श रूप आत्म-चैतन्य या आत्म-अनुचिंतन था जिसका साक्षात्कार वौद्धिक प्रतिभान द्वारा किया जा सकता है। वाद में उन्होंने तत्त्व को एक कलात्मक कृति के रूप में देखा जिसकी प्राप्ति कलात्मक या धार्मिक अनुभूति द्वारा ही की जा सकती है। कलात्मक, धार्मिक या सौन्दर्यानुभूति के द्वारा जीव और जगत् के द्वैत से ऊपर उठकर समन्वयात्मक ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

जार्ज विल्हम फ्रेड्रिक हेगल

(Georg Wilhelm Friedrich Hegel, 1770-1831)

जीवन-वृत्त—हेगल का जन्म जर्मनी के स्टटगार्ट नगर में 1770 में हुआ था। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में उन्होंने धर्म-विज्ञान एवं दर्शन की शिक्षा ग्रहण की। अध्ययन समाप्त करने के वाद उन्होंने कुछ समय तक गृहशिक्षक के रूप में स्विट्जरलैण्ड और फ्रैंकफर्ट में काम किया। 1805 में हेगल जेना विश्वविद्यालय में शेलिंग के सहयोगी नियुक्त किये गये। जेना में युद्ध के कारण उनको अध्यापक का पद त्याग देना पड़ा। कुछ वर्षों तक उन्होंने बैम्बर्ग नगर में एक पत्र का संपादन किया। इन सारी असुविधाओं और परिवर्तनों के बावजूद हेगल के दार्शनिक चिन्तन में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ। 1816 में हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में उन्हें दर्शन के प्रोफेसर-पद पर कार्य करने के लिए आमंत्रित किया गया। दो वर्ष वाद फ़िक्टे की मृत्यू के कारण उन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग का अध्यक्ष

---

1. "Activity can be comprehended only by activity."

नियुक्त किया गया। इस समय से लेकर मृत्यु तक अपनी रचनाओं और दार्शनिक विचारों के कारण वे पूरे जर्मनी के दार्शनिक जगत् का नेतृत्व करते रहे। सन् 1831 में हैजे के कारण उनकी मृत्यु हो गयी।

रचनाएँ—हेगल एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 1807 में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आत्मा की आभासिकी' (Phenomenology of Spirit) प्रकाशित की। 1812 से 1816 तक वे तर्क-शास्त्र (Logic) के प्रणयन में व्यस्त रहे। इन दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने दर्शन के इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म-दर्शन, इतिहास-दर्शन इत्यादि विषयों पर जो व्याख्यान दिये हैं उन्हें उनके विद्यार्थियों ने उन्नीस भागों में प्रकाशित किया है। इन पुस्तकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि हेगल में कितनी उच्चकोटि की प्रतिभा व सृजनात्मक शक्ति विद्यमान थी। उनके अनुसार प्रत्येक दार्शनिक निकाय में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य विद्यमान होता है और सभी पूर्ववर्ती दार्शनिक उनके विचारों के किसी पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक 'तुतलानेवाला हेगल' (Lisping Hegel) कहा जाता था। हेगल के विचारों पर प्लेटो, एरिस्टॉटल, काण्ट, फ़िक्टे और शेलिंग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार हेगल के परवर्ती दार्शनिक जैसे ब्रैडले, बोसांके एवं ग्रीन भी हेगल के दर्शन से पर्याप्त प्रभावित थे।

हेगल और उसके पूर्ववर्ती दार्शनिक

जर्मन मस्तिष्क प्रारम्भ से ही प्रज्ञावादी (Intellectualist) रहा है। काण्ट के दर्शन में थोड़े समय के लिए जर्मनी का प्रज्ञावाद, नीतिवाद (Moralism) में परिवर्तित हो गया था। पर काण्ट के बाद ही व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता का परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर सैद्धान्तिक बुद्धि को सभी प्रकार के अस्तित्व का आधार और केन्द्र माना गया।

लाइब्नित्ज और हेगल जर्मन प्रज्ञावाद के दो प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। लाइब्नित्ज में जर्मन प्रज्ञावाद के आत्मनिष्ठ और मनोवैज्ञानिक पक्ष की प्रधानता है ; इसके विपरीत, हेगल में वस्तुनिष्ठ और ब्रह्माण्डीय पक्ष की विशेषता है। लाइब्नित्ज ने आत्मा के प्रातिनिधिक स्वभाव के आधार पर उसी प्रकार के विश्व की अवधारणा का निर्माण किया ? इसके विपरीत, हेगल ने वैयक्तिक आत्माओं को सार्वभौम निरपेक्ष आत्मा की अभिव्यक्ति मात्र बताया। निरपेक्ष या तार्किक विज्ञान जो सर्वप्रथम अविकसित अवस्था में रहता है, पहले अचेतन प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होता है और पुनः सामाजिक संस्थाओं, कला, धर्म और विज्ञान के द्वारा विकसित होकर मनुष्य में आत्म-चैतन्य के रूप में व्यक्त होता है।

प्रज्ञावाद (Intellectualism) का प्राथमिक प्रमेय है : "**विज्ञान की सिद्धावस्था ही सत् है तथा विज्ञान की विकासशील अवस्था को ही परिणाम कहते हैं।**"[1] इससे हम निम्न निष्कर्ष निगमित कर सकते हैं—

1. निरपेक्ष चैतन्य एक ओर वस्तुओं को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर प्रत्ययों और

---

1. 'All being is thought realised, all becoming a development of thought."

विज्ञानों को विकसित करता है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर वस्तु-जगत की उत्पत्ति होती है तो दूसरी ओर विज्ञान-जगत का निर्माण होता है। दर्शन का कार्य न केवल इन दोनों प्रकार के जगत में सहसम्बन्ध स्थापित करना है वरन दोनों को सुसंगठित कर तन्त्रबद्ध करना भी है। मूल्यों के क्रम में किसी वस्तु का क्या स्थान है, इसका अनुसंधान करना भी दर्शन का एक प्रमुख कार्य है। यह संसार की वस्तुओं की कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत न कर प्रयोजनमूलक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

2. यदि संसार की सभी वस्तुएँ प्रज्ञा या चैतन्य की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक वस्तु प्रज्ञा का ही एक रूप है तो चैतन्य और सत्ता में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं हो सकता। **चित् और सत् अथवा बोध और सत्ता दोनों एक है।**

3. यदि जगत की वस्तुएँ चैतन्य के विकासशील परिणाम है तो दर्शन एक प्रकार का विकासवाद है। संसार की प्रत्येक वस्तु का आदि और अन्त विज्ञान ही है। अतः प्रत्येक वस्तु बोध या विज्ञान स्वरूप है। दर्शन इसी विज्ञान के विविध रूपों एवं वस्तुओं के विकास-क्रम का सुसम्बद्ध अध्ययन करता है। अतः इसकी चरम परिणति **निरपेक्ष विज्ञानवाद** (Absolute Idealism) में ही सम्भव हो सकती है जहाँ सत्ता और बोध दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध पाया जाता है। अतः, हेगल का दर्शन एक प्रकार का विज्ञानवाद है, तादात्म्य का एक निकाय या तन्त्र है तथा विकास का आशावादी सिद्धान्त है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हेगल का विज्ञानवाद फ़िक्टे, शेलिंग या अन्य विज्ञानवादी दार्शनिकों के दर्शन से किस प्रकार भिन्न है ? सर्वप्रथम हम काण्ट के विज्ञानवाद से लेना प्रारम्भ करेंगे। हेगल काण्ट के इस विचार से बिलकुल सहमत है कि **बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है** और बुद्धि के भीतर प्रकृति के निर्माण करने की वास्तविक शक्ति अतीन्द्रिय आत्मा से आती है। जिस प्रकार काण्ट के दर्शन में हमने देखा कि **ईश्वर जीवात्माओं** और **स्वलक्षण-वस्तुओं** दोनों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार हेगल के दर्शन में निरपेक्ष चैतन्य आत्मा और जगत दोनों को उत्पन्न करता है। इन समानताओं के होते हुए भी दोनों के दर्शन में मौलिक भेद है। हेगल को सबसे बड़ी आपत्ति काण्ट के **'अज्ञेय स्वलक्षण'** वस्तुओं के सम्बन्ध में है। हेगल ने इस अज्ञेयवाद की कटु आलोचना की है। जब तत्त्व विज्ञानरूप है तो वह विज्ञानगम्य अवश्य ही होगा। वे बुद्धि या प्रज्ञा की असीम शक्ति में विश्वास करते थे। यदि बाह्य स्वलक्षण-वस्तुएँ वास्तव में अज्ञेय हैं तो हम यह भी कहने के अधिकारी नहीं हैं कि संसार में स्वलक्षण-वस्तुओं का अस्तित्व है। काण्ट को स्वलक्षण-वस्तुओं के विषय में कम-से-कम इतना ज्ञान तो अवश्य ही है कि उनकी सत्ता है ? वे द्रव्य रूप है तथा वे हमारे संवेदनों के कारण हैं। इतना ज्ञान होने पर भी स्वलक्षण-वस्तुओं को अज्ञेय कहना वदतोव्याघात है। वास्तव में चैतन्य या ज्ञान की कोई सीमा नहीं की जा सकती। इस प्रकार हेगल आत्माओं और स्वलक्षण-वस्तुओं तथा संवृति और परमार्थ के द्वैत को समाप्त कर दोनों को एक ही तत्त्व के भीतर समाहित कर देते हैं। हेगल के अनुसार काण्ट के अज्ञेयवाद का एक दूसरा भी कारण था और वह कारण यह था कि काण्ट की प्रज्ञा को केवल नियामक (Regulative) तत्त्व मानते थे ; उसके विपरीत **हेगल** के लिए प्रज्ञा नियामक होने के साथ-साथ उपादानात्मक (Constitutive) भी है। ऐसा मानने पर ही हम अज्ञेयवाद के अजगर से मुक्त हो सकते हैं।

इसी प्रकार फ़िक्टे के दर्शन के साथ भी हेगल के दर्शन की समानता और विभिन्नता है। दोनों के अनुसार तत्त्व **आत्म-चैतन्य** (Self-Consciousness) रूप है जिसमें एकता और अनेकता, अभेद और भेद तथा आत्म और अनात्म का सम्बन्ध पाया जाता है। फ़िक्टे के आत्म-चेतन परमात्म-तत्त्व को, उनके तादात्म्य, विरोध और **परिसीमन** को, उनकी **पक्ष, विपक्ष** और **संपक्ष** की त्रयी को तथा उनके परमात्मा, जीवात्मा और अनात्मा के सिद्धान्त को हेगल ने किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार कर लिया है। किन्तु फ़िक्टे की कुछ बातों को हेगल ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया। फ़िक्टे आत्मा की संकल्प-शक्ति को प्राथमिक मानते थे तथा अनात्म-जगत को प्रगति में बाधक समझ कर उसके अतिक्रमण में मानव-प्रगति की प्रतिष्ठा स्वीकार करते थे। हेगल ने फ़िक्टे की इन बातों को मान्यता नहीं दी। वे संकल्प-शक्ति की अपेक्षा बौद्धिक तत्त्व को विशेष महत्त्व देते थे। फ़िक्टे ने प्रकृति को आत्मा की अपेक्षा गौण स्थान तो दिया पर उसके भीतर साध्य-मूल्य न मानकर साधन-मूल्य ही माना। पर हेगल के अनुसार प्रकृति न तो आत्मा के समकक्ष और न आत्मा के अधीनस्थ ही है वरन् निरपेक्ष तत्त्व के विकास-क्रम का एक सोपान है। आत्मा ही स्व-चैतन्य प्राप्त करने के लिए प्रथम प्रकृति के रूप में विकसित होती है।

फ़िक्टे के समान शेलिंग के साथ भी हेगल की समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं। हेगल शेलिंग की इस बात से सहमत है कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत परम-तत्त्व है जो आत्म-चैतन्य रूप है। दोनों **विकासवाद** में विश्वास करते हैं। पर इन समानताओं के साथ उनमें विभिन्नताएँ भी पाई जाती हैं। शेलिंग का परम-तत्त्व अद्वैत रूप है। यह वह "काल-रात्रि है जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं।" इसके विपरीत हेगल का परम-तत्त्व "विशिष्टाद्वैत" रूप है जिसमें द्वैत और अद्वैत दोनों पाया जाता है। फ़िक्टे और शेलिंग दोनों ने आत्म-तत्त्व के भीतर चैतन्य की अपेक्षा संकल्प-शक्ति को अधिक महत्त्व दिया था ; किन्तु हेगल ने संकल्प-शक्ति को गौण और चित्-शक्ति को प्रधान माना। आत्म-साक्षात्कार के लिए फ़िक्टे ने **नैतिक** जीवन पर बल दिया, शेलिंग ने कलात्मक धार्मिक अनुभूति को मान्यता दी, किन्तु हेगल ने एकमात्र प्रज्ञा को ही सब कुछ समझा। वे किसी भी प्रकार के रहस्यवाद के घोर विरोधी हैं। विशिष्टाद्वैतवादी होने के कारण वे ऐसी शक्ति में विश्वास करते हैं जो नानात्व के ज्ञान के साथ उसमें अनुस्यूत एकता का भी बोध करा सके। ऐसी शक्ति प्रज्ञा (Reason) ही हो सकती है।

हेगल **प्रबोध-दर्शन** (Philosophy of Illumination) से विशेष प्रभावित थे। वे उसकी कठोर तर्क-पद्धति और वैज्ञानिक अनुसंधान-विधि से विशेष प्रभावित थे। वे प्रबोध-दर्शन के इस मत से सहमत हैं कि दर्शन प्रत्ययों का विज्ञान है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रबोध-दर्शन अमूर्त-प्रत्ययों का विज्ञान है वहाँ हेगल का दर्शन मूर्त प्रत्ययों (Concrete Concepts) का विज्ञान है। काण्ट और प्रबोध-दर्शन दोनों अमूर्त प्रत्ययों में विश्वास करने के कारण चित् और सत्, असीम और ससीम तथा ज्ञान और अज्ञान की समस्या को सुलझाने में सदा असफल रहे। हेगल ने चित् और सत् के भेद को दूर कर ज्ञान की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

हेगल के पहले पाश्चात्य दर्शन में दो प्रकार के विचार प्रचलित थे : प्रथम विचारधारा

के अनुसार तत्त्व को जानने का एकमात्र उपाय प्रतिभान है। यह एक प्रकार का साक्षात्, अव्यवहित ज्ञान है जिसमें हमें मूर्त तत्त्व-विशेष का ज्ञान प्राप्त होता है। इसे **प्रतिभान दर्शन** (Philosophy of Intuition) कहते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन में एक दूसरी भी विचारधारा थी जिसके अनुसार यदि हमें अपने ज्ञान में वैज्ञानिकता लानी है तो हमें व्यवहित (Mediate), अमूर्त (Abstract) एव सार्वभौम (Universal) ज्ञान से ही संतोष करना होगा। इसे **अनुचिन्तन का दर्शन** (Philosophy of Reflection) कहते हैं। प्रथम प्रकार के ज्ञान द्वारा हमें मूर्त तत्त्व-विशेष का अव्यवहित ज्ञान तो अवश्य होता है पर इसमें अवैज्ञानिकता का दोष विद्यमान होता है। इसके विपरीत, दूसरे प्रकार के ज्ञान में वैज्ञानिकता का गुण तो विद्यमान होता है पर वह अमूर्त और व्यवहित ज्ञान ही होता है। इसके द्वारा हमें मूर्त तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। हेगल ऐसे दर्शन का निर्माण करना चाहते थे जिसमें प्रतिभान-दर्शन का **अव्यवहितत्व** और **मूर्तता** तो हो पर उसकी अवैज्ञानिकता का अभाव हो ; इसी प्रकार वह दर्शन ऐसा हो जिसमें अनुचिन्तन के दर्शन की **वैज्ञानिकता** तो विद्यमान हो पर उसका **व्यवहितत्त्व** और **अमूर्तता** विद्यमान न हो। ऐसा दर्शन मूर्त विज्ञानों का दर्शन (Philosophy of Concrete Concepts) ही हो सकता है। यह दर्शन सामान्य और विशेष, असीम और ससीम, अद्वैत और द्वैत तथा अभेद और भेद सभीके बीच समन्वय स्थापित करता है। प्रतिभान-दर्शन केवल अभेद में विश्वास करता है : अनुचिन्तन का दर्शन भेद में विश्वास करता है। हेगल के मूर्त विज्ञानों का दर्शन भेदों में अनुस्यूत अभेद या विशिष्ट अद्वैत का दर्शन है। इसे विशिष्टाद्वैत का दर्शन भी कह सकते हैं।

तत्त्व-विज्ञान
(Metaphysics)

हेगल अमूर्त विज्ञानों में विश्वास न कर मूर्त विज्ञानों में विश्वास करते हैं। अतः, उनके दर्शन में तर्कशास्त्र (Logic) और तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics) दोनों एक है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वह तत्त्व क्या है जो जगत की सभी वस्तुओं को उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हेगल का उत्तर हैं कि **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) ही वह मूलतत्त्व है जिसका सम्पूर्ण विश्व परिणाम है। तत्त्व चैतन्य-रूप है जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। इस विषय में हेगल डेकार्ट्स और शंकराचार्य से पूर्ण सहमत हैं। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, '**वोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है।**"[1] समस्त विश्व में जो कुछ दिखाई देता हे वह चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है ; चैतन्य से स्वतन्त्र किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह चैतन्य और विज्ञान क्या है इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए इसके विविध पक्षों पर विचार करना आवश्यक है।

विज्ञान के विविध पक्ष

1. विज्ञान मूर्त सामान्य है—हेगल ने जिस चैतन्य या विज्ञान की कल्पना की है वह अमूर्त सामान्य नहीं है। अमूर्त सामान्य एक काल्पनिक विचार है। हम एक ऐसी सामान्य रेखा की कल्पना नहीं कर सकते जो न सरल हो और न वक्र। विशेषों से पृथक् सामान्य का

---

1. "The rational is real and the real is rational."

कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सामान्य से पृथक् विशेषों का कोई अस्तित्व नहीं है। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत है। इसीलिए हेगल के विज्ञान मूर्त सामान्य (Concrete Universals) हैं।

2. तत्त्व विशिष्टाद्वैत रूप है—हेगल मात्र अभेद (Bare Identity) और मात्र भेद (Bare Difference) दोनों को काल्पनिक मानते हैं। अभेद सदा भेद से विशिष्ट रहता है। अभेद विशेष्य है और भेद विशेषण है। विशेष्य और विशेषण दोनों सदा एक साथ रहते हैं। अतः कोई वस्तु निर्गुण या निर्विशेष नहीं हो सकती। यहाँ हेगल का शंकराचार्य से भेद और रामानुजाचार्य से समानता है। हेगल और रामानुज दोनों भेदों में अनुस्यूत अभेद (Unity-in-Difference) में विश्वास करते हैं।

3. हेगल का विज्ञान स्वचैतन्य रूप है—हेगल का चैतन्य शंकराचार्य के चैतन्य के समान विशुद्ध चैतन्य (Pure Consciousness) नहीं है। विशुद्ध चैतन्य या निर्विशेष चैतन्य एक अमूर्त कल्पना है। विज्ञान आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) रूप है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य तथा अभेद और भेद दोनों पक्ष सदा विद्यमान रहने हैं।

4. विज्ञान एक तन्त्रबद्ध साकल्य है—विज्ञान एक तन्त्रबद्ध साकल्य (Systematic Whole) है। यह अवयवी या अंगी है ! बोसांके (Bosanquet) ने इसे **व्यक्ति** (Individual) नाम दिया है। यह विशेषण युक्त विशेष्य है !

5. अवयवी और अवयवों में जीवित सम्बन्ध है—अवयवी और अवयवों के बीच जीवित सम्बन्ध (Organic Relation) पाया जाता है। जीवित सम्बन्ध की तीन प्रागपेक्षाएँ हैं : पूर्ण अंशों को आपादित करता है, अंश पूर्ण को आपादित करते हैं तथा प्रत्येक अंश प्रत्येक दूसरे अंश को आपादित करता है। जहाँ ये तीन प्रागपेक्षाएँ विद्यमान होती हैं वहीं जीवित सम्बन्ध पाया जाता है। **तत्त्व ऐसा ही अवयवी** (Organism) है।

6. तत्त्व अन्तर्यामी है—ऊपर हम देख चुके हैं कि तत्त्व भेदों में अनुस्यूत अभेद है। वह अपने अवयवों, अंगों और अंशों में अन्तर्यामी (Immanent) रहता है। अवयवी अवयवों का मात्र समूह नहीं है, वह उनमें अनुस्यूत अभेद है। इसी अभेद तत्त्व से ही सारे भेद अनुप्राणित होते हैं। विज्ञान सभी व्यष्टियों में अन्तर्यामी समष्टि है। तत्त्व को अन्तर्यामी कहने का भाव यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ इस विज्ञान को ही न्यूनाधिक्य रूप में अभिव्यक्त करती हैं।

7. निरपेक्ष विज्ञान विकास की उच्चतम अवस्था है—शेलिंग के समान हेगल भी विकासवादी दार्शनिक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि हेगल के अनुसार निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) ही एकमात्र तत्त्व है। यह निरपेक्ष विज्ञान सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान (Abstract or Logical Idea) के रूप में प्रतीत होता है। चैतन्य का यह बिलकुल अभेद रूप है। पर हेगल के अनुसार भेद के बिना अभेद की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः चैतन्य का यह अभेद रूप (Idea-in-itself) अपूर्ण और मिथ्या ही कहा जायगा। बिना विषय के विषयी की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, अपूर्ण अमूर्त विज्ञान पूर्णता प्राप्त करने के लिए बाह्य विषय या जड़-जगत का रूप धारण करता है। यह विज्ञान का बाह्य रूप (Idea-outside-itself) है जो भेदात्मक होता है। विज्ञान का यह बाह्य रूप या जड़-जगत

चैतन्य से भिन्न नहीं है क्योंकि विज्ञानवादी होने के कारण हेगल चैतन्य से पृथक् किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। जड़ एक प्रकार का सुप्त चैतन्य है। यह सुप्त चैतन्य वनस्पति-जगत और पशु-जगत से होते हुए मानव-जगत में आकर आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) का रूप धारण कर लेता है। अब यह अमूर्त विज्ञान न होकर पूर्णतया मूर्त विज्ञान (Idea-in-and-for-itself) का रूप धारण कर लेता है। अमूर्त विज्ञान अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए ही पहले प्रकृति का रूप धारण करके अन्त में मूर्त विज्ञान का रूप धारण करता है। इस प्रकार क्रमशः हम निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान तक पहुँचने में सफल हो जाते हैं।

द्वन्द्व-न्याय
(Dialectic)

हेगल के अनुसार निरपेक्ष सत् के भीतर एकता और अनेकता दोनों का समन्वय पाया जाता है। विशुद्ध एकता और विशुंद्ध अनेकता के प्रत्यय काल्पनिक हैं। प्रथम तो हम विशुद्ध एकता की कल्पना कर ही नहीं सकते और यदि करते भी हैं तो उसकी कल्पना अनेकता के प्रत्यय के माध्यम से ही की जा सकती है। **विशुद्ध एकता विशुद्ध असत्** है। इसके भीतर अनेकता के अभाव में इसकी एकता का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। जो बात एकता के विषय में सही है वही अनेकता पर भी लागू होती है। दो इकाइयों के भीतर यदि कोई सामान्य उभयनिष्ठ तत्त्व नहीं है तो उनके भेद का भी निर्धारण नहीं किया जा सकता। सामान्य तत्त्व के अभाव में प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट स्वतन्त्र इकाई हो जाती है जिनके बीच किसी भी प्रकार के भेद का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः, अनेकता के बिना एकता और एकता के बिना अनेकता की कल्पना असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि अभेद और भेद दोनों अभिन्न है। हेगल ने इसे निम्न प्रकार सिद्ध किया हैं—"वह जो भेद से भिन्न है, अभेद है। भेद, इस प्रकार भेद और अभेद दोनों है। दोनों मिलकर भेद का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार अभेद पूर्ण और अंश दोनों है, उसी प्रकार भेद पूर्ण और अंश दोनों है।"[1] अर्थात भेद, भेद और अभेद दोनों है, भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक दूसरे के भीतर सन्निहित हैं। **प्रतिपक्षों का तादात्म्य हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्राण है।** यहाँ 'तादात्म्य' शब्द का अर्थ विशुद्ध तादात्म्य नहीं है ; यहाँ तादात्म्य का अर्थ भेदता में अभेदता से है और अभेद भेद पर आश्रित है।

कुछ आलोचक यह कहते हैं कि प्रतिपक्षों के तादात्म्य का विचार आत्म-व्याघातक विचार है। जो ऐसा कहते हैं वे हेगल के दर्शन के गूढ़ विचारों को नहीं समझते। जब हेगल प्रतिपक्षों के तादात्म्य की बात कहते हैं तो उनका यह मन्तव्य नहीं होता कि दोनों प्रतिपक्षों में अविभेदित एकता (Undifferentiated Unity) है ; उनके कथन का वास्तविक तात्पर्य

---

1. हेगल, Science of Logic, IV, पृ० 38, "That which is different from Difference is Identity. Difference is therefore both itself and Identity : the two together constitute Difference....Difference is the whole and its own moment just as Identity is the whole and its moment."

यह है कि दोनों प्रतिपक्ष भिन्न रूपों में एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति करते हैं। हेगल दर्शन की तात्त्विक बात यह है कि **जब तक दो वस्तुएँ भिन्न नहीं होती तब तक उनके बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया जा सकता**। मान लीजिए, हम कहते हैं कि 'अ, ब है'। यदि अ और ब बिलकुल अभिन्न है तो 'अ, ब है' एक द्विरुक्ति (Tautology) मात्र होगा और यदि अ और ब बिलकुल भिन्न है तो 'अ, ब है' एक आत्म-व्याघातक (Self-Contradictory) वाक्य होगा। इन दोनों कठिनाइयों से हम तभी मुक्त हो सकते हैं जब कि हम मान लें कि अ और ब में भिन्नता और अभिन्नता दोनों विद्यमान हैं। हेगल का भी यही मन्तव्य है। विशुद्ध भिन्नता और विशुद्ध अभिन्नता दोनों अमूर्त प्रत्यय हैं। भिन्नता में अभिन्नता अथवा भेद में अभेद है। यही तात्त्विक वास्तविकता है।

प्रतिपक्षों के तादात्म्य की सम्भावना को हम तर्क-शास्त्र के आधार पर भी सिद्ध कर सकते हैं। आकार मूलक तर्क-शास्त्र वैसे तो चार प्रकार के विरोध में विश्वास करता है पर उनमें दो प्रमुख हैं। प्रथम वैपरीत्य (Contrariety) और द्वितीय व्याघात (Contradiction)। उदाहरण के लिए श्वेत और अ-श्वेत के बीच व्याघात है पर श्वेत और कृष्ण के बीच वैपरीत्य है। हेगल व्याघात-विरोध को वास्तविक विरोध नहीं मानते। भला श्वेत और अश्वेत—जिनके भीतर रुई, खरगोश, बादल, पुस्तकें इत्यादि तमाम वस्तुएँ आ जाती हैं—के बीच कैसा विरोध हो सकता है ? वास्तविक भेद या विरोध वहीं हो सकता है जहाँ दो वस्तुओं के बीच कोई सामान्य तत्त्व विद्यमान हो। उदाहरण के लिए घोड़े और गधे में विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों जानवर हैं ; श्वेत और कृष्ण के बीच विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों रंग हैं : इसी प्रकार मोहन और सोहन में विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों मनुष्य हैं। **वास्तविक विरोध वहीं होता है जहाँ अभेदमूलक भेद हो**। अतः, हेगल के प्रतिपक्षों के तादात्म्य में पर्याप्त सार्थकता है।

हेगल के तर्क-शास्त्र में प्रतिपक्षों के तादात्म्य की उपलब्धि **त्रिक-नियम** (Triadic Law) के अनुसार होती है। इसके तीन अंग है—पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Anti-Thesis) और संपक्ष (Synthesis) जगत् का विकास द्वन्द्वात्मक विधि (Dialectical Process) द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें संपक्ष, पक्ष और प्रतिपक्ष का केवल गणितीय योग ही नहीं वरन् उसका उच्चतर समन्वय है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। इसीलिए **समन्वय या संपक्ष को 'निषेध का निषेध' या 'विरोध का विरोध' कहते हैं**। इसी द्वन्द्वात्मक गति के अनुसार हम निम्नतर सत्ता से उच्चतर सत्ता की ओर अग्रसर होते हैं और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि हम निरपेक्ष तत्त्व (Absolute Reality) को प्राप्त नहीं कर लेते।

हेगल के तर्कशास्त्र की प्रथम त्रयी (Triad) ऐसे ही प्रतिपक्षों का तादात्म्य है : यह सत् (Being) और असत् (Nothing) का तादात्म्य है जिसे परिणाम (Becoming) कहते हैं। **'परिणाम' या 'संभवन' शब्द संसार के किसी नवीन पदार्थ (Category) की अभिव्यक्ति न कर या तो प्रतिपक्षों के तादात्म्य को व्यक्त करता है या उस गति को व्यक्त करता है जिससे संसार में विकास सम्भव होता है**।म्योर के शब्दों में : संभवन सम्पूर्ण तर्क का न्यूनतम मूलाधार

है।[1] संभवन त्रयी का केवल एक घटक नहीं है : इसका प्रयोग सम्पूर्ण त्रयी के लिये किया गया है। 'सत्' और 'असत्' मिलकर जिस 'समन्वय' का निर्माण करते हैं वह 'संभवन' (Becoming) न होकर 'सगुण होना' (Being determinate) है, पर 'संभवन' शब्द का प्रयोग तर्क की सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक प्रणाली के लिए किया जाता है। प्रतिपक्षों की एकता से हेगल का तात्पर्य किसी विशुद्ध एकता से नहीं वरन् उसके तत्त्वों के सतत् विरोध की एकता से है। **'संभवन चिन्तन की उस आत्म-विभेदीकरण (Self-Differentiation) की प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें प्रत्येक वस्तु दो परस्पर विरोधी तान्तियों का समन्वय होती है।** यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि द्वन्द्वात्मक सम्भवन (Dialectical Becoming) कोई देशकालिक प्रक्रिया नहीं है ; यह वह चेतन प्रक्रिया है जिसके द्वारा संसार में गति, प्रगति, जीवन, वृद्धि और विकास पाया जाता है।

हेगल के अनुसार प्रत्येक वस्तु या प्रत्यय में उसका विरोधी तत्त्व विद्यमान रहता है जिसके कारण न तो कोई वस्तु और न कोई प्रत्यय सदा एक रूप में नित्य या स्थिर रह सकता है। वस्तु एवं प्रत्यय में निहित उसका विरोधी तत्त्व सभी घटनाओं, परिवर्तनों एवं क्रान्तियों का संचालन करता है। उदाहरण के लिए सत् में ही उसका विरोधी तत्त्व असत् गर्भित होता है जो सत् को स्थैतिक न रखकर संभवन (Becoming) में परिणत करता है। यहाँ 'संभवन' सत् और असत् के योग से सम्भव हुआ है तथा असत् ही वह अवच्छेक गुण है जो सत् की जाति को उसकी उपजाति 'संभवन' में परिणत कर देता है। हेगल के अनुसार जाति में ही अवच्छेदक गुण गर्भित रूप में निहित होता है और यदि उसे चिन्तन द्वारा व्यक्त कर दिया जाय, तो जाति में अवच्छेदक गुण के व्यक्त होने पर उसमें गर्भित उपजाति निगमित की जाती है।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि स्पिनोजा ने कहा कि प्रत्येक विशेषीकरण निषेधीकरण है।[2] उदाहरण के लिए जब हम किसी वस्तु को 'लाल' कहते हैं तो उसमें हम एक गुण की तो स्थापना करते हैं पर साथ ही उसे हरे, पीले, नीले, सफेद इत्यादि अनेक गुणों से वंचित कर देते हैं। हेगल स्पिनोजा की उपर्युक्त बात को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु साथ ही उसके प्रतिलोम नियम को भी स्वीकार कर लेते हैं : प्रत्येक निषेधीकरण विशेषीकरण है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक निषेध का कोई न कोई भावात्मक आधार अवश्य होता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'यह पुस्तक लाल नहीं है' तो इसका तात्पर्य यही होता है कि चूँकि हम जानते हैं कि पुस्तक काली है, अतः वह लाल नहीं है। अतः, निषेधीकरण विशेषीकरण होता है। हेगल के अनुसार निषेधीकरण में असीम शक्ति पायी जाती है जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में उन्मज्जन, विकास और नवोत्क्रान्ति पायी जाती है। यदि सत् में असत् छिपा न होता तो सत् से किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं होता।

विकास का वास्तविक अर्थ अमूर्त से मूर्त की ओर संक्रमण है। सत् और असत् की अपेक्षा संभवन अधिक मूर्त है। निम्न सत्ताओं की परम तत्त्व की ओर प्रगति गर्भित स्थिति

---

1. Mure, G. R. G. A Study of Hegel's Logic, p. 341.
2. Every determination is negation.
3. Every negation is determination.

से व्यक्त स्थिति की ओर पाई जाती है। इस प्रगति को हम निम्न तालिका से भली-भाँति प्रदर्शित कर सकते हैं—
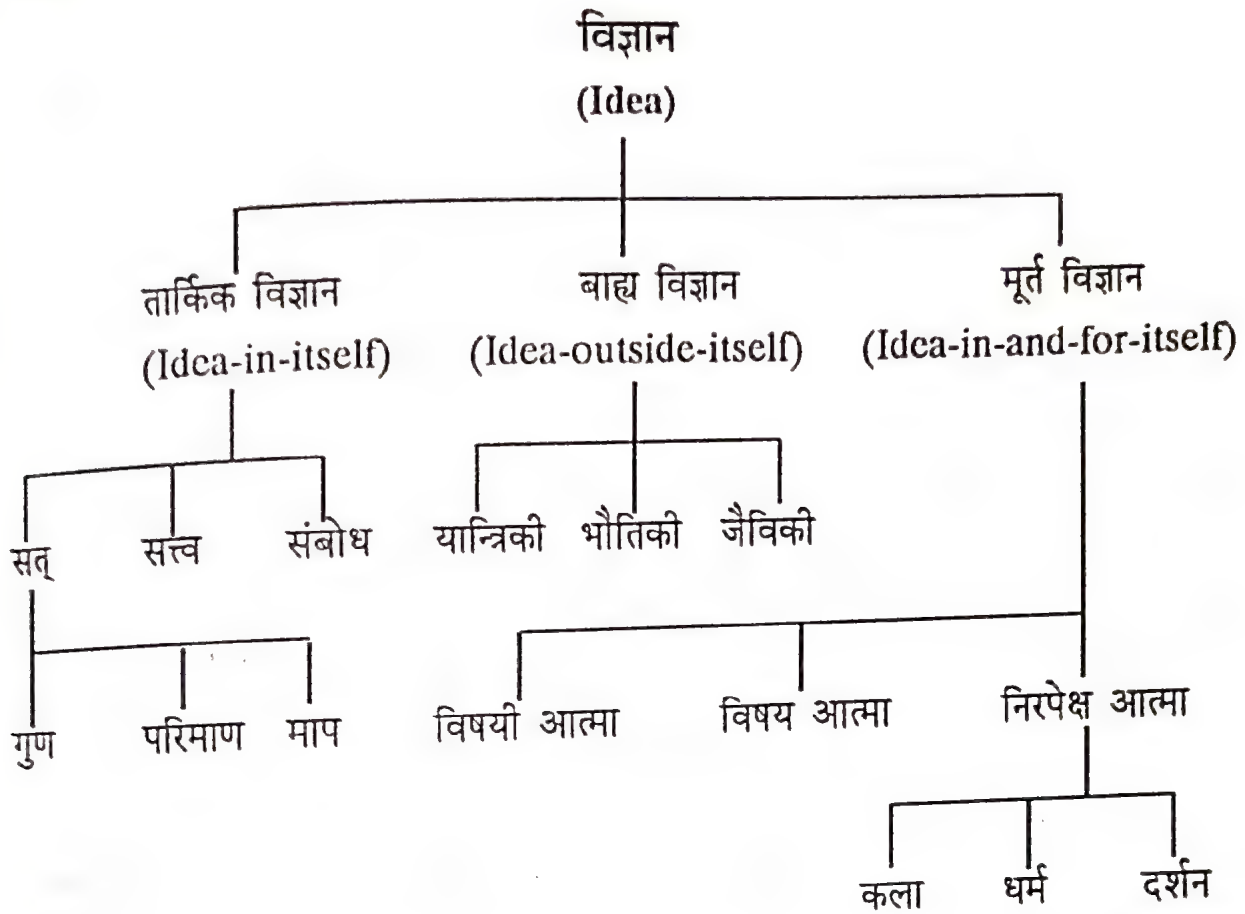
यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि चूँकि प्रथम विज्ञान की व्याख्या अन्तिम (निरपेक्ष) विज्ञान के आधार पर होती है, अतः अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों को स्पष्टतया अपने भीतर समाहित करता है। इस प्रकार प्रारम्भ में अन्त छिपा रहता है और अन्त में प्रारम्भ की पराकाष्ठा होती है। अब यदि मान लिया जाय कि मानव-इतिहास में परम तत्त्व अपने को अभिव्यक्त करता है, इतिहास के चिन्तन से परम तत्त्व के स्वरूप पर प्रकाश अवश्य पड़ेगा। किन्तु इतिहास परम तत्त्व की अभिव्यक्ति के क्रम में केवल एक पक्ष है। भविष्य के घटना क्रम में भी परम तत्त्व की अभिव्यक्ति पाई जायेगी। भूत भविष्य का साध्य रूप है तथा भविष्य भूत का सिद्ध रूप है। अतः, भविष्य, भूत की अपेक्षा, परम तत्त्व को अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करेगा। इसीलिए कहा जाता है कि भविष्य भूत की अपेक्षा अधिक यथार्थ होता है।[1] यही कारण है कि हेगल ने मानव-इतिहास की मूल्यपरक व्याख्या प्रस्तुत की है।

संक्षेप में हेगल के द्वन्द्व-न्याय की निम्न तीन विशेषताएँ हैं : **प्रथम** यह सामान्यतः त्रयात्मक (Triadic) है ; **द्वितीय** यह सत्तात्मक (Ontological) और संबोधात्मक (Notional) दोनों है। यह वस्तुओं एवं उनके स्वरूपों दोनों पर लागू होता है ; **तृतीय,** द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) जो बिलकुल अमूर्त है से प्रारम्भ होकर माध्यमिक सोपानों से गुजरती हुई निरपेक्ष आत्मा (Absolute Spirit or Geist), जो बिलकुल मूर्त है, तक पहुँचती है। निरपेक्ष आत्मा सभी द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं का चरम लक्ष्य

1. Prophecy is truer than history.

है। इसका स्वरूप **आत्मचेतन बौद्धिकता** (Self-Conscious Rationality) का है जो सब सत्ताओं की पराकाष्ठा है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस द्वन्द्वात्मक संभवन के पीछे प्रवर्त्तक शक्ति कौन है ? हेगल के अनुसार **यह शक्ति निरपेक्ष चेतन तत्त्व** (Absolute) **है जो पक्ष, प्रतिपक्ष और संपक्ष तीनों का अधिष्ठान है।** इस तत्त्व के अभाव में प्रगति या विकास बिलकुल असम्भव है। निरपेक्ष तत्त्व एक तन्त्रबद्ध साकल्य (Systematic Whole) है जिसका प्रत्येक विकल केवल साकल्य के द्वारा ही निर्धारित नहीं होता बल्कि वह उसके भीतर के अन्य विकलों के द्वारा भी निर्धारित होता है। प्रत्येक ससीम वस्तु असीम और अन्य ससीम वस्तुओं द्वारा निर्धारित होती है जिनसे उसका विरोध होता है। अतः **कोई ससीम वस्तु क्या है इसका निर्धारण उन अन्य ससीम वस्तुओं द्वारा ही होता है जो वह प्रथम ससीम वस्तु नहीं है।** इसी सन्दर्भ में हेगल ने कहा था कि प्रत्येक वस्तु 'सत्' और 'असत्' इन दो विरोधों का समन्वय है। संसार की किसी वस्तु को परिभाषित करने में भी हम इस बात का विचार करते हैं कि उस वस्तु का अन्य वस्तुओं और पूर्ण से किस प्रकार का सम्बन्ध है। **निरपेक्ष पूर्ण चेतन तत्त्व (Absolute) से असम्बद्ध किसी गति, प्रगति या विकास का कोई अर्थ नहीं है।**

हेगल का तर्कशास्त्र

(Hegel's Logic)

हेगल के तर्कशास्त्र का वर्णन उसकी दो पुस्तकों में प्राप्त होता है : प्रथम **तर्क-विज्ञान** (Science of Logic) में और द्वितीय **लघु तर्कशास्त्र** (Lesser Logic) जो हेगल के विश्वकोश (Encyclopaedia) का प्रथम भाग है। उसका लघु तर्कशास्त्र इतना सघन है कि तर्क-विज्ञान की सहायता के बिना उसके अर्थ को नहीं समझा जा सकता।

हेगल के तर्कशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य विशुद्ध विज्ञान (Pure Idea) का अध्ययन है। वह विशुद्ध विकल्पों या विचार-अवधारणाओं की एक ऐसी श्रेणी प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से तत्त्व का चित्रण किया जा सके। यह श्रेणी निम्नतम **प्रत्यय विशुद्ध सत्** (Pure Being) से प्रारम्भ होकर मध्यवर्ती विकल्पों से गुजरते हुए उच्चतम प्रत्यय **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) पर समाप्त होती है। हेगल ने यहाँ प्रत्ययों की जिस श्रेणी का वर्णन किया है वह द्वन्द्वात्मक पक्ष-प्रतिपक्ष-संपक्ष की गति से अभूर्त प्रत्यय से मूर्त प्रत्यय की ओर अग्रसर होती है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि हम निरपेक्ष विज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेते। तर्क की यह प्रक्रिया अमूर्त प्रत्ययों के बीच ही घटित होती है। यदि कभी हेगल इस प्रक्रिया को मूर्त प्रक्रिया का नाम देता है, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि अमूर्त प्रत्यय क्रमशः द्वन्द्वात्मक गति द्वारा मूर्त प्रत्यय के रूप में परिणत हो जाता है।

हेगल के तर्कशास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया जाता है : प्रथम सत् का सिद्धान्त (The Doctrine of Being), द्वितीय सत्त्व का सिद्धान्त (The Doctrine of Essence) और तृतीय संबोध का सिद्धान्त (The Doctrine of Notion)। इन विभागों का हम यहाँ संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(1) सत् का सिद्धान्त (The Doctrine of Being)

हेगल का तर्कशास्त्र विशुद्ध सत् के प्रत्यय से प्रारम्भ होता है जिसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि वह है और जिसके विषय में कुछ भी विधान नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में यह केवल उस सत् (That) की अनुभूति है जिसमें किम् (What) का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। हेगल अपने तर्कशास्त्र को विशुद्ध सत् के प्रत्यय से इसलिए प्रारम्भ करता है क्योंकि यह एक सरलतम एवं सर्वाधिक अमूर्त (Abstract) प्रत्यय है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या हम अपने मस्तिष्क में **विशुद्ध सत्** (Pure Being) के प्रत्यय का निर्माण कर सकते हैं जिसमें सभी प्रकार के सविशेष गुणों का अभाव पाया जाता है ? हेगल के अनुसार **विशुद्ध सत्** का प्रत्यय अनिवार्यतः और तर्कतः **विशुद्ध असत्** (Pure Nothing) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है क्योंकि दोनों प्रत्यय एक दूसरे से अवियोजनीय एवं अभेदनीय हैं। विशुद्ध सत् एवं विशुद्ध असत् इन दोनों प्रत्ययों की अमूर्तता एवं काल्पनिकता के कारण हमारी बुद्धि को इनसे संतुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः हमारी बुद्धि इन दोनों प्रत्ययों से पृथक् एक ऐसे तृतीय प्रत्यय का अनुसंधान करती है जो अमूर्त न होकर मूर्त होता है। हेगल के अनुसार वह प्रत्यय **संभवन** (Becoming) का प्रत्यय है। जब सत् से असत् और असत् से सत् की ओर संक्रमण होता है तो द्वन्द्वात्मक रूप से संभवन का प्रत्यय उत्पन्न होता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि हेगल जिस संभवन के प्रत्यय के माध्यम से तत्त्व की व्याख्या करना चाहते हैं वह इतना अस्थिर और रिक्त है कि उससे तत्त्व की समुचित और यथेष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। इसकी क्षति-पूर्ति के लिए संभवन शब्द को एक स्थिर और विकसित अर्थ देने की आवश्यकता है और वह अर्थ है **'सगुण होना'** (Being determinate or Dasein)। संसार में 'निर्गुण' नाम की कोई वस्तु नहीं है। 'निर्गुण' का वास्तविक अर्थ गुणों का 'आत्यन्तिक अभाव' नहीं है वरन् गुणों का किसी वस्तु में सूक्ष्म रूप में अवस्थित होना है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि कोई वस्तु सगुण है, उसकी सगुणता उसका स्वतन्त्र धर्म है अथवा उसकी सगुणता अन्य वस्तुओं की सगुणता पर आश्रित है ? द्वन्द्व-न्याय का निहितार्थ है कि संसार की प्रत्येक वस्तु का गुण अन्य वस्तुओं के गुणों पर आश्रित होता है तथा अन्य वस्तुओं का गुण उस एक वस्तु के गुण पर आश्रित होता है। इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के भीतर संसार की अन्य वस्तुओं के गुण सूक्ष्म रूप में अवश्य विद्यमान होते हैं, अन्यथा वह वस्तु सगुण होती ही नहीं। किसी सगुण वस्तु के भीतर अन्य वस्तुओं के गुणों का सूक्ष्म रूप में निहित होना उस वस्तु के गुणों के **परिवर्तन** (Alteration) का कारण होता है। किसी वस्तु के गुणों में परिवर्तन इस कारण होता है कि उस वस्तु के भीतर सभी अन्य गुणों की सम्भावनाएँ विद्यमान होती हैं। चूँकि प्रत्येक गुण अपनी स्थिति के लिए अन्य गुणों पर आश्रित होता है, अतः हेगल ने इस स्थिति को दूषित अनन्त (Bad Infinite) की संज्ञा दी है।

हेगल के अनुसार जाति में ही अवच्छेदक गुण गर्भित रूप में निहित होता है और यदि उसे चिन्तन द्वारा व्यक्त कर दिया जाय तो जाति में अवच्छेदक गुण के व्यक्त होने पर उसमें

गर्भित उपजाति निगमित हो जायगी। इस प्रकार हेगल ने सत् से असत् के अवच्छेदक गुण को निःसृत किया और पुनः सत् में असत् को जोड़कर संभवन (Becoming) नामक उपजाति की स्थापना की। इस संभवन में पुनः अन्य अवच्छेदक गुणों को निःसृत कर अन्य उपजातियों को निगमित किया जा सकता है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि संसार की सभी उप-जातियाँ विशुद्ध सत् से निगमित नहीं कर ली जातीं।

(2) सत्त्व का सिद्धान्त (The Doctrine of Essence)

सत्त्व-सिद्धान्त में हेगल ने उन विकल्पों या कोटियों (Categories) का विवेचन किया है जो किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक स्वभाव, उसके गुण एवं परिमाण को अभिव्यक्त करती हैं। इन कोटियों को प्रस्तुत किए बिना विचार बाह्य अनुभव को अभिगृहीत नहीं कर सकता। ये कोटियाँ सदा युग्म-रूप में पायी जाती हैं जैसे अभेद-भेद। जिस प्रकार सत् के सिद्धान्त में विशुद्ध सत् प्रथम प्रत्यय है, उसी प्रकार सत्त्व के सिद्धान्त में अभेद (Identity) प्रथम प्रत्यय है। यह 'अभेद' आकारिक तर्क-शस्त्र का प्रत्यय नहीं है वरन् तत्त्व-विज्ञान का प्रत्यय है जो भेदों (Differences) के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार 'अभेद' का प्रत्यय तर्कतः 'भेद' के प्रत्यय को उत्पन्न करता है। हेगल के अनुसार अभेद और भेद के प्रत्यय परस्पर सापेक्षिक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। 'भेद' के परिप्रेक्ष्य में ही 'अभेद' की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार 'अभेद' के परिप्रेक्ष्य में ही 'भेद' की कल्पना की जा सकती है।

जिस प्रकार अभेद का प्रत्यय भेद के प्रत्यय को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार भेद का प्रत्यय **भिन्नता या विविधता** (Diversity) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है। इसमें सर्वप्रथम वस्तुओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में लिया जाता है जो बाद में परिवर्तित होकर **विरोध** (Opposition) का रूप धारण कर लेता है। **व्याघात** (Contradiction) विरोध की चरम परिणति है। इसमें हम संसार की विभिन्न वस्तुओं को एक ही सत्त्व के व्याघाती रूपों में ग्रहण करते हैं। हम जानते हैं कि हेगल के दर्शन में आत्यन्तिक विरोध या व्याघात के लिए कोई स्थान नहीं है। उनका व्याघात केवल **विपरीत सम्बन्ध** (Contrariety) को ही व्यक्त करता है जिसमें सम्बन्धियों के बीच कोई सामान्य तत्त्व अवश्य विद्यमान होता है। अतः विरोध-प्रत्यय **समग्रता** (Totality) के प्रत्यय को जन्म देता है जिसमें वस्तु विरोधों के तादात्म्य (Identity of Opposites) रूप में हमारे समक्ष प्रकट होती है। एक ही विद्युत की धनात्मकता एवं ऋणात्मकता इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे के समतुल्य हैं। विरोधों के तादात्म्य का प्रत्यय तर्कतः **आधार और आधेय** (Ground and Grounded) के प्रत्ययों को जन्म देता है जिसमें प्रत्येक वस्तु की सत्ता अन्य वस्तुओं की सत्ता पर आश्रित होती है। इसी सन्दर्भ में **अस्तित्व** (Existence) का एक नया प्रत्यय जन्म लेता है। अस्तित्ववान वस्तुएँ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध अथवा आधार-आधेय सम्बन्धों का एक संसार बनाती है जिसमें प्रत्येक वस्तु का संसार की अन्य वस्तुओं के साथ आन्तरिक सम्बन्ध होता है। सत्त्व के अभेद से आधार तक के विकास के परिप्रेक्ष्य में ही हेगल ने तर्क-शास्त्र के तादात्म्य-नियम, अ-व्याघात-नियम, मध्यम-परिहार-नियम, पर्याप्त-कारणता नियम

एवं लाइब्नित्ज के अगोचर के तादात्म्य-नियम की व्याख्या की है। वस्तुओं के बीच जो आधार-आधेय सम्बन्ध है वह उनके आभासिक अस्तित्व (Phenomenal Being) को प्रदर्शित करता है।

(3) संबोध का सिद्धान्त (The Doctrine of Notion)

जब संसार की वस्तुओं की साध्यता को सिद्धता के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है तो हम सत्त्व के प्रत्यय से संबोध के प्रत्यय की ओर अग्रसर होते हैं। संबोध की अवस्था में किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक गुणों में पूर्ण समन्वय पाया जाता है। इस उच्चतम स्तर में विचार के तीनों पृथक् क्षणों **सामान्यता** (Universality), **विशिष्टता** (Specificity) एवं **वैयक्तिकता** (Individuality) के बीच पूर्ण एकता पायी जाती है। हम जानते हैं कि वस्तुतः इन तीनों पक्षों को एक दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' के संबोध के लिए हमें उसके सामान्य एवं विशिष्ट गुणों के ज्ञान के साथ विभिन्न परिस्थितियों में उनके प्रयोग का भी ज्ञान होना चाहिए। बुद्धि इन तीनों पक्षों को पृथक् कर वस्तु की एकता को नष्ट कर देती है। प्रज्ञा के द्वारा हमें पूर्ण 'मूर्त सामान्य' का ज्ञान होता है जिसमें सामान्यता, विशिष्टता एवं वैयक्तिकता तीनों पक्षों की एकता बनी रहती है।

संबोध के तीनों पक्षों की सुभिन्नता का दर्शन हमें **निर्णय** (Judgement) में होता है एवं उनकी एकता का दर्शन हमें **हेत्वानुमान** (Syllogism) में होता है। हेगल के अनुसार निर्णय एवं हेत्वानुमान केवल आत्मनिष्ठ आकार ही नहीं है वरन् वे वस्तु-जगत में भी चरितार्थ होते हैं। निर्णय एवं हेत्वानुमान के बाद द्वन्द्व-प्रक्रिया हमें **वस्तु** (Object) की ओर ले जाती है जिसमें सामान्यता, विशिष्टता एवं वैयक्तिकता के बीच पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। यदि संबोध सामान्य है जिसका विशिष्टीकरण और वैयक्तीकरण होता है तो वस्तु वह व्यक्ति है जिसका विशिष्टीकरण और सामान्यीकरण होता है। वास्तविकता (Objectivity) को पुनः अव्यवहितत्व (Immediacy) के रूप में लिया जाता है जिसमें वस्तु के तीनों पक्षों का केन्द्रीकरण होता है। वस्तुएँ पुनः आरोही रूप में तीन रूपों में प्रकट होती हैं जो क्रमशः यान्त्रिकवाद (Mechanism), रासायनिकवाद (Chemism) एवं प्रयोजनवाद (Teleology) है। यान्त्रिकवाद में वस्तु को स्वतन्त्र इकाईयों के एक संघात रूप में लिया जाता है जिनका गुण आश्रित वस्तुओं के गुणों पर निर्भर करता है। रासायनिकवाद में अनेकता के स्थान पर वस्तु की एकता पर विशेष बल दिया जाता है। पुनः एकता और अनेकता दोनों का समन्वय उद्देश्य या प्रयोजन में पाया जाता है।

प्रयोजनमूलक चिन्तन प्रथम परिमित (Finite) होता है जिसमें व्यक्ति का लक्ष्य संसार की कोई परिमित वस्तु होती है। उस परिमित वस्तु को प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अन्य परिमित वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस अनवस्था-दोष की निवृत्ति तभी हो सकती है जब हम अपने लक्ष्य को पूर्ण अपरिमित (Infinite) कर लें। इसमें साधक, साधन और साध्य तीनों मिलकर एक हो जाते हैं। यहाँ सम्पूर्ण विश्व परम शुभ (Highest Good) को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यही **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) है।

प्रकृति-दर्शन
(Philosophy of Nature)

काण्ट ने इस बात को स्वीकार किया था कि यद्यपि स्व-लक्षण वस्तुएँ **अज्ञेय** (Unknowable) हैं पर वे **अचिन्त्य** (Unthinkable) नहीं हैं। वे वस्तुतः चिन्त्य हैं। अब हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि हम स्व-लक्षण-वस्तुओं का किस प्रकार चिन्तन करते हैं या कर सकते हैं ?

हेगल ने काण्ट का खण्डन करते हुए कहा कि स्व-लक्षण-वस्तुएँ केवल चिन्त्य ही नहीं हैं वे ज्ञेय भी हैं। स्व-लक्षण-वस्तुओं को हम जितनी आसानी से जान सकते हैं उतनी अन्य वस्तुओं को नहीं। स्व-लक्षण वस्तुएँ विशुद्ध सत् (Pure Being) या सन्मात्र हैं जिनमें किसी प्रकार के विशिष्ट गुण (Determinate Attributes) नहीं पाये जाते। स्व-लक्षण-वस्तुएँ गुणात्मक या परिमाणात्मक, दैशिक या कालिक, भौतिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से निरवधार्य हैं। इन्हें हम अज्ञेय इसलिए नहीं कहते कि इन्हें हम जान नहीं सकते ; इन्हें हम अज्ञेय इसलिए कहते हैं कि इनके भीतर जानने की कोई चीज ही नहीं है। इनके भीतर ऐसा कोई गुण नहीं है जिनके माध्यम से हम इन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् कर सकें। गुण-विहीनता के कारण चूँकि इनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस कारण वे अज्ञेय हैं। यहाँ अज्ञेय का अर्थ **अवर्णनीय** होने से है।

सामान्य सत् वस्तुतः या विशेषतः कुछ भी नहीं है, अतः विशुद्ध सत् का प्रत्यय असत् (Nothing) के प्रत्यय के रूप में परिणत हो जाता है। एक प्रत्यय से, दूसरे प्रत्यय का जो तार्किक संक्रमण है वह एक विचार से दूसरे विचार का कोई मनोवैज्ञानिक या आत्मनिष्ठ संक्रमण नहीं है ; वह एक **वास्तविक** या **वस्तुनिष्ठ** संक्रमण है जिसके द्वारा एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से तर्कतः विकसित होता है। इसी को हेगल की भाषा में **संभवन** (Becoming) या **विकास** (Development) या **प्रक्रिया** (Process) कहते हैं। यह न तो कोई दैशिक (Spatial) और न कोई कालिक (Temporal) प्रक्रिया है ; यह विशुद्ध तार्किक या वैचारिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक प्रत्यय के भीतर अनुस्यूत होती है। एक प्रत्यय से दूसरा प्रत्यय उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार साध्यता से सिद्धता या जीवाणु से पूर्ण जीव उत्पन्न होता है। जिस प्रकार एक सजातीय साध्यता एक विजातीय सिद्धता को उत्पन्न करने में समर्थ होती है उसी प्रकार एक सजातीय निर्विशेष प्रत्यय सविशेष प्रत्ययों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है।

प्लेटो और हेगल

जिन प्रत्ययों के निकाय की कल्पना हेगल ने की है वे प्लेटो के विज्ञानों की तरह अभौतिक, बुद्धिगम्य, तन्त्रबद्ध व सभी भौतिक व मानसिक सत्ताओं के मूलाधार हैं। दोनों के विज्ञानों में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्लेटो के विज्ञान स्थैतिक हैं जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या संभवन नहीं होता वहाँ हेगल के विज्ञान गत्यात्मक हैं जिनमें एक विज्ञान तर्कतः दूसरे विज्ञानों को उत्पन्न करता है। हेगल के दर्शन में तार्किक अग्रता कालिक अग्रता का आधार है।[1] इसी कारण एरिस्टॉटल की तरह हेगल को सृष्टि के प्रारम्भ में किसी ईश्वर

1. Logical priority is the ground of temporal priority.

की कल्पना नहीं करनी पड़ी।

इस प्रकार जिन विज्ञानों की कल्पना हेगल ने की है वे एक ओर प्रकृति के तथा दूसरी ओर पुरुष दोनों के मूलाधार हैं। उसके दर्शन में जीवात्मा जड़-जगत का कारण न होकर स्वयं जड़-जगत जीवात्मा का कारण है। उसका दर्शन आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद न होकर **वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद** (Objective Idealism) है क्योंकि उसके दर्शन में विज्ञान किसी व्यक्तिगत आत्मा पर आश्रित न होकर उससे स्वतन्त्र ही होता है।

हेगल का प्रकृति-दर्शन

हेगल के प्रकृति-दर्शन के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्त धारणाएँ हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। क्रोचे (Croce) का कहना था कि हेगल ने अपने प्रकृति-दर्शन द्वारा एक बार पुनः पुनर्जागरण काल के आत्मा और प्रकृति के द्वैत को जीवन प्रदान किया। उनके अनुसार यदि चैतन्य ही एक मात्र तत्त्व है तो प्रकृति-दर्शन की आवश्यकता ही कहाँ शेष रह जाती है। पर हेगल के लिए इस प्रकार की आलोचना करना अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है। हेगल द्वारा प्रकृति के प्रतिपादन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रकृति चैतन्य से विलकुल स्वतन्त्र है। उनके अनुसार प्रकृति विज्ञान का ही बाह्य रूप है। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह वास्तव में विशुद्ध जड़ नहीं है ; वह चैतन्य का ही निम्नतम रूप है और उसके भीतर आत्म-चैतन्य प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान है। **प्रकृति से आत्मा के विकसित होने का तात्पर्य यह है कि आत्मा ने प्रकृति को बाह्य विषय के रूप में जान लिया है।** चूँकि प्रकृति स्वयं आत्म-रूप है, अतः इस प्रकृति-ज्ञान को आत्मचैतन्य (Self-Consciousness) की संज्ञा दी जा सकती है। इससे हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विकास का प्रत्येक क्रम आत्म-चैतन्य या आत्म-साक्षात्कार का ही सोपान होता है। प्रत्येक उच्चतर सोपान निम्नतर सोपान का निषेध नहीं करता बल्कि उसे अपने भीतर समाहित करने का प्रयत्न करता है। इस विकास की प्रक्रिया से एक दूसरा भी निष्कर्ष निकलता है और वह यह है कि चैतन्य अपने विकास की उन सभी पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं का ज्ञान रखता है जिनसे होकर उसकी उत्पत्ति हुई है। **चैतन्य सभी पूर्ववर्ती विकास-क्रमों का श्रेष्ठतम समाहार है।** अब हम हेगल के प्रकृति-दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

(1) हेगल के अनुसार प्रकृति वास्तविक है ; वह कोई भ्रम नहीं है। आत्मा से पृथक् उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति आत्मा के ऊपर आश्रित नहीं है ; वरन् स्वयं आत्मा ही प्रकृति से उत्पन्न हुई है। अतः प्रकृति वास्तविक है।[1]

(2) प्रकृति की सभी वस्तुएँ **संभवन** (Becoming) की प्रक्रिया में निमग्न हैं। संभवन का यहाँ तात्पर्य यह है कि प्रकृति की सभी वस्तुएँ अपने **आदर्श रूपों** (Ideal Forms) को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट हैं, यद्यपि यह सही है कि वे उन्हें पूर्ण रूप में कभी भी प्राप्त नहीं कर सकतीं। हेगल प्लेटो व एरिस्टॉटल से पूर्ण सहमत हैं।

(3) चूँकि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सदा सचेष्ट है, इससे स्पष्ट है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के भीतर एक **प्रयोजन** या उद्देश्य (Nisus)

---

1. हेगल, "Nature is the idea under the form of externality".

पाया जाता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में एक निश्चित प्रयोजन होते हुए भी प्रकृति पूर्ण रूप में अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु में सदा किसी न किसी रूप में **निर्विशेषता** (Indeterminacy) या **साध्यता** (Potentiality) अवश्य विद्यमान रहती है।

(4) अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रकृति के भीतर जो एक प्रकार की निर्विशेषता या साध्यता है, उसका कारण क्या है ? ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार प्रकृति की निर्विशेषता जड़तत्त्व की **हठधर्मिता** (Recalcitrancy) के कारण है पर हेगल के अनुसार प्रकृति की निर्विशेषता आदर्श स्वरूपों के **परत्व** (Transcendence) के कारण है। वस्तुओं के स्वरूप आदर्श रूप हैं ; वे पूर्णरूप में यथार्थ में चरितार्थ नहीं किए जा सकते। यही प्रकृति की निर्विशेषता या साध्यता का कारण है।

(5) अब यदि पूछा जाय कि प्रकृति का **अवच्छेदक गुण** क्या है ? यह किस प्रकार स्वरूपों व आत्मा से भिन्न है ? जहाँ तक भिन्नता का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि प्रकृति **साध्यता** है पर स्वरूप **सिद्धता** है। उसके अवच्छेदक गुण के सम्बन्ध में हेगल कहते हैं कि प्रकृति का अवच्छेदक गुण है उसकी **वाह्यता** (Externality)। यहाँ वाह्यता का क्या तात्पर्य है ? वाह्यता का यहाँ तात्पर्य **आत्मा से वाह्यता** नहीं हो सकती क्योंकि एक वस्तु दूसरे से वाह्य तभी हो सकती है जब कि दोनों देश-काल में स्थित हों व दोनों भौतिक वस्तुएँ हों पर आत्मा कोई भौतिक वस्तु नहीं है। इसी प्रकार वाह्यता का यहाँ तात्पर्य **शरीर से वाह्यता** नहीं है क्योंकि हमारा शरीर प्रकृति का ही तो भाग है। शरीर जब प्रकृति का ही एक भाग है तो प्रकृति शरीर से बाहर कैसे हो सकती है ? अतः वाह्यता का यहाँ वास्तविक तात्पर्य यह है कि **प्रकृति की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे के वाह्य है**। यह वाह्यता देशगत व कालगत दोनों है। देशगत वाह्यता वह है जिसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु से बाहर है। कालगत वाह्यता वह है जिसमें एक वस्तु स्वयं अपने से वाह्य है। इस प्रकार प्रकृति का विस्तार देश और काल दोनों सीमाओं के अन्तर्गत है।

(6) हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रकृति एवं आत्मा के बीच साध्यता और सिद्धता का सम्बन्ध है।प्रकृति आत्मा को उसी प्रकार आपादित करती है जिस प्रकार कली फूल को आपादित करती है। जिस प्रकार फूल कली का ही विकसित रूप है, उसी प्रकार आत्मा प्रकृति का ही विकसित रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रकृति और आत्मा के बीच द्रव्य और स्वरूप का सम्बन्ध है।

(7) किन्तु प्रकृति से जो आत्मा का विकास होता है वह कालिक (Temporal) या दैशिक (Spatial) न होकर **तार्किक** (Logical) या **मानसिक** (Ideal) है। आत्मा प्रकृति से अतीत एक **उच्चतर कोटि** की सत्ता है। अतः इनके बीच क्षैतिज (Horizontal) सम्बन्ध न होकर **लम्बवत्** (Vertical) सम्बन्ध पाया जाता है।

(8) विभिन्न सत्ताओं के बीच लम्बवत् सम्बन्ध होने के कारण ही हेगल ने कई स्तर की सत्ताओं में विश्वास किया है। यह स्तरीकरण आत्मा के क्षेत्र में तो विद्यमान है ही, प्रकृति के क्षेत्र में भी पाया जाता है। आत्मा के क्षेत्र में हम **ऐन्द्रिक आत्मा** (Sensuous Mind) एवं **बौद्धिक आत्मा** (Intellectual Mind) में भेद करते हैं उसी प्रकार प्रकृति के क्षेत्र में

हम **निर्जीव प्रकृति** (Inorganic Nature) एवं **सजीव प्रकृति** (Living Nature) में भेद करते हैं। पर हेगल के अनुसार प्रकृति में जो निम्नतर सत्ता से उच्चतर सत्ता में विकास होता है वह कालिक (Temporal) न होकर विशुद्ध **तार्किक** (Logical) ही होता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध निर्जीव या यान्त्रिक-भौतिक-जगत केवल अपने परमाणुओं में पुनर्वितरण करके जीवन (Life) को उत्पन्न नहीं कर सकता।

(9) जिस प्रकार विज्ञान-जगत में द्वन्द्वात्मक समन्वय पाया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति में भी द्वन्द्वात्मक समन्वय पाया जाता है। इसके तीन रूप हैं : जड़-रूप, रासायनिक रूप और प्राण रूप जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और संपक्ष है। **जड़** में यान्त्रिकता है ; **रासायनिक** रूप में शक्तियों का आविर्भाव होता है। जड़-रूप और रासायनिक रूप का समन्वय प्राण-रूप में होता है। **प्राण** से क्रमशः भावनाओं, संवेदनाओं और आत्म-चैतन्य का विकास होता है। आत्म-चैतन्य में आत्मा अपने को विषयी और विषय के समन्वयात्मक रूप में समझने लगती है। आत्म-चैतन्य विकास की पराकाष्ठा है।

(10) हेगल के प्रकृति-दर्शन में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया **यान्त्रिकी** (Mechanics) से प्रारम्भ होकर **भौतिकी** (Physics) से होती हुई **जैविकी** (Organics) तक पहुँचती है। **यान्त्रिकी** के भीतर देश, काल, जड़-तत्त्व, गति, गुरुत्वाकर्षण, ग्रहीय गति-विज्ञान इत्यादि विषय आते हैं। **भौतिकी** के भीतर मूलतत्त्व, संसक्ति (Cohesion), ध्वनि, ताप, विद्युत, चुम्बकत्व, रासायनिक प्रतिक्रिया इत्यादि विषय समाहित होते हैं। इसी प्रकार **जैविकी** के भीतर भूगर्भ, वनस्पतियों एवं विभिन्न जीवों का अध्ययन किया जाता है।

(11) हेगल के प्रकृति-दर्शन को यदि एक शब्द द्वारा अभिहित किया जाय तो उसे "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद"[1] (Dialectical Materialism) की संज्ञा दी जा सकती है। हेगल का भौतिकवाद एक विशुद्ध भौतिकवाद है क्योंकि हेगल के अनुसार प्रकृति किसी पूर्ववर्ती आत्मा की उपज नहीं है वरन् आत्मा ही पूर्ववर्ती प्रकृति की उपज है। उद्देश्य या प्रयोजन की दृष्टि से आत्मा पहले आ सकती है किन्तु कालदृष्टि से आत्मा विकास की अन्तिम अवस्था है। अतः हेगल का "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" पर्याप्त मौलिक भौतिकवाद है।

आत्म-दर्शन

(Philosophy of Mind)

हेगल के दर्शन में "प्रकृति के सार-तत्त्व के रूप में आत्मा की उत्पत्ति हुई है।"[2] आत्मा और प्रकृति के बीच भेद तो है पर उन्हें एक ही स्तर की दो समकक्ष सत्ताएँ मानना ठीक नहीं है। हाँ ! हमारी बुद्धि प्रकृति और आत्मा को दो समस्तरीय सत्ताएँ स्वीकार पर उनके बीच द्वैत स्थापित कर देती है जिसके परिणामस्वरूप दर्शन में नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पर ज्यों ही हम प्रकृति और आत्मा को विकास-क्रम की निम्नतर और उच्चतर सत्ताओं के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, उनके बीच सम्बन्ध की समस्या स्वतः हल हो जाती है। हेगल के अनुसार प्रकृति और आत्मा के बीच का सम्बन्ध विशेष-विशेष का सम्बन्ध नहीं

---

1. कोनर, डी० जे० ओ०, (सं०), ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसॉफी पृ० 337.
2. हेगल "Mind came into being as the truth of nature."

है, यह विशेष और सामान्य का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हेगल के दर्शन में प्रकृति और आत्मा के बीच वही सम्बन्ध है जो एरिस्टॉटल के दर्शन में द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) के बीच सम्बन्ध होता है।

हेगल ने आत्मा के विषय में एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया है। उसके अनुसार प्रकृति आत्मा का एक अविकसित (Petrified) रूप है तथा **आत्मा प्रकृति का एक विकसित रूप है।**[1] प्रकृति में जो चैतन्य सूक्ष्म रूप में विद्यमान था, आत्मा में वही विकसित होकर सिद्धता को प्राप्त हो गया।

हेगल ने अपने आत्म-दर्शन को तीन भागों में विभाजित किया है : विषयिआत्मा का दर्शन, विषय-आत्मा का दर्शन और निरपेक्ष-आत्मा का दर्शन। इन तीनों के विषय में हम क्रमशः विचार प्रस्तुत करेंगे।

(अ) विषयि-आत्मा का दर्शन (The Philosophy of Subjective Mind)—इसमें आत्मा के संकल्प-स्वातन्त्र्य पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य की रक्षा तभी कर सकती है जब कि प्रकृति के ऊपर उसकी निर्भरता बिलकुल ही न हो। विषयि-आत्मा का अध्ययन निम्न तीन विज्ञानों द्वारा सम्पादित किया जाता है। **मानव-विज्ञान** (Anthropology) में आत्मा केवल जीवात्मा (Soul) के रूप में प्रकट होती है जो प्रकृति से सम्बद्ध तथा बाह्य वातावरण द्वारा प्रभावित होती है। यह बुद्धि या विवेक का स्तर न होकर केवल भावना (Feeling) का स्तर है। इसमें मानव की जाति, राष्ट्र, लिंग, आयु, जागृति एवं सुषुप्ति की अवस्थाओं, मूल प्रवृत्तियों एवं संवेगों का अध्ययन किया जाता है। **घटना-विज्ञान** (Phenomenology) में आत्मा चेतन होकर अपने को शरीर और बाह्य परिस्थितियों से विवेक करने लगती है तथा दूसरी आत्माओं से भी सम्बन्ध करने लगती है। **मनोविज्ञान** (Psychology) **बौद्धिकता** (Rationality) का स्तर है। यहाँ आत्मा बौद्धिक हो जाती है। यह ज्ञान और संकल्प-शक्ति के गहन अध्ययन का स्तर है। यह संवेदना, अवधान, प्रतिभा, स्मृति, कल्पना, चिन्तन, भावना, संवेग, बुद्धि, दुःख, सुख इत्यादि का अध्ययन करता है। हेगल ने अपने तर्कशास्त्र में इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया है।

(ब) विषय-आत्मा का दर्शन (The Philosopy of Objective Mind)—विषय-आत्मा के दर्शन में हेगल ने वैधिक, नैतिक एवं राजनीतिक दर्शन का समावेश किया है। इन सबका वर्णन उसने अपने विश्व-कोश (Encyclopaedia) एवं अधिकार दर्शन (Philosophy of Right) में सविस्तार किया है। वास्तव में **विषय-आत्मा का दर्शन सामाजिक चैतन्य या समष्टि-चैतन्य का दर्शन है।** यहाँ आत्मा अपने को प्रकृति से मुक्त कर एक द्वितीय प्रकृति (Second Nature) का निर्माण करती है जिसकी अपनी वैधिक, नैतिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं। यह विशुद्ध संकल्प (Pure Will) का स्तर है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं साध्य तो होता ही है, साथ-साथ वह अन्य व्यक्तियों को भी साध्य समझकर उसी प्रकार उनका आदर करता है।

विषय-आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति हमें **विधि-विज्ञान** (Jurisprudence) में प्राप्त होती है जिसमें मनुष्य के अधिकार, उसकी सम्पत्ति, प्रसंविदा और दण्ड का विधान वर्णित

---

1. "Nature is mind petrified."

होता है। किन्तु विषय-आत्मा का यह रूप तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक न्यायाधीश और अपराधी के बीच द्वैत बना रहेगा। इस द्वैत का निराकरण तभी हो सकता है जब कि न्यायाधीश और अपराधी एक हो जाएँ। यहाँ बाह्य नियम से हटकर हम अन्तःकरण की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इससे हमारे भीतर नैतिक चेतना उत्पन्न होती है जिसका अध्ययन नीतिविज्ञान (Ethics) करता है। यह नैतिक चेतना तीन आरोही सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होती है : परिवार, समाज एवं राज्य। परिवार समाज के लिए तथा समाज राज्य के लिए होता है। इन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति एवं समाज के द्वन्द्व का समन्वय होता है। राज्य का लक्ष्य निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) की सिद्धि है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति और समाज का बलिदान किया जा सकता है। राज्य सर्वोच्च सत्ता है क्योंकि वह निरपेक्ष विज्ञान की निकटतम अभिव्यक्ति है। हेगल के अनुसार राजतन्त्र, प्रजातन्त्र से श्रेष्ठकर है। उन्नत समाज और उन्नत राज्य यदि चाहे तो कम उन्नत समाजों और कम उन्नत राज्यों को उन्हीं की सुख-समृद्धि के लिए अपने हाथों में ले सकते हैं। किन्तु यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि हेगल प्रजातन्त्र की अपेक्षा राज-तन्त्र को विशेष महत्त्व देता है, पर वह अधिनायकवाद का पोषक नहीं है। उसकी शासन-प्रणाली में राजा निरंकुश नहीं है क्योंकि वह संविधान, विधानसभा एवं मन्त्रियों के निर्णयों से आबद्ध है। वह केवल एक 'वैधानिक सम्राट" (Constitutional Monarch) ही होता है।

(स) निरपेक्ष आत्मा का दर्शन (The Philosophy of Absolute Mind)—निरपेक्ष आत्मा विषयि-आत्मा एवं विषय-आत्मा का समन्वयात्मक रूप है। यहाँ आत्मा का दूसरी प्रकृति से भी सम्बन्ध टूट जाता है। यह वास्तव में आत्म-चैतन्य का दर्शन है। निरपेक्ष आत्मा में सारे विरोधों का शमन हो जाता है। सम्पूर्ण द्वन्द्वों की समाप्ति के कारण निरपेक्ष आत्मा या विज्ञान का कोई प्रतिपक्ष नहीं होता। यह ऐसी अवस्था होती है जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, प्रत्यय और प्रत्येय, विज्ञान और विज्ञेय, विचार और सत्ता तथा असीम और ससीम के सम्पूर्ण भेद समाप्त हो जाते हैं। यहाँ असीम तत्त्व प्रत्येक ससीम वस्तु के अधिष्ठान रूप में स्वीकार किया जाता है। विरोधों का यह उच्चतम समन्वय हमारे समक्ष तीन रूपों में प्रकट होता है। प्रतिभान (Intuition) के रूप में, यह उच्चतम समन्वय कला (Art) के रूप में प्रस्तुत होता है ; भावना के रूप में यह उच्चतम समन्वय धर्म (Religion) के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा विचार के उच्चतम समन्वय के रूप में यह दर्शन (Philosophy) के रूप में हमारे समक्ष प्रकट होता है। हेगल ने इन तीनों समन्वयों का विशद वर्णन अपनी तीन पृथक् पुस्तकों द्वारा करने की चेष्टा की है। कला का वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक "सौन्दर्यशास्त्र का व्याख्यान" (Lectures on Aesthetics) में की है ; धर्म का वर्णन उन्होंने "धर्म-दर्शन का व्याख्यान" (Lectures on the Philosophy of Religion) में दिया है तथा दर्शन का वर्णन उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "दर्शन के इतिहास का व्याख्यान" (Lectures on the History of Philosophy) में प्रस्तुत किया है जिन पर क्रमशः वहाँ विचार किया जायेगा।

1. सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics)—ऐन्द्रिय सत्ता के रूप में **सौन्दर्य निरपेक्ष विज्ञान की निकटतम अभिव्यक्ति** है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति विभिन्न कलाओं के रूप में प्रकट होती

है। कलाओं में **वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्र-कला, संगीत** और **काव्य** आते हैं। इनमें वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला वस्तुनिष्ठ हैं तथा संगीत और काव्य आत्मनिष्ठ हैं। कला पक्ष है, संगीत प्रतिपक्ष तथा काव्य सपक्ष है। काव्य कला का सर्वोत्तम रूप है। काव्य का बाल्यकाल महाकाव्य में, संक्रमण-काल गीति-काव्य में यौवन-काल नाटक में अभिव्यक्त होता है। नाटक काव्य का सर्वोत्तम रूप है।

2. धर्मदर्शन (Philosophy of Religion)—कला के ऊपर धर्म का स्थान है। इसमें हम अपनी वहिर्मुखता का परित्याग कर पूर्ण रूप में अन्तर्मुखी हो जाते हैं। धर्म में हमें **असीम** और **ससीम** की एकता का अवबोध होता है। धर्म में धार्मिकता की अनुभूति तो है ही, साथ-साथ निरपेक्ष तत्त्व का विचार भी सन्निहित है। धर्म और दर्शन दोनों का विषय ईश्वर है ; पर उनके प्रतिपादन में थोड़ा अन्तर पाया जाता है। धर्म ईश्वर के प्रत्यय को प्रतीकात्मक रूप देकर उसकी आराधना करता है ; इसके विपरीत दर्शन ईश्वर के प्रत्यय का अनुशीलन करता है।

3. दर्शन (Philosophy)—कला और धर्म दोनों के ऊपर दर्शन का स्थान है। दर्शन में **निरपेक्ष आत्मा** अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करती है। यह पूर्ण आत्म-ज्ञान की अवस्था है। हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार कला पक्ष है, धर्म प्रतिपक्ष और दर्शन संपक्ष है। हेगल के अनुसार उनके दर्शन में निरपेक्ष आत्म-तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

6

ब्रिटिश नव्य-विज्ञानवाद
(British Neo-Idealism)

फ्रान्सिस हर्बर्ट ब्रैडले
(Francis Herbert Bradley) (1846-1924)

दार्शनिक पृष्ठभूमि—हेगल की मृत्यु के बाद दर्शन-जगत में उसके दर्शन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसके दर्शन के प्रत्येक पक्ष बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, अद्वैतवाद तथा प्रागनुभविक पद्धति का जोरदार खण्डन किया गया। हेगल के विज्ञानवाद के विरुद्ध **वस्तुवाद** (Realism) एवं **बहुलवाद** (Pluralism) ने जन्म लिया। अन्य विचारकों ने उसके बुद्धिवाद की आलोचना करते हुए कहा कि जगत को बौद्धिक कभी भी नहीं माना जा सकता ; जगत में बौद्धिक तत्त्व की अपेक्षा अबौद्धिक तत्त्व का विशेष आनयन है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दर्शन-जगत में संकल्पवाद (Voluntarism), रहस्यवाद (Mysticism) एवं प्रतिभानवाद (Intuitionism) का जन्म हुआ। हेगल के परिकल्पनात्मक तत्त्वविज्ञान के विरुद्ध **हर्बर्ट** (Herbart) ने अपने बहुलवादी वस्तुवाद को उत्पन्न किया तथा **शोपेनहार** (Schopenhaur) ने अपने संकल्पवाद को प्रस्तुत किया। **नीत्शे** (Nietzsche) ने शोपेनहार की परम्परा का अनुसरण करते हुए शक्ति-संकल्प को विशेष महत्त्व दिया।

पश्चिम जगत में विज्ञान की प्रगति एवं फ्रान्स में **प्रत्क्षवाद** (Positivism) के उदय के साथ ब्रिटेन में अनुभववादी परम्परा को एक बार पुनः बल मिला। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में **वेन्थम** (Jeremy Bentham 1748-1832) एवं **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill 1806-1873) दो अनुभववादी विचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने वैज्ञानिक पद्धति को मान्यता देते हुए परिकल्पनात्मक तत्त्वविज्ञान का विरोध किया। इसी वैज्ञानिक परम्परा का निर्वाह करते हुए **हर्बर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer 1820-1903) ने इंगलैण्ड में अपने **विकासवाद** (Evolutionism) की स्थापना की। स्पेन्सर के दर्शन की विशेषता यह थी कि उन्होंने अनुभववादी परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के स्वरूप (Forms) की व्याख्या कर **विकासवादी अनुभववाद** (Evolutionary Empiricism) की स्थापना की।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटेन में अनुभववादी परम्परा के साथ **विज्ञानवादी** परम्परा का भी अभ्युदय हुआ। यह अभ्युदय किसी दार्शनिक के माध्यम से नहीं वरन् कॉलिरिज (Coleridge), बड्सवर्थ (Wordsworth), कार्लाइल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) इत्यादि साहित्यकारों के माध्यम से हुआ। किन्तु जर्मन विज्ञानवाद का गम्भीर अध्ययन तब तक प्रारम्भ नहीं हुआ जब तक **स्टर्लिंग** (J. H. Stirling) ने सन् 1865 में अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "हेगल का रहस्य" (The Secret of Hegel) प्रकाशित नहीं कराया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में कुछ ऐसे विज्ञानवादी दार्शनिक हुए जो काण्ट एवं

हेगल के विचारों से विशेष प्रभावित थे। इनमें **टॉमस हिल ग्रीन** (T. H. Green), **एडवर्ड केयर्ड** (Edward Caird), **जॉन केयर्ड** (John Caird), **एफ० एच० ब्रैडले** (F. H. Bradley) एवं **बी० बोसांके** (B. Bosanquet) के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों के विचारों की विशेषता यह है कि जहाँ प्राचीन ब्रिटिश अनुभववादियों ने अनुभव की परमाणुवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी वहाँ ब्रिटिश विज्ञानवादियों ने आत्मा और ज्ञान की आंगिक (Organic) व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने सृष्टि में यान्त्रिकवाद (Mechanism) के स्थान पर प्रयोजनवाद (Teleology) की स्थापना की। ब्रिटेन के नव्य-विज्ञानवादियों में एफ० एच० ब्रैडले का दर्शन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

जीवन-वृत्त—फ्रान्सिस हर्बर्ट ब्रैडले का जन्म सन् 1846 ई० में लन्दन नगर में हुआ था। उनकी शिक्षा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हुई थी। यद्यपि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उन्हें प्रथम-श्रेणी ऑनर्स की डिग्री प्राप्त न हो सकी किन्तु मर्टन कालेज ने उनकी योग्यता और प्रतिभा पहचान कर उन्हें 1870 ई० में फेलो के पद पर नियुक्त किया। उनकी फेलोशिप के साथ कोई अध्यापन कार्य संलग्न नहीं था और यह शिक्षा-वृत्ति उन्हें जीवन पर्यन्त प्रदान की गई थी। पर इस फेलोशिप के साथ केवल एक शर्त जुड़ी थी कि इसका प्राप्तिकर्ता आजीवन अविवाहित रहे। ब्रैडले ने इस शर्त का जीवन भर पालन किया और मृत्यु पर्यन्त इस पद पर आसीन रहे। मर्टन कालेज की फेलोशिप प्राप्त करने के बाद ही ब्रैडले गुर्दे की बीमारी से ग्रस्त हो गये जिसके कारण उनका बाद का जीवन अस्वस्थता में ही व्यतीत हुआ। उनका अधिकांश समय ऑक्सफोर्ड में ही बीता जहाँ वे अपने दार्शनिक चिन्तन को मूर्त रूप देने के लिए पुस्तकें लिखते थे। वे दार्शनिक समस्याओं पर विलियम जेम्स और बर्ट्रण्ड रसॅल से पत्र-व्यवहार भी करते थे किन्तु वे कभी किसी से मिलते नहीं थे। वे एकान्तसेवी थे। वे कालेज के जिस कमरे में एकान्तवास करते थे उसकी खिड़कियों से कभी-कभी अपने रिवाल्वर से बिल्लियों का शिकार करते थे। ब्रैडले के मनोरंजन व आमोद-प्रमोद का यही साधन था। सन् 1924 में उन्हें आर्डर ऑव मेरिट (Order of Merit) से सम्मानित किया गया जिसके थोड़े ही दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ—ब्रैडले की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना **आलोचनात्मक इतिहास की पूर्व मान्यताएँ** (The Presuppositions of Critical History) है जिस पर लोगों का बहुत कम ध्यान गया। किन्तु दो वर्ष बाद जब उन्होंने सन् 1876 में अपना **नैतिक अध्ययन** (Ethical Studies) ग्रन्थ प्रकाशित किया, लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। इसके बाद ब्रैडले ने 1883 में दो भागों में **तर्कशास्त्र के सिद्धान्त** (Principles of Logic) को प्रकाशित किया जो विज्ञानवादी तर्कशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। उनकी सबसे अधिक ख्याति उनकी तत्त्व-मीमांसा की पुस्तक आभास और सत् (Appearance and Reality) द्वारा हुई जो 1893 में प्रकाश में आई। उनकी अन्तिम रचना **सत्य एवं तत्त्व पर निबन्ध** (Essays on Truth and Reality) है जो 1914 में प्रकाशित हुई। इस प्रकार ब्रैडले ने नीतिशास्त्र, तर्क शास्त्र एवं तत्त्व-विज्ञान सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं जो दर्शनशास्त्र की अमूल्य निधियाँ हैं।

ब्रैडले के तत्त्व-विज्ञान के दो पक्ष

ब्रैडले ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आभास और सत्' (Appearance and Reality)

को दो खण्डों में विभाजित किया है : प्रथम खण्ड को उन्होंने **आभास** (Appearance) नाम दिया है तथा द्वितीय खण्ड को **सत्** (Reality)। जिस प्रकार शंकराचार्य ने अपना ब्रह्मसूत्र-भाष्य अध्यास के विश्लेषण से प्रारम्भ किया और उसके आधार पर तत्त्व का निरूपण किया उसी प्रकार ब्रैडले भी अपना 'आभास और सत्' 'आभास' के विश्लेषण से प्रारम्भ करते हैं और उसके आधार पर 'सत्' के स्वभाव का निरूपण करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रथम खण्ड 'आभास' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बुद्धि की जितनी भी कोटियाँ (Categories) हैं, जिनके माध्यम से हम सत्ता के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं वे व्यवहारिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हों पर तात्त्विक दृष्टि से निश्चित रूप में अपर्याप्त हैं।

सभी विज्ञानवादी दार्शनिकों ने बुद्धि की कोटियों की अपर्याप्तता को स्वीकार किया है। हम सत् को जानने के लिए बुद्धि की कोटियों की सहायता लेते हैं। परन्तु बुद्धि की कोटियों के माध्यम से सत् को जानने का प्रयास सदा असफल ही होता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि की सभी कोटियाँ आन्तरिक विरोधाभासों एवं विसंगतियों से परिव्याप्त होती है। बुद्धि की कोटियों की इन विसंगतियों को उद्घाटित करने के लिए ही ब्रैडले आभास-खण्ड में इनका परीक्षण प्रस्तुत करते हैं और सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बुद्धि की सभी कोटियाँ असंगतियों एवं असामञ्जस्यों से परिपूर्ण हैं और इस कारण वे असत् हैं।

अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' के प्रथम अध्याय में ब्रैडले जिस कोटि का सर्वप्रथम परीक्षण प्रस्तुत करते हैं वह मूलगुण और उपगुण की कोटि है। इस कोटि की आलोचना के पीछे ब्रैडले का प्रमुख उद्देश्य भौतिकवाद का खण्डन एवं विज्ञानवाद का मण्डन करना था। विज्ञानवादी होने के कारण वे सर्वप्रथम इसी कोटि की आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

1. मूलगुण और उपगुण (Primary and Secondary Qualities)

हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में भ्रम और विभ्रम उत्पन्न होते हैं। भ्रम और विभ्रम जीवन के यथार्थ हैं। जीवन के ये यथार्थ हमें सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या जिस जगत को हम जानते हैं वह सत् है या असत्। जीवन का अनुभव तो यही बताता है कि जगत एक आभास (Appearance) है। ब्रैडले के ही शब्दों में : 'मैं इस प्रकार स्पष्ट करूँगा कि जगत जिसका हमें इस रूप में ज्ञान है, आत्म-बाधित है ; और अतः वह आभास मात्र है, सत् नहीं है।"[1]

जगत के विषय में जो प्रथम विचार हमारे मन में उपस्थित होता है, वह यह है कि **जगत भौतिक** है। किन्तु विज्ञानवादी होने के कारण ब्रैडले यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जगत भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। अतः वे सर्वप्रथम भौतिकवाद का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

भौतिकवाद का खण्डन

(Criticism of Materialism)

हम जगत के गुणों को दो भागों में विभाजित करते हैं : प्रथम मूलगुण (Primary

1. ब्रैडले, एफ० एच०, आभास और सत्, पृ० 9, "I shall point out that the world, as so understood, contradicts itself and is therefore appearance, and not reality."

Qualities) एवं द्वितीय उपगुण (Secondary Qualities) ब्रैडले ने इन्हें निम्न प्रकार से परिभाषित किया है : हमारे द्वारा अनुभूत पदार्थों के जो दैशिक पक्ष हैं वे मूलगुण हैं और शेष उपगुण हैं।[1] मूलगुण द्रव्य के अनिवार्य गुण हैं और शाश्वत रूप से उसमें उपस्थित रहते हैं। जैसे : ठोसपन, विस्तार, आकार, गति, स्थिति, संख्या इत्यादि। इसके विपरीत, उपगुण द्रव्य के आगन्तुक गुण हैं जो वस्तुओं के भीतर नहीं पाए जाते वरन् वे आत्मा के ऊपर आश्रित होते हैं। अर्थात् उपगुण सदा सापेक्षिक गुण होते हैं।[2] रूप, रंग, भार, स्वाद, गन्ध इत्यादि उपगुण के उदाहरण हैं।

जो भौतिकवादी हैं वे मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सम्पूर्ण भौतिकवाद मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर आश्रित हैं। अतः यदि हम भौतिकवाद का खण्डन करना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें इन मूलगुणों पर कुठाराघात करना होगा। ब्रैडले ने वास्तव में यही किया। ब्रैडले ने केवल यही नहीं किया वरन् एक कदम आगे जाकर यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की कि जगत् को मूलगुण और उपगुण के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। वे दोनों ही सत् न होकर आभास मात्र हैं। वे सर्वप्रथम उपगुणों का खण्डन करते हैं।

उपगुणों की आलोचना (Criticism of Secondary Qualities)

किसी वस्तु के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह **स्वतन्त्र** (Self-dependent) और **आत्म-संगत** (Self-consistent) हो। किन्तु ये बातें उपगुणों पर लागू नहीं होती। किसी वस्तु के भीतर या तो कोई गुण है या नहीं है। यदि उस वस्तु के भीतर कोई गुण है तो उसे वस्तु में सदा विद्यमान होना चाहिए। यह बात उपगुणों पर लागू नहीं होती। निम्न दृष्टांतों द्वारा इसे भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है।

रंग (Colour)—कोई रंगीन वस्तु सभी व्यक्तियों को एक समान दिखाई नहीं देती। विभिन्न व्यक्ति एक ही रंग को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखते हैं तथा जिनके अन्दर वर्णान्धता (Colour-blindness) है उन्हें उस रंग का ज्ञान ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में क्या कोई वस्तु रंगीन कही जा सकती है ?

कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि रंग वस्तुओं का गुण न होकर आँखों का गुण है। ब्रैडले इसे भी स्वीकार नहीं करते। किसी आँख के भीतर कोई रंग पाया जाता है या नहीं, इनकी जानकारी के लिए किसी दूसरी आँख की आवश्यकता होगी तथा इस दूसरी आँख के रंग की जानकारी के लिए तीसरी आँख की आवश्यकता होगी। इस प्रकार इस तर्क में अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी। अतः कोई भी वस्तु रंगीन नहीं है। यहाँ हमें स्वीकार करना होगा कि रंग रंगहीन वस्तु का गुण है।

शीतोष्णता (Cold and Heat)—एक ही वस्तु विभिन्न शरीरों के अवस्था-भेद के कारण ठंडी या गरम प्रतीत होती है। शरीर के ताप-क्रम की भिन्नता के कारण कोई वस्तु गरम या ठंडी मालूम पड़ती है। एक ही गुनगुना पानी गरम हाथ को ठंडा व ठंडे हाथ को गरम प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में गुनगुने पानी को गरम कहा जाय या ठंडा या दोनों या

1. वही, 'The primary qualities are those aspects of what we perceive or feel, which are spatial, and the rest is secondary.'
2. 'They are relational properties.'

कुछ नहीं। तार्किक दृष्टि से चतुर्थ विकल्प ही सही होगा। शीतोष्णता किसी वस्तु का आन्तरिक गुण न होकर उसका केवल सापेक्षिक गुण ही है। शीतोष्णता को त्वचा का गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके निर्धारण में भी पहले की तरह अनवस्था-दोष पाया जाएगा। अतः शीतोष्णता न तो किसी वस्तु का गुण है और न त्वचा का ही गुण है।

ध्वनि (Sound)—एक ही ध्वनि विभिन्न कानों को भिन्न-भिन्न प्रकार सुनाई देती है। ध्वनि को कानों का गुण भी नहीं माना जा सकता।

गन्ध और स्वाद (Smell and Taste)—गंध और स्वाद के विषय में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न नासिकाओं और जिह्वाओं को एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न गंध और स्वाद मालूम पड़ते हैं। जिस व्यक्ति को जुकाम हुआ रहता है, उसे किसी गंध या स्वाद का ज्ञान ही नहीं हो पाता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की जिह्वा पर छाले पड़े होते हैं, उसका स्वाद नष्ट हो जाता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि गंध और स्वाद वस्तुओं के आन्तरिक व अनिवार्य गुण नहीं हैं। क्या गंध और स्वाद क्रमशः नासिका और जिह्वा के गुण हैं ? इसका ज्ञान किसी नासिका या जिह्वा को ही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि किसी ज्ञानेन्द्रिय के सापेक्ष्य में ही वस्तुओं के उपगुणों की स्थापना की जा सकती है और यही बात स्वयं ज्ञानेन्द्रियों पर भी लागू होती है।[1] अतः, उपगुण वस्तुओं के गुण नहीं हो सकते। इसी बात को और पुष्ट करने के लिए ब्रैडले ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर भी संकेत किया है। यदि वस्तुओं के बिना संवेदनाओं की प्राप्ति की जा सकती है जैसा विभ्रम (Delusion) में होता है तथा संवेदनाओं के बिना वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं जैसा स्वप्न (Dream) में होता है तो वस्तुओं और संवेदनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।[2] इससे ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपगुण सत् न होकर आभासमात्र ही हैं।[3]

उपर्युक्त युक्ति के दो पहलू हैं : प्रथम निषेधात्मक पहलू और द्वितीय भावात्मक पहलू। निषेधात्मक पक्ष यह दर्शाता है कि उपगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण नहीं हैं वरन् वे आभासमात्र हैं। भावात्मक पक्ष यह दर्शाता है, कि उपगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण भले ही न हों किन्तु मूलगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण तो अवश्य ही होते हैं।

यह ठीक है कि जब हमें उपगुणों का ज्ञान होता है तो वह किसी ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से ही प्राप्त होता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि वस्तुओं के भीतर उपगुण नहीं पाए जाते। हम उन्हें उसी प्रकार से जान न पाएँ, यह बात दूसरी है। यदि हम उपगुणों को उनके मूल रूप में देख पाते तो वे हमें वस्तुओं में अवश्य दिखाई पड़ते।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि हमें किसी वस्तु के गुणों का

---

1. आभास और सत् पृ० 10 "Things have secondary qualities only for an organ and the organ itself has these qualities in no other way."
2. वही, पृ० 10, "We can have sensation without the object, and the object without the sensation, the one cannot possibly be a quality of the other."
3. वही पृ० 10, "The secondary qualities, therefore, are appearance, coming from the reality, which itself has no quality but extension."

ज्ञान सापेक्षिक रूप में ही प्राप्त हो सकता है। किसी वस्तु के निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न उठाना निरर्थक बात है। जब सभी गुण सापेक्षिक (Relative) और सम्बन्धात्मक (Relational) हैं तो किसी वस्तु के निरपेक्ष गुण (Unconditioned Qualities) का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को ब्रैडले ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है, "किसी व्यक्ति का यह कथन कि उसकी प्रेमिका, सर्वथा और स्वतः सम्मोहक है, एक धर्मसिद्धान्त है जिसमें वाद-विवाद का कोई स्थान नहीं हैं।"[1] ब्रैडले की इस उक्ति का भावार्थ यह है कि किसी वस्तु के भीतर निरपेक्ष गुण की व्यवस्था करना केवल अंधविश्वास की बात हो सकती है ; उसे तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मूलगुणों की आलोचना (Criticism of Primary Qualities)

उपर्युक्त युक्ति का भावात्मक पक्ष यह है कि वस्तुओं के उपगुण भले ही आभासमात्र हों किन्तु मूलगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण होते हैं। पर ब्रैडले ने मूल गुणों की भी आलोचना प्रस्तुत की है। मूल गुणों को यदि वास्तविक मान लिया जाय तो भौतिकवाद (Materialism) की स्थापना होती है। ब्रैडले भौतिकवाद के कट्टर विरोधी हैं। अतः उनके लिए उपगुणों के साथ मूलगुणों की आलोचना करना भी आवश्यक था। यही कारण है कि उपगुणों को आभासमात्र सिद्ध करने के बाद वे मूलगुणों की आलोचना करने को उद्यत होते हैं।

(1) जिन युक्तियों के आधार पर उपगुणों को आभासमात्र माना गया उन्हीं युक्तियों के आधार पर मूलगुणों को भी आभासमात्र सिद्ध किया जा सकता है। ब्रैडले के अनुसार सत् वह है जो स्वतन्त्र और आत्म-संगत हो। यह बात मूलगुणों पर भी लागू नहीं की जा सकती। कुछ दार्शनिक जैसे लॉक मूलगुणों को वस्तुओं का वस्तुनिष्ठ गुण मानते हैं जो ठीक नहीं है। मूलगुण भी उतने ही आत्मनिष्ठ हैं जितने उपगुण, अर्थात् मूलगुण भी उपगुणों की भाँति किसी व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं। उदाहरण के लिए विस्तार नामक मूलगुण को लिया जाय। 'विस्तार' का ज्ञान उतना ही इन्द्रिय-सापेक्ष है जितना रूप, रंग, गन्ध या स्पर्श का ज्ञान। 'गोल मेज' के अनुभव को ही लिया जाय। बिलकुल निकट से देखने पर मेज वृत्ताकार दिखाई देती है ; थोड़ी दूर से वह अण्डाकार दिखाई देती है ; और अधिक दूरी से देखने पर वह एक सरल रेखा के रूप में तथा पर्याप्त दूरी से देखने पर वह मेज पर एक बिन्दु के रूप में सिमट जाती है। इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि उपगुणों की भाँति मूलगुण भी आभास ही हैं।

(2) मूलगुणों की आत्मनिष्ठता को सिद्ध कारने के लिए ब्रैडले एक दूसरा तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार उपगुणों के बिना मूलगुणों का ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया जा सकता।[2] यदि हम विशुद्ध विस्तार का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो वह असम्भव ही होगा। विशुद्ध विस्तार जिसमें रुप, रंग, गन्ध, स्पर्श इत्यादि का अभाव हो, बिलकुल असत् है। सम्पूर्ण

---

1. आभास और सत्, पृ० 11, "To hold that one's mistress is charming ever and in herself, is an article of faith and beyond reach of question."
2. आभास और सत्, पृ० 13-14. 'Without secondary quality extension is not conceivable......'

उपगुणों से पृथक् किसी मूलगुण की कल्पना करना अपकर्षण का ही परिणाम होगा।[1]

(3) सच पूछा जाय तो मूलगुण और उपगुण सदा एक साथ निवास करते हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में हम किस आधार पर एक को मौलिक और दूसरे को व्युत्पन्न कह सकते हैं ? कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो यहाँ तक कहना है कि उपगुण ही मौलिक हैं एवं मूलगुण व्युत्पन्न।[2] इसका कारण यह है कि मूलगुणों की रचना उपगुणों के आधार पर ही की जाती है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रैडले सिद्ध करते हैं कि उपगुण और मूलगुण दोनों ही आभास हैं जिनके माध्यम से हमें सत् का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि थोड़े समय के लिए मूलगुण और उपगुण के विभाजन को स्वीकार भी कर लिया जाय तो हमारे समक्ष इन दोनों तत्त्वों के बीच सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा हो जाएगा जिसका समाधान करना बुद्धि के लिए सम्भव न होगा। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मूलगुण और उपगुण का यह कृत्रिम विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो पर तात्त्विक दृष्टि से सदा असंतोषजनक ही रहेगा। इतना होते हुए भी यदि कुछ लोग मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास कर जड़-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, तो उनके तत्त्व-दर्शन को ब्रैडले ने **बर्बर या असभ्य तत्त्वविज्ञान** (Barborous Metaphysics) की संज्ञा दी है।

2. गुणी और गुण (Substantive and Adjective)

जिस प्रकार तत्त्व को मूलगुण और उपगुण के माध्यम से नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार उसे गुणी और गुण के माध्यम से समझने की चेष्टा भी अन्ततः असफल ही होगी। यहाँ ब्रैडले गुणी और गुण की कोटि का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

हम जगत की वस्तुओं को गुणी और गुण में विभाजित करते हैं। शक्कर की एक डली का ही हम उदाहरण लें। यदि कोई प्रश्न करे कि शक्कर क्या है, तो हम उत्तर दे सकते हैं कि यह श्वेत, कठोर, मधुर एवं भंगुर है। दूसरे शब्दों में : शक्कर श्वेत, कठोर, मधुर, भंगुर इत्यादि सब कुछ है। किन्तु यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यहाँ "है" से हमारा क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई विकल्प उत्पन्न होते हैं :

1. किसी वस्तु का उसके केवल **एक गुण** के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि शक्कर मात्र मधुर है तो शायद शक्कर की मधुरता ही समाप्त हो जायेगी।

2. इसी प्रकार किसी वस्तु का उसके पृथक् **गुणों के संघात** के साथ भी तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि शक्कर मात्र श्वेतता, मात्र कठोरता एवं मात्र मधुरता का समुच्चय ही नहीं है। शक्कर की वास्तविकता उसके एकत्व (Unity) में निहित है।

3. पर किसी वस्तु के एकत्व का हमें कहाँ दर्शन होता है ? किसी वस्तु का एकत्व

---

1. वही पृ०, 14. 'In short, it is the violent abstraction of one aspect from the rest, and the mere confinement of our attention to a single side of things, a fiction which, forgetting itself, takes a ghost for solid reality.'
2. वही 'Some psychologists could urge that the secondary qualities are original and the primary derivative.'

न तो विविक्त गुणों के भीतर दिखाई पड़ता है और न गुणों के बाहर ही। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु का एकत्व निरर्थक हो जाता है।

4. किन्तु हम शक्कर या किसी अन्य वस्तु के एकत्व पर इतना बल ही क्यों दें ? हम क्यों न वस्तु के एकत्व का परित्याग कर यह कहें कि वस्तु **विभिन्न गुणों का अन्तःसम्बन्ध** (Properties in Relation) है। किन्तु यहाँ हमारे समक्ष स्वाभाविक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सम्बन्ध (Relation) की क्या स्थिति है ?

(i) निश्चित रूप में 'सम्बन्ध' का किसी सम्बन्धी या पद के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। यह कोई नहीं कहता कि "द के पहले बराबर स है" अथवा "द के दक्षिण ओर बराबर य है"।

(ii) क्या 'सम्बन्ध' को एक गुण के रूप में घटित किया जा सकता है ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार 'सम्बन्ध' एक प्रकार का गुण है जो सम्बन्धियों के भीतर निहित होता है। किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं होता। 'यदि आप उद्देश्य में एक ऐसे विधेय की स्थापना करते हैं जो उद्देश्य से भिन्न है तो आप उद्देश्य में एक ऐसे गुण का विधान करते हैं जो वह नहीं है, तथा यदि आप उद्देश्य में एक ऐसे विधेय की स्थापना करते हैं जो उससे भिन्न नहीं है, तो आप उद्देश्य के विषय में कुछ भी कथन नहीं करते।'[1] अतः 'सम्बन्ध' को गुण के रूप में घटित नहीं किया जा सकता।

(iii) यदि सम्बन्ध को केवल एक पद की विशेषता न मानकर दोनों ही पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भी कठिनाइयाँ शेष रहती हैं। कारण यह है कि सम्बन्ध दोनों पदों के पूर्व-अस्तित्व की कल्पना करता है। यदि यह कहा जाय कि पद सम्बन्ध से अलंकृत होकर ही सम्बन्धित होते हैं तो वह उचित न होगा।

(iv) ब्रैडले ने यहाँ एक चौथे विकल्प की ओर भी संकेत किया है जिसमें 'सम्बन्ध' को किसी पदार्थ का गुण न मानकर उसे एक स्वतन्त्र अस्तित्व देने की चेष्टा की जाती है। उदाहरण के लिए अ और ब इन दो वस्तुओं के बीच स नामक सम्बन्ध है जो अ और ब दोनों से स्वतन्त्र है। किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं होता। बात यह है कि स के स्वतन्त्र होने से सम्बन्ध की जो समस्या अ और ब के बीच विद्यमान थी वह एक ओर अ और स के बीच तथा दूसरी ओर ब और स के बीच उत्पन्न हो जाती है। इससे हमारे चिन्तन में अनवस्था-दोष आना अनिवार्य हो जाता है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु की गुणों एवं उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धों के माध्यम से समझने की चेष्टा करना तर्क संगत नहीं कहा जा सकता। दो वस्तुओं के बीच वास्तविक सम्बन्ध की कल्पना वहीं की जा सकती है जहाँ सम्बन्ध वस्तुओं के मूल्य पर स्थापित किया गया हो अथवा वह उन वस्तुओं के भीतर ही किसी प्रकार स्थित हो अथवा वह उन वस्तुओं से परस्पर-सम्बद्ध हो।[3] **अ और ब के बीच**

1. आभास और सत्, पृ० 17, "If you predicate what is different, you ascribe to the subject what it is not, and if you predicate what is not different, you say nothing at all."
2. वही पृ० 18, "But such a makeshift leads at once to the infinite regress."
3. वही पृ० 18, "If it is to be real, it must be so somehow at the expense of the terms, or at least, must be something which appears in them or to which they belong."

परस्पर-सम्बन्ध का निहितार्थ यह है कि उनके बीच समान तात्त्विक आधार है।[1] यह तात्त्विक आधार वह अज्ञात इकाई है जो नाना प्रकार के भेदों को धारण किए रहती है और उनके बीच समन्वय भी स्थापित करती है। ऐसा देखने में आता है कि वस्तुएँ कहीं परस्पर संगति में हैं और कहीं विरोध में। जो संगति में हैं उन्होंने अपने उक्त तात्त्विक धरातल को प्राप्त कर लिया है जो उन्हें संगति प्रदान करता है। इसके विपरीत जो विरोध में हैं उन्हें अभी उस तात्त्विक धरातल को प्राप्त करना है जो उन्हें सुसंगत बना सकता है।[2]

साथ-साथ यह भी सत्य है कि जहाँ वस्तुओं के बीच सम्बद्धता या सुसंगति है वहाँ मूल तत्त्व ने अपने एकत्व का समर्पण करते हुए ही गुणों एवं सम्बन्धों का स्वरूप धारण किया है।[3] उपर्युक्त विवचेन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि तत्त्व विशिष्टाद्वैत रूप को सुरक्षित रखने के लिए मूल तत्त्व को अपनी 'एकता' का समपर्ण करना पड़ता है तथा विभिन्न वस्तुओं को अपनी 'अनेकता' का समर्पण करना होता है। पर इस विकल्प पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उक्त विकल्प भी सर्वथा संतोषजनक नहीं है क्योंकि इनके आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि मूल तत्त्व अपने एकत्व का समपर्ण कर नानात्व रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा विभिन्न वस्तुएँ अपने नानात्व का समर्पण कर 'सम्बन्धों' के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। पर इस व्यवस्था का औचित्य प्रस्तुत करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जब तक हम इस व्यवस्था के औचित्य को न जान लें, उसे स्वीकार करना हमारे लिए असम्भव है। इस विवेचन के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रयत्न एक तदर्थ योजना (Makeshift) है।[4] इससे तथ्यों की वास्तविक व्याख्या नहीं की जा सकती है। हमारे अनुभव और विमर्श तत्त्व की अविभाज्य एकता को गुणी और गुण के रूप में विभाजित कर पुनः उनके बीच एकता स्थापित करने की चेष्टा करते हैं जिससे कि विविधता ओर सामञ्जस्य के बीच सह-अस्तित्व स्थापित किया जा सके। पर जब एक बार भेद स्थापित हो जाता है तो वस्तु की मौलिक एकता को प्राप्त करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जाता है।

अन्त में : ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुओं में जो भेद हमें दिखाई देते हैं वे हमारे दृष्टिकोण-भेद के कारण हैं। वस्तु स्वतः अपनी एकता को सदा धारण करती है। हम वस्तु के भीतर जो गुणी और गुण का भेद देखते हैं वे तत्त्व को देखने के दृष्टिकोण मात्र हैं।

---

1. वही पृ० 18, 'A relation between A and B implies really a substantial foundation within them.'
2. वही पृ० 19, 'Contrary is that which cannot find the relation which serves to couple them apart. It is a marriage attempted without a modus vivendi.'
3. वही पृ० 19, "Where the whole, relaxing its unity, takes the form of an arrangement, there is co-existence with concord."
4. वही पृ० 19, "The thing avoids contradiction by its disappearance into relation and by its admission of the adjectives to a standing of their own. But it avoids contradiction by a kind of suicide.........The whole device is a clear makeshift.........Such a arrangement may work, but the theoretical problem is not solved."

इससे तत्त्व पर कोई आघात नहीं पहुँचता।[1] हाँ ! इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इससे हमारी समस्याएँ कम होने की अपेक्षा द्विगुणित हो जाती हैं। गुणी और 'गुण' वास्तविक न होकर तत्त्व के आभास मात्र हैं।

3. सम्बन्ध और गुण (Relation and Quality)

जिस प्रकार 'मूलगुण-उपगुण' और 'गुणी-गुण' नामक बुद्धि की कोटियों के माध्यम से सत् को पूर्ण रूप में नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार सम्बन्ध और गुण नामक कोटियाँ भी आन्तरिक विसंगतियों से परिपूर्ण हैं और उनके माध्यम से तत्त्व का सम्यक् बोध नहीं किया जा सकता। इसका थोड़ा आभास हमें पूर्व प्रकरण में ही मिल गया था। ब्रैडले इस प्रतिपाद्य विषय को अपनी शैली में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं : "सम्बन्धों एवं गुणों के माध्यम से जो प्रदत्त तथ्यों का विन्यास किया जाता है वह व्यावहारिक दृष्टि से भले ही अनिवार्य हो पर सैद्धान्तिक दृष्टि से वह बोधगम्य नहीं है। अतः इस कोटि के माध्यम से प्रस्तुत सत् वास्तविक न होकर आभास ही है।"[2]

ब्रैडले के अनुसार जब हम 'सम्बन्ध' और 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे यही ध्वनित होता है कि ये दोनों परस्पर-स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। वस्तुवादी (Realists) इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि गुण की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। गुण का पहले एक पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और इसके बाद ही वह किसी अन्य गुण से सम्बद्ध होता है। ब्रैडले वस्तुवाद से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि "सम्बन्धों से पृथक् गुणों का कोई अस्तित्व नहीं है। सम्बन्धों के बिना गुणों की अपनी कोई सत्ता नहीं है।" इसी प्रकार गुणों के विना सम्बन्धों की भी कल्पना नहीं की जा सकती। जब हम किसी तथ्य को सम्बन्धों एवं गुणों की कोटियों के माध्यम से वर्णन करने की चेष्टा करते हैं, हमारा चिन्तन नाना प्रकार के विरोधाभासों एवं व्याघातों से दूषित हो जाता है। इन विरोधाभासों को स्पष्ट करने के लिए ब्रैडले निम्न चार विकल्पों का परीक्षण करते हैं और अन्य में निष्कर्ष निकालते हैं कि सम्बन्ध और गुण आभासिक हैं। वे चारों विकल्प इस प्रकार हैं—

(1) गुणों की कल्पना सम्बन्धों के बिना नहीं की जा सकती।

(2) गुणों की कल्पना सम्बन्धों के साथ भी नहीं की जा सकती।

(3) सम्बन्ध की कल्पना गुणों के बिना नहीं की जा सकती।

(4) सम्बन्ध की कल्पना गुणों के साथ भी नहीं की जा सकती।

ब्रैडले उपर्युक्त सभी विकल्पों का तार्किक परीक्षण करते हैं और सब को तार्किक दोषों से ग्रस्त पाते हैं। इन चारों विकल्पों को संपीडित कर वे उन्हें निम्न प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रकट करते हैं : **सम्बन्ध गुणों को पूर्वकल्पित करते हैं तथा गुण सम्बन्धों को पूर्वकल्पित**

---

1. वही, पृ० 20. "The thing itself maintains its unity, and the aspects of adjective and substantive are only our points or view. Hence, they do no injury to the real."
2. आभास और सत्, पृ० 21. "The arrangement of given facts into relations and qualities may be necessary in practice, but it is theoretically unintelligible. The reality so characterized, is not true reality, but is appearance."

करते हैं।[1] अर्थात् गुणों के बिना न सम्बन्धों की कल्पना की जा सकती है और न सम्बन्धों के बिना गुणों की ही कल्पना की जा सकती है। अब हम उपर्युक्त चारों विकल्पों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे—

1. सम्बन्धों के बिना गुण असत् हैं।[2]

सम्बन्धों के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। ब्रैडले ने इस विषय का दो दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया है : प्रथम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और द्वितीय तार्किक दृष्टिकोण से।

(अ) मनोवैज्ञानिक युक्ति—यदि हम गुणों के स्वरूप का अध्ययन करें तो देखेंगे कि द्रष्टा एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए एक वृत्ताकार मेज को ही ले लीजिए। निकट से देखने पर मेज वृत्ताकार दिखाई देती है ; थोड़ी दूर जाने पर वही मेज अण्डाकार हो जाती है, थोड़ी दूर और जाने पर वह रेखाकार हो जाती है तथा अधिक दूरी पर मेज बिन्दु का आकार ग्रहण कर लेती है और अन्त में अधिकतम दूरी पर वह बिलकुल अदृश्य हो जाती है। संयोग की स्थिति में गुलाब की लालिमा आह्लाद उत्पन्न करती है ; वियोग की स्थिति में वह दुःख प्रदान करती है पर योग की स्थिति में उसके प्रति तटस्थ भाव रहता है। इस प्रकार परिस्थितियों एवं द्रष्टा में परिवर्तन के साथ गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः गुण सम्बन्धों पर ही आश्रित होते हैं।

यह ठीक है कि जब हम चेतना की अभेदित अनुभूति को देखते हैं तो वहाँ न तो कोई गुण दिखाई देता है, और न कोई सम्बन्ध ही। पर ज्यों ही हमें किसी गुण का ज्ञान होता है वहाँ सम्बन्ध अवश्य दृष्टिगोचर हो जाता है। किसी द्रष्टा के साथ सम्बन्ध के बिना किसी गुण की कल्पना नहीं की जा सकती।

कुछ लोग यह आक्षेप लगा सकते हैं कि तत्त्व के भीतर गुण तो रहेंगे ही चाहे हम उनका प्रत्यक्षीकरण करें या न करें। किन्तु ब्रैडले के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है। सम्बन्ध के बिना किसी गुण की कल्पना करना **प्रक्रिया** और **प्रतिफल** के पृथक्करण पर निर्भर है[3] जो वस्तुतः सही नहीं है।

(ब) तार्किक युक्ति—सम्बन्ध के बिना गुणों की कल्पना नही की जा सकती। इसका समर्थन करने के लिए ब्रैडले ने एक तार्किक युक्ति भी दी है जो निम्न है : कल्पना किया कि अ और ब दो गुण हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि अ और ब एक दूसरे से भिन्न हैं तो यह भिन्नता कहीं न कहीं स्थित होनी चाहिए। यदि अ और ब की भिन्नता अ और ब के बाहर स्थित है तो तुरन्त दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। तथा यदि अ और ब के भीतर स्थित है तो भिन्नता की यह समस्या इन गुणों के बीच उत्पन्न हो जाती है। अ के भीतर उसका एक अपना गुण होगा ओर दूसरा उसका अन्यत्व (Otherness) होगा। यही बात ब पर भी लागू होगी। ऐसी स्थिति में अ और ब के भीतर सम्बन्ध स्थापित

1. वही, पृ० 21 "Relation pre-supposes quality and quality relation."
2. वही, पृ० 21. "Qualities are nothing without relations."
3. वही पृ० 23, "But such an answer depends on the separation of product from process, and this separation seems indefensible."

हो जायगा जिसे हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :
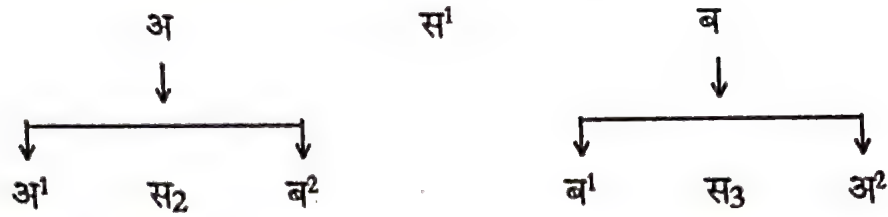
संक्षेप में : सम्बन्ध के बिना भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती।[1] यदि भेद नहीं है तो गुण भी नहीं है क्योंकि तब सभी कुछ अभेदित ही रहेगा। किन्तु यदि संसार में भेद हैं तो वहाँ सम्बन्ध अवश्य रहेगा।[2] इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि सम्बन्ध के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। उनका यह मत उनके विज्ञानवाद के अनुकूल ही है।

2. सम्बन्धों के साथ भी गुण असत् हैं।[3]

यदि सम्बन्धों के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती तो सम्बन्धों के साथ भी गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। सम्बन्धों के साथ गुणों के होने का तात्पर्य यह है कि किसी रूप में गुण सम्बन्धों पर आश्रित होते हैं तथा गुणों का कुछ न कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व भी पाया जाता है।[4] पर इस प्रकार विचार करने से किसी गुण की एकता (Unity) भंग हो जाती है तथा उसके भीतर विविधता (Diversity) उत्पन्न हो जाती है। कल्पना किया कि अ और ब दो गुण हैं जिनके बीच स नामक सम्बन्ध पाया जाता है। चूँकि अ, ब और स तीनों साथ पाये जाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि अ के भीतर स्वतन्त्र तत्त्व अ[1] है तथा दूसरा परतन्त्र तत्त्व इ[1] है जो ब के साथ सम्बन्ध होने के कारण उत्पन्न हुआ है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि पहले जो सम्बन्ध समस्या अ और ब के बीच थी, वही अब अ[1] और इ[1] के बीच उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जाती है। जो समस्या अ और ब के बीच थी, वही ब और अ के बीच भी उसी प्रकार उत्पन्न की जा सकती है। इस तार्किक प्रक्रिया को हम निम्न प्रकार अंकित कर सकते हैं—
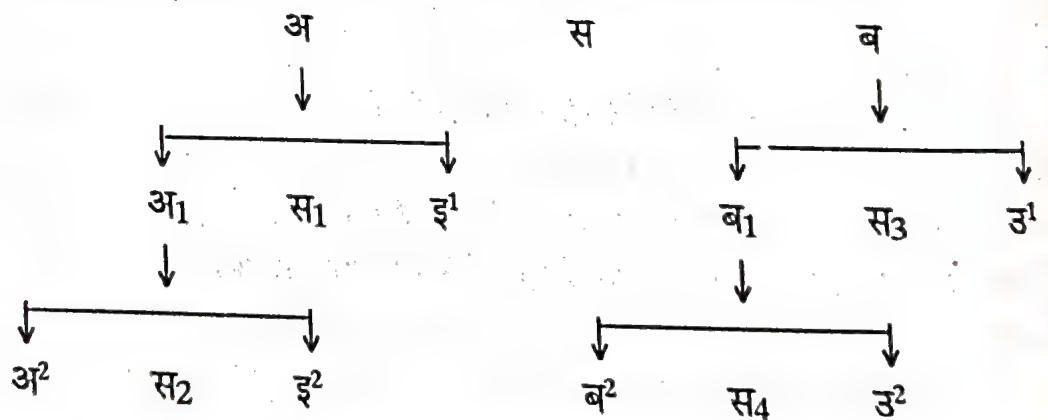
1. वही, पृ० 24, "In brief, diversity without relation seems a word without meaning."
2. वही, पृ०, 25, "........if there are no differences, there are no qualities, since all must fall into one. But if there is any difference, then that implies a relation."
3. वही पृ०, 25, "Unfortunately taken together with them, they are equally unintelligible."
4. वही, पृ० 26, "Hence the qualities must be, and must also be related."

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का एक दोहरा स्वभाव है। वह स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों हैं। वह हेतु (Condition) और परिणाम (Result) दोनों है। यहाँ प्रत्येक वस्तु में एक ऐसी विखण्डन (Fissure) की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है जो अनन्त तक जारी रहती है।[1] उसका कहीं अन्त नहीं होता। इस प्रकार सम्बन्धों के साथ भी गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती।

3. गुणों के बिना सम्बन्ध असत् हैं।

ब्रैडले के अनुसार गुणों के बिना सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है। गुणों के बिना सम्बन्ध के विचार शब्दाडम्बर मात्र हैं।[2] पदों का अस्तित्व सम्बन्धों से स्वतन्त्र होना चाहिए अन्यथा सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह कहना कि सम्बन्ध स्वयं अपने सम्बन्धियों को उत्पन्न करता है बिलकुल निरर्थक धारणा है।[3] पदों के बिना सम्बन्ध का विचार करना एक अमूर्त विचार है जिसका संसार में कहीं अस्तित्व नहीं है।

4. गुणों के साथ भी सम्बन्ध असत् हैं।

अन्त में ब्रैडले एक चतुर्थ विकल्प पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि गुणों के साथ भी सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। सम्बन्ध का गुणों के साथ कैसा सम्पर्क है इसका सार्थक विचार नहीं किया जा सकता। यदि सम्बन्ध को हम एक ठोस और वास्तविक वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं तो इस ठोस वस्तु का गुणों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अन्य सम्बन्धों की कल्पना करनी होगी और इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी।[4] तथा यदि सम्बन्ध को हम एक अवास्तविक एवं तरल वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं तो वह गुणों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर ही नहीं सकता।[5]

उपर्युक्त तर्कों पर विचार के बाद ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्बन्धात्मक विचार—वह जो पदों और सम्बन्धों के माध्यम से संचालित होता है, केवल आभास को ही व्यक्त करता है, सत् को नहीं। यह एक कामचलाऊ वस्तु है, एक युक्ति है, एक व्यावहारिक समझौता है जो अनिवार्य होते हुए भी असमर्थनीय है।[6]

---

1. वही, पृ० 26, "We, in brief, are led by a principle of fission which conducts us to no end."
2. वही, पृ० 27, "In the first place, a relation without terms seems mere verbiage."
3. वही, पृ० 27, "......a relation which somehow precipitates terms......is really a phrase without meaning."
4. वही, पृ० 28, "If you take the connection as a solid thing you have got to show, and you cannot show, how the other solids are joined to it."
5. वही, पृ० 28, "And, if you take it as a kind of medium or unsubstantial atmosphere, it is a connection no longer."
6. वही, पृ० 28, "......a relational way of thought—any one that moves by the machinery of terms and relation—must give appearance and not truth. It is a makeshift, a device, a mere practical compromise, most necessary but in the end most indefensible."

4. जीवात्मा (Self)

प्रायः लोग आत्मा को सत् ही समझते हैं क्योंकि इसके विषय में संदेह प्रकट नहीं किया जा सकता है। किन्तु ब्रैडले आत्मा को सत् न समझकर उसे आभास मात्र ही स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ ब्रैडले आत्मा को जीवात्मा के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा की कल्पना में इतनी विसंगतियाँ हैं कि उसे सत् कभी नहीं माना जा सकता। अब, वे जीवात्मा के विभिन्न पर्यायों पर विचार करते हुए उसका खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

(i) **देहात्मवाद**—प्रथम विकल्प में ब्रैडले आत्मा का देह या शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं और प्रश्न करते हैं कि क्या इस देहात्मा को सत् कहा जा सकता है ? स्पष्ट है कि शरीर को ही हम आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक समझदार व्यक्ति आत्मा और अनात्मा में भेद करता है।

यह कोई नहीं कहता है "मैं शरीर हूँ।" सब यही कहते हैं कि "यह मेरा शरीर है।" आत्मा विषयी है और शरीर विषय है। अतः, दोनों के बीच तादात्म्य किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? अतः ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से आत्मा के इस प्रकार के अर्थ का कोई मूल्य नहीं है।

(ii) **अनुभूतियों के समुच्चय-रूप में आत्मा**—क्या आत्मा का अनुभूतियों के समुच्चय के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ? अनुभूतियों के समुच्चय से यहाँ तात्पर्य हमारी संवेदनाओं, भावनाओं एवं विचारों के उस पुञ्ज से है जो किसी क्षण हमारे भीतर विद्यमान रहता है। इस विकल्प पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अनुभूतियों के समुच्चय रूप में भी आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम वर्तमान अनुभूतियों के स्वरूप को समझने का प्रयास करें तो देखेंगे कि अनुभूतियाँ विषय-वस्तुओं से सम्बन्धित होती हैं और बाह्य वस्तुओं के बिना हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि बाह्य परिस्थितियों को परिवर्तित कर दिया जाय तो निश्चित रूप में हमारी अनुभूतियों में भी परिवर्तन आ जायेगा। इसके फलस्वरूप 'आत्मा' की सीमाओं को निश्चित करना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सकेगा।

अतः, ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान अनुभूतियों के समुच्चय के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

(iii) **औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा**—आत्मा के विषय में एक तीसरे विकल्प पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा किसी एक क्षण की अनुभूतियों का संग्रह नहीं है वरन् वह अनुभूतियों की एक नियत औसत मात्रा है।[1] किन्तु आत्मा के इस रूप के विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, जो 'अनुभूतियों के समुच्चय, रूप आत्मा के विरुद्ध उठाई गई थीं। इसमें भी 'अनात्म' तत्त्व सम्मिलित होता है और इस तत्त्व के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। पर इस तत्त्व को आत्मा से पृथक् भी नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी-कभी तो इतने अभिन्न रूप से यह उससे युक्त हो जाता है कि उसे पृथक करने पर उसका अस्तित्व ही खण्डित हो जाता है। इस विकल्प के सम्बन्ध में एक

1. वही, पृ० 66, "Not the mass of any one moment, but the constant averege mass, is the meaning of self."

अन्य कठिनाई यह है कि इस 'औसत व्यक्तित्व' का हमें ज्ञान कैसे हो सकता है ? औसत वहीं निकाला जा सकता है जहाँ स्थिर इकाइयाँ हो जैसी कि गणितीय इकाइयाँ[1] होती हैं। किन्तु अनुभूतियाँ सदा तरल एवं परिवर्तनशील होती हैं। अतः, इनका औसत निकालना सदा कठिन होता है।

औसत प्राप्त करने के सम्बन्ध में ब्रैडले ने एक दूसरी कठिनाई की ओर भी संकेत किया है। जिसे हम सामान्यतः एक व्यक्तित्व कहते हैं वह जीवन-संघर्षों के कारण अथवा परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के कारण कई भागों में खण्डित हो जाता है। कई बार तो व्यक्तित्व में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि हमारे लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि यह वही प्राचीन व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का सातत्य सदा एक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में जब हम औसत व्यक्तित्व की बात करते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह औसत व्यक्तित्व आमूल परिवर्तन के पूर्व का औसत व्यक्तित्व है अथवा उसके बाद का औसत व्यक्तित्व है ? स्पष्ट है कि यहाँ हमें एक से अधिक औसत व्यक्तित्व की कल्पना करनी होगी। अतः आत्मा के सम्बन्ध में औसत व्यक्तित्व की कल्पना एक भ्रामक विचार है।[2]

(iv) सार के रूप में आत्मा—चौथे विकल्प के रूप में ब्रैडले ने आत्मा का किसी व्यक्ति के सार-तत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यह सार-तत्त्व हमारी विशिष्टताओं को अभिव्यक्त करता है और अन्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं से हमें पृथक करता है। यही सार-तत्त्व ही हमारी आत्मा है।

अब, प्रश्न यह है कि यह सार-तत्त्व है क्या ? यदि इस सार-तत्त्व को जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से सम्बन्धित मान लें तो यह सार-तत्त्व, रह ही नहीं जायगा क्योंकि अनुभूतियाँ सदा परिवर्तनशील होती हैं। जो परिवर्तनशील अनुभूतियों से सम्बन्धित होगा वह परिवर्तनों से अछूता कैसे रह सकता है ? 'सार-तत्त्व' को अनुभूतियों से सम्बद्ध मानने पर उसे भी परिवर्तनशील मानना होगा। पर जो परिवर्तनशील है वह सार-तत्त्व नहीं हो सकता।[3] यदि सार-तत्त्व की नित्यता को सुरक्षित रखने के लिए उसे परिवर्तनशील अनुभूतियों से नितान्त पृथक् कर लिया जाय तो वह इतना अधिक संकुचित हो जायेगा कि उसे 'सार-तत्त्व' कहने में संकोच का अनुभव होगा।[4]

सार-तत्त्व की आगे व्याख्या करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उसके प्रत्यय में 'सातत्य' या एकता (Identity) का होना अनिवार्य है। यह एकता दो प्रकार की हो सकती है : या तो वह शारीरिक एकता होगी या मानसिक एकता। पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो देखेंगे कि हमारे जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त न तो कहीं शारीरिक एकता दिखाई पड़ती है और न मानसिक एकता ही। शरीर और मन दोनों इतने परिवर्तनशील हैं कि उनमें एकता

---

1. Mathematical Units.
2. वही, पृ० 68, "When we look at the facts and survey the man's self from the cradle to the coffin, we may be able to find no one average."
3. वही, पृ० 68, "If you take an essence which can change, it is not an essence at all."
4. वही, पृ० 69, "This wretched fraction and poor atom, too mean to be in danger—do you mean to tell me that this bare remnant is really the self."

ढूँढ़ना व्यर्थ की ही बात समझी जायेगी।

पुनः कुछ लोग अखण्डित स्मृति के आधार पर आत्मा की कल्पना करते हैं। पर ब्रैडले के अनुसार स्मृति भी खण्डित एवं एकांगी होती है। स्मृति पर पूर्ण रूप में भरोसा भी नहीं किया जा सकता। स्मृति कभी हमें धोखा भी दे जाती है। अतः स्मृति के आधार पर नित्य आत्मा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ?

(v) **चिदणुओं के रूप में आत्मा**—पाँचवें विकल्प के रूप में ब्रैडले प्रश्न करते हैं कि क्या लाइब्नित्स के चिदणुओं को आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है ? चिदणुओं के भीतर मुख्यतया दो विशेषताएँ पाई जाती हैं : **स्वतन्त्रता** एवं **अनेकता**। साथ-साथ उनमें **चैतन्य** भी पाया जाता है। ब्रैडले के अनुसार आत्मा की इस परिकल्पना में कई कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। प्रथम, यदि चिदणु चेतन हैं तो उनमें अनेकता का क्या आधार हो सकता है ? द्वितीय, यदि सभी चिदणु स्वतन्त्र एवं आत्मकेन्द्रित इकाइयाँ हैं तो उन्हें अनेकता का ज्ञान ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? पुनः, यदि सभी चिदणु इकाइयाँ हैं तो उनके बीच सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? उनके बीच सम्बन्ध की कल्पना करने पर चिदणुओं की स्वतन्त्रता एवं निरपेक्षता में व्याघात पहुँचेगा।[1] यही नहीं, ब्रैडले के अनुसार, चिदणुओं के रूप में आत्मा की कल्पना करने पर हमारी विद्यमान समस्याओं में वृद्धि ही होगी और किसी समस्या का समाधान भी नहीं हो सकेगा।[2]

(vi) **निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में आत्मा**—क्या आत्मा का निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ? इस मत के विरुद्ध ब्रैडले कहते हैं कि निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना (Infra-relational Consciousness) प्रत्ययात्मकता या काल्पनिकता (Ideality) के दोष से दूषित है। दूसरी बात यह है कि निम्न-सम्बन्धात्मक अनुभूति में स्वातिक्रमण (Self-transcendence) की प्रवृत्ति विद्यमान होती है। यह सम्बन्धात्मक अनुभूति में परिणत होना चाहती है। अतः ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना को आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(vii) **सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में आत्मा**—सम्बन्धात्मक चेतना (Relational Consciousness) के रूप में भी आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इस चेतना में तत् (That) और किम् (What) का स्पष्ट भेद होता है और इस प्रकार यह काल्पनिकता के दोष से दूषित होता है। इसमें व्यवहितत्व का दोष भी पाया जाता है। इस प्रकार सम्बन्धात्मक चेतना वास्तविक आत्मा नहीं है।

(viii) **आत्म-चेतना के रूप में आत्मा**—यदि आत्मा को आत्म-चैतन्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसमें भी बहुत सी असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं। यदि इस आत्म-चैतन्य का सूक्ष्म परीक्षण किया जाय तो हम देखेंगे कि यह ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न पक्षों का तादात्म्य

1. वही, पृ० 101-102, "If there is more than one self in the universe, we are met by the problem of their relation to each other.....but relations admitted again are fatal to the monad's independence."
2. वही, पृ० 103, "Monadism on the whole will increase and will add to the difficulties which already exist and it will not supply us with a solution of any single one of them."

है। इन दो भिन्न और विरोधी पक्षों के बीच किस प्रकार तादात्म्य हो सकता है, इसका समुचित समाधान होना सम्भव नहीं है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्वीकृत आत्म-चैतन्य में विद्यमान 'आत्म' एवं 'अनात्म' इन दोनों तत्त्वों में कितनी भी पारदर्शिता क्यों न आ जाय, उनकी विभाजन-रेखा को समाप्त करना असम्भव है।

अन्त में, ब्रैडले कहते हैं कि 'आत्म' एवं 'अनात्म' की सीमाएँ सदा परिवर्तनीय हैं। अतः सिद्धान्ततः यह कहना कठिन है कि इसमें कौन सी स्थायी रूप में आत्मा है और कौन अनात्मा। व्यावहारिक रूप में : निरीक्षण के किसी भी एक बिन्दु पर जिस वस्तु को अध्ययन हेतु पृथक् कर लिया जाता है उसे 'अनात्म' और शेष सभी को 'आत्म' कहा जाता है। बाद में जब उस बिन्दु में रुचि समाप्त हो जाती है और किसी अन्य वस्तु में हम रुचि लेने लगते हैं तो वह वस्तु 'अनात्मा' हो जाती है और शेष सभी तत्त्व 'आत्मा' कहलाता है। अतः, 'आत्मा' और 'अनात्मा' का भेद हमारी रुचियों पर निर्भर करता है और उसका कोई पारमार्थिक महत्त्व नहीं है।

(ix) **व्यक्तिगत अनन्यता के रूप में आत्मा**—कुछ लोग व्यक्तिगत अनन्यता के रूप में आत्मा को समझने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार जीवन के तमाम परिवर्तनों के बीच आत्मा एक स्थिर अपरिवर्तनीय एकता है। किन्तु ब्रैडले के अनुसार इस अपरिवर्तनीय एकता को समझना असम्भव है। जिस व्यक्तिगत अनन्यता की ओर यहाँ संकेत किया गया है वह दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। अतः, अनन्यता की यह स्वीकृति आकस्मिक ही प्रतीत होती है। इसका कोई तार्किक आधार नहीं है।

यदि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से विचार किया जाय तो देखेंगे कि आत्मा की उपर्युक्त कल्पना का केवल निषेधात्मक महत्त्व ही है क्योंकि यह आत्मा के विषय में खण्डित इकाइयों के विचार का निषेध करती है। व्यावहारिक दृष्टि से यह परिकल्पना मूल्यवान इसलिए है कि यह स्मृति का एक ठोस आधार प्रस्तुत करती है। पर यहाँ हमारे समक्ष जो सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है वह यह है कि यह परिवर्तनीय समानता किस प्रकार परिवर्तनीय असमानताओं के साथ अपनी संगति स्थापित करती है। इसलिए ब्रैडले ने इसे एक मनोवैज्ञानिक दानव (Psychological Monster) की संज्ञा दी है।

सत् का सामान्य स्वरूप

(The General Nature of Reality)

ब्रैडले ने सत् के सामान्य स्वरूप पर दो प्रकार से विचार किया है : प्रथम उसके अमूर्त या तार्किक स्वभाव (Abstract Nature) पर एवं द्वितीय उसके मूर्त स्वभाव (Concrete Nature) पर। मूर्त स्वभाव पर विवेचन के पूर्व हम सत् के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करेंगे।

आभास के खण्ड में हमने मूलगुण एवं उपगुण, गुणी एवं गुण, गुण एवं सम्बन्ध इत्यादि विकल्पों के माध्यम से तत्त्व को जानने की चेष्टा की, किन्तु उनके तार्किक विश्लेषण के बाद वे सभी आत्म-विसंगतियों से परिपूर्ण हैं। तत्त्व इन विधेयों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकता। वे आभास मात्र हैं। किन्तु जब हम उपर्युक्त कोटियों को आभास मान कर उन्हें अस्वीकार कर देते हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे पूर्णतया असत् हैं। उनका

तत्त्व के भीतर कहीं न कहीं अस्तित्व अवश्य होना चाहिए क्योंकि वे हमारे ज्ञान के विषय हैं। उन्हें पूर्णतया असत् कहने का कोई अर्थ नहीं है। तत्त्व को किसी न किसी रूप में आभास को भी धारण करना चाहिए अन्यथा उस सीमा तक वह अपूर्ण हो जायेगा।[1] आभासों के विश्लेषण का यही एक भावात्मक निष्कर्ष है।

पर जहाँ तक तत्त्व के स्वभाव का प्रश्न है, हम उसके विषय में कुछ भी नहीं जानते। साथ-साथ यह भी सही है कि तत्त्व के विषय में हम पूर्णतया अनभिज्ञ भी नहीं हैं। उसके विषय में हमें न तो पूर्ण ज्ञान है और न पूर्ण अज्ञान, अन्यथा हमारे भीतर तत्त्व के विषय में कोई जिज्ञासा ही नहीं हो सकती। चूँकि हमारे भीतर तत्त्व-जिज्ञासा है, इसका अर्थ ही यह है कि तत्त्व के विषय में हमें कुछ जानकारी अवश्य है। अब हम तत्त्व के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करेंगे।

(1) **मूल-तत्त्व वह है जो आत्म-निषेधक नहीं है।**[2] जो आत्म-निषेधक है वह आभास है तथा जो आत्म-निषेधक नहीं है वह सत् है। तत्त्व का यह निरपेक्ष निकष (Absolute Criterion) है क्योंकि इसके निषेध में भी इसकी वैधता प्रगट हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति इस निरपेक्ष निकष के प्रति सन्देह प्रकट करे तो वह स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि हमें इस निरपेक्ष निकष की जानकारी न होती तो हम आभासों को "आभास" कह कर उनकी निन्दा किस प्रकार करते ? हम जानते हैं कि "**विचार करने का अर्थ निर्णय करना है और निर्णय का अर्थ आलोचना करना है और आलोचना करने का अर्थ है तत्त्व के किसी निकष का प्रयोग करना।**"[3] इसका तात्पर्य यह है कि जब हम आभासों को आत्म-व्याघातक होने के कारण असत् कहते हैं तो स्पष्ट है कि जो आत्म-संगत होगा वह सत् होगा। यही ब्रैडले का निरपेक्ष निकष है।

उपर्युक्त निकष के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह विशुद्ध निषेधात्मक है और निषेधात्मक निकष तत्त्व के विषय में किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराता। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उपर्युक्त निकष विशुद्ध निषेधात्मक नहीं है क्योंकि विशुद्ध निषेध बिलकुल असम्भव है।[4] प्रत्येक निषेध का कोई न कोई भावात्मक आधार अवश्य होता है। ब्रैडले ने इसी तथ्य को निम्न प्रकार व्यक्त किया है :

"**हमारा मानदण्ड विसंगति का निषेध करता है ; अतः सुसंगति का आग्रह करता है। यदि हम इस बात से आश्वस्त हैं कि असंगत असत् है, हमें तर्कतः इस बात से उतना ही आश्वस्त होना चाहिए कि तत्त्व सुसंगत है।**"[5]

(2) तत्त्व का ऐसा स्वभाव है कि वह प्रत्येक आभासिक वस्तु को अपने भीतर सुसंगत

---

1. वहीं, पृ० 119, "For reality must own and cannot be less than appearance."
2. वही, पृ० 120, "Ultimate reality is such that it does not contradict itself."
3. आभास और सत्, पृ० 120, "Hence, to think is to judge, and to judge is to criticize and to criticize is to use a criterion of reality."
4. Bare negation is logically impossible.
5. वही, पृ०, 123, "Our standard denies in-consistency, and therefore asserts consistency. If we can be sure that the inconsistent is unreal, we must, logically, be just as sure that the reality is consistent."

रूप में समाहित करता है।[1] हम ऊपर देख चुके हैं कि तत्त्व सुसंगत है। साथ-साथ संसार में विसंगतियों का भी अस्तित्व है जो तत्त्व के बाहर नहीं हो सकती। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सुसंगति में विसंगतियों की स्थिति क्या हो सकती है ? यदि तत्त्व के भीतर विसंगतियाँ विसंगतियों की तरह विद्यमान होंगी तो इससे तत्त्व के स्वरूप का व्याघात होगा। अतः यही निष्कर्ष निकालना श्रेयस्कर है कि विशाल तत्त्व के भीतर विसंगतियाँ अपना स्वरूप खोकर सुसंगति के रूप में परिणत हो जाती हैं।

(3) तत्त्व के द्वितीय स्वभाव का अनिवार्य परिणाम यह है कि वह अद्वितीय है। तत्त्व के भीतर नानात्व हो सकता है पर वह तत्त्व के एकत्व का व्याघात नहीं करता। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि तत्त्व अनेक है तो कठिनाई यह उत्पन्न होगी कि उनकी स्वतन्त्रता खण्डित हो जायगी। **स्वतन्त्रता तत्त्व का प्रधान लक्षण** है। तत्त्वों की बहुलता का उनकी स्वतन्त्रता के साथ समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता।[2] दूसरी कठिनाई यह है कि यदि अनेक स्वतन्त्र तत्त्वों का अस्तित्व है तो प्रत्येक तत्त्व अपने में ही परिसीमित होगा तथा दूसरे तत्त्वों से बिलकुल ही अप्रभावित होगा। ऐसी स्थिति में नानात्व का ज्ञान भी असम्भव ही होगा।[3] अतः ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि **स्वतन्त्रता और सह-अस्तित्व का संयोग असंगत है।**[4] तत्त्व अनेक नहीं वरन् एक होना चाहिए। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि स्वतन्त्र तत्त्वों का सह-अस्तित्व सम्भव है तो हमें उनके बीच सम्बन्धों की कल्पना करनी होगी और सम्बन्धों की कल्पना करते ही उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी। बात यह है कि तात्त्विक समष्टि के आधार के बिना सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि सम्बन्धित पद निरपेक्ष बना दिये जाँय, वे तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।[5] अतः हम किसी दृष्टि से विचार करें, तत्त्व अद्वितीय ही होना चाहिए।

(4) "तत्त्व व्यक्ति-स्वरूप है"—इसका तात्पर्य यह है कि तत्त्व में किसी प्रकार के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं है। वह इसी अर्थ में एक है कि उसके निश्चित स्वरूप के अन्तर्गत सभी भेद एक व्यापक समन्वय में स्थित हो जाते हैं।[6] ब्रैडले की दृष्टि में व्यक्ति स्वरूप एवं आत्मगत स्वरूप में भेद है। तत्त्व आत्मगत नहीं है क्योंकि वह अनात्म का विरोधी होगा। और इस प्रकार आत्मगत और अनात्मगत के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो जाएगा जो तत्त्व में सम्भव नहीं है। तत्त्व के व्यक्ति-स्वरूप में यह तर्क मान्य नहीं है क्योंकि वह तो एकत्व और पूर्णत्व का प्रतिपादक है। तत्त्व को व्यक्ति-स्वरूप कहने का एक दूसरा भी तात्पर्य है

---

1. वही, पृ०, 123, "The character of the real is to possess everything phenomenal in a harmonious form."
2. वही, पृ०, 124, "....the plurality of reals cannot be reconciled with their independence."
3. वही, पृ०, 124, "We have no knowledge of a plural diversity, nor can we attach any sense to it, if we do not have it somehow as one."
4. वही, पृ०, 124, "....for absolute independence and co-existence are incompatible."
5. वही, पृ०, 125, "Relations are unmeaning except within and on the basis of a substantial whole, and related terms, if made absolute, are forthwith destroyed."
6. वही, पृ०, 123, "....the real is individual. It is one in the sense that its positive character embraces all differences in an inclusive harmony."

और वह यह है कि तत्त्व मूर्त सामान्य है। मूर्त सामान्य के भीतर ही भेद और अभेद के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

सत् का मूर्त स्वरूप

तत्त्व के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करने के उपरान्त ब्रैडले उसके मूर्त स्वभाव का वर्णन करते हैं। तत्त्व के मूर्त स्वभाव का अर्थ उसके अन्तर्विषय से है जिससे कि वह परिपूर्ण है। इस दृष्टि से भी ब्रैडले ने तत्त्व की कई विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) तत्त्व चेतन अनुभूति है—ब्रैडले चैतन्य को ही एकमात्र तत्त्व मानते हैं। इसी तत्त्व को वे दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं : "सत् होना अथवा केवल अस्तित्व होना तभी सम्भव है जब वह चेतन में उपलब्ध हो"[1] **"संक्षेप में चेतन अनुभूति ही तत्त्व है और जो चेतन अनुभूति नहीं है वह असत् है।"**[2] जो सामान्यतः मानसिकीय अस्तित्व कहलाता है उससे बाहर कोई सत्ता या तथ्य नहीं है। ब्रैडले ने चेतन अनुभूति को एक विस्तृत अर्थ में लिया है जिसके भीतर भाव (Feeling), विचार (Thought) और संकल्प (Volition) सभी का समावेश हो जाता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ब्रैडले चेतन अनुभूति को ही एकमात्र तत्त्व क्यों मानते हैं ? बात यह है कि अनुभूति ही एक ऐसी वस्तु है जिसका निराकरण या निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि निराकरण से भी इसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसीलिए उन्होंने चेतन अनुभूति को ही एकमात्र तत्त्व माना है। "मेरी समझ में जो तथ्य इससे बाह्य है वह शब्द मात्र और एक असफलता है अथवा वह एक आत्म-व्याघाती प्रयत्न है। यह एक दोषपूर्ण प्रत्याहार है जिसका अस्तित्व निरर्थक असंगति है और इसीलिए असम्भव है।"[3]

यहाँ हमारे समक्ष एक और प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह है कि जिस अनुभूति का ब्रैडले ने तत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित किया है, उसका स्वरूप क्या है ? क्या यह वह अनुभूति है जो आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है ? यदि विश्व को ज्ञाता-ज्ञेय रूप में विभाजित करते हैं, तो तत्त्व का कृत्रिम रूप ही ग्रहण किया जा सकेगा। जिस चेतन अनुभूति को ब्रैडले भूमा के रूप में स्वीकार करते हैं वह कोई बौद्धिक चेतना नहीं है जो प्रेक्षक दृष्टि से विश्व के विषय में विचार करती है। वह चेतना केवल हमारी विश्व की ही चेतना नहीं है वरन् वह सभी चेतन सत्ताओं और विश्व का अतिक्रमण करने वाली ऐसी चेतना है जिसमें मैं और मेरा तथा तुम और तुम्हारा का भेद नहीं रहता। यह वह समष्टि चेतना है जो समस्त विश्व को समाहित करती है तथा जो ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से अतीत् है। ब्रैडले ने इसी को निरपेक्ष चेतना कहा है। "विषयी को समष्टि से

---

1. वही, पृ०, 127, "....that to be real, or even barely to exist, must be to fall within sentience."
2. वही, पृ०, 127, "Sentient experience, in short, is reality and what is not this, is not real."
3. वही, पृ०, 128, "The fact that falls elsewhere seems, in my mind, to be a mere word and failure, or else an attempt at self-contradiction. It is a vicious abstraction whose exitence is meaningless non-sense and is therefore not possible."

स्वतन्त्र रूप में सत् मानना और पुनः उस-समष्टि को विषयी के विशेषण रूप में अनुभव में स्वीकार करना असमर्थनीय प्रतीत होता है।"[1]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "जब मैं सत् की खोज में अनुभव के पास जाता हूँ, वहाँ निश्चित रूप में मुझे विषयी और विषय के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्राप्ति नहीं होती। वहाँ हमें जो प्राप्त होता है वह एक प्रकार का अद्वैत है, एक ऐसी पूर्णता है जिसमें भेद तो किए जा सकते हैं किन्तु जिसमें विभाग नहीं किए जा सकते। जब मैं कहता हूँ कि तत्त्व चेतन अनुभूति है तो यह एक ऐसा बिन्दु है जिस पर मैं आग्रह करना चाहता हूँ, यह एक ऐसा आधार है जिसके ऊपर मैं स्थित हूँ।"[2]

2. तत्त्व पूर्ण आप्तकाम है—तत्त्व पूर्ण रूप से आप्तकाम की अवस्था है। वह हमारे परम-शुभ प्राप्त करने की इच्छा को पूर्ण रूप में सन्तुष्ट करता है। तत्त्व हमारे चिन्तन, भावना व संकल्प तीनों का मानदण्ड है व उन्हें सन्तुष्ट करता है। इसका एक निहितार्थ यह है कि परम तत्त्व के भीतर असन्तुष्ट इच्छाएँ, व्यावहारिक अशान्ति या व्यग्रता नहीं है।[3] वह सत्य, शुभ व सौन्दर्य—जीवन की सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है।

3. सीमित सत्ताओं के लिए परम तत्त्व का ज्ञान असम्भव है—ब्रैडले के अनुसार अपूर्ण मनुष्य के लिए परम तत्त्व को जानना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है[4] क्योंकि अपूर्ण के भीतर पूर्ण को जानने की क्षमता हो ही नहीं सकती। पूर्ण तत्त्व को जानने के लिए हमें स्वयं पूर्ण बनना होगा किन्तु ऐसी स्थिति में हमारा अपूर्ण अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।[5] अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब वास्तविक ज्ञान में हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा तो 'ज्ञान' का अर्थ ही क्या होगा ? इसका उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अपूर्ण सत्ताओं के लिए पूर्ण जीवन के विषय में जानना और उसकी अनुभूति करना असम्भव है।[6] हम वर्तमान समय में उसका केवल अनुमान ही कर सकते हैं।

4. परम तत्त्व अति-व्यक्तिगत है—ब्रैडले के अनुसार तत्त्व व्यक्तिगत (Personal)

---

1. वही, पृ०, 128, "To set up the subject as real independently of the whole, and to make the whole into experience in the sense of an adjective of that subject, seems to me indefensible."
2. वही, पृ०, 128, "For if, seeking for reality, we go to experience what we certainly donot find is a subject or an object or indeed any other thing whatever, standing separate and on its own bottom. What we discover rather is a whole in which distinctions can be made, but in which divisions do not exist. And this is the point on which I insist, and it is the very ground on which I stand, when I urge that reality is sentient experience."
3. वही, पृ० 137, "But, if idea must not clash with sensation, then there cannot in the Absolute be unsatisfied desire or any practical unrest."
4. वही, पृ० 140, "Fully to realise the existence of the Absolute is for finite beings impossible."
5. वही, पृ० 140, "In order thus to know, we should have to be, and then we should not exist."
6. वही, पृ० 140, "What is impossible is to construct absolute life in its detail, to have the specific experience in which it consists."

कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति केवल सीमित ही हो सकता है जो तत्त्व का स्थान नहीं ले सकता। व्यक्तित्व में भेद है, सीमा है, अपूर्णता है, विरोध है, अतः उसका प्रयोग सत् के लिए कभी नहीं किया जा सकता। यदि सत् व्यक्तिगत हो सकता है तो वह अति-व्यक्तिगत (Super-Personal) ही होगा जिसमें सम्पूर्ण विरोधों एवं भेदों का समन्वय पाया जाएगा।

5. परम तत्त्व धर्म का ईश्वर नहीं है—कुछ लोग परम तत्त्व का किसी धर्म या सम्प्रदाय-विशेष के ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं जो ब्रैडले को मान्य नहीं है। उनके अनुसार सम्प्रदाय-विशेष का ईश्वर सीमित होता है जो मनुष्य से पृथक् या बाहर अस्तित्व रखता है। तत्त्व-विज्ञान की दृष्टि से ऐसी अपूर्ण सत्ता निरपेक्ष तत्त्व का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

विचार एवं सत् (Thought and Reality)

कुछ दार्शनिक जैसे हेगल, विचार और सत् के बीच तादात्म्य स्थापित करते हैं। पर ब्रैडले का मत इसके बिलकुल भिन्न है। उनके अनुसार विचार और सत् के स्वभाव एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उन्हें हम एक कदापि नहीं मान सकते। हाँ, विचार के माध्यम से हम सत् को जानने का प्रयत्न अवश्य कर सकते हैं, चाहे इसमें हमें सफलता मिले अथवा न मिले। किन्तु यह जानने के लिए कि विचार के माध्यम से हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि नहीं, हमें विचार और सत् के स्वभाव का विस्तार से परीक्षण करना होगा। सर्वप्रथम हम संक्षेप में सत् के स्वभाव का परीक्षण करेंगे।

सत् का स्वभाव

यदि हम संसार की किसी वस्तु को जिसे हम सत् समझते हैं, लें तो देखेंगे कि उसके भीतर सदा दो पक्ष विद्यमान रहते हैं : प्रथम तत् (That) का पक्ष और द्वितीय किम् (What) का पक्ष। ब्रैडले ने दूसरे शब्दों में इन्हें अस्तित्व (Existence) और अन्तर्वस्तु (Content) नाम दिया है। उपर्युक्त दोनों पक्ष एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते हैं : वे सदा अवियोजनीय होते हैं। यदि हम तत् को किम् के बिना या किम् को तत् के बिना प्राप्त करना चाहें तो यह बिलकुल असम्भव है। वस्तु के भीतर वे केवल प्रभेदनीय हैं, पर विभाज्य नहीं है।[1]

विचार का स्वभाव

ब्रैडले के अनुसार सत् में तो अस्तित्व और अन्तर्वस्तु दोनों अविभाज्य होते हैं किन्तु विचार में इन दोनों पक्षों का अवश्य विभाजन पाया जाता है। इसका कारण यह है कि विचार किसी न किसी सीमा तक काल्पनिक या प्रत्ययात्मक अवश्य होता है।[2] प्रत्यय (Idea) के बिना विचार सम्भव नहीं है और अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के पार्थक्य में ही विचार निहित है।[3]

1. वही, पृ० 143, "They are distinguishable only and are not divisible."
2. वही, पृ० 143, "For thought is clearly to some extent atleast, ideal."
3. वही, पृ० 143, "Without an idea there is no thinking, and an idea implies the separation of content from existence."

प्रत्यय किम् मात्र या गुण मात्र ही होता है और इस कारण वास्तविक न होकर केवल काल्पनिक ही होता है। **अस्तित्व से गुण के पृथक्करण में ही प्रत्यय की काल्पनिकता निहित होती है।**[1]

निर्णय (Judgement)

सत् और विचार के स्वरूपों का वर्णन करने के बाद ब्रैडले निर्णय के स्वरूप का वर्णन करते हैं। निर्णय के माध्यम से ही विचार के पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।[2] **निर्णय में किसी प्रत्यय का तत्त्व के साथ विधान किया जाता है।**[3] निर्णय के दो पक्षों : उद्देश्य और विधेय को दर्शाते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उद्देश्य तत्त्व स्वयं है और विधेय विचार के माध्यम से प्रस्तुत उसकी केवल अन्तर्वस्तु है। दूसरे शब्दों में : उद्देश्य स्वयं तत्त्व या उसका कोई भाग है जिसमें तत् और किम् समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं और विधेय उसी से निष्कर्षित मात्र किम् है। अर्थात् विधेय उद्देश्य का केवल एक भाग है जिसका प्रयोग उद्देश्य की अन्तर्वस्तु को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। अतः यह कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है कि सत् को मात्र विधेयों या प्रत्ययों के माध्यम से पूर्णतः व्यक्त किया जा सके। यद्यपि विचार ऐसा करना चाहता है तथापि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के कारण कर नहीं पाता क्योंकि सत् में अर्थात् उद्देश्य में विधेय इस प्रकार नहीं रहते जैसा कि निर्णय का विधेय दिखाई देता है। निर्णय के आन्तरिक स्वभाव का वर्णन करते हुए ब्रैडले कहते हैं, "निर्णय सत् में एक विशेषण जोड़ देता है और वह विशेषण एक प्रत्यय होता है क्योंकि वह अपने अस्तित्व से पृथक् होकर तथा उसके साथ अपनी सम्बद्धता से मुक्त होकर ही प्रयुक्त होता है।"[4]

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि निर्णय केवल किम् या अन्तर्वस्तु का ही वर्णन नहीं करता, वह तत्, और किम् दोनों का साथ-साथ वर्णन करता है। जिस प्रकार 'अश्व एक स्तनपायी जानवर है', निर्णय में विधेय कोई वास्तविक तथ्य नहीं है, उसी प्रकार उद्देश्य का भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। उद्देश्य मात्र तत् और किम् दोनों का समुच्चय है। यही बात प्रत्येक निर्णय पर लागू होती है। ब्रैडले के शब्दों में, "प्रत्येक अवस्था में उद्देश्य कदापि 'तत्' मात्र नहीं होता, वह केवल सत् अथवा गुणहीन अस्तित्व मात्र कभी नहीं होता।"[5] इसी को और आगे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "**निर्णय तत्त्वतः दो पक्षों किम् और तत् का पुनर्मिलन है जो अस्थायी रूप से पृथक् हो गए थे। किन्तु विचार की काल्पनिकता इन पक्षों के पृथक्करण में ही निहित है।**"[6]

---

1. वही, पृ० 144, "For ideality lies in the disjoining of quality from being."
2. वही, पृ० 144, "...for there we find thought in its completed form."
3. वही, पृ० 144, "In judgement an idea is predicated of a reality."
4. वही, पृ० 144, 4. "Judgement adds an adjective to reality, and this adjective is an idea, because it is a quality made loose from its own existence, and is working free from its implication with that."
5. वही, पृ० 145, "That subject, at all events, is no case a mere 'that'. It is never bare reality or existence without character."
6. वही, पृ० 145, "Judgement is essentially the re-union of two sides, 'what' and 'that' provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thought's ideality consists."

सत्य
(Truth)

विचार का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है और सत्य का लक्ष्य सत् को ऐसी विशेषताओं की प्राप्ति करानी है जिनमें विचार को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सके। सत्य को परिभाषित करते हुए ब्रैडले कहते हैं, **सत्य अन्तर्वस्तु के रूप में किसी उद्देश्य के साथ ऐसे विधेय का आरोपण है जिसका उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य है और जो असंगति को दूर करता है और साथ ही अस्थिरता को भी समाप्त करता है।**[1] दूसरे शब्दों में : किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को सत्य कहते हैं।

तथ्य भी प्रत्ययात्मक या काल्पनिक है

कुछ लोगों के मन में भ्रम होता है कि तथ्य वास्तविक होता है तथा प्रत्ययात्मकता तथ्यों के बाहर की वस्तु है, जो उस पर आरोपित कर दी जाती है। पर ब्रैडले इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार तथ्य उतने ही प्रत्ययात्मक होते हैं जितने विचार या निर्णय। इसी कारण वे सत्य के संवादिता (Correspondence) सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं : "जो तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं होते तथा जो अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के पार्थक्य को नहीं दर्शाते, वे कठिनाई से ही वास्तविक होते हैं।" प्रत्ययात्मकता तथ्यों का निहित गुण है और इसका मूल कारण यह है कि "किसी प्रदत्त की अन्तर्वस्तु सदा किसी अप्रदत्त वस्तु के ऊपर आश्रित होती है और इस कारण किसी प्रदत्त का किम् अनिवार्यतः अपने तत् का अतिक्रमण करता है। इसे हम प्रदत्त ससीम की प्रत्ययात्मकता कह सकते हैं।"[2] विचार इसका निर्माण नहीं करता, वरन् विचार स्वयं उसका विकसित रूप और परिणाम है। "इस ससीम की अनिवार्य विशेषता यह है कि सर्वत्र जहाँ यह अपने को प्रस्तुत करता है, उसकी अन्तर्वस्तु तत्काल उसके अस्तित्व की सीमा का अतिक्रमण कर लेती है।"[3] तात्पर्य यह है कि संसार की कोई भी परिमित वस्तु स्वतन्त्र नहीं होती ; उसकी अन्तर्वस्तु सदा परिवर्तित होती रहती है और इस कारण उससे सम्बन्धित निर्णय के विधेय में भी परिवर्तन होते रहना चाहिए। विधेय के परिवर्तन के कारण सत्य भी एक निरन्तर प्रक्रिया बन जाता है। "सत्य एक ऐसा प्रयत्न है जो इस रोग की चिकित्सा होमियोपैथिक पद्धति द्वारा करता है।"[4]

सत्य की प्राप्ति

ऊपर हमने देखा कि उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को ही सत्य कहते

---

1. वही, पृ० 145, "Truth is the predication of such content as, when predicated, is harmonious and removes inconsistency and with it unrest."
2. वही, पृ० 146, "For the content of the given is for ever relative to something, not given and the nature of its 'what' is hence essentially to transcend its 'that'. This we may call the ideality of the given finite."
3. वही, पृ० 146, "The essential nature of the finite is that everywhere, as it presents itself, its character should slide beyond the limits of its existence."
4. वही, पृ० 146, "And truth.... is the effort to heal this disease, as it were, homoeopathically."

हैं। किन्तु उद्देश्य और विधेय का जो यह सामञ्जस्य है, क्या यह कभी सम्भव है ? ब्रैडले के अनुसार उन दोनों के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना असम्भव है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—(i) किसी निर्णय के विधेयों की संख्या कितनी ही अधिक बढ़ा दी जाय, वे उद्देश्य के बराबर कभी नहीं हो सकते। (ii) यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि विधेयों की संख्या इतनी बढ़ा दी गई है कि वे उद्देश्य में निहित विशेषताओं के बराबर हो गई हैं तो भी उद्देश्य और विधेय के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर होगा क्योंकि उद्देश्य एक वास्तविक अस्तित्व है और विधेय प्रत्यय मात्र है। "अतः सत्य हमें केवल विच्छेदन ही दर्शाता है, वास्तविक जीवन नहीं। उसका विधेय उसके उद्देश्य के समान कदापि नहीं हो सकता।"[1]

अपनी बात के समर्थन में ब्रैडले आगे कहते हैं कि सत्य की कल्पना विचारों की परिधि के भीतर ही की जा सकती है। जहाँ विचार होगा वही सत्य या असत्य का प्रश्न उपस्थित होगा। किन्तु दोनों के स्वभाव में इतना अधिक अन्तर है कि विचार के द्वारा सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। विचार सदा तत् और किम् के द्वैत से प्रारम्भ होता है। जब तक यह द्वैत बना रहेगा, सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जब यह द्वैत समाप्त हो जायेगा तो सत्य की प्राप्ति हो जायेगी पर विचार सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

विचार में विद्यमान इस मूल असंगति का पूर्ण निराकरण विचार के स्तर पर सम्भव नहीं है। यदि मान भी लिया जाय कि विचार में इस असंगति का निराकरण कर लिया गया है तो यह कल्पना विचार को आत्म-हत्या की ओर ले जायेगी। ब्रैडले के ही शब्दों में, "विचार सम्बन्धात्मक और विमर्शात्मक होता है और यदि इसका यह स्वभाव समाप्त हो जाय तो उसने निश्चित ही आत्म-हत्या कर ली है और यदि स्वरूप वैसा ही रह जाय तो फिर प्रश्न है कि उसमें तात्कालिक ज्ञान का समावेश कैसे होगा ?"[2]

विचार की पूर्णावस्था

विचार का लोप ही विचार की पूर्ण अवस्था है। जब तत् और किम् अथवा उद्देश्य और विधेय के बीच पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है तो विचार अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेता है। यह निर्विकल्प अनुभूति की अवस्था है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। "निरपेक्ष तत्त्व दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखना चाहता और न गिलहरी की तरह किसी पिंजड़े में अपनी पूर्णता के वृत्त की परिक्रमा ही करना चाहता है।"[3] पूर्ण अवस्था की प्राप्ति पर गति के लिए कोई अवकाश नहीं है। ब्रैडले ने इस पूर्णावस्था को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : इस प्रकार की पूर्ण अवस्था में इस अव्यवहितत्व का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो अनुभूति में पाया जाता है। और इस पूर्णता में सारे विभाग विलीन हो जायेंगे। "वह

1. वही, पृ० 147, "Hence, truth shows a dissection and never an actual life. Its predicate can never be equivalent to its subject."
2. वही, पृ० 150, "Thought is relational and discursive, and, if it ceases to be this, it commits suicide ; and yet, if it remains thus, how does it contain immediate presentation."
3. वही, पृ० 152, "The absolute does not want to make eyes at itself in a mirror, or like a squirrel in a cage, to revolve the circle of its perfections."

एक ऐसा पूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्त्व समन्वित रूप में होंगे। वहाँ विचार एक श्रेष्ठ अनुभूति के रूप में होगा, संकल्प का वह रूप होगा जिसमें आदर्श यथार्थ हो चुका होगा और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य, सुख तथा भावना बनी रहेगी।"[1]

भ्रम
(Error)

हम पहले देख चुके हैं कि तत्त्व एक है और वह तत्, चित् और आनन्द स्वरूप है ; वह सत्यम, शिवम् एवम् सुन्दरम् भी है। ऐसी स्थिति में उसके भीतर भ्रम, अशुभ, देश, काल, परिणाम और परिवर्तन का क्या स्थान हो सकता है ? वे चीजें निरपेक्ष तत्त्व के भीतर तो हो नहीं सकती क्योंकि निरपेक्ष तत्त्व सामञ्जस्यपूर्ण है और भ्रम, अशुभ इत्यादि असामञ्जस्यपूर्ण हैं। इसी प्रकार वे निरपेक्ष तत्त्व के बाहर भी नहीं हो सकतीं क्योंकि उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। यह हमारे लिए एक बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के पूर्व इससे सम्बन्धित कुछ अन्य कठिनाइयों के प्रति भी पहले हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

(1) प्रथम कठिनाई यह है कि तत्त्व में भ्रम, अशुभ इत्यादि कैसे (How) और क्यों (why) पाए जाते हैं, इसका समुचित ज्ञान हमें नहीं हो सकता। इनकी उत्पत्ति और अवस्था का ज्ञान हमें कदापि नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सीमित सत्ता असीम की दृष्टि प्राप्त कर लेगी और इस प्रक्रिया में सीमित सत्ता का पूर्ण परिवर्तन या रूपान्तरण हो जायगा और वह नष्ट हो जायेगी।[2]

(2) इस सम्बन्ध में जो दूसरी कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह यह है कि भ्रम अस्तित्ववान वस्तु है या अनस्तित्ववान वस्तु ? तात्त्विक दृष्टि से या तो संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व होगा या उसका अस्तित्व नहीं होगा। उसके बीच की अवस्था को हम स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु भ्रम ऐसी वस्तु है जो न तो अस्तित्ववान है और न अनस्तित्ववान है।[3] उसकी प्रास्थिति के विषय में हम निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

(3) भ्रम के सम्बन्ध में जो तीसरी कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह उसके अधिष्ठान के सम्बन्ध में है। यदि भ्रम है तो उसका अधिष्ठान क्या है ? परम सत् तो उसका अधिष्ठान हो नहीं सकता क्योंकि परम सत् विसंगतियों से अतीत है और भ्रम विसंगतियों

---

1. वही, पृ० 152, "It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as higher intuition ; will would be there, where the idea had become reality and beauty and pleasure and feeling would live on in this total fulfilment."
2. आभास और सत्, पृ० 163, "That would imply an understanding of the whole not practicable for a mere part. It would mean a view by the finite from the Absolute's point of view, and in that consummation the finite would have been transmuted and destroyed."
3. वही, पृ० 164, "We cannot, on the one hand, accept anything between non-existence and reality, while, on the other hand, error obstinately refuses to be either."

से पूर्ण है। इसी प्रकार विषयी भी इसका अधिष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि विषयी का अस्तित्व परम् सत् के भीतर ही है। अतः, जो परम सत् में निवास नहीं कर सकता वह उसके अंग विषयी में कैसे निवास कर सकता है ? इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि भ्रम का कोई अधिष्ठान नहीं है।[1] इससे हमारे समक्ष पर्याप्त विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है।

भ्रम का विश्लेषण (Analysis of Error)

सर्वप्रथम भ्रम को परिभाषित करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि **भ्रम एक आभास है।**[2] आभास को आगे परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि, "**आभास वह अन्तर्वस्तु है जिसकी उसके अस्तित्व के साथ एकता नहीं पाई जाती।**"[3] यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि एक दृष्टि से सत्य भी आभास ही होता है क्योंकि यथार्थ निर्णय में तत् और किम् के बीच एकता नहीं पाई जाती। यहाँ भी अमूर्तीकरण की प्रक्रिया देखी जाती है। दूसरा असत् आभास वहाँ दिखाई पड़ता है जहाँ किसी विज्ञान (Idea) को प्रत्यक्ष से न लेकर स्मृति (Reproduction) से ग्रहण करते हैं। स्मृति से प्राप्त विधेय किसी उद्देश्य की विशेषता प्रगट नहीं कर सकता। यद्यपि सत्य में भी तत् और किम् के बीच शिथिलता (Looseness) आ जाती है पर भ्रम में तो यह विखण्डन (Fracture) का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा इस कारण है कि यहाँ दो अस्तित्वों के अवयव एक निर्णय में संयुक्त हो जाते हैं।

सत्य और भ्रम में पुनः भेद प्रकट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि दोनों का किसी न किसी रूप में आभास (Appearance) से सम्बन्ध होता है। "किसी वस्तु के अन्तर्वस्तु की उसके अस्तित्व से शिथिलता आभास को उत्पन्न करती है जिसमें एक अव्यवहित एकता के दो पक्षों तत् और किम् में भेद पाया जाता है।[4] पर इसी आभास की अन्तर्वस्तु जब किसी ऐसे अस्तित्व से सम्बद्ध हो जाती है जो उसे अपने विशेषण के रूप में स्वीकार कर लेते है तो वह सत्य निर्णय कहलाता है।[5] असत्य निर्णय या भ्रम वहीं उत्पन्न होता है जहाँ कोई अन्तर्वस्तु अपने सत् से पृथक् होकर किसी ऐसे सत् के साथ सम्बद्ध हो जाती है जिसके साथ उसकी विसंगति है।[6] दूसरे शब्दों में : **एक द्रव्य द्वारा किसी मुक्त विशेषण के विकर्षण को ही भ्रम कहते हैं।**[7] अर्थात् जब विशेषण और विशेष्य के बीच सामञ्जस्य हो तो वह सत्य है, किन्तु यदि उनके बीच असामञ्जस्य हो तो वह भ्रम है।[8]

---

1. वही, पृ० 165, "And so error has no home, it has no place in existence and yet, for all that, it exists."
2. वही, पृ० 165, "Error is the same as false appearance."
3. वही, पृ० 165, "Now appearance is content not at one with its existence, a 'what' loosened form its 'that'."
4. वही, पृ० 166, "Appearance then will be the looseness of character from being, the distinction of immediate oneness, into two sides, a 'that' and a 'what'."
5. वही, पृ० 166, "The true idea is appearance in respect of its own being as fact and event, but is reality in connection with other being which it qualifies."
6. वही, पृ० 166, "Error, on the other hand, is content made loose from its own reality and related to a reality with which it is discrepant.'
7. वही, पृ० 166, "It is the repulse by a substantive of a liberated adjective."
8. वही, पृ० 169, "Error is qualification by the self-discrepant."

भ्रम से सम्बन्धित दो कठिनाइयाँ

भ्रम का समाधान प्रस्तुत करने के पूर्व ब्रैडले उससे सम्बन्धित दो कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि भ्रम को तत्त्व क्यों स्वीकार नहीं कर सकता। द्वितीय कठिनाई यह है कि अस्वीकार करने पर भी तत्त्व में भ्रम किस प्रकार पाया जाता है ? इन पर हम पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे।

(1) प्रथम कठिनाई का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि तत्त्व भ्रम को इसलिए स्वीकार नहीं कर सकता कि तत्त्व सामञ्जस्यपूर्ण है और भ्रम आत्मव्याघातक है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भ्रम का सम्बन्ध केवल विधेय (Predicate) से नहीं होता, इसका सम्बन्ध पूर्ण निर्णय (Judgement) से होता है। "भ्रम में सत् के साथ गुण का विधान इस प्रकार किया जाता है कि एक असंगत अन्तर्वस्तु का आविर्भाव होता है जो इसी कारण अस्वीकृत भी होता है।"[1] इसी को आगे स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "जहाँ अस्तित्व अपने भीतर एक विरोधी अन्तर्वस्तु को धारण करता है, वहाँ इस अन्तर्वस्तु का विधान ही असत्य निर्णय कहा जाता है।"[2] यदि तत्त्व आत्मसंगत है और किसी विरोधी द्वारा उसमें विसंगति उत्पन्न हो जाती है, तो इससे तत्त्व अप्रभावित ही रहता है। यह इस बात पर आधारित है कि तत्त्व स्वयं आत्म-विसंगत नहीं हो सकता।

कुछ दार्शनिक सत्य और भ्रम की व्याख्या संसक्तता या सामञ्जस्य द्वारा न करके संवादिता (Correspondence) द्वारा करने की चेष्टा करते हैं। वे सत्य-असत्य की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जब हमारा ज्ञान बाह्य संवेदनाओं या विशुद्ध प्रदत्त पर आधारित होता है तो वह सत्य होता है, किन्तु यदि वह आन्तरिक प्रतिमाओं पर आधारित होता है वह भ्रम कहा जाता है। पर ज्ञान की इस वस्तुवादी व्याख्या से समस्याओं का समुचित समाधान नहीं हो पाता। इसमें प्रथम कठिनाई तो यह है कि तथाकथित विशुद्ध प्रदत्त की प्राप्ति ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में उसका सत्य के प्रतिमान के रूप मे प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसमें दूसरा दोष यह है कि जिन आन्तरिक प्रतिमाओं को हम भ्रम का कारण मानते हैं वे उतने ही सधन तथ्य हैं जितनी बाह्य संवेदनाएँ हैं।[3] तात्पर्य यह है कि बाह्य संवेदनाओं में आन्तरिक प्रतिमाओं के अंश पाए जाते हैं और आन्तरिक प्रतिमाओं में बाह्य संवेदनाओं के अंश विद्यमान होते हैं। यदि यह विवेचन सही है तो बाह्य संवेदनाओं या आन्तरिक प्रतिमाओं के साथ ज्ञान की संवादिता के आधार पर सत्य-असत्य का निरूपण नहीं किया जा सकता। अब हमारे समक्ष केवल एक ही विकल्प रह जाता है और वह यह है कि यदि हमारे प्रदत्त के अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के बीच असामञ्जस्य है तो हमारा ज्ञान असत्य होगा।

(2) जहाँ तक भ्रम के निरपेक्ष तत्त्व के साथ सम्बन्ध की बात है, ब्रैडले के अनुसार भ्रम सत्य ही है किन्तु वह अपूर्ण सत्य है, वह असत्य केवल इसलिए है क्योंकि वह आंशिक

1. वही, पृ० 167, "Error is the qualification of a reality in such a way that in the result it has an inconsistent content which for that reason is rejected."
2. वही, पृ० 167, "Where existence has a 'what' colliding within itself, there the predication of this 'what' is an erroneous judgement."
3. वही, पृ० 168, ".....the inward is a fact just as solid as the outword."

और अपूर्ण छोड़ दिया गया है।[1] भ्रम पूर्ण असत् नहीं है, उसका तत्त्व के भीतर कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। यदि हम पूरक तत्त्व का भी साथ वर्णन कर दें तो भ्रम सत्य के रूप में परिणत हो सकता है।[2] परम तत्त्व के भीतर असत्य आभासों की अनेक विसंगतियाँ एवं व्याघात पाए जाते हैं पर साथ ही उसके भीतर एक अतिरिक्त तत्त्व भी पाया जाता है जिसमें सारी विसंगतियाँ और असामञ्जस्य विगलित होकर पूर्ण सामञ्जस्य का रूप धारण कर लेते हैं।[3] यह सब तत्त्व के भीतर किस प्रकार होता है, इसका ज्ञान सीमित सत्ताओं के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि सीमित सत्ताएँ तत्त्व की सम्पूर्ण बातों को नहीं जान सकतीं। पर जिन वस्तुओं को हम विस्तारपर्वूक नहीं जान सकते उन्हें सामान्य रूप में ग्रहण तो कर ही सकते हैं।[4] यद्यपि यह हम नहीं समझ सकते कि निरपेक्ष तत्त्व के भीतर विसंगतियों से उत्तम सामञ्जस्य किस प्रकार स्थापित किया जाता है, किन्तु हम अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि निरपेक्ष तत्त्व के भीतर पूर्ण सामञ्जस्य अवश्य होना चाहिए।

समस्या का सम्भाव्य समाधान

निरपेक्ष तत्त्व के भीतर विसंगतियाँ किस प्रकार सुसंगति के रूप में परिणत हो जाती हैं, इस समस्या के समाधान के लिए ब्रैडले ने विलयन-सिद्धान्त (Principle of Dissolution) का प्रतिपादन किया है। विलयन-सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें उद्देश्य (Subject) के स्वभाव को एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लिया जाता है। कल्पना किया कि तत्त्व **ज्ञ** है जिसके भीतर सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस प्रकार तत्त्व को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं : **ज्ञ** (अ, ब, स, द, य, फ...) जहाँ अ, ब, स, द इत्यादि तत्त्व की अनेक विशेषताएँ हैं। मनुष्य जैसे सीमित प्राणियों के लिए तत्त्व की सभी विशेषताओं को जानना सम्भव नहीं है। हम तत्त्व की केवल कुछ विशेषताओं को ही जान सकते हैं जैसे **ज्ञ** (अ, ब) है। ऐसी स्थिति में जब हम यह कथन करते हैं कि 'ज्ञ (अ, ब) ब है' तो इसे सत्य कहा जायेगा क्योंकि इसका विधेय ब तत्त्व के भीतर पाया जाता है। यहाँ हमने ब को तत्त्व के विशेषण के रूपमें लिया है। पर उपर्युक्त निर्णय में जब हम ब को उसके विशेष्य से पृथक् कर लेते हैं तो वह एक मानसिक विज्ञान (Psychical Idea) के रूप में ही हमारे समक्ष प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में उक्त निर्णय को सत्य कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु ब्रैडले इस समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि मानसिक विज्ञान भी एक तथ्य ही तो है। उसका भी तत्त्व के भीतर कोई न कोई स्थान अवश्य होना चाहिए। अब, तत्त्व का एक विस्तृत रूप हमारे समक्ष प्रकट होता है तो **ज्ञ** (अ, ब, ब') है जिसमें ब' ब का एक मानसिक विज्ञान है। इस प्रकार जब हम यह कथन करते हैं कि **ज्ञ** (अ, ब, ब') ब' है तो हमारा कथन

1. वही, पृ० 169, "Error is truth, it is partial truth, that is false only because partial and left incomplete."
2. वही, पृ० 170, "The only mistake lies in our failure to give also the complement."
3. वही, पृ० 170, "The reality owns the discordance and the discrepancy of false appearance but it possesses also much else in which this jarring character is swallowed up and is dissolved in fuller harmony."
4. वही, पृ० 170, "But we can comprehend in general what we cannot see exhibited in detail."

सत्य हो जाता है। ब्रैडले के अनुसार सत्य को सुरक्षित रखने की यही विधि है।

सत्य की व्याख्या करने के बाद अब हम भ्रम की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे। कल्पना किया कि तत्त्व ज्ञ (अ, ब, स, द, य...) है। सीमित सत्ता होने के कारण मनुष्य तत्त्व की सभी विशेषताओं को तो जान नहीं सकता, वह केवल कुछ विशेषताओं को ही जान सकता है। मान लिया कि उसका तत्त्व का ज्ञान ज्ञ (अ, ब) तक ही सीमित है। अब यदि वह कथन करता है कि 'ज्ञ (अ, ब) द' है तो यह भ्रम कहा जायगा क्योंकि द विशेषण ज्ञ (अ, ब) के भीतर नहीं पाया जाता। किन्तु द भी तो जीवन का एक तथ्य ही है। यदि वह तथ्य न होता तो भ्रम का विषय कैसे बनता ? अतः द को तत्त्व के भीतर सम्मिलित करने में कोई हानि नहीं है। अब, तत्त्व का निम्न विस्तृत रूप होगा ज्ञ (अ, ब, द)। इस प्रकार जब हम कथन करते हैं कि 'ज्ञ (अ, ब, द) द है' तो यह कथन यथार्थ हो जाता है। ब्रैडले के अनुसार पूर्ण असामञ्जस्य इसी प्रकार सामञ्जस्य के रूप में परिणत हो जाता है। पर यहाँ ध्यान देने की बात है कि यह विलयन (Dissolution) तत्त्व के भीतर किस प्रकार घटित होता है, हमें इसकी जानकारी नहीं हो सकती क्योंकि ससीम असीम को नहीं जान सकता।

एक काल्पनिक उदाहरण

ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' में सत्य और भ्रम की व्याख्या एक काल्पनिक उदाहरण के माध्यम से करने की चेष्टा की है। कल्पना किया कि संसार में कुछ शरीर और आत्माएँ हैं। आत्माएँ रात्रि में शरीर से बाहर निकलकर स्वच्छन्द विचरण करती हैं। प्रातःकाल आत्माएँ अपने शरीर में लौट आना चाहती हैं किन्तु वास्तव में होता यह है कि कुछ आत्माएँ अपने ही शरीर में लौटती हैं और अन्य दूसरों के शरीर में लौटती हैं। प्रथम सत्य की स्थिति होगी और द्वितीय भ्रम की। अब कल्पना कीजिए कि विश्व के केन्द्र में एक **'विश्वात्मा'** है जो इन सभी शरीरों और आत्माओं पर शासन करने वाली है। उसके लिए भ्रम की असंगति का कारण और उसका रूप दोनों ही स्पष्ट होगा। यह भी सम्भव है कि उस विश्वात्मा ने ही इस असंगति को संचालित और प्रभावित किया हो। वह तमाम असंगतियों और संघर्षों का द्रष्टा भी होगा। संवेदनाओं तथा आयातित और विदेशी अनुभवों के संघर्ष की उसकी अनुभूति बड़ी लाभकारी और शिक्षाप्रद होगी। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भ्रम का कारण मनुष्य की अल्पज्ञता है। इसकी उत्पत्ति, पार्थक्य, न्यूनता, मम और इदम् के साथ सम्बद्धता के कारण होती है।[1] यदि हम विश्वात्मा की केन्द्रीय दृष्टि प्राप्त कर लें तो सम्पूर्ण असामञ्जस्य, सामञ्जस्य में परिणत हो जायेंगे और भ्रम की समस्या का स्वतः समाधान हो जायगा।

अन्तिम समस्या

यहाँ एक अन्तिम प्रश्न हमारे समक्ष उत्पन्न होता है और वह यह है कि यदि भ्रम सीमित दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होता है तो क्या यह केवल निषेधात्मक ही है ? इस प्रश्न के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि भ्रम केवल निषेधात्मक नहीं है, इसका एक भावात्मक रूप भी

1. वही, पृ० 172, "And if so, error will come merely from isolation and defect, from the limitation of each being to the 'this' and the 'mine'."

है और वह है विरोध का, असामञ्जस्य का। अब प्रश्न यह है कि इस भ्रम का तत्त्व में क्या स्थान है ? क्या इसके विभिन्न अवयवों के बीच पुनर्विन्यास स्थापित करने मात्र से इन विसंगतियों को समाप्त किया जा सकता है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि भ्रान्ति की समस्या का समाधान केवल विभिन्न अवयवों को पुनर्व्यवस्थित करने से ही नहीं किया जा सकता।[1] निरपेक्ष तत्त्व मात्र विन्यास से अतीत है। विन्यास को चाहे जितना बृहत्तर बना दिया जाय, वह तत्त्व का स्थानापन्न नहीं बन सकता। तत्त्व एक ऐसी उच्चतर अनुभूति है जो सम्बन्धात्मक चेतन में विद्यमान भेदों में श्रेष्ठतर ही नहीं है बल्कि उनका सहज अतिक्रमण भी करती है।[2] पर तत्त्व के भीतर वे सारी बातें किस प्रकार घटित होती है, इसकी जानकारी हमें नहीं हो सकती।

सत्य और सत् की मात्राएँ
(Degrees of Truth and Reality)

ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष तत्त्व पूर्ण है क्योंकि वह अद्वैत तत्त्व है। अतः उसके भीतर मात्राओं का अनुसंधान करना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। मात्रा की कल्पना केवल अपूर्ण एवं आमासिक सत्ताओं पर ही लागू की जा सकती है। ब्रैडले के शब्दों में : परम सत् में यथार्थतः मात्राएँ नहीं हैं कयोंकि वह परिपूर्ण है और पूर्णता में न्यूनता या अधिकता सम्भव नहीं है। इस प्रकार के विधेयों का सम्बन्ध और सार्थकता केवल आभासिक जगत पर ही लागू होती है।"[3]

आभासिक जगत की वस्तुओं की मात्रा के सम्बन्ध में ब्रैडले कहते हैं कि जिन वस्तुओं के भीतर सत्ता, चैतन्य व आनन्द की मात्रा जितनी अधिक पाई जायगी वह परम तत्त्व के उतने ही निकट होगी तथा जिनके भीतर इनकी मात्रा जितनी कम होगी वे वस्तुएँ परम तत्त्व से उतनी ही दूर होंगी। सत् की मात्राओं पर विचार करने के पूर्व हम प्रथम सत्य की मात्राओं पर विचार करेंगे।

सत्य की मात्राएँ (Degrees of Truth)

इस सम्बन्ध में पहली बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि सत्य और असत्य का सम्बन्ध सदा विचार से हीं होता है जहाँ तत् और किम् का भेद बना रहता है। विचार प्रथम तत् और किम् में भेद स्थापित करता है और पुनः इस भेद को समाप्त करने की चेष्टा करता है जिसमें वह कभी भी सफल नहीं हो सकता। किसी निर्णय में विधेयों की संख्या में कितनी

1. वही, पृ० 172, "....the Absolute is not, and cannot be thought as, any scheme of relations."
2. वही, पृ० 172, "The absolute is beyond a mere arrangement, however well compensated, though an arrangement is assuredly one aspect of its being. Reality consists in a higher experience, superior to the distinctions which it includes and over-rides."
3. वही, पृ० 318. "The Absolute....has of course no degrees ; for it is perfect, and there can be no more or less in perfection. Such predicates belong to, and have a meaning only in the world of appearance."

ही वृद्धि कर दी जाय, वह उद्देश्य में निहित विशेषताओं के बराबर कभी नहीं हो सकती। ब्रैडले के शब्दों में : "उद्देश्य और विधेय का अन्तर कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता, वह अन्तर जब तक अवस्थित रहता है, विचार की असफलता को प्रदर्शित करता है, किन्तु ज्योंही उसे समाप्त कर दिया जाता है, वह विचार के विशिष्ट स्वरूप को ही नष्ट कर देता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक निरुपाधिक निर्णय असत्य होता है।[2] इसका प्रमुख कारण यह है कि "उद्देश्य और विधेय एक दूसरे का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते।"[3] निर्णय में उद्देश्य और विधेय का द्वैत सदा बना रहेगा। विचार का लक्ष्य तत्त्व की प्राप्ति है, पर जब तक निर्णय में उद्देश्य और विधेय का द्वैत बना रहेगा, तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। और जब विचार के लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी, विचार का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि ब्रैडले के अनुसार, "प्रत्येक निर्णय को सत्य होने के लिए सोपाधिक बनना चाहिए।"[4] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सत्य होने के लिए प्रत्येक निर्णय के साथ एक अनिवार्य पूरक तत्त्व सम्मिलित होना चाहिए जो अज्ञात रहता है। किसी निर्णय के सोपाधिक होने का तात्पर्य यह है कि वह जो कुछ भी विधान करता है वह अपूर्ण है।[5] इस कारण जब तक अनिवार्य पूरक तत्त्व का संयोजन न कर दिया जाय, तब तक वह तत्त्व का वर्णन नहीं कहा जा सकता। यह अनिवार्य पूरक तत्त्व अन्त में अज्ञात ही बना रहेगा।[6] इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि जिस प्रकार ऐसा कोई असत्य नहीं है जो पूर्णतया असत्य हो, उसी प्रकार ऐसा कोई सत्य नहीं है जो पूर्णतया सत्य हो।[7] हमारे विचार यदि एक दृष्टिकोण से असत्य हैं तो दूसरे दृष्टिकोण से सत्य : परम् सत् के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक सत्य और असत्य में सत्यता और असत्यता की मात्राएँ होती हैं।[8] हमारा निर्णय पूर्ण सत्य की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता, उसे सत्य की न्यूनाधिक मात्रा से ही सन्तोष करना पड़ता है।[9]

उपर्युक्त विवेचन का एक तीसरा निहितार्थ यह है कि सत्य सदा सापेक्षिक और अपूर्ण होता है।[10] सापेक्षिक और अपूर्ण होते हुए भी उसमें सत्य की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य ही

---

1. वही, पृ० 319, "There is a difference, unremoved, between the subject and the predicate, a difference which, while it persists, show a failure in thought, but which, if removed, would wholly destroy the special essence of thinking."
2. वही, पृ० 319, "....any categorical judgement must be false."
3. वही, पृ० 319, "The subject and the predicate in the end, cannot either, be the other."
4. वही, पृ० 319-20, "And hence, all our judgements, to be true, must become conditional."
5. वही, पृ० 320, "Judgements are conditional in this sense that what they affirm is incomplete."
6. वही, पृ० 320, "and, in addition, this complement in the end remains unknown."
7. वही, पृ० 320-21, "There will be no truth which is entirely true, just as there will be no error which is totally false."
8. वही, पृ० 321, "....but truth and error, measured by the Absolute, must each be subject always to degree."
9. वही, पृ० 321, "Our judgements, in a word, can never reach as far as perfect truth, and must be content merely to enjoy more or less of validity."
10. वही, पृ० 321, "....truth is relative and always imperfect."

पाई जाती है। इसका चौथा निहितार्थ यह है कि सत्य ही विकसित होकर तथा अव्यवहितत्व को प्राप्त कर सत् में परिवर्तित हो जाता है। **"सत्य और सत् की सम्पूर्णता का स्वरूप अन्ततः समान है।"**[1]

सत् की मात्राएँ (Degrees of Reality)

ब्रैडले सर्वप्रथम सत् के कुछ मानदण्डों की स्थापना करते हैं जिनके आधार पर वे संसार की वस्तुओं की सत्ता का निर्धारण करते हैं। वे मानदण्ड तीन हैं : प्रथम आत्म-सुसंगति (Self-consistency), द्वितीय समावेशन (Inclusiveness) और तृतीय स्वयंभूतता (Self-existence)। उक्त मानदण्डों की स्थापना के बाद ब्रैडले सत् की मात्राओं के सम्बन्ध में कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो निम्न रूप में व्यक्त किए गए हैं।

(1) अन्य बातों में समान होते हुए संसार की जो वस्तुएँ देश में अधिक विस्तृत हैं तथा जो काल में अधिक चिरस्थायी हैं, वे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत् हैं।[2]

(2) देश और काल में व्यापकता के साथ वस्तुओं में सुसंगति (consistency) और सामञ्जस्य (Harmony) भी होना चाहिए। संसार की जो वस्तुएँ संशोधनीय, रूपान्तरणीय एवं ध्वन्स्य हैं वे उन वस्तुओं की अपेक्षा कम सत् हैं जो सुसंगत, स्थायी और नित्य हैं।

(3) संसार में जो वस्तुएँ जितनी ही अधिक प्रभावकारी (Effective) और आत्म-निर्भर (Self-sufficient) होती हैं उनमें सत्ता की मात्रा उतनी ही अधिक पाई जाती है। प्रभावोत्पादकता और आत्म-निर्भरता से ब्रैडले का तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं में सिद्धान्त और तथ्य सम्पाती होते हैं अथवा जिनमें साध्यता ने सिद्धता का रूप ग्रहण कर लिया है, वे वस्तुएँ अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत् हैं।[3]

(4) कुछ दार्शनिकों के अनुसार सत्ता दृश्यता में निहित है। जो वस्तुएँ गोचर या दृश्य हैं वे सत् हैं। पर ब्रैडले के अनुसार यह ठीक नहीं है। कोई भी गोचर वस्तु स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं होती। उसके भीतर प्रत्ययात्मकता (Ideality) और स्वातिक्रमणता का स्वभाव निहित होता है। अतः सत्ता दृश्यता या गोचरता नहीं है।

(5) अन्य दार्शनिकों के अनुसार सत्ता विशुद्ध विचार या बोध में निहित है। ब्रैडले इसे भी अस्वीकार कर देते हैं। इसके दो कारण हैं : प्रथम कारण तो यह है कि प्रत्येक विचार प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। जब प्रत्यक्ष ही सत् नहीं है तो विचार किस प्रकार सत् हो सकता है ? यदि विचार का अर्थ प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र किसी विशुद्ध प्रत्यय से लिया जाय, वह तो और भी सत् को ग्रहण करने में असमर्थ होगा क्योंकि "मात्र विचार का अर्थ प्रत्ययात्मक अन्तर्वस्तु का अस्तित्व से पार्थक्य है"[4] जिससे तत्त्व अछूता ही रह जायगा। कल्पित डालर

1. वही, पृ० 321, "Perfection of truth and of reality has in the the end the same character."
2. वही, पृ० 328, "Other thing being equal whatever spreads more widely in space, or again lasts longer in time, is therefore more real."
3. वही, पृ० 328, "Other thing being equal whatever spreads more widely in space, or again lasts longer in time, is therefore more real."
4. वही, पृ० 337, "A mere thought would mean an ideal content held apart from existence."

की अपेक्षा प्रत्यक्षीकृत डालर कहीं अधिक सत् होता है। "गोचर तथ्य की अपेक्षा काल्पनिक तथ्य अधिक अकिंचन होता है।"[1]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सत् वह है जो व्यक्ति-स्वरूप है, सामान्य और विशेष का समुच्चय है, जिसमें तथ्य और विधान का तादात्म्य है अथवा जो मूर्त सामान्य है। वह एक सर्वसमावेशी सत्ता है जिसमें सभी अनुभूतियाँ तथा आभास विकसित एवं रूपांतरित होकर अवस्थित रहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण सत् में मात्राएँ नहीं हैं। मात्राओं का सम्बन्ध केवल आभासों से ही होता है।

सत् और आभास के बीच सम्बन्ध
(Relation between Reality and Appearance)

(i) ब्रैडले के अनुसार सत् और आभास के बीच का सम्बन्ध **अव्याख्येय या अबोधगम्य** (Inscrutable or Unintelligible) है। इसका कारण यह है कि दो वस्तुओं के बीच सम्बन्ध वहीं स्थापित किया जा सकता है जहाँ हमें दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो। पर आभास और सत् के विषय में यह बात लागू नहीं होती। जब तक हमें आभास का ज्ञान होगा, सत का ज्ञान नहीं हो सकता और जब हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा, आभास का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।[2] सत् के ज्ञान के बाद हमारा पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। ऐसी स्थिति में हम सत् और आभास के बीच सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार कर सकेंगे ? इसी कारण ब्रैडले सत् और आभास के बीच सम्बन्ध को अबोधगम्य मानते हैं।

(ii) उपर्युक्त सत्य को एक दूसरी दृष्टि से भी समझा जा सकता है। तत्त्व एक है जो **"एकात्मक अनुभूति"** स्वरूप है जिसमें सभी आभास मिलकर एक हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि सत् में सभी आभासों का विशिष्ट स्वभाव समाप्त हो जाता है।[3] जब सत् में सभी आभास सन्निविष्ट हो जाते हैं और उनकी विशिष्टता समाप्त हो जाती है, तो उनके बीच परस्पर सम्बन्ध की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ?

(iii) यहाँ एक अन्य बात की ओर भी ब्रैडले ने संकेत किया है। सत् का स्वभाव अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के बीच परस्पर सामञ्जस्य है, पर आभास में दोनों के बीच परस्पर विसंगति पाई जाती है।[4] सुसंगत और विसंगत के बीच जो सम्बन्ध होगा वह सुसंगत कभी नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि ब्रैडले ने इस सम्बन्ध को अव्याख्येय माना है।

(iv) सत् का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है पर आभास का अस्तित्व सदा परतन्त्र होता है।

---

1. वही, पृ० 338, "And thus the imaginary, so far, must be poorer than the perceptible fact."
2. आभास और सत् पृ० 140, "In order thus to know, we should have to be, and then we should not exist."
3. वही, पृ० 403, "There is but one Reality, and its being consists in experience. In this one whole all appearances come together, and in coming together, they in various degrees lose their distinctive nature."
4. वही, पृ० 403, "The essence of reality lies in the union and agreement of existence and content, and on the other side, appearance consists in the discrepancy between these two aspects."

इसका कारण यह है कि आभास का अस्तित्व सदा अन्य वस्तुओं के अस्तित्व पर आश्रित होता है।[1]

(v) सत् और आभास के बीच अंगी और अंग का सम्बन्ध अथवा सामान्य और विशेष का सम्बन्ध है। दोनों किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर आश्रित हैं। यहाँ केवल इतना ही संकेत किया जा सकता है कि आभासों की अपेक्षा सत् अधिक स्वतन्त्र है। "निरपेक्ष सत् में कोई भी आभास विलीन नहीं हो जाता। प्रत्येक अंश पूर्ण की एकता में योगदान करता है और उसके लिए अनिवार्य तत्त्व है। . . . . . यदि पूर्ण को आभास के किसी अंश से वंचित कर दिया जाय, निरपेक्ष सत् मूल्यहीन हो जाएगा।"[2]

(vi) इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सत्य है जितना पहला पक्ष। जिस प्रकार प्रत्येक आभास सत् की एकता में योगदान करता है उसी प्रकार निरपेक्ष सत् भी प्रत्येक आभास के अस्तित्व में योगदान करता है। ब्रैडले के ही शब्दों में : "निरपेक्ष सत् अपने सभी विशिष्ट आभासों में व्याप्त रहता है और एक अंर्थ में, उनमें से प्रत्येक के समान भी होता है ; यद्यपि कि वह प्रत्येक स्थान में विभिन्न मूल्यों एवं मात्राओं में उपस्थित रहता है।"[3]

(vii) यदि सत् और आभास दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं तो कुछ लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि आभासों के समूह को ही सत् कहते हैं। पर ब्रैडले इस विचार से सहमत नहीं हैं। "कोई भी आभास या आभासों का समूह सत् के बराबर नहीं हो सकता।"[4]

(viii) ब्रैडले के अनुसार पिछले अनुच्छेद में जो बात कही गई है वह केवल अर्द्ध सत्य ही है। इसे पूर्ण सत्य के रूप में परिणत् करने के लिए इसके पूरक तत्त्व का भी वर्णन होना चाहिए। वह पूरक तत्त्व यह है कि "निरपेक्ष तत्त्व आभास ही है, वह सबका समुच्चय है और साथ-साथ वह प्रत्येक आभास भी है।"[5]

अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि एक ओर ब्रैडले निरपेक्ष सत् को सभी आभासों से अतीत मानते हैं और दूसरी ओर आभासों या उनके समुच्चय के साथ उसका तादात्म्य भी स्थापित करते हैं। इसका क्या रहस्य है ? अपनी पुस्तक "आभास और सत्" में ब्रैडले ने स्वयं इस समस्या के समाधान की ओर संकेत किया है। वह समाधान सत्ता और सत्य की विभिन्न श्रेणियों (Degrees of Reality and Truth) में विश्वास है।

---

1. वही, पृ० 404, "The internal being of everything finite depends on that which is beyond this."
2. वही, पृ० 404, "....in the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole..... Deprived of any one aspect or element, the Absolute may be called worthless."
3. आभास और सत् पृ० 405, "Absolute is present in, and, in a sense, it is alike each of its special appearances ; though present everywhere again in different values and degrees."
4. वही, पृ० 430, "All is appearance, and no appearance nor any combination of these, is the same as Reality."
5. वही, पृ० 431, "The Absolute is its appearances, it really is all and every one of them."

संसार की वस्तुओं को सत्ता की एक क्रमबद्ध श्रेणी के रूप में रखा जा सकता है जिसमें प्रत्येक परवर्ती श्रेणी, पूर्ववर्ती श्रेणी से श्रेष्ठतर है तथा प्रत्येक पूर्ववर्ती श्रेणी परवर्ती श्रेणी से निम्नतर है। निरपेक्ष तत्त्व इस सम्पूर्ण श्रेणी की पराकाष्ठा है। अतः ऐसी स्थिति में निरपेक्ष सत् को संसार की सभी वस्तुओं का लक्ष्य कारण (Final Cause) माना जा सकता है।

निरपेक्ष तत्त्व के 'लक्ष्य कारण' होने से इतर सत्ताओं की महत्ता में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ जाती। यद्यपि संसार की कोई वस्तु पूर्ण नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी मात्रा में पूर्णता के भीतर महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।[1] निरपेक्ष तत्त्व के भीतर कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी उच्चतर श्रेणी की वस्तु की अपेक्षा असत् है पर निम्नतर श्रेणी की वस्तु की अपेक्षा सत् है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु निरपेक्ष सत् की अपेक्षा असत् है। प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान और निश्चित महत्त्व है। "विश्व का कोई भी प्रदेश इतना निकृष्ट नहीं है कि निरपेक्ष तत्त्व उसे व्याप्त न करता हो।"[2] "सृष्टि का कोई भी तथ्य इतना खण्डित और अकिञ्चन नहीं है कि विश्व के लिए उसका महत्त्व न हो।"[3]

(ix) सत् और आभास के पारस्परिक सम्बन्ध की और आगे व्याख्या करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "सत् के बिना आभास असम्भव है क्योंकि सत् के अभाव में वह कौन वस्तु है जो आभासित होगी ? साथ ही, आभास के बिना सत् कुछ नहीं है क्योंकि आभासों से अतीत किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।"[4] इसके विपरीत, सत् वस्तुओं का समुच्चय मात्र नहीं है ; यह वह एकता है जिसमें सभी वस्तुओं का रूपान्तरण होता है, यद्यपि यह रूपान्तरण सदा एक सनान नहीं होता। इस एकता में पार्थक्य एवं विरोध के सम्बन्धों का समर्थन और साथ-साथ विलीनीकरण दोनों होता है। विरोध का अतिरेक सत् को विकृत करने की अपेक्षा उसे समृद्ध ही बनाता है। संकुचित दृष्टि से संसार में भले ही हमें कुरूपता, अशुभ और भ्रम दिखाई पड़े, पर व्यापक दृष्टिकोण से वे सौन्दर्य, शुभत्व और सत्य के ही अंग होते हैं।

(x) आगे चलकर सत् और आभास के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर ब्रैडले ने कुछ ऐसी कूट-उक्तियों का प्रयोग किया है कि उनके वास्तविक उद्देश्य को समझना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, "आभासों के अतिरिक्त, हम कह सकते हैं, कि निरपेक्ष सत् के पास कोई अन्य सम्पत्ति नहीं पाई जाती, किन्तु केवल आभासों की पूँजी के ऊपर निरपेक्ष सत् दिवालिया ही कहा जाएगा।"[5] इसी प्रकार एक अन्य

---

1. वही, पृ० 431, "Nothing is perfect, as such, and yet every thing in some degree contains a vital function of perfection."
2. वही, पृ० 431, "We can find no province of the world so low but the Absolute inhabits it."
3. वही, पृ० 431, "Nowhere is there even a single fact so fragmentary and so poor that to the universe it does not matter."
4. वही, पृ० 432, "Appearance without reality would be impossible, for what then, could appear ? And reality without appearance would be nothing, for there certainly is nothing outside appearances."
5. आभास और सत् ; पृ० 433, "The Absolute, we may say, has no assets beyond appearances, and again with appearances alone to its credit, the Absolute would be bankrupt."

स्थल पर वे कहते हैं, "निरपेक्ष सत् का अपना कोई इतिहास नहीं होता, यद्यपि वह अपने भीतर असंख्य इतिहासों को धारण करता है।"[1] पुनः, वे कहते हैं, "निरपेक्ष सत् के भीतर मौसम नहीं पाए जाते, किन्तु वह एक साथ ही पत्तियों, फलों ओर फूलों को उत्पन्न करता है। हमारी पृथ्वी की तरह, इसमें या तो सदा ग्रीष्म और शीत ऋतुएँ पाई जाती हैं या वे कभी भी नहीं पाई जातीं।"[2] इन सभी उद्धरणों का निहितार्थ एक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से सत् के भीतर भले ही विपरीत गुण पाए जाते हों किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उसके भीतर सभी विरोधों, विसंगतियों और असामञ्जस्यों का शमन हो जाता है। अतः ब्रैडले की उपर्युक्त उक्तियों में कोई तार्किक दोष नहीं पाए जाते। तत्त्व एक मूर्त सामान्य है जिसके भीतर अंग के रूप में अनेक विशेष पाए जाते हैं। पर विशेषों की अनेकता सामान्य की एकता को बाधित नहीं करती।

ब्रैडले का द्वन्द्व-न्याय
(Bradley's Dialectic)

शेलिंग ने काण्ट की स्व-लक्षण वस्तुओं को सौन्दर्यात्मक अनुभूति में विगलित कर दिया था तथा फिक्टे ने उसे नैतिक अनुभूति द्वारा साध्य माना था। काण्ट के अनुसार परमार्थ सत् यद्यपि अज्ञेय है पर वह हमारे ज्ञान का नियमन अवश्य करता है किन्तु हेगल के अनुसार विचार परमार्थ के विषय में केवल चिन्तन ही नहीं करता है वरन् उसे जानने में सफल भी होता है। तत्त्व को हम पूर्ण रूप में जान सकते हैं। **तत्त्व चित् व सत् अथवा बोध व सत्ता अथवा विज्ञान और वस्तु का तादात्म्य** है। इसी एकता को हेगल निरपेक्ष सत् (Absolute) के नाम से अभिहित करता है। निरपेक्ष तत्त्व वास्तविक और बोधात्मक दोनों साथ है। तत्त्व विशुद्ध सत् या अमूर्त विज्ञान नहीं है। हेगल के दर्शन में विशुद्ध सत् या अमूर्त विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है। तत्त्व सदा सविशेष है। हेगल के लिए विशुद्ध विशेष या विशुद्ध सामान्य का कोई महत्त्व नहीं है। वह मूर्त सामान्य में विश्वास करता है। बोध व सत्ता की आदर्श एकता केवल निरपेक्ष तत्त्व में ही प्राप्त की जा सकती है। संसार की अन्य वस्तुओं में बोध व सत्ता की यह एकता केवल विभिन्न मात्राओं में ही प्राप्त की जा सकती है। बोध व सत्ता की यह एकता जब तक पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हो जाती तब तक संभवन (Becoming) की यह प्रक्रिया चलती रहेगी। सम्भवन की इस प्रक्रिया को हेगल ने विचार के विकास की प्रक्रिया कहा है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में **द्वन्द्व-प्रक्रिया** (Dialectic) कहते हैं।

विचार या बोध की अपूर्ण व अमूर्त अवस्था से पूर्ण व मूर्त अवस्था के संचरण को ही हेगल ने द्वन्द्व-प्रक्रिया का नाम दिया है। निरपेक्ष सत् तत्त्व के रूप में एक मूर्त समष्टि (Concrete Whole) है जिसमें बोध व सत्ता का पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। हेगल के

---

1. वही, पृ० 442, "The Absolute has no history of its own, though it contains histories without number."
2. वही, पृ० 442, "The Absolute has no seasons, but all at once bears its leaves, fruits and blossoms. Like our globe, it always and it never has summer and winter."

निरपेक्ष तत्त्व में बोध व सत्ता का कोई अन्तर्विरोध नहीं है। पर अन्य सत्ताओं के विषय में यह बात लागू नहीं होती। संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें अमूर्तता या व्याघात न पाया जाता हो। इसी प्रकार संसार में ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है जिसमें पूर्ण रूप में अमूर्तता या व्याघात पाया जाता हो। हेगल के दर्शन में अमूर्तता व विरोध के निवारण का कार्य द्वन्द्व-प्रक्रिया द्वारा सम्पादित होता है जिसके द्वारा विचार को पूर्ण सिद्धता प्राप्त होती है। यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया त्रिपदीय (Triadic) होती है जिसमें वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) व संवाद (Synthesis) तीन क्षण होते हैं। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में सत् (Being) सर्वाधिक अकिञ्चन क्षण है, दूसरी उच्चतर अवस्था सत्त्व (Essence) की है तथा तृतीय उच्चतम अवस्था संबोध (Notion) की है जो स्वयं निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) ही है।

द्वन्द्व-न्याय के विषय में ब्रैडले के विचार

काण्ट ने विचार का निदान करते हुए कहा कि विचार के भीतर एक ऐसा स्वाभाविक दोष (Constitutional Defect) है जिसके कारण वह तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने में सदा अक्षम रहेगा। विचार के भीतर स्वाभाविक दोष यह है कि वह प्रतिभान से रहित है तथा इस दोष का निवारण विचार द्वारा नहीं किया जा सकता। इसी कारण काण्ट अन्ततः अज्ञेयवादी (Agnostic) बन गया। शेलिंग ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा कि वास्तव में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। पर यह समस्या का वास्तविक समाधान नहीं है। यह समाधान करने की अपेक्षा समस्या का ही निषेध करता है। इसी कारण शेलिंग के निरपेक्ष तत्त्व की आलोचना करते हुए हेगल ने कहा था कि शेलिंग का निरपेक्ष तत्त्व ऐसी काल-रात्रि है जिसमें सभी गौवें काली दिखाई पड़ती हैं। हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए जो समाधान प्रस्तुत क ती है उसके अनुसार यदि रो विचार की अपूर्णता के कारण है तो इसका निदान व चिकित्सा विचार के द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती है। विचार के विषय में काण्ट ने कहा कि इसकी अस्वस्थता का उपचार किया ही नहीं जा सकता। फिक्टे ने कहा कि विचार की अस्वस्थता का उपचार **विषम-चिकित्सा** (Hetero-pathy) द्वारा सम्भव है। शेलिंग **मनो-चिकित्सा** (Psycho-pathy) प्रस्तावित करता है। इन सबके विपरीत हेगल विचार की अस्वस्थता के समाधान के लिए **सम-चिकित्सा** (Homoeo-pathy) की संस्तुति करता है जिसके अनुसार विचार रोग का कारण और उपचार दोनों है।

ब्रैडले की द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दो प्रावस्थाएँ है : प्रथम काण्टियन व द्वितीय हेगेलियन। इन दोनों प्रावस्थाओं में किसी विकल्प को स्वीकार करना कठिन है। आभास और सत् के प्रथम भाग में ब्रैडले ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि विचार के सम्बन्धात्मक स्वभाव के कारण उसकी उक्तियों और युक्तियों में नाना प्रकार के अन्तर्विरोध पाए जाते हैं। विचार तत्त्व को सदा एक विषय (Object) के रूप में देखने की चेष्टा करता हैं पर निरपेक्ष तत्त्व का स्वभाव **अव्यवहितत्व** (Immediacy) है जिसमें विषयी और विषय का कोई भेद नहीं है। अतः विचार के द्वारा इस तत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। तत्त्व के विषय में हम जितने विधान जैसे—द्रव्य, गुण, सम्बन्ध, जीवात्मा, शुभता, नैतिकता इत्यादि करेंगे वे तत्त्व के एकपक्षीय स्वरूप की ही अभिव्यक्ति करेंगे।

ब्रैडले की द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य यह प्रदर्शित करना है कि विचार प्रमुखतः सम्बन्धात्मक व विमर्शात्मक (Discursive) है। यह तत्त्व को पूर्ण इकाई के रूप में प्रदर्शित न कर प्रथम उसका तत् (That) और किम् (What) रूप में विभाजन कर उसके विघटित रूप को प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है ; पुनः यह तत्त्व के तत् और किम् को संघटित कर तथा उसके विखण्डन (Fracture) का निवारण करके उसे सीवनहीन या संधिहीन (Seamless) समष्टि के रूप में देखने की चेष्टा करता है। पर विचार, विचार के रूप में इस आदर्श लक्ष्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता। किन्तु यदि वह इस साध्य की प्राप्ति कर लेता है, उसे अवश्य आत्म-हत्या कर लेनी होगी। आत्म-हत्या करने के बाद विचार का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में वह अपने वांछित लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है ? इस प्रकार ब्रैडले की द्वन्द्व-प्रणाली केवल निषेधात्मक ही है। इसका उद्देश्य केवल यह प्रदर्शित करना है कि विचार के विषय अंततः आत्म-व्याधातक होते हैं। विचार के सम्बन्धात्मक होने के कारण इसका विषय सदा असंगत व आत्म-व्याधातक ही होगा। अतः स्वीकारात्मक व निषेधात्मक दोनों वाक्य आत्म-व्याघातक ही होंगे।

यहाँ ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय व माध्यमिकों के द्वारा द्वन्द्व-न्याय में समानता दिखाई जा सकती है। माध्यमिकों के द्वन्द्व-न्याय को प्रसज्य-प्रतिषेध-न्याय कहा जाता है। माध्यमिक चतुष्कोटि का प्रमुख उद्देश्य यह है कि तत्त्व-सम्बन्धी चारों प्रकार के तर्क-वाक्य अन्ततः अयथार्थ होते हैं। इनमें से प्रत्येक स्थिति स्वयं में एक अयथार्थ है। य तर्क-वाक्य के अयथार्थ होने का यह अर्थ नहीं है कि –य यथार्थ है। असंभवापत्ति की युक्ति (Apagogic Proof) जिसमें किसी तर्क-वाक्य की यथार्थता उस तर्क-वाक्य के विरोधी तर्क-वाक्य की असत्यता सिद्ध करके प्रमाणित की जाती है, माध्यमिक न्याय में स्वीकार्य नहीं है। यही बात ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय पर भी लागू होती है। आभास और सत् के प्रथम भाग का प्रमुख लक्ष्य केवल ज्ञात स्थितियों का खण्डन करना ही है। प्रथम भाग के इस द्वन्द्व-न्याय को **दर्शनों का दर्शन** (Philosophy of Philosophies) कहा जा सकता है। यह किसी सत्ता-मीमांसा (Ontology) का प्रतिपादन नहीं करता ; यह एक प्रकार की अधि-सत्ता-मीमांसा (Meta-Ontology) या अधि-दर्शन (Meta-Philosophy) है। ब्रैडले यहाँ किसी भी प्रकार के सत्तावाद के आत्म-व्याघातक स्वरूप का निदर्शन करते हैं। काण्ट के अनुसार भी दर्शन का प्रमुख लक्ष्य आलोचना (Criticism) है। नागार्जुन की मूल-माध्यमिक कारिका पर टीका करते हुए चन्द्रकीर्ति ने लिखा है कि दर्शन का प्रमुख कार्य आलोचना करना है। ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय का भी यही उद्देश्य है।

किन्तु ब्रैडले ने "सत्य और सत् की मात्राएँ" वाले अध्याय में अपनी दार्शनिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन घोषित किया। वहाँ वैचारिक प्रत्ययों के अन्तर्विरोधों को किसी धार्मिक, सौन्दर्यात्मक या नैतिक अनुभवों में डुबकी लगाकर दूर करने की चेष्टा नहीं की है बल्कि विचारों की अस्वस्थता को विचार के माध्यम से ही दूर करने की चेष्टा की है। यहाँ उसने तत्त्व को एक मूर्त सामान्य (Concrete Universal) के रूप में स्वीकार किया जिसकी सिद्धि हेगल के द्वन्द्व-न्याय की तरह अमूर्त प्रत्यय से मूर्त प्रत्यय की ओर अग्रसर होने से हो सकती है। यहाँ ब्रैडले का द्वन्द्व-न्याय वैचारिक प्रत्ययों एवं विकल्पों की केवल आलोचना ही

नहीं करता वरन् निरपेक्ष (Absolutc) को प्राप्त करने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। ब्रैडले की यह स्थिति पर्याप्त विचित्र और कठिनाई उत्पन्न करने वाली है। आभास और सत् के प्रथम भाग में ब्रैडले ने यह दर्शाने की चेष्टा की कि विचार के द्वारा हम निरपेक्ष सत् की प्राप्ति नहीं कर सकते क्योंकि विचार के भीतर स्वाभाविक अन्तर्विरोध पाए जाते हैं किन्तु द्वितीय भाग में अपनी पूर्वस्थिति में परिवर्तन कर ब्रैडले यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि विचार के विषय को अधिक संसक्त और सुव्यवस्थित करके तत्त्व को जान सकते हैं। यदि सत्य और सत् की विभिन्न मात्राएँ हैं तो इसका अर्थ यह है कि तत्त्वों की संख्या अनेक है। ऐसी स्थिति में ब्रैडले तत्त्व-विज्ञान में बहुलवादी कहे जायेंगे तथा उनका तत्त्व-विज्ञान लगभग उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार लाइब्नित्स का तत्त्व-विज्ञान था। पर ब्रैडले बहुलवादी दार्शनिक नहीं हैं। जो कुछ हम जानते हैं वह न तो पूर्णतया यथार्थ होता है और न पूर्णतया अयथार्थ ही। हमारे ज्ञान के विषय किसी न किसी रूप में यथार्थ ही होते हैं : इनमें कुछ अधिक यथार्थ होता है और कुछ कम यथार्थ। ब्रैडले ने आभास और सत् के दोनों भागों में जो भिन्न दृष्टिकोण अपनाए हैं, उनका प्रमुख उद्देश्य यह है कि विचार द्वारा स्वीकृत कोई स्थिति विरोधों से मुक्त नहीं हो सकती। ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय के निषेधात्मक पक्ष का मन्तव्य यह दर्शाना है कि विचार द्वारा स्वीकृत कोई स्थिति अन्तिम नहीं हो सकती। यह भाग दर्शनों का दर्शन है। सत् के भाग में ब्रैडले ने तत्त्व की विभिन्न मात्राओं को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। तत्त्व की विभिन्न मात्राओं के दर्शन द्वारा उन्होंने यह दर्शाया है कि केवल सैद्धान्तिक आधार पर व्यावहारिक जगत की निन्दा करने की आवश्यकता नहीं है। आनुभविक-व्यावहारिक जगत में तत्त्व की मात्राओं का सिद्धान्त लागू होता है। पर तात्त्विक दृष्टि से ब्रैडले के इस दृष्टिकोण को ठीक नहीं कहा जा सकता।

7

अर्थ-क्रियावाद
(Pragmatism)

विलियम जेम्स
(William James : 1842-1910)

प्रस्तावना

'प्रैग्मेटिज्म' शब्द यूनानी शब्द 'प्रैग्मा' से निकला है जिसका अर्थ "क्रिया" या "व्यवहार" होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रैग्मेटिज्म' शब्द का अर्थ 'अर्थ-क्रियावाद' होगा। दर्शनशास्त्र में 'प्रैग्मेटिज्म' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग चार्ल्स पियर्स (Charles Peirce) ने किया था। उन्होंने अपने अर्थ-क्रियावादी विचारों का विश्लेषण दो लेखों 'द फिक्सेशन ऑव विलीफ' (The Fixation of Belief) और 'हाउ टु मेक अवर आइडियाज क्लियर'[1] (How to Make Our Ideas Clear) के माध्यम से अमेरिकी बौद्धिक समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। पियर्स ने अपनी अर्थ-क्रियावादी योजना को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया, "हमारे विश्वास वस्तुतः हमारे कार्यों के विधान हैं।" पियर्स के अर्थ-क्रियावादी कार्यक्रम को अग्रसारित करते हुए विलियम जेम्स ने घोषित किया, "किसी विचार या प्रत्यय के अर्थ को सुनिश्चित करने के लिए केवल हमें यह निर्धारित करना है कि इसके भीतर किस प्रकार के व्यवहार को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है ; वह व्यवहार ही हमारे लिए उस प्रत्यय की पूर्ण सार्थकता है।"[2]

यद्यपि विलियम जेम्स के अनुसार चार्ल्स पियर्स ही वह प्रथम व्यक्ति है जिसने "प्रैग्मैटिज्म" शब्द का दर्शन-शास्त्र में सर्वप्रथम प्रयोग किया पर वास्तविकता कुछ दूसरी ही है। डेवी[3] के अनुसार पियर्स ने अपने लेखों में न तो इस शब्द का कहीं प्रयोग किया है और न तो स्वयं उसने इस शब्द का निर्माण ही किया। पियर्स ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है कि उसे अर्थ-क्रियावादी विचारधारा की प्राप्ति काण्ट के 'क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न' से हुई। हाँ ! इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अर्थ-क्रियावाद के मूलभूत विचारों के प्रथम सिद्धान्तकार चार्ल्स पियर्स ही हैं। विलियम जेम्स एवं जॉन डेवी ने भिन्न-भिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों में अर्थ-क्रियावाद का प्रयोग किया तथा शिलर ने अर्थ-क्रियावाद का एक तार्किक आधार प्रस्तुत किया। यहाँ हम अर्थ-क्रियावाद के विभिन्न चरणों को इन दार्शनिकों के विचारों के माध्यम से पृथक्-पृथक् प्रदर्शित करेंगे।

---

1. पॉपुलर साइन्स मन्थली, जनवरी, 1878.
2. जेम्स, प्रैग्मेटिज्म, पृ० 46.
3. डेवी, चान्स, लव एण्ड लॉजिक, पृ० 301-2.

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विलियम जेम्स के अनुसार अर्थ-क्रियावाद कोई बिलकुल नई विचारधारा नहीं है। वह प्राचीन चिन्तन-प्रणाली का एक नया रूप है। प्राचीन विचारकों ने भी इसका खुलकर प्रयोग किया था। 'सॉक्रिटीज इसमें सिद्ध-हस्त था। एरिस्टॉटल ने इसका व्यवस्थित रूप में प्रयोग किया था। लॉक, बर्कले एवं ह्यूम ने इस विचारधारा के माध्यम से सत्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था।'[1] अभिनव दार्शनिकों में : मैश, पियर्सन, प्वाइन्केयर, सिग्वर्ट इत्यादि कुछ ऐसे विचारक हैं जिनमें जेम्स के अनुसार अर्थ-क्रियावादी प्रवृत्ति पाई जाती है। योरोपीय महाद्वीप के विचारकों में पैपिनी (इटली), साइमेल (जर्मनी) व ब्लॉण्डेल (फ्रांस) कुछ ऐसे उल्लेखनीय नाम हैं जो अर्थ-क्रियावाद के पोषक माने जाते हैं।

यद्यपि अर्थ-क्रियावाद को मानने वाले संसार के कई देशों में पाए जाते हैं पर यह विचारधारा प्रमुख रूप में अमेरिका की देन है। अमेरिकावासियों का जीवन के प्रति एक व्यावहारिक व प्रायोगिक दृष्टिकोण होता है जिसके कारण वहाँ अर्थ-क्रियावादी विचारधारा के विकास के लिए समुचित वातावरण मिलता है। अमेरिकी अर्थ-क्रियावादियों में विलियम जेम्स एवं जॉन डेवी के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस विचारधारा को केवल उत्पन्न व विकसित ही नहीं किया वरन् जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता को भी चरितार्थ किया। ब्रिटेन के दार्शनिकों में अर्थ-क्रियावाद को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त हुआ। वहाँ केवल एफ० सी० एस० शिलर ही एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अर्थ-क्रियावाद को स्वीकार किया तथा उसके तार्किक आधार को पुष्ट करने में पर्याप्त योगदान किया। भारतीय चिन्तन-प्रणाली का दृष्टिकोण व्यावहारिक अवश्य रहा है पर इस कारण उसे अर्थ-क्रियावाद नहीं कहा जा सकता। न्याय-दर्शन ही एक ऐसा भारतीय दर्शन है जिसने प्रवृत्ति-सामर्थ्य को ज्ञान के निकष के रूप में स्वीकार करके अर्थ-क्रियावाद को थोड़ा प्रश्रय देने की चेष्टा की है। अन्य सम्प्रदायों ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वे कौन सी दार्शनिक परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने एक दार्शनिक प्रवृत्ति के रूप में अर्थ-क्रियावाद को उत्पन्न करने में सहायता दी। चार्ल्स पियर्स एवं विलियम जेम्स के पहले अमरीका के विश्वविद्यालय व अन्य बौद्धिक संस्थाएँ जर्मन विज्ञानवाद से विशेष प्रभावित थीं। जोसिया रॉयस (1855-1916) अमेरिकी विज्ञानवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक थे। विज्ञानवादी अद्वैतवाद में व विश्व के स्थिर चित्र तथा पारलौकिक सत्ता में विश्वास करते थे जो वास्तविकता से बिलकुल भिन्न, कृत्रिम व काल्पनिक प्रतीत होता है। अर्थ-क्रियावाद तत्कालीन निरपेक्षवाद (Absolutism), बुद्धिवाद (Intellectualism or Rationalism), एवं विज्ञानवाद (Idealism) के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। निरपेक्ष विज्ञानवाद जो व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करता है अमेरिकावासियों को स्वीकार्य नहीं था। वे अपने अनुभव के विपरीत जाने के पक्षपाती नहीं है। वे किसी स्थिर, शाश्वत व अपरिवर्तनशील संसार में विश्वास न कर अस्थिर, नश्वर व परिवर्तनशील संसार में विश्वास करते हैं।

चार्ल्स पियर्स ने डार्विन की 'उपजातियों की उत्पत्ति' (Origin of Species) नामक

---

1. जेम्स. प्रैग्मैटिज्म. पृ० 50.

पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ी थी जिसमें जीवन-संघर्ष, परिस्थितियों के प्रति समायोजन तथा प्राकृतिक चयन सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया था। विलियम जेम्स जिसने चिकित्साशास्त्र में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, जीवन की जैविक व्याख्या के लिए सुयोग्य व्यक्ति था। जोसिया रॉसल के विज्ञानवाद में विचारों की अपेक्षा संकल्प-शक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया था जिसके कारण अर्थ-क्रियावाद की उत्पत्ति के लिए स्वच्छ वातावरण उत्पन्न हो चुका था। जेम्स एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्हें कला, विज्ञान, दर्शन एवं धर्मशास्त्र कई विषयों में दक्षता प्राप्त थी। इन सारी बातों ने अर्थ-क्रियावादी विचारधारा के विकास में पर्याप्त योगदान किया।

विलियम जेम्स

(William James 1842-1910)

जीवन-वृत्त—विलियम जेम्स के पूर्वज मूल रूप में आयरलैंड के निवासी थे। वे व्यापार के सम्बन्ध में अमेरिका गए और न्यूयार्क में जाकर बस गए। जेम्स का पालन-पोषण एक दार्शनिक वातावरण में सम्पन्न हुआ क्योंकि उनके पिता स्वयं धर्म और दर्शन के अटूट प्रेमी थे। व्यापार के सिलसिले में इनके परिवार को पर्याप्त यात्राएँ करनी पड़ती थीं जिनके कारण विलियम जेस्म की शिक्षा अमेरिका, स्विटज़रलैण्ड व फ्रान्स कई स्थानों पर सम्पन्न हुई। हार्वर्ड विश्वविद्यालय से उन्होंने विज्ञान व चिकित्साशास्त्र में डिग्री प्राप्त की और वहीं सन् 1872 ई० में प्राध्यापक पद पर नियुक्त किए गए। अमेरिका में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला को स्थापित करने का श्रेय विलियम जेम्स को ही है। वे हार्बर्ड में एक साथ दर्शन-शास्त्र व मनोविज्ञान पर लेख व पुस्तकें प्रकाशित करते रहे। व्यापार व यात्रा का उनके दार्शनिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

दार्शनिक कृतियाँ—मनोविज्ञान के सिद्धान्त (Principles of Psychology, 1890), विश्वास की संकल्प-शक्ति (The Will to Believe, 1897), मानवीय अमरता (Human Immortality, 1898), धार्मिक अनुभूति की विविधताएँ (Varieties of Religious Experience, 1902), अर्थ-क्रियावाद (Pragmatism, 1907), सत्य का अर्थ (The Meaning of Truth, 1909), बहुलवादी समष्टि (A Pluralistic Universe), उत्कट अनुभववाद सम्बन्धित लेख (Essays in Radical Empiricism) इत्यादि।

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

जेम्स ने सन् 1890 ई० में मनोविज्ञान के सिद्धान्त (Principles of Psychology) नामक मनोविज्ञान की पुस्तक प्रकाशित कराई। इस रचना ने अर्थ-क्रियावाद की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की। जेम्स के पहले मनोविज्ञान के क्षेत्र में बुद्धिवादी मनोविज्ञान (Rationalistic Psychology) का बोलबाला था जिसके अनुसार हमारी सारी मानसिक क्रियाओं के अधिष्ठान के रूप में एक शाश्वत आत्मा कार्य करती है। किन्तु जेम्स ने मनुष्य और आत्मा की व्याख्या जीव विज्ञान (Biology) और शरीर-विज्ञान (Physiology) के आधार पर प्रस्तुत किया जिसके अनुसार आत्मा कोई शाश्वत सत्ता न होकर एक परिवर्तनशील और विकासमान इकाई है जो शरीर से **विकास के परिणामस्वरूप** उत्पन्न हुई है। संसार की

प्रत्येक वस्तु को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए जीवन-संघर्ष करना होता है। जब शरीर जीवन-संघर्ष में परिस्थितियों या वातावरण के साथ अभियोजन करने में सफल नहीं हुआ तो इसे सफल करने के लिए उसने अपने भीतर से मन या आत्मा को उत्पन्न किया। जिस वस्तु के भीतर संघर्ष करने की जितनी अधिक क्षमता होती है वही वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित कर अपने अस्तित्व को बनाए रख सकती है। इस प्रकार जेम्स ने आत्मा की स्थैतिक (Static) व्याख्या प्रस्तुत न कर उसकी गत्यात्मक (Dynamic) और जैविक (Biological) व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार समय के परिवर्तन के अनुसार शरीर व आत्मा में भी परिवर्तन होता रहता है। उन्होंने इस प्रकार बुद्धिवादी मनोविज्ञान के स्थान पर **अनुभववादी** (Empirical) और प्रायोगिक (Experimental) मनोविज्ञान की आधारशिला रखी।

जेम्स बुद्धिवादी न होकर अनुभववादी है पर उसका अनुभववाद प्राचीन अनुभववाद से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन अनुभववाद मानता है कि हमारा अनुभव पारमाणविक संवेदनाओं (Atomic Sensations) से मिलकर बना है जिनके बीच बाह्य सम्बन्ध पाया जाता है तथा जो साहचर्य-नियम (Laws of Association) के द्वारा परस्पर संयुक्त होकर ज्ञान के विषयों का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत विलियम जेंम्स चैतन्य की सतत, निरन्तर व अविच्छिन्न धारा (Seamless and continuous stream of Consciousness) में विश्वास करते हैं। संवेदनाओं की जो पृथकता और विविक्तता है वह मस्तिष्क के अमूर्तीकरण का परिणाम होता है। प्राचीन अनुभववाद आत्मा को निष्क्रिय मानता है जिसके कारण प्रारम्भ में आत्मा एक कोरे कागज के समान होती है जिस पर बाद में संवेदनाएँ अंकित होकर ज्ञान का निर्माण करती हैं। इसके विपरीत, जेम्स आत्मा को सक्रिय व चयनात्मक (Selective) मानता है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ जीवन-संघर्ष में व्यक्ति के हित साधन के विभिन्न प्रयत्नों की ही अभिव्यक्त करती हैं। प्राचीन अनुभववाद व जेम्स के अनुभववाद के बीच तीसरा अन्तर यह है कि जेम्स के अनुसार मन का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं वरन् संकल्प-शक्ति (Will Power) है। वह ज्ञान को एक प्रक्रिया मानता है जो जीवन में एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करती है। दोनों में चौथा अन्तर है कि प्राचीन अनुभववाद मानता है कि प्रत्यक्ष का वास्तविक कार्य है : बाह्य जगत को अभिव्यक्त करना, पर जेम्स के अनुसार प्रत्यक्ष का वास्तविक कार्य तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं है वरन् बाह्य संसार के प्रति प्रतिक्रिया करना है। प्रत्यक्ष द्वारा हम प्रकृति को परिवर्तित करने की चेष्टा करते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं।

जेम्स की आत्मा सम्बन्धी परिकल्पना निम्न तीन मान्य सिद्धान्तों के बिलकुल विपरीत है—

(1) अध्यात्मवाद (Spiritualism)—जो आत्मा को एक अपरिवर्तनशील व शाश्वत द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। जेम्स की आत्मा सतत परिवर्तनशील है।

(2) अतीन्द्रियवाद (Transcendentalism)—जो आत्मा को देश-काल से अतीत तक संश्लेशणात्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। पर जेम्स की आत्मा कालगत है जो सतत परिवर्तनशील है।

(3) अनुभववाद (Empiricism)—जो आत्मा को स्वतन्त्र और विविक्त इन्द्रियानुभवों

के समुच्चय के रूप में स्वीकार करता है। इसके विपरीत जेम्स आत्मा को चैतन्य की एक अजस्र धारा के रूप में मानते हैं।

जेम्स ने मानवीय चेतना के चयनात्मक स्वभाव (Selective Nature) पर विशेष बल दिया है।[1] बाह्य संसार में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो हमारे ज्ञान का विषय हो सकती हैं, किन्तु हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ केवल उन्हीं वस्तुओं को ज्ञान का विषय बनाती हैं जिनके प्रति हमारी कोई अभिरुचि होती है। इसी प्रकार हमारा अवधान भी अभिरुचियों के द्वारा संचालित होता है। जेम्स के शब्दों में "बाह्य संसार की करोड़ों वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होती हैं जो वस्तुतः कभी भी हमारे अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पातीं। ऐसा क्यों ? कारण यह है कि उनके प्रति हमारी कोई रुचि नहीं है। **हमारा अनुभव वही है जिसके प्रति ध्यान देने के लिए हम सहमत होते हैं**। केवल वही वस्तुएँ जिन्हें मैं ध्यानपूर्वक देखता हूँ, मेरे मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती हैं—चयनात्मक अभिरुचि के अभाव में अनुभूति में अराजकता उत्पन्न हो जायगी। अभिरुचि ही हमारी अनुभूति को विशिष्टता व महत्त्व, प्रकाश व छाया, पृष्ठभूमि व अग्रभूमि—संक्षेप में बोधगम्य सन्दर्श प्रदान करती है। प्रत्येक जीव में इसकी विविधता पाई जाती है किन्तु इसके अभाव में प्रत्येक जीव की चेतना में एक ऐसी अराजक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।"[2] अंग्रेज अनुभववादियों ने आत्मा की इस चयन-प्रक्रिया की बिलकुल ही अवहेलना की थी क्योंकि वे आत्मा को निष्क्रिय मानते थे। प्रत्यक्ष, स्मृति एवं संकल्पना सभी चयनात्मक होती हैं। यही कारण है कि प्रत्यक्षीकरण में हम किसी वस्तु के एक पहलू का चयन कर उसी पहलू को ही वस्तु का एकमात्र प्रतिनिधि मान बैठते हैं। किसी सिक्के के वृत्ताकार, अण्डाकार, रेखाकार इत्यादि कई आकृतियाँ होती हैं पर हम उसकी वृत्ताकार आकृति को ही सिक्के की एकमात्र आकृति के रूप में चयन कर लेते हैं। चेतना की चयनात्मक प्रवृत्ति तर्क-प्रक्रिया में भी देखी जा सकती है। हमारा मस्तिष्क एक ही प्रकार के आधार वाक्यों से—व्यावहारिक जीवन की अभिरुचियों के परिवर्तन के अनुसार—भिन्न-भिन्न प्रकार के निष्कर्ष निगमित कर लेता है। यही चयनात्मक प्रक्रिया सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक चेतना में भी परिलक्षित होती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में जेम्स का संवेगों का सिद्धान्त (Theory of Emotions) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे जेम्स-लैङ्ग का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार **शारीरिक परिवर्तन की चेतना ही संवेग है**।[3] सामान्यतः यह समझा जाता है कि सर्वप्रथम हमें किसी संवेग के कारण (जैसे सर्प) का प्रत्यक्ष होता है, पुनः हमारे भीतर संवेग (भय) की उत्पत्ति होती है जिसके कारण हमारे शरीर के अन्दर कुछ परिवर्तन होते हैं और हम भाग खड़े होते हैं पर जेम्स इस साधारण विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष और शारीरिक परिवर्तन के बीच संवेग नहीं आता वरन् प्रत्यक्ष और संवेगों के बीच शारीरिक परिवर्तन आते हैं। हम भयभीत होने के कारण नहीं भागते वरन् भागने के कारण भयभीत होते हैं। यही जेम्स का संवेग का सिद्धान्त है।

---

1. प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकॉलॉजी I, पृ० 284
2. वही, पृ० 402-3
3. प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकॉलॉजी II, पृ० 449.

ज्ञान-मीमांसा
(Theory of Knowledge)

(अ) बुद्धिवाद का विरोध—अर्थक्रियावाद प्रमुख रूप में एक ज्ञान का सिद्धान्त है जो ज्ञान के उद्गम, स्वभाव, प्रामाणिकता के विषय में विस्तार पूर्वक विचार करता है। यह निरपेक्ष विज्ञानवाद (Absolute Idealism) एवं बुद्धिवाद (Intellectualism) के विरुद्ध एक खुला विद्रोह है। पर इस विद्रोह को समझने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि दर्शन-शास्त्र में बुद्धिवाद (Intellectualism) का क्या अर्थ है ? दर्शन-शास्त्र में बुद्धिवाद को दो अर्थों में लिया जाता है : प्रथम, ज्ञानमीमांसीय अर्थ एवं द्वितीय तत्त्वमीमांसीय अर्थ। यदि 'बुद्धिवाद' के ज्ञान-मीमांसीय अर्थ को लिया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि तत्त्व को जानने का एकमात्र स्रोत बुद्धि है जैसा कि हेगल मानता है। 'बुद्धिवाद' के तत्त्वमीमांसीय अर्थ के अनुसार तत्त्व बौद्धिक (Rational) है या चेतन है। बुद्धिवाद-विरोधी विचारधारा दोनों प्रकार की हो सकती है। उदाहरण के लिए जेम्स का अर्थक्रियावाद दोनों अर्थों में बुद्धिवाद विरोधी है। जेम्स प्रथम अर्थ में बुद्धिवाद-विरोधी इसलिए हैं कि उसके अनुसार तत्त्व को जानने का एकमात्र उपाय बुद्धि न होकर इन्द्रियानुभूति है। बुद्धि ज्ञान का साधन न होकर **अमूर्तीकरण** (Abstraction) का साधन है जिसके कारण तत्त्व के स्वभाव में विकृति उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण जेम्स बुद्धि को ज्ञान का साधन न मानकर व्यावहारिक अभियोजन का उपकरण (Instrument of Practical Adjustment) मानता है। ज्ञान ज्ञान के लिए न होकर व्यावहारिक जीवन का साधन है। ज्ञान तत्त्व-प्रकाशन न होकर व्यवहार की एक रूप-रेखा है। अर्थक्रियावाद बुद्धि को संकल्प के अधीन करके उसकी मूल व्यावहारिक भूमिका को स्पष्ट करता है।

जेम्स बुद्धिवाद के द्वितीय अर्थ में भी बुद्धिवाद-विरोधी है। यह विरोध दो प्रकार का है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप बुद्धि न होकर संकल्पशक्ति है। मस्तिष्क वस्तुतः एक गतिशील व गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई प्राणी अपनी बाह्य परिस्थिति के साथ अभियोजन स्थापित करता है। इसी प्रकार अर्थ-क्रियावाद इस बात का भी निषेध करता है कि तत्त्व का स्वभाव बौद्धिक है। यदि बुद्धि को तत्त्व का स्वभाव मान लिया जाय तो इसमे एक ऐसे स्थिर ब्रह्माण्ड (Block Universe) की उत्पत्ति होगी जो केवल बौद्धिक नियमों के द्वारा ही संचालित होगा। इसके विपरीत, जेम्स परिवर्तनशील जगत में विश्वास करता है जिसके नियम भी परिवर्तनशील हैं। अर्थक्रियावाद के अनुसार वैज्ञानिक जगत की अनेक वैकल्पिक व्याख्या हो सकती है। विज्ञान के नियम सर्वथा निश्चित व अनिवार्य न होकर केवल वैचारिक आशुलिपियाँ (Conceptual Short-hand) हैं जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता है पर वे किसी क्षण परिवर्तित किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक नियम प्राक्कल्पनाएँ हैं जो अन्तिम सत्य के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किए जा सकते।

उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ कदापि नहीं निकाल लेना चाहिए कि जेम्स अज्ञेयवाद में विश्वास करता है। उसके अनुसार यदि हमारे ज्ञान में पूर्ण निश्चयात्मकता नहीं है तो इससे कोई निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अन्तिम ज्ञान की हमें भले ही प्राप्ति न हो पर हमें इतना ज्ञान तो प्राप्त हो ही जाता है कि हमारा व्यावहारिक जीवन सुचारू रूप से चल

सकता है। वास्तविक ज्ञान वही है जो बाह्य परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक हो। जेम्स न अज्ञेयवादी हैं और न अंधविश्वासी हैं। वे मानववादी अवश्य हैं जो जीवन की प्रत्येक वस्तु की व्याख्या उसकी उपयोगिता के माध्यम से करने की चेष्टा करते हैं।

(ब) ज्ञान का स्वभाव—जेम्स बुद्धिवाद-विरोधी हैं। वे अनुभववादी हैं। ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव है। पर अर्थ-क्रियावाद ने 'अनुभव' शब्द को उतने संकुचित अर्थ में नहीं लिया है जितना अंग्रेज अनुभववादियों ने लिया था। प्राचीन अनुभववादी 'अनुभव' शब्द इन्द्रियानुभव (Sense-Experience) के अर्थ में लेते थे। प्रारम्भ में जेम्स भी इन्द्रियानुभववादी थे जैसा कि उन्होंने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है, "कुछ विचारकों द्वारा वे तिरस्कृत भले ही हों पर संवेदनाएँ ही आत्मा के ज्ञान की धरतीमाता, आश्रय, अचल चट्टान, प्रथम एवं अन्तिम सीमाएँ, आरम्भ बिन्दु एवं लक्ष्य-बिन्दु हैं। इन्हीं संवेदनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना ही सभी उच्चतर विचारों का उद्देश्य होना चाहिए।"[1] आगे पुनः वे कहते हैं कि ये प्रत्यक्ष, ये लक्ष्य-बिन्दु, ये सम्वेद्य वस्तुएँ, साक्षात ज्ञान के ये विषय ही एकमात्र ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका हमें अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है।[2] किन्तु आगे चलकर जेम्स ने 'अनुभव' शब्द का एक बहुत ही विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जिसके भीतर केवल प्रत्यक्ष एवं संप्रत्यय ही नहीं आ गए वरन् इसकी परिधि में सक्रियता की भावना, प्रत्याशा, भय, सन्देह तथा सभी नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक अनुभूतियों को भी शामिल कर लिया गया।[3] इस प्रकार के विस्तृत अनुभववाद को उन्होंने **उत्कट अनुभववाद** (Radical Empiricism) की संज्ञा प्रदान की। इस उत्कट अनुभववाद की आगे व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं 'उत्कट होने के लिए किसी अनुभववाद को अपनी वस्तु-संरचना में न तो किसी ऐसे तत्त्व को शामिल करना चाहिए। जिसका हमें प्रत्यक्ष अनुभव न हो रहा हो और न ही किसी ऐसे तत्त्व को बहिष्कृत करना चाहिए जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा हो।'[4]

उत्कट अनुभववाद का विश्लेषण करते हुए जेम्स इसे तीन मूलभूत उपसिद्धान्तों में घटित करने की चेष्टा करते हैं : 'उत्कट अनुभववाद एक अभिधारणा (Postulate) है, आगे एक तथ्योक्ति (A Statement of Fact) है एवं अन्ततः एक सामान्य निष्कर्ष है।'

'**अभिधारणा** यह है कि केवल वही वस्तुएँ दार्शनिकों के विवाद का विषय बन सकती हैं जो अनुभव द्वारा परिभाष्य हों। (संसार में अनुभवातीत वस्तुएँ हो सकती हैं पर वे दार्शनिक

---

1. द फंक्शन ऑव कॉग्निशन (1888), "Condemned though they be by some thinkers, these sensations are the mother earth, the anchorage, the stable rock, the first and last limits, the terminus a quo and the terminus ad quem of the mind. To find such sensational termini should be our aim with all our higher thought."
2. वही, पृ० 39.
3. प्रैग्मोटिज्म, पृ० 80
4. एसेज इन रैडिकल एम्पिरिसिज्म, पृ० 42, "To be radical, an empiricism must neither admit into constructions any element that is not directly experienced, nor exclude from them any element that is directly experienced."

विवाद के विषय नहीं बन सकती)।'[1]

'तथ्योक्ति यह है कि वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध हमारे विशिष्ट साक्षात् अनुभव के वैसे ही विषय हैं जैसे स्वयं वस्तुएँ हमारे अनुभव के विषय बनती हैं। यह बात संयोजक एवं वियोजक दोनों प्रकार के सम्बन्धों पर लागू होती है।'[2]

सामान्य निष्कर्ष यह है कि हमारे अनुभव के विभिन्न भाग ऐसे सम्बन्धों के द्वारा परस्पर संग्लन हैं जो स्वयं अनुभव के अभिन्न अंग हैं। अतः प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत विश्व के अवलम्बन के लिए किसी विषयेतर अनुभवातीत सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं एक शृंखलाबद्ध या अखण्ड संस्थान धारण किए हुए है।'[3]

उपर्युक्त उद्धरण का यह कदापि अर्थ नहीं है कि जेम्स प्रत्यक्ष-जगत को ही एकमात्र जगत मानते हैं। प्रत्यक्ष के बाहर भी वस्तुओं का अस्तित्व हो सकता है पर वे हमारे ज्ञान की परिधि के भीतर कभी नहीं आ सकतीं। उन्हें दार्शनिक विवाद से दूर रखना चाहिए।

अनुभव द्वारा हमें केवल वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता है वरन् उनके पारस्परिक सम्बन्धों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। हमने जेम्स की मनोवैज्ञानिक विचारधारा में ही देखा कि अनुभव की एक सतत्, निरन्तर, अखण्ड व अविच्छिन्न धारा होती है। हम बुद्धि की आकलन व विश्लेषण-शक्ति द्वारा भले ही उस अविच्छिन्न धारा में भेद करके विभिन्न वस्तुओं को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर दें पर इससे अनुभव की अखण्डता में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। ब्रिटिश अनुभववादियों ने अनुभव की इस निरन्तरता की अवहेलना करके विविक्त, पारमाणविक व विच्छिन्न अनुभवों में विश्वास प्रकट किया। इसलिए उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्हें साहचर्य सम्बन्ध (Laws of Association) की कल्पना करनी पड़ी। अनुभववादियों की तरह बुद्धिवादियों ने भी अनुभव को एक स्थैतिक, पारमाणविक और असम्बद्ध इकाई के रूप में ग्रहण किया जिनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उनको अनुभवातीत व अतीन्द्रिय बुद्धि-विकल्पों का आविष्कार करना पड़ा। पर जेम्स जो एक उत्कट अनुभववादी हैं, उनके लिए इस प्रकार के कृत्रिम व बनावटी समाधान की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार हमारे प्रत्येक अनुभव के साथ एक झब्बा या झालर (Fringe) लगा होता है जो अनुभव को अन्य अनुभवों से संयुक्त करके उसकी अविच्छिन्नता को अक्षुण्ण रखता है।

---

1. देखिए द मीनिंग ऑव ट्रूथ, आमुख, "The postulate is that the only things that shall be debatable among philosophers shall be things definable in terms drawn from experience. (Things of an unexperienceable nature may exist ad libitum, but they form no part of the material for philosophic debate."
2. "The statement of fact is that the relations between things conjunctive as well as disjunctive, are just as much matters of direct particular experience, neither more nor less so, than the things themselves."
3. "The generalized conclusion is that therefore the parts of experience hold together next to next by relations that are themselves parts of experience. The directly apprehended universe needs in short, no extraneous trans-empirical connective support, but possesses in its own right a concatenated or contionus structure."

यद्यपि जेम्स ने अनुभूति की एकता और अविच्छिन्नता के ऊपर पर्याप्त बल दिया पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्होंने उसकी अनेकता व विच्छिन्नता की अवहेलना की है। जहाँ तक किसी अनुभूति व उसके विषयों का सम्बन्ध एक चैतन्य या आत्मा के साथ होता है वहाँ अनुभूति में निरन्तरता, एकता व अविच्छिन्नता पाई जाती है। पर ज्योंही हम एक 'व्यक्ति' के अनुभव से दूसरे 'व्यक्ति' के अनुभव की ओर या एक 'वस्तु' के अनुभव से दूसरी 'वस्तु' के अनुभव की ओर अथवा एक 'प्रत्यक्ष वस्तु' के अनुभव से 'अप्रत्यक्ष वस्तु' के अनुभव की ओर अग्रसर होते हैं, हमारे अनुभवों में 'विच्छिन्नता' आ टपकती है। इस प्रकार अविच्छिन्नताएँ एवं विच्छिन्नताएँ दोनों अव्यवहित अनुभूति के समतुल्य तत्त्व हैं।[1]

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जेम्स का जो अनुभव है वह विज्ञानवादियों के 'सर्वव्यापक चेतन अनुभव (All Comprehensive Sentient Experience) से बिलकुल भिन्न है। विज्ञानवादियों का व्यापक चेतन अनुभव अद्वैतवादी (Monistic) है पर जेम्स का अनुभव बहुलवादी (Pluralistic) है। यद्यपि शाब्दिक लघुता या प्रयत्न-लाघव के लिए उन्होंने कई स्थान पर 'विशुद्ध अनुभव के उपादान (A Stuff of Pure Experience) की चर्चा की है पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमारे सम्पूर्ण अनुभवों का कोई एक सामान्य उपादान है। हमारे अनुभवों के उतने ही विभिन्न उपादान हैं जितने कि अनुभव के विभिन्न विषय होते हैं। इस प्रकार विभिन्न संवेद्य वस्तुओं' के संकलित नाम को ही अनुभव कहा जाता है।[2] इस प्रकार जेम्स का दृष्टिकोण निश्चित रूप से बहुलवादी है और इसी कारण उन्होंने अपने दर्शन को 'पच्चीकारी का दर्शन' (Mosaic Philosophy) कहा है।

(स) अनुभव का स्वभाव—जिन अनुभवों के विषय में जेस्म यहाँ चर्चा करते हैं वे न तो भौतिक हैं और न मानसिक हैं वरन् वे दोनों से तटस्थ हैं। अपने सुप्रसिद्ध लेख 'क्या चैतन्य का अस्तित्व है ?' में जेम्स लिखते हैं कि 'चैतन्य एक असत् इकाई का नाम है और इसका मूल तत्त्वों में कोई स्थान नहीं होना चाहिए।'[3] पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि वे चैतन्य का एक इकाई के रूप में निषेध करते हैं पर प्रक्रिया (Function) के रूप में उसका निषेध नहीं करते। चैतन्य कोई इकाई तो नहीं है पर यह एक प्रक्रिया अवश्य है। जिस प्रकार जड़-तत्त्व भौतिक वस्तुओं का उपादान है उसी प्रकार चैतन्य-तत्त्व हमारे विचारों का उपादान नहीं है। हमारे अनुभवों में एक प्रक्रिया होती है जिसे विचार संपादित करता है ; इस प्रक्रिया के कर्त्ता-रूप में ही चैतन्य का आह्वान किया जाता है। चैतन्य कोई सत्ता नहीं है ; वह जानने की एक प्रक्रिया (Function of Knowing) है।[4] जेम्स यहाँ चैतन्य की एक जैविक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। हमारा कोई एक अनुभव स्वतः न तो मानसिक होता है और न भौतिक ही। पर ज्यों ही अन्य अनुभवों और वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में हम किसी अनुभव

---

1. एसेज इन रैडिकल एम्पिरिसिज्म, पृ० 49, 'Continuities and discontinuities are then absolutely coordinate matters of immediate feeling.'
2. वही, पृ० 26-27, "Experience is also a collective name for all these sensible natures."
3. वही, पृ० 2, "Consciousness is the name of a non-entity and has no right to place amomg first principles."
4. वही, पृ० 3-4.

को देखते हैं वह भौतिक या मानसिक हो जाता है। मान लिया कि हम किसी कमरे में बैठे हैं और हमें उस कमरे का अनुभव हो रहा है। यदि कमरे के अनुभव को हमारे अन्य अनुभवों के सन्दर्भ में देखा जाय तो वह मानसिक होगा पर उसी को यदि मकान के अन्य भागों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो वह भौतिक होगा। पर वास्तव में वह न तो मानसिक है और न भौतिक ही, वह तटस्थ या उदासीन (Neutral) ही है। इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो अनुभव भौतिक हो जाता है पर जब हमें उसकी स्मृति (Retrospective Experience) होती है तो वह मानसिक हो जाता है। पर अनुभव वास्तव में न तो भौतिक और न मानसिक है, वह तटस्थ (Neutral) ही है। पुनः जब हम किसी अनुभव को जीवन के संस्कारों के सन्दर्भ में देखते हैं तो वह मानसिक है पर जब उसी को बाह्य जगत के एक अंश के रूप में देखते हैं तो वह भौतिक हो जाता है। वास्तव में अनुभव न मानसिक है और न भौतिक, वह तटस्थ (Neutral) है। अथवा वह मानसिक और भौतिक दोनों है। इस प्रश्न के उत्तर में एक ही वस्तु भौतिक और मानसिक दोनों कैसे हो सकती है, जेम्स कहते हैं कि जिस प्रकार यदि दो सरल रेखाएँ एक बिन्दु पर काटती हैं तो वह बिन्दु दोनों रेखाओं पर निवास करता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु मानसिक और भौतिक दोनों हो सकती है।[1]

आगे चलकर विशुद्ध या तटस्थ अनुभव की व्याख्या करते हुए जेम्स कहते हैं कि विशुद्ध अनुभव जीवन का एक अव्यवहित प्रवाह है जो हमारे भावी चिन्तन की सभी सामग्री को प्रस्तुत करता है। यह विशुद्ध अनुभव केवल नवजात शिशुओं, अर्द्ध-निद्रित, अर्द्ध-मूर्छित एवं तन्द्रिल व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकता है जो वर्तमान में अनिश्चित और निर्विकल्प भले ही हो पर बाद में वह निश्चित और सविकल्प हो सकता है ; वह प्रारम्भ में अभिन्न और समरूप भले ही दीखता हो पर भविष्य में उसके सुभिन्न और विषमरूप होने की सम्भावना सदा विद्यमान रहती है। इस स्थिति में विशुद्ध अनुभव या तटस्थ अनुभव को संवेदना या भावना भी कहा जा सकता है।[2]

जेम्स ने अपने विशुद्ध या तटस्थ अनुभवों के द्वारा डेकार्ट्स के द्वैतवाद को समाप्त कर दिया। आत्म व अनात्म के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है जैसा द्वैतवादियों का कहना है। उसके बीच कुछ सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं। दोनों का काल से सम्बन्ध है। जिस प्रकार वस्तुएँ सुन्दर, रुचिकर, सामान्य व विशेष होती हैं उसी प्रकार विचार भी सुन्दर, रुचिकर, सामान्य व विशेष होते हैं। पुनः, जिस प्रकार वस्तुएँ शीतल, उष्ण, कोष्ण व असुन्दर होती हैं उसी प्रकार भावनाओं को भी शीतल, उष्ण, कोष्ण व असुन्दर कहा जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तुओं और विचारों में बहुत सी समान विशेषताएँ पाई जाती हैं। भौतिक और मानसिक जगत के बीच जो अन्तर है वह इसलिए नहीं है कि उनमें परस्पर विरोधी विशेषताएँ पाई जाती हैं वरन् इसलिए है कि उनके संस्थान या विन्यास में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। जिन्हें हम भौतिक वतुएँ कहते हैं उनके बीच एक प्रकार का अनम्य, कठोर व अपरिवर्तनीय सम्बन्ध पाया जाता है ; इसके विपरीत, विचारों के बीच नम्य, अस्थिर व परिवर्तनीय सम्बन्ध पाया जाता है। भौतिक अग्नि कागज को अवश्य प्रज्ज्वलित कर देगी

---

1. वही, पृ० 12.
2. वही, पृ० 93, 94.

पर मानसिक अग्नि कागज को प्रज्ज्वलित कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती। भौतिक जल भौतिक शरीर की प्यास को अवश्य बुझा देगा पर मानसिक जल मानसिक शरीर की प्यास को बुझा भी सकता है और उसे बढ़ा भी सकता है। अतः भौतिक और मानसिक वस्तुओं के बीच जो भेद है वह उनके आन्तरिक स्वभाव के भेद के कारण नहीं है वरन् उनके संस्थान या विन्यास (Arrangement) के अन्तर के कारण है। मौलिक रूप में इनके बीच कोई भेद नहीं है। हमारे प्रत्यक्षात्मक एवं प्रत्ययात्मक अनुभव दृश्य-प्रपञ्चों के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं, उनमें स्वतः आत्मनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता के कोई लक्षण नहीं पाए जाते।

हमारी अनुभूतियों का स्रोत क्या है ? वे कहाँ से आती हैं और कैसे आती हैं ? जेम्स के अनुसार इनके विषय में विचार करने से कोई लाभ नहीं है। हमारे अनुभव ही हमारे ज्ञान के एकमात्र स्रोत हैं। उन्हें ही हमें मूलभूत रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार ह्यूम की तरह जेम्स दृश्यप्रपञ्चवादी (Phenomenalist) है। यही उसका उत्कट अनुभववाद है। जेम्स के **तटस्थवाद** (Neutralism) ने बाद में बर्ट्रण्ड रसॅल के तटस्थ एकतत्त्ववाद (Neutral Monism) को उत्पन्न किया। दोनों के बीच अन्तर केवल इतना है कि जहाँ जेम्स "तटस्थ अनुभव" (Neutral Experience) का प्रयोग करते हैं वहीं रसॅल "तटस्थ इकाईयों" (Neutral Entities) का प्रयोग करते हैं। यद्यपि जेम्स अनुभववादी, प्रकृतिवादी एवं बहुलवादी हैं पर वे अन्य अनुभववादियों की तरह जड़तत्त्ववादी नहीं है। यद्यपि उन्होंने चैतन्य की व्याख्या शारीरिक अनुभवों व प्रक्रियाओं के माध्यम से करने की चेष्टा की है, पर उनका दर्शन जड़तत्त्ववाद नहीं है। उसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने जड़ तत्त्व व आत्म-तत्त्व दोनों की व्याख्या "तटस्थ अनुभव" के माध्यम से की है।

(द) सत्य की अवधारणा—अर्थक्रियावाद अपने सत्य के सिद्धान्त के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि हम दो विचारों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझना चाहते हैं तो उनके व्यावहारिक परिणामों के अन्तर द्वारा ही समझ सकते हैं। जेम्स के शब्दों में "किसी विचार या विश्वास की यथार्थता का परीक्षण करने के लिए यह देखना होगा कि इसके यथार्थ होने से हमारे वास्तविक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है।"[1] चार्ल्स पियर्स ने अर्थक्रियावाद को सत्य के लिए निकष (Criterion) के रूप में स्वीकार किया था यद्यपि आगे चलकर इसका प्रयोग सत्य के स्वरूप के लिए भी किया जाने लगा। कोई दार्शनिक सत्य के स्वरूप के लिए **संवादिता** (Correspondence) या **संसक्तता** (Coherence) में विश्वास करते हुए भी निकष के रूप में अर्थक्रियावाद में विश्वास कर सकता है। चार्ल्स पियर्स स्वयं सत्य के स्वरूप के रूप में संवादिता सिद्धान्त तथा निकष के रूप में अर्थक्रियावाद में विश्वास करता था।

जीव-विज्ञान की उन्नति के साथ अर्थक्रियावाद पर उसके प्रभाव में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इस प्रभाव के फलस्वरूप जेम्स ने ज्ञान की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार किसी ज्ञान की वैधता या प्रामाणिकता इस बात से निर्धारित नहीं की जाती है कि बाह्य तथ्य के साथ उसकी संवादिता है अथवा नहीं है बल्कि इस बात से निर्धारित की जाती है कि **परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में या जीवन में व्यावहारिक निपुणता** (Practical Efficiency) लाने में वह कहाँ तक सहायक हो सकता है। यदि ज्ञान के इस दृष्टिकोण को

1. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 200.

स्वीकार कर लिया जाय, तो इसके अनुसार ज्ञान भविष्य-सम्बन्धी कार्यों की एक योजना (Plan for future action) है जो यदि सफलता की ओर ले जाता है तो सत्य, अन्यथा वह असत्य है। जेम्स के शब्दों में "वास्तविक विचार वे हैं जिन्हें हम आत्मसात्, प्रमाणित, परिपुष्ट और सत्यापित कर सकते हैं। अवास्तविक विचार वे है जिन्हें हम ऐसा नहीं कर सकते।"[1] चूँकि यहाँ जेम्स ने ज्ञान को व्यावहारिक निपुणता का साधन माना है इसलिए अर्थक्रियावाद में ज्ञान के भीतर साध्य-मूल्य न मानकर केवल साधन-मूल्य ही माना गया। वास्तविक ज्ञान वही है जो परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक बने। जो ज्ञान ऐसा नहीं कर सकता वह असत्य है।

ज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि ज्ञान अनुदर्शी (Retrospective) न होकर अग्रदर्शी (Prospective) होता है। जीवन की जैविक व्याख्या के अनुसार जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग जीवन के किसी न किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया गया है, उसी प्रकार ज्ञान भी जीवन में निपुणता या परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। यदि भविष्य में हमारा ज्ञान व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता है या परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होता है तो वह सत् है अन्यथा असत् है। इसी कारण जेम्स ज्ञान को अनुदर्शी न मानकर अग्रदर्शी मानते हैं।

कुछ तत्त्व-शास्त्री सत्य व तत्त्व (Truth and Reality) के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं जैसे हेगल और अद्वैत वेदान्त। पर जेम्स के अनुसार दोनों को एक नहीं माना जा सकता है। वे सत्य को ज्ञान का एक विशेषण ही मानते हैं जिसकी जीवन में उपयोगिता है। जिस प्रकार कोई वस्तु भारी या हल्की होती है उसी प्रकार ज्ञान भी सत्य या असत्य होता है जो **मानवीय मूल्यांकन** (Human Evaluation) का परिणाम होता है। ज्ञान स्वयं में न तो सत्य होता है और न असत्य ही। यदि वह जीवन के लिए **उपयोगी** है तो वह यथार्थ है पर यदि वह **अनुपयोगी** है तो वह अयथार्थ है। ज्ञान के एक गुण के रूप में सत्य मानवीय उद्देश्य का सापेक्षिक है। इसीलिए जेम्स के अनुसार सत्य मानव-निर्मित गुण है। मानवीय मूल्यांकन का तात्पर्य है : व्यवहार में किसी ज्ञान की उपयोगिता का सत्यापन। जब व्यवहार में किसी ज्ञान की उपयोगिता का सत्यापन होता है तो वह यथार्थ कहा जाता है अन्यथा अयथार्थ कहा जाता है। जब हमारा विश्वास सत्यापित हो जाता है तो सत्य की उत्पत्ति होती है। जेम्स के शब्दों में, "यथार्थता किसी विचार का स्थिर या समवायी गुण नहीं है। यथार्थता एक घटना है जो परिणामों द्वारा निर्मित या घटित होती है। इसकी यथार्थता वस्तुतः एक घटना है, एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया उसके सत्यापित होने की है, या उसका सत्यापन है। इसकी प्रामाणिकता उसके **प्रमाणीकरण** की प्रक्रिया है।"[2] जेम्स के अनुसार जिस

---

1. वहीं पृ० 201, 'True ideas are those that we can assimilate, validate, corroborate and verify. False ideas are those that we cannot.'
2. वही, पृ० 201, "The truth of an idea is not a stagnant property inherent in it. Truth happens to an idea. It becomes true, is made true by events. Its verity is in fact an event, a process, the process namely of its verifying itself, its verification. Its validity is the process of its validation"

प्रकार धन, स्वास्थ्य व शक्ति का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार सत्य का भी मनुष्य द्वारा निर्माण किया जाता है।[1]

चूँकि किसी ज्ञान की सत्यता व्यावहारिक परिणामों या मानवीय मूल्यांकन पर आश्रित है, अतः कोई ज्ञान सार्वभौम सत्य या निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकता। वह सदा विशेष, सापेक्षिक व परिवर्तनशील ही होगा। उदाहरण के लिए, विज्ञान का कोई सिद्धान्त सार्वभौम व निरपेक्ष कभी नहीं होता। टोलेमेई (Ptolemy) का **भू-केन्द्रिक सिद्धान्त** (Geo-centric Theory) उसके समय में यथार्थ कहा जा सकता था क्योंकि तत्कालीन बहुत सी घटनाओं की वह यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करता था। पर विज्ञान की प्रगति के साथ जब अन्य घटनाओं की व्याख्या करने की आवश्यकता हुई तो टोलेमेई के सिद्धान्त के स्थान पर कॉपर्निकस के **सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त** (Heleo-centric Theory) को स्वीकार किया गया। पर यह भी कोई अन्तिम सिद्धान्त नहीं है। आगे चलकर इसके स्थान पर कोई नवीन सिद्धान्त आ सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या संसार में अनिवार्य सत्य का बिलकुल अभाव है ? जेम्स के अनुसार बात ऐसी नहीं है। ह्यूम के अनुसार जिस प्रकार विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हमारा ज्ञान अनिवार्य होता है उसी प्रकार जेम्स के अनुसार भी विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान अनिवार्यतः सत्य होता है। उनके असत्य होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पर जहाँ हमारा ज्ञान अनुभव पर आश्रित है, वह सापेक्षिक और विशेष ही होगा। उसमें अनिवार्यता की कोई गुजांइश नहीं है। पर कुछ अन्य **अर्थक्रियावादियों** जैसे शिलर व डेवी ने सार्वभौम व निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व से बिलकुल इनकार किया। उनके अनुसार ऐसा ज्ञान भी सोपेक्षिक व अस्थाई ही होता है। उदाहरण के लिए 2+2 = 4 तभी सत्य होगा जब कि सभी वस्तुएँ अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर रक्खें। 2 बूँद जल + 2 बूँद जल = 1 बूँद पानी ही होगा। शिलर ने यह भी कहा कि 2 शेर + 2 मेमना = 4 इकाइयाँ न होकर केवल 2 ही इकाइयाँ होगीं।[2] अतः उसके अनुसार प्रत्येक सत्य निरुपाधिक न होकर सोपाक्षिक ही होता है।

इसी प्रकार अर्थ क्रियावादी सत्य की **मात्राओं या कोटियों** (Degrees of Truth) का भी वर्णन करते हैं। किसी ज्ञान के भीतर सत्य की कितनी मात्रा विद्यमान है यह इस बात पर आधारित होगी कि वह ज्ञान हमारे जीवन के लिए कितना उपयोगी है। अथवा वह ज्ञान हमारे जीवन में कितनी व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता है। जो ज्ञान जीवन के लिए जितना ही अधिक उपयोगी होगा अथवा वह जितना अधिक व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता होगा, उसके भीतर सत्य की उतनी ही अधिक मात्रा विद्यमान होगी। इसके विपरीत, जो ज्ञान जितना कम उपयोगी होगा अथवा कम व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता होगा उसमें सत्य की उतनी ही कम मात्रा विद्यमान होगी।

(य) सत्य एवं उपयोगिता का पारस्परिक सम्बन्ध—चार्ल्स पियर्स ने सत्य और

---

1. वही, पृ० 218, "Truth is made just as health, wealth and strength are made in the course of experience,"
2. स्टडीज इन ह्यूमैनिज्म, पृ० 9।

उपयोगिता के बीच अन्तर को स्पष्ट किया था। उसके अनुसार उपयोगिता सत्य नहीं वरन् उसका केवल निकष (Criterion) है। इसके विपरीत जेम्स ने सत्य व उपयोगिता के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। उन्हीं के शब्दों में "आप या तो यह कह सकते हैं कि 'यह उपयोगी है क्योंकि यह सत्य है' अथवा 'यह सत्य है क्योंकि यह उपयोगी है।' इन दोनों प्रयोगों का बिलकुल समान अर्थ है और वह यह है कि यहाँ एक ऐसा विचार है जो सम्पादित और सत्यापित हो सकता है।"[1] पर दूसरे अर्थ-क्रियावादी दार्शनिक शिलर पुनः दोनों के बीच अन्तर स्थापित करते हैं। वे कहते हैं, "इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए या यों कहिए कि इस पर बल देना चाहिए कि यह कहना कि सभी सत्य व्यावहारिक व उपयोगी होना चाहिए, सत्य को परिभाषित करना नहीं है। यह केवल एक महत्त्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक बात पर जोर देना ही है जिसकी दुर्भाग्यवश उपेक्षा की गई है, किन्तु यह सत्य की परिभाषा नहीं है। यह सत्य को व्यावहारिकता का विनिमेय नहीं मानता और न ही सत्य का उपयोगिता के साथ तादात्म्य ही स्थापित करता है यद्यपि आद्यतम काल से ही गलत रूप में इस भ्रमपूर्ण विनिमेयता को अर्थक्रियावाद के ऊपर आरोपित किया गया है।"[2]

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि शिलर के अनुसार उपयोगिता सत्य का व्यावर्तक गुण नहीं है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उपयोगिता का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके अनुसार **उपयोगिता के बिना सत्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ज्ञान** उपयोगी होने पर ही सत्य का रूप धारण करता है। शिलर के शब्दों में "यह उपयोगिता ही वस्तुतः, सत्य का जनक है। किसी भी सत्य की तब तक उत्पत्ति नहीं हो सकती, किसी सत्य का तब तक समर्थन नहीं किया जा सकता जब तक कि वह किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयोगी घोषित न कर दिया गया हो। यह उपयोगिता सत्य की उत्पत्ति की पूर्वगामिनी होती है और बाद की घटनाओं में यह बिलकुल से अप्रभावित रहती है।"[3] यहाँ उपयोगिता सत्य का स्वभाव नहीं है वरन् उसका जनक है। इसे सत्य का **उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त** (Genetic Theory) कहा जा सकता है।

जेम्स सत्य व उपयोगिता के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करता है तथा शिलर उपयोगिता को सत्य का जनक मानता है। अब प्रश्न यह है कि क्या उपर्युक्त दोनों विचार एक दूसरे से बिलकुल पृथक हैं या उनके बीच किसी प्रकार का समन्वय किया जा सकता है ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार एक उपाय अवश्य है जिसके द्वारा जेम्स व शिलर के दृष्टिकोण के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जिस प्रकार त्रिभुजता व त्रिकोणता के बीच गुणार्थ की भिन्नता होते हुए भी समानता पाई जाती है, इसी प्रकार सत्य और उपयोगिता के गुणार्थ में भी भिन्नता होते हुए भी उनके बीच समानता पाई जाती है। सत्य

1. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 204, "You can say of it either that 'it is useful because it is true' or that 'it is true because it is useful'. Both these uses mean exactly the same thing, namely that here is an idea that gets fulfilled and can be verified."
2. शिलर, लॉजिक फॉर यूस, पृ० 157.
3. वही पृ० 159, "This use is quite literally the ratio essendi of truth. No truth can come into being, no truth can be asserted, unless it has been judged useful for some purpose. This use precedes its publication, and is unaffected by whatever may befall it later."

का अर्थ है सत्य की माँग या उसका अध्यर्थन जिससे किसी प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है तथा उपयोगिता इस प्रक्रिया के लक्ष्य की सिद्धि या उसके अध्यर्थन की चरितार्थता है। इस प्रकार सत्य और उपयोगिता एक ही तथ्य के दो पहलू हैं।

सत्य हौर उपयोगिता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण जेम्स **सत्य को शुभ (Good) की एक उपजाति** के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थ-क्रियावाद के अनुसार सत्य वही हो सकता है जो उपयोगी हो तथा किसी वस्तु के उपयोगी होने का अर्थ है उसका शुभ होना। यहाँ सत्य की व्याख्या उपयोगिता या शुभ के माध्यम से की गई है। इसीलिए सत्य शुभ की एक उपजाति है। जेम्स के ही शब्दों में, "सत्य शुभ की केवल एक उप-जाति है, और यह शुभ से पृथक् या उसके समकक्ष कोई पदार्थ नहीं है जैसा सामान्यतः लोग समझते हैं। सत्य वही है जो विश्वास के रूप में शुभ सिद्ध हो सकता है और वह भी कुछ निश्चित निर्धार्य कारणों के द्वारा।"[1] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जेम्स के लिए सत्य जीवन का एक मूल्य है जिसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य सचेष्ट रहता है।

2. जॉन डेवी

(John Dewey : 1859-1952)

जॉन डेवी अमेरिका के सर्वाधिक सुप्रसिद्ध अर्थक्रियावादी दार्शनिक हैं जिनके विचारों का प्रभाव केवल अमेरिका तक ही सीमित नहीं रहा वरन् अमेरिका के बाहर के देशों में भी फैल गया। उन्होंने अर्थक्रियावाद की इतनी विस्तृत व्याख्या की कि इसके प्रभाव से जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह पाया। डेवी के अर्थक्रियावाद ने मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, विधिविज्ञान, अर्थशास्त्र, कला, धर्म, विज्ञान, दर्शन सबको प्रभावित किया। जब तक कोई विज्ञान अपने विचारों की अर्थक्रियावादी व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर लेता तब तक वह अपने को अपूर्ण समझता है।

दार्शनिक कृतियाँ—डेवी के विचारों को समझने के लिए उसकी निम्न कृतियों को समझना नितान्त आवश्यक है—1. दर्शन के ऊपर डार्विन का प्रभाव (The Influence of Darwin on Philosophy), 2. प्रायोगिक तर्कशास्त्र पर निबन्ध (Essays in Experimental Logic), 3. दर्शन की पुनर्रचना (Reconstruction in Philosophy), 4. अनुभव एवं प्रकृति (Experience and Nature), 5. निश्चिति की खोज (The Quest for Certainty), 6. तर्कशास्त्र : अन्वेषण सिद्धान्त (Logic : Theory of Inquiry). 7. मूल्यांकन का सिद्धान्त (Theory of Valuation)।

उपकरणवाद एवं प्रयोगवाद

(Instrumentalism and Experimentalism)

यदि पियर्स के दर्शन को **अनुभववाद** (Experientialism) तथा जेम्स के दर्शन को

---

1. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 75-6, "......true is only one specie of good, and not as is usually supposed, a category distinct from good co-ordinate with it. The true is the name of whetever proves itself to be good in the way of belief, and good, too, for definite assignable reasons."

व्यवहारवाद (Practicalism) मान लिया जाय तो डेवी के दर्शन को उपकरणवाद (Instrumentalism) और प्रयोगवाद (Experimentalism) मानना होगा। वे जीवन को एक साहसिक कार्य या प्रयोग मानते हैं। जिसके द्वारा हम नवीन परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। पियर्स एवं जेम्स की तरह डेवी भी अपना सारा दर्शन अनुभव के सुदृढ़ आधार पर खड़ा करने की चेष्टा करते हैं। **जीव एवं वातावरण की अन्योन्य क्रिया के परिणामस्वरूप जो वस्तु उत्पन्न होती है उसे अनुभव** (Experience) कहते हैं। जो वस्तु हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकती उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यदि हम किसी वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं तो हमें कहना होगा कि हमें उस वस्तु की कैसी अनुभूति हो रही है।

(i) **अनुभव**—जहाँ तक अनुभव के स्वभाव का प्रश्न है, डेवी के अनुसार, अनुभव कोई अमूर्त वस्तु नहीं है बल्कि उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, दुःख, दर्द, पीड़ा एवं वेदनाओं (Doings and Sufferings) से है। जिस किसी वस्तु का हमें अव्यवहित ज्ञान होता है वह हमारे अनुभव का अंग हो सकती है। इसी कारण डेवी के अनुभववाद को **अव्यवहित अनुभववाद** (Immediate Empiricism) की भी संज्ञा दी जाती है। अनुभव के स्वभाव का वर्णन करते हुए डेवी लिखते हैं—"आनुभविक दृष्टि से वस्तुएँ मर्मस्पर्शी, कारुणिक, सुन्दर, हास्यकर, स्थिर, अशान्त, सुखद, कष्टकर, बन्ध्या, निष्ठुर, सान्त्वनाप्रद, भव्य, भयंकर होती हैं ; ऐसा उनका आन्तरिक स्वभाव होता है।"[1] जिस प्रकार वस्तुओं के भीतर रूप, रंग, स्पर्श, शब्द, घ्राण तथा स्वाद के वस्तुगत गुण पाए जाते हैं उसी प्रकार उनके भीतर उपर्युक्त गुण भी पाए जाते हैं।[2]

अनुभव के विषय में जो दूसरी बात विचारणीय है वह यह है कि हमारा अनुभव एक दृष्टि से ऐकान्तिक व अपवर्जक होता है तो दूसरी दृष्टि से समावेशी व परस्पर-सम्बद्ध होता है। डेवी के शब्दों में "यदि अव्यवहित अनुभव में कहने की क्षमता होती तो यह घोषित करता कि मेरे सम्बन्धी हो सकते हैं पर मैं सम्बन्धित नहीं हूँ।"[3] इस प्रकार संसार में जितनी वस्तुएँ हैं उनका अपना आन्तरिक स्वभाव होते हुए भी वे संसार की अन्य वस्तुओं के साथ इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध हैं कि हमारा ज्ञान संश्लिष्ट व समावेशी ही हो सकता है।

तीसरी बात जो समझने की है वह यह है कि डेवी ने ज्ञान और अनुभव की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसके अनुसार ज्ञान बाह्य परिस्थितियों के साथ सफल समायोजन का एक उपकरण है। यह एक ऐसी विकट परिस्थिति में उत्पन्न होता है जिसमें हमारी प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई हो। जब किसी जीव के समक्ष कोई नवीन वस्तु आकर खड़ी हो जाती है, हमारे लिए एक व्यावहारिक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि उसके साथ हम किस प्रकार का व्यवहार करें। उस व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए हमारे मन में जो विचार उत्पन्न होता है डेवी उसे 'ज्ञान' की संज्ञा प्रदान करते हैं। **ज्ञान किसी परिस्थिति का विमर्शात्मक या बौद्धिक बोध है**[4] जो किसी अनुभव से उत्पन्न तो अवश्य होता है पर अनुभव के साथ उसका

---

1. डेवी, एक्स्पीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ० 96.
2. वही, पृ० 96.
3. वही, पृ० 87 'I may have relatives but I am not related'.
4. "Knowledge is a reflective or intellectual grasp of a situation."

तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञान के विपरीत, **अनुभव किसी परिस्थिति का अविमर्शात्मक बोध है**[1] यथा भोजन का स्वाद लेना, किसी वृत्तचित्र की प्रशंसा करना, किसी व्यक्ति से प्रेम करना इत्यादि। यदि हमें नीले रंग की संवेदना हो रही है तो यह डेवी के अनुसार 'अनुभव' न होकर अनुभव का बौद्धिक विमर्श है। इस प्रकार डेवी ने लॉक, बर्कले एवं ह्यूम के परम्परागत अनुभववाद का खण्डन करके अपने वास्तविक अनुभववाद की स्थापना किया।

जब हमारे समक्ष कोई व्यावहारिक समस्या उपस्थित होती है तो हमारा चिन्तन अनुभव को दो भागों में विभाजित कर देता है : प्रथम प्रदत्त है जो विशुद्ध तथ्य के रूप में आता है, द्वितीय वह विचार या प्रस्ताव है जो समस्या के लिए हमारे मन में उत्पन्न होता है। विचार या प्रस्ताव तथ्य एवं उद्देश्य के बीच अन्तर को कम करने की चेष्टा करता है। ये प्रस्ताव वे उपकरण (Instrument) हैं जो तथ्यों को इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि समस्या का समाधान स्वतः हो जाता है।

(ii) **उपकरणवाद**—हम पहले ही देख चुके हैं कि विचार हमारे भविष्य की क्रियाओं की योजना है। डेवी की भी यही मान्यता है। उनके अनुसार "विचार एक प्रकार का ड्राफ्ट या धनादेश है जिसके द्वारा हम इस प्रकार कार्य करते हैं कि वस्तुओं के भीतर व्यवस्था स्थापित हो जाती है।"[2] इससे वह निष्कर्ष निकलता है कि "यदि हमारे ड्राफ्ट का सम्मान किया जाता है अथवा यदि हम अपने विचारों के अनुसार कार्य करने से परिस्थिति में सुव्यवस्था या सामञ्जस्य स्थापित करने में सफल हो जाते हैं तो हमारा विचार यथार्थ है।"[3] **इस प्रकार विचार एक प्रकार के उपकरण** (Tools) हैं। इसमें साध्य-मूल्य इस बात में निहित होता है कि इसका प्रयोग किसी समस्या के समाधान की कितनी योग्यता रखता है।"[4]

(iii) **प्रायोगिक अनुभववाद**—डेवी ने अपने अर्थ (Meaning) के सिद्धान्त को प्रायोगिक अनुभववाद[5] (Experimental Empiricism) की संज्ञा दी है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के भौतिक गुण विभिन्न प्रयोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसमें डेवी ने प्रो० ब्रिग्मैन[6] (Prof. Bridgmann) से प्रेरणा ग्रहण की है तथा उनकी सहमति से वे उन्हें इस प्रकार उद्धृत करते हैं, "किसी प्रत्यय से हमारा तात्पर्य संक्रियाओं के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, प्रत्यय संक्रियाओं के समूह का ही पर्याय है।"[7] इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की भौतिक विशेषताएँ उसके समवायी गुण नहीं है वरन् वे कुछ साभिप्राय

1. Experience is a non-reflective way of dealing with a situation.
2. रिकॉन्स्ट्रक्शन इन फिलॉसॉफी, पृ० 145, "....an idea is a draft drawn upon existing things, intention to act so as to arrange them in a certain way."
3. वही....."From which it follows that if the draft is honoured, if existences following upon the action re-adjst themselves in the way the idea intends, the idea is true."
4. वही।
5. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 108.
6. द लॉजिक ऑव मॉडर्न फिजिक्स, पृ० 5.
7. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 111, We mean by any concept noting more than a set of operations, the concept is synonymous with the corresponding set of operations.

संक्रियाओं (Intentional Operations) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के भीतर निरपेक्ष गुण न होकर केवल सापेक्ष गुण ही पाये जाते हैं। यदि किसी वस्तु के ऊपर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं तो उस वस्तु के अन्दर कुछ सविशेष गुण प्रकट होंगे। वस्तु का सोपपाधिक या सापेक्ष स्वभाव स्पष्ट करता है कि उसके भीतर जो इस समय गुण दिखाई दे रहे हैं वे उसके अन्तिम व पूर्ण गुण नहीं हैं वरन् वे मध्यवर्ती या उपकरणात्मक गुण ही हैं।[1] उदाहरण के लिए हम हाइड्रोजन गैस को ले सकते हैं। विज्ञान बताता है कि हाइड्रोजन एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन व ज्वलनशील गैस है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वस्तु के भीतर ये गुण किस प्रकार प्रकट होते हैं। हाइड्रोजन के इन गुणों का ज्ञान न तो हमें बुद्धि द्वारा प्राप्त हो सकता है और न इन्द्रियानुभव द्वारा ही। वस्तु के भीतर उपर्युक्त गुण तब उत्पन्न होते हैं जबकि उस पर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं। चूँकि जब तक किसी वस्तु के ऊपर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ या प्रयोग (Experiment) न किए जाँय तब तक उनके गुणों का हमें अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए डेवी के अनुभववाद को प्रायोगिक अनुभववाद (Experimental Empiricism) की संज्ञा दी जाती है।

(iv) सांसारिकवाद (Temporalism)—डेवी किसी स्थिर या शाश्वत जगत में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार जगत परिवर्तनशील, प्रवहमान व अस्थिर वस्तु है। उसके भीतर कोई स्थिर या स्थायी गुण नहीं पाये जाते। वस्तुओं के गुण सापेक्षिक, सोपपाधिक व परिस्थिति-सापेक्ष होते हैं। किसी वस्तु के ऊपर जिस प्रकार के प्रयोग किये जायेंगे उसी प्रकार के गुण भी उसके भीतर परिलक्षित होंगे। संसार की सभी वस्तुएँ काल के प्रवाह में निमग्न हैं व समय के परिवर्तन के अनुसार उनके स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। संसार का अर्थ ही है : परिवर्तन ; जगत का अर्थ ही है वह वस्तु जो उत्पन्न होती है और बाद में नष्ट हो जाती है। डेवी के ही शब्दों में—"सभी व्याप्त्यर्थों का जो हमारे अनुभव का निर्माण करते हैं, एक इतिहास होता है, वे काल-प्रवाह में निमग्न हैं।"[2] इसी प्रकार, "वर्तमान अनुभव के सभी विषयों में कालगत अनुक्रमण की वास्तविकता पायी जाती है।"[3] पुनः "किसी वस्तु के स्थिर होने पर भी उसे शाश्वत नहीं कहा जा सकता। एक निश्चित अवस्था के बाद वह काल-दन्त की चपेट से ध्वस्त हो जायगा। प्रत्येक सत् एक घटना है।"[4] इस प्रकार डेवी संसार की सांसारिकता में अटूट विश्वास रखते हैं।

(v) व्यावहारिकवाद (Practicalism)—डेवी डार्विन के विकासवाद से विशेष प्रभावित थे। जिस प्रकार किसी जीव या प्राणी का कोई अंग बाह्य परिस्थितियों के साथ समायोजन या अनुकूलन का उपकरण है, उसी प्रकार किसी विचार की सार्थकता इस बात में निहित होती है कि वह हमारी व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में कितना सहायक होता है। उन्हीं के शब्दों में—"किसी विचार की सार्थकता उन परिवर्तनों में निहित है जो वह हमारी

---

1. लॉजिक, पृ० 456.
2. एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ० 28.
3. वही, पृ० 29, "Objects of present experience have the actuality of temporal procession.
4. वही, पृ० 71.

अभिवृत्ति के रूप में वस्तुओं को प्रभावित करता है।"[1]

यद्यपि डेवी ने **तथ्यात्मक निर्णयों** (Judgements of Fact) एवं **व्यावहारिक निर्णयों** (Judgements of Practice) में विभेद किया है पर अन्त में वे तथ्यात्मक निर्णयों को व्यावहारिक निर्णयों में घटित करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें कुर्सी का ज्ञान होता है तो लोग यही कहेंगे कि हमें एक तथ्य के रूप में कुर्सी का ज्ञान हो रहा है, पर डेवी के अनुसार बात ऐसी नहीं है। उन्हीं के शब्दों में—"हम कुर्सी के विभिन्न पृथक गुण की गणना करके कुर्सी को नहीं जानते वरन इन गुणों को किसी अन्य वस्तु—उस उद्देश्य के साथ सम्बन्धित करके ही जानते हैं जो उस वस्तु को मेज न बनाकर कुर्सी बनाती है।"[2]

आगे चलकर डेवी ने अपने व्यावहारिकवाद को **संक्रियावाद** (Operationalism) के साथ सम्बन्धित करके उसे और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की। हमारे सभी प्रत्ययों एवं बौद्धिक वर्णनों की व्याख्या संक्रियाओं के माध्यम से होनी चाहिए। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु मीठी या मधुर है तो इसका यह अर्थ होता है कि जब उस वस्तु का स्वाद लिया जायगा तो उसके कुछ निश्चित परिणाम उत्पन्न होंगे।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि **किसी विचार की सार्थकता संक्रियाओं में तथा उसकी वैधता परिणामों में निहित** है। यही डेवी का व्यावहारिकवाद है।

अर्थक्रियावाद : एक दार्शनिक प्रणाली

अर्थक्रियावाद महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं के समाधान की एक प्रणाली भी है। चार्ल्स पियर्स के अनुसार अर्थक्रियावाद "अनुचिन्तन की एक प्रणाली है, जिसका उद्देश्य विचारों को स्पष्ट करना होता है।" जेम्स ने भी अर्थक्रियावाद को तात्त्विक समस्याओं के समाधान की एक प्रणाली के रूप में स्वीकार किया था, जिसके अभाव में ये समस्याएँ असमाप्य ही होती हैं।[4] उन्होंने संकेत किया था कि यदि विभिन्न तात्त्विक विकल्प यथा भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद अथवा वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद, जीवन में कोई व्यावहारिक अन्तर उत्पन्न नहीं करते तो व्यावहारिक दृष्टि से इन विकल्पों के समान अर्थ हैं और इनसे सम्बन्धित सभी विवाद निरर्थक हैं। इसी प्रकार जॉन डेवी ने भी कहा था कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जो वस्तुवाद और विज्ञानवाद का अथवा अव्यवहितत्त्ववाद और प्रतिनिधानवाद के बीच ज्ञानमीमांसीय विवाद है वे ज्ञाता और ज्ञेय के आत्यन्तिक विरोध के कारण हैं। डेवी ने ज्ञान के इस प्रेक्षक रूप (Spectator's View) का घोर विरोध किया। ज्ञाता और ज्ञेय किसी का भी स्वभाव स्थिर नहीं होता। जब कोई विषय हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह एक उत्तेजना (Provocation) या चुनौती (Challenge) के रूप में हमारे सामने आता है जिसका सामना करने के लिए हम ज्ञाता के भीतर कुछ परिवर्तन कर देते हैं तथा इसी प्रकार अपने उद्देश्यों

---

1. एसेज इन एक्सपेरिमेण्टल लॉजिक, पृ० 315, "The meaning of an idea is the changes it, as our attitude, effects in objects."
2. डेवी, जे०, डेमॉक्रेसी एण्ड एजुकेशन, पृ० 168.
3. द क्वेस्ट फॉर सर्टेन्टी, पृ० 137.
4. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 45, "Pragmatism a method of settling metaphysical disputes than otherwise might be interminable."

की सिद्धि के लिए हम विषय या ज्ञेय वस्तु के भीतर भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देते हैं। दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है वह यह है कि ज्ञाता या विषयी जगत के बाहर नहीं हैं, वह जगत के भीतर ही है। डेवी के अनुसार, हमारे अनुसंधान के विषय "दैनिक अनुभव की वस्तुएँ या जगत की वे मूर्त घटनाएँ हैं जिनके बीच हम रहते हैं तथा जो व्यावहारिक बातों या सुख-दुःख के दृष्टिकोण से हमारे उस जगत का निर्माण करती हैं जिनके बीच हम निवास करते हैं।"[1] इस प्रकार डेवी मनो-भौतिक द्वैतवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक एवं भौतिक प्रक्रियाएँ एक ही सतत और अविच्छिन्न प्रक्रिया के अंग है। "इसे दो भागों में विभाजित करने की प्रक्रिया एवं पुनः कार्योत्पादक शक्ति द्वारा संयुक्त करने की प्रक्रिया समान रूप में यादृच्छिक और निराधार है।"[2]

इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों के अनुसार आदर्श, यथार्थ से बिलकुल पृथक् है पर डेवी के अनुसार आदर्श यथार्थ से ही उत्पन्न होता है तथा उसे विकास की सम्भाव्यता को व्यक्त करता है। यदि दार्शनिक लोग दुखी मानवता को इस बात के लिए आश्वस्त कर सकें कि आदर्श यथार्थ से पृथक् और अतीत नहीं है वरन् उससे अविच्छिन्न हैं तथा यदि मनुष्य प्रयत्न करें तो आदर्शों को प्राप्त कर सकते हैं, तो मानव समाज का बड़ा कल्याण हो सकता है। डेवी के अर्थ-क्रियावाद का यही प्रमुख उद्देश्य था।

अर्थक्रियावाद ने धार्मिक समस्याओं के समाधान में भी पर्याप्त योगदान किया। ईश्वर, आत्मा की अमरता, प्रयोजन, उद्देश्य इत्यादि को कुछ लोगों ने इसलिए अस्वीकार कर दिया कि इनके अस्तित्व के लिए कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं हैं। पर अर्थक्रियावादियों ने इन्हें इसलिए स्वीकार कर लिया कि जीवन में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता है। **आस्था या विश्वास मानव-जीवन की पूर्वापेक्षा** है। **संदेहवाद** व अज्ञेयवाद से हमारा जीवन दूभर हो जायगा। विश्वास या आस्था ही हमारे जीवन का आरम्भ बिन्दु है।

व्यावहारिक और जैविक दृष्टिकोण से ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्त्व की कोई प्रासंगिकता नहीं है। डेवी के अनुसार **धर्म का मूल मन्तव्य है—किसी उच्च्व शक्ति के प्रति समर्पण की भावना।** धार्मिक अभिवृत्ति के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि हमारे समक्ष एक उच्च आदर्श हो और उस आदर्श की सिद्धता के प्रति समर्पित भाव हो। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि किसी उच्च आदर्श के प्रति समर्पित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आदर्श के पूर्व अस्तित्व का हमारे पास पूर्ण प्रमाण मौजूद हो ; इसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उक्त आदर्श को स्वीकार करने से हमारे जीवन में समुन्नति और गुणात्मक वृद्धि होती रहे।[3] ईश्वर हमारे जीवन की प्रारम्भिक अभिधारणा है।

अर्थ-क्रियावाद का मूल्यांकन

अर्थ-क्रियावाद ऊपर से देखने पर पर्याप्त आकर्षक सिद्धान्त दिखाई पड़ता है तथा वह आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रवृत्ति के बिलकुल अनुकूल भी है। पर यदि उसका तार्किक विश्लेषण किया जाय तो उसमें हमें पर्याप्त दोष भी दिखाई पड़ता है, जिनका हम

1. द क्वेस्ट फार सर्टेनटी, पृ० 195.
2. एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ० 275.
3. डेवी, द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 288-91.

संक्षेप में नीचे वर्णन करेंगे—

(1) ज्ञान की जैविक व्याख्या प्रस्तुत करके विलियम जेम्स ने मानवीय और जानवरों के ज्ञान को एक स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया। जब अर्थ-क्रियावादी यह कहते हैं कि ज्ञान का वास्तविक अर्थ तत्त्व-प्रकाशन नहीं वरन् भविष्य में कार्य करने की योजना या सन्नद्धता है तो ज्ञान की यह परिभाषा केवल जानवरों पर ही लागू होती है, मनुष्यों पर नहीं। ज्ञान-विज्ञान का इतिहास जेम्स के अर्थ-क्रियावाद की पुष्टि नहीं करता। विज्ञान के अनुसंधान निष्काम भाव से किये जाते हैं। ज्ञान की खोज में कितने ही जिज्ञासुओ ने अपने प्राणों की आहुति दे डाली। हम जानते हैं कि पोटेशियम साइनाइड (Potassium Cynide) के स्वाद का ज्ञान प्राप्त करने में कितने ही वैज्ञानिकों ने अपनी जान गवाँ दी है। यहाँ जेम्स का अर्थ-क्रियावाद इस तथ्य की व्याख्या करने में बिलकुल असमर्थ हो जाता है। फराडे (Faraday), मैक्सवेल (Maxwell), हर्टज (Hertz) इत्यादि वैज्ञानिकों ने जब अपने मौलिक अनुसंधान प्रस्तुत किये उनके मन में इन अनुसंधानों की व्यावहारिक उपयोगिता का विचार भी न आया होगा। अतः यह कहना कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य व्यावहारिक उपयोगिता द्वारा ही संचालित होते हैं, ठीक नहीं है।

(2) अर्थ-क्रियावादी अवैयक्तिक ज्ञान (Impersonal Knowledge) से इनकार करते हैं। उनके अनुसार हमारे सभी ज्ञान व्यक्तिगत इच्छाओं और प्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं। पर यह वास्तविकता के प्रतिकूल है। 'ज्ञान' एक पवित्र वस्तु है। यदि हम किसी ज्ञान को सकाम भाव से या फल की इच्छा के लिए प्राप्त करना चाहते हैं तो वह वास्तविक ज्ञान कभी नहीं हो सकता। ज्ञान का आदर्श 'ज्ञान', ज्ञान के लिए (Knowledge for the sake of Knowledge) होता है। अतः, इस सम्बन्ध में अर्थ-क्रियावाद का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(3) अर्थ-क्रियावादियों का जो अर्थ (Meaning) का सिद्धान्त है वह भी अनेक तार्किक कठिनाइयों से भरा पड़ा है। डेवी के अनुसार, "किसी वस्तु के मधुर कहने का अर्थ यह भविष्यकथन करना है कि यदि उसका स्वाद लिया जायेगा तो उससे अमुक परिणाम प्राप्त होंगे।"[1] परन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि निम्न दो निर्णयों प्रथम "चीनी मधुर है" और द्वितीय "यदि मैं चीनी का स्वाद लूँगा, मुझे मधुरता का अनुभव प्राप्त होगा" के अर्थ समान नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि प्रथम के सत्य होते हुए भी दूसरा निर्णय असत्य हो सकता है। यदि हमारी स्वाद-कलिकाएँ (Taste-Bulbs) किसी प्रकार निष्क्रिय वना दिए जाँय, चीनी को जिह्वा पर रखने के बाद भी हमें मधुरता का अनुभव नहीं होगा। अतः दोनों निर्णयों के अर्थ समान नहीं हैं। दूसरा कारण यह है कि यदि कोई व्यक्ति प्रथम निर्णय की यथार्थता को चुनौती देता है, उसकी यथार्थता को सिद्ध करने के लिए हम द्वितीय निर्णय को एक स्वतन्त्र निकष के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। यदि दोनों निर्णयों के अर्थ समान होते हैं तो प्रथम निर्णय की यथार्थता को सिद्ध करने के लिए द्वितीय निर्णय को आधार वनाने की आवश्यकता कदापि न होती। इससे स्पष्ट है कि अर्थ-क्रियावादियों के कथन के बावजूद उपर्युक्त दोनों कथनों के अर्थ समान नहीं है।

(4) यदि अर्थ-क्रियावाद के अनुसार हमारे सभी विचार अग्रदर्शी (Prospective) हैं,

---

1. डेवी, क्वेस्ट फार सर्टेनटी, पृ० 137.

तो इसका निहितार्थ यह है कि हमें भूतकाल के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता जो सर्वथा गलत है। इसमें दूसरी कठिनाई यह है कि यदि सभी विचार अग्रदर्शी हैं तो किसी निर्णय का सत्यापन (Verification) किया ही नहीं जा सकता। कल्पना किया कि एक विचार वि है जो अग्रदर्शी है। इसके सत्यापन के लिए भविष्य में घटित होने वाले अ[1] की आवश्यकता होगी। अब, अ[1] को भी एक विचार या निर्णय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसके सत्यापन के लिए अनुभव अ[2] की आवश्यकता होगी। इस प्रकार इसमें अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी।

(5) यदि अर्थ-क्रियावाद को यथार्थ मान लिया जाय तो सामान्य तर्क-वाक्यों (General Propositions) की सत्यता का निर्धारण कभी किया ही नहीं जा सकता। किसी सर्वव्यापी सामान्य तर्क-वाक्य की सत्यता के निर्धारण के लिए अनन्त परिणामों का अवलोकन करना होगा जो व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। सामान्य तर्क-वाक्यों की सत्यता को तो छोड़ दीजिए, उनके अर्थ को भी निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी सामान्य तर्क-वाक्य का वास्तविक अर्थ उन सभी विशिष्ट अनुभवों द्वारा निर्धारित होगा जो भूतकाल में घटित हो चुके हैं, वर्तमान में घटित हो रहे हैं और भविष्य में घटित होंगे। इन सभी घटनाओं का एक व्यक्ति के लिए अनुभव करना असम्भव ही है। यदि यह सही है तो न तो कोई अनुमान सम्भव होगा और न कोई विज्ञान ही क्योंकि प्रत्येक विज्ञान कम से कम एक सर्वव्यापी सामान्य तर्क-वाक्य पर आधारित है और वह है : प्रकृति की समरूपता का नियम। अर्थक्रियावाद के आधार पर कोई भी विज्ञान स्वयं अपने को प्रमाणित नहीं कर सकता।

(6) कुछ अर्थ-क्रियावादी जैसे डेवी किसी निर्णय के अर्थ (Meaning) व उसके सत्यापन (Verification) में भेद नहीं करते। वे इन दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। पर यह उचित नहीं है। यदि किसी निर्णय के भीतर पहले से ही कोई अर्थ नहीं है, तो उसके सत्यापन का कोई अर्थ नहीं है। किसी निरर्थक वाक्य का सत्यापन नहीं किया जाता। अर्थ एवं सत्यापन के तादात्म्य का एक कुपरिणाम यह निकलेगा कि वह हमें अहंमात्रवाद (Solipsism) की ओर ले जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने आत्मनिष्ठ अनुभवों तक ही सीमित रहेगा और उसे वस्तुनिष्ठ जगत का ज्ञान ही नहीं हो पाएगा। ऐसी स्थिति में विचारों का आदान-प्रदान ही असम्भव हो जाएगा।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी अर्थ-क्रियावाद के कुछ गुणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अर्थक्रियावाद ने काल्पनिक जगत से हमारा ध्यान हटाकर वास्तविक जगत में केन्द्रीभूत किया। मानव ही सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड का केन्द्र है। जब तक कोई विचार या कल्पना मानव द्वारा अनुमोदित नहीं होगी संसार में उसका कोई मूल्य नहीं होगा। इस दृष्टि से अर्थक्रियावाद एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

□□□

8 नव्य-वस्तुवाद (Neo-Realism)

जी० ई० मूर, बी० रसॅल एवं आर० बी० पेरी
(G. E. Moore, B. Russell and R. B. Perry)

दार्शनिक पृष्ठभूमि

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में अर्वाचीन दर्शन के बाद समकालीन दर्शन का अभ्युदय होता है। जिस प्रकार अर्वाचीन दर्शन को **"विचारधारा का युग"** (The Age of Ideology) कहा जाता है उसी प्रकार समकालीन दर्शन को **विश्लेषण का युग** (The Age of Analysis) कहा जाता है। इस युग की विशेषता यह है कि उसमें सभी प्रकार की दार्शनिक समस्याओं का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। समकालीन युग की सभी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ विज्ञानवादी हेगल के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। हेगल के विज्ञानवाद ने न केवल उपकरणवाद (Instrumentalism),अस्तित्ववाद (Existentialism) और मार्क्सवाद (Marxism) के सिद्धान्तकारों को प्रभावित किया वरन् किसी न किसी रूप में बीसवीं शताब्दी की कुछ गौरवशाली दार्शनिक प्रवृत्तियों जैसे तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism), वस्तुवाद (Realism) एवं विश्लेषणात्मक दर्शन (Analytic Philosophy) के सिद्धान्तकारों को भी प्रभावित किया। इसका एक कारण यह है कि जॉन डेवी (John Dewey), कीर्केगार्ड (Kierkegaard), कार्ल मार्क्स (Karl Marx), बर्ट्रण्ड रसॅल (B. Russell) एवं जी० ई० मूर (G. E. Moore) अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में हेगल के विचारों के घनिष्ट विद्यार्थी रह चुके थे। बाद में भले ही इन दार्शनिकों ने हेगल के विचारों का परित्याग कर दिया हो, पर प्रारम्भ में वे हेगल के विचारों से प्रभावित अवश्य थे। इसका एक प्रमाण यह है कि उपर्युक्त दार्शनिकों के विचारों में हेगल के विचारों के क्षतचिह्न कहीं न कहीं अवश्य पाए जाते हैं।

इंग्लैण्ड में हेगल के विचारों के दो प्रमुख दार्शनिक थे। प्रथम ब्रैडले (F. H. Bradley) एवं द्वितीय मैक्टैगार्ट (J. E. Mactaggart)। अमेरिका में हेगल के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले जोशिया रॉयस (Josiah Royce) थे। अमेरिका में विलियम जेम्स ने नव्य-विज्ञानवादियों का खण्डन करते हुए कहा 'निरपेक्ष सत् को लानत दो' (Damn the Absolute)। अमेरिका में हेगल के विचारों के विरुद्ध अर्थक्रियावाद का जन्म हुआ किन्तु इंग्लैण्ड में इस विरोध ने वस्तुवाद (Realism) और तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) का रूप ग्रहण किया। यहाँ हम केवल वस्तुवाद और उसमें भी विशेषकर नव्य-वस्तुवाद की विशेष चर्चा करेंगे।

वस्तुवाद

(Realism)

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में "वस्तुवाद" शब्द का प्रयोग तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दोनों अर्थों में किया जाता है। तत्त्वमीमांसीय अर्थ में वस्तुवाद की यह मान्यता है कि "सामान्य" (Universal) का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतन्त्र ही नहीं होता वरन् संसार की विशिष्ट वस्तुओं से उसका श्रेष्ठ अस्तित्व होता है। संसार की वस्तुएँ सामान्यों की प्रतिलिपि मात्र हैं। इस दृष्टि से प्लेटो को वस्तुवादी कहा जा सकता है। पर समकालीन दर्शन में "वस्तुवाद" शब्द का प्रयोग ज्ञानमीमांसीय अर्थ में किया जाता है जिसके अनुसार ज्ञान का विषय सदा ज्ञाता से स्वतन्त्र होता है। यह ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का विरोधी सिद्धान्त है जिसके अनुसार ज्ञान का विषय सदा ज्ञाता के ऊपर आश्रित होता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद एंव ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद परस्पर-विरोधी सिद्धान्त हैं पर ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद की तत्त्वमीमांसीय विज्ञानवाद के साथ सुसंगति हो सकती है। ज्ञान का विषय ज्ञाता से स्वतन्त्र होते हुए भी चेतन हो सकता है। समकालीन वस्तुवाद का सम्बन्ध मुख्य रूप से ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद से ही है, तत्त्वमीमांसीय वस्तुवाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

समकालीन दर्शन में "वस्तुवाद" की स्थापना का श्रेय इंग्लैण्ड के दो सुप्रसिद्ध दार्शनिकों जी० ई० मूर एवं बर्ट्रण्ड रसॅल को जाता है। आगे चलकर वस्तुवादी प्रवृत्ति इंग्लैण्ड तक ही सीमित नहीं रह सकी, वह अटलाण्टिक महासागर को पारकर अमेरिका पहुँच गई जहाँ ई० बी० हाल्ट (E. B. Holt), डब्ल्यू० पी० मॉण्टेग (W. P. Montague), आर० बी० पेरी (R. B. Perry) इत्यादि दार्शनिकों ने वस्तुवादी विचारधारा को अग्रसारित किया। पर ब्रिटिश एवं अमेरिकी वस्तुवाद की जड़ हमें जर्मन वस्तुवादियों जैसे ब्रेण्टेनों (Brentano), मीनंग (Meanong) एवं हुसर्ल (Husserl) में ही दिखाई पड़ जाती है जिन्होंने ज्ञान की प्रत्येक परिस्थिति में क्रिया (Act) और विषय (Object) के बीच भेद स्थापित किया।

ब्रिटेन में प्रो० जी० ई० मूर वस्तुवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक माने जाते हैं। उनके दर्शन को नव्य-वस्तुवाद (Neo-Realism) कहा जाता है जिसके अनुसार हमें बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। वे अपने वस्तुवाद की स्थापना के लिए बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' (Esse est Percipi) का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। बर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' का सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का प्रतिनिधित्व करता है। मूर के अनुसार यदि इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया जाय तो इससे सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद स्वतः खण्डित हो जायगा और ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद की स्थापना हो जायगी।

जार्ज एडवर्ड मूर

(George Edward Moore, 1873-1958)

जीवन-वृत्त—जॉर्ज एडवर्ड मूर का जन्म 1873 में हुआ था और उनकी मृत्यु 1958 में हुई। वे बर्ट्रण्ड रसॅल से अवस्था में एक वर्ष छोटे थे। प्रथम उनकी शिक्षा डलविच (Dulwich) कालेज में हुई तथा बाद में छात्रवृत्ति के साथ उनका प्रवेश ट्रिनिटी कालेज

कैम्ब्रिज में हुआ। प्रारम्भ में मूर की अभिरुचि प्राचीन उच्च साहित्य (Classics) में थी पर रसॅल के समझाने पर वे दर्शन-शास्त्र की ओर आकर्षित हुए। 1898 ई० में वे ट्रिनिटी कालेज के पार्षद चुने गए। 1911 में मूर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्रवक्ता नियुक्त किए गए तथा 1925 में जेम्स वार्ड के अवकाश-ग्रहण के बाद वे वहीं दर्शन-शास्त्र के आचार्य (Professor) नियुक्त हुए। उन्होंने 1921 से लेकर 1947 तक ब्रिटेन की सुप्रसिद्ध पत्रिका माइण्ड (Mind) का सम्पादन किया।

रचनाएँ—मूर की सुप्रसिद्ध रचनाएँ तथा उनकी रचना का काल निम्नलिखित है। 1. प्रिंसिपिया एथिका (Principia Ethica) 1903 ; 2. दार्शनिक अध्ययन (Philosophical Studies) 1922 ; 3. दर्शन की कुछ प्रमुख समस्याएँ (Some Main Problems of Philosophy) 1953) ; 4. दार्शनिक पत्र (Philosophical Papers) 1959 इत्यादि।

विज्ञानवाद का खण्डन (The Refutation of Idealism)

मूर ने ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का खण्डन अपने सुप्रसिद्ध लेख "**विज्ञानवाद का खण्डन**" (The Refutation of Idealism) में प्रदर्शित करने की चेष्टा की है जो सर्वप्रथम 1903 में "माइण्ड" (Mind) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।

'सत्ता दृश्यता है' वाक्य में संयोजक "है" को तीन विभिन्न अर्थों में लिया जा सकता है। "है" के भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य के भी तीन भिन्न-भिन्न अर्थ निष्कर्षित होंगे जो निम्न हैं—

(i) प्रथम अर्थ में संयोजक "है" का तात्पर्य उद्देश्य और विधेय का **पूर्ण तादात्म्य** है। ऐसी स्थिति में 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य "सत्ता" की परिभाषा के रूप में परिणत हो जायगा जिसमें "सत्ता" परिभाष्य पद है तथा "दृश्यता" परिभाषक पद है जो बिलकुल ही अनुपयुक्त होगा। "है" को पूर्ण तादात्म्य के रूप में लेने का एक दुष्परिणाम यह होगा कि उपर्युक्त वाक्य एक द्विरुक्ति (Tautology) मात्र हो जायगा जो किसी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं कर सकता। अतः, "है" का प्रथम अर्थ विज्ञानवाद की सिद्धि करने में पूर्णतः अक्षम है।

(ii) यदि 'सत्ता दृश्यता है' में "है" का अर्थ **अपूर्ण तादात्म्य** से लिया जाय तो भी विज्ञानवाद की सिद्धि नहीं हो सकती। अपूर्ण तादात्म्य का यहाँ तात्पर्य यह है कि विधेय "दृश्यता" का गुणार्थ उद्देश्य "सत्ता" के गुणार्थ का केवल एक अंश ही है। उदाहरण के लिए 'मनुष्य एक जानवर है' में विधेय "जानवर" उद्देश्य "मनुष्य" का केवल एक भाग है। जिस प्रकार किसी जीव के "जानवर" होने से उसका "मनुष्य" होना सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि "मनुष्य" "जानवर" से कहीं अधिक है, उसी प्रकार "दृश्यता" से "सत्ता" की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि "सत्ता" "दृश्यता" से कहीं अधिक है। यदि "सत्ता" "दृश्यता" से कहीं अधिक है तो यह विज्ञानवाद को सिद्ध न कर वस्तुवाद को ही सिद्ध करता है।

(iii) यदि "सत्ता दृश्यता है' में "है" का तात्पर्य न तो पूर्ण तादात्म्य है और न अपूर्ण तादात्म्य तो तृतीय विकल्प के रूप में "है" का अर्थ "**अपृथक्सिद्ध**" सम्बन्ध से लिया जा सकता है। पर इससे भी विज्ञानवाद की सिद्धि नहीं की जा सकती। अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध का

अर्थ यह है कि यद्यपि "सत्ता" और "दृश्यता" एक दूसरे से सुभिन्न वस्तुएँ हैं पर फिर भी उनके बीच अवियोजनीय सम्बन्ध पाया जाता है। पर मूर को "है" का यह अर्थ भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि "है" के इस अर्थ से 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य को संश्लेषणात्मक (Synthetic) और अनिवार्य (Necessary) दोनों मानना पड़ेगा जो सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण से मूर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' वाला सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद की स्थापना करने में बिलकुल असमर्थ है।

मूर ने बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए तार्किक युक्ति के साथ एक ज्ञानमीमांसीय युक्ति भी दी है जिसका सारांश निम्न है—(i) हम जानते हैं कि "नीले की संवेदना" और "हरे की संवेदना" में अन्तर है। यह अन्तर उनके विषयों (नीला और हरा) के अन्तर के कारण है न कि संवेदना के कारण जो कि दोनों में समान रूप में निष्ठ है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक संवेदना में कम-से-कम दो तत्त्व अवश्य पाए जाते हैं—

(i) **संचेतना** जो समान रूप में सभी संवेदनाओं में पाई जाती है और (ii) **विषय** जिसके कारण एक संवेदना दूसरी संवेदना से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में यदि विज्ञानवादी "नील" और उसकी संवेदना के बीच तादात्म्य स्थापित करता है तो वह किसी समूह के एक भाग को उसके दूसरे भाग के साथ तादात्म्य स्थापित करने के दोष का भागी बनता है। किन्तु यदि विज्ञानवादी कहता है कि "नीला" का तादात्म्य "संवेदना" के साथ नहीं वरन् नीला का तादात्म्य "नीला की संवेदना" के साथ कर रहा है तो इसके उत्तर में मूर कहेंगे कि ऐसी स्थिति में वह किसी समूह के एक भाग को सम्पूर्ण समूह के साथ तादात्म्य स्थापित करने के दोष का भागी बनता है।

(ii) विज्ञानवादी अपनी बात के समर्थन में कह सकता है कि वह "नीला" और "नीला की संवेदना" के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं करता। उसके कथन का केवल यही तात्पर्य है कि नीले को नीले की संवेदना से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर में मूर कहेंगे कि ज्ञान का **विषय** (Object) और ज्ञान का **अन्तर्विषय** (Content) एक ही नहीं होता। जब ज्ञान में हमें नीले की संवेदना होती है तो नीला हमारे ज्ञान का केवल विषय होता है, वह अन्तर्विषय नहीं होता। नील "नील कमल" का अन्तर्विषय भले ही हो वह हमारी संवेदना का अन्तर्विषय कभी नहीं होता। इन दोनों के बीच भेद न करने के कारण ही बर्कले ने "सत्ता दृश्यता है" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

(iii) कुछ लोगों के अनुसार किसी वस्तु के ज्ञान का तात्पर्य उस वस्तु प्रतिमा (Image) के ज्ञान से है जो सदा आत्मा पर आश्रित होता है। पर मूर के अनुसार किसी वस्तु के ज्ञान और उसकी प्रतिमा के ज्ञान में पर्याप्त अन्तर है। जब हमें शेर का ज्ञान होता है तो वह शेर का ज्ञान है, उसकी प्रतिमा का नहीं, अन्यथा कोई शेर से डरता ही क्यों ? अतः विज्ञानवाद त्रुटिपूर्ण है।

पेरी द्वारा विज्ञानवाद का खण्डन

अमेरिकी नव्य-वस्तुवादियों ने बड़े तार्किक ढंग से ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का खण्डन

करके अपने नव्य-वस्तुवाद की स्थापना की है। इसके लिए उन्होंने विज्ञानवादियों की कुछ मान्यताओं को ही चुनौती दी है। विज्ञानवादियों के तर्क में निहित कुछ तर्क-दोष निम्न हैं—

(अ) **अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति युक्ति-दोष**—विज्ञानवादियों की युक्ति में निहित इस युक्ति-दोष को सर्वप्रथम प्रकाशन में लाने का श्रेय आर० बी० पेरी (R. B. Perry) को है जिसे उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध लेख "अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति" (The Ego-Centric Predicament)[1] में प्रकाशित किया था। अमेरिकी दर्शन के इतिहास में पेरी के इस लेख का वही महत्त्व है जो ब्रिटिश दर्शन के इतिहास में मूर के "विज्ञानवाद का खण्डन" (Refutation of Idealism) का महत्त्व है।

अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति युक्ति-दोष की मुख्य बात यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान आत्मा द्वारा ही सम्भव है तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि बाह्य वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए आत्मा पर आश्रित हैं। बाह्य वस्तुएँ आत्मा से असम्बन्धित रहने पर हमारे ज्ञान के विषय नहीं बन सकतीं। यह हमारी कठिनाई है। जब भी हमें किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना होगा उसे हमारी आत्मा का विषय अवश्य बनना होगा। यह हमारी विषमावस्था है। पर इस विषमावस्था से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि बाह्य वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए आत्मा पर आश्रित हैं। बाह्य वस्तुएँ अपने ज्ञान के लिए आत्मा पर भले ही आश्रित हों, पर अपने अस्तित्व के लिए आत्मा पर कदापि आश्रित नहीं हैं।

आर० बी० पेरी ने अपने उपर्युक्त मत की स्थापना के लिए विज्ञानवादियों द्वारा अन्य मान्य "अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति युक्ति" में कुछ दोषों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनके अनुसार विज्ञानवादियों की मान्यता केवल अन्वय-विधि पर आधारित है, व्यतिरेक-विधि पर नहीं। यह ठीक है कि जिन बाह्य वस्तुओं का हमें अपनी आत्मा के द्वारा ज्ञान है, उनका संसार में अस्तित्व है (अन्वय) पर जिन बाह्य वस्तुओं का हमें अपनी आत्मा द्वारा ज्ञान नहीं है, उनका संसार में अस्तित्व नहीं है (व्यतिरेक) यह हम कैसे स्थापित कर सकते हैं ? जिन वस्तुओं का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका अस्तित्व नहीं है, यह निषेधात्मक दृष्टान्त सम्भव ही नहीं है। जो वस्तुएँ आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं, उनके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में कुछ कथन करना बदतोव्याघात है। अतः विज्ञानवादियों की मान्यता केवल अन्वय-विधि पर आश्रित है, वह व्यतिरेक-विधि द्वारा समर्थित नहीं। अतः उनका निष्कर्ष निश्चयात्मक कदापि नहीं हो सकता।

विज्ञानवादियों ने अपनी उपर्युक्त विप्रतिपति को कभी-कभी एक स्वयं-सिद्ध विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य के रूप में व्यक्त करके उससे विज्ञानवाद को निगमित करने की चेष्टा की है। वह निगमन निम्न है—

"जब तक कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं होगी तब तक उसके अस्तित्व का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। **(विप्रतिपत्ति)** अतः, जब तक कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं होगी, तब तक उसका अस्तित्व नहीं होगा। **(विज्ञानवाद)** उक्त निगमन का आधार-वाक्य एक द्विरुक्ति (Tautology) मात्र है जिससे किसी संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य की स्थापना नहीं की जा सकती। वास्तव में निष्कर्ष आधार-वाक्य से वैध रूप में निगमित ही नहीं होता। अतः

1. The Journal of Philosophy, Psychology and Scientific Methods, 1910.

हम निष्कर्ष निकालते हैं कि न तो आगमन के आधार पर और न निगमन के ही आधार पर अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति से विज्ञानवाद की स्थापना की जा सकती है।

(ब) ऐकान्तिक विशिष्टता का युक्ति-दोष—यह युक्ति-दोष तब उत्पन्न होता है जब कोई विचार करता है कि यदि कोई अवयव एक तंत्र से सम्बन्धित है तो वह किसी दूसरे तंत्र से सम्बन्धित नहीं हो सकता। अर्थात् वह केवल उसी तंत्र की ऐकान्तिक सम्पदा है। यह एक दोष है। उदाहरण के लिए एक ही बिन्दु ब, अ ब स, द ब य, फ ब ग इत्यादि कई सरल रेखाओं के भीतर निवास कर सकता है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई, पति इत्यादि एक साथ हो सकता है। ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद में यही दोष है कि उसके अनुसार यदि कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है, तो वह केवल हमारी आत्मा की ऐकान्तिक सम्पदा है जिसका आत्मा से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। पर बात ऐसी नहीं है। एक ही वस्तु आत्मा से सम्बन्धित होते हुये भी बाह्य संसार का अंग हो सकती है। इसे स्वीकार न करने से ही ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। अमेरिकी नव्य-वस्तुवादियों ने इस युक्ति-दोष को ऐकान्तिक विशिष्टता का दोष (Fallacy of Exclusive Particularity) कहा है।

(स) प्राथमिक विधान द्वारा परिभाषा का युक्ति-दोष—यह युक्ति-दोष अन्तिम युक्तिदोष का ही साक्षात् परिणाम है। सर्वप्रथम हम किसी वस्तु को उसके अनेक पक्षों में से एक पक्ष के माध्यम से अवलोकन करने की चेष्टा करते हैं। तदुपरान्त ऐकान्तिक विशिष्टता के युक्तिदोष द्वारा उसी पक्ष को उस वस्तु का अनिवार्य गुण समझने लगते हैं। वह प्राथमिक गुणारोपण ही निश्चयात्मक एवं निर्णायक हो जाता है। व्यावहारिक जीवन में भी हम ऐसा ही देखते हैं। जब कोई शिशु किसी प्रौढ़ पुरुष को अपना "पिता" जानता है तो वह अन्य उसी प्रकार के पुरुषों को भी "पिता" के रूप से सम्बोधित करने लगता है। विज्ञानवादी का तर्क भी बहुत कुछ इसी युक्ति-दोष से ग्रस्त है। वह सर्वप्रथम किसी वस्तु को चैतन्य के विषय (Object of Consciousness) के रूप में परिभाषित करता है और इसी आधार पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चैतन्य के विषय के रूप में परिभाषित करने की चेष्टा करता है। वह विचार करता है कि चूँकि संसार की किसी वस्तु के साथ उसका प्रथम परिचय चैतन्य के विषय के रूप में ही होता है, यह प्राथमिक विधान (Initial Predication) संसार की सभी वस्तुओं का अवच्छेदक गुण या लक्षण है। अर्थात् चूँकि संसार की किसी वस्तु के साथ हमारा प्रथम परिचय चैतन्य के विषय के रूप में होता है, अतः संसार की सभी वस्तुएँ चैतन्य के विषय हैं।

स्टेस द्वारा वस्तुवाद का खण्डन (Refutation of Realism by W. T. Stace)

जी० ई० मूर (G. E. Moore) ने 'विज्ञानवाद का खण्डन' नामक लेख ब्रिटेन की सुप्रसिद्ध पत्रिका **माइण्ड** (Mind) में सन् 1903 में प्रकाशित किया। इसके बाद लगभग तीन दशक तक ब्रिटेन के दार्शनिक जगत् में वस्तुवाद का प्रभुत्व छाया रहा। पर यह वृत्तान्त अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सका। लगभग तीन दशक बाद उसी देश की उसी पत्रिका में डब्ल्यू० टी० स्टेस ने 1934 में **"वस्तुवाद का खण्डन"** (Refutation of Realism) नामक लेख प्रकाशित किया जिसमें वस्तुवाद की विभिन्न मान्यताओं का बड़े तार्किक ढंग से

खण्डन प्रस्तुत किया गया। वस्तुवाद की प्रमुख मान्यता है कि किसी वस्तु का अस्तित्व किसी ज्ञाता अथवा ससीम आत्मा पर आश्रित नहीं होता। अर्थात् कोई वस्तु किसी ससीम आत्मा के ज्ञान का विषय हो या न हो, उसका अस्तित्व बना रहेगा। स्टेस ने वस्तुवाद की इस मान्यता का बड़े प्रभावशाली ढंग से खण्डन किया है जिसका सारांश निम्न है।

(1) वस्तुवाद की मान्यता है कि संसार की किसी वस्तु का अस्तित्व किसी भी ससीम आत्मा से स्वतन्त्र होता है। अर्थात्, कोई वस्तु किसी आत्मा का विषय हो या न हो, उसका अस्तित्व बना रहेगा। स्टेस के अनुसार यह मान्यता ऐसी है कि इसका सत्यापन कभी नहीं किया जा सकता। जब कोई वस्तु किसी आत्मा का विषय ही नहीं है तो उसके अस्तित्व या अनस्तित्व का ज्ञान ही प्राप्त कैसे हो सकता है ? यह कथन कि कोई वस्तु किसी आत्मा के ज्ञान का विषय हो या न हो, उसका अस्तित्व बना रहेगा उसी प्रकार का कथन है जैसा कि यह कथन कि "मंगलग्रह के ऊपर एकशृंग (Unicorn) है।" होता है। तार्किक प्रत्यक्षवाद की भाषा में यह कथन ऐसा है जिसका न तो सिद्धान्ततः और न व्यवहारतः ही सत्यापन सम्भव है। अतः, यह कथन न केवल बदतोव्याघात वरन् निरर्थक भी है। स्टेस के अनुसार वस्तुवाद की मान्यता का सत्यापन या परीक्षण दो प्रकार से किया जा सकता है—

(i) **इन्द्रिय-प्रत्यक्ष**—इन्द्रियानुभव द्वारा वस्तुवादी मान्यता का सत्यापन तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब कोई वस्तु किसी आत्मा का विषय ही नहीं है तो उसके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का ज्ञान ही कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? वस्तुवादी मान्यता के सत्यापन का अर्थ है, "मैं अननुभवित का अनुभव करता हूँ" (I experience the unexperienced), जो बिलकुल वदतोव्याघात है।

(ii) **अनुमान**—वस्तुवादी मान्यता की सिद्धि अनुमान द्वारा भी नहीं की जा सकती। जब कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है, उसका अस्तित्व है यह एक वृत्तान्त है। जब कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं होगी, तब भी उसका अस्तित्व बना रहेगा, यह दूसरा वृत्तान्त है। इन दोनों वृत्तान्तों के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई यह कहे कि यह ठीक है कि वस्तुवादी मान्यता का सत्यापन तो नहीं किया जा सकता पर इसका कोई असत्यापन भी नहीं कर सकता। इस प्रश्न के उत्तर में हम कहेंगे कि वस्तुवादी मान्यता के सत्यापन या असत्यापन का दायित्व वस्तुवादियों पर है, मेरे ऊपर नहीं है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि अनुभवित वस्तु के आधार पर हम वैध रूप में किसी अननुभवित वस्तु के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।[1] अतः अनुमान के आधार पर भी वस्तुवादी मान्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।

(2) स्टेस ने वस्तुवाद का खण्डन करने के लिए जो दूसरा तर्क दिया है वह यह है कि वस्तुवादी मान्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। किसी भी मान्यता की उपपत्ति दो प्रकार से की जा सकती है : आगमनात्मक रूप में या निगमनात्मक रूप में। वस्तुवाद को **आगमन** द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। आगमन की प्रमुख बात यह है कि जो बात अनुभवित दृष्टान्तों के लिए सत्य है वे अननुभवित दृष्टान्तों पर भी लागू होगी। पर यहाँ वस्तुवाद की सिद्धि के लिए कोई अनुभवित दृष्टान्त ही उपलब्ध नहीं हो सकता। यह कथन

1. रसॅल, बर्ट्रण्ड, एनालसिस ऑव माइण्ड, पृ० 133.

कि जब कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं होती तब भी उसका अस्तित्व बना रहता है, अनुभव द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। अननुभवित अस्तित्व की कोई उपपत्ति नहीं है। आगमन दृष्ट तथ्यों का सामान्यीकरण है, किन्तु जब अननुभवित अस्तित्व का कोई दृष्टान्त ही उपलब्ध नहीं है तो सामान्यीकरण का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

अब इसका दूसरा पक्ष यह है कि क्या वस्तुवाद को **निगमन** द्वारा सिद्ध किया जा सकता है ? निगमन संसक्तता सिद्धान्त (Principle of Consistency) पर आधारित होता है।

अर्थात् $P \supset Q$ से वैध रूप में Q निष्कर्ष तभी निगमित किया जा सकता है जबकि P और $\sim Q$ के बीच संसक्तता न हो। इसी संसक्तता-सिद्धान्त को हम वस्तुवाद की सिद्धि के लिए लागू करेंगे। यहाँ

$P \equiv$ अनुभवित वस्तु का अस्तित्व है।

$\sim Q \equiv$ अननुभवित वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

यहाँ हम देख सकते हैं कि प्रथम एवं द्वितीय प्रतिज्ञप्तियों के बीच कोई असंसक्तता नहीं है। संसार का कोई भी व्यक्ति विश्वास कर सकता है कि (i) उसके इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Date) ही एक मात्र सत्य हैं तथा (ii) जो इन्द्रिय-प्रदत्त नहीं हो सकता, उसका संसार में कोई अस्तित्व नहीं है। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि वस्तुवाद की स्थापना निगमन के आधार पर नहीं की जा सकती।

(3) स्टेस ने वस्तुवाद का खण्डन करने के लिए पेरी (R.B. Perry) द्वारा स्थापित अंहकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति सिद्धान्त की भी आलोचना की है। इस सिद्धान्त की प्रमुख बात यह है कि चूँकि हमें अननुभवित वस्तुओं के विषय में पूर्ण अज्ञान होता है, अतः हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनका कोई अस्तित्व नहीं है। पेरी के अनुसार यह अहंकेन्द्रिक विप्रतिपत्ति युक्ति-दोष है। स्टेस विज्ञानवादी तर्क में निहित दोष को तो स्वीकार करते हैं पर साथ ही यह भी कहते हैं कि इससे वस्तुवाद की सिद्धि नहीं होती। किसी अननुभवित वस्तु के विषय में पूर्ण अज्ञान से न तो उस वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि होनी है और न उसके अनस्तित्व की। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने मंगलग्रह के ऊपर एकशृंग को कभी नहीं देखा है तो इससे न तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ एकशृंग का अस्तित्व नहीं है या वहाँ उसका अस्तित्व अवश्य है। पूर्ण अज्ञान के आधार पर न तो किसी वस्तु के अस्तित्व की और न उसके अनस्तित्व की सिद्धि ही की जा सकती है।

(4) **लवज्वॉय** (Lovejoy) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "वस्तुवाद के विरुद्ध विद्रोह" (Revolt against Dualism) में कारणता नियम के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वस्तु का अस्तित्व तब भी बना रहता है, जब कोई व्यक्ति उसका प्रत्यक्ष नहीं करता। आप अपनी जाली में एक निश्चित मात्रा और रचना के कोयले को लेकर अग्नि प्रज्ज्वलित कीजिए। जब कभी आप कमरे में रहते हैं, आप संवेद्य घटनाओं का एक निश्चित और नियत अनुक्रम देखते हैं ; आधे घंटे के बाद आधा कोयला जल चुका होता है और एक घंटे के बाद केवल राख ही शेष रहती है। यदि आप उसी मात्रा और उसी वस्तु-संरचना के कोयले को उन्हीं परिस्थतियों में प्रज्ज्वलित कीजिए। फिर कमरे का परित्याग कर दीजिए और एक

निश्चित अवधि के बाद पुनः कमरे में प्रवेश कीजिए, आपको लगभग उसी प्रकार की संवेद्य अनुभूतियाँ प्राप्त होगी जिस प्रकार की कमरे के भीतर रहने पर प्राप्त होती। इससे आप निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि "आपकी अनुपस्थिति में भी सदा की तरह अग्नि जलती रही और प्रत्यक्षीकृत होना किसी प्रक्रिया की उपस्थिति की अनिवार्य प्रागपेक्षा नहीं है।"[1]

स्टेस लवज्वॉय द्वारा स्थापित उपर्युक्त तर्क में **आत्माश्रय-दोष** (Fallacy of Petitio Principii) देखता है। यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि प्रकृति में कारणता-नियम तब भी कार्य करता है जबकि कोई व्यक्ति उसका प्रत्यक्ष न कर रहा हो। पर वस्तुवाद की सिद्धि में इसी बात को ही तो सिद्ध करना है। जिस बात को हमें सिद्ध करना है उसी को सिद्धि का साधन नहीं बनाया जा सकता। अन्यथा हमारे तर्क में सिद्ध-साधन दोष अवश्य उत्पन्न हो जायगा। जिस प्रकार हम किसी अननुभवित वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं कर सकते, उसी प्रकार किसी अननुभवित प्रक्रिया या कारणता-नियम में भी विश्वास नहीं कर सकते।

(5) स्टेस ने वस्तुवाद के विरुद्ध एक पाँचवाँ तर्क भी दिया है जो निम्न है। हम जानते हैं कि "हरा" (Green) और "हरा की संचेतना" (Awareness of Green) एक ही वस्तु नहीं है। इसी प्रकार "नीला" (Blue) एवं "नीला की संचेतना" (Awareness of Blue) भी एक नहीं है। "हरा की संचेतना" एवं "नीला की संचेतना" के बीच भेद संचेतना के कारण नहीं वरन् "हरा" और "नीला" के कारण है। अतः हरा और नीला संचेतना से स्वतन्त्र है।

पर स्टेस उपर्युक्त तर्क को स्वीकार नहीं करता। उपयुक्त तर्क यह सिद्ध नहीं करता कि हरा की स्थिति हरा की संचेतना से स्वतन्त्र है। कल्पना किया कि "हरा" "भौतिक" है या "हरा" "अचेतन" है। पर हमें हरे की भौतिकता या अचेतनता या अचेतन का ज्ञान तभी होता है जब उसका हमारी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध होता है। योगाचार बौद्धों ने भी "सहोपलम्भ-नियम" के अनुसार "नीला" और "नीला का ज्ञान" युगपद माना है जो सिद्ध करता है कि "नीला" के अस्तित्व को नीले के ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः वस्तुवाद की अपेक्षा विज्ञानवाद ही अधिक तर्कसंगत है।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद के बीच विवाद को निरर्थक मानता है, क्योंकि इनकी मान्यताओं को हम न तो व्यावहारिक रूप में और न सैद्धान्तिक रूप में ही सिद्ध या असिद्ध कर सकते हैं।[2]

बर्ट्रण्ड रसॅल

(Bertrand Russell 1872-1970)

जीवन-वृत्त—बर्ट्रण्ड रसॅल का जन्म सन् 1872 ई० में इंगलैंड के कुलीन परिवार में हुआ था। उनके बाबा लॉर्ड जॉन रसॅल इंग्लैंड के तीन बार प्रधानमंत्री रह चुके थे। चार वर्ष की अवस्था के पूर्व ही उनके माता और पिता दोनों का देहावसान हो चुका था। अतः उनकी दादी ने उनके पालन-पोषण और शिक्षा का सारा प्रबन्ध किया। सन् 1890 ई० में रसॅल का

---

1. द रेवॉल्ट अगेन्स्ट ड्यूअलिज्म, पृ० 268.
2. एयर, ए० जे०, लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लॉजिक, पृ० 138.

प्रवेश ट्रिनिटी कॉलेज कैम्ब्रिज में हुआ, जहाँ उन्होंने गणित की उच्च्च शिक्षा प्राप्त किया। किन्तु प्रवेश के तीसरे वर्ष ही उन्होंने गणित छोड़कर दर्शन-शास्त्र में प्रवेश लिया तथा सन् 1894 में दर्शन-शास्त्र में उपाधि प्राप्त की। पुनः वे 1895 से 1901 तक तथा 1944 के बाद ट्रिनिटी कालेज के पार्षद (Fellow) रहे। रसॅल दो बार : प्रथम 1910 से 1916 तक तथा द्वितीय 1944 से 1949 तक ट्रिनिटी कालेज में ही दर्शन-शास्त्र के प्रवक्ता के पद पर नियुक्त किए गए। इस बीच कई बार उन्होंने पीकिंग, हार्वर्ड इत्यादि विश्वविद्यालयों में अतिथि प्रोफेसर के पद को स्वीकार किया।

बर्ट्रण्ड रसॅल ने जीवन में चार-चार शादियाँ कीं तथा तीन बार उनकी पत्नियों ने उन्हें तलाक दिया। उन्होंने जीवन पर्यन्त राजनीति में अपनी रुचि कायम रखी। अपने राजनीतिक विचारों के कारण उन्हें दो बार जेल की सजा भी भुगतनी पड़ी। शिक्षा और नैतिकता के विषय में उनके विचार पर्याप्त प्रगतिशील और क्रान्तिकारी थे जिसके कारण न्यूयार्क के सिटी कालेज के दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर के पद के लिए वे अयोग्य घोषित किए गए। वे हर प्रकार के ईश्वरवाद विशेषकर ईसाइयत के विरुद्ध थे जैसा कि उनकी पुस्तक "मैं ईसाई क्यों नहीं हूँ" (Why I am not a Christian) से प्रकट होता है। रसॅल की सुप्रसिद्ध पुस्तक "विवाह और नैतिकता" (Marriage and Morals) पर उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। सन् 1970 ई० में 98 वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

रचनाएँ—बर्ट्रण्ड रसॅल एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने लगभग साठ पुस्तकें प्रकाशित की जिनमें दस पुस्तकें विशुद्ध दर्शन-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में निम्न रचनाएँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं : गणित के सिद्धान्त (The Principles of Mathematics) ; प्रिंसिपिया मैथेमेटिका (Principia Mathematica) ; दर्शन की समस्याएँ (The Problems of Philosophy) ; बाह्य संसार का हमारा ज्ञान (Our Knowledge of the External World) ; रहस्यवाद एवं तर्कशास्त्र (Mysticism and Logic); गणित-दर्शन की भूमिका (An Introduction to Mathematical Philosophy) ; आत्मा का विश्लेषण (The Analysis of Mind) ; जड़-तत्त्व का विश्लेषण (The Analysis of Matter) ; अर्थ एवं सत्य का अन्वेषण (An Inquiry into Meaning and Truth) ; मानवीय ज्ञान (Human Knowledge) इत्यादि।

गणित-दर्शन

(Mathematical Philosophy)

रसॅल का दर्शन-शास्त्र में प्रवेश गणित के माध्यम से हुआ। अतः उनके सम्पूर्ण-दर्शन पर गणित की अमिट छाप है। गणित से दर्शन में उनके प्रवेश का एक कारण यह था कि वे गणित के तर्क-वाक्यों के वास्तविक स्वभाव को जानना चाहते थे। उनके पूर्व जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने गणित के तर्क-वाक्यों को आनुभविक सामान्यीकरण (Empirical Generalisation) के रूप में परिभाषित किया था। पर रसॅल की तर्क-बुद्धि ने इसे स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार आनुभविक सामान्य तर्क-वाक्यों एवं गणित के तर्क-वाक्यों में गुणात्मक भेद होता है। आनुभविक सामान्य तर्क-वाक्य केवल आपातिक (Contingent) होते हैं पर गणित के तर्क-वाक्य बिलकुल अनिवार्य (Necessary) होते हैं।

गणित के तर्क-वाक्यों की अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए रसॅल ने गणित को तर्कशास्त्र के रूप में घटित करने का प्रयास किया। उनकी सुप्रसिद्ध उक्ति थी, "**तर्कशास्त्र गणित का यौवन है तथा गणित तर्कशास्त्र का पुरुषत्व है।**"[1] अर्थात् कुछ निम्नतम मौलिक तार्किक प्रत्ययों एवं स्वयंसिद्धियों के आधार पर सम्पूर्ण गणित के साध्यों (Theorems) को निगमित किया जा सकता है। उनकी मान्यता के अनुसार, सम्पूर्ण गणित को घन संख्या सम्बन्धी तर्क वाक्यों एवं घन संख्या (Natural Number) सम्बन्धी तर्क-वाक्यों को ऐसे सभी वर्गों के वर्ग के रूप में घटित किया जा सकता है जो किसी दिए गये वर्ग के समान हों। यहाँ समानता से रसॅल का तात्पर्य सदस्यों की एकैक संवादिता (One-one Correspondence) से है। रसॅल एवं ह्वाइटहेड (Whitehead) ने प्रिंसिपिया मैथेमेटिका में इसी बात का निदर्शन किया कि किस प्रकार गणित के तर्कवाक्य तर्क-शास्त्र के रूप में घटित किए जा सकते हैं।

गणित के तर्क-वाक्यों के स्वभाव के विषय में रसॅल के अपने मौलिक विचार थे। काण्ट के अनुसार गणित के तर्क-वाक्य संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष (Synthetic apriori) हैं और इनका ज्ञान हमें प्रतिभान (Intuition) द्वारा प्राप्त होता है। रसॅल के विचार इससे बिलकुल भिन्न है। उनके अनुसार चूँकि गणित के तर्क-वाक्य तर्क-शास्त्र के तर्क-वाक्यों के रूप में घटित किए जा सकते हैं और तर्क-शास्त्र के तर्क-वाक्य विश्लेषणत्मक होते हैं, अतः गणित के तर्क-वाक्य भी विश्लेषणात्मक ही होंगे।

वर्णन-सिद्धान्त (The Theory of Descriptions)

रसॅल ने संख्या को वर्गों के उस वर्ग के द्वारा परिभाषित किया जो एक दिए वर्ग के समान है। पर यहाँ हमारे समक्ष जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि क्या संसार में संख्याओं और वर्गों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है ? 'गणित के सिद्धान्त' में रसॅल ने एक प्रकार के प्लेटॉनिक वस्तुवाद (Platonic Realism) का समर्थन किया जिसके अनुसार कोई भी पद जो किसी तर्क-वाक्य का तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) हो सकता है, उसका संसार में अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में हमें काल्पनिक वस्तुओं जैसे आकाश-कुसुम, एकशृंग (Unicorn) तथा असम्भव वस्तुओं जैसे वर्ग-वृत्त (Square-Circle) के अस्तित्व में भी विश्वास करना होगा, जिसे हमारी साधारण बुद्धि कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती। रसॅल के ही शब्दों में, "तर्क-शास्त्र एकशृंग को अपने क्षेत्र में उसी प्रकार प्रवेश नहीं दे सकता जिस प्रकार जीव-विज्ञान ; अधिक अमूर्त और सामान्य होते हुए भी तर्क-शास्त्र का वास्तविक जगत से उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जितना जीव-विज्ञान का है।"[2] उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि पहले उनका जो भी विचार रहा हो, आगे चलकर उन्होंने इन काल्पनिक सत्ताओं के अस्तित्व का पूर्ण निषेध किया। उन्हें एक सत्ता के रूप में स्वीकार न कर केवल एक गुण के रूप में ही स्वीकार किया गया। इसकी व्याख्या हमें उनके वर्णन-सिद्धान्त से प्राप्त होती है।

---

1. "Logic is the youth of mathematics and mathematics is the manhood of logic."
2. Introduction to Mathematical Philosophy, p. 169. "Logic must no more admit a unicorn than Zoology can, for Logic is concerned with the real world just as truly as Zoology though with its more abstract and general features."

रसॅल के वर्णन-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध नामों की सार्थकता से है। उन्होंने दो प्रकार के प्रतीकों के बीच भेद किया था। प्रथम निर्देशात्मक प्रतीक (Demonstrative Symbol) एवं द्वितीय वर्णनात्मक पद-समूह (Descriptive Phrase)। निर्देशात्मक प्रतीक वह प्रतीक है जिसका कार्य किसी ऐसे व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत करना है जिसके साथ हमारा साक्षात् परिचय हो। इस प्रतीक को तार्किक व्यक्ति-वाचक संज्ञा (Logically Proper Name) भी कहते हैं। इसके विपरीत **वर्णनात्मक पद-समूह** वह प्रतीक है जिसका कार्य किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत करना नहीं वरन् केवल विशेषताओं को प्रगट करना है। इन दोनों प्रतीकों के बीच सबसे बड़ा अन्तर यह है कि किसी निर्देशात्मक प्रतीक की सार्थकता उस व्यक्ति या वस्तु पर आधारित होती है जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत, किसी वर्णनात्मक पद-समूह की सार्थकता किसी व्यक्ति या वस्तु पर आधारित नहीं होती जिसके लिए उसका प्रयोग किया जा सकता है। उसकी सार्थकता सन्दर्भ-निरपेक्ष होती है। यदि दोनों प्रतीकों के बीच इस अन्तर को ध्यान में न रखा जाय तो वाक्यों के अर्थ-निर्धारण में कई कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं।

रसॅल ने निम्न दो दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वर्णनात्मक पद-समूहों को निर्देशात्मक प्रतीक के रूप में नहीं लिया जा सकता। हम इस वाक्य को ही लें। "स्कॉट वैवर्ली का लेखक था।"[1] इसमें "वैवर्ली का लेखक" एक वर्णनात्मक पद-समूह है। यदि इस पद समूह को वर्णनात्मक न मानकर निर्देशात्मक माना जाय तो इसका वास्तविक अर्थ वह व्यक्ति (स्काट) होगा, जिसके लिए इस प्रतीक का प्रयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वाक्य का स्वरूप 'स्कॉट स्कॉट'[2] ऐसा हो जायगा जो द्विरुक्ति मात्र होगा। किन्तु यदि स्कॉट वैवर्ली का लेखक नहीं है तो उपर्युक्त वाक्य का स्वरूप 'स्कॉट स्कॉट नहीं था' ऐसा हो जायगा जो निश्चित रूप में आत्म-व्याघातक है। हम जानते हैं कि मूल तर्क-वाक्य 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक था' न तो द्विरुक्ति है और न आत्म-व्याघातक ही है। इस समस्या का समाधान करने के लिए ही रसॅल ने वर्णन-सिद्धान्त को अपनाया था। दूसरी समस्या 'फ्रांस के वर्तमान नरेश गञ्जे हैं'[3] से सम्बन्धित है। यदि 'फ्रांस के वर्तमान नरेश' को निर्देशात्मक प्रतीक के रूप में लिया जाय तो वह किसी व्यक्ति-विशेष की ओर संकेत करेगा। ऐसी स्थिति में यदि उस व्यक्ति के विषय में कोई कथन किया जाय तो वह कथन या तो यथार्थ होगा अथवा अयथार्थ। पर हम जानते हैं कि 'फ्रांस का वर्तमान नरेश' कोई है ही नहीं। ऐसी स्थिति में, कोई अनस्तित्ववान वस्तु किसी तर्क-वाक्य का उद्देश्य कैसे हो सकती है ?[4] इसमें दूसरी कठिनाई यह है कि यदि 'फ्रांस के वर्तमान नरेश' का कोई अस्तित्व नहीं है तो उपर्युक्त दोनों तर्क-वाक्य अयथार्थ हो जायेंगे।

रसॅल के अनुसार, उपयुक्त सारी कठिनाइयों के प्रमुखतः दो कारण हैं। प्रथम यह कि कोई नाम तब तक सार्थक नहीं होगा जब तक कि उसकी संगति में संसार में कोई वस्तु या

1. Scott was the author of Waverly.
2. Scott was Scott.
3. The present king of France is bald.
4. Logic and Knowledge, p. 48. "How can a non-entity be a subject of proposition,"

व्यक्ति न हो और द्वितीय सभी वर्णनात्मक पद-समूह तर्क-वाक्यों में 'नाम' (Name) की तरह व्यवहार करते हैं। रसॅल ने इस द्वितीय मान्यता का निषेध किया। उनके वर्णन-सिद्धान्त के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—प्रथम यह प्रदर्शित करना कि वर्णनात्मक पद-समूह नाम नहीं है और द्वितीय इस बात का निदर्शन करना कि वर्णनात्मक पद-समूहों के व्याप्त्यर्थक (Denotative) न होते हुए भी तर्क-वाक्य की सार्थकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

रसॅल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रिंसिपिया मैथेमेटिका में वर्णनात्मक पद-समूहों का निम्न प्रकार विश्लेषण प्रस्तुत किया है—

'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है'

(i) ऐसा कोई x अवश्य है जिसने वैवर्ली को लिखा।

(ii) ऐसा कि यदि y ने वैवर्ली को लिखा तो y और x अभिन्न हैं।

(iii) ऐसा कि x और स्कॉट दोनों अभिन्न हैं।

प्रिंसिपिया मैथेमेटिका उपर्युक्त तीनों वाक्यों को एक साथ निम्न प्रकार प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देती है।

$(\exists c) : \phi x \equiv x = c.\ c = \text{Scott}.$

इस विश्लेषण से हमें निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

(1) "वैवर्ली का लेखक" कोई नाम नहीं है। हम "स्कॉट" को भले ही नाम कह लें जो एक निश्चित व्यक्ति की ओर निर्देश करता है पर "वैवर्ली का लेखक" नाम नहीं है।

(2) "स्कॉट वैवर्ली का लेखक है" यह तर्क-वाक्य एक नामक वस्तु एवं एक वर्णित वस्तु के तादात्म्य को व्यक्त करता है। यह दो नामों के बीच तादात्म्य को व्यक्त नहीं करता।

(3) यदि कोई वाक्य "वैवर्ली के लेखक" के विषय में है तो वह वाक्य किसी व्यक्ति के विषय में नहीं है वरन् वह उस पद के विषय में है जो वाक्यात्मक फलन (Propositional Function) "x ने वैवर्ली को लिखा है" को सन्तुष्ट करता है।

(4) उपर्युक्त तर्क-वाक्य में "वैवर्ली का लेखक" एक **अपूर्ण प्रतीक** (Incomplete Symbol) है जिसकी सार्थकता वाक्य के सन्दर्भ द्वारा निर्धारित होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि विश्लेषण के बाद सम्पूर्ण पद-समूह अदृश्य हो जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण केवल वर्णनात्मक पद-समूहों पर ही लागू नहीं होता वरन् ऐसे किसी पद पर लागू किया जा सकता है जिसमें गुणार्थ (Connotation) विद्यमान हो। इस विधि के अनुसार सर्वप्रथम हम उद्देश्य-पद के गुणार्थ को वहाँ से हटाकर विधेय के स्थान पर लाते हैं तथा उद्देश्य-पद के स्थान पर एक अनिश्चित उद्देश्य (Indefinite Subject) को स्थानापन्न करते हैं। विश्लेषण की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि उद्देश्य-पद के सम्पूर्ण गुणार्थ विधेय के स्थान पर नहीं चले आते और उद्देश्य या तो अस्तित्ववाची परिमाणक (Existential Quantifier) या विशुद्ध निर्देशात्मक प्रतीक (Demonstrative Symbol) के रूप में परिणत नहीं हो जाता। यहाँ नाम दो प्रकार के कार्य सम्पादिक करता है—प्रथम सभी विधेयों को एक सूत्र में आबद्ध करता है और द्वितीय किसी इन्द्रिय-प्रदत्त की ओर संकेत करता है।

वर्णन-सिद्धान्त की स्ट्रॉसन द्वारा आलोचना

प्रारम्भ में रसॅल के वर्णन-सिद्धान्त की खूब प्रशंसा की गई। रैम्जे (F.P. Ramsey) ने इसे "दर्शन-शास्त्र का प्रतिमान"[1] (Paradigm of Philosophy) घोषित किया। कुछ लोगों ने सोचा कि इसके द्वारा दर्शन की बहुत-सी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। पर आगे चलकर स्ट्रॉसन ने रसॅल के वर्णन-सिद्धान्त की आलोचना की। रसॅल के अनुसार किसी तर्क-वाक्य या प्रतिज्ञप्ति की अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता (Existential Presupposition) उस प्रतिज्ञप्ति का अभिन्न अंग होती है। अतः यदि किसी प्रतिज्ञप्ति की अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता असत्य है तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति ही असत्य मान ली जायगी। इसके विपरीत, स्ट्रासन के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता उसका अभिन्न अंग न होकर केवल उसकी पूर्व-कल्पना ही होती है। ये पूर्वकल्पनाएँ निर्देशात्मक स्वरूप की होती है जो किसी प्रत्ययेतर विश्व (Extra-Conceptual World) के किसी पक्ष का उद्घाटन करती हैं। यदि ये पूर्वकल्पनाएँ असत्य हैं तो कोई अभिकथन (Assertion) ही नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में उक्त प्रतिज्ञप्ति के सत्य अथवा असत्य होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम कथन करते हैं कि "फ्रान्स के वर्तमान नरेश गंजे हैं" तो रसॅल के अनुसार यदि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश नहीं है तो उक्त वाक्य असत्य माना जायगा पर स्ट्रॉसन के अनुसार यदि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश नहीं है, तो उक्त वाक्य न तो यथार्थ होगा और न अयथार्थ ही।[2] पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि सत्यता या असत्यता को किसी प्रतिज्ञप्ति से पृथक करके हम उसके महत्त्व को कम कर देते हैं। दूसरी बात यह है कि यदि कोई प्रतिज्ञप्ति न सत्य है और न असत्य ही तो 'यह सत्य है कि प' असत्य होगा। अतः स्ट्रासन की अपेक्षा रसॅल का सिद्धान्त सत्य के अधिक निकट जान पड़ता है।

स्ट्रॉसन के अनुसार, रसॅल की दूसरी त्रुटि यह थी कि उन्होंने निर्देशन (Referring) या उल्लेख (Mentioning) का अर्थ (Meaning) के साथ तादात्म्य स्थापित किया। उनके अनुसार अर्थ अभिव्यञ्जक या वाक्य का फलन होता है तथा वर्णन, उल्लेखन, निर्देशन अथवा यथार्थता या अयथार्थता "अभिव्यञ्जकों या वाक्यों के प्रयोग" के फलन होते हैं। रसॅल ने समझा कि यदि कोई अनन्यतः निर्देशक अभिव्यञ्जक (Denoting Phrase) है तो उसका अर्थ वह व्यक्ति या वस्तु होगा जिसके लिए उस अभिव्यञ्जक का प्रयोग किया जा सकता है। इस आधार पर ही "तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं" (Logically Proper Names) का आविष्कार किया गया। स्ट्रॉसन के अनुसार यह गलत है। किसी भी अभिव्यञ्जक, चाहे वे तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ ही क्यों न हों, का अर्थ भाषा के नियमों, आदतों और रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित किया जाता है किन्तु वे व्यक्ति या वस्तुएँ जिनकी ओर संकेत करने के लिए किसी अभिव्यञ्जक का प्रयोग किया जाता है, वे उसके प्रयोग (Use) द्वारा निर्धारित की जाती हैं। यही बात वाक्यों पर भी लागू होती है।

---

1. Ramsey, F.P. The Foundations of Mathematics, p. 263.
2. Strawson, P.F. On Referring, Mind, 1950.

तार्किक रचना (Logical Construction)

रसॅल की तार्किक रचना का उनके वर्णन-सिद्धान्त एवं अपूर्ण प्रतीक के सिद्धान्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। उनकी तार्किक रचना के सिद्धान्त के दो प्रमुख उद्देश्य थे : प्रथम इसके माध्यम से वे सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण करना चाहते थे ; द्वितीय इसके द्वारा वे एक ऐसे असंदिग्ध प्रदत्त तक पहुँचना चाहते थे जिसके माध्यम से संसार की वस्तुओं की समुचित व्याख्या की जा सके।

हम प्रथम उद्देश्य को लें। 'मनुष्य मरणशील है' एक सामान्य प्रतिज्ञप्ति है। यहाँ "मनुष्य" शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट मनुष्य के लिए न करके परोक्ष रूप में किसी मनुष्य के लिए किया गया है। सच पूछा जाय तो यहाँ "मनुष्य" शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में "मनुष्यत्व" गुण के लिए किया गया है तथा परोक्ष रूप में ऐसे मनुष्यों के लिए किया गया है जिनके भीतर उक्त गुण पाए जाते हैं। अतः, यहाँ हमें "मनुष्य" का केवल वर्णनात्मक ज्ञान ही होता है, साक्षात् ज्ञान नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ "मनुष्य" शब्द का प्रयोग जिस वस्तु के लिए किया गया है वह तार्किक रचना (Logical Construction) है।

अब हम दूसरे उद्देश्य को लेते हैं। हमारे समक्ष प्रश्न उठता है कि वस्तुओं के प्रत्यक्ष में हमें किसका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है ? हमें मेज और कुर्सी का साक्षात् प्रत्यक्ष तो होता नहीं क्योंकि मेज और कुर्सी का प्रत्यक्ष होते हुए भी हो सकता है कि उनका अस्तित्व न हो। अतः रसॅल के अनुसार हमारा साक्षात सम्पर्क केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों (Sense-Data) के साथ ही होता है ; इन इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर हम बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर लेते हैं जो तर्कतः समर्थनीय नहीं है। हमें बाह्य वस्तुओं के विषय में भ्रम या विभ्रम हो सकता है पर इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में कोई भ्रम या विभ्रम नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष की यही वास्तविक समस्या है कि किस प्रकार हम इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। रसॅल का एक समय विचार था कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है पर उनका हमें साक्षात् ज्ञान न होकर केवल वर्णनात्मक ज्ञान ही होता है। पर आगे चलकर उन्होंने सोचा कि हम ऐसी वस्तुओं का भी वर्णन कर सकते हैं जिनका संसार में कोई अस्तित्व नहीं है। अतः, अन्त में उन्होंने बाह्य वस्तुओं का उन्मूलन करना ही उचित समझा।

अपने लाघव-न्याय (Occam's Razor) के द्वारा उन्होंने घोषित किया : जहाँ कहीं सम्भव हो, अनुमित इकाइयों के स्थान पर तार्किक रचनाओं को प्रतिस्थापित करना चाहिए।"[1] बाह्य वस्तुओं के स्थान पर तार्किक रचनाओं को प्रतिस्थापित करने का कारण यह है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर हम तर्कतः बाह्य वस्तुओं तक कभी नहीं पहुँच सकते।

तार्किक रचना सदा किसी अपूर्ण प्रतीक के द्वारा प्रदर्शित की जाती है। किसी प्रतीक के अपूर्ण होने का तात्पर्य यह है कि यह प्रतिज्ञप्ति के किसी अनिवार्य घटक की ओर संकेत नहीं करता। 'मनुष्य या मेज एक तार्किक रचना है' इस कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य या मेज उस प्रतिज्ञप्ति का अनिवार्य घटक नहीं है जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में यह शब्द आता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि अपूर्ण प्रतीक तार्किक रचना नहीं है, बल्कि

---

1. "Wherever possible, logical constructions are to be substituted for inferred entities."

वह व्यक्ति या वस्तु तार्किक रचना है जिसके लिए उस प्रतीक का प्रयोग किया जाता है।

प्ररूप-सिद्धान्त (The Theory of Types)

रसॅल ने प्रिंसिपिया मैथेमेटिका में तार्किक प्ररूपों को निम्न प्रकार परिभाषित किया है : अ और ब एक ही तार्किक प्ररूप के तब और केवल तब कहे जायँगे जबकि एक तथ्य जिसका अ एक घटक है, की संगति में एक दूसरा तथ्य है जिसका ब घटक है, जो अ के स्थान पर ब को प्रतिस्थापित करने से उत्पन्न होता है अथवा प्रथम तथ्य का निषेध करता है। उदाहरण के लिए सॉक्रेटीज एवं एरिस्टॉटल एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं, क्योंकि 'सॉक्रेटीज एक दार्शनिक थे' तथा 'एरिस्टॉटल एक दार्शनिक थे', दोनों तथ्य हैं। पुनः, प्रेम करना एवं हनन करना एक ही प्ररूप की क्रियाएँ हैं क्योंकि 'प्लेटो सॉक्रेटीज से प्रेम करते थे' तथा 'प्लेटो ने सॉक्रेटीज का हनन नहीं किया' दोनों तथ्य हैं।

रसॅल ने प्ररूप-सिद्धान्त का प्रतिपादन जीवन में आने वाले कुछ विरोधाभासों के निराकरण के लिए किया था। अपने प्ररूप-सिद्धान्तों के विकास में उन्होंने प्ररूप के दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया : प्रथम प्ररूप का साधारण सिद्धान्त (Simple Theory of Types) और द्वितीय प्ररूप का बहुशाखी सिद्धान्त (Ramified Theory of Types)। प्ररूप का साधारण सिद्धान्त कहता है कि फलन अपने कोणांक (Argument) से सदा उच्चतर प्ररूप का होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई वर्ग स्वयं अपना सदस्य नहीं हो सकता। रसॅल के अनुसार कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने सदस्य नहीं होते पर कुछ वर्ग ऐसे अवश्य हैं जो स्वयं अपने सदस्य होते हैं। उदाहरण के लिए गधों का एक वर्ग है पर यह वर्ग स्वयं गधा नहीं है। इसके विपरीत, गणनीय वस्तुओं का वर्ग स्वयं गणनीय है। यहाँ हम उन वर्गों के एक वर्ग के विषय में विचार करेंगे जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं। मान लिया कि वह वर्ग x है। अब प्रश्न यह है कि वर्ग x स्वयं अपना सदस्य है कि नहीं ? यदि वर्ग x स्वयं अपना सदस्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसके भीतर इसके सभी सदस्यों के परिभाषात्मक गुण (Defining Property) होना चाहिए और यह परिभाषात्मक गुण है कि कोई वर्ग जिसका यह गुण है वह स्वयं अपना सदस्य नहीं है। इस प्रकार x स्वयं अपना सदस्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत, यदि मान लिया जाय कि x स्वयं अपना सदस्य नहीं है, तो इसका अर्थ यह है कि इसके भीतर अन्य सभी सदस्यों के परिभाषात्मक गुण (Defining Property) नहीं होने चाहिए, अर्थात् x के स्वयं अपना सदस्य होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक विकल्प अपना विरोधी निष्कर्ष निगमित करता है जो एक प्रकार का विरोधाभास है।

इस विरोधाभास से घबड़ाकर रसॅल ने इसकी सूचना फ्रेंगे (Frege) को दी जो तर्क-शास्त्र से सम्पूर्ण अंकगणित को निगमित करने की चेष्टा कर रहा था। रसॅल के पत्र का उत्तर देते हुए फ्रेंगे ने लिखा कि अंकगणित का आधार ही नष्ट हो गया क्योंकि अंकगणित में संख्या की व्याख्या इस प्रकार दी गई थी : संख्या उन वर्गों का वह वर्ग है जो एक वर्ग के समान होते हैं। रसॅल ने देखा कि हमारे चिन्तन में कहीं-न-कहीं कमी अवश्य है जिसके कारण इस प्रकार के विरोधाभास उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार की समस्या तब उत्पन्न हुई थी जब क्रीट के निवासी एपिमेनाइडीज ने कहा था, 'सभी क्रीट-निवासी असत्यवादी होते हैं।' परन्तु प्रश्न उठता है कि उसका उपर्युक्त कथन सत्य है कि नहीं ? यदि वह असत्य बोल रहा है तो उपर्युक्त कथन असत्य होगा, अर्थात् सभी क्रीटवासी सत्यवादी होते हैं, सत्य होगा। पर यदि वह सत्य बोल रहा है तो उसका उपर्युक्त कथन सत्य होगा, अर्थात् 'सभी क्रीटवासी असत्यवादी होते हैं' सत्य होगा। यहाँ एक ही परिस्थिति से दो परस्पर-विरोधी निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। इसी प्रकार की परिस्थिति तब उत्पन्न होती है जब कोई मनुष्य कहता है कि 'मैं झूठ बोल रहा हूँ।' इससे 'मैं सत्य बोल रहा हूँ' व 'मैं झूठ बोल रहा हूँ' दोनों प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इन्हीं समस्याओं का समाधान करने के लिए ही रसॅल ने अपने प्ररूप-सिद्धान्त का आविष्कार किया था।

रसॅल ने प्ररूप-सिद्धान्त को एक वाक्यात्मक फलन (Propositional Function) द्वारा निम्न प्रकार समझाने की चेष्टा की।[1] मान लिया कि fx एक वाक्यात्मक फलन है। जब हम fx के सभी मूल्यों के विषय में बात करते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि हमारी दृष्टि X के उन सभी मूल्यों की ओर है जो X किसी निश्चित समय में धारण कर सकता है। अब यदि हम X के नवीन मूल्यों की सृष्टि करते हैं तो वे नवीन मूल्य भी उस साकल्य के बाहर नहीं रह सकते ; उन्हें इस साकल्य के अन्तर्गत् ही रहना होगा। इस प्रकार साकल्य का विस्तार होता है। पुनः यदि हम X के नवीन मूल्यों की सृष्टि करते हैं, तो साकल्य का विस्तार होना अनिवार्य हो जायगा। चूँकि प्रत्येक स्थिति में नवीन मूल्यों को साकल्य के भीतर आना होगा, हम साकल्य का कितना ही विस्तार करते चले जायँ, कुछ न कुछ नवीन मूल्य उसके बाहर रहेंगे ही। सारी समस्याएँ तब उत्पन्न होती है जब हम नवीन मूल्य को साकल्य के भीतर ढकेलने की चेष्टा करते हैं। हमें सदा दो प्रकार के तर्क-वाक्यों के बीच भेद करना होगा : वे तर्क-वाक्य जो तर्क-वाक्यों के साकल्य का वर्णन करते हैं तथा वे तर्क-वाक्य जो साकल्य का वर्णन नहीं करते। वे तर्क वाक्य जो तर्क-वाक्यों के साकल्य का वर्णन करते हैं, उस साकल्य के सदस्य कभी नहीं बन सकते। प्रथम कोटि (First Order) के तर्क-वाक्य वे तर्क-वाक्य हैं जो तर्क-वाक्यों के साकल्य का निर्देश नहीं करते, द्वितीय कोटि के तर्क-वाक्य वे तर्क-वाक्य हैं जो प्रथम कोटि के तर्क-वाक्यों के साकल्य का निर्देश करते हैं। अतः जब हम कहते हैं कि 'सभी क्रीटवासी असत्यवादी हैं' यह द्वितीय कोटि का तर्क-वाक्य है। इसे प्रथम कोटि के तर्क-वाक्यों में शामिल कर इसके याथार्थ्य या अयाथार्थ्य को सिद्ध करना मूर्खता है।

ज्ञान-मीमांसा (Theory of Knowledge)

ब्रिटेन की जिस अनुभववादी परम्परा का सूत्रपात लॉक, बर्कले और ह्यूम ने किया, रसॅल ने उसका कभी परित्याग नहीं किया। उनकी तरह वे भी एक ऐसे असंदिग्ध तत्त्व के अनुसंधान में लगे रहे जिसके अस्तित्व और गुणों के सम्बन्ध में कोई सन्देह व्यक्त न कर

1. Russell, My Philosophical Development., p. 82-83.

सके। ऐसे असंदिग्ध तत्त्व को उन्होंने इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) नाम दिया। वास्तव में इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में रसॅल ने एक नहीं वरन् चार विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनका प्रतिनिधित्व उनकी चार पुस्तकें करती हैं। उसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।

(1) **दर्शन की समस्याओं** (Problems of Philosophy) में रसॅल ने तीन घटकों के माध्यम से ज्ञान की व्याख्या की है। जब हम किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, हमें उस वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं होता, हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) का ही साक्षात् ज्ञान (Knowledge by Acquaintance) प्राप्त होता है। इन्द्रिय-प्रदत्त के आधार पर हम बाह्य वस्तुओं का केवल अनुमान (Inference) कर लेते हैं। इन्द्रिय-प्रदत्त बाह्य वस्तुओं के गुणों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। भौतिक और दैहिक कारणों से इन्द्रिय-प्रदत्त आत्मा और बाह्य वस्तुओं दोनों से पृथक् होते हैं। रसॅल के अनुसार, हमें इन्द्रिय-प्रदत्तों का तो साक्षात् ज्ञान होता है पर वस्तुओं का हमें केवल वर्णनात्मक ज्ञान (Knowledge by Description) ही होता है।

इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान होता ही नहीं, तो हम उनके अस्तित्व में विश्वास ही क्यों करें ? इस प्रश्न के उत्तर में रसॅल कहते हैं कि इन्द्रिय-प्रदत्तों को देखकर उनके कारण के रूप में हमें वस्तुओं के अस्तित्व में मूल प्रवृत्त्यात्मक विश्वास (Instinctive Belief) हो जाता है। दूसरा कारण जो वे देते हैं, वह यह है कि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व के अविश्वास के स्थान पर उनके अस्तित्व में विश्वास करना "**सरलतर प्राक्कल्पना**" (Simpler Hypothesis) हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि "दर्शन की समस्याओं" में रसॅल "ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद" (Epistemological Dualism) में विश्वास करते हैं।

(2) **बाह्य संसार का हमारा ज्ञान** (**Our Knowledge of the External World**)—इस पुस्तक में रसॅल तीन घटकों के स्थान पर केवल दो घटकों के द्वारा ही ज्ञान की व्याख्या करते हैं। अपने गुरू एवं सहयोगी ह्वाइटहेड (A.N. Whitehead) के दर्शन से प्रभावित होकर उन्होंने ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद के स्थान पर ज्ञानमीमांसीय अद्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त बाह्य वस्तुओं के आभास न होकर उनके आंशिक यद्यपि वास्तविक **सन्दर्श** (Perspectives) है। इन विभिन्न वास्तविक संदर्शों के बीच परस्पर समन्वय स्थापित करके हम बाह्य वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। यहाँ रसॅल ने **संवेद्य** (Sensum) और **संवेद्यार्थ** (Sensibilia) के बीच अन्तर स्पष्ट किया है। संवेद्य प्रत्यक्ष प्रदत्त हैं तथा संवेद्यार्थ अप्रत्यक्ष प्रदत्त हैं। बाह्य वस्तुएँ केवल संवेद्यों की ही नहीं वरन् संवेद्य एवं संवेद्यार्थ दोनों की तार्किक रचनाएँ (Logical Constructions) हैं। रचना से यहाँ तात्पर्य किसी अनुमान से नहीं वरन् एक प्राक्कल्पना से है। हम प्रत्यक्ष संवेद्य के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु के विषय में किस प्रकार अनुमान कर सकते हैं ? इसीलिए रसॅल ने कहा कि 'भौतिक शास्त्र के जगत की सम्पूर्ण अवधारणा, अनुमान न होकर केवल एक रचना है।'[1]

---

1. 'The whole conception of the world of physics is a construction rather than an inference.'

(3) **आत्मा का विश्लेषण (The Analysis of Mind)** में रसॅल ने आत्मा और जड़-तत्त्व के द्वैत को मिटाकर तटस्थ एकतत्त्वाद (Neutral Monism) की स्थापना की है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसंधानों ने आत्मा को कम चित्तीय (Psychical) एवं जड़ को कम भौतिक सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। यदि हम आत्मा और जड़-तत्त्व की इन्द्रिय-प्रदत्तों के माध्यम से व्याख्या करना चाहते हैं तो इन्द्रिय-प्रदत्त न तो चित्तीय होंगे और न भौतिक ही बल्कि तटस्थ ही होंगे। इन तटस्थ इन्द्रिय-प्रदत्तों का एक संस्थान भौतिक वस्तुओं को जन्म देता है तो उन्हीं तटस्थ इन्द्रिय-प्रदत्तों का दूसरा संस्थान आत्माओं को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार एक बिन्दु दो सरल रेखाओं के साथ-साथ निवास कर सकता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु भौतिक और मानसिक दोनों एक साथ हो सकती है।

जिस प्रकार रसॅल ने भौतिक वस्तुओं को इन्द्रियों-प्रदत्तों की तार्किक रचना कहा है उसी प्रकार उन्होंने आत्माओं को उन्हीं इन्द्रिय-प्रदत्तों के **तार्किक गल्प** (Logical Fiction) की संज्ञा दी है। हम आत्माओं में इसलिए विश्वास नहीं करते कि अनुभव द्वारा हमें उनकी प्रतीति होती है, हम उनमें केवल इसलिए विश्वास करते हैं कि वे व्याकरण की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने न आत्माओं में और न जड़-तत्त्व में ही विश्वास किया उसी प्रकार रसॅल के अनुसार आत्माएँ और जड़-तत्त्व दोनों निराधार कल्पनाएँ (Gratuitous Assumptions) हैं।

(4) **दर्शन की रूपरेखा (Outlines of Philosophy)**—इसमें रसॅल "बाह्य संसार का हमारा ज्ञान" और "आत्मा का विश्लेषण" के ज्ञानमीमांसीय अद्वैतवाद का परित्याग कर एक बार पुनः ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद की ओर अग्रसर होते हैं। हमारी संवेदना और बाह्य वस्तुओं के बीच बहुत-सी भौतिक एवं शारीरिक प्रक्रियाएँ मध्यस्थता करती हैं जिनसे हमारा ज्ञान प्रभावित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमें बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान न होकर केवल उनकी संवेदनाओं का ही साक्षात् ज्ञान होता है। रसॅल के ही शब्दों में : 'जिस प्रकार लन्दन में किसी न्यूजीलैण्ड के निवासी को देखकर यह कथन करना कि मैं न्यूजीलैण्ड को देख रहा हूँ, गलत है, उसी प्रकार किसी नक्षत्र से आती हुई प्रकाश की किरणों को देखकर यह कहना कि मैं उस नक्षत्र को देख रहा हूँ, गलत है।'[1]

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो रसॅल ने इस पुस्तक में प्रस्तुत की है वह यह है कि यहाँ उन्होंने ज्ञान की व्यवहारवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रत्यक्ष में हमें जिस विषय का साक्षात् ज्ञान होता है वे बाह्य वस्तुएँ नहीं होती, वरन् उन बाह्य वस्तुओं का मस्तिष्क में जो प्रभाव उत्पन्न होता है, उन्हीं का हमें साक्षात् ज्ञान होता है। वे प्रभाव आत्मनिष्ठ व व्यक्तिगत होते हैं। इनको वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए ही रसॅल ने ज्ञान की व्यवहारवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। ज्ञान की इस व्यवहारवादी व्याख्या के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त शब्दों का वह प्रकार है जिन्हें मनुष्य बाह्य उत्तेजनाओं को देखकर उच्चरित करता है तथा जिसमें कोई ज्ञात प्रतिक्रिया शामिल

---

1. 'To say that you see a star when you see the light that has come from it is no more correct than to say that you see Newzealand when you see a Newzealander in London.'

नहीं होती। यदि उक्त विवेचना को स्वीकार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात ज्ञान होता है ; जहाँ तक बाह्य वस्तुओं का ज्ञान है वह हमारे अधिगत व्यवहार (Learned Behaviour) के कारण अनुमान द्वारा उत्पन्न होता है। अनुमान होने के कारण बाह्य वस्तुओं का ज्ञान कभी भी निश्चयात्मक नहीं हो सकता, वह केवल सम्भाव्य ही होता है। रसॅल के इस सिद्धान्त को लवज्वॉय (Lovejoy) ने **अन्तःकपालीय प्राक्कल्पना** (Endocephalic Hypothesis) कहा है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष सदा मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न होता है।

9 तार्किक परमाणुवाद
(Logical Atomism)

लुडविग विटगेन्स्टाइन
(Ludwig Wittgenstein)
(1889-1954)

यह कथन अतिशयोक्ति नहीं होगा कि विटगेन्स्टाइन बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली दार्शनिक हैं। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। उनके चिन्तन की मौलिकता एवम् गहनता को रसेल और मूर जैसे शीर्ष विचारकों ने स्वीकार किया। मूर तो कभी-कभी उनकी कक्षा में उपस्थित होकर उनके दार्शनिक विचारों को सुनते थे एवम् विधिवत नोट्स तैयार करते थे। उनकी मौलिकता केवल इस बात में निहित नहीं है कि उन्होंने दार्शनिक समस्याओं का कितनी सफलतापूर्वक समाधान प्रस्तुत किया है बल्कि उनकी मौलिकता इस बात से अधिक प्रतिबिम्बित होती है कि उन्होंने सदा नवीन प्रश्नों को उत्तेजित किया। विटगेन्स्टाइन ने चिन्तन की उपमा तैरने की प्रक्रिया से किया है। जिस प्रकार तैरने में हमारे शरीर की प्रवृत्ति सदा जल के ऊपर प्रवाहित होने में निहित होती है तथा उसके नीचे धरातल पर पहुँचने के लिए पर्याप्त भौतिक श्रम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार चिन्तन में दार्शनिक समस्याओं की गहराई तक पहुँचने के लिए मन को पृष्ठीय भाग से हटाने में पर्याप्त मानसिक श्रम की आवश्यकता होती है। उनके विचारों की तीक्ष्णता और स्पष्टता उन्हें प्रथम श्रेणी का विचारक घोषित करने के लिए पर्याप्त हैं। विटगेन्स्टाइन ने समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक प्रवृत्तियों को जितना अधिक प्रभावित किया है उतना शायद ही किसी अन्य दार्शनिक ने किया हो। अभी इस बात का आकलन होना शेष है कि विटगेन्स्टाइन को भविष्य के दर्शन का प्रबुद्ध उद्धारक माना जाय अथवा उसका बर्बर विध्वंसक। पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने दार्शनिक चिन्तन का एक ऐसा प्रतिमान स्थापित किया जिसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जीवन-वृत्त—विटगेन्स्टाइन का जन्म 26 अप्रैल सन् 1889 में वियना (Vienna) के एक यहूदी परिवार में हुआ था। वे अपने पाँच भाइयों एवम् तीन बहनों में सबसे कनिष्ठ थे। यद्यपि उनके पिता यहूदी थे किन्तु माता रोमन केथॉलिक थीं और वे स्वयं रोमन चर्च द्वारा दीक्षित थे। उनका परिवार एक समृद्ध परिवार था। पिता एक इस्पात उद्योग से सम्बन्धित थे। 14 वर्ष की अवस्था तक विटगेन्स्टाइन की शिक्षा प्रायः घर पर ही हुई थी। उसके बाद उन्होंने लीज के एक स्कूल में शिक्षा ग्रहण की और तत्पश्चात् इंजीनियरिङ्ग के अध्ययन के लिए बर्लिन की एक संस्था में उनका प्रवेश हुआ। 1908 में वे मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में इंजीनियरिङ्ग के एक शोध-छात्र के रूप में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने वायुयानों के लिए जेट-प्रतिक्रिया वाली मशीन का ढाँचा

निर्मित किया। इसी बीच उनकी रुचि इंजीनियरिङ्ग से विचलित होकर विशुद्ध गणित (Pure Mathematics) और अन्त में गणित के मूलाधार (Foundations of Mathematics) पर केन्द्रित हुई। गणित के मूलाधार के अनुसंधान के बीच ही वे दर्शन-शास्त्र की ओर आकृष्ट हुए।

गणित के मूलाधार की खोज में विटगेन्स्टाइन ने जिस प्रथम पुस्तक का अध्ययन किया वह बर्ट्रण्ड रसेल द्वारा रचित पुस्तक **गणित के सिद्धान्त** (Principles of Mathematics) थी जो 1903 ई० में प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक के माध्यम से उनका परिचय गॉटलब फ्रेगे (Gottlob Frege) से हुआ जो गणित-तर्कशास्त्र (Mathematical Logic) के पिता कहे जाते हैं। विटगेन्स्टाइन फ्रेगे से मिलने के लिए जेना (जर्मनी) गए। फ्रेगे ने उन्हें कैम्ब्रिज जाकर रसेल के साथ अध्ययन करने की सलाह दी। इसके फलस्वरूप उन्होंने ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में अपना प्रवेश लिया और 1912-1913 में रसेल के विद्यार्थी के रूप में दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया। इसी समय ह्वाइटहेड एवम् रसेल की **प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका** (Principia Mathematica) नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी जिससे विटगेन्स्टाइन पर्याप्त प्रभावित थे। रसेल ने एक स्थान पर लिखा है कि कैम्ब्रिज में एक टर्म के बाद विटगेन्स्टाइन उनके पास पहुँचे और उन्होंने एकाएक प्रश्न किया कि बताइए कि "मैं पूर्ण रूप से मूर्ख हूँ अथवा नहीं" ? आगे उन्होंने स्पष्ट किया कि "यदि मैं पूर्ण रूप से मूर्ख हूँ तो वायुयान चालक बन जाऊँगा और यदि नहीं तो दार्शनिक बन जाऊँगा।" रसेल ने उन्हें कुछ लिख कर लाने के लिए आदेश दिया और जब उन्होंने उनके लेख को देखा तो एक ही वाक्य पढ़कर घोषित किया कि "तुम्हें वायुयान चालक नहीं बनना चाहिए।"

कैम्ब्रिज के प्रवास-काल में केवल रसेल ही एक ऐसे दार्शनिक नहीं थे जो विटगेन्स्टाइन की दार्शनिक प्रतिभा से प्रभावित हुए। एक दूसरे दार्शनिक जी.ई.मूर (G.E. Moore) ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि विटगेन्स्टाइन उनके विद्यार्थी थे किन्तु जहाँ तक दार्शनिक समस्याओं एवम् उनके समाधान का प्रश्न है, विटगेन्स्टाइन की अन्तर्दृष्टि एवम् प्रतिभा उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठतर थी।

विटगेन्स्टाइन केवल दार्शनिक ही नहीं थे वरन् उच्च कोटि के देशभक्त भी थे। सन् 1914 में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने पर उन्होंने आस्ट्रिया की सेना में स्वतः सेवा का कार्य ग्रहण कर लिया। सेना के एक अधिकारी के रूप में उन्होंने पूर्वी एवम् दक्षिणी मोर्चे पर युद्ध का संचालन किया। नवम्बर 1918 में इटली के द्वारा वे बन्दी बनाए गए और लगभग 9 महीने तक दक्षिणी इटली के एक बन्दी-गृह में उन्हें एक युद्ध-बन्दी के रूप में रखा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1918 ई० में ही विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस समाप्त कर लिया था। बन्दी-गृह से किसी प्रकार उसकी पाण्डुलिपि उन्होंने रसेल के पास भेजी। रसेल के साथ विचार-विमर्श के बाद 1921 में जर्मन भाषा में यह पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके ठीक एक वर्ष बाद जर्मन तथा उसका समानान्तर अंग्रेजी अनुवाद एक साथ रसेल की भूमिका के साथ प्रकाशित किया गया। प्रो० मूर ने इस पुस्तक का नामकरण लैटिन भाषा के **ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसोफिकस** (Tractatus Logico- Philosophicus) पद-समूह द्वारा अभिहित किया। यह पुस्तक अपने ढंग से पाश्चात्य दर्शन को गति एवम् दिशा देने में प्रबल रूप में प्रभावशाली हुई तथा ट्रैक्टेटस के विटगेन्स्टाइन को बाद में **पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन** (Early Wittgenstein) कहा जाने लगा।

कुछ दिनों के उपरान्त विटगेन्स्टाइन मानो दर्शन से विरक्त हो गए जिसके फलस्वरूप 1920-1926 तक वे वियना के दक्षिण के पहाड़ी इलाकों में विभिन्न स्कूलों में अध्यापन करते रहे। जब अभिभावकों ने शिकायत की कि वे बच्चों को कड़ा शारीरिक दण्ड देते हैं, उन्होंने यह कार्य भी छोड़ दिया और वे कुछ दिनों तक निकट के एक आश्रम में अकेला जीवन व्यतीत करने लगे। इन्हीं दिनों विटगेन्स्टाइन का सम्पर्क कैम्ब्रिज के एक महान गणितज्ञ फ्रैंक रैम्जे (Frank Ramsey) से हुआ जिन्होंने विटगेन्स्टाइन को पुनः कैम्ब्रिज लौटने और अपना दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करने का परामर्श दिया। 1026 के आसपास उनकी भेंट वियना केन्द्र (Vienna Circle) के संस्थापक मॉरिज शिलक (Moritz Schlick) से हुई जिनके साथ बैठकर उन्होंने दार्शनिक विषयों पर वार्तालाप किया। विटगेन्स्टाइन के जीवन में एक नया मोड़ तब आया जब उन्होंने मार्च 1928 में "गणित के मूलाधार" विषय पर हालैण्ड के गणितज्ञ ब्रूवर (Brouwer) का भाषण सुना। इस भाषण का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे 1929 में कैम्ब्रिज वापस आ गए और शोध-छात्र के रूप में वहाँ अपना पंजीकरण कराया। उन्होंने "ट्रैक्टेटस" को ही पी० एच०-डी० की उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया और रसेल एवम् मूर द्वारा मौखिक परीक्षा के बाद उन्हें उपाधि मिली। 1930 में वे ट्रिनिटी कालेज के फेलो (Fellow) बनाए गए।

1930 के पश्चात् विटगेन्स्टाइन कैम्ब्रिज में अपने दर्शन के विद्यार्थियों को एक विशिष्ट रूप से शिक्षा देते रहे। उनकी कक्षाएँ प्रायः उनके कमरे में ही होती थीं। विद्यार्थियों ने उनके दर्शन के शिक्षण का बड़ा सजीव चित्रण किया है। उनके अनुसार इन कक्षाओं में भी विटगेन्स्टाइन गम्भीर चिन्तन किया करते थे जिसका विद्यार्थियों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। 1933-35 में उन्होंने छात्रों को कुछ नोट्स लिखवाए थे जिन्हें छात्रों ने बचा कर रखा जो बहुत दिनों के बाद "द ब्ल्यू बुक" (The Blue Book) और "द ब्राउन बुक" (The Brown Book) के नाम से प्रकाशित हुए।

जब ट्रिनिटी कालेज में विटगेन्स्टाइन की फेलोशिप 1936 में समाप्त हो गई, वे नार्वे में अपनी कुटिया में चले गए। वहीं उन्होंने अपनी **फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स** के प्रथम भाग की रचना की। 1973 में जब जर्मनी ने आस्ट्रिया को जीत लिया, वे पुनः कैम्ब्रिज वापस लौट आए। 1939 में उन्हें मूर के स्थान पर दर्शन-शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। वे अपना पद संभाल भी नहीं पाए थे कि द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया। विटगेन्स्टाइन एक बार पुनः युद्ध-सेवा में लग गए। युद्ध समाप्त होने के बाद वे कैम्ब्रिज में अपने प्रोफेसर के पद पर वापस लौट आए। पर प्रोफेसर के पद के जो उत्तरदायित्व थे उनका वे ठीक प्रकार निर्वाह नहीं कर पाते थे। प्रोफेसर के जीवन को उन्होंने कहीं पर जीवित मृत्यु (A Living Death) कहा है। दो वर्ष बाद ही 1947 में उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। 1948 में विटगेन्स्टाइन ने लगातार परिश्रम के बाद अपना **फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स** (Philosophical Investigations) समाप्त किया। 1948 में वे मालकोम (Malcolm) के साथ कुछ दिन अमेरिका में प्रवास किया। अब वें प्रायः बीमार रहने लगे। 1949 में लोगों को ज्ञात हुआ कि वे कैन्सर रोग से पीड़ित हैं। उस समय भी यथा-सम्भव दार्शनिक चिन्तन में वे रत रहते थे। 29 अप्रैल 1951 में कैम्ब्रिज में उनका देहान्त हुआ। उनके मरणोपरान्त उनका **फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स**

(Philosophical Investigations) 1953 में प्रकाशित हुआ जिसने भाषा दर्शन को एक नई गति और दिशा प्रदान की। इसे उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन (Later Wittgenstein) का दर्शन कहा जाता है।

ट्रैक्टेटस-लॉजिको-फिलॉसॉफिकस का दर्शन (पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन)

ट्रैक्टेटस एक संक्षिप्त सूत्रात्मक (Aphoristic) तथा निगूढ़ कृति है। इसमें एक आमुख एवम् क्रमांकित प्रतिज्ञप्तियों (Propositions) के 80 पृष्ठ विद्यमान हैं। इन प्रतिज्ञप्तियों में पर्याप्त संपीडित एवम् निगूढ़ विचार पाए जाते हैं। उनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति पर्याप्त सुविचारित है तथा उन्हें व्यक्त करने वाले शब्दों का चयन पर्याप्त सोच-विचार करके किया गया है। अतः जिस प्रकार बुद्धि द्वारा श्रुतियों की व्याख्या करने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ट्रैक्टेटस की प्रतिज्ञप्तियों की भी व्याख्या करने की आवश्यकता होती है। श्रुतियों के प्रणेता तत्त्व-द्रष्टा थे। उसी प्रकार ट्रैक्टेटस के वाक्यों को भी देखने पर प्रतीत होता है कि विटगेन्स्टाइन ने भी सत्य का साक्षात्कार कर लिया था और उस सत्य की अभिव्यक्ति उन्होंने प्रतिज्ञप्तियों द्वारा कर दी है।

दूसरी बात जो यहाँ ध्यान में रखने की है वह यह है कि चूँकि ट्रैक्टेटस की रचना सूत्रशैली में की गई है जिसके विचार पर्याप्त निगूढ़ हैं, अतः भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने इसकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। ऐसी स्थिति में यदि कोई व्याख्याकार यह कहता है कि उसी की व्याख्या प्रामाणिक है तो यह उसकी धृष्टता ही कही जाएगी।

प्रतिज्ञप्तियों का क्रमांकन

विटगेन्स्टाइन ने स्वयं कहा है कि ट्रैक्टेटस की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों को पूर्ण संख्या 1, 2, 3, 4, 5, 6 और 7 से व्यक्त किया गया है। ऐसी कुल 7 महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। दशमलव संख्याएँ (Decimal Numbers) प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक महत्त्व को व्यक्त करती हैं तथा सम्पूर्ण संख्या (पूर्ण+दशमलव) इस तथ्य को अभिव्यक्त करती है कि अमुक प्रतिज्ञप्ति किस प्रतिज्ञप्ति के ऊपर भाष्य हैं। उदाहरण के लिए 3.3 एवम् 3.4 प्रतिज्ञप्तियाँ, प्रतिज्ञप्ति संख्या 3 पर भाष्य हैं तथा संख्या 3 प्रतिज्ञप्ति से कम महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार 3.31 एवम् 3.32 प्रतिज्ञप्ति 3.3 पर भाष्य हैं तथा प्रतिज्ञप्ति संख्या 3.3 से कम महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु प्रो० एरिक स्टीनियस (Eric Stenius) का इस सम्बन्ध में कुछ दूसरा ही विचार है। उनके अनुसार यदि किसी प्रतिज्ञप्ति का प्रथम दशमलव 0 (शून्य) है तो वह मूल प्रतिज्ञप्ति के ऊपर भाष्य कहा जायगा। उदाहरण के लिए यदि किसी प्रतिज्ञप्ति की संख्या 2.01 है तो वह प्रतिज्ञप्ति मूल प्रतिज्ञप्ति 2 पर भाष्य माना जायगा; किन्तु जहाँ केवल एक ही दशमलव संख्या जैसे 2.1 या 2.2 है वहाँ वे वाक्य मूल वाक्य 2 पर भाष्य न होकर आगे आने वाले वाक्य 3 के प्रस्तावना (Preamble) मात्र हैं। उदाहरण के लिए 3.1, 3.2, 3.3 इत्यादि 3 पर भाष्य न होकर मूल प्रतिज्ञप्ति 4 के प्रस्तावना मात्र हैं। पर जहाँ अधिक दशमलव संख्याएँ हैं वहाँ पूर्व व्याख्या ही सही जान पड़ती है। उदाहरण के लिए 2.1512, 2.151 पर ही भाष्य माना जायगा।

अतः इस विषय में कोई निश्चित व दृढ़ नियम नहीं स्थापित किया जा सकता।

विषय-प्रवेश

ट्रैक्टेटस की भूमिका में विटगेन्स्टाइन ने पुस्तक के लक्ष्य एवम् अभिप्राय को निम्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया है : "जो कुछ भी कहा जा सकता है, स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है, तथा जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, हमें मौन ही रहना चाहिए।"[1] अतः पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य विचारों अथवा विचार की अभिव्यक्तियों की सीमा का निर्धारण करना है क्योंकि कोई व्यक्ति विचारों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। विटगेन्स्टाइन ने स्वयं कहा है, "विचार की सीमा का रेखांकन करने के लिए, हमें सीमा के दोनों पार्श्वों का निरीक्षण करना होगा।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि केवल भाषा में ही सीमा का निर्धारण किया जा सकता है तथा जो कुछ भी इस सीमा का अतिक्रमण करता है वह निरर्थक ही होगा।[3] बात यह है कि यदि विचार की सीमा का निर्धारण विचार द्वारा ही करने का प्रयत्न किया जाय तो इसका निहितार्थ यह होगा कि **जिस पर विचार किया ही नहीं जा सकता उस पर विचार करना आत्म-व्याघाती है।** यही कारण है कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार विचार की सीमा का निर्धारण भाषा द्वारा ही किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में भाषा के अध्ययन की सार्थकता प्रकट होती है। ट्रैक्टेटस में यही प्रदर्शित किया गया है कि **"जगत के सम्बन्ध में क्या कथन किया जा सकता है।"**

जगत (World)

विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में भाषा के स्वरूप एवम् उसके जगत के साथ सम्भाव्य सम्बन्धों की व्याख्या प्रस्तुत की है। एक प्रकार से यही समस्या रसेल के तार्किक परमाणुवाद (Logical Atomism) की भी समस्या है। जिस प्रकार रसेल के तार्किक परमाणुवाद को आत्मसात करने के लिए तथ्य (Fact) एवम् प्रतिज्ञप्ति (Proposition) के स्वरूप को समझना अनिवार्य है, उसी प्रकार ट्रैक्टेटस के विचारों को समझने के लिए जगत (World) एवम् भाषा (Language) के स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है। इसी कारण विटगेन्स्टाइन ने सर्वप्रथम जगत के स्वरूप की व्याख्या करने की चेष्टा की है :

1. जगत वह सब है जो कुछ है।[4]

1.1. जगत तथ्यों का समुच्चय है, वस्तुओं का नहीं।[5]

1.2. जगत तथ्यों में विभाजित है।[6]

विटगेन्स्टाइन ने यह कभी नहीं कहा कि जगत तथ्यों से निर्मित है अथवा तथ्य जगत के उपादान (Stuff) हैं। इसके विपरीत उन्होंने निवेदन किया कि

---

1. .....'What can be said at all can be said clearly and what we cannot talk about we must pass over in silence'.
2. '.......in order to be able to draw a limit to thought, we should have to find both sides of the limit.'
3. 'It will therefore only be in language that the limit can be drawn, and what lies on the other side of the limit will simply be non-sense'.
4. The world is all that is the case.
5. The world is the totality of facts, not of things.
6. The world divides into facts.

2.021 **वस्तुएँ जगत के उपादान हैं।**[1]

विटगेन्स्टाइन द्वारा ऊपर कही गई बातें देखने में परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं पर यदि ध्यानपूर्वक उनका आकलन किया जाय तो उनके विरोध को आसानी से दूर किया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि जगत् वस्तुओं से निर्मित है या तथ्यों से ? यदि हमें संसार की वस्तुओं की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी जाय तो क्या उससे संसार के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है ? कदापि नहीं। संसार के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें न केवल इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि संसार में कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं वरन् हमें उनके विन्यास (Arrangement) की भी जानकारी होनी चाहिए।

उदाहरण 1—मान लिया कि कोई व्यक्ति हमसे किसी कमरे का पूर्ण वर्णन करने के लिए कहता है तो हम केवल कमरे के अंग-प्रत्यंगों एवम् उसके भीतर रखी वस्तुओं का ही वर्णन नहीं करेंगे वरन् इस बात का भी वर्णन करेंगे के वस्तुएँ कमरे में किस प्रकार व्यवस्थित की गई हैं। वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को ही तथ्य कहते हैं। अतः जगत का पूर्ण वर्णन वस्तुओं के माध्यम से नहीं वरन् तथ्यों के माध्यम से ही किया जा सकता है।

उदाहरण 2—मान लिया कि कुछ वस्तुओं की सूची के आधार पर हमसे एक कमरे के मॉडल का निर्माण करने के लिए कहा जाता है। इन वस्तुओं के आधार पर कमरे के अनेक मॉडल तैयार किए जा सकते हैं। इन वस्तुओं से अनेक मॉडल के निर्माण की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। पर यदि सभी तथ्यों की सूची हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दी जाय तो केवल एक ही कमरे के मॉडल का निर्माण किया जा सकता है। इसी प्रकार जगत के पूर्ण वर्णन के लिए केवल वस्तुओं की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण तथ्यों की भी आवश्यकता है।

उदाहरण 3—विटगेन्स्टाइन का यह कथन कि जगत तथ्यों का समुच्चय है, वस्तुओं का नहीं, तब और स्पष्ट हो जाता है जब हम जगत को त्रिआयामी (Three dimensional) न मानकर चारआयामी (Four dimensional) स्वीकार करते हैं। अतः जगत वस्तुओं में नहीं वरन् तथ्यों में विभाजित है।

तथ्य (Fact)

ऊपर हमने देखा कि जगत वस्तुओं का समुच्चय न होकर तथ्यों का समुच्चय है। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तथ्य से हमारा क्या तात्पर्य है ? तथ्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें इसे वाक्य, प्रतिज्ञप्ति एवम् घटना से पृथक् करना होगा। वाक्य शब्दों अथवा पदों का वह समूह है जो सार्थक होता है। किसी वाक्य का वह अर्थ जो सत्य या असत्य हो सकता है **प्रतिज्ञप्ति** (Proposition) कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त होती है पर प्रत्येक वाक्य प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त नहीं करता। केवल वही वाक्य प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करता है जो सत्य या असत्य हो सकता है। वाक्य एवम् प्रतिज्ञप्ति से पृथक् तथ्य वह है जो किसी प्रतिज्ञप्ति को यथार्थ अथवा अयथार्थ सिद्ध करता है। तथ्य और घटना समानार्थक शब्द नहीं हैं। **घटना** (Event) किसी विशिष्ट देश और विशिष्ट काल में घटित होती है पर तथ्य देश और काल से अतीत होता है। तथ्य न तो यथार्थ होता है

---

1. Objects make up the substance of the world.

और न अयथार्थ। यदि तथ्य को भी यथार्थ अथवा अयथार्थ माना जाय तो उसकी यथार्थता अथवा अयथार्थता सिद्ध करने के लिए एक दूसरे तथ्य की आवश्यकता होगी। यदि इस दूसरे तथ्य को भी यथार्थ अथवा अयथार्थ स्वीकार किया जाय तो उसकी यथार्थता अथवा अयथार्थता को सिद्ध करने के लिए एक तीसरे तथ्य की आवश्यकता होगी। इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यही कारण है कि दर्शन शास्त्र में तथ्य को सत्यता-असत्यता से तटस्थ माना जाता है।

तथ्य के विषय में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि तथ्य कोई तात्त्विक वस्तु न होकर केवल एक तार्किक वस्तु (Logical Entity) ही है जिसमें जगत विभाजित है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार **तार्किक देश में तथ्यों के पुञ्ज को ही जगत कहते हैं।**[1] तार्किक प्रदेश में स्थित होने के कारण तथ्य भी तार्किक ही होता है।

विटगेन्स्टाइन ने तथ्य शब्द का प्रयोग सरल व जटिल दोनों प्रकार के तथ्यों के लिए किया है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है

2. परमाणविक तथ्यों के अस्तित्व को ही तथ्य कहते हैं।[2]

अर्थात् तथ्य एक ऐसी तार्किक इकाई है जो विभिन्न वस्तुओं (Objects) के एक विशेष प्रकार के विन्यास के कारण उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं "बिल्ली चटाई पर है" यह एक तथ्य है जो बिल्ली और चटाई दो वस्तुओं के एक विशेष विन्यास के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है।

बहुधा जगत में जो तथ्य पाए जाते हैं, वे पर्याप्त जटिल (Complex) होते हैं। यदि उनका विश्लेषण किया जाय तो कम जटिल तथ्यों तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार यदि विश्लेषण की प्रक्रिया जारी रखी जाए तो एक ऐसी अवस्था आएगी जब आगे उनका विभाजन नहीं किया जा सकता। जब तथ्य की यह सरलतम अवस्था उत्पन्न हो जाय, विटगेन्स्टाइन उसे परमाणविक तथ्य की संज्ञा प्रदान करेंगे।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमाणविक तथ्य से हमारा क्या तात्पर्य है ?

2.01. परमाणविक तथ्य वस्तुओं का एक समुच्चय है।[3]

किसी परमाणविक तथ्य में वस्तुएँ किसी चेन या शृंखला की कड़ी के रूप में दिखाई देती हैं। इसी कारण किसी परमाणविक तथ्य में वस्तुओं के बीच एक निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार तथ्यों का जगत में स्वतन्त्र अस्तित्व है किन्तु वस्तुओं का अस्तित्व परमाणविक तथ्य पर आश्रित होता है। जिस प्रकार हम देश से पृथक् किसी दैशिक वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते, अथवा काल से पृथक् किसी कालिक वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार किसी तथ्य से पृथक् हम किसी वस्तु की भी कल्पना नहीं कर सकते। इन्हीं बातों का विचार करके विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में परमाणविक तथ्य की एक दूसरी परिभाषा दी है जो निम्न है :

---

1. 'The facts in logical space are the world.'
2. 'What is the case, the fact, is the existence of atomic facts.'
3. An atomic fact is a combination of objects.

2.0272. वस्तुओं के विन्यास को ही परमाणविक तथ्य कहा जाता है।[1]

परमाणविक तथ्य में वस्तुएँ तो स्थिर हैं किन्तु उनका विन्यास सदा परिवर्तनशील रहता है।

निषेधात्मक तथ्य (Negative Fact)

भावात्मक तथ्यों का तो संसार में अस्तित्व है पर क्या संसार में निषेधात्मक तथ्यों का भी अस्तित्व पाया जाता है ? इस समस्या पर विचार करने के पूर्व हमें ट्रैक्टेटस के कुछ सूत्रों पर विचार करना चाहिए।

2.04. विद्यमान वस्तु-स्थितियों के समुच्चय को ही जगत कहते हैं।[2]

2.06. वस्तु-स्थितियों के अस्तित्व एवम् अनस्तित्व को ही सत् कहते हैं।[3]

प्रथम कथन का तात्पर्य यह है कि जगत् केवल भावात्मक परमाणविक तथ्यों द्वारा निर्मित है किन्तु द्वितीय कथन का अभिप्राय यह है कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार सत् भावात्मक एवम् निषेधात्मक दोनों प्रकार के तथ्यों से निर्मित है। आगे वे कहते हैं :

2.063. सत् के सम्पूर्ण योगफल को जगत् कहते हैं।[4]

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जगत् भी भावात्मक एवम् निषेधात्मक तथ्यों से निर्मित है। क्या इससे हम यह निष्कर्ष निकालें कि जगत् और सत् के विषय में विटगेन्स्टाइन के उपर्युक्त दोनों कथनों में किसी प्रकार का कोई अन्तर्विरोध है ? जेम्स ग्रिफिथ (James Griffith) के अनुसार विटगेन्स्टाइन के उपर्युक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। विटगेन्स्टाइन ने स्वयं उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है :

2.05. विद्यमान वस्तु-स्थितियों का समुच्चय यह भी निर्धारित करता है कि किन वस्तु-स्थितियों का अस्तित्व नहीं है।[5]

इस कथन से स्पष्ट है कि यदि सभी भावात्मक तथ्य प्रस्तुत हों तो सभी निषेधात्मक तथ्य स्वतः प्रस्तुत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में भावात्मक एवम् निषेधात्मक तथ्य एक दूसरे से अवियोजनीय हैं। उदाहरण के लिए यदि हमें ज्ञात है कि 'अ, ब है' तथा 'स, द है' तो हमें यह भी ज्ञात है कि 'अ, द नहीं है' तथा 'स, ब नहीं है'। ग्रिफिथ के अनुसार विटगेन्स्टाइन के कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सही अर्थ में केवल भावात्मक तथ्य ही जगत् के अंग हैं, किन्तु उनके भीतर निषेधात्मक तथ्य भी विवक्षित हो जाते हैं। अतः चाहे हम यह कहें कि जगत् केवल भावात्मक तथ्यों से निर्मित है अथवा यह कहें कि जगत् भावात्मक एवम् निषेधात्मक दोनों तथ्यों से निर्मित है दोनों का तात्पर्य एक ही है। निषेधात्मक तथ्य का कोई अस्तित्व नहीं है।

---

1. The configuration of the objects forms the atomic fact.
2. The totality of the existing states of affairs is the world.
3. The existence and non-existence of states of affairs is reality.
4. The sum total of reality is the world.
5. The totality of existing states of affairs also determines which states of affairs do not exist.

4.0621 (3) p एवम् ~p प्रतिज्ञप्तियों के विपरीत तात्पर्य है किन्तु वे समान तथ्य की ओर ही निर्देश करती हैं।[1]

यदि p एवम् ~p विभिन्न वस्तु-स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं तो p एवम् ~p दोनों प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियां हो जायँगी जो वे नहीं हैं।

4.0621 (1) संकेत ~ वास्तव में किसी विषय की ओर निर्देश नहीं करते। संकेत ~ कोई नाम नहीं है।[2]

यदि ~ को एक व्यक्तिवाचक संज्ञा मान लिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि

$p \not\equiv \sim\sim p$

अर्थात् p एवम् ~ ~p समतुल्य नहीं होंगे।

4.0312 (2) मेरा मूलभूत विचार यह है कि तार्किक चर प्रातिनिधिक नहीं होते।[3]

परमाणविक तथ्यों का अस्तित्व

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमाणविक तथ्यों के अस्तित्व में विश्वास का आधार क्या है ? क्या हम प्रत्यक्ष के आधार पर परमाणविक तथ्यों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं ? वास्तव में विटगेन्स्टाइन ने प्रत्यक्ष के आधार पर परमाणविक तथ्यों के अस्तित्व में विश्वास नहीं किया। उन्होंने भाषा के विश्लेषण के आधार पर इनके अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया। सरलतम प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता परमाणविक तथ्यों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में कहा है :

4.21. सरलतम प्रतिज्ञप्ति अथवा प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थितियों के अस्तित्व का आग्रह करती हैं।[4]

वस्तु-स्थितियों का आग्रह परमाणविक तथ्यों का आग्रह है। परमाणविक तथ्य का प्रत्यय सरलतम प्रतिज्ञप्ति के प्रत्यय के ऊपर आश्रित है तथा सरलतम प्रतिज्ञप्ति की कल्पना रसेल के वर्णन-सिद्धान्त से अनिवार्य रूप में सम्बन्धित है जिस पर विचार करना आवश्यक है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की प्रमुख बात यह है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ एवम् निश्चित वर्णनों (Definite Description) के अर्थ में भिन्नता होती है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अर्थ वह व्यक्ति अथवा वस्तु है जिसके लिए उस व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। पर निश्चित वर्णनों का अर्थ वे विशेषताएँ हैं जो व्यक्तियों अथवा वस्तुओं में पाई जा सकती हैं चाहे उनका संसार में अस्तित्व हो अथवा न हो। रसेल द्वारा प्रदत्त उदाहरण को

---

1. The propositions P and ~p have opposite sense but these correspond to one and the same reality.
2. Nothing in reality corresponds, to the sign "~.". ~ is not a name.
3. My fundamental idea is that the logical constants are not representative.
4. The simplest kind of proposition, an elementary proposition, asserts the existence of a state of affairs.

ही हम लें। **'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है'**[1] यहाँ "स्कॉट" एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है तथा "वैवर्ली का लेखक" एक निश्चित वर्णन है। यदि "वैवर्ली का लेखक" को एक व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में लिया जाय तो 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है' एक पुनरुक्ति (Tautology) मात्र होगा जिसका अर्थ है 'स्कॉट स्कॉट है' जो निरर्थक है। इसके विपरीत यदि "वैवर्ली का लेखक" स्कॉट नहीं है तो 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है' एक व्याघाती (Contradictory) वाक्य होगा जिसका अर्थ है 'स्कॉट स्कॉट नहीं है' जो निरर्थक है। रसेल का वर्णन सिद्धान्त इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है।

रसेल के अनुसार उपर्युक्त कठिनाई का मूल कारण यह है कि हम निश्चित वर्णनों को व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के रूप में मान्यता प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। पर दोनों के अर्थों में महान अन्तर है। व्यक्तिवाचक संज्ञा एक पूर्ण प्रतीक (Complete Symbol) है जिसका स्वतन्त्र अर्थ होता है, किन्तु निश्चित वर्णन एक अपूर्ण प्रतीक (Incomplete Symbol) है जिसका अर्थ उस प्रतिज्ञप्ति के ऊपर आश्रित है जिसका वह अभिन्न अंग है। उस प्रतिज्ञप्ति से पृथक् उसकी कोई सार्थकता नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जब हम उस प्रतिज्ञप्ति का जिसका "वैवर्ली का लेखक" एक अभिन्न अंग है, विश्लेषण करते हैं तो उक्त पद-समूह अदृश्य हो जाता है। 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है' एक सरल प्रतिज्ञप्ति न होकर निम्न तीन सरल प्रतिज्ञप्तियों की यौगिक प्रतिज्ञप्ति है—

(1) कम से कम एक व्यक्ति ने वैवर्ली को लिखा।

(2) अधिक से अधिक एक व्यक्ति ने वैवर्ली को लिखा।

(3) जिस व्यक्ति ने वैवर्ली को लिखा वह स्कॉट से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रथम निष्कर्ष जो निगमित होता है वह यह है कि 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक है' एक सरल प्रतिज्ञप्ति न होकर जटिल (Complex) प्रतिज्ञप्ति है जो उक्त तीन सरल प्रतिज्ञप्तियों को अपने भीतर सन्निहित करती है। इसका प्रमाण यह है कि यदि उक्त तीन प्रतिज्ञप्तियों में कोई भी प्रतिज्ञप्ति असत्य है तो मूल प्रतिज्ञप्ति असत्य हो जायगी। द्वितीय निष्कर्ष यह है कि मूल प्रतिज्ञप्ति में "वैवर्ली का लेखक" **नाम** अथवा व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है जो किसी व्यक्ति की ओर संकेत करता हो। तृतीय निष्कर्ष यह है कि "वैवर्ली का लेखक" एक अपूर्ण प्रतीक है जो विश्लेषण के बाद अदृश्य हो जाता है। यही कारण है कि "वैवर्ली का लेखक" मूल प्रतिज्ञप्ति का संघटक तत्त्व (Constituent Element) नहीं स्वीकार किया जाता। वास्तविकता यह है कि वर्णनात्मक पद-समूह की संगति में ऐसा कोई संघटक तत्त्व है ही नहीं जिसकी ओर वर्णनात्मक पद-समूह संकेत करता हो।

ऊपर हमने देखा कि रसेल ने किस प्रकार जटिल प्रतिज्ञप्ति को सरल प्रतिज्ञप्तियों के रूप में घटित किया। यही सरल प्रतिज्ञप्तियाँ परमाणविक तथ्यों को अभिव्यक्त करती हैं। यदि परमाणविक तथ्यों का अस्तित्व न हो तो सरल या प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता या असत्यता का निरूपण नहीं किया जा सकता। अतः परमाणविक तथ्यों का अस्तित्व अनिवार्य है।

---

1. "Scott is the author of Waverly".

प्रतिज्ञप्ति (Proposition)

हम जानते हैं कि हम किसी ऐसी प्रतिज्ञप्ति को भी समझ सकते हैं जो बिलकुल असत्य है अथवा जिसकी सत्यता या असत्यता के विषय में हमें कोई निश्चित ज्ञान नहीं है। किसी प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता उसकी सत्यता या असत्यता से बिलकुल स्वतन्त्र होती है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

4.024. किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने का अर्थ उस तथ्य को जानना है जो उसे सत्यापित करता है।[1]

अर्थात् हम किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के ज्ञान के बिना भी उसे समझ सकते हैं। इस प्रकार किसी नाम के अर्थ एवम् प्रतिज्ञप्ति के अर्थ में महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है :

(1) किसी नाम का तब तक कोई अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि संसार में उसकी संगति में कोई वस्तु न पाई जाती हो क्योंकि नाम का अर्थ वह वस्तु है जिसकी ओर वह संकेत करता है। इसके विपरीत कोई प्रतिज्ञप्ति तब भी अर्थवान हो सकती है जबकि उसकी संगति में संसार में किसी तथ्य का अस्तित्व न हो अर्थात् तब भी जब कि वह असत्य हो।

(2) नाम एक सरल वस्तु है; अतः इसकी केवल **निर्देशात्मक परिभाषा** (Ostensive Definition) ही दी जा सकती है। इसके विपरीत प्रतिज्ञप्ति एक जटिल वस्तु है; अतः इसके संघटक तत्त्वों की कोटियों में इसका विश्लेषण एवम् वर्णन किया जा सकता है।

(3) विटगेन्स्टाइन ने किसी नाम के अर्थ एवम् प्रतिज्ञप्ति के अर्थ में एक तीसरा अन्तर भी दर्शाया है जिसके अनुसार नाम में **निर्देश** (Bedeuting-Reference) तथा प्रतिज्ञप्ति में **तात्पर्य** (Sinn-Sense) पाया जाता है। विटगेन्स्टाइन के पहले जर्मन दार्शनिक फ्रेगे (Frege) ने भी निर्देश (Reference) एवं तात्पर्य (Sense) शब्दों का प्रयोग किया था किन्तु दोनों के प्रयोग में अन्तर यह है कि फ्रेगे के अनुसार नाम और प्रतिज्ञप्ति दोनों में निर्देश एवम् तात्पर्य पाए जाते हैं किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार नाम में केवल निर्देश तथा प्रतिज्ञप्ति में केवल तात्पर्य पाया जाता है।

3.3. केवल प्रतिज्ञप्तियों में ही तात्पर्य पाए जाते हैं; केवल किसी प्रतिज्ञप्ति के सन्दर्भ में ही नाम में अर्थ पाया जाता है।[2]

अतः कोई प्रतिज्ञप्ति किसी परिस्थिति (Situation) की ओर निर्देश नहीं करती जैसा फ्रेगे ने सोचा था; वह परिस्थिति का मात्र वर्णन करती है।

प्रतिज्ञप्ति का तात्पर्य
(The Sense of a Proposition)

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी प्रतिज्ञप्ति के तात्पर्य का क्या अर्थ है। विटगेन्स्टाइन की एक प्रसिद्ध उक्ति है : "यह कहने की अपेक्षा कि किसी प्रतिज्ञप्ति में

---

1. To understand a proposition means to know what is the case if it is true.
2. Only propositions have sense; only in the nexus of a proposition does a name have meaning.

अमुक-अमुक तात्पर्य पाया जाता है, हम केवल यह कह सकते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति अमुक-अमुक परिस्थिति का प्रतिनिधित्व करती है।" बात यह है कि रसेल की तरह विटगेन्स्टाइन नहीं चाहते थे कि संसार में प्रतिज्ञप्ति जैसी अनावश्यक मानसिक इकाइयों की वृद्धि हो। इसी कारण उन्होंने कह दिया कि किसी प्रतिज्ञप्ति के तात्पर्य से हमारा आशय उस परिस्थिति से है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है।

2.221. जिसका कोई चित्र प्रतिनिधित्व करता है वह उसका तात्पर्य है।[1]

यहाँ विटगेन्स्टाइन ने किसी प्रतिज्ञप्ति को एक तार्किक चित्र (Logical Picture) के रूप में ग्रहण किया है जो उसके तात्पर्य का प्रतिनिधित्व करता है। अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि यदि किसी प्रतिज्ञप्ति का तात्पर्य वह परिस्थिति है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है तो हमारे सामने दो विकल्प उपस्थित होते हैं :

(1) असत्य प्रतिज्ञप्तियों का कोई तात्पर्य नहीं है। अथवा

(2) कोई ऐसी अनस्तित्ववान परिस्थिति होनी चाहिए जिसका कोई प्रतिज्ञप्ति प्रतिनिधित्व करती है।

प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि हम सभी असत्य प्रतिज्ञप्ति के तात्पर्य को भलीभाँति समझते हैं। अतः द्वितीय विकल्प स्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। विटगेन्स्टाइन ने भी द्वितीय विकल्प को ही स्वीकार किया। उन्होंने **परिस्थिति** (Sachlage-Situation) एवम् **वस्तु-स्थिति** (Sachverhalt-State of affairs) शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया कि परिस्थितियाँ एवं वस्तु-स्थितियाँ वास्तविक हो सकती हैं अथवा अवास्तविक। उन्होंने वास्तविक वस्तु-स्थितियों को भावात्मक तथ्य के नाम से अभिहित किया तथा अवास्तविक वस्तु-स्थितियों को निषेधात्मक तथ्य के नाम से व्यक्त किया।

वस्तु-स्थितियाँ (States of affairs)

वस्तु-स्थितियाँ सदा परमाणविक तथ्य ही होती हैं जिनकी अभिव्यक्ति प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों (Elementary Propositions) द्वारा की जाती है। विटगेन्स्टाइन ने स्वयं कहा है :

4.21. सरलतम प्रतिज्ञप्ति अर्थात् प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थितियों के अस्तित्व का आग्रह करती हैं।[2]

जिस प्रकार किसी प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति का सरलतर मूल प्रतिज्ञप्तियों द्वारा विश्लेषण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार किसी वस्तु-स्थिति का भी सरलतर वस्तु-स्थितियों द्वारा विश्लेषण नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ एवम् वस्तु-स्थितियाँ दोनों अविश्लेष्य होती हैं। इसी सन्दर्भ में एक बात और स्पष्ट हो जाती है। जिस प्रकार कोई प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति केवल नामों का समुच्चय होती है, उसी प्रकार वस्तु-स्थिति भी **केवल वस्तुओं** (Objects) का ही

---

1. What a picture represents, is its sense.
2. The simplest kind of proposition, an elementary proposition asserts the existence of a state of affaris.

समुच्चय होती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार परिस्थिति दो प्रकार की हो सकती है; प्रथम परमाणविक (Atomic) एवम् द्वितीय आणविक (Molecular)। परमाणविक परिस्थिति को ही उन्होंने वस्तु-स्थिति (State of affair) के नाम से अभिहित किया है।

प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति (Elementary Proposition)

प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जिसका सरलतर मूल प्रतिज्ञप्तियों द्वारा विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसके संघटक तत्त्व होते हैं पर वे प्रतिज्ञप्तियों के रूप में नहीं होते। विटगेन्स्टाइन ने प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :

4.22. प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति नामों का एक समुच्चय है। यह नामों की एक श्रेणी या शृंखला है।[1]

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि विटगेन्स्टाइन ने यहाँ नाम शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में न कर एक पारिभाषिक अर्थ में ही किया है। नाम वह शब्द है जिसे परिभाषित नहीं किया जा सकता।

3.26. किसी नाम का परिभाषा द्वारा आगे विभाजन नहीं किया जा सकता; यह एक मूल प्रतीक है।[2]

अब प्रश्न यह है कि नाम से हमारा तात्पर्य क्या है; रसेल ने चार प्रकार के नामों का वर्णन किया है। तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ (Logically Proper Names), साधारण व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ (Ordinary Proper Names), वर्णनात्मक पद-समूह (Descriptive Phrases) एवं संक्षिप्त वर्णन (Abbreviated Descriptions)। वर्णनात्मक पद-समूह एवम् संक्षिप्त वर्णन वर्णनात्मक होने के कारण उनके नाम होने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। प्लेटो, सॉक्रेटीज इत्यादि व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ निर्देशात्मक होने के साथ वर्णनात्मक भी होती हैं। अतः वे भी विशुद्ध नाम नहीं हैं। विशुद्ध नाम वही हो सकता है जिसका कार्य मात्र निर्देश करना हो, वर्णन करना नहीं। ऐसी स्थिति में केवल तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ जैसे 'यह', 'वह' इत्यादि ही जो किसी प्रत्यक्ष की ओर मात्र निर्देश करती हैं, **वास्तविक नाम** की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। इनकी शाब्दिक रूप में परिभाषा तो नहीं दी जा सकती है, निर्देशात्मक (Ostensive) रूप में इन्हें अवश्य परिभाषित किया जा सकता है। नाम संसार की ऐसी वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं जो हमारे प्रत्यक्ष के साक्षात् विषय हैं।

सरल वस्तुएँ (Simple Objects)

नाम के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यह सदा किसी सरल वस्तु की ओर संकेत करता है, वह वस्तु जो अवयवों से रहित हो। यदि नाम किसी जटिल वस्तु की ओर संकेत करता है तो उसके अंगों अथवा अवयवों के माध्यम से उसे परिभाषित किया जा सकता था किन्तु ऐसी

---

1. An elementary propositon consists of names. It is a nexus or a concatenation of names.
2. A name cannot be dissected any further by means of a definition; it is a primitive sign.

स्थिति में उसे नाम की संज्ञा नहीं दी जा सकती थी। विटगेन्स्टाइन के विशिष्ट अर्थ में नाम केवल वस्तु (Object) की ओर ही संकेत कर सकता है। उन्हीं के शब्दों में:

3.203. नाम का अर्थ वस्तु है।[1]

2.02. वस्तुएँ सरल हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन से प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का तात्पर्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की प्रतिरक्षा
(Defence of Elementary Propositions)

विटगेन्स्टाइन ने आनुभविक आधार पर प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का अनुसंधान नहीं किया; प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों में उसके विश्वास का आधार विशुद्ध प्रागनुभविक है। यद्यपि अनुभव में हम प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति के किसी दृष्टान्त का अवलोकन नहीं कर सकते पर प्रागनुभविक आधार पर उसका अस्तित्व अनिवार्य है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

4.221 (1) **यह स्पष्ट है कि प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण हमें प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों तक ले जायगा जो नामों के तात्कालिक समुच्चय से निर्मित होते हैं।**[3] **विटगेन्स्टाइन ने सार्थकता के आधार पर प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों एवम् नामों के अस्तित्व में विश्वास प्रगट किया। यह दो महत्त्वपूर्ण मान्यताओं के ऊपर आश्रित है :**

(1) किसी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ उसके संघटक प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ पर आश्रित होता है।

(2) किसी पद का अर्थ उस वस्तु पर आधारित होता है जिसकी ओर वह पद निर्देश करता है।

जब रसेल ने अपने वर्णन-सिद्धान्त में मूल प्रतिज्ञप्ति को तीन सरलतर प्रतिज्ञप्तियों में घटित किया, तो उसने सोचा कि वे तीन सरलतर प्रतिज्ञप्तियाँ मूल प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को निर्धारित करेंगी। इसी प्रकार मूल प्रतिज्ञप्ति के पदों का अर्थ सरलतर प्रतिज्ञप्तियों के पदों के अर्थ पर आधारित होगा। कल्पना किया कि अ एक मूल प्रतिज्ञप्ति है। विश्लेषण के बाद अ प्रतिज्ञप्ति का अर्थ सरलतर प्रतिज्ञप्तियों ब-समूह के ऊपर आश्रित है; ब-समूह वाली प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ स-समूह वाली सरलतर प्रतिज्ञप्तियों के ऊपर आश्रित है। यदि विश्लेषण की यह प्रक्रिया अनन्त तक जारी रखी जाय तो किसी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ निर्धारित ही नहीं किया जा सकता। अतः, वह चरम स्थिति जहाँ किसी सरल प्रतिज्ञप्ति का आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता **प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति है।**

अ प्रतिज्ञप्ति के पद सीधे किसी बाह्य वस्तु की ओर निर्देश न कर ब प्रतिज्ञप्ति के पदों के

---

1. A name means an object.
2. Objects are simple.
3. It is obvious that the analysis of propositions must bring us to elementary propositions which consist of names in immediate combination.

माध्यम से निर्देश करते हैं। इसी प्रकार ब प्रतिज्ञप्ति के पद स प्रतिज्ञप्ति के पदों के माध्यम से वस्तुओं की ओर निर्देश करते हैं। यदि यह प्रक्रिया अनन्त तक जारी रहती है तो किसी पद के अर्थ को निर्धारित किया ही नहीं जा सकता। अतः, वह चरम स्थिति जहाँ किसी पद का आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता, नाम कहा जायगा जो सीधे अपरोक्ष रूप में किसी बाह्य वस्तु की ओर निर्देश करेगा। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न हो तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति ऐसे पदों से निर्मित होगी जिनका कोई अर्थ ही न होगा। अतः, प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता के लिए संसार में ऐसी वस्तुओं का होना अत्यावश्यक है जो सरलतम पदों के अर्थ होते हैं। विटगेन्स्टाइन ने इन बाह्य वस्तुओं को **विषय (Object)** के नाम से अभिहित किया है।

3.203. नाम का अर्थ विषय है।[1]

यदि संसार में विषय-वस्तुओं का अस्तित्व न हो तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसे पदों से निर्मित होंगी जिनका कोई अर्थ न होगा और ऐसी स्थिति में वह प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति बिलकुल निरर्थक होगी। कोई भी सार्थक भाषा ऐसे अपरिभाष्य नामों अथवा पदों पर आधारित होनी चाहिए जो अपरोक्ष रूप में बाह्य विषयों की ओर निर्देश करते हों। **यहीं भाषा का बाह्य तत्त्व के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित होता है।**

विटगेन्स्टाइन ने सरल विषयों के अस्तित्व के लिए एक दूसरा तर्क भी प्रस्तुत किया है। उनका तर्क है :

2.0211. यदि संसार में द्रव्य का अस्तित्व न हो तो किसी प्रतिज्ञप्ति का कोई तात्पर्य होता है अथवा नहीं, किसी दूसरी प्रतिज्ञप्ति की यथार्थता अथवा अयथार्थता पर आश्रित होगा।[2]

2.0212. ऐसी स्थिति में संसार के चित्र (यथार्थ अथवा अयथार्थ) का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।[3]

अतः, विषयों का अस्तित्व अनिवार्य है। अर्थात् किसी प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे पदों से निर्मित होनी चाहिए जो अन्ततः विषयों की ओर निर्देश करते हों। अतः संसार में विषयों का अस्तित्व होना अनिवार्य है।

चित्र-सिद्धान्त
(Picture Theory)

4.024. किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने का अर्थ उस तथ्य को जानना है जो उसे सत्यापित करता है।[4]

अतः किसी प्रतिज्ञप्ति की यथार्थता अथवा अयथार्थता को जाने बिना भी हम उसके

1. A name means an object.
2. If the world had no substance then whether a proposition had sense would depend on whether another proposition was true.
3. It would then be impossible to form a picture of the world (true or false).
4. To understand a proposition means to know what is the case if it is true.

तात्पर्य को समझ सकते हैं। यहाँ तक कि हम उस प्रतिज्ञप्ति के तात्पर्य को भी समझ लेते हैं जिसकी संगति में किसी तथ्य की सम्भावना भी विद्यमान न हो। उदाहरण के लिए "भूतपूर्व प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई एक खूंखार शेर के साथ युद्ध कर रहे हैं।" इस प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने पर भी हम इसके तात्पर्य को भली भाँति समझ लेते हैं। यहाँ मुख्य बात यह है कि किसी नाम की सार्थकता एवम् किसी प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता में अन्तर होता है। कोई नाम तभी सार्थक माना जायगा जबकि उसकी संगति में संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व हो किन्तु कोई प्रतिज्ञप्ति तभी सार्थक हो सकती है जब कि उसकी संगति में कोई तथ्य विद्यमान न हो। दूसरे शब्दों में किसी नाम का एक स्वतन्त्र अर्थ होता है पर किसी प्रतिज्ञप्ति का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता बल्कि उसका अर्थ उसके भीतर प्रयुक्त घटक पदों के अर्थ पर आश्रित होता है। जर्मन दार्शनिक फ्रेगे (Frege) के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति का तात्पर्य (Sense) एवम् निर्देश (Reference) दोनों होता है किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार प्रतिज्ञप्ति का केवल तात्पर्य होता है, निर्देश (Reference) नहीं।

4.027. किसी प्रतिज्ञप्ति का सार-तत्त्व यह है कि इसके भीतर एक नवीन तात्पर्य के सम्प्रेषण की क्षमता होनी चाहिए।[1]

हम प्राचीन शब्दों के प्रयोग के द्वारा नई-नई प्रतिज्ञप्तियों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं और श्रोता उन प्रतिज्ञप्तियों के तात्पर्य को भलीभाँति समझ भी लेता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति उस परिस्थिति का चित्रण करती है जिसका वर्णन करने का वह दावा करती है। प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति परिस्थिति का चित्र होती है, इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि प्रतिज्ञप्ति को देखते ही हम उसके अर्थ को समझने में तत्काल सफल हो जाते हैं।

4.021. प्रतिज्ञप्ति तत्त्व का चित्र होती है क्योंकि जब मुझे प्रतिज्ञप्ति का ज्ञान होता है, मुझे उस परिस्थिति का भी ज्ञान हो जाता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है। और उस प्रतिज्ञप्ति के तात्पर्य की व्याख्या सुने बिना ही मैं उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता हूँ।[2]

4.022 (1) प्रतिज्ञप्ति अपने तात्पर्य को अभिव्यक्त करती है।[3]

(अ) तार्किक चित्र (Logical Picture)

साधारणतया किसी चित्र एवम् अवस्थिति के बीच सजातीय सम्बन्ध होता है किन्तु प्रतिज्ञप्ति एवम् उसकी अवस्थिति (Situation) के बीच सदा विजातीय सम्बन्ध पाया जाता है। जब विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि प्रतिज्ञप्ति, अवस्थिति का चित्र है, तो उनके कथन का यह तात्पर्य

---

1. It belongs to the essence of a proposition that it should be able to communicate a new sense to us.
2. A proposition is a picture of reality; for if I understand a proposition I know the situation that it represents; And I understand the proposition without having had its sense explained to me.
3. A proposition shows its sense.

नहीं है कि प्रतिज्ञप्ति अवस्थिति का भौतिक चित्र है। उनके अनुसार प्रतिज्ञप्ति अवस्थिति (Situation) का केवल तार्किक चित्र ही होता है।

4.03 (3) वास्तव में जो सम्बन्ध है वह यह है कि वह उसका तार्किक चित्र है।[1]

A, अवस्थिति B का तार्किक चित्र तभी हो सकता है जब निम्न तीन शर्तें पूरी होती हों :

(1) A के घटक-तत्त्वों एवम् B के घटक-तत्त्वों के बीच एकैक संगति (One-one correspondence) होनी चाहिए।

(2) A और B की संरचना (Structure), आकृति (Feature) अथवा स्वरूप (Form) में समरूपता होनी चाहिए।

(3) कुछ ऐसे प्रक्षेपण के नियम होने चाहिए जिनके द्वारा A एवम् B के घटक-तत्त्वों के बीच परस्पर-सम्बन्ध स्थापित किए जा सकें।

प्रक्षेपण का नियम ऐसा होना चाहिए कि यदि A दिया गया हो तो B की पुनर्रचना कर ली जाय तथा यदि B दिया गया हो तो उसके आधार पर A की पुनर्रचना कर ली जाय। प्रक्षेपण-नियम का एक सुन्दर उदाहरण स्वर-लिपि (Musical Score) एवम् स्वर-संगति (Symphony) के बीच सम्बन्ध है। गायक द्वारा ग्रामोफोन के ऊपर स्वर-लिपि के आधार पर स्वर-संगति का निर्माण किया जा सकता है। इसी प्रकार स्वर-संगति के आधार पर स्वर-लिपि का भी निर्माण किया जा सकता है। अतः विटगेन्स्टाइन के अनुसार स्वर-लिपि एवम् स्वर-संगति एक दूसरे के प्रक्षेपण हैं।

विटगेन्स्टाइन के मन में चित्र-सिद्धान्त का विचार हर्ट्स (Hertz) के गत्यात्मक प्रतिमान (Dynamical Models) के आधार पर भी उत्पन्न हुआ। उनके अनुसार :

4.01 (2) कोई प्रतिज्ञप्ति तथ्यों का एक प्रतिमान है।[2]

चूँकि प्रतिज्ञप्ति वाह्य स्थितियों का प्रतिमान है, इसी कारण वह तथ्यों को प्रक्षेपित करती है। पर यहाँ ध्यान देने की वात यह है कि यद्यपि विटगेन्स्टाइन के अनुसार प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति तथ्य का चित्रण करती है पर कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी हैं जो तथ्यों का समुचित चित्रण नहीं करतीं। जैसे :

(1) स्कॉट वैवर्ली का लेखक है।

(2) सभी मनुष्य मरणशील हैं।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त सभी प्रतिज्ञप्तियाँ तार्किक दृष्टि से असंगत हैं। वे तथ्यों का समुचित चित्रण नहीं करतीं। अतः हम कैसे कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति तथ्य का चित्रण करती है ? इस प्रश्न के उत्तर में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि केवल प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ ही तथ्यों का चित्रण करती हैं। अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ जहाँ तक वे प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन हैं केवल परोक्ष रूप में ही तथ्यों का चित्रण करती हैं। अब हम उपर्युक्त तीनों शर्तों के ऊपर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

---

1. And the connection is, in fact, that it is its logical picture.
2. A proposition is a model of reality......

(ब) एकैक संगति (One-one Correspondence)

जब हम यह कहते हैं कि प्रतिज्ञप्ति के घटक-तत्त्वों एवम् तथ्य के घटक तत्त्वों के बीच एकैक संगति होनी चाहिए तो इसका क्या तात्पर्य है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार प्रतिज्ञप्ति के घटक-तत्त्वों की संख्या ठीक उतनी होनी चाहिए जितनी तथ्य के घटक-तत्त्वों की संख्या है। अर्थात् उनका तार्किक बाहुल्य (Logical Multiplicity) समान होना चाहिए।

4.04. किसी प्रतिज्ञप्ति में प्रभेदनीय अवयवों की संख्या ठीक उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि अवस्थिति में होती है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है।[1]

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति तो केवल नामों का समुच्चय होती है। नामों का मात्र समुच्चय किसी तथ्य का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है। अर्थात् चित्र में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो किसी अवस्थिति का प्रतिनिधित्व कराती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार वह वस्तु अवयवों की **संरचना** (Structure) या **स्वरूप** (Form) है जिसपर हम अब विचार करेंगे।

(स) संरचना या स्वरूप (Structure or Form)

किसी प्रतिज्ञप्ति या तथ्य के अवयवों के बीच जो संरचना है वह उन्हें परस्पर संयुक्त कर प्रतिज्ञप्ति या तथ्य का रूप प्रदान करती है। चित्र का अर्थ केवल विभिन्न अवयवों के प्रतिनिधित्व से ही नहीं है वरन् उन अवयवों के विन्यास, संरचना अथवा स्वरूप से भी है। इसी कारण वे चित्र को एक तथ्य के नाम से अभिहित करते हैं। चूँकि चित्र के अवयवों एवम् तथ्य के अवयवों के बीच एकैक संगति होती है, इसी कारण प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के बीच भी संगति पाई जाती है।

2.15 (1) यह तथ्य कि किसी चित्र के विभिन्न अवयव एक सविशेष रूप में परस्पर सम्बद्ध होते हैं, प्रदर्शित करता है कि वस्तुएँ भी उसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं।[2]

चित्र भी एक तथ्य ही है। तथ्य होने के कारण ही वह बाह्य अवस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। चित्र के विभिन्न अवयव बाह्य वस्तुओं का भले ही प्रतिनिधित्व करते हों ; किन्तु तथ्य के रूप में सम्पूर्ण चित्र बाह्य वस्तुओं के विन्यास, संरचना या स्वरूप का ही प्रतिनिधित्व करता है। जगत की अ-संरचनात्मक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व तो बाह्य वस्तुएँ करती हैं किन्तु उसकी संरचनात्मक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व सम्पूर्ण चित्र करता है। जो बात चित्र और उसके अवयवों पर लागू होती है वही बात **वाक्यात्मक संकेत** (Propositional Sign) और उसके

---

1. In a proposition there must be exactly as many distinguishable parts as in the situation it represents.
2. The fact that the elements of a picture are related to one another in a determinate way represents that things are related to one another in the same way.

अवयवों पर भी लागू होती है। वाक्यात्मक-संकेत के अवयव बाह्य विषयों का प्रतिनिधित्व करते हैं पर सम्पूर्ण वाक्यात्मक संकेत विषयों की संरचना, विन्यास या स्वरूप को व्यक्त करते हैं।

3.14. जहाँ तक वाक्यात्मक संकेत की संरचना की बात है, इसके अवयव एक संविशेष रूप में परस्पर सम्बद्ध होते हैं। वाक्यात्मक संकेत एक तथ्य है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि शब्दों के समूह के रूप में कोई वाक्य किसी अवस्थिति का चित्रण नहीं करता; वह एक तथ्य के रूप में ही किसी अवस्थिति का चित्रण करता है।

अब हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह है कि वाक्यात्मक संकेत किसी वस्तु का चित्रण करता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार जिस प्रकार कोई चित्र तथ्य अथवा वस्तुओं के विन्यास को व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाक्यात्मक संकेत तथ्य अथवा वस्तुओं के विन्यास को व्यक्त करता है।

3.21. किसी अवस्थिति के विषयों की आकृति एवम् वाक्यात्मक संकेत के सरल संकेतों की आकृति के बीच परस्पर संगति पाई जाती है।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वाक्यात्मक संकेत एक तथ्य तथा विषयों के विन्यास को अभिव्यक्त करता है।

(द) प्रक्षेपण-नियम (Rule of Projection)

जिस प्रकार कोई चित्र किसी तथ्य का चित्रण तभी कर सकता है जब कि उस चित्र के अवयवों की बाह्य विषयों के साथ संगति स्थापित कर दी जाय, उसी प्रकार कोई वाक्यात्मक संकेत किसी तथ्य का चित्रण तभी कर सकता है जब कि उसके अवयवों एवम् बाह्य तथ्य के अवयवों के बीच संगति स्थापित कर दी जाय। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

2.1514. किसी चित्र के अवयवों एवम् वस्तुओं के बीच सह-सम्बन्ध होना ही चित्रात्मक सम्बन्ध है।[2]

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी चित्र के बाह्य वस्तुओं के साथ सह-सम्बन्ध का क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

2.1515. वे सह-सम्बन्ध मानो चित्र के अवयवों के स्पर्शक हैं जिनके माध्यम से चित्र तत्त्व का स्पर्श करता है।[3]

विटगेन्स्टाइन के अनुसार सह-सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य प्रतिज्ञप्ति का वक्ता, लेखक या विचारक करता है। किसी नाम और बाह्य वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करना एक

---

1. The configuration of objects in a situtation corresponds to the configuration of simple signs in the propositional sign.
2. The pictorial relationship consists of the correlations of the picture's elements with the things.
3. These correlations are, as it were, the feelers of the picture's elements with which the picture touches reality.

मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम समझते हैं कि नाम किसी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधित्व कर रहा है। विटगेन्स्टाइन ने इस प्रक्रिया को "**अभिप्रायमूलक प्रक्रिया**" (Act of Intending) अथवा "**तात्पर्यमूलक चिन्तन** (Thinking out its sense) के नाम से अभिहित किया है। इसी को "**प्रक्षेपण का नियम**" (Rule of Projection) भी कहा जाता है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

3.11. हम किसी प्रतिज्ञप्ति (मौखिक या लिखित) के गोचर संकेत का प्रयोग किसी सम्भाव्य अवस्थिति के प्रक्षेपण के रूप में करते हैं।[1]

प्रक्षेपण-नियम की आगे व्याख्या करते हुए विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि

4.0141. प्रक्षेपण नियम वह नियम है जो स्वर-लिपि की भाषा को स्वर-संगति में प्रक्षेपित करता है।[2]

अब यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि तथ्य का चित्रण वाक्यात्मक संकेत करता है अथवा प्रतिज्ञप्ति। विटगेन्स्टाइन के अनुसार जिस प्रकार केवल रोशनाई के गिर जाने से किसी चित्र का निर्माण नहीं हो जाता, उसी प्रकार केवल वाक्यात्मक संकेत चित्र का रूप धारण नहीं कर लेता। कोई भी वाक्यात्मक संकेत चित्र तभी कहा जायगा जब वह एक निश्चित प्रातिनिधिक चित्र होगा और उसके निश्चित साभिप्राय प्रातिनिधिक होने के लिए उसके अवयवों का वाह्य विषयों के साथ सह-सम्बन्ध (Correlation) अवश्य होना चाहिए। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने कहा कि वाक्यात्मक संकेत किसी तथ्य का चित्रण न होकर केवल प्रतिज्ञप्ति ही तथ्य का चित्रण होती है।

3.12. प्रतिज्ञप्ति एक वाक्यात्मक संकेत है जिसका जगत के साथ प्रक्षेपीय सम्बन्ध पाया जाता है।[3]

(य) प्रतिज्ञप्ति कोई अतिरिक्त इकाई नहीं है।

विटगेन्स्टाइन ने यद्यपि ट्रैक्टेटस में प्रतिज्ञप्ति (Proposition) का उल्लेख किया है पर इससे उनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्रतिज्ञप्ति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। अस्तित्व केवल वाक्यात्मक संकेत और अवस्थिति का ही होता है। जिस प्रकार नृत्य-क्रिया से पृथक् नृत्य की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार प्रतिज्ञापन से पृथक् प्रतिज्ञप्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

विषय (Objects)

विटगेन्स्टाइन के दर्शन में विषयों के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों के बीच पर्याप्त मतभेद है। **कॉपी** (copi) एवम् **एन्स्कॉम्ब** (Anscombe) के अनुसार केवल विशेष

1. We use the perceptible sign of a proposition (spoken or written) as a projection of a possible situation.
2. And the rule is the law of projection which projects the symphony into the language of the musical score.
3. A proposition is a propositional sign in its projective relation to the world.

(Particular) ही विषय की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसके विपरीत **स्टीनियस** (Stenius) के अनुसार विषयों की परिधि में विशेष, सामान्य एवम् सम्बन्ध सभी समाहित किए जा सकते हैं। **रसेल** (Russell) के लिए विषयों के भीतर विशेष एवम् सामान्य दोनों का समावेश होता है। पर विटगेन्स्टाइन के अनुसार केवल विशेष ही विषय हो सकते हैं। वे गुण, सामान्य व सम्बन्धों को विषयों के विन्यास अथवा आकृति (Configuration) के रूप में ही घटित करने का प्रयास करते हैं। इस बात की पुष्टि के लिए ट्रैक्टेटस से निम्न उद्धरण दिए जा सकते हैं :

4.0312 (1) संकेतों द्वारा विषयों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर ही प्रतिज्ञप्तियों की सम्भाव्यता विद्यमान होती है।[1]

3.22. किसी प्रतिज्ञप्ति में नाम विषयों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2]

किसी प्रतिज्ञप्ति में विषयों का प्रतिनिधित्व तो हो सकता है पर गुणों व सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। गुण दो प्रकार के हो सकते हैं : प्रथम आकारिक (Formal) या तार्किक एवं द्वितीय वस्तुगत या उपादानात्मक (Material) गुण। विटगेन्स्टाइन के अनुसार दोनों ही गुण प्रतिज्ञप्ति द्वारा अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते। जहाँ तक आकारिक या तार्किक गुणों की बात है विटगेन्स्टाइन ने स्पष्ट कहा है :

4.0312 (2) मेरा मूलभूत विचार यह है कि तार्किक अचर किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते। तथ्यों के तर्कशास्त्र का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता।[3]

4.121 (1). प्रतिज्ञप्तियाँ तार्किक स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं; यह उनमें केवल प्रतिबिम्बित होता है।[4]

जो बात आकारिक गुणों पर लागू होती है वही बात वस्तुगत गुणों पर भी घटित होती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार वस्तुगत गुणों का भी प्रतिनिधित्व प्रतिज्ञप्तियों में नहीं पाया जाता :

2.0231. केवल प्रतिज्ञप्तियों के माध्यम से ही वस्तुगत गुणों का प्रतिनिधित्व होता है; विषयों की आकृति के द्वारा ही उनकी उत्पत्ति होती है।[5]

जो बात गुणों पर लागू होती है वही सम्बन्धों पर भी लागू होती है। सम्बन्ध भी वस्तुओं का रूप धारण नहीं कर सकते। विटगेन्स्टाइन ने एक स्थल पर लिखा है : "**प्रतीक** वे नहीं हैं जो **प्रतीत** होते हैं। "a R b" में R संज्ञा के रूप में प्रतीत होता है किन्तु वह संज्ञा नहीं है। "a R b" प्रतीक-समूह का अर्थ यह है कि "R" "a" और "b" के बीच पाया जाता है। अतः "a R

---

1. The possibility of propositions is based upon the principle of the representation of objects by signs.
2. In the proposition, the name represents the objects.
3. My fundamental thought is that the logical constants do not represent. That the logic of the facts cannot be represented.
4. Propositions cannot represent logical form ; it is mirrored in them.
5. It is only by means of propositions that material properties are represented. Only by the configuration of objects that they are produced.

b" में "R" कोई अपरिभाष्य तत्त्व नहीं है।"[1]

(अ) विषय स्वतः निर्गुण एवम् सरल है।

ऊपर हमने देखा कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार विषय सामान्य न होकर विशेष हैं। पुनः वे इसे सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि विषय निर्गुण एवम् सरल हैं। विषयों के **स्वरूप** (Form) पर विचार करने से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है :

2.0141. किन्हीं परमाणविक तथ्यों में घटित होने की सम्भाव्यता उस विषय का स्वरूप है।[2]

यदि a कोई विषय है जो अन्य विषयों b, c, d, e इत्यादि के साथ व्याकृत होकर रंगीन (Coloured) हो जाता है तो रंग उस विषय का स्वरूप कहा जायगा।

2.0251. देश, काल एवम् रंग (रंगीन होना) विषयों के स्वरूप हैं।[3]

2.0232. एक वाक्शैली के अनुसार विषय रंगहीन हैं।[4]

यहाँ हमारे समक्ष दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि ऊपर विटगेन्स्टाइन ने विषयों को रंगीन कहा है और पुनः वे उसे रंगहीन कहते हैं। दूसरी कठिनाई हमारे समक्ष तब उपस्थित होती है जब एक ओर विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि विषय सरल हैं तथा दूसरी ओर कहते हैं कि विषय गुणयुक्त हैं। किन्तु यदि विटगेन्स्टाइन की उक्तियों का उपयुक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जाय तो उपर्युक्त कठिनाइयों का आसानी से समाधान किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम दूसरी कठिनाई को लेंगे क्योंकि दूसरी कठिनाई दूर होने पर प्रथम कठिनाई स्वतः समाप्त हो जाती है।

यदि मान लिया जाय कि कोई विषय लाल है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह विषय सरल न होकर जटिल है क्योंकि उस विषय के भीतर हम दो अवयवों में भेद करते हैं प्रथम द्रव्य एवम् द्वितीय उसका गुण। ऐसी स्थिति में कोई विषय सरल कैसे हो सकता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है। यदि विषय a के भीतर p नामक गुण पाया जाता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि p गुण a का कोई आन्तरिक अनिवार्य गुण है; a के भीतर p गुण होने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि विषय a, अन्य विषयों जैसे b, c, d, e इत्यादि के साथ एक सविशेष रूप में व्याकृत है। अतः, ऐसी स्थिति में a के जटिल होने का कोई कारण नहीं है। वास्तव में a की सरलता एवम् उसकी गुणवत्ता में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त उत्तर इस समस्या का भी समाधान प्रस्तुत कर देता है कि विषय रंगहीन हैं। विटगेन्स्टाइन के कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि विषय स्वयं रंगहीन है पर ज्यों ही वह

---

1. Notes on Logic, Symbols are not what they seem to be. In "a R b" R looks like a substantive but it is not one. What symbolises in "a R b" is that "R"occurs between "a" and "b". Hence "R" is not the indefinable in "a R b".
2. The possibility of its occurrence in atomic facts is the form of the object.
3. Space, time and colour (being coloured) are forms of objects.
4. In a manner of speaking objects are colourless.

अन्य विषयों के साथ व्याकृत हो जाता है वह रंगीन हो जाता है। साधारणतया जब हम किसी विषय को रंगहीन कहते हैं तो उसका यह अर्थ होता है कि वर्तमान में वह रंगहीन है पर वह कभी भी रंगीन हो सकता है। विटगेन्स्टाइन के कथन का वास्तविक तात्पर्य यह है कि आकृति या विन्यास से पृथक् किसी विषय के रंगीन होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विस्तृत व्याख्या

दार्शनिकों ने "सम्बन्ध" (Relation) को गुणों (Property) के रूप में घटित करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए—

"सॉक्रेटीज प्लेटो से लम्बा है"

"सॉक्रेटीज प्लेटो के गुरु हैं"

अर्थात् सॉक्रेटीज के भीतर प्लेटो से लम्बे और उनके गुरु होने की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को सम्बन्धात्मक विशेषताएँ (Relational Properties) कही जाती हैं। किन्तु विटगेन्स्टाइन का इससे भिन्न मत है। वे विशेषताओं को सम्बन्धों के रूप में घटित करने का विचार करते हैं। अर्थात् किसी विषय के गुणवान होने का अर्थ है : **अन्य विषयों के साथ व्याकृत होना**। इसके वास्तविक अर्थ को समझने के लिए निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक है।

किसी विषय के गुणों को हम निम्न दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : अनिवार्य अथवा आगन्तुक, आन्तरिक अथवा बाह्य, आकारिक अथवा वस्तुगत। किसी विषय का आकार उसके आन्तरिक अथवा अनिवार्य गुणों को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी विषय का आकार रंग है तो वह उसका आन्तरिक अथवा अनिवार्य गुण होगा किन्तु उसका लाल या हरा होना आगन्तुक बाह्य या वस्तुगत गुण कहा जायगा। विटगेन्स्टाइन ने इसे निम्न प्रकार से व्यक्त करने की चेष्टा की है :

2.0131 (2) **दृष्टि-क्षेत्र के एक बिन्दु का लाल होना अनिवार्य नहीं है किन्तु उसका कोई रंग अवश्य होगा, अर्थात् वह रंग-क्षेत्र द्वारा आवृत होगा; इसी प्रकार तान (Tone) का कोई स्वरमान (Pitch) अवश्य होगा; स्पर्श-इन्द्रिय के विषय के भीतर कठोरता की कुछ मात्रा का होना अनिवार्य है।**

विटगेन्स्टाइन के अनुसार विषयों में आकारिक गुण तो स्वतः पाए जाते हैं किन्तु वस्तुगत गुण अन्य विषयों के साथ विन्यस्त होने पर ही पाए जाते हैं।

कल्पना किया कि a एक ऐसा विषय है जिसका आकार रंग है तो इसका एक सीमित परास (Range) होगा जिसके भीतर इसका अस्तित्व हो सकता है। अर्थात् इस सीमित परास के भीतर a लाल, नीला, सफेद या काला कुछ भी हो सकता है। उस विषय के इसी सीमित परास में उपस्थित होने की सम्भावना ही a के आकार को निर्धारित करती है। किन्तु जब वास्तव में a किसी सविशेष परमाणविक तथ्य में निवास करता है तो वह उसके वस्तुगत गुणों को निर्धारित करता है।

किसी विषय के भीतर आन्तरिक गुण होने का तात्पर्य उस विषय के अन्य विषयों के साथ

विन्यस्त होने की सम्भावना है तथा किसी विषय के भीतर बाह्य गुण होने का तात्पर्य अन्य विषयों के साथ विन्यस्त होने की वास्तविकता है, अतः इससे स्पष्ट है कि किसी विषय की कल्पना अन्य विषयों के सन्दर्भ में अथवा किसी परमाणविक तथ्य के परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। किसी तथ्य से पृथक् किसी विषय की कल्पना नहीं की जा सकती।

2.0121 (4) जिस प्रकार हम किसी दैशिक विषय की कल्पना देश से पृथक् अथवा कालिक विषय की कल्पना काल से पृथक् नहीं कर सकते उसी प्रकार ऐसा कोई विषय नहीं है जिसकी कल्पना अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध की सम्भाव्यता से पृथक् की जा सके।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि किसी विषय को जानने का अर्थ है उसके आन्तरिक गुणों को जानना। विटगेन्स्टाइन ने इस सत्य को निम्न प्रकार व्यक्त करने की चेष्टा की है :

2.01231. यदि मुझे किसी विषय को जानना है, मैं उसके बाह्य गुणों से भले ही अनभिज्ञ रहूँ, मुझे उसके आन्तरिक गुणों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।[2]

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कोई विषय केवल अपने आन्तरिक गुणों के आधार पर ही स्थित रह सकता है अथवा उसके भीतर बाह्य गुणों का होना भी अनिवार्य है ? विटगेन्स्टाइन के अनुसार किसी विषय के भीतर वास्तविक गुणों का होना उतना ही अनिवार्य है जितना सम्भाव्य गुणों का होना आवश्यक है।

2.0131 (1) किसी दैशिक विषय को अनन्त देश में स्थित अवश्य होना चाहिए।[3]

यदि संसार में किसी विषय का अस्तित्व है तो उसके भीतर कुछ वास्तविक गुणों का होना अनिवार्य है। पर यहाँ जो तार्किक प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि यद्यपि कोई विषय अन्य विषयों के साथ विन्यस्त हो सकता है किन्तु यदि वास्तव में वह किसी अन्य विषय से विन्यस्त नहीं है तो उसकी स्थिति क्या होगी ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि यदि संसार में ऐसा कोई विषय a है जो संसार के किसी अन्य विषय के साथ विन्यस्त नहीं है तो ऐसी स्थिति में उस विशिष्ट विषय का पृथक् विषय के रूप में पहचानना असम्भव हो जायगा। उसके विषय में यदि किसी तथ्य का कथन किया जा सकता है तो वह निषेधात्मक कथन ही होगा जैसे ~ (a R b), ~ (a S c) इत्यादि। किन्तु यदि संसार में विषयों की संख्या अनन्त है तो इस प्रकार निषेधात्मक रूप में किसी विषय की एकात्मता निश्चित करना असम्भव हो जायगा। इसका कारण यह है कि संसार में ऐसे बहुत से विषय हैं जो b के साथ R सम्बन्ध एवम् c के साथ S सम्बन्ध नहीं रखते। हमारा यह कथन कि "संसार में एक ऐसा विषय है जो किसी वास्तविक वस्तु-स्थिति का अंग

---

1. Just as we are quite unable to imagine spatial objects outside space or temporal objects, outside time, so too there is no object that we can imagine excluded from the possibility of combining with others.
2. If I am to know an object though I need not know its external properties I must know all its internal properties.
3. A spatial object must be situated in infinite space.

नहीं है" बिलकुल निरर्थक है क्योंकि उपर्युक्त कथन किस विषय से सम्बन्धित है इसका निर्णय करना असम्भव है। किन्तु यदि कोई ऐसा कथन है जिसका सार्थक रूप में कथन ही नहीं किया जा सकता, कोई कथन नहीं है।

यदि उपर्युक्त तर्क ठीक है तो प्रत्येक विषय को किसी न किसी तथ्य का अंग अवश्य होना चाहिए। दो विषय जिनके आकार (Form) एक ही हैं; वे परस्पर अभेद्य (Indistinguishable) होंगी। चूँकि विषय सरल (Simple) तत्त्व हैं अत: आन्तरिक भेदों के द्वारा भी उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। विटगेन्स्टाइन ने इसे निम्न प्रकार व्यक्त किया है :

2.0233. यदि दो विषयों के समान तार्किक आकार हैं, उनके बाह्य गुणों से पृथक् उनके बीच यही भेद हो सकता है कि वे परस्पर भिन्न हैं।[1]

(ब) विषय शाश्वत हैं।

हम देख चुके हैं कि सभी विषय सरल तथा विशिष्ट द्रव्य हैं जो विभिन्न आकृतियों में विन्यस्त होकर तथ्यों का निर्माण करते हैं। सरल होने के कारण विषय शाश्वत हैं। जब विषयों के विन्यास में परिवर्तन होता है तो कुछ तथ्य अदृश्य हो जाते हैं और उनके स्थान पर नवीन तथ्य उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु यह परिवर्तन केवल विन्यासों में ही होता है, विषयों में नहीं। विषय न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। उत्पन्न होना और नष्ट होना केवल तथ्यों के ही गुण हैं।

2.0271. विषय अपरिवर्तनीय एवम् सत्त्ववान हैं; उनकी आकृति ही परिवर्तनशील एवम् अस्थिर है।[2]

विषय अमर (Immutable) हैं क्योंकि वे सरल हैं और उनका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। अर्थ-विज्ञान (Semantics) की दृष्टि से भी विषयों को शाश्वत व अमर होना चाहिए। विटगेन्स्टाइन ने विषयों की अमरता का इस प्रकार वर्णन किया है।

"भाषा में नाम जिन विषयों की ओर संकेत करते हैं उन्हें अनश्वर होना चाहिए; क्योंकि उन वस्तु-स्थितियों का वर्णन करना सम्भाव्य होना चाहिए जिनमें प्रत्येक नश्वर वस्तु का विनाश हो जाता है। ऐसे वर्णन में शब्दों का प्रयोग होगा और वे शब्द जिनकी और संकेत करेंगे उनका विनाश नहीं किया जा सकता अन्यथा उन शब्दों की कोई सार्थकता ही नहीं होगी। हमें उस डाली पर आरा नहीं चलाना चाहिए जिस पर हम बैठे हुए हैं।"[3]

(स) विषय गोचर हैं।

शब्दों एवम् प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता और विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता

---

1. If two objects have the same logical form, the only distinction between them, apart from their external properties, is that they are different.
2. Objects are what are unalterable and subsistent; their configuration is what is changing and unstable.
3. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स, सेक्शन 55.

है कि संसार में विषयों का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। पर वे विषय गोचर हैं अथवा अगोचर। विटगेन्स्टाइन के लिए दार्शनिक दृष्टिकोण से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वे बिलकुल आनुभविक प्रश्न हैं जिनका अनुभव द्वारा आसानी से समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

विटगेन्स्टाइन का चित्र-सिद्धान्त हमें इस बात को मानने के लिए विवश कर देता है कि विषय एवम् वस्तु-स्थितियाँ गोचर होनी चाहिए। हम किसी अगोचर वस्तु के चित्र की कल्पना नहीं कर सकते।

2.223. किसी चित्र की यथार्थता अथवा अयथार्थता का कथन करने के लिए हमें उस चित्र की बाह्य तत्त्व के साथ तुलना करनी चाहिए।[1]

विटगेन्स्टाइन के दर्शन में तत्त्व वह है जिसका अनुभव द्वारा सत्यापन हो सके। उनके अनुसार प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति तत्त्व का चित्र होती है तथा चित्र का तत्त्व के साथ तुलना की जा सके, इसके लिए तत्त्व का गोचर होना नितान्त आवश्यक है।

पर उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट नहीं होता कि विषय गोचर हैं। यदि वस्तु-स्थिति (State of affair) गोचर है तो इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि विषय भी दृष्टिगोचर हैं। विषयों के विन्यास गोचर हो सकते हैं किन्तु विषय स्वयं किस प्रकार गोचर हो सकते हैं ? भौतिक वस्तुएँ दृश्यमान हैं किन्तु उनके परमाणु अदृश्यमान होते हैं। अतः यहाँ हमारे समक्ष दो स्थितियाँ विद्यमान हैं :

(i) विषय गोचर हैं।

(ii) विषय गोचर नहीं हैं।

(i) विषय गोचर हैं—प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार विषय गोचर होने चाहिए क्योंकि विटगेन्स्टाइन के अनुसार :

3.203. नाम का अर्थ विषय है। विषय ही उसकी सार्थकता है।[2]

किसी नाम की सार्थकता के लिए विषय का ज्ञेय होना आवश्यक है और वह ज्ञेय तभी हो सकता है जब कि वह गोचर हो। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि विषय गोचर हैं।

5.5561 (1). आनुभविक सत्ता विषयों की समग्रता द्वारा सीमित है। यह सीमा प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की समग्रता द्वारा भी अभिव्यक्त होती है।[3]

आनुभविक जगत विषयों के समुच्चय द्वारा सीमित है। इससे स्पष्ट है कि विषय दृश्यमान हैं।

---

1. In order to tell whether a picture is true or false, we must compare it with reality.
2. The name means the object. The object is its meaning.
3. Empirical reality is limited by the totality of objects. The limit also makes itself manifest in the totality of elementary propositions.

पर हमारे समक्ष जो कठिनाई उत्पन्न होती है वह यह है कि जो बिलकुल सरल और विशेष है वह दृश्यमान कैसे हो सकता है ? वही वस्तु दृश्यमान हो सकती है जो किसी न किसी रूप में स्थूल व जटिल हो जो विषय नहीं है। विषय की सरलता एवम् विशिष्टता उसे दृश्यमान होने से रोकती है। सरलता एवम् शाश्वतता का दृष्टिगोचरता के साथ सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता।

(ii) विषय गोचर नहीं हैं—द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु-स्थितियाँ भले ही गोचर हों किन्तु विषय गोचर नहीं होते। यदि जटिल वस्तु-स्थितियों के भीतर विशेषताएँ पाई जाती हैं तो इसका अर्थ यह है कि सरल विषयों के भीतर विशेषताओं का सर्वथा अभाव पाया जाता है। सूत्र 5.556 (1) भी यह नहीं कहता कि विषय गोचर होते हैं, वह सूत्र केवल इतना ही कहता है कि विषयों का समुच्चय गोचर होता है, विषय नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विषय गोचर नहीं हैं।

विषयों को गोचर मानने पर हमारे समक्ष कई दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विषयों की गोचरता से उनकी सरलता व अमरता में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। विषयों की गोचरता का दूसरा निहितार्थ यह है कि उनके भीतर गुण पाए जाते हैं। पर हम पहले ही देख चुके हैं कि सविशेषता विषयों के समुच्चय का ही गुण है, विषय का नहीं। विषय स्वयं में निर्गुण ही होता है, अतः विटगेन्स्टाइन का विषय गुणों के अभाव में अगोचर ही होगा।

पर विषयों को अगोचर मानने पर भी हमारे समक्ष कुछ कठिनाइयाँ आ जाती हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार नाम की सार्थकता विषय द्वारा निर्धारित होती है। कोई नाम तभी सार्थक हो सकता है जब कि उसका व्याप्त्यर्थ ज्ञेय हो। पर अगोचर विषय किस प्रकार ज्ञेय हो सकता है ?

दर्शन-शास्त्र का कार्य

(Function of Philosophy)

हम जानते हैं कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं :

(i) दिरुक्ति (Tautological)

(ii) व्याघातक (Contradictory)

(iii) वर्णनात्मक (Descriptive)

इनमें प्रथम दो प्रतिज्ञप्तियाँ किसी तथ्य का कथन नहीं करतीं ; केवल वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्ति ही तथ्यों का कथन करती हैं। वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ अर्थात् प्राकृतिक विज्ञानों की प्रतिज्ञप्तियाँ ही तथ्यों के वर्णन का आग्रह करती हैं।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दर्शन-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ किस श्रेणी में रखी जा सकती हैं। द्विरुक्तियाँ एवं व्याघातक प्रतिज्ञप्तियाँ किसी भी तथ्य का कथन नहीं करतीं किन्तु दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियाँ तो किसी न किसी बात का कथन अवश्य करती हैं। अतः वे न तो द्विरुक्ति हैं और न व्याघातक। वे वर्णनात्मक भी नहीं हो सकतीं क्योंकि केवल प्राकृतिक विज्ञानों की प्रतिज्ञप्तियाँ ही वर्णनात्मक होती हैं।

4.111. दर्शन शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों में कोई एक विज्ञान नहीं है।[1]

(दर्शन-शास्त्र एक ऐसा शब्द है जिसका स्थान प्राकृतिक विज्ञानों से ऊपर अथवा नीचे होना चाहिए, उनके समकक्ष नहीं।)

दार्शनिक प्रतिज्ञप्ति का एक दृष्टान्त

2.15. किसी प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति की संरचना अथवा स्वरूप एवम् तत्सम्बन्धी वस्तु-स्थिति की संरचना अथवा स्वरूप के बीच समरूपता पाई जाती है।[2]

उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति न तो द्विरुक्ति है, न व्याघातक है और न वर्णनात्मक ही है पर फिर भी किसी न किसी वस्तु-स्थिति के अस्तित्व के प्रति आग्रह तो करती ही है। वास्तव में वह किसी वस्तु-स्थिति के अस्तित्व का केवल आग्रह ही नहीं करती वरन् वह सभी प्रतिज्ञप्तियों एवम् सभी वस्तु-स्थितियों के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन भी करती है। इतना होते हुए भी हम उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति को वर्णनात्मक नहीं मान सकते क्योंकि सभी वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता-फलन होती हैं जो उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति नहीं है। अतः इसे हम प्रतिज्ञप्ति की श्रेणी में रख ही नहीं सकते। इस प्रकार **उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति कथनीय** (Sayable) **नहीं है। इसका मात्र प्रदर्शन किया जा सकता है।**

4.121 प्रतिज्ञप्तियाँ तार्किक स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं : यह उनमें केवल प्रतिबिम्बित होता है।[3]

जो भाषा में प्रतिबिम्बित होता है, भाषा उसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, जो भाषा में अपने को अभिव्यक्त करता है, हम भाषा के माध्यम से उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य के तार्किक स्वरूप को केवल प्रदर्शित करती हैं।

4.1212. जिसका केवल प्रदर्शन किया जा सकता है उसका कथन नहीं किया जा सकता।[4]

यहाँ हम एक विरोधाभास की ओर अग्रसर होते हैं। एक ओर विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तियों एवं वस्तु-स्थिति के पारस्परिक सम्बन्ध का कथन नहीं किया जा सकता पर फिर भी वे उसका कथन करते हैं। ऐसी स्थिति में दार्शनिक कथनों की क्या भूमिका हो सकती है इस सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन की टिप्पणी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

6.54. मेरी प्रतिज्ञप्तियाँ निम्न रूप में केवल स्पष्टीकरण का कार्य करती हैं : कोई भी व्यक्ति जो मुझे समझता है उन प्रतिज्ञप्तियों का अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए सोपान के रूप में प्रयोग करने के बाद उन्हें निरर्थक रूप

---

1. Philosophy is not one of the natural sciences.
2. The structure or form of an elementary proposition is identical with the structure or form of its state of affairs.
3. Propositions cannot represent logical form; it is mirrored in them..
4. What can be shown cannot be said.

में स्वीकार करेगा—(अपने लक्ष्य तक पहुँचने के बाद उसे सीढ़ी का परित्याग कर देना चाहिए।) उसे इन प्रतिज्ञप्तियों से अतीत हो जाना चाहिए और इसके बाद ही वह जगत को उसके वास्तविक रूप में देख सकेगा।

प्रबोधक निरर्थकता
(Illuminating Non-Sense)

उपर्युक्त उद्धरण से विटगेन्स्टाइन का तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शन-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ बिलकुल निरर्थक हैं और न तो यही अर्थ है कि वे तत्त्व-विज्ञान की छद्म-प्रतिज्ञप्तियों की तरह आच्छादित करने वाले कथन हैं। विटगेन्स्टाइन ने दार्शनिक कथनों को **प्रबोधक निरर्थकता** के नाम से अभिहित किया है जिनका कथन नहीं किया जा सकता। जिन दार्शनिक कथनों के माध्यम से हमें सत्य का साक्षात्कार हुआ है, उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर अन्ततः उन सोपानों का परित्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में हम अध्यारोप-अपवाद न्याय द्वारा तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार विटगेन्स्टाइन के दर्शन में दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों के निराकरण द्वारा हम सत्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

रुडॉल्फ कार्नप (R. Carnap) ने विटगेन्स्टाइन के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है :

"वे कहते हैं कि दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का कथन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता उसके विषय में मौन ही रहना चाहिए; और पुनः मौन रहने की अपेक्षा वे एक पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ की रचना कर देते हैं।"[1]

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब कोई दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियाँ सम्भव नहीं हैं तो फिर दर्शन-शास्त्र के क्या कार्य हो सकते हैं ?

दर्शन-शास्त्र का उपयुक्त कार्य

क्या दार्शनिकों को अपनी दुकानें बन्द कर वैज्ञानिक, तर्कशास्त्री अथवा इतिहासकार हो जाना चाहिए। विटगेन्स्टाइन के अनुसार दो ऐसे लाभप्रद कार्य हैं जिनका दार्शनिक अनुशीलन कर सकता है, प्रथम निषेधात्मक या खण्डनात्मक एवम् द्वितीय भावात्मक या मण्डनात्मक।

(1) **निषेधात्मक या खण्डनात्मक कार्य**—दर्शन-शास्त्र का निषेधात्मक कार्य तत्त्वविज्ञान, नीति-विज्ञान या किसी अन्य नियामक विज्ञानों के वाक्यों का खण्डन करना है।

6.53. "दर्शन-शास्त्र की वास्तविक उपयुक्त विधि निम्न होगी : जिसका कथन किया जा सकता है उसके अतिरिक्त किसी अन्य का कथन न करना—अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ जिनका दर्शन-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है और पुनः यदि कोई व्यक्ति तत्त्वविज्ञान के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है उसके समक्ष प्रदर्शित करना कि उसने अपनी

---

1. कार्नप, आर, फिलॉसॉफी ऐण्ड लॉजिकल सिण्टैक्स (1935) पृ० 37.

प्रतिज्ञप्तियों में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उनके अर्थ को स्पष्ट करने में वह असफल रहा है। यद्यपि यह दूसरे व्यक्ति को सन्तोषप्रद न होगा—उसे यह अनुभूति न होगी कि हम उसे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं—यह विधि ही सच्चे अर्थ में उपयुक्त विधि होगी।"

पुनः विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि दार्शनिकों के अधिकांश कथन वास्तविक प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं होतीं, वे छद्म-प्रतिज्ञप्तियाँ ही होती हैं।

4.003. **दार्शनिक रचनाओं में पाए जाने वाले अधिकांश प्रश्न एवम् प्रतिज्ञप्तियाँ असत्य नहीं होतीं वरन् निरर्थक होती हैं। परिणामस्वरूप इस प्रकार के प्रश्नों का हम उत्तर नहीं दे सकते बल्कि यही स्थापित कर सकते हैं कि वे निरर्थक हैं। दार्शनिकों की अधिकांश प्रतिज्ञाएँ एवम् समस्याएँ भाषा के तर्कशास्त्र के ज्ञान की असफलता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि गम्भीरतम समस्याएँ भी वास्तव में समस्याएँ ही नहीं होतीं।**

अतः एक अच्छे दर्शन-शास्त्र का कार्य उन उलझनों और पहेलियों का निराकरण करना है जो निकृष्ट दर्शन के कारण उत्पन्न होती हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार उत्तम दर्शन का कार्य इस वात की स्थापना करना है कि तथाकथित दार्शनिक समस्याओं का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

(2) **भावात्मक या मण्डनात्मक कार्य**—यद्यपि सभी प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन हैं किन्तु उन प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का ज्ञान प्राप्त करना कठिन कार्य है जिनकी कोटि में सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ घटित की जा सकती हैं। यही कारण है कि हम वहुत-सी प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ समझ ही नहीं पाते। उदाहरण के लिए ऐसी प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ समझना कठिन होता है जिनमें लोकतंत्र, कला, संस्कृति 'वल' (Force) इत्यादि शव्द प्रयुक्त होते हैं क्योंकि इन्हें प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के माध्यम से व्यक्त करना असम्भव ही होता है। दार्शनिक यहाँ हमारी सहायता कर सकता है। इन प्रतिज्ञप्तियों का दार्शनिक विश्लेषण कर वह सिद्ध कर सकता है कि वे वास्तविक प्रतिज्ञप्तियाँ हैं अथवा नहीं।

4.112 (1). **विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण करना ही दर्शन शास्त्र का उद्देश्य है।**[1]

4.112 (3). **दार्शनिक कार्य अनिवार्यतः व्याख्या करने में निहित होता है।**[2]

दर्शन-शास्त्र के बिना हमारे विचार अस्पष्ट एवम् भ्रमित होते हैं। दर्शन-शास्त्र उन भ्रमित विचारों को स्पष्ट एवम् मर्यादित करता है।

(3) दर्शन-शास्त्र एक प्रक्रिया है।

दर्शन-शास्त्र न तो किसी अतीन्द्रिय सत्ता के क्षेत्र का अनुसन्धान करने का प्रयत्न करता है न नवीन सत्यों का उद्‌घाटन करता है और न ही नवीन तथ्यों की खोज करता है। नवीन सत्यों

---

1. Philosophy aims at the logical clarification of thought.
2. A philosophical work consists essentially of elucidations.

एवम् नवीन तथ्यों की खोज करना प्राकृतिक विज्ञानों का कार्य है। अत: भौतिक विज्ञान अथवा जीव विज्ञान की तरह दर्शन-शास्त्र यथार्थ प्रतिज्ञप्तियों का निकाय नहीं है। इसका प्रमुख कार्य वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं, सिद्धान्तों एवम् अन्य प्रतिज्ञप्तियों के स्वभाव को स्पष्ट करना है।

4.112 (2). दर्शन-शास्त्र मतों अथवा सिद्धान्तों का कोई निकाय नहीं है, वरन् एक प्रक्रिया है।[1]

यह प्रक्रिया प्रतिज्ञप्तियों के स्वभाव के स्पष्टीकरण की प्रक्रिया है।

4.112 (4). दर्शन-शास्त्र का पर्यवसान दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों के प्रतिपादन में नहीं, बल्कि उनके स्पष्टीकरण में होता है।[2]

उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं :

(i) ईश्वर का अस्तित्व है।

(ii) आत्मा का अस्तित्व है।

(iii) जड़-तत्त्व का अस्तित्व है।

उपर्युक्त तीनों कथनों से कोई निष्कर्ष निकाल सकता है कि संसार में तीन प्रकार की सत्ताएँ विद्यमान हैं :

ईश्वरीय सत्ता, आत्मीय सत्ता एवम् भौतिक सत्ता पर दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना तर्क-विरुद्ध है क्योंकि **अस्तित्व का प्रकार** (Types) **सम्भव नहीं है**। गुणों के प्रकार तो हो सकते हैं पर अस्तित्व के प्रकार सम्भव नहीं हैं। यही दार्शनिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं।

4.113. दर्शन-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों की सीमाओं से सम्बन्धित विवादों का समाधान प्रस्तुत करता है।[3]

दर्शन-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों की प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता को निर्धारित करता है। यदि कोई वैज्ञानिक जगत के विषय में किसी उद्देश्य (Teleology), **लक्ष्य कारण** (Final Cause) अथवा **पूर्णसिद्धता** (Entelechy) की बात करता है तो दार्शनिक का कार्य वैज्ञानिक को यह बताना है कि उसका सिद्धान्त अनुपयुक्त एवम् निरर्थक है। इस प्रकार दर्शन-शास्त्र वह विधि-कर्ता है जो सम्पत्ति के विधान को निर्धारित करता है। दर्शन-शास्त्र न्यायाधीश का भी कार्य करता है जो यह देखता है कि संपत्ति के नियम कार्यान्वित हो रहे हैं अथवा नहीं। किन्तु **दर्शन-शास्त्र की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं है**। यह स्वरूप मात्र है जिसकी कोई विषय-वस्तु नहीं है।

(4) तत्त्व-विज्ञान के रूप में दर्शन-शास्त्र

कुछ विचारकों के अनुसार दर्शन-शास्त्र एक तत्त्व विज्ञान है जो अतीन्द्रिय सत्ता के विषय

---

1. Philosophy is not a body of doctrine but an activity.
2. Philosophy does not result in philosophical propositions but rather in the clarification of propositions.
3. Philosophy settles controversies about the limits of natural sciences.

में विचार करता है। किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार संसार में अतीन्द्रिय सत्ता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। अतः उसके विषय में अध्ययन करने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उनके अनुसार हमें इस पर विचार नहीं करना चाहिए कि **तत्त्व क्या है** वरन् इस पर विचार करना चाहिए कि **तत्त्व कैसे हैं** अर्थात् वस्तु-स्थितियों पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए।

विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

3.221. कोई प्रतिज्ञप्ति केवल यही कह सकती है कि वस्तु कैसे है; वह यह नहीं कह सकती कि वस्तु क्या है।[1]

कोई प्रतिज्ञप्ति केवल यही कह सकती है कि कुछ वस्तु-स्थितियों (States of affairs) का अस्तित्व है एवम् कुछ वस्तु-स्थितियों का अस्तित्व नहीं है। यद्यपि विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में कई तत्त्वमीमांसीय कथनों का प्रयोग किया है जैसे :

2.021 वस्तुएँ जगत के उत्पादन हैं।

2.02 वस्तुएँ सरल हैं।

2.0271 वस्तुएँ अविनाशी हैं।

किन्तु आगे चलकर विटगेन्स्टाइन ने स्वयं स्वीकार किया है कि उपर्युक्त कथन निरर्थक हैं और लक्ष्य तक पहुँचने के बाद जिस प्रकार सीढ़ी की उपयोगिता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर इन कथनों की सार्थकता भी समाप्त हो जाती है।

(5) नीति-विज्ञान के रूप में दर्शन-शास्त्र

नीति विज्ञान **शुभ** (Good), **अशुभ** (Evil), **मूल्य** (Value), **कर्तव्यता** (ought) इत्यादि प्रत्ययों का विश्लेषण करता है। यदि नीति-विज्ञान में उपर्युक्त प्रत्ययों की कोई सार्थकता है उनके वस्तु-स्थितियों (State of affairs) अथवा वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्तियों (Descriptive Proposition) के माध्यम से विश्लेषित होने की सम्भावना विद्यमान होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार का विश्लेषण केवल मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र में ही सम्भव है, दर्शन-शास्त्र में नहीं। इसके विपरीत, यदि नीति-विज्ञान के प्रत्ययों का वस्तु-स्थितियों अथवा वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्तियों की कोटि में विश्लेषण नहीं किया जा सकता वे निरर्थक कथन ही होंगे। इन दोनों स्थितियों में ऐसा कोई विशिष्ट विषय नहीं है जिनके बारे में नीति विज्ञान अध्ययन करने का दावा कर सके। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

6.41. इस जगत में प्रत्येक वस्तु जैसी है वह है एवम् प्रत्येक वस्तु उसी प्रकार घटित होती है जैसी घटित होती है : उसमें किसी मूल्य का कोई अस्तित्व नहीं है—और यदि उसका अस्तित्व होता भी तो वह मूल्यहीन होता।[2]

यदि कहीं कोई मूल्य है जो मूल्यवान है वह इस परिवर्तनशील जगत से बिलकुल अतीत

---

1. A proposition can only say how a thing is, not what it is.
2. In the world everything is as it is, and everything happens as it does happen: in it no vlaue exists and if it did, it would have no value.

होगा क्योंकि इस जगत में जो कुछ घटनाएँ घटित होती हैं वे आकस्मिक ही होती हैं। जो कुछ आकस्मिक नहीं हैं वे इस जगत में निवास नहीं कर सकतीं क्योंकि यदि वे वहाँ निवास करतीं वे आकास्मिक ही होतीं।

अतः उन्हें जगत से अतीत ही होनी चाहिए।

यदि यह कहा जाय कि नीति-विज्ञान किसी उच्चतर सत्ता के विषय में अध्ययन करता है तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि किसी उच्चतर सत्ता का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

6.42. अतः कोई नैतिक प्रतिज्ञप्तियाँ हो ही नहीं सकतीं। प्रतिज्ञप्तियाँ किसी उच्चतर सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती।[1]

ट्रैक्टेटस एक ऐसे पूर्ण नियोजित नगर के समान है जिसमें सभी कुछ रेखागणित के नियमों के अनुसार स्थापित किए गए हैं। यहाँ दार्शनिक एक ऐसे विद्युत-विशेषज्ञ के समान है जिसका कार्य उस नगर को आलोकित करना है। इसके अतिरिक्त उसका कोई दूसरा कार्य नहीं है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि हमारी सभी प्रतिज्ञप्तियाँ या तो वस्तु-स्थितियों से सम्बंधित हैं अथवा वैज्ञानिक समस्याओं से सम्बंधित हैं तो क्या इन समस्याओं के समाधान से जीवन की सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

6.52. हम अनुभव करते हैं कि जब सभी सम्भाव्य वैज्ञानिक समस्याओं का समाधान हो भी जाय, जीवन की समस्याएँ पूर्णतः अनुत्तरित रह जाती हैं। वस्तव में तब कोई समस्या शेष नहीं रहती, और यह स्वयं उसका समाधान है।[2]

अन्त में अपने दर्शन का सारांश निष्कर्षित करते हुए वे कहते हैं :

4.116. प्रत्येक वस्तु जिसका विचार किया जा सकता है, स्पष्ट रूप में विचार किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु जिसकी शब्द द्वारा अभिव्यक्ति की जा सकती है, स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति की जा सकती है।[3]

उपर्युक्त सत्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

"जिस किसी वस्तु के विषय में कथन किया जा सकता है, स्पष्ट रूप में कथन किया जा

---

1. Hence also there can be no ethical propositions. Propositions cannot express anything higher.
2. We feel that even when all possible scientific questions have been answered, the problems of life remain completely untouched. Of course there are then no questions left, and this itself is the answer.
3. Everything that can be thought at all can be thought clearly. Everything that can be put into words can be put clearly.

सकता है तथा जिसके विषय में संलाप नहीं किया जा सकता हमें मौन ही रहना चाहिए।"[1]

हमें मौन क्यों रहना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं :.

6.521. जीवन की समस्या का समाधान उस समस्या के लुप्त होने में निहित है।[2]

सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ
(General Propositions)

सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ दो प्रकार की होती हैं :

(i) सर्वव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति (Universal General Proposition)

(ii) अंशव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति (Particular General Proposition)

सर्वव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जो सभी व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के विषय में कथन करती है।

'इस कमरे का प्रत्येक व्यक्ति हैट पहने हुए है' सर्वव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है। इसके विपरीत अंशव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जो केवल कुछ व्यक्तियों या वस्तुओं के विषय में कथन करती है। 'इस कमरे के केवल कुछ व्यक्ति हैट पहने हुए हैं' अंशव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है।

रसेल के अनुसार किसी भी सामान्य प्रतिज्ञप्ति को बिना अवशेष के प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की कोटि में घटित नहीं किया जा सकता। उसके विश्लेषण में कोई न कोई सामान्य तत्त्व अवश्य विद्यमान होता है। उदाहरण के लिए :

A. "इस कमरे का प्रत्येक व्यक्ति हैट पहने हुए है" इस प्रतिज्ञप्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो इसका रूप होगा :

B. "जोन्स इस कमरे में है और हैट पहने हुए है तथा राबिन्सन इस कमरे में है और हैट पहने हुए है तथा स्मिथ इस कमरे में है और हैट पहने हुए है तथा जोन्स, राबिन्सन एवम् स्मिथ ही केवल ऐसे व्यक्ति हैं जो कमरे में हैं।" इसी प्रकार :

A. "इस कमरे के कुछ व्यक्ति हैट पहने हुए हैं" का यदि विश्लेषण किया जाय तो इसका रूप होगा :

B. "या तो जोन्स इस कमरे में है और वह हैट पहने हुए है या तो रॉबिन्सन इस कमरे में है और वह हैट पहने हुए है या तो स्मिथ इस कमरे में है और वह हैट पहने हुए है तथा जोन्स, रॉबिन्सन एवम् स्मिथ ही केवल ऐसे व्यक्ति हैं जो कमरे में हैं"।

किन्तु यदि उपर्युक्त प्रतिज्ञप्तियों का अध्ययन किया जाय तो A और B प्रतिज्ञप्तियों का तात्पर्य समान नहीं है। यदि B प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो A प्रतिज्ञप्ति अवश्य सत्य होगी परन्तु यदि A सत्य है तो निश्चित नहीं कि B प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी (यदि किसी व्यक्ति की गणना छूट गई हो।)

---

1. ट्रैक्टेटस पृ० 3, What can be said at all can be said clearly and what we cannot talk about we must consign to silence.
2. The solution of the problem of life is seen in the vanishing of the problem.

उपर्युक्त विश्लेषणों से रसेल ने दो निहितार्थ निष्कर्षित किया :

(1) प्रत्येक सामान्य प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण में एक सामान्य अवयव अवश्य विद्यमान होता है।

(2) सामान्य प्रतिज्ञप्ति प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का केवल सत्यता फलन ही नहीं है बल्कि इसके भीतर कुछ अतिरिक्त तत्त्व भी विद्यमान होता है।

विटगेन्स्टाइन द्वारा समाधान
(Wittgenstein's Solution)

इस सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन के विचार रसेल के विचार से पर्याप्त भिन्न हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ बिना अवशेष के प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों में घटित की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए :

A. सभी वस्तुओं में F गुणधर्म पाया जाता है अर्थात् वस्तु a में F गुणधर्म पाया जाता है तथा वस्तु b में F गुणधर्म पाया जाता है तथा वस्तु c में F गुणधर्म पाया जाता है।...... तथा a, b, c........इत्यादि वे सभी वस्तुएँ हैं जिनका संसार में अस्तित्व है। किन्तु विटगेन्स्टाइन इस अतिरिक्त अवयव को स्वीकार नहीं करते। वास्तव में अतिरिक्त प्रतिज्ञप्ति प्रतिज्ञप्ति है ही नहीं।

B. कुछ वस्तुओं में F गुणधर्म पाया जाता है। अर्थात् या तो a में F गुणधर्म पाया जाता है या तो b में F गुणधर्म पाया जाता है या तो c में F गुणधर्म पाया जाता है ... तथा a, b, c........इत्यादि वे सभी वस्तुएँ हैं जिनका संसार में अस्तित्व है। यहाँ भी विटगेन्स्टाइन इस अतिरिक्त प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार नहीं करते। वे लिखते हैं :

4.1272 (4). **जहाँ कहीं 'वस्तु' शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग किया जाता है, निरर्थक छद्म प्रतिज्ञप्ति प्रतिफलित होती है।**[1]

हम उपर्युक्त अतिरिक्त प्रतिज्ञप्तियों को लें: a, b, c.......इत्यादि वे सभी वस्तुएँ हैं जिनका संसार में अस्तित्व है। यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो इसका रूप होगा :

"a एक वस्तु है, b एक वस्तु है, c एक वस्तु है——इत्यादि।"

किन्तु उपर्युक्त प्रतिज्ञप्तियाँ, प्रतिज्ञप्तियाँ ही नहीं है। तर्कशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि यदि कोई प्रतिज्ञप्ति सार्थक है, उसका निषेध भी सार्थक होना चाहिए। उदाहरण के लिए 'पुस्तक लाल है' सार्थक है। अतः 'पुस्तक लाल नहीं है' यह भी सार्थक है। 'सत्यता लाल है' निरर्थक है। अतः सत्यता लाल नहीं है'—निरर्थक है। उसी प्रकार ~'a एक वस्तु है' निरर्थक है अतः 'a एक वस्तु है' यह भी निरर्थक है।

इस प्रकार विटगेन्स्टाइन ने सिद्ध किया कि सामान्य प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण में जो रसेल द्वारा वर्णित अतिरिक्त प्रतिज्ञप्ति है वह वास्तव में प्रतिज्ञप्ति न होकर एक छद्म-प्रतिज्ञप्ति ही है।

---

1. Wherever the word object is used as a proper-concept-word, non-sensical pseudo-proposition is the result.

अतः सभी सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में घटित की जा सकती हैं।

तार्किक परमाणुवाद
(Logical Atomism)

विटगेन्स्टाइन के सत्यता-फलन सिद्धान्त का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि जगत केवल परमाणविक तथ्यों में ही विभाजित है। सामान्य तथ्यों का जगत में कोई अस्तित्व नहीं है। इसका कारण यह है कि सभी सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की कोटि में घटित की जा सकती हैं। इसके विपरीत रसेल का तर्क है कि सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के केवल सत्यता-फलन ही नहीं हैं। उनके भीतर कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व पाए जाते हैं जो प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों में घटित नहीं किए जा सकते। अतः संसार में परमाणविक तथ्यों के साथ सामान्य तथ्यों का भी अस्तित्व होना चाहिए। सामान्य तथ्य परमाणविक तथ्यों की केवल आणविक रचनाएँ ही नहीं हैं; परमाणविक तथ्यों से पृथक् उनका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। रसेल ने केवल सामान्य तथ्यों में ही विश्वास प्रगट नहीं किया, बल्कि निषेधात्मक तथ्यों के अस्तित्व में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की। पर विटगेन्स्टाइन न तो सामान्य तथ्य को मान्यता प्रदान करता है और न तो निषेधात्मक तथ्य को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार विटगेन्स्टाइन का जगत रसेल के जगत की अपेक्षा अधिक चुस्त व व्यवस्थित है।

(अ) तार्किक अचर (Logical Constants)

यहाँ यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि जटिल परिस्थितियाँ केवल वस्तु-स्थितियों (States of affairs) से ही निर्मित नहीं होतीं, उनके निर्माण में कुछ ऐसे तत्त्व भी शामिल होते हैं जो उन्हें परस्पर संयुक्त करते हैं। पर विटगेन्स्टाइन किसी जटिल तथ्य के निर्माण में किसी संयोजक कड़ी के अस्तित्व का निषेध करते हैं। कोई भी जटिल तथ्य प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। अतः यदि ऐसा कोई तत्त्व है जो वस्तु-स्थितियों को परस्पर संयुक्त कर सकता है तो वह सत्यता-फलनक-संकारक (Truth-functional Operator) अथवा तार्किक चर (Logical Constants) ही हो सकता है। किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार तार्किक चर संसार की किसी वस्तु की ओर निर्देश नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में :

4.0312.(2) मेरा मूलभूत विचार यह है कि तार्किक चर प्रातिनिधिक नहीं होते।[1]

इसका मूल कारण यह है कि सभी तार्किक चर परिभाषतः शेफर के आघात-फलन (Sheffer's Stroke Function) के रूप में घटित किए जा सकते हैं। शेफर के आघात-फलन p/q को (~ p . ~q) के रूप में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार निषेध (~) संसार की किसी भी वस्तु की ओर निर्देश नहीं करता। यही बात "और" (and) "अथवा" (or) पर भी लागू होती है। भाषा में तार्किक चरों की आवश्यकता जटिल या यौगिक प्रतिज्ञप्तियों की संरचना में की जाती है। वे वाक्य

1. My fundamental idea is that the logical constants are not representative.

विन्यास के साधन मात्र हैं। वे किसी तार्किक अवयव की ओर संकेत नहीं करते। वे नाम नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन का एक तार्किक निहितार्थ यह है कि सभी परमाणविक तथ्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं क्योंकि उन्हें परस्पर सम्बद्ध करने की कड़ी का नितान्त अभाव है। इसी सत्य को **तार्किक परमाणुवाद** (Logical Atomism) के नाम से अभिहित किया जाता है। इस नाम की द्विगुण सार्थकता है। यह भाषा और जगत दोनों पर समान रूप में लागू होता है। भाषा में इसकी सार्थकता यह है कि सभी जटिल प्रतिज्ञप्तियाँ प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की कोटि में घटित की जा सकती हैं। जगत के विषय में इसकी सार्थकता यह है कि सभी जटिल तथ्य परमाणविक तथ्यों की कोटि में घटित किए जा सकते हैं। प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के विषय में विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

5.134. एक प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति दूसरी प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति से निगमित नहीं की जा सकती है।[1]

इसी प्रकार परमाणविक तथ्यों के विषय में वे कहते हैं :

2.061. वस्तु-स्थितियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं।

एक परमाणविक तथ्य के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के आधार पर किसी दूसरे परमाणविक तथ्य के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर विटगेन्स्टाइन ने जगत को कणात्मक (Granular) कहा है।

(ब) यौगिक प्रतिज्ञप्तियाँ (Compound Propositions)

जो बात प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों एवम् परमाणविक तथ्यों पर लागू होती है वही बात यौगिक प्रतिज्ञप्तियों एवम् जटिल तथ्यों पर भी लागू होती है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

5.135. एक अवस्थिति के अस्तित्व के आधार पर किसी अन्य बिलकुल भिन्न अवस्थिति के विषय में अनुमान करने का कोई सम्भाव्य मार्ग नहीं है।[2]

5.136. इस प्रकार के अनुमान को तर्क-संगत सिद्ध करने के लिए उनके बीच कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है।[3]

यदि $p = q.r$ हो तो p के आधार पर हम q का अनुमान कर सकते हैं। पर यदि p और q.r एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं तो एक के आधार पर हम दूसरे के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

(स) अनिवार्यता का निषेध (Denial of Necessity)

यदि प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ एवम् तथ्य एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र हैं, उनके बीच किसी

---

1. One elementary proposition cannot be deduced from another.
2. There is no possible way of making an inference from the existence of one situation to the existence of another entirely different situation.
3. There is no causal nexus to justify such inference.

प्रकार के अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। वहाँ न कोई भौतिक अनिवार्यता है और न ही मानसिक अनिवार्यता।

6.37. वहाँ कोई ऐसी बाध्यता नहीं है कि एक घटना के घटित होने पर दूसरी घटना अवश्य घटित हो। केवल एक ही बाध्यता का अस्तित्व है और वह है तार्किक बाध्यता।[1]

(द) आगमन (Induction)

यदि सभी प्रतिज्ञप्तियाँ एवम् तथ्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं आगमन की वैधता स्वयं समाप्त हो जाती है।

5.1361. हम वर्तमान की घटनाओं के आधार पर भविष्य की घटनाओं के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं कर सकते। कारण-कार्य सम्बन्ध में विश्वास एक अन्धविश्वास ही है।[2]

एक वस्तु-स्थिति के आधार पर दूसरी वस्तु-स्थिति के विषय में अनुमान करना सदा अवैध ही होगा क्योंकि प्रत्येक दूसरे से पूर्णतया असम्बन्धित है। इतना होते हुए भी यदि हम किसी वस्तु-स्थिति के अवलोकन के आधार पर दूसरी वस्तु-स्थिति के विषय में निष्कर्ष निकालते हैं, यह निष्कर्ष तार्किक न होकर विशुद्ध मनोवैज्ञानिक ही होगा।

6.3631. इस प्रक्रिया का कोई तार्किक न्याय्यकरण नहीं हो सकता, केवल मनोवैज्ञानिक न्याय्यकरण ही हो सकता है।[3]

आगे चलकर विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

6.36311. यह एक प्राक्कल्पना है कि सूर्य कल पूरब में उदित होगा : और इसका तात्पर्य यह है कि हम नहीं जानते कि वह वास्तव में उदित होगा।[4]

सम्पूर्ण आधुनिक विज्ञान के निष्कर्ष इस बात पर आधारित हैं कि संसार की सभी घटनाएँ प्रकृति के सार्वभौम नियमों पर आधारित हैं, पर यह एक प्राक्कल्पना ही है जिसका किसी तार्किक आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता।

साधारण भाषा एवम् आदर्श भाषा
(Ordinary Language and Ideal Language)

विटगेन्स्टाइन के अनुसार केवल सरल प्रतिज्ञप्ति ही तथ्य का चित्रण कर सकती है और

1. There is no compulsion making one thing happen because another has happened. The only necessity that exists is logical necessity.
2. We cannot infer the events of the future from those of the present. Belief in the causal nexus is superstition.
3. This procedure, however, has no logical justification but only a psychological one.
4. It is an hypothesis that the sun will rise tomorrow: and this means that we do not know whether it will rise.

इसी कारण वह सार्थक होती है। साधारण भाषा की प्रतिज्ञप्तियाँ सरल प्रतिज्ञप्तियों से कोसों दूर होती हैं; वे तार्किक दृष्टिकोण से तथ्यों का चित्रण करने के लिए बिलकुल अनुपयुक्त होती हैं। किन्तु विटगेन्स्टाइन का यह भी कथन था कि यदि साधारण भाषा की प्रतिज्ञप्तियों को सरल प्रतिज्ञप्तियों में घटित कर दिया जाय तो वे भी तथ्यों का उसी प्रकार चित्रण करेंगी जिस प्रकार सरल प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यों का चित्रण करती हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर विटगेन्स्टाइन ने कहा था कि "**प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का सत्यता-फलन होती है।**"[1] यह सही है कि ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टाइन ने साधारण भाषा की आलोचना की है और इसके आधार पर कुछ व्याख्याकारों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उनका साधारण भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में यह समस्या रसेल से प्रारम्भ होती है जिन्होंने ट्रैक्टेटस की भूमिका में लिखा था : "अपने सिद्धान्त के उस भाग में जिसमें प्रतीकवाद का वर्णन मिलता है, उनका सम्बन्ध उन प्रागपेक्षाओं से था जिन्हें किसी तर्कतः पूर्ण भाषा को संतुष्ट करना होता है।"[2] विज्डम एवम् कोपी के भी लगभग इसी प्रकार के विचार थे। विज्डम (Wisdom) कहते हैं :

"विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि वाक्य तथ्यों का चित्रण करते हैं किन्तु साधारण भाषा के वाक्य कठिनाई से ही तथ्यों का चित्रण करते हैं"[3] कोपी (Copi) का भी ट्रैक्टेटस के सम्बन्ध में यही मत था। वे कहते हैं : "विटगेन्स्टाइन का सम्बन्ध एक यथेष्ट अंकन-पद्धति की रचना से था।"[4] इस सम्पूर्ण विवाद का कारण ट्रैक्टेटस की कुछ उक्तियाँ हैं जिनमें विटगेन्स्टाइन ने साधारण भाषा की आलोचना की है :

(1) साधारण भाषा में एक ही संकेत का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रतीकों के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए "है" शब्द को लिया जा सकता है। साधारण भाषा में इस शब्द का प्रयोग विधान (Predication) के लिए, तादात्म्य (Identity) के लिए अथवा अस्तित्व (Existence) के लिए किया जाता है।

'राम बुद्धिमान है'—विधान

'मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है'—तादात्म्य

"संसार में ईश्वर है'—अस्तित्व

(2) साधारण भाषा में कुछ शब्द जो भिन्न प्रकार से संकेतित करते हैं, उनका वाक्यों में इस प्रकार प्रयोग किया जाता है मानों उनका प्रयोग समान हो। उदाहरण के लिए—

फ्रान्स के वर्तमान नरेश गंजे हैं।

नेपोलियन गंजा है।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'नेपोलियन'

---

1. ट्रैक्टेटस 5 (1) A proposition is a truth-function of elementary propositions.
2. In the part of his theory which deals with symbolism, he is concerned with the conditions which would have to be fulfilled by a logically perfect language.
3. Wisdom, J., "Logical Constructions, Mind, 1931, p. 200. "Wittgenstein says that sentences picture facts. But hardly any sentences in ordinary language do picture facts.
4. Copi, I.M. Objects, Properties and Relations in Tractatus, Mind, 1958, p. 146. "Wittgenstein was concerned with the construction of an adequate notation."

एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है उसी प्रकार 'फ्रान्स के वर्तमान नरेश' भी एक संज्ञा है। पर हम जानते हैं कि रसेल ने अपने वर्णन-सिद्धान्त में प्रदर्शित किया है कि फ्रान्स के वर्तमान नरेश संज्ञा न होकर 'वर्णन' मात्र ही है।

(3) साधारण भाषा के वाक्य अपने तार्किक स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं जिसके कारण उनमें भ्रामकता बनी रहती है ; उदाहरण के लिए : 'मोहन मरणशील है' तथा 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' ऊपर से देखने पर एक ही प्रकार के वाक्य प्रतीत होते हैं पर वास्तव में प्रथम वाक्य वर्ग-सदस्यता (Class-Membership) वाक्य है और द्वितीय सामान्य (General) वाक्य है। उपर्युक्त कारणों से विटगेन्स्टाइन ने साधारण भाषा के स्थान पर आदर्श भाषा के प्रयोग पर बल दिया जिसमें केवल प्राथमिक तर्क-वाक्य, सत्यता-फलन तथा सत्यता-फलन-संयोजकों का ही प्रयोग किया जाता है। इसमें न तो एक ही संकेत का प्रयोग विभिन्न प्रतीकों के लिए किया जाता है और न उनके व्याकरणिक एवं तार्किक स्वरूप में कोई भिन्नता होती है। रसेल, विज्डम एवम् कोपी ने इन्हीं आधारों पर माना कि साधारण भाषा दोषपूर्ण है। अतः विटगेन्स्टाइन का उद्देश्य साधारण भाषा के स्थान पर आदर्श भाषा की रचना करना था। पर विटगेन्स्टाइन के विषय में इस प्रकार का विचार भ्रामक ही कहा जायगा क्योंकि उनका वास्तविक उद्देश्य साधारण भाषा के स्थान पर प्रतीकात्मक भाषा को स्थानापन्न करना नहीं था, बल्कि प्रतीकात्मक भाषा द्वारा साधारण भाषा को सुस्पष्ट करना था। विटगेन्स्टाइन ने कई स्थान पर लिखा है कि साधारण भाषा तार्किक दृष्टि से विचारों को स्पष्ट करने में पूर्ण सक्षम है :

"साधारण भाषा की सभी प्रतिज्ञप्तियाँ वास्तव में वे जिस रूप में हैं तर्कतः पूर्ण रूप में उपयुक्त हैं।"[1]

विटगेन्स्टाइन की प्रमुख समस्या किसी आदर्श भाषा की प्रागपेक्षाओं को निर्धारित करना नहीं था ; उनका प्रमुख उद्देश्य इस बात पर विचार करना था कि साधारण भाषा की प्रतिज्ञप्तियाँ किस प्रकार सार्थक होती हैं। उनका यह निश्चित मत था कि यदि साधारण भाषा की कोई प्रतिज्ञप्ति प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में घटित की जा सकती है तो वह सार्थक है, अन्यथा वह निरर्थक है। अतः यह कहना बिलकुल गलत है कि साधारण भाषा की प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यों का चित्रण नहीं करतीं। प्रतिज्ञप्तियों द्वारा तथ्यों का चित्रित होना इस बात पर निर्भर करता है कि वे प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में घटित की जा सकती हैं अथवा नहीं। प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का साधारण भाषा की प्रतिज्ञप्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः यह कहना कि किसी कृत्रिम प्रतीकात्मक भाषा के सन्दर्भ में ही प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता है, सर्वथा असत्य है।

अतः तर्कशास्त्रियों का यह कथन कि वे साधारण भाषा को उसकी अस्पष्टता तथा अनेकार्थता से मुक्ति दिला सकते हैं मिथ्या प्रलाप है। ट्रैक्टेटस की तार्किकता साधारण भाषीय प्रयोगों को शुद्ध कर उन्हें अर्थपूर्ण बनाने का प्रयत्न करती है किन्तु अन्ततः यह प्रयत्न विफल ही होगा। विटगेन्स्टाइन के अनुसार साधारण भाषीय प्रयोगों का हनन कर किसी कृत्रिम प्रतीकात्मक

1. ट्रैक्टेटस 5.5563. All propositions of our colloquial language are actually just as they are, logically completely in order.

भाषा की बात करना भाषीय प्रयोगों को त्याग देने के समान है। साधारण भाषीय प्रयोगों की सफलता तो इसी से सिद्ध है कि वे भाषीय व्यवहारों को सफल रूप से चला रहे हैं। अतः यदि उनमें किसी प्रकार की अस्पष्टता, द्वयर्थकता या अनेकार्थता दिखाई दे तो उनका समाधान उन प्रयोगों में ही प्रवेश कर ढूँढ़ना होगा। उनके बाहर उनका निदान ढूँढ़ना निष्फल प्रयास ही होगा।

उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन
(Later Wittgenstein)

जब 1918 में विटगेन्स्टाइन ने अपनी प्रथम पुस्तक "ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसॉफिकस" समाप्त किया उन्होंने समझा कि इस पुस्तक के सभी सिद्धान्त यथार्थ हैं एवम् इन सिद्धान्तों के माध्यम से वे दर्शन-शास्त्र की सभी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। पर कुछ दिनों के बाद ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों के प्रति उनका विश्वास डिगने लगा। यह तब हुआ जब विटगेन्स्टाइन ने अपने दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध में प्रो॰ रैम्जे (Ramsey) एवम् वियना केन्द्र (Vienna Circle) के दार्शनिकों के साथ विमर्श किया। यहीं उन्होंने अनुभव किया कि उनके दार्शनिक विचारों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वे 1929 में पुनः कौम्ब्रिज लौट गए और वहाँ दर्शन-शास्त्र का अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इसी काल में विटगेन्स्टाइन के विचारों में आमूल परिवर्तन हुआ जिसका संकेत उनकी कक्षा के नोट्स में मिलते हैं जो बाद में **"द ब्ल्यू बुक"** (The Blue Book) एवम् **"द ब्राउन बुक"** (The Brown Book) के नाम से प्रकाशित हुए। इन परिवर्तित एवम् संशोधित विचारों का परिपक्व रूप हम उनकी अन्तिम पुस्तक **"फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स"** (Philosophical Investigations) में प्राप्त होता है जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई।

यह पुस्तक उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के विचारों को उनकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करती है।

ट्रैक्टेटस से भिन्नता

पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन एवम् उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के विचारों एवम् दार्शनिक दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्नता है।

(1) ट्रैक्टेटस की विधि **तार्किक** है। उसमें तार्किकता की माँगों के अनुरूप बड़ी सावधानी से वाक्यों का क्रम निर्धारित किया गया है। पुस्तक में अपने ढंग की तार्किक व्यवस्था है। इसके विपरीत फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स की विधि **विवरणात्मक** है। ट्रैक्टेटस की तुलना में यह अव्यवस्थित ही है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह पुस्तक एक प्रकार से एक लम्बी यात्रा का एलबम है। इस लम्बी यात्रा में विभिन्न प्रकार के दृश्य दिखाई देते गए तथा पुस्तक उनको रेखांकित करती गई है। इसके परिणामस्वरूप वे रेखांकित चित्र अनेक दिशाओं से लिए गए चित्र हैं ; एक ही दृश्य को भिन्न-भिन्न दिशाओं से देखकर भिन्न-भिन्न रेखांकित चित्र निर्मित किए गए हैं।

(2) ट्रैक्टेटस के प्रतिपादन में **सूत्रबद्धता** है किन्तु फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स के प्रतिपादन में अनौपचारिकता है। जहाँ ट्रैक्टेटस के दार्शनिक निष्कर्षों में पूर्ण अनिवार्यता स्थापित करने की चेष्टा की गई है वहीं इन्वेस्टिगेशन्स के निष्कर्षों में तदर्थता है। यहाँ विश्लेषण की विधि उतनी नियमबद्ध व कठोर नहीं है कि प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता-निरर्थकता का निर्णायक रूप में

समाधान प्रस्तुत कर दे। यहाँ जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसी के अनुरूप उनका विश्लेषण किया जाता है। प्रत्येक प्रकार की भाषीय अभिव्यक्ति के लिए एक ही प्रकार की औपचारिक विधि ऐसी अभिव्यक्तियों के साथ न्याय नहीं कर सकती। अतः यहाँ भाषीय अभिव्यक्तियों के व्यवहारों पर आधारित अनौपचारिक विश्लेषण को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

(3) **फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स का दर्शन ट्रैक्टेटस में विकसित विचारों की आलोचना से प्रारम्भ होता है। ट्रैक्टेटस में प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता चित्र-सिद्धान्त द्वारा निर्धारित** की जाती है किन्तु फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में इसकी सार्थकता **भाषीय क्रीड़ा** (Language Game) के द्वारा निर्धारित की जाती है। पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन **अर्थ** (Meaning) पर विशेष बल देते थे पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन अर्थ पर बल न देकर **प्रयोग** (Use) पर विशेष बल देते थे। भाषीय क्रीड़ा एवम् भाषीय प्रयोग के आधार पर ही विटगेन्स्टाइन ने **संवेदना** (sensation), **वैयक्तिक भाषा** (Private Language), **अन्य आत्माओं का ज्ञान**, (Knowledge of other Minds), **तार्किक अनिवार्यता** (Logical Necessity) इत्यादि विषयों का सफल विश्लेषण किया है। इस भाषीय विश्लेषण द्वारा उस क्षेत्र की समस्याओं पर उपयोगी प्रकाश पड़ा है। इसी कारण विटगेन्स्टाइन ने प्रारम्भ में ही फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स को विभिन्न चित्रों का एलबम कहा है।

(4) ट्रैक्टेटस की प्रमुख समस्या प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता थी। इसका कारण यह है कि ट्रैक्टेटस स्वीकार करता है कि भाषा का एक मात्र कार्य सूचना प्रदान करना है किन्तु फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स के अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ मात्र सूचना नहीं देतीं वरन् अन्य प्रकार के कार्य भी सम्पादित कर सकती हैं। इसी कारण इस पुस्तक में विटगेन्स्टाइन स्पष्ट करते हैं कि अर्थ (Meaning) की खोज निरर्थक है; अर्थ के स्थान पर हमें भाषीय प्रयोगों (Uses) पर विशेष बल देना चाहिए। वस्तुतः अर्थ की खोज भी इन्हीं प्रयोगों के आधार पर ही की जा सकती है। अतः ट्रैक्टेटस के औपचारिक तार्किक विश्लेषण (Formal Logical Analysis) के स्थान पर फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स **अनौपचारिक भाषीय विश्लेषण** (Informal Linguistic Analysis) पर विशेष बल देता है। विटगेन्स्टाइन का विश्वास है कि दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र भाषा है क्योंकि दार्शनिक समस्याओं के उद्‌भव तथा उनके निदान दोनों का स्रोत भाषा ही है। कहा जाता है कि दार्शनिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब भाषा अवकाश (Holiday) पर चली जाती है।

(5) ट्रैक्टेटस के अनुसार दार्शनिक समस्या तब उत्पन्न होती है जब कोई प्रतिज्ञप्ति तथ्यों का चित्रण नहीं करती अर्थात् न तो वह प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति होती है और न वह प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में अभिव्यक्त की जा सकती है। पर फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ **उलझन** (Perplexity) या **दुविधा** (Puzzlement) के रूप में उत्पन्न होती हैं। इस उलझन का रूप इस प्रकार का होता है कि पक्ष-विपक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करने के बाद भी उलझन शेष रह जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता। यह उलझन एक प्रकार की मानसिक व्याधि है जिससे त्राण पाने का कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। विटगेन्स्टाइन के अनुसार

ऐसा इस कारण होता है कि तथाकथित उलझनें वास्तविक न होकर भाषा के गलत प्रयोग द्वारा उत्पन्न होती हैं। यह **भाषा के सम्मोहन** (Bewitchment of Language) का प्रतिफल है। इन प्रयोगों की बार-बार आवृत्ति के कारण एक चित्र उत्पन्न हो जाता है और हम उस चित्र के बन्दी हो जाते हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह एक मानसिक व्याधि है जिसका समाधान नहीं वरन उपचार करना है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने दार्शनिक क्रिया को **उपचार-प्रक्रिया** (Therapeutic Activity) कहा है।

(6) विटगेन्स्टाइन के अनुसार भाषीय उलझन व दुविधा के निदान की विधि **भाषीय क्रीड़ा** (Language Game) खेलनी है। जैसे-जैसे समस्याएँ उत्पन्न हों, वैसे-वैसे उन समस्याओं के साथ क्रीड़ा करना है। यह कोई ऐसी क्रीड़ा नहीं है कि एक बार खेल लेने से सारी समस्याएँ समाप्त हो जायं। प्रत्येक दार्शनिक समस्या के लिए पृथक् रूप में सन्दर्भानुसार क्रीड़ा करनी होगी। इस विश्लेषण का उद्देश्य यह स्पष्ट कर देना है कि समस्या वस्तुतः कोई सार्थक समस्या ही नहीं थी वल्कि वह भाषा से सम्वन्धित कुछ भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं के कारण उत्पन्न हुई थी। मानसिक उलझन में पड़े हुए व्यक्ति के समक्ष उसकी भ्रान्ति को स्पष्ट कर देना ही उसका समाधान है। यही मानसिक व्याधि की उपचार विधि है।

अव यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इस विधि से समस्या का समाधान हो जाता है ? विटगेन्स्टाइन के अनुसार समस्या के सुलझने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता क्योंकि समस्या कोई वास्तविक समस्या ही नहीं थी। **यहाँ समस्या के निदान का अर्थ समस्या की समाप्ति है।** यदि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि समस्या भ्रान्ति पर आधारित थी तो समस्या स्वयं विगलित हो जाती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार भाषीय क्रीड़ा का सिद्धान्त किसी समस्या का समाधान नहीं वरन् समस्या की ही समाप्ति है।

उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन द्वारा पूर्व-कालीन विटगेन्स्टाइन के विचारों का खण्डन

उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन का दर्शन पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन के दार्शनिक विचारों के खण्डन से प्रारम्भ होता है। विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, वाद में लगभग 1929 में उन्हें उन सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

(1) ट्रैक्टेटस के प्रारम्भ में ही विटगेन्स्टाइन ने निम्न दो मतों का प्रतिपादन किया था। प्रथम यह कि जगत तथ्यों अथवा परमाणविक तथ्यों में विभाजित है। द्वितीय यह कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का सत्यता-फलन है। अर्थात् प्रत्येक यौगिक वस्तु के घटक तत्त्व निश्चित एवम् पूर्वनिर्धारित है। पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने इन मान्यताओं का खण्डन किया। उनके अनुसार कोई वस्तु किस प्रकार विभाजित है अथवा उसके घटक तत्त्व क्या हैं, पहले से ही निर्धारित नहीं होता। यह परिस्थितियों एवम् उद्देश्य के अनुसार निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि हम विभिन्न कुर्सियों के बीच तुलना करते हैं तो यह तुलना उन कुर्सियों के रचना-विधान या उनके उपादानों के माध्यम से की जा सकती है। इसके विपरीत यदि केवल एक कुर्सी का विश्लेषण करना है तो यह विश्लेषण उसके विभिन्न अवयवों जैसे पैर, आसन व पृष्ठ भाग के माध्यम से किया जा सकता है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में : "**क्या शतरंज-पट्टिका**

स्पष्टतः एवम् पूर्णरूप में मिश्रित नहीं है ? सम्भवतः आप सोच रहे होंगे कि यह बत्तीस श्वेत एवम् बत्तीस श्याम वर्गों का सम्मिश्रण है। किन्तु क्या हम उदाहरण के लिए ऐसा नहीं कह सकते कि यह श्याम, एवम् श्वेत वर्गों का सम्मिश्रण है ?"[1]

अतः, पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन का यह कथन सर्वथा गलत था कि जगत वस्तुओं में नहीं 'वरन् तथ्यों में विभाजित है। जगत वस्तुओं में, तथ्यों में अथवा घटनाओं में विभाजित है, यह विशिष्ट परिस्थितियों या विशिष्ट उद्देश्यों द्वारा निर्धारित होता है।

(2) पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन का यह कथन भी गलत है कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति का एक पूर्णतः विशिष्ट व निश्चित तात्पर्य होता है क्योंकि वह बाह्य अवस्थिति का वर्णन करती है। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह कहना कि भाषीय उक्तियों का एक पूर्णतया निश्चित अर्थ होता है भाषीय व्यवहार के अज्ञान के कारण है। ऐसे लोग अपनी नाक पर चश्मा लगा कर इस जगत को देख रहे हैं तथा उन्हें सूझता भी नहीं है कि वे अपना चश्मा उतार कर इस जगत को देखने का प्रयत्न करें। उदाहरण के लिए यदि कोई कहता है कि "वह घड़ी वास्तव में घड़ी ही नहीं है जो निश्चित समय का निर्देश न करे।" यहाँ "**निश्चित समय**" का क्या अर्थ है ? भाषीय व्यवहार को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि "निश्चित समय" अपने में ही अस्पष्ट एवम् अनिश्चित है। मान लीजिए कि मैं आपसे कहता हूँ कि आप मुझसे कल निश्चित सात बजे प्रातः मिलें। आप मुझसे कल निश्चित सात बजे प्रातः न मिलकर दो सेकण्ड बाद मिलते हैं तो क्या यहाँ यह कहा जायगा कि आप मुझसे निश्चित समय पर नहीं मिले ? किसी सिनेमा हाल में प्रतिदिन बारह बजे दिन पिक्चर प्रारम्भ होती है किन्तु यदि किसी दिन पिक्चर बारह बजे दिन प्रारम्भ न होकर दो सेकण्ड बाद प्रारम्भ होती है तो क्या यह कहा जायगा कि पिक्चर देर से प्रारम्भ हुई ? किन्तु यदि किसी दौड़ में राम नामक बालक श्याम नामक बालक से दो सेकण्ड बाद फीते को छूता है तो अवश्य ही श्याम पुरस्कार प्राप्त करेगा राम नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निरपेक्ष रूप में "निश्चित समय" का निर्धारण नहीं होता; परिस्थिति, सन्दर्भ, उद्देश्य इत्यादि के अनुसार ही "निश्चित समय" का निर्धारण किया जा सकता है।

(3) पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ उसकी घटक प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ पर आधारित होता है। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन इसे स्वीकार नहीं करते।

विश्लेषण-प्रक्रिया से तो प्रतिज्ञप्ति का अर्थ और अस्पष्ट हो जाता है। "झाड़ू उस कोने में है" यह प्रतिज्ञप्ति स्वतः एक सुस्पष्ट प्रतिज्ञप्ति है। विश्लेषण के उपरान्त इसका स्वरूप निम्न प्रकार होगा :

(i) झाड़ू का डण्डा उस कोने में है;

(ii) झाड़ू का ब्रश उस कोने में है; तथा

---

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स अनु० 47 But isn't a chessboard for instance, obviously and absolutely composite ? You are probably thinking of the composition out of thirty two white and thirty two black squares. But could we not also say for instance that it was composed of the colours black and white and the scheme of squares ?

(iii) झाड़ू का डण्डा ब्रश के साथ संलग्न है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या विश्लेषण के बाद विश्लेष्य का मौलिक अर्थ सुरक्षित रहता है ? अवश्य ही इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी प्रतिज्ञप्ति का तार्किक विश्लेषण (अर्थ) का अनर्थ कर डालता है। ट्रैक्टेटस इसी प्रकार के दोषों से ग्रस्त है। निरपेक्ष रूप में सरलतम इकाइयों की खोज ही जो ट्रैक्टेटस का उद्देश्य है, दोषपूर्ण है।

(4) इसी से सम्बन्धित पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन के दर्शन का एक अन्य दोष यह है कि उन्होंने सरल और जटिल के अन्तर को एक निरपेक्ष अन्तर के रूप में स्वीकार किया जो सही नहीं है। उन्होंने जटिल प्रतिज्ञप्तियों को प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के रूप में विश्लेषित किया जो वस्तु-स्थितियों का वर्णन करती हैं। पर वास्तविकता यह है कि न तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ सरल हैं और न तो वस्तु-स्थितियाँ ही। प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति नामों का एवम् वस्तु-स्थिति विषयों का समुच्चय है। पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने सरल एवम् जटिल के अन्तर को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष अन्तर के रूप में ही स्वीकार किया। उदाहरण के लिए, सम्पूर्ण शतरंज-पट्टिका के सन्दर्भ में "सफेद वर्ग" सरल है किन्तु "सफ़ेदी" के सन्दर्भ में "सफेद वर्ग" जटिल है। इसी प्रकार "सफेद" को एक दृष्टि से सरल पर दूसरी दृष्टि से जटिल माना जा सकता है। "सफेद वर्ग" के सन्दर्भ में "सफेद" सरल है किन्तु "सभी रंगों के मिश्रण" के सन्दर्भ में वह जटिल है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु सरल है अथवा जटिल उस विशिष्ट सन्दर्भ पर आश्रित है जिसके परिप्रेक्ष्य में हम उस पर विचार करते हैं। पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन ने "सरलता" एवम् "जटिलता" के प्रत्यय को निरपेक्ष प्रत्यय मानकर बड़ी भूल की थी जिसे उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में सुधारने का प्रयत्न किया।

(5) पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन के दर्शन में जो सबसे बड़ा दोष था वह अर्थ-सिद्धान्त के विषय से सम्बन्धित था। ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टाइन ने जिस अर्थ-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह कुछ इस प्रकार था :

(i) किसी पद का अर्थ यदि वह व्यक्तिवाचक संज्ञा है, वह विषय है जिसकी ओर वह निर्देश करता है।

(ii) सरल विषयों की ओर निर्देशित करने वाले नाम ही वास्तविक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं।

अतः किसी नाम का अर्थ वह सरलतम विषय है जिसकी ओर वह नाम संकेत करता है। पर ऊपर हमने देखा कि जब निरपेक्ष सरल विषय-वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस के प्रथम सिद्धान्त का इन्वेस्टिगेशन्स में बड़ी निष्ठुरता से खण्डन किया है। ट्रैक्टेटस के नाम के सिद्धान्त को **धारक सिद्धान्त** (Bearer Theory) के नाम से अभिहित किया जा सकता है। जिसके अनुसार किसी नाम का अर्थ वह वस्तु या विषय है जिसकी ओर नाम संकेत करता है। पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन को नाम का यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है। कल्पना किया कि देवदत्त एक नाम है। यदि नाम के धारक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो देवदत्त का अर्थ वह

व्यक्ति होगा जिसकी ओर देवदत्त नाम संकेत करता है। मान लिया कि कुछ दिनों के बाद देवदत्त की मृत्यु हो जाती है। क्या ऐसी स्थिति में "देवदत्त का अस्तित्व समाप्त हो गया" अथवा "देवदत्त की मृत्यु हो गई" इत्यादि वाक्य निरर्थक हो गए ? हम अच्छी प्रकार जानते हैं कि देवदत्त की मृत्यु के बाद भी उपर्युक्त वाक्यों की सार्थकता अक्षुण्ण रहती है। अतः किसी नाम के अर्थ एवम् उसके धारक (Bearer) के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। वास्तव में किसी नाम का अर्थ वह वर्णन या वर्णन-समूह है जो उस नाम के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है।[1] कोई नाम तब भी सार्थक हो सकता है जब कि उसकी संगति में संसार में किसी व्यक्ति या वस्तु का अस्तित्व न हो। यह तभी सम्भव है जब कि नाम का अर्थ वह व्यक्ति या वस्तु न हो जिसकी ओर वह नाम संकेत करता है। हाँ, कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में किसी नाम का अर्थ कोई वस्तु हो सकती है। उदाहरण के लिए : "मीटर शब्द का अर्थ वह मानक मीटर है जो पेरिस के संग्रहालय में रखा गया है" किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह वर्णनात्मक कथन न होकर द्विरुक्ति (Tautology) मात्र है। यहाँ 'मीटर' शब्द किसी वस्तु की ओर संकेत न कर मात्र "भाषा" के उपकरण (Instrument of Language) के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अतः नाम के अर्थ को किसी भी रूप में देखा जाय, उसका धारक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(6) ऊपर हमने देखा कि ट्रैक्टेटस का विषय (Object) जो सरल व अविनाशी है, बिलकुल काल्पनिक वस्तु है। विषय-सिद्धान्त के ध्वस्त हो जाने से वस्तु-स्थिति, नाम व प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का सिद्धान्त स्वतः समाप्त हो जाता है। ट्रैक्टेटस में **विटगेन्स्टाइन** ने कहा था कि प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ परमाणविक तथ्यों का चित्रण करती हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि जब न तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व है और न परमाणविक तथ्यों का, तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ परमाणविक तथ्यों का किस प्रकार चित्रण कर सकती हैं ?

(7) ट्रैक्टेटस में हमने देखा कि भाषा और जगत् के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विटगेन्स्टाइन ने **अभिप्रायमूलक प्रक्रिया** (Act of Intending) अथवा **तात्पर्यमूलक चिन्तन** (Thinking out its sense) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। कोई व्यक्ति किसी वाक्यात्मक संकेत का प्रयोग करता है और साथ ही अभिप्रायमूलक प्रक्रिया द्वारा निश्चित करता है कि अमुक शब्द का प्रयोग अमुक विषय के लिए अथवा अमुक वाक्य का प्रयोग अमुक अवस्थिति के लिए किया गया है। इसी प्रकार शब्द एवम् विषय तथा वाक्य एवम् अवस्थिति के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है।

किन्तु फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में विटगेन्स्टाइन ने भाषा एवम् जगत के बीच इस प्रकार के सह-सम्बन्ध का विरोध किया है। यदि अभिप्रायमूलक प्रक्रिया के द्वारा वाक्य एवम् तथ्य के बीच सह-सम्बन्ध को स्वीकार किया जाय तो क्या इस वाक्य द्वारा "काली घटा छाई हुई है और हवा के झोंकों के साथ पानी की बौझार हो रही है" सुहावने मौसम का बोध हो सकता है ? विटगेन्स्टाइन ने एक दूसरे दृष्टान्त द्वारा अपनी बात को समझाने का प्रयत्न किया है :

---

1. A name is a short for some description.

510. "निम्न प्रयोग कीजिए : कथन कीजिए 'यहाँ ठंडक है' और इसका तात्पर्य कीजिए 'यहाँ गरमी है' क्या आप यह कर सकते हैं ? और जब आप ऐसा करते हैं, आप क्या कर रहे होते हैं ? और ऐसा करने का क्या केवल एक ही मार्ग है ?"[1]

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो किसी भी वाक्य से किसी भी तथ्य का बोध हो सकता है जो वस्तुतः सही नहीं है। यहाँ विटगेन्स्टाइन के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी कथन और अभिप्रायमूलक प्रक्रिया के बीच शब्द एवम् लय का सम्बन्ध है तो हम कथन का परित्याग कर चिन्तन (अभिप्रायमूलक प्रक्रिया) पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार शब्दों का प्रयोग किए बिना ही हम गीत गुनगुना सकते हैं उसी प्रकार शाब्दिक कथन के बिना ही हम चिन्तन की प्रक्रिया का सम्पादन कर सकते हैं। पर यह बिलकुल निरर्थक एवं असंगत बात है।

पर यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस निरर्थकता एवम् असंगति का कारण क्या है ? विटगेन्स्टाइन के अनुसार इस असंगति का कारण कथन एवम् अभिप्रायमूलक प्रक्रिया के बीच भेद स्थापित करना है। प्रत्येक कथन के साथ अभिप्रायमूलक प्रक्रिया संलग्न नहीं होती। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

693. "सार्थकता को मानसिक प्रक्रिया के रूप में अभिहित करने से अधिक दुराग्रह की कल्पना नहीं की जा सकती।"[2]

इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों के कारण वे कहते हैं कि अर्थ-निर्धारण को मानसिक प्रक्रिया मानना अत्यधिक भ्रान्तिमूलक धारणा है। अर्थ-निर्धारण भाषा-प्रयोग, सन्दर्भ एवम् परिस्थिति पर निर्भर करता है। वस्तुतः भाषा प्रयोग में ही अर्थ निहित है। प्रयोग से पृथक् अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने कहा था :

"अर्थ के विषय में मत पूछो, प्रयोग के विषय में पूछो"[3]

(8) **साधारण भाषा** (Ordinary Language) एवम् **आदर्श भाषा** (Ideal Language) को लेकर भी ट्रैक्टेटस एवम् फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में पर्याप्त मतभेद है। ट्रैक्टेटस के अनुसार यदि साधारण भाषा के स्थान पर आदर्श भाषा का प्रयोग किया जाय तो हमारा चिन्तन न केवल वैज्ञानिक, स्पष्ट व सुनिश्चित होगा वरन् इस प्रयोग से हमारी बहुत-सी दार्शनिक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जायगा। इस प्रकार के भाषा विचार के पीछे यह मान्यता है कि हमारी सामान्य साधारण भाषा अनेकार्थता तथा अस्पष्टता उत्पन्न करती है। अतः इससे मुक्ति पाने के लिए एक **तार्किक भाषा** (Logical Language) का होना अनिवार्य है जहाँ अनेकार्थता व अस्पष्टता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो कथन इस प्रकार की भाषा के

---

1. Make the following experiment : say 'It is cold here' and mean 'It is warm here'. Can you do it ? And what are you doing as you do it ? And is there only one way of doing it ?
2. Nothing is more wrong-headed than calling meaning a mental activity.
3. Do not ask for the meaning, ask for the use.

जितना ही निकट होगा वह उतना ही स्पष्ट व एकार्थक होगा। ट्रैक्टेटस में "प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति" तथा "प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन" की भाषा ऐसी ही तार्किक भाषा है। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने इस प्रकार के विचार की कृत्रिमता व रिक्तता को अनावृत किया है। उनके अनुसार यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि हमारी साधारण भाषा एक निम्नस्तरीय भाषा है जो अनिवार्यतः अस्पष्ट एवम् अनेकार्थक है। इन दोषों के निवारण के लिए ही उन्होंने एक उच्चस्तरीय आदर्श भाषा का उपक्रम रचा। यह भाषा गणित एवम् प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के तर्ज पर प्रतिज्ञप्ति, सत्यता, सत्यता-फलन, वैधता, आपादन एवम् तार्किक प्रमाण पर आधारित है। पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने आदर्श भाषा की अवास्तविकताओं एवम् दुर्बलताओं का आकलन कर उसे वास्तविकता के धरातल पर स्थापित करने की चेष्टा की। फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में उन्होंने स्पष्ट किया कि तर्कशास्त्र की स्फटिकीय स्पष्टता (Crystalline Clarity) तर्कशास्त्रीय प्रणाली के वैज्ञानिक अध्ययन व विश्लेषण पर आधारित नहीं है और न भाषीय व्यवहारों के अध्ययन पर आधारित है। सर्वप्रथम लोगों ने इसे तर्कशास्त्र की एक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया जो बाद में इसका अनिवार्य लक्षण हो गया।

पूर्वमान्यता को अनिवार्य लक्षण मानने के कारण आदर्श भाषा न केवल कृत्रिम व अयथार्थ हो गई वरन् साधारण जीवन के भाषीय व्यापारों से पर्याप्त हट गई। **ट्रैक्टेटस** में जिस भाषा की संस्तुति की गई है वह इतनी कृत्रिम और अयथार्थ है कि उसे अपनी प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति का कोई वास्तविक दृष्टान्त ही नहीं मिल पाया। उसका यह कथन कि किसी उदाहरण का न दे पाना कोई दोष नहीं है क्योंकि तार्किकता की यह माँग है कि प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का अनिवार्य अस्तित्व होना चाहिए, स्वीकार्य नहीं हो सकता। यह किसी युक्ति के ऊपर आधारित न होकर अन्धविश्वास पर ही आधारित मानना होगा। केवल तार्किकता के आदर्श की रक्षा के लिए कृत्रिमता व अयथार्थता को गले नहीं लगाया जा सकता।

दार्शनिक समस्याएँ
(Philosophical Problems)

ऊपर हमने देखा कि ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टाइन अपनी कृत्रिम प्रतीकात्मक भाषा द्वारा दार्शनिक समस्याओं का समाधान करना चाहते थे। पर आगे चलकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का तार्किक प्रदर्शन उन्हें विरोधाभास की ओर ले जाता है। इस विरोधाभास को उन्होंने निम्न प्रकार व्यक्त किया है :

"मेरा तार्किक चित्रण का सिद्धान्त एक ओर समस्या का एक मात्र सम्भाव्य निदान प्रतीत होता है, किन्तु दूसरी ओर इसमें एक असमाधेय विरोधाभास दिखाई देता है।"[1]

उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन को जब ट्रैक्टेटस के विचारक की यह भ्रान्ति दिखाई देती है तो उसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार की उलझन में ट्रैक्टेटस का विचारक उलझकर भ्रान्तिग्रस्त हो गया है उसी प्रकार की उलझन दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करती हैं।

1. नोट बुक 23-10-14 On the one hand my theory of logical portrayal seems to be the only possible one, on the other hand, there seems to be an insoluble contradiction in it.

विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ एक प्रकार की **पहेली** (Puzzlement) या **उलझन** (Perplexity) है। दार्शनिक समस्याओं का विशिष्ट लक्षण यह है कि उनके उपस्थित होने पर मनुष्य सम्भ्रान्त हो जाता है। **उलझन-ग्रस्त होना दार्शनिक का व्यावसायिक रोग है।** उलझन इस बात की होती है कि दार्शनिक को कोई स्पष्ट मार्ग दिखाई नहीं देता।[1] मेल्कौम (Malcolm) लिखते हैं कि विटगेन्स्टाइन ने उनसे एक बार कहा था कि दार्शनिक उलझन में पड़ा व्यक्ति उस मनुष्य के समान है जो बन्द कमरे से बाहर तो निकलना चाहता है पर वह नहीं जानता कि कैसे निकले। वह खिड़की से निकलना चाहता है, किन्तु खिड़की बहुत ऊँची है, वह चिमनी से निकलने की सोचता है किन्तु चिमनी बहुत संकरी है।[2]

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीवन में उलझनें, पहेलियाँ एवम् सम्भ्रान्तियाँ तो प्रतिदिन उत्पन्न होती हैं पर वे दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न नहीं करतीं। इस सम्बन्ध में विटगेन्स्टाइन का कथन है कि दार्शनिक उलझनों की एक विशिष्टता होती है जो अन्य उलझनों में नहीं पाई जाती। दार्शनिक उलझनों से इतर उलझनों का समाधान, साधारण प्रमाण, तथ्यों एवम् साक्ष्य के संकलन से किया जा सकता है, किन्तु दार्शनिक उलझनों का समाधान नवीन तथ्यों या साक्ष्यों की जानकारी द्वारा होने की कोई सम्भावना नहीं है। अधिकांश उदाहरणों में उलझन में फँसे दार्शनिक को सभी प्रासंगिक तथ्यों का ज्ञान होता है। उसे तथ्यों या साक्ष्यों की कमी का बोध भी नहीं होता फिर भी वह उलझन में फँसा होता है। उसे लगता है कि किसी स्थल पर कोई भयंकर भूल हो रही है पर वह उस भूल को समझ नहीं पाता। यही उसकी पहेली या उलझन है। विटगेन्स्टाइन, सर्वप्रथम, लोगों को इस उलझन की अनुभूति कराते थे। इस उलझन के विषय में हमारे विचार चाहे कितने ही तार्किक व सुसंगत हों अन्ततः उनमें कुछ न कुछ विसंगतियाँ अवश्य पाई जाती हैं। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

मेरा उद्देश्य है : **आपको शिक्षित करना कि किस प्रकार प्रच्छन्न निरर्थकता के अंश से हम प्रगट निरर्थकता की ओर अग्रसर हो सकते हैं।**[3]

दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ पहेली व उलझन से होता है, पाश्चात्य दर्शन के लिए कोई नई बात नहीं है। **प्लेटो** ने भी कहा था कि दर्शन का प्रारम्भ विस्मय व आश्चर्य से होता है। **जीनो** का दर्शन गति एवम् प्रपञ्च के विरोधाभासों से प्रारम्भ हुआ था। काण्ट ने प्रज्ञा के चार विप्रतिषेधों की समस्या का समाधान करने के लिए अपने दर्शन का निर्माण किया था। **ब्रैडले** ने अपनी पुस्तक "आभास और सत" में जगत-सम्बन्धी बुद्धि की कोटियों का खण्डन कर सत का अनुशीलन किया था। विटगेन्स्टाइन ने भी यही अनुभव किया कि दर्शन का प्रारम्भ जीवन की पहेलियों एवम् उलझनों से होता है। दार्शनिक समस्याओं की उपमा हम एक ऐसे विक्षिप्त व्यक्ति की मनो-व्याधियों से दे सकते हैं जो उन व्याधियों के कारण को बाह्य संसार में ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है जब कि उनका वास्तविक कारण उनके अन्तर्मन में ही निवास करता है। अतः हम

---

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 123, A philosophical problem has the form : I do not know my way about.
2. Memoire, p. 51.
3. विट० माइण्ड LXI No. 242, 1952. My aim is to teach you to pass from a piece of disguised nonsense to something that is patent nonsense.

कह सकते हैं कि दार्शनिक समस्या एक बौद्धिक व्याधि है जो किसी वैचारिक विकृति के कारण उत्पन्न होती है। इन दार्शनिक समस्याओं का समाधान करने के लिए हम जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वे समस्याओं से भी अधिक बदतर होते हैं। दार्शनिक का कार्य मनुष्य को इन बौद्धिक व्याधियों एवम् विकृतियों से मुक्त करना है। विटगेन्स्टाइन कहते हैं :

किसी समस्या का दार्शनिक द्वारा समाधान किसी व्याधि के उपचार के समान होता है।[1]

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र एक चिकित्सा विज्ञान है जिसका उद्देश्य हमारे बौद्धिक स्वास्थ्य को ठीक रखना है। दूसरे दृष्टिकोण से, यदि कोई व्यक्ति किसी दार्शनिक उलझन से ग्रस्त है तो दर्शन-शास्त्र का कार्य उस व्यक्ति को इस उलझन से मुक्ति दिलाना है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में :

दर्शन-शास्त्र में आपका उद्देश्य क्या है ? मक्खी को शीशी से बाहर निकलने का पथ-प्रदर्शन करना।[2]

दर्शन-शास्त्र बौद्धिक व्याधि से प्रारम्भ होता है और उसके उपचार में समाप्त होता है अथवा यह बन्दीकरण से प्रारम्भ होता है और स्वातन्त्र्य की कामना करता है। पर यह उपचार और स्वातन्त्र्य वास्तविक और स्थाई होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन-शास्त्र के द्वारा हमारी दार्शनिक समस्या का पूर्ण समाधान होना चाहिए। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए हम जो दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वे केवल अस्थाई दर्द-नाशक दवाएँ हैं; समस्याओं के स्थाई निदान नहीं। पर इनके महत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इन दार्शनिक समस्याओं के वास्तविक स्रोतों पर दृष्टिपात करें।

हम जानते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ कोई वास्तविक समस्याएँ नहीं होतीं; वे केवल कुछ भ्रान्त धारणाओं के ऊपर आधारित होती हैं। वे भ्रान्त धारणाएँ भाषा के स्वरूप व कार्य से सम्बन्धित होती हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार सामान्यतः हमारे साधारण भाषीय प्रयोगों से हमारा साधारण कार्य सुचारुरूप से चलता रहता है किन्तु कभी-कभी हम इन साधारण भाषीय व्यवहारों से विचलित होकर भाषा को अवकाश पर भेज देते हैं [3] जिनके कारण दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ट्रैक्टेटस के विचार भी इन्हीं भ्रान्त धारणाओं पर आधारित हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति के तीन प्रमुख कारण हैं :

(1) भाषा-सम्वन्धी भ्रान्त धारणाएँ (Misconceptions about language)

(2) सामान्यता की अभिलाषा (Craving for generality)

(3) चित्र द्वारा वन्दीकरण की प्रक्रिया (Holding us captive by a picture)

(1) ट्रैक्टेटस में हमने देखा कि भाषा के प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ में प्रयोग होना चाहिए एवम् भाषा का प्रमुख कार्य जगत की वस्तुओं और घटनाओं के विषय में सूचना

---

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स खण्ड 225 The philosopher's treatment of a question is like the treatment of an illness.
2. वही खण्ड 309, What is your aim in philosophy. To show the fly the way out of the fly-bottle.
3. Philosophical problems arise when language goes on a holiday.

प्रदान करना है। पर यह भाषा के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा है। हम जानते हैं कि भाषा के किसी शब्द का प्रयोग एक नहीं वरन् अनेक अर्थों में किया जाता है। भाषा के प्रत्येक शब्द बहुधा **विषम-कार्य** (Odd Job) वाले शब्द होते हैं जिनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। यह ठीक है कि भाषा के कुछ शब्द ऐसे अवश्य होते हैं जिनका एक निश्चित अर्थ होता है किन्तु जो शब्द दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं वे निश्चित अर्थ वाले शब्द नहीं होते। उदाहरण के लिए साधारण भाषा में "देश", "काल", "ज्ञान" इत्यादि शब्द ऐसे हैं जिनका विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है और इसी कारण वे हमारे लिए दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में : **"दर्शन-शास्त्र में सबसे बड़ी कठिनाई का कारण यह होता है कि हम महत्त्वपूर्ण विषम-कार्य वाले शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करने के लिए प्रेरित हो जाते हैं मानो वे ऐसे शब्द हों जिनके नियमित कार्य होते हैं।"**[1]

(2) हम जानते हैं कि मनुष्य के मन में एक ऐसी अभिलाषा होती है कि वह एक ही सामान्य शब्द के माध्यम से अधिक से अधिक वस्तुओं अथवा घटनाओं को समाहित करने की चेष्टा करता है। हमें सदा अनेकता के बीच एकता एवम् भेदों के बीच अभेद देखने की इच्छा होती है। दर्शन-शास्त्र में "सामान्य" (Universal) की समस्या इसी प्रकार उत्पन्न होती है। हम प्रत्यक्ष में केवल विशिष्ट मनुष्यों अथवा विशिष्ट गायों को ही देखते हैं किन्तु सामान्यता की अभिलाषा के कारण उनमें हम सामान्य "मनुष्यत्व" अथवा सामान्य "गोत्व" की कल्पना कर बैठते हैं। बुद्धिवादियों में इस सामान्यता की प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। वे संसार की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उनमें एक ऐसे "तत्त्व" के अनुसन्धान में लग जाते हैं जो संसार की सभी वस्तुओं की एक साथ व्याख्या करने में समर्थ हो। भारतीय दर्शन में "प्रकृति", "पुरुष", "ब्रह्म", "माया" इत्यादि शब्द इसी सामान्यता की अभिलाषा के कारण उत्पन्न हुए हैं। विज्ञान के क्षेत्र में इस अभिलाषा का चाहे जितना महत्त्व हो पर दर्शन-शास्त्र में यह अभिलाषा अनेक समस्याओं को उत्पन्न करने में सहायक होती है। सभी वाक्य शब्दों के समूह होते हैं। इस बाह्य समानता के कारण हम समझ लेते हैं कि सभी वाक्यों के समान कार्य होते हैं। पर ऐसा समझना एक भ्रमित विचार ही है। वाक्य सूचनात्मक, प्रश्नवाचक व आज्ञासूचक कुछ भी हो सकता है। इनमें कार्यों की समानता ढूँढ़ना मूर्खता ही है।

(3) हम यह भी जानते हैं कि किसी विशेष प्रकार के कथनों की बार-बार आवृत्ति के कारण उस विषय के सम्बन्ध में हमारे मन में एक चित्र या प्रतिमा उभर कर सामने खड़ी हो जाती है और हम उस प्रतिमा के ऐसे बन्दी बन जाते हैं कि हमारे ज्ञान व विश्वास उसी प्रतिभा के अनुरूप बन जाते हैं। यह चित्र इतना प्रबल बन जाता है कि उससे भिन्न चित्र के लिए कोई अवकाश ही नहीं होता। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि वस्तुएँ देश और काल में स्थित हैं। इन शब्दों की बार-बार आवृत्ति से मन में देश और काल सम्बन्धी एक चित्र उपस्थित हो जाता है कि देश और काल कोई वस्तुनिष्ठ तत्त्व है जो एक भौतिक ढाँचे के रूप में वस्तुओं को अपने भीतर समाहित किए रहता है। 'मन' या आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी भाषीय उक्तियों की बार-बार आवृत्ति के कारण हमारे मन या आत्मा में एक ऐसा चित्र निर्मित हो जाता है कि मन या आत्मा

---

1. ब्ल्यू बुक, पृ० 44.

भी भौतिक तत्त्वों के समान एक तत्त्व है। ऐसे चित्र इतने सबल होते हैं कि हम अपने चिन्तन और व्यवहार में उनके दास बन जाते हैं।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार साधारण व्यक्तियों को इस प्रकार के चित्र परेशान नहीं करते। किन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से इन पर विचार करते हैं तो इसमें निहित चित्र से उत्पन्न प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। इन प्रश्नों के निराकरण का मार्ग हमें नहीं दिखाई देता, यही हमारी दार्शनिक समस्या है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि गलत भाषीय प्रयोग के कारण हमारे समक्ष जो दार्शनिक समस्या है वह कोई सार्थक समस्या नहीं है; वह गलत प्रयोगों की आवृत्ति से उत्पन्न चित्र द्वारा आबद्ध होने के कारण प्रगट हुई है। जब दार्शनिक भाषीय प्रयोग की भ्रान्ति को स्पष्ट कर देता है, दार्शनिक समस्या स्वतः समाप्त हो जाती है। इस सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन के इस कथन की पर्याप्त सार्थकता है कि **"दर्शन-शास्त्र भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरुद्ध एक संघर्ष है।"**[1] बुद्धि का यह सम्मोहन किस प्रकार दूर होगा ? इसके लिए हमें भाषा के वास्तविक प्रयोगों की ओर देखना होगा। भाषा के दुष्प्रयोग को स्पष्ट करने के लिए हमें देखना होगा कि वस्तुतः किन-किन परिस्थितियों में एवम् किन-किन सन्दर्भों में हम साधारणतः भाषा का प्रयोग करते हैं। पर इसके लिए सर्वप्रथम हमें उस भ्रान्तिपूर्ण धारणा से अपने को मुक्त करना होगा कि भाषा के प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। भाषा की सार्थकता किसी विशेष स्थिति के चित्रण करने में निहित नहीं है। जब तक हम **अर्थ** (Meaning) शब्द की सम्मोहनी शक्ति से अपने को पूर्णतया मुक्त न कर लें, तब तक **प्रयोग** (Use) के महत्त्व को समझना हमारे लिए कठिन ही है।

अर्थ एवम् प्रयोग

(Meaning and Use)

हम ऊपर देख चुके हैं कि भाषा के दुष्प्रयोग के कारण हमारे जीवन में दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। भाषा के दुष्प्रयोग का मूल स्रोत हमारी अर्थ सम्बन्धी धारणा है। भाषा में हम सदा यह मान कर चलते हैं कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है जिसे अर्थ का **धारक सिद्धान्त** (Bearer's Theory) कहा जाता है। पर उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन को अर्थ का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्त हमें बन्दी बनाकर भ्रान्ति में उलझा देता है। अतः उन्होंने उद्घोषित किया :

"विचार मत करो बल्कि देखो।"[2] अर्थ के विषय में विचार हमें भ्रान्ति में डाल सकता है, अतः नारा दिया कि "देखो" किन्तु प्रश्न यह है कि किसे देखो। इसका उत्तर है : **"अर्थ को न देखो प्रयोगों को देखो"**। प्रयोगों से यहाँ तात्पर्य भाषीय व्यवहार अथवा भाषीय प्रयोगों से है।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार भाषा के सम्बन्ध में समस्याएँ तब उत्पन्न हो जाती हैं जब हम किसी विशेष शब्द के साथ एक विशेष अर्थ को आबद्ध कर देते हैं। भाषा के साथ अर्थ को सम्बद्ध करना न तो किसी भाषा की मांग है और न उसकी अनिवार्य आवश्यकता। उनका

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 109 Philosophy is a battle against the bewitchment of our intelligence by means of language.
2. Don't think but look.

विश्वास है कि हम शब्दों को अनेक प्रकार से व्यवहार में प्रयुक्त कर सकते हैं। किसी विशेष व्यवहार के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द का यही व्यवहार या प्रयोग उपयुक्त है। प्रयोग की सार्थकता उसके विशिष्ट सन्दर्भ से ही स्पष्ट हो सकती है। इसी बात को ध्यान में रखकर विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि अर्थ के स्थान पर यह देखना आवश्यक है कि विभिन्न सन्दर्भों में भाषीय कथनों का प्रयोग किस प्रकार सम्पादित होता है। उनके अनुसार "प्रयोग" का वास्तविक तात्पर्य है : किन-किन सन्दर्भों में कौन से कथन क्या-क्या कार्य सम्पादित करते हैं ?

"दार्शनिक समस्याएँ वास्तव में आनुभविक समस्याएँ नहीं हैं; उनका समाधान भाषा के कार्यों पर इस प्रकार दृष्टिपात करके किया जा सकता है कि उनके द्वारा भ्रमित होने पर भी हम उनके कार्यों की पहचान कर सकें।"[1]

उदाहरण के लिए हम "काल" शब्द को ले सकते हैं। अपनी सामान्यता की अभिलाषा के कारण हम "काल" को उसी प्रकार की वस्तु के रूप में ले सकते हैं जिस प्रकार कि वृक्ष, मेज, कुर्सी इत्यादि वस्तुएँ होती हैं। परिणामस्वरूप "काल" वह वायवीय माध्यम है जिसके भीतर घटनाएँ घटित होती हैं तथा जो भविष्य से वर्तमान होते हुए भूत की ओर प्रवाहित होता है। इस प्रकार हम स्वयं को एक दार्शनिक पहेली में आबद्ध कर लेते हैं। किन्तु हम यदि विभिन्न सन्दर्भों में "काल" शब्द के प्रयोगों की ओर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि "काल" को एक वायवीय माध्यम के रूप में मान्यता प्रदान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन विभिन्न प्रयोगों द्वारा काल-सम्बन्धी हमारी सारी दार्शनिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

कभी-कभी शब्दों का प्रयोग सूचना देने के लिए नहीं वरन् कुछ भाषीय कार्यों के निष्पादन के लिए किया जाता है। ऐसे प्रयोगों को "निष्पादन उक्तियों" (Performative Utterances) के नाम से अभिहित किया जाता है। ऐसे प्रयोगों को **वाक्-क्रिया प्रयोग** (Speech-Act Use) भी कहते हैं। इस प्रकार के व्यवहार की भी अनेक विधाएँ सम्भव हैं जिनमें वचन-कर्म (Locutionary Act), वचनेतर-कर्म (Illocutionary Act) एवम् प्रभावी वचन-कर्म (Perlocutionary Act) महत्त्वपूर्ण हैं। **वचन कर्म** में हम किसी तथ्य के विषय में कथन करते हैं। यह वर्णनात्मक होता है जिसमें तात्पर्य (Sense) एवम् निर्देश (Reference) दोनों पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए "बिल्ली चटाई पर बैठी है" वचन-कर्म कहा जाएगा। **बचनेतर कर्म** में हम कुछ कथन करने में कुछ कर्म करते हैं जैसे सलाह देना, चेतावनी देना, नियुक्ति करना बचनेतर कर्म है। इसी प्रकार **प्रभावी वचन-कर्म** में हम किसी कथन द्वारा कुछ कर्म सम्पादित करते हैं जैसे: राजी करना, धमकी देना इत्यादि प्रभावी वचन-कर्म हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा के अनेक प्रयोग हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा में किसी एक शब्द के निश्चित अर्थ की खोज करना उपयुक्त नहीं है। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने स्पष्ट रूप में देखा कि इस प्रकार के अर्थ की खोज करना भाषीय उक्तियों के वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा करना है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 109, Philosophical problems are of course not empirical problems, they are solved rather by looking into the workings of our language, and that in such a way as to make us recognise those workings : in despite of un urge to misunderstand them.

भाषीय कथन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप में अर्थवान् होते हैं। उनका अर्थवान होना उनके प्रयोगों पर निर्भर करता है। यदि कोई पूछे कि कितने प्रकार के वाक्य हो सकते हैं तो इसका उत्तर होगा : अनन्त प्रकार के। इन अनन्त प्रकारों का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। वे कुछ कह सकते हैं, कुछ निर्देश दे सकते हैं, कुछ प्रश्न पूछ सकते हैं, किसी वस्तु की प्रतीति का विवरण दे सकते हैं, किसी घटना का विवरण दे सकते हैं या किसी अन्य घटना के विषय में पूर्वानुमान कर सकते हैं, कहानी कह सकते हैं, मजाक कर सकते हैं, प्रश्न पूछ सकते हैं, धन्यवाद दे सकते हैं, गाली दे सकते हैं, स्वागत कर सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, इत्यादि।

किसी शब्द के अर्थ तथा प्रयोग के अन्तर को स्पष्ट करने के कारण विटगेन्स्टाइन को दार्शनिक समस्याओं के निराकरण की एक विधि प्राप्त हो जाती है। इस विधि की मूल बात यह है कि भाषीय प्रयोग का विश्लेषण करने से दार्शनिक समस्याओं का स्वतः निदान हो जाता है। भाषीय प्रयोग के विश्लेषण की विधि को भाषीय क्रीड़ा (Language Game) कहते हैं। किसी समस्या के उत्पन्न होने पर तो उस समस्या की भाषीय अभिव्यक्तियों के साथ भाषीय क्रीड़ा करने से समस्या का स्वतः निदान हो जाता है।

भाषीय क्रीड़ा
(Language Game)

हम ऊपर देख चुके हैं कि भाषा के दुष्प्रयोग के कारण हमारे जीवन में दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। भाषा के दुष्प्रयोग की बार-बार आवृत्ति के कारण हमारे समक्ष एक चित्र उपस्थित हो जाता है जिससे हम सदा के लिए आबद्ध हो जाते हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह एक भ्रान्ति है अथवा मानसिक व्याधि है जिससे मुक्त होने के लिए हमें एक प्रकार का उपचार करना है। इसी कारण उनके अनुसार दार्शनिक विधि एक **उपचार-विधि** (Therapeutic Method) है जिसके द्वारा हम दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

उपचार विधि में हम भाषा के दुष्प्रयोग से अपना ध्यान हटाकर उसके वास्तविक भाषीय प्रयोगों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमें देखना है कि जिस भाषा का हम प्रयोग कर रहे हैं उसका प्रयोग भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाता है। विटगेन्स्टाइन की मान्यता है कि शब्दों का वास्तविक निवास-स्थल उनका साधारण प्रयोग है जिनमें वे साधारणतया व्यवहृत होते हैं। उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित करने से उनके द्वारा उत्पन्न भ्रान्ति स्पष्ट होगी। इसी को ध्यान में रखकर विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि समस्या से मुक्त होने के लिए **हमें उक्तियों को उनके तात्त्विक प्रयोगों से हटाकर उनके सामान्य दैनिक प्रयोगों में बिठाकर देखना होगा।**[1]

दार्शनिक समस्याओं का समाधान करने के लिए किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं है। समस्या में उलझे व्यक्ति को कोई नवीन ज्ञान प्रदान करने की भी अपेक्षा नहीं है, जो कुछ वह पहले से ही जानता है, उसका मात्र स्मरण करा देना है। समस्या के दार्शनिक समाधान का अर्थ है : ऐसे साधारण भाषीय प्रयोगों को प्रस्तुत करना जिनसे समस्या ही विगलित हो जाती है। यहाँ न अनुमान करने की आवश्यकता है और न व्याख्या करनी है, बल्कि व्यक्ति को किसी शब्द के विभिन्न प्रयोगों का मात्र स्मरण करा देना है। इसी सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 116.

कहते हैं : **दार्शनिक का कार्य किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए अनुस्मारकों के संकलन में निहित होता है।**[1]

इस प्रकार की क्रिया को वे भाषीय क्रीड़ा के नाम से अभिहित करते हैं। जिस प्रकार की दार्शनिक समस्याएँ हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं उनके समाधान के लिए दर्शन को भाषीय क्रीड़ा करने की आवश्यकता होती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि भाषीय क्रीड़ा से विटगेन्स्टाइन का क्या तात्पर्य है। इसे हम निम्न प्रकार से समझा सकते हैं। जब हम क्रीड़ा की कल्पना करते हैं तो हम विभिन्न क्रीड़ाओं के विषय में सोचते हैं जैसे ताश, कबड्डी, वालीवाल, फुटवाल, क्रिकेट इत्यादि। वे सभी क्रीड़ाएँ हैं। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इन सभी क्रीड़ाओं में कोई सामान्य सार-तत्त्व (Essence) विद्यमान है। कुछ क्रीड़ाओं में भले ही सामान्य तत्त्व विद्यमान हों पर यदि सभी क्रीड़ाओं में किसी सामान्य तत्त्व का अनुसन्धान किया जाय तो उसका अस्तित्व कहीं नहीं दिखाई पड़ेगा। दृष्टान्तों के परीक्षण के परिणामस्वरूप हमें कुछ अतिव्यापी एवम् तिर्यक् समानताएँ भले ही दृष्टिगोचर हो जायं किन्तु उनके बीच किसी सार-तत्त्व की खोज करना दुष्कर ही होगा। इससे विटगेन्स्टाइन निष्कर्ष निकालते हैं कि क्रीड़ा की कोई निश्चित अवधारणा नहीं बन सकती। क्रीड़ाओं का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन किया जा सकता है, पर उनमें किसी सामान्य तत्त्व की कल्पना करना निरर्थक है। उनके सम्वन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि क्रीड़ाओं का एक परिवार है जिसमें **पारिवारिक सादृश्य** (Family Resemblance) पाया जाता है।

जो बात भौतिक क्रीड़ाओं पर लागू होती है वही बात भाषीय क्रीड़ाओं पर भी चरितार्थ होती है। जिस प्रकार भौतिक क्रीड़ाओं में कोई सामान्य तत्त्व नहीं पाया जाता, उनमें केवल पारिवारिक सादृश्य ही देखने को मिलता है, उसी प्रकार भाषीय क्रीड़ाओं में भी कोई सामान्य अर्थ नहीं पाया जाता। उनमें केवल पारिवारिक सादृश्य ही दृष्टिगोचर होता है। भाषीय क्रीड़ा की कोई निश्चित विधि या प्रविधि का निर्धारण नहीं किया जा सकता। प्रत्येक समस्या के उपस्थित होने पर उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप हमें भाषीय क्रीड़ा करनी पड़ती है। दूसरी समस्या के उपस्थित होने पर उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप हमें भाषीय क्रीड़ा करनी पड़ती है। इस प्रकार भाषीय क्रीड़ा-व्यापार में एक प्रकार की तदर्थता (Ad-hocism) का होना अनिवार्य है।

विटगेन्स्टाइन ने अनेक प्रकार की भाषीय क्रीड़ाओं की सम्भावना को व्यक्त किया है। उन्होंने भाषा के विभिन्न रूपों को जीवन के विभिन्न रूपों (Forms of life) के समान माना है। इसका प्रारम्भ प्राथमिक भाषा (Primitive Language) से होता है जिसमें बालक भाषा का ज्ञान अर्जित करता है। भाषा के ज्ञान की वृद्धि के साथ मनुष्य कई प्रकार की भाषीय क्रीड़ाओं को खेलना सीख जाता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या भाषीय क्रीड़ा के द्वारा हमारी दार्शनिक समस्याओं का समाधान हो जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि भाषीय क्रीड़ा हमारी समस्याओं का समाधान नहीं करती बल्कि समस्याओं को ही विगलित कर देती है।

---

1. वही, 127. The work of the philosopher consists in assembling reminders for a particular purpose.

हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि दार्शनिक समस्या शीशी में बन्द एक मक्खी की भनभनाहट के समान है। इसके निदान का केवल यही मन्तव्य हो सकता है कि **शीशी से मक्खी को निकालकर उसे मुक्त कर दिया जाय।**[1] भाषीय क्रीड़ा से मनुष्य को किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। इसकी फलश्रुति केवल इस बात में निहित है कि पहले जो उलझन थी वह अब समाप्त हो गई। **दार्शनिक समस्या के निदान का तात्पर्य है : समस्या के विषय में पूर्ण स्पष्टता या पारदर्शिकता अर्थात् समस्या की समाप्ति।**[2]

उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के भाषीय क्रीड़ा सिद्धान्त की मुख्य अवधारणा यह है कि भाषा के कथन का तात्पर्य कुछ जटिल व्यवहारों का सम्पादन करना है। इन जटिल व्यवहारों के सम्पादन में कुछ कौशल या निपुणता की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, कल्पना किया कि एक बालक गेंद (Ball) शब्द के अर्थ को जानना चाहता है। इसके लिए केवल यह पर्याप्त नहीं है कि बालक गेंद शब्द को बार-बार उच्चरित करना सीख जाय। यह काम तो तोता भी कर सकता है जिसे "गेंद" शब्द के अर्थ की तनिक भी जानकारी नहीं है। अब प्रश्न यह है कि हम कैसे जाने कि किसी बालक ने 'गेंद' शब्द के अर्थ को पूर्णतया आत्मसात कर लिया है। यह तभी सम्भव है जबकि यह प्रश्न करने पर कि अमुक वस्तु क्या है, बालक उत्तर देने में सक्षम हो कि "अमुक वस्तु गेंद है।" अथवा उस वस्तु के साथ बालक उसी प्रकार व्यवहार करे जैसा कि लोग साधारणतया गेंदों के साथ व्यवहार करते हैं।

इसी बात को विटगेन्स्टाइन ने निर्देशात्मक परिभाषा एवम् शाब्दिक परिभाषा के बीच अन्तर करके स्पष्ट करने की चेष्टा की है। किसी वस्तु की निर्देशात्मक परिभाषा (Ostensive Definition) से हमारा तात्पर्य यह है कि उस वस्तु के किसी दृष्टान्त की ओर हम संकेत या निर्देश करें। इस प्रकार के संकेत या निर्देशन से हम उस पद के अर्थ को निर्धारित करने में सफल हो सकते हैं। पर विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह सर्वथा सही नहीं है। इसका कारण यह है कि "गेंद" शब्द को परिभाषित करने में जब हम किसी गेंद की ओर निर्देश करते हैं तो हमारा संकेत उस वस्तु, उसकी आकृति, उसके रंग, उसके भार अथवा उसके परिमाण किसी भी निर्देश्य की ओर हो सकता है। अतः किसी पद की निर्देशात्मक परिभाषा उसके अर्थ को पूर्णतया निर्धारित नहीं कर सकती। विटगेन्स्टाइन ने ठीक ही कहा है : **"निर्देशात्मक परिभाषा की प्रत्येक स्थिति में भिन्न-भिन्न व्याख्या की जा सकती है।"**[3] अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि निर्देशात्मक परिभाषा के द्वारा बालक किसी पद के अर्थ को पूर्णतया नहीं समझ सकता।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त परिस्थिति में बालक किस प्रकार व्यवहार करे कि लोगों को विदित हो जाय कि उसने "गेंद" शब्द के अर्थ को भली भाँति आत्मसात कर लिया है ? यह तभी सम्भव है जब कि किसी गेंद को जाकर लाने के लिए आज्ञा देने पर वह गेंद को ला दे; किसी गेंद की आकृति के चित्रण करने की इच्छा प्रगट करने पर वह

---

1. To show the fly the way out of the fly-bottle.
2. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 133. For the clarity that we are aiming at is indeed complete clarity. But this simply means, that the philosohical problems should completely disappear.
3. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 28 An ostensive definition can be variously interpreted in every case.

उसका चित्र प्रस्तुत कर दे; अन्य वस्तुओं के बीच रखने पर वह गेंद की पहचान कर लें। यदि बालक उपर्युक्त व्यवहारों को सम्पन्न करने में सफल हो जाता है तो हम समझेंगे कि उसने "गेंद" शब्द के अर्थ को भलीभाँति समझ लिया है। इस प्रकार भाषा के ज्ञान का तात्पर्य विभिन्न प्रकार की क्रियाओं अथवा व्यवहारों के सम्पादन में निहित होता है। यही बात अन्य शब्दों के अर्थ के साथ भी घटित होती है। यदि कोई व्यक्ति "काल" या "समय" (Time) के अर्थ को समझता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह पूछने पर समय की गणना कर सकेगा, समय का मापन कर सकेगा, किसी कार्य की अवधि को निर्धारित कर सकेगा इत्यादि। अतः भाषा को समझने का अर्थ है : विभिन्न प्रकार के व्यवहारों एवम् निपुणताओं का सफल प्रदर्शन। इसी कारण विटगेन्स्टाइन ने भाषीय ज्ञान को **जीवन की एक शैली** (Form of Life) माना है। इसी सन्दर्भ में उनकी यह प्रसिद्ध उक्ति है :

"यदि शेर के भीतर संवाद की योग्यता होती तो उसे हम समझ न सकते।"[1]

शेर की बातों को न समझने का कारण यह है कि वह अपनी भाषा को उसी प्रकार के व्यवहारों में चरितार्थ करने में असमर्थ है जिस प्रकार कि मनुष्य अपनी भाषा को व्यवहार में चरितार्थ करता है। भाषा के प्रयोग में व्यवहारों एवम् निपुणताओं के प्रदर्शन की अनिवार्यता के कारण ही विटगेन्स्टाइन ने उसकी उपमा **भाषीय क्रीड़ाओं** (Language Games) से दी है। जिस प्रकार कार-दुर्घटना के चित्र को देखकर विटगेन्स्टाइन ने प्रतिज्ञप्तियों के चित्र-सिद्धान्त का आविष्कार किया उसी प्रकार फुटबाल स्पर्धा को देखकर उन्होंने **भाषीय क्रीड़ा** (Language Game) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भाषा के प्रयोग का तात्पर्य है विभिन्न प्रकार के व्यवहारों एवम् निपुणताओं का प्रदर्शन करना जो उसे समझने के लिए अनिवार्य होती हैं। अतः उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के लिए शब्द बाह्य वस्तुओं के चित्र नहीं हैं वरन् भाषीय क्रीड़ा के उपकरण हैं जिनके द्वारा हम विभिन्न प्रकार की भाषीय क्रीड़ाओं को सम्पादित करते हैं। इसकी उपमा एक शतरंज के खेल के साथ भी दी जा सकती है जिसकी मोहरें बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व कर उन व्यवहारों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो उन मोहरों के साथ सम्बद्ध होती हैं। अतः किसी शब्द के अर्थ से हमारा तात्पर्य विभिन्न प्रकार की भाषीय क्रीड़ाओं में उसकी भूमिका से है जो वह उनमें सम्पादित करता है। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में **वास्तविक जीवन-धारा के सन्दर्भ में ही किसी अभिव्यक्ति की सार्थकता निर्धारित की जाती है।**[2] शब्दों का निवास-स्थान भाषीय क्रीड़ाओं में ही देखा जा सकता है। जब हम किसी शब्द के अर्थ को उसकी व्यावहारिक परिस्थितियों से पृथक् कर समझने की चेष्टा करते हैं तो हम नाना प्रकार की दार्शनिक पहेलियों में उलझ जाते हैं। **"हमारे भीतर भ्रान्ति तब उत्पन्न होती है जब भाषा रूपी इञ्जन कार्य नहीं करता वरन् निष्क्रिय रूप में पड़ा रहता है।"**[3]

यहाँ विटगेन्स्टाइन के दर्शन के विरुद्ध आक्षेप लगाया जा सकता है कि उन्होंने भाषा के अर्थ को समझने में व्यवहारों एवम् निपुणताओं को विशेष बल दिया है। पर यह सत्य केवल मिश्रित भाषीय क्रीड़ा (Impure Language Games) पर ही लागू होता है, अमिश्रित भाषीय

1. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 223. If a lion could talk, we could not understand him.
2. An expression has meaning only in the stream of life.
3. फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स 132, The confusions which occupy us arise when language is like an engine idling not when it is doing work.

क्रीड़ा (Pure Language Game) पर नहीं। हम अपने जीवन में प्रायः ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसके साथ कोई व्यवहार सम्बद्ध नहीं होता। फिर भी उनके भीतर, सार्थकता पाई जाती है। इस तथ्य से कोई निष्कर्ष निकाल सकता है कि विटगेन्स्टाइन का भाषीय क्रीड़ा सिद्धान्त एक सीमित सिद्धान्त है जो अमिश्रित भाषा पर लागू नहीं होता। पर यह आक्षेप व्यवहार को एक सीमित अर्थ में लेने के कारण उत्पन्न होता है। विटगेन्स्टाइन "व्यवहार" शब्द को इतने सीमित अर्थ में नहीं लेते। उनके अनुसार **"आदेश देना, प्रश्न करना, वर्णन करना, बातचीत करना हमारे भौतिक इतिहास के उतने ही अभिन्न अंग हैं जिस प्रकार टहलना, खाना, पीना या खेलना"**[1] अर्थात् व्यवहार के भीतर विटगेन्स्टाइन ने केवल अभाषीय व्यवहारों को ही शामिल नहीं किया है वरन् वे उसके भीतर भाषीय व्यवहारों को भी समाहित करते हैं। उनके भाषीय क्रीड़ा के सिद्धान्त को समझने के लिए भाषीय एवम् अभाषीय दोनों प्रकार के व्यवहारों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

□□□

1. फिलॉ० इन्वे० 25. Commanding, questioning, recounting, chatting are as much a part of our natural history as walking, eating, drinking or playing.

10

तार्किक प्रत्यक्षवाद
(Logical Positivism)

तार्किक प्रत्यक्षवाद में "तार्किक" एवम् "प्रत्यक्षवाद" शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। **प्रत्यक्षवाद** का ज्ञानमीमांसीय अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ही ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र स्रोत है; तत्त्वमीमांसीय अर्थ में प्रत्यक्षवाद का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष-जगत ही एक मात्र जगत है; अर्थात् प्रत्यक्ष जगत से अतीत किसी अतीन्द्रिय जगत का संसार में कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार तार्किक प्रत्यक्षवाद में "तार्किक" शब्द का भी एक विशिष्ट महत्त्व है। "तार्किक" शब्द का यहाँ प्रयोग परम्परागत तर्कशास्त्र के लिए नहीं किया गया है जिसका प्रतिपादन एरिस्टॉटल ने किया था; "तार्किक" शब्द का प्रयोग यहाँ उस तर्क-शास्त्र के लिए किया गया है जिसका आविष्कार बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **प्रिंसिपिया मैथमेटिका** (Principia Mathematica) में किया था। "तार्किक" शब्द के भीतर रसेल के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को समाहित किया जा सकता है : (1) **वर्णन-सिद्धान्त** (Theory of Description), (2) **प्ररूप-सिद्धान्त** (Theory of Types) एवम् (3) **व्याप्ति-सिद्धान्त** (Principle of Extensionality) अर्थात् कोई भी प्रतिज्ञप्ति मूलप्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में घटित की जा सकती है। तार्किक प्रत्यक्षवाद में "तार्किक" शब्द का प्रयोग तर्क-शास्त्र के उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों पर आधारित है।

तार्किक प्रत्यक्षवाद को मनोवैज्ञानिक अनुभववाद (Psychological Empiricism) से पृथक् करके भी समझा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अनुभववाद विज्ञान (Idea) को इकाई मानकर साहचर्य-नियमों (Laws of Association) द्वारा उन्हें संकलित कर ज्ञान का निर्माण करता है। इसके विपरीत तार्किक प्रत्यक्षवाद प्रतिज्ञप्ति (Proposition) को इकाई मानकर उसे मूल प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता-फलन के रूप में घटित करने की चेष्टा करता है। लॉक, बर्कले एवम् ह्यूम के दर्शन को हम मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के दृष्टान्त के रूप में मान सकते हैं। इसके विपरीत ए. जे. एयर (A.J. Ayer), जॉन विज़्डम (John Wisdom), फ्रेडरिक वैसमेन (Friedrich Waismann) इत्यादि दार्शनिक तार्किक प्रत्यक्षवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तार्किक प्रत्यक्षवाद का इतिहास
(History of Logical Positivism)

दार्शनिक विचारधारा के रूप में तार्किक प्रत्यक्षवाद का इतिहास **विएना-मण्डल** (Vienna Circle) के इतिहास से जुड़ा है। विएना ऑस्ट्रिया देश की राजधानी है। 1922 ई० में मॉरिज श्लिक (Moritz Schlick) विएना विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी प्रेरणा से विएना में एक दार्शनिक संस्था की स्थापना हुई जिसका नाम **विएना-मण्डल** (Vienna-Circle) रखा गया। इस मण्डल में दो प्रकार के सदस्य थे। प्रथम प्रकार के सदस्य

दार्शनिक तथा द्वितीय प्रकार के सदस्य वैज्ञानिक एवम् गणितज्ञ थे। प्रथम वर्ग में **मॉरिज शिलक, रुडाल्फ कार्नैप** (Rudolf Carnap), **ऑटो न्यूरथ** (Otto Neurath), **हर्बर्ट फाइगल** (Herbert Feigl), **फ्रेडरिक वैसमेन** (Friedrich Waismann) इत्यादि दार्शनिक थे तथा दूसरे वर्ग में **फिलिप फ्रैंक** (Philipp Frank), **कार्ल मेङ्गर** (Karl Menger), **कर्ट गोडेल** (Kurt Godel) इत्यादि वैज्ञानिक एवम् गणितज्ञ थे। यद्यपि विटगेन्स्टाइन विएना-मण्डल के सदस्य नहीं थे पर उस पर उनके दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव था। विएना-मण्डल की स्थापना के एक वर्ष पूर्व 1921 ई० में विटगेन्स्टाइन की सुप्रसिद्ध पुस्तक "**ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलॉसॉफिकस**" प्रकाशित हो चुकी थी। इस पुस्तक के अनेक विचारों एवम् सिद्धान्तों को तार्किक प्रत्यक्षवाद ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था। हम यह नहीं कह सकते कि तार्किक प्रत्यक्षवाद के मूल प्रेरणा-स्रोत विटगेन्स्टाइन थे क्योंकि मॉरिज शिलक ने ट्रैक्टेटस के प्रकाशन के कई वर्ष पूर्व 1918 ई० में अपनी ज्ञान-मीमांसा की पुस्तक प्रकाशित कर ली थी जिसमें उन्होंने स्वतन्त्र रूप में तार्किक प्रत्यक्षवाद के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।

आगे चलकर 1929 ई० में विएना-मण्डल ने अपने आपको एक दार्शनिक केन्द्र के रूप में पंजीकृत किया और उसी वर्ष प्राग (Prague) में उसने अपना अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन सम्पन्न किया। तार्किक प्रत्यक्षवाद को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप देने के लिए कई वर्षों तक समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन होते रहे। 1929 ई० में विएना-मण्डल ने "**द साइण्टिफिक वर्ल्ड व्यू : द विएना सर्किल**" (The Scientific World View : The Vienna Circle) नाम से अपनी मूल पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें अपने दार्शनिक विचार की विशिष्टता का उल्लेख किया। 1930 ई० में कार्नैप तथा राइखेनबैक (Reichenbach) ने अपने संयुक्त सम्पादकत्व में अर्केण्टनिस (Erkenntnis) नामक पत्रिका प्रकाशित की। इस प्रकार 1930 के बाद इस विचारधारा में तीव्र प्रगति हुई। किन्तु बाद में इसके सदस्य धीरे-धीरे उससे पृथक् होने लगे। कार्नैप प्राग चले गए, 1934 में हैन (Hann) की मृत्यु हो गई, तथा 1936 में शिलक अपने एक विक्षिप्त विद्यार्थी के हाथों मारा गया। हिटलर की नाजी सरकार ने इन लोगों के आन्दोलन में राजनैतिकता की गन्ध पाई जिसके परिणामस्वरूप अधिकतर सदस्यों को देश छोड़कर भागना पड़ा। न्यूरथ जो हालैण्ड चले गए थे, इस पत्रिका को जीवित रखने का प्रयत्न करते रहे तथा हेग से उन्होंने अर्केण्टनिस का नाम परिवर्तित कर "**द जर्नल ऑव यूनिफाइड साइन्सेज**" (The Journal of Unified Sciences) नाम देकर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। कार्नैप जो अमेरिका चले गए, इसके सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श करते रहे। फिर भी सदस्यों के अलग हो जाने के कारण इसका प्रभाव घटता गया तथा जिस तीव्रता से इस विचारधारा में वृद्धि हुई, उसी तीव्रता से उसमें ह्रास भी होने लगा।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में तार्किक प्रत्यक्षवाद का दर्शन पूर्णतया नवीन नहीं है। इसके पहले भी कई प्रकार के प्रत्यक्षवादी दर्शन प्रतिपादित हुए हैं। फ्रेञ्च दार्शनिक **आगस्त कॉम्ते** (Auguste Comte) ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्षवादी दर्शन प्रस्तुत किया था। ब्रिटिश दार्शनिक **डेविड ह्यूम** (David Hume) का अनुभववादी दर्शन तार्किक प्रत्यक्षवाद का पूर्वगामी दर्शन माना जा सकता है। विएना में ही उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भौतिक शास्त्री **अर्न्स्ट मैक** (Ernst Mach) ने परमाणु, देश, काल, कारणता इत्यादि

प्रत्ययों की प्रत्यक्षवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी। किन्तु इन पूर्ववर्ती प्रत्यक्षवादियों से विएना मण्डल का प्रत्यक्षवाद इस बात में भिन्न है कि यह आधुनिक **तर्क-शास्त्र** की मान्यताओं पर आधारित है। इसके प्रत्यक्षवादी स्वरूप के मूल में मैक, ह्यूम, आगस्त कॉम्ते इत्यादि दार्शनिक थे तथा इसकी तार्किकता के स्रोत के रूप में विटगेन्स्टाइन, रसल, फ्रेगे इत्यादि तर्कशास्त्री थे। तर्क-प्रधान होने के कारण ही इस विचारधारा को तार्किक प्रत्यक्षवाद की संज्ञा दी जाती है।

तत्त्वविज्ञान का निरसन
(Elimination of Metaphysics)

जिस समय दार्शनिक विचारधारा के रूप में तार्किक प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादन किया गया उसके दो प्रमुख उद्देश्य थे :

(1) विज्ञान के लिए एक सुदृढ़ आधार की स्थापना करना;[1] तथा

(2) तत्त्वविज्ञान की निरर्थकता का निदर्शन करना।[2]

इन दोनों उद्देश्यों में तत्त्वविज्ञान के निरसन का विशेष महत्त्व है। पर तत्त्व-विज्ञान के निरसन के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि तत्त्व-विज्ञान क्या है ?

एरिस्टॉटल ने तत्त्व-विज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा था कि तत्त्वविज्ञान वह विज्ञान है जो विज्ञान-जगत या अनुभव-जगत से अतीत सत्ता का ज्ञान प्राप्त कराता है। पर तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार किसी अतीन्द्रिय सत्ता में विश्वास किए बिना भी हम तत्त्व वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। किसी अतीन्द्रिय सत्ता में हमारा विश्वास इस कारण नहीं होता कि संसार में उसका अस्तित्व है और उसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, बल्कि इस कारण है कि हमारे चिन्तन में कहीं तार्किक **भ्रान्ति** है। पर दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार हम विषय-प्रतिपादन के लिए इस प्रस्थान-बिन्दु को स्वीकार कर सकते हैं कि हमारे लिए अतीन्द्रिय तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। तार्किक प्रत्यक्षवाद इसी के खण्डन से अपना दर्शन प्रारम्भ करता है।

यदि कोई तत्त्ववैज्ञानिक आग्रह करता है कि उसे अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान है तो उससे हम प्रश्न कर सकते हैं कि उसने यह ज्ञान किन आधार-वाक्यों से प्राप्त किया है ? स्पष्ट है कि उसके आधार-वाक्य **आनुभविक** नहीं हो सकते क्योंकि आनुभविक आधार-वाक्यों से किसी अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। क्या अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान हमें **बुद्धि द्वारा** प्राप्त हो सकता है ? स्पष्ट उत्तर है कि नहीं क्योंकि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल विश्लेषणात्मक होता है जो वस्तु-जगत के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता। तो क्या हम अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान किसी बौद्धिक **प्रतिभान** (Intuition) के आधार पर प्राप्त करते हैं ? स्पष्ट उत्तर है कि नहीं क्योंकि प्रतिभान को हम किसी ज्ञान के वैध स्रोत के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अतः हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अतीन्द्रिय सत्ता के अस्तित्व का ज्ञान किसी भी वैध प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि हम किसी निष्कर्ष-वाक्य को किन्हीं आधार-वाक्यों से स्थापित नहीं कर सकते तो क्या उसे अयथार्थ घोषित कर दिया जाय ? उत्तर

1. To secure a firm foundation for the sciences.
2. To demonstrate the meaninglessness of metaphysics.

है कि नहीं क्योंकि उसकी यथार्थता अन्य कारणों के आधार पर भी सिद्ध की जा सकती है। अतः हम किसी तत्त्वविज्ञान को केवल इस आधार पर खण्डित नहीं कर सकते कि वह किसी आधार वाक्य के द्वारा निष्कर्षित नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमें तत्त्वविज्ञान की वास्तविक प्रतिज्ञप्तियों की ही आलोचना करनी होगी। तत्त्व विज्ञान के खण्डन की हमारी यही आधार-शिला होगी क्योंकि हम देखेंगे कि जो प्रतिज्ञप्ति किसी अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में वर्णन करने का अध्यर्थन करती है उसमें कोई शाब्दिक सार्थकता नहीं पाई जा सकती। अतीन्द्रिय सत्ता सम्बंधी हमारी सारी प्रतिज्ञप्तियाँ निरर्थक ही होती हैं।

यहाँ हम कह सकते हैं कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के बहुत पहले ही काण्ट ने अतीन्द्रिय तत्त्वविज्ञान (Transcendent Metaphysics) का खण्डन कर दिया था। अतः तार्किक प्रत्यक्षवादियों द्वारा अतीन्द्रिय तत्त्वविज्ञान के खण्डन में कोई नवीनता नहीं है, पर बात ऐसी नहीं है। दोनों के खण्डन में पर्याप्त अन्तर है। काण्ट ने अतीन्द्रिय तत्त्वविज्ञान का इस आधार पर खण्डन किया था कि ज्यों ही हमारी बुद्धि आनुभविक जगत का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है वह नाना प्रकार के विरोधाभासों एवम् विप्रतिषेधों में अपने को आबद्ध कर लेती है। अतः काण्ट अतीन्द्रिय सत्ता के अस्तित्व का निषेध नहीं करते, केवल उसके ज्ञान का ही निषेध करते हैं। वे अतीन्द्रिय तत्त्व-विज्ञान का खण्डन तर्कशास्त्र के आधार पर नहीं वरन् तथ्य-विज्ञान के आधार पर करने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार हमारी बुद्धि अनुभव-जगत की सीमा का अतिक्रमण करने की चेष्टा अवश्य करती है पर वह ऐसा करने में असमर्थ है। पर यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि हमारा ज्ञान केवल अनुभव की परिधि के भीतर ही सीमित है तो हमें अनुभवातीत सत्ता के विषय में ज्ञान ही किस प्रकार हो सकता है। यदि हमें अनुभवातीत सत्ता का ज्ञान होता है तो इसका अर्थ यह है कि हमारी बुद्धि के भीतर अनुभव-जगत की सीमा का अतिक्रमण करने की क्षमता विद्यमान है। विटगेन्स्टाइन ने ठीक ही कहा है :

"चिन्तन की सीमा का निर्धारण करने के लिए हमें सीमा के दोनों पक्षों पर विचार करना होगा।"[1] यह आक्षेप काण्ट के दर्शन के विरुद्ध भले ही लागू होता हो, पर तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विरुद्ध इस आक्षेप की कोई सार्थकता नहीं है। **इन्द्रियानुभव** की सीमा का अतिक्रमण करने की निरर्थकता इस बात पर आधारित नहीं है कि मानवीय बुद्धि ऐसा करने में सर्वथा अक्षम है, बल्कि उन नियमों पर आश्रित है जो भाषा की शाब्दिक सार्थकता को निर्धारित करते हैं। तत्त्ववैज्ञानिकों के विरुद्ध तार्किक प्रत्यक्षवादियों का आक्षेप यह नहीं है कि वे बुद्धि का उपयोग ऐसे क्षेत्र में करते हैं जो उसके लिए वर्जित है, बल्कि आक्षेप यह है कि वे तत्त्व के विषय में ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं जो वाक्यों की शाब्दिक सार्थकता के निकर्ष को संतुष्ट नहीं करते।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह निकष क्या है जो प्रतिज्ञप्तियों की शाब्दिक सार्थकता को निर्धारित करता है। यदि कोई प्रतिज्ञप्ति शाब्दिक सार्थकता के निकष को संतुष्ट करती है, वह सार्थक समझी जाएगी। किन्तु यदि कोई प्रतिज्ञप्ति ऐसी है जो शाब्दिक सार्थकता के निकष को पूर्णतया संतुष्ट नहीं करती, उसे हम निरर्थक घोषित करेंगे। तत्त्व-विज्ञान

---

1. ट्रैक्टेटस, प्रस्तावना, In order to draw a limit to thinking we should have to think both sides of the limit.

की प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी ही निरर्थक प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं।

तार्किक प्रत्यक्षवादी तथ्यपरक प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता को निर्धारित करने के लिए **सत्यापनीयता के निकष** (Criterion of Verifiability) का प्रयोग करते हैं। इस निकष की मूल बात यह है कि कोई **प्रतिज्ञप्ति सार्थक तब कही जायगी जब कि वह या तो विश्लेषणात्मक हो अथवा अनुभव द्वारा सत्यापित होती हो।**[1] इसका निहितार्थ यह है कि यदि कोई ऐसा कथन है जो न तो विश्लेषणात्मक है और न अनुभव द्वारा सत्यापित होता है तो उसे निरर्थक ही कहा जायगा। ऐसे कथन सांवेगिक रूप में भले ही सार्थक कहे जायँ किन्तु शाब्दिक रूप में वे निरर्थक ही कहे जायंगे। ऐसे कथन वास्तविक कथन न होकर **छद्म-कथन** (Pseudo-Proposition) ही कहे जाते हैं।

(i) सत्यापनीयता के निकष के तीन विविध पक्ष हैं जिन पर **पृथक्-पृथक्** विचार करना अत्यावश्यक है। सर्वप्रथम हम **व्यावहारिक सत्यापनीयता** (Practical Verifiability) एवम् **सैद्धान्तिक सत्यापनीयता** (Verifiability in Principle) में भेद करना चाहिए। कोई भी कथन व्यावहारिक रूप में सत्यापनीय तब कहा जायगा जब हमने वास्तव में अनुभव द्वारा उसका प्रमाणीकरण कर लिया हो। उदाहरण के लिए "मेरी कक्षा में कुल दस विद्यार्थी हैं" व्यावहारिक सत्यापनीयता का उदाहरण है। इसके विपरीत कुछ ऐसे कथन होते हैं जो वर्तमान में व्यावहारिक रूप में सत्यापनीय तो नहीं हैं किन्तु भविष्य में उनकी व्यावहारिक सत्यापनीयता की सभावना विद्यमान है। उदाहरण के लिए "मंगल ग्रह पर जीव-जन्तु पाए जाते हैं" ऐसा कथन है जो वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा प्रमाणित नहीं है किन्तु हो सकता है कि भविष्य में किसी ऐसे राकेट का आविष्कार हो जो उपर्युक्त कथन को प्रमाणित अथवा अप्रमाणित कर दे। अतः, यह कथन केवल सैद्धान्तिक रूप में ही सत्यापनीय है, व्यावहारिक रूप में नहीं। तार्किक प्रत्यक्षवादी इन दोनों प्रकार के कथनों को सार्थक मानते हैं। किन्तु यदि कोई ऐसा कथन है जो न तो व्यावहारिक रूप में सत्यापनीय है और न सैद्धान्तिक रूप में ही तो वह कथन निरर्थक कथन माना जायगा। उदाहरण के लिए "निरपेक्ष तत्त्व आलसी है।"[2] ऐसा कथन है जो न तो व्यावहारिक रूप में ही सत्यापित किया जा सकता है और न सैद्धान्तिक रूप से ही। अतः सत्यापनीयता सिद्धान्त के अनुसार ऐसा कथन निरर्थक ही माना जायगा।

(ii) सत्यापनीयता सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है **सबल सत्यापन** (Strong Sense of Verification) एवम् **निर्बल सत्यापन** (Weak Sense of Verification)। कोई भी प्रतिज्ञप्ति सबल रूप में सत्यापित तब मानी जायगी जब हम उसकी सत्यता को निर्णायक रूप में अनुभव द्वारा स्थापित कर सकें। इसके विपरीत, कोई प्रतिज्ञप्ति निर्बल रूप में सत्यापित तब मानी जायगी जब अनुभव द्वारा केवल सम्भाव्य रूप में ही वह प्रमाणित होती हो। अर्थात् वह केवल अनिर्णायक रूप में ही सत्यापित होती हो। वास्तव में सबल सत्यापन एवम् निर्बल सत्यापन का भेद केवल सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नहीं, क्योंकि कोई भी प्रतिज्ञप्ति निर्णायक या सबल रूप में सत्यापित की ही नहीं जा सकती।

---

1. A statement is literally meaningful if and only if it is either analytic or empirically verifiable.
2. The absolute is lazy.

कुछ तार्किक प्रत्यक्षवादियों जैसे मॉरिज शिलक (Moritz Schlick) ने सबल सत्यापन को ही कथनों की सार्थकता का निकष माना है। पर इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि सबल सत्यापन को सार्थकता का निकष मान लिया जाय तो सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ निरर्थक हो जायंगी। उदाहरण के लिए "सभी मनुष्य मरणशील हैं", "सभी विद्यार्थी आदर्शवादी होते हैं" इत्यादि कथन न व्यावहारिक रूप में और न सैद्धान्तिक रूप में ही निर्णायक रूप में सत्यापित किए जा सकते हैं। अतः यदि सबल सत्यापन को सार्थकता का निकष स्वीकार कर लिया जाय तो उपर्युक्त सभी कथन निरर्थक हो जायँगे जो कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। मॉरिज शिलक ने तो इन कथनों को निरर्थक ही माना है यद्यपि कि उन्होंने इन कथनों को **"महत्त्वपूर्ण प्रकार के निरर्थक कथन"** (Important types of non-sense) के रूप में स्वीकार किया है। पर "महत्त्वपूर्ण प्रकार के निरर्थक कथन" को सत्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें एक विरोधाभास प्रतीत होता है। किसी कथन की "निरर्थकता" एवम् उसकी "महत्त्वपूर्णता" के बीच सामञ्जस्य नहीं बैठाया जा सकता। अतः तार्किक प्रत्यक्षवादियों का यह निश्चित मत है कि कोई भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति निर्णायक रूप में सत्यापित नहीं हो सकती। अतः वह केवल सम्भाव्य प्राक्कल्पना (Probable Hypothesis) का ही रूप धारण कर सकती है। यहाँ तक कि "यह सफेद है" इस सरलतम प्रतिज्ञप्ति को भी केवल सम्भाव्य प्राक्कल्पना के रूप में ही मान्यता प्रदान की जा सकती है। अतः सार्थकता के निकष के रूप में सबल सत्यापन एक असंगत कल्पना है। इसी कारण शिलक के विरुद्ध एयर ने निर्बल सत्यापन को ही आनुभविक कथनों की सार्थकता का एक मात्र निकष माना है। कुछ तार्किक प्रत्यक्षवादियों का कथन है कि कोई आनुभविक प्रतिज्ञप्ति पूर्ण या सबल रूप में सत्यापित तो नहीं की जा सकती पर सबल रूप में असत्यापित अवश्य की जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि दृष्टान्त रूप में एक भी कौआ सफेद दिखाई देता है तो यह प्रतिज्ञप्ति "सभी कौए काले होते हैं" निर्णायक रूप में असत्यापित हो जायगी। **कॉर्ल पापर** (Karl Popper) ने इसे **निर्णायक असत्यापनीयता का सिद्धान्त** (Principle of Conclusive Falsifiability) कहा है। पर प्रोफेसर एयर इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कोई आनुभविक प्रतिज्ञप्ति न तो निर्णायक रूप में सत्यापित की जा सकती है और न पूर्ण रूप में असत्यापित ही की जा सकती है। उदाहरण के लिए विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि संसार की सभी वस्तुओं को पृथ्वी एक ही शक्ति से अपनी ओर आकर्षित करती है। पर व्यवहार में यदि कोई पदार्थ अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से पृथ्वी की ओर आकर्षित होता है तो इससे उपर्युक्त वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्ति निर्णायक रूप में असत्यापित नहीं हो जाती। इस असत्यापन का उपर्युक्त वैज्ञानिक कथन की सत्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बात यह है कि जिस दृष्टान्त को हम असत्यापन का दृष्टान्त समझ रहे थे वह वास्तव में असत्यापन का दृष्टान्त है ही नहीं।

(iii) **अपरोक्ष सत्यापनीयता एवम् परोक्ष सत्यापनीयता** (Direct Verifiability and Indirect Verifiability)—एजे. एयर (A.J. Ayer) ने उन कथनों को तो सार्थक माना ही है जो अपरोक्ष रूप में सत्यापनीय हों, साथ ही उन कथनों को भी सार्थक माना है जो अपरोक्ष रूप में तो नहीं किन्तु परोक्ष रूप में सत्यापनीय होते हों। उनके अनुसार कोई कथन अपरोक्ष रूप में सत्यापनीय तब समझा जायगा जब कि वह कथन अन्य स्वीकार्य कथनों से संयुक्त होकर एक

ऐसे **प्रेक्षण-कथन** (Observation-Statement) को निष्कर्षित करता हो जो केवल उन अन्य स्वीकार्य कथनों से निगमित न होता हो। परोक्ष सत्यापनीयता की दो शर्तें हैं : प्रथम शर्त तो वही है जो अपरोक्ष सत्यापनीयता की है। अर्थात् कोई कथन परोक्ष रूप में सत्यापनीय तब समझा जायगा जबकि वह कथन अन्य स्वीकार्य कथनों से संयुक्त होकर एक ऐसे प्रेक्षण-कथन को निष्कर्षित करता हो जो केवल उन अन्य स्वीकार्य कथनों से निगमित न होता हो। यह तो प्रथम शर्त है। परोक्ष सत्यापनीयता की दूसरी शर्त यह है कि वे अन्य स्वीकार्य कथन या तो विश्लेषणात्मक हो या अपरोक्ष अथवा परोक्ष रूप में सत्यापनीय हो। उदाहरण के लिए "कल रात वर्षा हुई है" इस कथन की सार्थकता का हमें आकलन करना है। यह अपरोक्ष रूप में सत्यापनीय नहीं है किन्तु परोक्ष रूप में इसका सत्यापन किया जा सकता है। इस कथन के साथ एक अन्य स्वीकार्य कथन "वर्षा होने पर सभी गड्ढे पानी से भर जाते हैं" संयुक्त होकर निम्न प्रेक्षण-कथन निगमित होता है; "सभी गड्ढे पानी से भरे दिखाई दे रहे हैं।" इसके साथ यह भी यथार्थ है कि उपर्युक्त निष्कर्ष वाक्य केवल अन्य स्वीकार्य कथन से निगमित नहीं किया जा सकता। यहाँ एक तीसरी शर्त भी पूर्णतया पूरी होती है और वह यह है कि अन्य स्वीकार्य कथन या तो विश्लेषणात्मक हो अथवा अपरोक्ष या परोक्ष रूप में सत्यापनीय हो। चूँकि यहाँ परोक्ष सत्यापनीयता की सभी शर्तें पूरी हो रही हैं, अतः उपर्युक्त कथन पूर्णतया सार्थक है।

तत्त्व-विज्ञान के निरसन के कुछ उदाहरण

तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने सत्यापन सिद्धान्त को तत्त्व-विज्ञान के निराकरण के लिए प्रयोग किया है। उनके अनुसार तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी सभी प्रतिज्ञप्तियाँ निरर्थक होती हैं : अर्थात् न तो वे सत्य होती हैं और न असत्य। वे सार्थकता के किसी निकष पर खरी नहीं उतरतीं। हम जानते हैं कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार केवल दो ही प्रकार के वाक्य सार्थक होते हैं : प्रथम द्विरुक्ति (Tautology) एवम् द्वितीय आनुभविक कथन। तत्त्वमीमांसा की प्रतिज्ञप्तियाँ न तो द्विरुक्ति होती हैं और न आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ। वे केवल **शब्दजाल** (Gibberish) मात्र होती हैं। ऊपर से देखने पर लगता है कि वे वास्तविक तथ्य-निर्देश कर रही हैं पर वस्तुतः वे एक शब्द-जाल मात्र है। एयर ने उनका शब्द-जाल रूप विभिन्न तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के विश्लेषण से स्पष्ट किया है।

तत्त्वमीमांसीय कथन के दृष्टान्त के रूप में हम इस प्रतिज्ञप्ति को ले सकते हैं कि **"प्रत्यक्ष-जगत अवास्तविक है"**। यह सही है कि संसार की वस्तुओं के सम्बन्ध में इन्द्रियाँ कभी हमें धोखा दे देती हैं अथवा हमें भ्रम में डाल देती हैं किन्तु इस भ्रम का ज्ञान हमें पश्चात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा ही तो प्राप्त होता है। हम अयथार्थ प्रत्यक्ष को भले ही भ्रमात्मक मान लें किन्तु यथार्थ प्रत्यक्ष को भ्रमात्मक मानने का कोई कारण नहीं है। बात यह है कि यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्ष का भेद प्रत्यक्ष की सीमा के भीतर ही पाया जाता है। ऐसी स्थिति में हम सम्पूर्ण प्रत्यक्ष जगत को अवास्तविक किस प्रकार घोषित कर सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि "प्रत्यक्ष-जगत अवास्तविक है" ऐसा कथन है जो न व्यावहारिक रूप में सत्यापित किया जा सकता है और न सैद्धान्तिक रूप में ही सत्यापित किया जा सकता है। हम भविष्य में किसी ऐसी स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते जब कोई इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पूर्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को असत्यापित कर देगा। अतः व्यावहारिक एवम् सैद्धान्तिक दोनों प्रकार से असत्यापनीय होने के कारण

उपर्युक्त कथन एक निरर्थक कथन है। तत्त्वमीमांसीय कथन के दूसरे दृष्टान्त के रूप में हम इस प्रतिज्ञप्ति को ले सकते हैं कि **"ईश्वर का अस्तित्व है"**। यदि इस प्रतिज्ञप्ति को एक सार्थक प्रतिज्ञप्ति के रूप में लिया जाय तो वह या तो विश्लेषणात्मक होगी अथवा अनुभवात्मक होगी। उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति विश्लेषणात्मक नहीं है क्योंकि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति न तो किसी सत्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है और न उसका निषेध ही। उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति अनुभवात्मक भी नहीं है क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि इस प्रतिज्ञप्ति के साथ अन्य प्रतिज्ञप्तियों को संयुक्त कर किसी ऐसे प्रेक्षण प्रतिज्ञप्ति को निष्कर्षित किया जाय जो उन अन्य प्रतिज्ञप्तियों से निगमित न होती हो।

कुछ दार्शनिकों का कथन है कि "ईश्वर का अस्तित्व है" इस प्रतिज्ञप्ति का अपरोक्ष सत्यापन तो सम्भव नहीं है पर परोक्ष सत्यापन संभव है। उनके अनुसार जगत की व्यवस्था, सौन्दर्य, विधान व क्रम को देखकर एक बुद्धिमान व्यवस्थापक की कल्पना की जा सकती है। किन्तु एयर के अनुसार उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति का परोक्ष सत्यापन भी सम्भव नहीं है। परोक्ष सत्यापन की एक शर्त यह भी है कि जिन अन्य प्रतिज्ञप्तियों को "ईश्वर का अस्तित्व है" के साथ संयुक्त कर किसी प्रेक्षण-वाक्य को निष्कर्षित करना है उन्हें या तो विश्लेषणात्मक होना चाहिए या अनुभव द्वारा सत्यापनीय। ईश्वर-तत्त्व सम्बन्धी कोई अन्य कथन इन दोनों में से कोई भी नहीं है। अतः "ईश्वर का अस्तित्व है" इस प्रतिज्ञप्ति का न तो अपरोक्ष सत्यापन सम्भव है, न परोक्ष सत्यापन ही। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति शाब्दिक रूप से निरर्थक ही है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जब एयर "ईश्वर का अस्तित्व है" प्रतिज्ञप्ति को निरर्थक मानते हैं तो इसका निहितार्थ यह नहीं है कि वे या तो **अज्ञेयवादी** (Agnostic) हैं अथवा **निरीश्वरवादी** (Atheist)। अज्ञेयवादी यह कहता है कि ईश्वर का ज्ञान असम्भव है; निरीश्वरवादी यह कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। तार्किक प्रत्यक्षवादी की मान्यता इन दोनों से भिन्न है। वह न तो ईश्वर के ज्ञान को असम्भव मानता है और न ही ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है। उसके अनुसार ईश्वर के विषय में जो भी कथन किए जाएँगे वे किसी अर्थ की सूचना प्रदान नहीं करेंगे; वे न तो सत्य होंगे और न असत्य ही; वे केवल निरर्थक हैं। "ईश्वर का अस्तित्व है", "ईश्वर का अस्तित्व नहीं है" तथा "ईश्वर का ज्ञान असम्भव है" इन सभी प्रतिज्ञप्तियों को एयर निर्रथक मानते हैं। एयर ने एक तृतीय उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि किस प्रकार प्रतिज्ञप्तियों की व्याकरणिक समानता किसी नवीन तत्त्व-विज्ञान को जन्म देती है। व्याकरण की दृष्टि से **"कुत्ते वफादार होते हैं"** और **"एकशृंग काल्पनिक होते हैं"** एक ही प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ प्रतीत होती हैं किन्तु तार्किक दृष्टि में दोनों में महान अन्तर है। लोग सोचते हैं कि जिस प्रकार "वफादार" गुण को अरोपित करने के लिए संसार में "कुत्तों" का अस्तित्व अनिवार्य है उसी प्रकार "काल्पनिक" गुण को स्थापित करने के लिए "एकशृंग" का भी संसार में अस्तित्व होना चाहिए। पर हम भलीभाँति जानते हैं कि संसार में "एकशृंग" का अस्तित्व होता ही नहीं। पर यहाँ हमारे समक्ष जो तत्त्वमीमांसीय समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि यदि संसार में "एकशृंग" का अस्तित्व नहीं है तो हम "काल्पनिक" गुण को उसके ऊपर किस प्रकार आरोपित कर सकते हैं। इस समस्या का समाधान करने के लिए तत्त्व वैज्ञानिकों ने अस्तित्व (Existence) **एवम् सत्त्व** (Essence) के बीच भेद स्थापित किया। एकशृंग का अस्तित्व तो

नहीं है पर उसका सत्व अवश्य है और इसी सत्व के ऊपर "काल्पनिक" गुण को आरोपित किया जाता है। पर एयर के अनुसार एकशृंग के सम्बन्ध में जो भी कथन किया जायगा वह निरर्थक ही होगा क्योंकि इस कथन को न तो व्यावहारिक रूप में और न सैद्धान्तिक रूप से ही सत्यापित किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने अपने सत्यापन सिद्धान्त के द्वारा तत्त्वविज्ञान का निराकरण किया है।

दर्शन-शास्त्र के कार्य
(Function of Philosophy)

तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार दर्शन-शास्त्र का प्रमुख कार्य प्रतिज्ञप्तियों का तार्किक अथवा दार्शनिक विश्लेषण (Philosophical Analysis) करना है। पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व हमें देखना होगा कि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में, इसके पूर्व, दार्शनिकों ने दर्शन-शास्त्र के किस कार्य को अधिक मान्यता प्रदान की थी। इन कार्यों के गुण-दोष का आलोचन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा करेंगे कि दर्शन-शास्त्र का प्रमुख कार्य प्रतिज्ञप्तियों का तार्किक विश्लेषण करना है।

(1) बुद्धिवादी दार्शनिकों के अनुसार दर्शन का प्रमुख कार्य एक **निगमनात्मक निकाय** (Deductive System) की स्थापना करना है। अब किसी निगमनात्मक निकाय की स्थापना तभी हो सकती है जबकि सर्वप्रथम कुछ प्राथमिक सिद्धान्तों (First Principles) का निर्धारण कर लिया जाय। प्राथमिक सिद्धान्तों के अभाव में निगमन की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। इन प्राथमिक सिद्धान्तों को हम तीन प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं : प्रथम अनुभव द्वारा, द्वितीय बुद्धि द्वारा एवम् तृतीय प्रतिभान द्वारा। हम देखेंगे कि इन तीनों स्रोतों में कोई भी स्रोत प्राथमिक सिद्धान्तों की स्थापना में सफल नहीं हो सकता।

कल्पना किया कि हमने प्राथमिक सिद्धान्तों की स्थापना **अनुभव** के आधार पर की है। हम जानते हैं कि अनुभव के आधार पर स्थापित कोई भी प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य नहीं हो सकती; वह केवल सम्भाव्य ही होती है। अतः कोई भी दार्शनिक जो निगमनात्मक निकाय की स्थापना करना चाहता है आगमनात्मक प्राक्कल्पनाओं को अपने निकाय का आधार नहीं बना सकता। इसका कारण यह है कि यदि आधार वाक्य ही सम्भाव्य है तो उनसे किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है ?

इसी प्रकार प्राथमिक सिद्धान्तों की स्थापना **बुद्धि** के आधार पर भी नहीं की जा सकती। हम जानते हैं कि बुद्धि केवल प्रागनुभविक सत्यों (Apriori Truths) की ही स्थापना करती है जो द्विरुक्ति (Tautologies) मात्र होते हैं। द्विरुक्तियों के आधार पर केवल द्विरुक्तियाँ ही निगमित की जा सकती हैं जो जगत के विषय में कुछ भी कथन नहीं करतीं। अनुभव एवम् बुद्धि के अतिरिक्त प्राथमिक सिद्धान्तों की स्थापना **प्रतिभान** द्वारा भी असम्भव है। कारण यह है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने प्रतिभान की भिन्न-भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। कोई इसे बौद्धिक मानता है, कोई धार्मिक तो कोई कलात्मक। ऐसे बहुत कम दार्शनिक हैं जो प्रतिभान को ज्ञान का वैध स्रोत मानते हैं। प्रतिभान के चंचल एवम् अस्थाई होने के कारण उसकी वैज्ञानिकता एवम् प्रामाणिकता पर भी प्रश्नचिह्न लगाए जाते हैं। इन सब कारणों से प्रतिभान को प्राथमिक सिद्धान्तों

का आधार नहीं बनाया जा सकता।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में डेकार्ट्स वे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने प्राथमिक सिद्धान्तों के आधार पर एक दार्शनिक निकाय की स्थापना करने की चेष्टा की थी। उनके दार्शनिक व निगमनात्मक दर्शन की आधार-शिला "**चिन्तयामि, अतः अस्मि**" (Cogito Ergo Sum) सिद्धान्त है। उक्त सिद्धान्त की व्याख्या निगमन, आगमन तथा प्रतिभान तीन प्रकार से की जा सकती है। प्रथम हम उसे एक **निगमन** (Deduction) के रूप में निम्न प्रकार से ले सकते हैं:
"सभी चिन्तनशील प्राणी अस्तित्ववान होते हैं
मैं चिन्तनशील प्राणी हूँ ;
अतः मैं अस्तित्ववान हूँ।"

उपर्युक्त हेत्वानुमान को वैध नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें सिद्ध साधनता का दोष पाया जाता है। जब हमने पहले ही स्वीकार कर लिया कि सभी चिन्तनशील प्राणी अस्तित्ववान होते हैं तो चिन्तनशील आत्मा के अस्तित्व की साधना करने की आवश्यकता ही कहाँ शेष रहती है। डेकार्ट्स स्वयं "चिन्तयामि अतः अस्मि" को एक निगमन के रूप में स्वीकार नहीं करते द्वितीय, हम उपर्युक्त उक्ति को **आगमन** (Induction) की संज्ञा भी नहीं दे सकते। यहाँ कॉज़िटो (Cogito) का अर्थ "मैं सोचता हूँ" यह न होकर "यहाँ अब एक विचार है" से लेना चाहिए। जिस प्रकार विभिन्न विचारों के समुच्चय के रूप में ह्यूम आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रहे, उसी प्रकार आगमन के रूप में हम विभिन्न विचारों के समुच्चय के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते।

अब हम देखेंगे कि क्या प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की स्थापना **प्रतिभान** (Intuition) के आधार पर की जा सकती है ? प्रतिभान से डेकार्ट्स का तात्पर्य **बौद्धिक प्रतिभान** (Intellectual Intuition) से है जहाँ हमारी बुद्धि किसी दार्शनिक सत्य का अभिग्रहण विशुद्ध बुद्धि के आधार पर करती है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार कॉजिटो (Cogito) को हम (ϕ a) प्रतीक द्वारा व्यक्त कर सकते हैं जहाँ 'a' से हमारा तात्पर्य किसी विशिष्ट आत्मा से है तथा ϕ का तात्पर्य चिन्तन करने के गुण से है। पर ϕ a से हम a के अस्तित्व का प्रतिपादन नहीं कर सकते, हम केवल ϕ के अस्तित्व का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। रसेल (Russell) का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है "**अस्तित्व का विधान केवल वर्णनों के लिए ही किया जा सकता है।**"[1]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर तार्किक प्रत्यक्षवादी निष्कर्ष निकालते हैं कि डेकार्ट्स प्राथमिक सिद्धान्त (आत्मा का अस्तित्व) की स्थापना न तो निगमन के आधार पर, न आगमन के आधार पर और न ही प्रतिभान के आधार पर स्थापित करने में सफल हुए हैं। जब प्राथमिक सिद्धान्त की ही किसी प्रकार स्थापना नहीं की जा सकती तो उसके आधार पर किसी दार्शनिक निकाय की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है ? अतः दर्शन-शास्त्र का कार्य किसी निगमनात्मक निकाय की स्थापना करना नहीं हो सकता।

(2) दर्शन-शास्त्र के विषय में जो दूसरी बात प्रायः कही जाती है वह यह है कि दर्शन-शास्त्र परम तत्त्व की समग्रता का अध्ययन है। विज्ञान और दर्शन के बीच भेद स्पष्ट करते

---

1. Existence can be predicated only of descriptions.

हुए कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञान तत्त्व के केवल एक विशिष्ट अंग का ही अध्ययन करता है जबकि दर्शन-शास्त्र अखण्ड तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पर यह कार्य असम्भव है। जब हम तत्त्व के एक विशिष्ट अंग का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते तो उसके अखण्ड स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ? दूसरी बात जो यहाँ कहनी है वह यह है कि यह कहना कि दर्शन का कार्य अखण्ड तत्त्व का समग्र ज्ञान प्राप्त करना है, एक तत्त्वमीमांसीय कथन है और इस कारण वह एक निरर्थक कथन है। यह ऐसा कथन है जिसे हम न तो व्यावहारिक रूप में और न सैद्धान्तिक रूप में ही सत्यापित कर सकते हैं। अतः असत्यापनीय होने के कारण उपर्युक्त कथन एक निरर्थक कथन है। दर्शन-शास्त्र एक सार्थक शास्त्र है। वह निरर्थक कार्यों में अपने को क्यों संलग्न करेगा ? उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए कुछ लोग कहते हैं कि विभिन्न विज्ञानों की तरह दर्शन-शास्त्र का भी एक विशिष्ट क्षेत्र होता है जिसे परिकल्पनात्मक ज्ञान (Speculative Knowledge) की संज्ञा दी जाती है। ऐसे लोगों की मान्यता है कि ब्रह्माण्ड में आनुभविक जगत के साथ एक अतीन्द्रिय जगत का भी अस्तित्व है। दर्शन-शास्त्र इसी अतीन्द्रिय जगत का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पर एयर के अनुसार यह निरा भ्रम है। संसार का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसे हम अनुभव की परिधि में न ला सकें। इसी प्रकार ऐसा कोई परिकल्पनात्मक ज्ञान नहीं है जो विज्ञान के नियमों से अतीत हो। अतः यह कहना कि दर्शन-शास्त्र समष्टि तत्त्व का अध्ययन करता है, एक निरर्थक विचार है।

(3) दर्शन-शास्त्र के कार्य के सम्बन्ध में जो एक तीसरी बात कही जाती है वह यह है कि दर्शन शास्त्र **वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं** एवं प्रतिदिन की **पूर्वमान्यताओं** (Assumptions) की वैधता का परीक्षण करता है। दर्शन-शास्त्र की यह परिभाषा भी मान्य नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति किसी वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्ति या पूर्व-मान्यताओं के प्रति संदेह प्रकट करता है तो दर्शन-शास्त्र का यह कार्य नहीं है कि वह उन वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता के विषय में उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न करे। अधिक से अधिक दर्शन-शास्त्र यही कर सकता है कि वह वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं एवम् पूर्व-मान्यताओं की यथार्थता के निकष की स्थापना करे व इस बात का निर्धारण करे कि वे वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाएँ व पूर्व-मान्यताएँ उस निकष को संतुष्ट करती हैं अथवा नहीं। उनके प्रति किसी व्यक्ति के मौलिक विश्वास को तर्क-संगत सिद्ध करना दर्शन-शास्त्र का कार्य नहीं है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या कारण है कि हम वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं एवम् प्रतिदिन की पूर्व-मान्यताओं को यथार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार उनके अयथार्थ होने का कारण यह है कि उनकी प्रतिस्थापना में हमें दो प्रकार के युक्ति-दोषों से गुजरना होता है; प्रथम **अवैध सामान्यीकरण दोष** (Fallacy of illicit Generalisation) एवम् द्वितीय **उत्तरवर्ती के विधान का दोष** (Fallacy of Affirming the Consequent)। इन दो कारणों से कोई भी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना वैध कभी भी नहीं हो सकती।

(4) कुछ अन्य दार्शनिकों के अनुसार दर्शन-शास्त्र का वास्तविक कार्य **आगमन की समस्या** (Problem of Induction) **का समाधान करना है**। आगमन की समस्या के समाधान से हमारा तात्पर्य उस समस्या की सिद्धि से है कि हम किस प्रकार जान सकते हैं कि जो वैज्ञानिक

प्राक्कल्पनाएँ भूतकाल में यथार्थ रही हैं वे भविष्य में भी यथार्थ बनी रहेंगी। इस समस्या के समाधान के केवल दो ही रास्ते हैं : प्रथम, हम इसे किसी आकारिक सिद्धान्त (Formal Principle) से निगमित कर सकते हैं अथवा किसी आनुभविक सिद्धान्त (Empirical Principle) से। प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि विशुद्ध आकारिक सिद्धान्त से तथ्य जगत के विषय में कोई भी निष्कर्ष निगमित नहीं किया जा सकता। द्वितीय विकल्प को भी आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जिस सत्य को हमें सिद्ध करना है उसे हम पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं। कुछ दार्शनिकों के अनुसार आगमन की समस्या का समाधान **"प्रकृति की समरूपता"** (Uniformity of Nature) नियम के आधार पर अथवा **"परिमित स्वतन्त्र विविधता** (Limited Independent Variety) सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। पर "प्रकृति की समरूपता" नियम के आधार पर आगमन की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता क्योंकि "प्रकृति की समरूपता का नियम" स्वयं आगमन पर आधारित है। उसी प्रकार "परिमित स्वतन्त्र विविधता" का नियम आगमन को पूर्व-कल्पित करता है। इस सम्बन्ध में जो ध्यान रखने की बात है, वह यह है कि **आगमन की प्रत्येक उपपत्ति स्वयं आगमन पर आधारित होती है।**[1] उपर्युक्त तर्क से यही निष्कर्ष निकलता है कि तर्कतया आगमन को सिद्ध किया ही नहीं जा सकता। अतः आगमन की समस्या एक काल्पनिक समस्या है क्योंकि जिस समस्या का समाधान ही नहीं किया जा सकता वह समस्या वास्तविक न होकर केवल काल्पनिक ही होगी।

उपर्युक्त विवेचन से क्या हम यह निष्कर्ष निकालें कि भविष्य के विषय में अनुमान करना एक व्यर्थ और अबौद्धिक कार्य है ? क्या ऐसी कोई मान्य विधि नहीं है जिससे कि वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं की वैधता का आकलन किया जा सके ? तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार एक ऐसी विधि है जिससे हम विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों की यथार्थता का आकलन कर सकते हैं और वह विधि है **जीवन में व्यावहारिक सफलता**। कोई भी वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्ति तब तक यथार्थ मानी जाएगी जब तक उसके आधार पर हम भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में सफलतापूर्वक अनुमान करते रहेंगे। पर इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि व्यावहारिक सफलता यथार्थता का पूर्ण आश्वासन नहीं है। पर जिस विषय में पूर्ण आश्वासन असम्भव है वहाँ पूर्ण आश्वासन की माँग करना एक अबौद्धिक कार्य है। व्यावहारिक सफलता से पृथक् हमारे पास कोई ऐसा निकष नहीं है जिसके द्वारा वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों की यथार्थता का निर्धारण किया जा सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि कोई दार्शनिक दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में कुछ अंशदान करना चाहता है तो उसे न तो किसी परिकल्पनात्मक सत्य की स्थापना करनी चाहिए, न किसी प्राथमिक सिद्धान्त का अनुसन्धान करना चाहिए और न ही किसी आनुभविक विश्वास के समर्थन में किसी प्रागनुभविक आधार को प्रस्तुत करना चाहिए। हमें वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों के स्पष्टीकरण व तार्किक विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। **दर्शन-शास्त्र का प्रमुख कार्य वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों का तार्किक विश्लेषण है।**

वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक विश्लेषण के दृष्टान्त के रूप में हम ह्यूम द्वारा प्रतिपादित

---

1. Every proof of induction is itself based on induction.

कारणता-नियम के विश्लेषण को ले सकते हैं। ह्यूम ने सर्वप्रथम हमारे ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया : प्रथम विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान एवम् द्वितीय वस्तु-जगत का ज्ञान। कारणता-नियम का सम्बन्ध प्रथम प्रकार के ज्ञान से न होकर केवल द्वितीय प्रकार के ज्ञान से ही है। वस्तु जगत का ज्ञान होने के कारण कारणता-नियम का ज्ञान बुद्धि से न होकर अनुभव से ही प्राप्त किया जा सकता है। अनुभव द्वारा हमें दो घटनाओं के बीच किसी अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान तो नहीं होता वरन् उनके बीच केवल समीपता व आनन्तर्य का ज्ञान ही प्राप्त होता है। अतः, कारण व कार्य के बीच सम्बन्ध अनिवार्य न होकर केवल सम्भाव्य (Probable) ही होता है। पर क्या इस तर्क से यह निष्कर्ष निकाला जाय कि ह्यूम ने कारणता-नियम का निषेध किया है ? एयर के अनुसार ह्यूम ने कारणता का निषेध नहीं किया है वरन् उसे सदा परिभाषित करने की ही चेष्टा की है। कारणता के विश्लेषण से निम्न तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं :

(a) कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध तार्किक न होकर केवल आनुभविक ही है।

(b) कारणता-नियम को अनुभव से विश्लेषणात्मक रूप में निगमित नहीं किया जा सकता।

(c) विशिष्ट तथ्यों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध सार्वभौम व अनिवार्य न होकर विशिष्ट एवम् आपातिक ही है। दो विशिष्ट घटनाओं के बीच सतत संयोग को देखकर हम उनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना कर लेते हैं। यह सम्बन्ध केवल मनोवैज्ञानिक है, तार्किक नहीं। तार्किक प्रत्यक्षवादी कारण और कार्य के बीच उसी प्रकार के अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं करते जिस प्रकार विज्ञान और तत्त्वविज्ञान इस सम्बन्ध में विचार करते हैं।

एक दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है वह यह है कि दर्शन-शास्त्र तत्त्व विज्ञान से बिलकुल स्वतन्त्र होता है। दर्शन-शास्त्र इस बात का विचार नहीं करता कि जगत वायु से निर्मित है अथवा जल या अग्नि से उत्पन्न है। वह इसका भी विचार नहीं करता कि हमारे अनुभव भौतिक हैं अथवा मानसिक। दर्शन-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यात्मक न होकर भाषिक होती हैं। वे भौतिक या मानसिक वस्तुओं के व्यवहार का वर्णन नहीं करतीं वरन् परिभाषाओं एवम् उनके तार्किक परिणामों का ही वर्णन करती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि दर्शन-शास्त्र तर्कशास्त्र का ही एक भाग है। आगे चलकर हम देखेंगे कि आनुभविक तथ्यों के साथ दर्शन-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है; उसका सीधा सम्बन्ध केवल परिभाषाओं के साक्षात् परिणामों से ही है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि विज्ञान के साथ दर्शन-शास्त्र की कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। वे एक दूसरे की प्रतिज्ञप्तियों का निषेध नहीं कर सकते। दार्शनिक विश्लेषण आनुभविक मान्यताओं से भी स्वतन्त्र होता है। साथ ही वह तात्त्विक मान्यताओं से भी पूर्णतया निरपेक्ष होता है। दार्शनिक विश्लेषण के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं उनका कारण यह है कि हम भाषिक प्रतिज्ञप्तियों को तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियों के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिए **"कोई भौतिक वस्तु एक ही समय में दो स्थानों पर स्थित नहीं रह सकती"** ऊपर से देखने पर प्रतीत होता है कि यह तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति है पर वास्तविकता यह है कि यह तथ्यात्मक न होकर भाषिक प्रतिज्ञप्ति ही है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि "दो

इन्द्रिय-प्रदत्त एक ही चाक्षुष अथवा स्पर्श-परास में निवास करते हैं" तथा "वे एक ही भौतिक वस्तु से सम्बन्धित हैं" परस्पर असंसक्त हैं। यह एक अनिवार्य तथ्य है। पर यह संसार की किसी वस्तु की आनुभविक विशेषताओं का वर्णन नहीं करता। यह कोई संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति न होकर केवल विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति ही है।

इसी प्रकार हम एक दूसरी दार्शनिक समस्या को ले सकते हैं। जब हमसे कोई प्रश्न करता है **"किसी भौतिक वस्तु का स्वभाव क्या है ?"** यह कोई तथ्यात्मक प्रश्न नहीं है वरन् एक भाषात्मक प्रश्न है। वह किसी भौतिक वस्तु के वैज्ञानिक विश्लेषण के विषय में नहीं वरन् उसकी परिभाषा के विषय में पूछ रहा है। उसके प्रश्न का वास्तविक तात्पर्य यह है कि भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्तियाँ किस प्रकार इन्द्रिय-प्रदत्तों से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्तियों की कोटियों में अनूदित की जा सकती हैं जिनमें न भौतिक वस्तुओं का स्थान हो और न ही उनके पर्यायों का। इसी प्रकार दार्शनिक विश्लेषण के अन्य दृष्टान्त भी लिए जा सकते हैं जिनका विस्तृत विवरण आगे के अनुभाग में किया जाएगा।

दार्शनिक विश्लेषण
(Philosophical Analysis)

तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार दर्शन का वास्तविक कार्य विश्लेषण व प्रत्ययों का स्पष्टीकारण है। यद्यपि यह सही है कि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में हेगल, ब्रैडले इत्यादि दार्शनिक पथभ्रष्ट होकर तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने में उलझे रहे किन्तु ऐसे दार्शनिकों का अभाव नहीं है जिन्होंने दार्शनिक विश्लेषण के कार्य को अग्रसारित किया है। इस शृंखला में हम लॉक, बर्कले एवम् ह्यूम का नाम आसानी से ले सकते हैं।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दार्शनिक विश्लेषण क्या है ? दर्शन-शास्त्र में विश्लेषण को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ हैं। कुछ लोगों के अनुसार "विश्लेषण" विभाजन की प्रक्रिया है। तार्किक परमाणुवाद (Logical Atomism) इसी प्रकार के विभाजन की बात करता है। इसमें हम किसी वस्तु का विभाजन ऐसे सूक्ष्म अवयवों अथवा मूल विशेषों (Basic Particulars) के रूप में करने की चेष्टा करते हैं जिनका आगे विभाजन सम्भव न हो। ऐसे ही परमाणुओं से विश्व की रचना हुई है। पर इस प्रकार के विश्लेषण के विरुद्ध आपत्ति उठाई जाती है कि यह सम्पूर्ण वस्तु का सम्यक् चित्र प्रस्तुत नहीं करता। सम्पूर्णता विविक्त खण्डों का मात्र योग नहीं है। सम्पूर्णता की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं जो खण्डों के कृत्रिम योग से प्राप्त नहीं की जा सकतीं। दूसरी बात जो यहाँ ध्यान में रखने की है वह यह है कि एयर के अनुसार विश्लेषण भौतिक विभाजन की प्रक्रिया नहीं है इसका सम्बन्ध भौतिक लक्षणों के विवरण से कदापि नहीं है। विश्लेषण से हमारा तात्पर्य भौतिक वस्तुओं की विशेषताओं से न होकर उनके सम्बन्ध में जो हम कथन करते हैं अर्थात् उनसे सम्बंधित प्रतिज्ञप्तियों से है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध परिभाषाओं एवम् उनके तार्किक परिणामों से है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दर्शन-शास्त्र का कार्य किसी शब्दकोश का निर्माण करना है। शब्द-कोश में हमें शब्दों की केवल स्पष्ट परिभाषाएँ (Explicit Definitions) ही प्राप्त होती हैं, पर दर्शन-शास्त्र में हम जिस परिभाषा की चर्चा करते हैं वे

स्पष्ट परिभाषाएँ न होकर प्रायोगिक परिभाषाएँ (Definition-in-use) होती हैं जिन पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा करेंगे।

किसी शाब्दिक प्रतीक की स्पष्ट परिभाषा से हमारा तात्पर्य उस परिभाषा से है जिसमें हम एक शाब्दिक प्रतीक के स्थान पर किसी दूसरे शाब्दिक प्रतीक को स्थानापन्न कर देते हैं जो प्रथम प्रतीक का पर्यायवाची शब्द होता है। ऐसी स्थिति में दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ परस्पर समतुल्य कही जाती हैं। सामान्यतया हमारी परिभाषाएँ स्पष्ट परिभाषा के रूप में होती हैं। एरिस्टॉटल के अनुसार प्रत्येक परिभाषा के भीतर जाति (Genus) एवम् अवच्छेदक गुणों (Differentium) का वर्णन होना चाहिए। स्पष्ट परिभाषा एटिस्टॉटल द्वारा प्रदत्त परिभाषा के मानदण्ड के बिलकुल अनुरूप है। उदाहरण के लिए "मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है" अथवा "नेत्र-चिकित्सक आंख का डाक्टर होता है" स्पष्ट परिभाषा के उत्तम दृष्टान्त हैं। एयर के अनुसार सामान्यतः दैनिक जीवन में हम प्रायः इसी प्रकार की स्पष्ट परिभाषा का प्रयोग करते हैं।

दूसरे प्रकार की परिभाषा **प्रायोगिक परिभाषा** है। इसमें किसी प्रतीक को परिभाषित करने के लिए उसके पर्यायवाची शब्दों का उपयोग नहीं किया जाता। किसी प्रतीक की प्रायोगिक भाषा से हमारा तात्पर्य उस परिभाषा से नहीं है जिसमें एक प्रतीक के स्थान पर उसके पर्यायवाची प्रतीक को स्थानापन्न किया जाता है बल्कि उस परिभाषा से है जिसमें यह प्रदर्शित किया जाता है कि जिस वाक्य में परिभाष्य प्रतीक (Definiendum) का प्रयोग हुआ है उसे ऐसे समतुल्य वाक्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है जिसमें न तो परिभाष्य पद का प्रयोग हुआ हो और न ही उसके पयार्यवाची पद का। बर्ट्रण्ड रसेल का वर्णन-सिद्धान्त (Theory of Description) प्रायोगिक परिभाषा का एक उत्तम उदाहरण है। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रिंसिपिया मैथेमेटिका में वर्णनात्मक पद-समूहों का सफल विश्लेषण किया है। "**स्कॉट वैवर्ली का लेखक है**"[1] उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति में "वैवर्ली का लेखक" एक निश्चित वर्णनात्मक पद-समूह है जिसकी हमें प्रायोगिक परिभाषा प्रस्तुत करनी है। उक्त प्रतिज्ञप्ति निम्न प्रतिज्ञप्तियों के रूप में घटित की जा सकती है :

(i) ऐसा कोई x अवश्य है जिसने वैवर्ली को लिखा।

(ii) ऐसा कि यदि y ने वैवर्ली को लिखा तो y और x अभिन्न हैं।

(iii) ऐसा कि x स्कॉट से भिन्न व्यक्ति नहीं है।

प्रिंसिपिया मैथेमेटिका में उपर्युक्त तीनों प्रतिज्ञप्तियों को एक साथ निम्न प्रकार प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया गया है :

$(\exists c) : \phi x \equiv x = c : c = \text{Scott}.$

उपर्युक्त विश्लेषण से हम निम्न निष्कर्ष निगमित कर सकते हैं :

(1) "वैवर्ली का लेखक" कोई नाम नहीं है। हम "स्कॉट" को भले ही नाम कह लें किन्तु "वैवर्ली का लेखक" नाम नहीं है।

(2) "स्कॉट वैवर्ली का लेखक है", यह तर्क-वाक्य एक नामक वस्तु एवम् एक वर्णित वस्तु के तादात्म्य को व्यक्त करता है। वह दो नामों के बीच तादात्म्य को व्यक्त नहीं करता।

(3) यदि कोई प्रतिज्ञप्ति "वैवर्ली के लेखक" के विषय में है तो वह प्रतिज्ञप्ति किसी

---

1. Scott is the author of Waverly.

व्यक्ति के विषय में नहीं है वरन् वह उस पद के विषय में है जो वाक्यात्मक फलन (Propositional Function) "x ने वैवर्ली को लिखा" को संतुष्ट करता है।

(4) उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति में "वैवर्ली का लेखक" एक अपूर्ण प्रतीक (Incomplete Symbol) है जिसकी सार्थकता प्रतिज्ञप्ति के सन्दर्भ द्वारा निर्धारित होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि विश्लेषण के बाद सम्पूर्ण पद-समूह अदृश्य हो जाता है। यही पदों की प्रायोगिक परिभाषा है।

प्रायोगिक परिभाषा का हम एक दूसरा दृष्टान्त भी ले सकते हैं।

"वृत्ताकार वर्ग का अस्तित्व नहीं है"

यहाँ "वृत्ताकार वर्ग" एक वर्णनात्मक पद-समूह है जिसकी हमें प्रायोगिक परिभाषा प्रदान करनी है। इसकी हम निम्न रूप में प्रायोगिक परिभाषा दे सकते हैं : "कोई वस्तु वृत्ताकार एवम् वर्गाकार दोनों नहीं हो सकती।"

किसी पद-समूह की प्रायोगिक परिभाषा से उन प्रतिज्ञप्तियों के विषय में हमारे ज्ञान में वृद्धि हो जाती है जिनमें वे पद-समूह विद्यमान होते हैं। यहाँ यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि जब तक हमें किसी प्रतिज्ञप्ति का ज्ञान नहीं होगा तब तक हम उसमें प्रयुक्त पदों को परिभाषित ही कैसे कर सकते हैं ? उपर्युक्त दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर सही हैं। प्रारम्भ में हमें इन प्रतिज्ञप्तियों के विषय में इतना ज्ञान तो होता ही है कि कौन-सी वस्तु-स्थितियाँ इन्हें सत्यापित कर सकती हैं और कौन-सी नहीं। इस प्रकार के वाक्यों का प्रारम्भिक ज्ञान तो उन लोगों को भी प्राप्त होता है जो वर्ग-वृत्त, आकाश-कुसुम या फ्रान्स के वर्तमान नरेश इत्यादि सत्त्ववान (Subsistent) वस्तुओं में विश्वास करते हैं। अस्तित्ववान वस्तुओं से पृथक् सत्त्ववान वस्तुओं में विश्वास करना इस बात का द्योतक है कि जिन वाक्यों में उक्त सत्त्ववान वस्तुएँ विद्यमान हैं उनका हमें बिलकुल अपूर्ण ज्ञान ही है। इस अपूर्ण ज्ञान का कारण यह है कि **हम निश्चित वर्णनात्मक पद-समूहों** (Definite Descriptive Phrases) **को निर्देशात्मक प्रतीक** (Demonstrative symbol) **के रूप में स्वीकार कर बैठते हैं** जो एक मिथ्या कल्पना है। रसेल का वर्णन-सिद्धान्त यह भली भाँति स्पष्ट करता है कि वर्णनात्मक पद-समूह वर्णनात्मक ही होते हैं, उन्हें निर्देशात्मक प्रतीक के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। किसी वर्णनात्मक पद-समूह की व्याख्या केवल स्पष्ट परिभाषा के द्वारा नहीं दी जा सकती। उसका स्पष्टीकरण प्रायोगिक परिभाषा द्वारा ही सम्भव है।

इसी प्रकार का दार्शनिक विश्लेषण भौतिक वस्तुओं पर भी लागू किया जा सकता है। जॉन लॉक (John Locke) के समय से ही इस समस्या पर विचार किया जाता रहा है कि भौतिक वस्तुओं का स्वरूप क्या है ? लॉक ने द्रव्य-गुण के माध्यम से इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की; बर्कले ने गुण और विज्ञान के माध्यम से तो ह्यूम ने संस्कार और विज्ञान के द्वारा भौतिक वस्तुओं को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। तार्किक प्रत्यक्षवादी उक्त प्रकार की व्याख्याओं को स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में वे **अपचयवाद** (Reductionism) को स्वीकार करते हैं। अपचयवाद से हमारा तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जिसमें भौतिक वस्तु (O) से सम्बन्धित कोई प्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय प्रदत्तों (S_1, S_2, S_3..........S_n) से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्तियों में इस प्रकार घटित की जा सकती है जिनमें न तो O विद्यमान हो और न उसका कोई पर्यायवाची शब्द। इसमें न तो द्रव्य को शामिल करने की आवश्यकता है और न गुणों को। इसमें हमें

भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित वाक्यों को इन्द्रिय-प्रदत्त से सम्बन्धित वाक्यों के द्वारा घटित करने की आवश्यकता होती है। यहाँ भौतिक वस्तु O, इन्द्रिय-प्रदत्त वाक्यों की केवल एक तार्किक संरचना (Logical Construction) मात्र है।

पश्चानुभविक एवम् प्रागनुभविक
(The Aposteriori and the Apriori)

तार्किक प्रत्यक्षवाद एक प्रकार का अनुभववाद है जिसके अनुसार हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का एक मात्र स्रोत इन्द्रियानुभव है। हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक अनुभवाश्रित ज्ञान सापेक्षिक एवम् सम्भाव्य ही होता है, वह निरपेक्ष व अनिवार्य कभी नहीं हो सकता। अब अनुभववाद के विरुद्ध जो सबसे बड़ा आक्षेप लगाया जाता है वह यह है कि इसके आधार पर हम अनिवार्य सत्यों की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकते। ह्यूम ने लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व ही इस सत्य से अवगत करा दिया था कि अनुभव में दृष्टान्तों की संख्या चाहे जितनी भी अधिक हो, कोई भी पश्चानुभविक सत्य सम्भाव्यता का अतिक्रमण करके अनिवार्यता की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता। कोई भी तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति चाहे वह अंशव्यापी हो अथवा सर्वव्यापी निश्चयात्मक या अनिवार्य नहीं हो सकती। हम सभी जानते हैं कि अनुभववाद की तार्किक परिणति संशयवाद में होती है। जब अनुभववाद के आधार पर हम केवल सम्भाव्य एवम् संशयात्मक ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं तो वहाँ निश्चयात्मक व अनिवार्य ज्ञान की मांग करना अबौद्धिक कार्य ही समझा जायगा। कुछ लोगों के अनुसार अनुभववाद के आधार पर हम अनिवार्य सत्यों की व्याख्या कर ही नहीं सकते।

अब अनुभववादियों के समक्ष जो सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न होती है वह आकारिक तर्क शास्त्र (Formal Logic) व गणित की प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में है। इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं को हम भले ही सम्भाव्य व अविश्वसनीय मान लें पर तर्कशास्त्र व गणित की प्रतिज्ञप्तियों को तो अनिवार्य एवम् निश्चयात्मक मानना ही पड़ेगा। अब, यदि अनुभववाद सही है तो इसके आधार पर कोई भी प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य व निश्चयात्मक नहीं हो सकती। अतः अनुभववादियों के लिए गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों की व्याख्या के लिए केवल दो ही विकल्प सामने प्रस्तुत होते हैं : प्रथम विकल्प तो यह है कि गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य सत्य नहीं हैं तथा द्वितीय विकल्प के अनुसार वे तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु से रहित हैं। यदि अनुभववाद इन दोनों विकल्पों में किसी को भी सिद्ध करने में असफल रहता है तो उसके लिए बुद्धिवाद (Rationalism) स्वीकार करने के सिवाय कोई दूसरा मार्ग शेष नहीं बचता। इस स्थिति में उसे स्वीकार करना होगा कि जगत के विषय में कुछ ऐसे सत्य हैं जिन्हें हम अनुभव से स्वतन्त्र जान सकते हैं। उसे यह भी स्वीकार करना होगा कि हमारी बुद्धि के पास एक ऐसी अलौकिक शक्ति है जिसके माध्यम से वह संसार के रहस्यों को उद्घाटित कर सकती है। पर ऐसा करने से अनुभववाद का आधार-स्तम्भ ही ध्वस्त हो जायगा। क्योंकि अनुभववाद के अनुसार वही प्रतिज्ञप्ति सार्थक है जिसे अनुभव द्वारा सत्यापित किया जा सकता है। अतः तार्किक प्रत्यक्षवादियों के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त दोनों विकल्पों में कम से कम एक विकल्प को वे सत्य सिद्ध करने में सफल हों। यदि वे ऐसा करने में सफल हो जाते हैं तो बुद्धिवाद की आधारशिला ही ध्वस्त हो जायगी और अनुभववाद के लिए स्पष्ट मार्ग

प्रशस्त हो जायगा। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने यही किया। वे यह तो सिद्ध करने में सफल नहीं हो सके कि गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ सम्भाव्य होती हैं पर उन्होंने इस सत्य को निर्णायक रूप में सिद्ध कर दिया कि उनमें तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु का सदा अभाव पाया जाता है।

(1) **जॉन स्टुअर्ट मिल (J.S. Mill)** ने अनुभववाद को सुरक्षित रखने के लिए प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जिसके अनुसार गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य न होकर केवल सम्भाव्य ही होती हैं। गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ उसी प्रकार आगमनात्मक सामान्यीकरण पर आधारित होती हैं जितनी विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ। विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों एवम् गणित की प्रतिज्ञप्तियों में केवल मात्रा का ही भेद होता है प्रकार का नहीं। दोनों में अन्तर यह है कि विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ कुछ सीमित दृष्टान्तों के अवलोकन के ऊपर आधारित होती हैं पर गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ इतने अधिक दृष्टान्तों पर आधारित होती हैं कि वे सम्भाव्य होते हुए भी अनिवार्य रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं। किसी विरोधी दृष्टान्त द्वारा उनके असत्यापित होने की सम्भावना सदा विद्यमान होती है। गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ उसी प्रकार आनुभविक सामान्यीकरण पर आश्रित होती हैं जितनी विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ।

गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों की मिल द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तार्किक प्रत्यक्षवादियों को मान्य नहीं है। यह सही है कि गणित एवम् तर्क-शास्त्र का ज्ञान अनुभव से ही प्रारम्भ होता है पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उनकी उत्पत्ति अनुभव से होती है। विज्ञान एवम् गणित की प्रतिज्ञप्तियों में केवल मात्रा का ही भेद नहीं होता, उनके बीच प्रकार-भेद होता है। वह प्रकार-भेद यह हैं कि विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों की वैधता अनुभव पर आधारित होती है किन्तु गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों की वैधता अनुभव द्वारा निर्धारित नहीं की जाती। वे अनुभव से स्वतन्त्र होती हैं। यह सही है कि गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों को जीवन में हम उसी प्रकार सीखते हैं जिस प्रकार हम भूगोल और इतिहास की प्रतिज्ञप्तियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम इस बात का निषेध नहीं करते कि जिस प्रथम व्यक्ति ने गणित या तर्क-शास्त्र के किसी सत्य का उद्घाटन किया होगा उसने आगमनात्मक विधि के द्वारा ही ऐसा किया होगा। पर जिस समस्या का हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं वह न तो कोई ऐतिहासिक समस्या है कि हमें इस प्रकार का ज्ञान कब प्राप्त होता है और न कोई मनोवैज्ञानिक समस्या है कि हमें किस मानसिक विधि के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। वास्तव में हमारी समस्या विशुद्ध रूप में एक ज्ञानमीमांसीय समस्या है और वह ज्ञानमीमांसीय समस्या यह है कि गणित एवम् तर्क-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों की वैधता किस प्रकार निर्धारित की जाती है। इस सन्दर्भ में विज्ञान और गणित की प्रतिज्ञप्तियों के बीच अन्तर यह है कि विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों की वैधता आनुभविक सत्यापन द्वारा निर्धारित की जाती है पर गणित की प्रतिज्ञप्तियों की वैधता आनुभविक सत्यापन पर निर्भर नहीं करती। वे अनुभव से स्वतन्त्र होती हैं। हमें उनका ज्ञान आगमनात्मक विधि के द्वारा भले ही प्राप्त हुआ हो पर ज्यों ही हमें उनका ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वे अनिवार्यतः सत्य होती हैं। वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियाँ सदा सम्भाव्य हैं पर गणित व तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ सदा अनिवार्य हैं। उदाहरणस्वरूप हम यूक्लिड के त्रिभुज को ले सकते हैं। हमें ज्ञात है कि किसी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। पर यदि किसी विद्यार्थी ने त्रिभुज के तीनों कोणों का मापन करके देखा कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर नहीं है तो क्या उक्त गणितीय सत्य असत्यापित हो जायगा ? कदापि नहीं।

हम यही कहेंगे कि या तो उस विद्यार्थी ने कोणों का ठीक प्रकार से मापन नहीं किया अथवा जिस आकृति के कोणों का उसने मापन किया वह त्रिभुज था ही नहीं। अर्थात् हम किसी वैकल्पिक व्याख्या द्वारा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी किसी गणितीय सत्य की वैधता को सुरक्षित रखेंगे। पर विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों पर यही बात लागू नहीं होती। यदि वैज्ञानिक सत्य के विरुद्ध एक भी दृष्टान्त हमारे समक्ष उपस्थित होता है, हम उसे असत्य घोषित कर देते हैं।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टान्त तर्क-शास्त्र से ले सकते हैं। गणित की तरह तर्क-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ भी अनिवार्य होती हैं। तर्क-शास्त्र में मध्यम परिहार नियम (The Law of Excluded Middle) एक अनिवार्य सत्य के रूप में लिया जाता है। इस नियम के अनुसार कोई प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होगी या असत्य। इसके बीच कोई तीसरा विकल्प नहीं है। अर्थात् यह असम्भव है कि किसी प्रतिज्ञप्ति और उसके व्याघातक प्रतिज्ञप्ति में कोई भी सत्य न हो। पर कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो मध्यम परिहार नियम को सार्वभौम नियम नहीं मानते। उनके अनुसार इस नियम के भी अपवाद हो सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमारे मित्र ने हमें कभी पत्र नहीं लिखा है तो हमारा यह कथन कि **"मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द कर दिया है"** न सत्य है और न असत्य। इस कथन को मध्यम परिहार नियम का अपवाद माना जा सकता है। पर वास्तविकता यह है कि मध्यम परिहार नियम एक सार्वभौम नियम है जो अपनी वैधता के लिए विशिष्ट तथ्यों पर आधारित नहीं है। हमारा यह कथन कि "मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द कर दिया है" एक सरल प्रतिज्ञप्ति नहीं है बल्कि दो सरल प्रतिज्ञप्तियों की एक मिश्रित प्रतिज्ञप्ति है। वे दो सरल प्रतिज्ञप्तियाँ हैं : **"मेरे मित्र ने भूतकाल में मुझे पत्र लिखा था और वह अब मुझे पत्र नहीं लिखता"** तथा हमारा यह कथन कि **"मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द नहीं किया है।"** उपर्युक्त मूल प्रतिज्ञप्ति की व्याघाती (Contradictory) प्रतिज्ञप्ति नहीं है जैसा कि वह ऊपर से प्रतीत होती है बल्कि वह केवल विपरीत (Contrary) प्रतिज्ञप्ति ही है। बात यह है कि यह दूसरी प्रतिज्ञप्ति कि "मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द नहीं किया है" एक सरल प्रतिज्ञप्ति न होकर दो सरल प्रतिज्ञप्तियों की एक मिश्रित प्रतिज्ञप्ति ही है। वे दो सरल प्रतिज्ञप्तियाँ हैं : **मेरे मित्र ने भूतकाल में मुझे पत्र लिखा था और अब भी वह मुझे लिखता है"**। अतः जब हम यह कहते हैं कि "मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द कर दिया है" न सत्य है और न असत्य, तो हमारा यह कथन सही नहीं है। इसका कारण यह है कि निम्न दो प्रतिज्ञप्तियाँ "मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द कर दिया है" तथा "मेरे मित्र ने मुझे पत्र लिखना बन्द नहीं किया है" परस्पर व्याघाती न होकर केवल विपरीत ही हैं। अतः प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हम मध्यम परिहार नियम की वैधता को सुरक्षित रखने की चेष्टा करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि तर्क-शास्त्र के नियम सदा अनिवार्य होते हैं, जिन्हें प्रतिकूल परिस्थितियाँ न सिद्ध कर सकती हैं और न असिद्ध ही। अतः मिल का यह कथन कि गणित व तर्कशास्त्र के नियम सम्भाव्य होते हैं, सही नहीं है।

(2) अब अनुभववाद की प्रतिरक्षा के लिए दूसरे विकल्प को सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरा विकल्प यह है कि गणित एवम् तर्क-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु से रहित हैं अर्थात् वे द्विरुक्ति (Tautology) मात्र हैं। इसके लिए हमें विश्लेषणात्मक (Analytic) एवम् संश्लेषणात्मक (Synthetic) निर्णयों पर विचार करना होगा।

विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक निर्णयों की सबसे स्पष्ट व्याख्या काण्ट ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **"क्रिटीक ऑव प्योर रीजन"** (Crtique of Pure Reason) में प्रस्तुत किया

है। उनके अनुसार विश्लेषणात्मक निर्णय वे निर्णय हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की भीतर पहले से ही विद्यमान होता है। इसमें विधेय उद्देश्य के विषय में किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराता; वह उद्देश्य में निहित विचारों का मात्र विश्लेषण करता है। उदाहरण के लिए "पिण्ड विस्तृत है" (A body is extended) विश्लेषणात्मक निर्णय का उत्तम उदाहरण है। इसके विपरीत संश्लेषणात्मक निर्णय वे निर्णय हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान नहीं होता। यहाँ विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन सूचना अवश्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिए "पिण्ड भारी है" (A body has weight) अथवा 7 + 5 = 12 है, संश्लेषणात्मक निर्णय के उत्तम उदाहरण हैं।

वास्तव में काण्ट द्वारा प्रस्तुत निर्णयों का उपर्युक्त विभाजन त्रुटिपूर्ण है। इसका कारण यह है कि विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक निर्णयों में भेद स्पष्ट करने के लिए केवल एक निकष (Criterion) का प्रतिपादन करना चाहिए था; पर वे इनमें भेद स्पष्ट करने के लिए एक निकष के स्थान पर दो भिन्न निकषों का प्रतिपादन करते हैं। जब वे 7 + 5 = 12 को संश्लेषणात्मक निर्णय कहते हैं तो इसका कारण यह है कि 7 + 5 की आत्मनिष्ठ व्याप्ति (Subjective Extension) 12 की आत्मनिष्ठ व्याप्ति को आपादित नहीं करती। उसी प्रकार जब वे "पिण्ड विस्तृत हैं" को विश्लेषणात्मक निर्णय कहते हैं तो इसका कारण यह है कि इसकी वैधता व्याघात-नियम पर आधारित हैं। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि वे प्रथम प्रतिज्ञप्ति को संश्लेषणात्मक सिद्ध करने के लिए मनोवैज्ञानिक निकष का प्रयोग करते हैं तथा द्वितीय प्रतिज्ञप्ति को विश्लेषणात्मक सिद्ध करने के लिए वे तार्किक निकष का प्रयोग करते हैं। पर एक ही प्रतिज्ञप्ति यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से संश्लेषणात्मक है तो तार्किक दृष्टिकोण से विश्लेषणात्मक हो सकती है। केवल इस आधार पर कि हम 12 की कल्पना किए बिना 7 और 5 के योगफल का विचार कर सकते हैं, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 7 + 5 = 12 का बिना वदृतोव्याघात के निषेध किया जा सकता है। अतः काण्ट के इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 7 + 5 = 12 एक संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है। यह उतनी ही विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है जितनी "पिण्ड विस्तृत है" विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या काण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के भेद की दर्शन-शास्त्र में कोई सार्थकता नहीं है ? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि काण्ट के उपर्युक्त विभाजन की सार्थकता है पर उनकी परिभाषाओं को हमें और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की परिभाषा में संशोधन करते हुए हम कह सकते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति **विश्लेषणात्मक** तब कही जाएंगी जब कि उसकी वैधता उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की परिभाषा पर आश्रित होती है। इसके विपरीत कोई प्रतिज्ञप्ति **संश्लेषणात्मक** तब कही जाएगी जब कि उसकी वैधता आनुभविक तथ्यों पर आधारित होती है। उदाहरण के लिए "विश्वविद्यालय के सभी विद्यार्थी ईमानदार होते हैं" एक संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है क्योंकि इसकी वैधता बाह्य तथ्यों द्वारा ही निर्धारित की जा सकती है। इसके विपरीत "विश्वविद्यालय वह शैक्षणिक संस्था है जिसमें उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अध्ययन करते हैं" एक विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है जिसकी वैधता उसमें प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ पर आधारित होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के विषय में निम्न निष्कर्ष निगमित कर सकते हैं :—

(1) विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति जगत के विषय में हमें कोई सूचना प्रदान नहीं करती। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति हमें जगत के विषय में भले ही सूचना प्रदान करती हो पर विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति संसार के विषय में हमें कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कराती।

(2) यद्यपि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु से रहित होती है किन्तु तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों की तरह वे निरर्थक नहीं होतीं। वे विभिन्न प्रतीकों के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करा कर हमें भाषा के विषय में अवश्य प्रबुद्ध करती हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वे भाषीय प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त करा कर हमें नवीन सूचनाएँ भी प्रदान करती हैं।

(3) परम्परागत तर्कशास्त्रियों की मान्यता के अनुसार तार्किक नियम मानवीय मस्तिष्क-व्यापार-नियम हैं पर आधुनिक तर्कशास्त्र इसे स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार **प्रत्येक अनुमान सिद्धान्त एक तार्किक सत्य की अभिव्यक्ति करता है तथा प्रत्येक तार्किक सत्य एक अनुमान-सिद्धान्त को व्यक्त करता है।** तादात्म्य-नियम, मध्यम परिहार नियम एवम् व्याघात नियम विचारों के नियम के साथ-साथ तार्किक सत्यों की भी अभिव्यक्ति करते हैं।

(4) प्रत्येक विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति स्वतः वैध होती है। उसकी वैधता किसी दार्शनिक निकाय के अंगीभूत होने पर आधारित नहीं होती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता उसके भीतर प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ पर आश्रित होती है। उस प्रतिज्ञप्ति की वैधता के लिए उससे बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होती।

(5) काण्ट ने घोषित किया था कि गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ संश्लेषणात्मक होती हैं। उनके अनुसार रेखागणित भौतिक देश की विशेषताओं का अध्ययन करता है। पर हम पहले ही देख चुके हैं कि रेखागणित की प्रतिज्ञप्तियाँ संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक ही होती हैं। पुनः यूक्लिड द्वारा प्रतिपादित रेखागणित से भिन्न रेखागणित के आविष्कार के बाद यह सिद्ध करना आसान हो गया कि रेखागणित की प्रतिज्ञप्तियाँ संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक ही होती हैं। रूसी गणितज्ञ **लोबाशेवस्की** (Lobachevsky) ने यूक्लीडियन रेखागणित से भिन्न रेखागणित का आविष्कार करके सिद्ध कर दिया कि रेखागणित की स्वयंसिद्धियाँ केवल परिभाषाएँ हैं एवम् रेखागणित के प्रमेय उन परिभाषाओं के तार्किक परिणाम मात्र हैं। रेखागणित स्वयं में किसी भौतिक देश के विषय में नहीं है। सच पूछा जाय तो वह किसी के विषय में नहीं है। वह द्विरुक्ति मात्र है। पर रेखागणित का प्रयोग भौतिक देश के विषय में चिन्तन करने के लिए किया जा सकता है।

जो बात रेखागणित के विषय में सत्य है वही अंकगणित के विषय में भी लागू होती है। काण्ट के समय में अंकगणित की प्रतिज्ञप्तियों को संश्लेषणात्मक माना जाता था। उनके अनुसार अंकगणित का सम्बन्ध काल के विशुद्ध प्रतिभान से है। पर आधुनिक दर्शन के अनुसार अंकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ उतनी ही विश्लेषणात्मक हैं जितनी रेखागणित की प्रतिज्ञप्तियाँ। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि गणित एवम् तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ जगत के विषय में कुछ भी कथन नहीं करतीं।

इन्द्रिय-प्रदत्त सिद्धान्त
(SENSE-DATUM THEORY)

हम बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व में अनायास विश्वास कर लेते हैं। भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास को न्याय्य सिद्ध करना प्रत्यक्ष की मूलभूत समस्या है। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्यक्ष में हम जिस साक्ष्य से प्रारम्भ करते हैं और जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं उसमें ऐसा तार्किक अन्तर होता है कि उसकी पूर्ति आसानी से नहीं की जा सकती। चूँकि प्रत्यक्ष के विषय में हमारा निष्कर्ष साक्ष्य का सदा अतिक्रमण करता है, अतः वह निश्चयात्मक कदापि नहीं कहा जा सकता। यदि साक्ष्य और निष्कर्ष में कोई तार्किक अन्तर न होता तो हमारे समक्ष प्रत्यक्ष की कोई समस्या ही न होती। किन्तु स्पष्टतः प्रत्यक्ष में हमारे साक्ष्य और निष्कर्ष में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, यही प्रत्यक्ष की विभिन्न समस्याओं को उत्पन्न करता है जिनके विषय में हम इस अध्याय में वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

प्रत्यक्ष के विषय

डेकार्ट के समय से ही दार्शनिकों के मनन का एक प्रधान विषय रहा है कि हमारे प्रत्यक्ष के विषय का वास्तविक स्वभाव क्या है ? कुछ दार्शनिकों का विचार है कि बाह्य वस्तुएँ स्वयं हमारे प्रत्यक्ष के विषय होती हैं, इसे प्रदत्त का वस्तु-सिद्धान्त कहते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य दार्शनिक एक मर्यादित दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) को ही देखते हैं: दर्शन में इसे इन्द्रिय-प्रदत्त का सिद्धान्त (Sense-Datum Theory) कहते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य दार्शनिकों, जैसे ब्रैडले, बोसांके इत्यादि का विचार है कि प्रत्यक्ष में न तो हम किसी भौतिक वस्तु का अनुभव करते हैं और न किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही : वास्तव में प्रत्यक्ष में हमारा साक्षात्कार केवल एक अव्यवहित और अपरोक्ष अनुभव (Immediate Experience) से होता है: दर्शन में इसे प्रदत्त का अपरोक्ष अनुभव-सिद्धान्त कहा जाता है। प्रदत्त के इन विषय सिद्धांतों के साथ प्रत्यक्ष के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार संयुक्त हैं कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रदत्त का वस्तु-सिद्धान्त प्रत्यक्ष के साक्षात् वस्तुवाद (Direct Realism) से संयुक्त है। इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रदत्त-सिद्धान्त प्रत्यक्ष के कारण-सिद्धान्त (Causal Theory) या प्रतिनिधानवाद और दृश्य प्रपञ्चवाद से सम्बन्धित है। इन सभी सिद्धांतों और मतों का तार्किक विश्लेषण करते हुए हम प्रत्यक्ष के एक सुनिश्चित सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

इन्द्रिय-प्रदत्तवाद

दार्शनिकों, विशेषकर तार्किक प्रत्यक्षवादियों (Logical Positivists) ने कई युक्तियों के आधार पर इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना की है। यहाँ हम केवल चार-पाँच युक्तियों का ही वर्णन करेंगे, जिनके आधार पर बाह्य वस्तुओं के अतिरिक्त इन्द्रिय-प्रदत्त का प्रतिपादन किया जाता है—

(अ) कारणमूलक युक्ति (Causal Argument)—मनोविज्ञान एवं भौतिकी के आधार पर कारणमूलक युक्ति यह है कि जब हम किसी मेज का प्रत्यक्ष करते हैं तब हमारा प्रत्यक्ष मस्तिष्क में घटित होने वाली घटनाओं तक ही सीमित होता है, जो किसी बाह्य मेज द्वारा

हमारे मस्तिष्क में उत्थापित की जाती हैं और वे घटनाएं मेज से उसी प्रकार और उतनी ही भिन्न होती हैं जितना कि मेघ-गर्जन तड़ित् से भिन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तु के बजाय हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही साक्षात् अनुभव होता है।

(ब) भ्रममूलक युक्ति (Argument from Illusion)—इस युक्ति के आधार पर कहा जाता है कि भ्रम, विभ्रम एवं स्वप्नों में हम निश्चित रूप से बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते: इन अवस्थाओं में हम कुछ ऐसी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं जो गुणात्मक रूप में बाह्य वस्तुओं से भिन्न होती हैं। सातत्य-नियम के अनुसार "सामान्य" अवस्थाओं में भी हम बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष न कर केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं।

(स) संगति-मूलक युक्ति (Consistency Argument)—इसमें विशेष बात यह है कि, वे दार्शनिक जो इन्द्रिय-प्रदत्त के माध्यम से जगत् की व्याख्या करते हैं, उन दार्शनिकों से अधिक संगत भाषा का प्रयोग करते हैं जो भौतिक वस्तुओं के माध्यम से जगत् की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। यह कहना कि यथार्थ प्रत्यक्ष में हमें भौतिक वस्तुओं का साक्षात्कार होता है किन्तु अयथार्थ प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात्कार करते हैं, आत्म-व्याघातक है। या तो प्रत्यक्ष की दोनों अवस्थाओं—यथार्थ और अयथार्थ—में हम भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, जैसा कि वस्तुवादी कहते हैं, या हम दोनों अवस्थाओं में केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं, जैसा कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों का विचार है। प्रथम विकल्प कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि वह सत्य और असत्य का भेद समाप्त कर देता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि दोनों अवस्थाओं में हम इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं।

(द) कर्ममूलक युक्ति (Accusative Theory)—इस युक्ति के अनुसार प्रत्यक्ष का जितना यथार्थ वर्णन इन्द्रिय-प्रदत्तवाद द्वारा सम्भव हो सकता है उतना भौतिक वस्तुवाद (Physical Object Theory) द्वारा सम्भव नहीं है। हम सामान्यतया "ध्वनि" के श्रवण की बात करते हैं, पर उस वस्तु के श्रवण की बात नहीं करते जो उस ध्वनि को उत्पन्न करती है और जो ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष की जा सकती है। इस प्रकार श्रवण-प्रक्रिया में हम "ध्वनि" जिसका हमें साक्षात् प्रत्यक्ष होता है तथा उस ध्वनि की उत्पादक वस्तु, जिसका हमें ध्वनि या अन्य किसी माध्यम द्वारा परोक्ष अनुमान होता है, में भेद करते हैं। किन्तु जब हम स्पर्श और दृष्टि पर आते हैं तो यहाँ श्रवण के समान हमें कोई भी कर्म (Accusative) प्राप्त नहीं होता। हम साधारणतया घड़ी को ही स्पर्श करने या प्रत्यक्ष करने का कथन करते हैं, उसके किसी इन्द्रिय-प्रदत्त को स्पर्श करने का या देखने का कथन यहाँ कभी नहीं किया जाता। किन्तु इन्द्रिय-प्रदत्तवादी दार्शनिकों के अनुसार ऐसा सोचना असंगत है। वे आत्मा और बाह्य वस्तुओं के बीच एक ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो तथ्य के साथ संगति स्थापित करने के साथ भाषा और विचार में भी संगति लाने का प्रयत्न करती है।

(य) योग्यता-मूलक युक्ति (Aptness Theory)—इन्द्रिय-प्रदत्तों में विश्वास करने का पाँचवा कारण यह है कि जो कुछ हम प्रत्यक्ष करते हैं उसके वर्णन की साधारण विधि ऐसे तथ्यों के ऊपर अधिकार की मांग करती है जो प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। प्रो० एयर के ही उदाहरण को लिया जाय: कल्पना कीजिये कि मैं यह कथन करता हूँ कि 'मैं अब एक राख-पात्र का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ।' किन्तु यह मेरा कोरा भ्रम या कोरा विभ्रम भी हो सकता है।

मेरे राख-पात्र के प्रत्यक्ष की इस तथ्य से पूरी तरह संगति हो सकती है कि वास्तव में मैं कोई भी राख-पात्र नहीं देख रहा हूँ। प्रत्यक्ष के संदिग्ध स्वभाव के कारण ही एयर ने यह अनुबन्ध लगा दिया था कि "मैं अब एक राख-पात्र का प्रत्यक्ष कर रहा हूं" मुझे ऐसा कथन न कर "ऐसा अब मुझे प्रतीत होता है कि मैं एक राख-पात्र को देख रहा हूँ" इस प्रकार का कथन करना चाहिए और पुनः इसे परिवर्तित कर "वास्तव में मैं अब एक प्रतीयमान राख-पात्र का अनुभव कर रहा हूँ" इस रूप में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रतीयमान वस्तु को, जो विशुद्ध रूप में वैयक्तिक और व्यक्तिगत होती है, दार्शनिकों ने 'इन्द्रिय-प्रदत्त' के नाम से अभिहित किया है।

अतः समकालीन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव करते हैं, बाह्य वस्तुओं का नहीं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन इन्द्रिय-प्रदत्तों का वास्तविक स्वभाव क्या है ? विभिन्न दार्शनिकों ने इन्द्रिय-प्रदत्तों के विषय में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कुछ लोगों ने इन्हें एक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है, अन्य विचारकों ने इन्द्रिय-प्रदत्त् को एक प्राक्कल्पना (Hypothesis) के रूप में ग्रहण किया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिकों ने इन्हें केवल एक वैकल्पिक भाषा के रूप में स्वीकार किया। इन्द्रिय-प्रदत्त के स्वभाव के विभिन्न सिद्धांतो का तार्किक विवेचन करना यहां अनुपयुक्त नहीं होगा।

1. इन्द्रियानुभविक सिद्धान्त (Empirical Theory)

इन्द्रियानुभविक सिद्धान्त का मूल मन्तव्य यह है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों का वास्तविक अस्तित्व होता है। इन्द्रिय-प्रदत्त न तो कोई परिकल्पना है और न एक विशिष्ट प्रकार की भाषा ही। इन्द्रिय-प्रदत्त एक अस्तित्ववान् इकाई है जिसका निर्देश या चयन किया जा सकता है। प्रो० प्राइस (Price) और मूर (Moore) का यही विचार है। उनके अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त साक्षात् इन्द्रियानुभव के विषय हैं। इन्द्रिय-प्रदत्त से उनका अभिप्राय केवल चाक्षुष अनुभव के विषय से ही नहीं है बल्कि इसके भीतर रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इत्यादि किसी भी इन्द्रियानुभव के विषय को समाहित किया जा सकता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि किसी इन्द्रिय-प्रदत्त के अस्तित्व के विषय में सन्देह प्रकट नहीं किया जा सकता। केवल भौतिक वस्तुओं—जो इन्द्रिय-प्रदत्त का अतिक्रमण करती हैं—के ही अस्तित्व के विषय में सन्देह प्रकट किया जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का अनुभव हो रहा है तो इससे तत्काल तीन निष्कर्ष उत्पन्न होते हैं—

(i) इन्द्रिय-प्रदत्त हमारे साक्षात् इन्द्रियानुभव का विषय है।
(ii) इन्द्रिय-प्रदत्त का अनिवार्य अस्तित्व है।
(iii) इसके भीतर वे सम्पूर्ण विशेषताएँ पायी जाती हैं जिनकी हमें इस समय प्रतीति हो रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों एवं भौतिक वस्तुओं में गुणात्मक भेद है। जो कथन हम इन्द्रिय-प्रदत्तों के विषय में कर सकते हैं वे भौतिक वस्तुओं पर कभी चरितार्थ नहीं किए जा सकते। इसी प्रकार जो बातें भौतिक वस्तुओं पर लागू होती हैं वे इन्द्रिय-प्रदत्तों पर कभी भी लागू नहीं की जा सकतीं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे इन्द्रिय-प्रदत्तों के उदाहरण क्या हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मैकबेथ ने अपने विभ्रम में जो कटार देखी थी या अपनी आँख मूँदने पर जो हम अनुबिम्ब (After-Image) देखते हैं वही वास्तविक

इन्द्रिय-प्रदत्त हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक इन्द्रिय-प्रदत्त के प्रत्यक्ष में साक्षात् इन्द्रियानुभव निहित होता है। यह केवल इन्द्रियानुभविक तथ्य का कथन ही नहीं है वरन् एक स्वतःसिद्ध सत्य की अभिव्यक्ति है। अर्थात् वाक्यात्मक फलन "य अपना दाहिना हाथ और साथ-साथ एक अतिरिक्त वस्तु का प्रत्यक्ष कर रहा है" का अर्थ है "य को एक ऐसे चाक्षुष क्षेत्र का साक्षात् अनुभव हो रहा है जिसमें कम से कम दो इकाइयाँ विद्यमान हैं।" तात्पर्य यह है कि जब कभी किसी व्यक्ति को साक्षात् इन्द्रियानुभव होगा उसे इन्द्रिय-प्रदत्त प्राप्त होंगे, यद्यपि इसका प्रतिलोम सत्य नहीं है। इन्द्रिय-प्रदत्त एक वास्तविक सत् है।

तार्किक निदर्शन—प्रत्येक प्रत्यक्ष में हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का साक्षात् अनुभव होता है, इसको तार्किक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि "यह पेनी है" या "वह पेनी है", तब निर्देशात्मक प्रतीक (Demonstrative Symbol) "यह" या "वह" जिसके लिए प्रयुक्त किया जाता है वह इन्द्रिय-प्रदत्त है। अर्थात् इन्द्रिय-प्रदत्त वह इकाई है जो हमारे निर्देश का विषय है। मूर के ही शब्दों में "इन्द्रिय-प्रदत्त किसी प्रत्यक्षात्मक प्रतिज्ञप्ति का उद्देश्य है जिसे हम साक्षात् ज्ञान द्वारा जानते हैं।" "यह पेनी है" इस प्रतिज्ञप्ति में "यह" अर्थात् इन्द्रिय-प्रदत्त का ज्ञान साक्षात् ज्ञान (Acquaintance) द्वारा तथा "पेनी" अर्थात् भौतिक वस्तु का ज्ञान वर्णन (Description) द्वारा प्राप्त होता है।

इन्द्रियानुभविक-सिद्धान्त की आलोचना

1. प्रो० एयर ने मूर के उपर्युक्त तर्क की आलोचना करते हुए कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अवस्था में निर्देशात्मक प्रतीक किसी इन्द्रिय-प्रदत्त की ओर संकेत करता ही हो।[1] जब हम यह कथन करते हैं कि 'यह पेनी है' तो "यह" का व्याप्त्यर्थ "पेनी" ही है, "पेनी के धरातल का भाग" नहीं है ; जब हम भ्रम में किसी वस्तु को पेनी समझकर 'यह पेनी है' कहते हैं तब "यह" का व्याप्त्यर्थ वह वस्तु ही है जिसे भ्रम में हम "पेनी" कहकर पुकारते हैं। "यह" का व्याप्त्यर्थ कोई वास्तविक "इन्द्रिय-प्रदत्त" नहीं होता जैसा लोग समझते हैं। पूर्ण विभ्रम की अवस्था में जब हम किसी वस्तु को "यह" या "वह" कहकर इंगित करते हैं तो "यह" का वास्तव में कोई व्याप्त्यर्थ होता ही नहीं। अतः प्रो० मूर का यह कथन सत्य नहीं है कि प्रत्यक्ष की प्रत्येक अवस्था में "यह" या "वह" किसी न किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही प्रतीक है।

2. इन्द्रिय-प्रदत्तवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह यथार्थ प्रत्यक्ष, अयथार्थ प्रत्यक्ष, भ्रम, विभ्रम, अनुबिम्ब इत्यादि सभी को एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। ऐसी अवस्था में या तो भ्रम, विभ्रम व अनुबिम्ब को साधारण प्रत्यक्ष के ही प्रकार मानना होगा अथवा साधारण प्रत्यक्ष को भ्रम, विभ्रम या अनुबिम्ब का ही प्रकार मानना होगा, जो असम्भव है। साधारण और असाधारण प्रत्यक्षों को एक ही कोटि का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं माना जा सकता। इस सन्दर्भ में प्रो० ऑस्टिन के विचार पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं : 'अभ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही भ्रान्ति की धारणा सार्थक होती है।[2] हम किसी प्रत्यक्ष को अयथार्थ तभी कह सकते हैं जबकि यथार्थ प्रत्यक्ष का

---

1. Ayer, A.J. Philosophical Essays, pp. 78-80.
2. Austin, J.L. Sense and Sensibilia, "...talk of deception makes sense only against a background of general non-deception.

हमें बोध हो। अतः यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्ष में गुणात्मक भेद होता है। उन्हें हम एक ही स्थान पर संपीडित कर "इन्द्रिय-प्रदत्त" के प्रत्यक्ष के रूप में स्थापित नहीं कर सकते।

3. इन्द्रिय-प्रदत्त का तीसरा दोष यह है कि यह किसी भौतिक वस्तु के प्रत्यक्ष को तार्किक दृष्टि से असम्भव बना देता है। इसके अनुसार हमें किसी भौतिक वस्तु का परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं। पर जब तक हमें किसी वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि उस वस्तु का हमें परोक्ष ज्ञान हो रहा है ? उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्त न तो कोई वस्तु है, न वह किसी वस्तु का नाम है, और न वह कोई "उदासीन इकाई" ही है। वास्तव में इसे हम एक "सैद्धान्तिक इकाई" (Theoretical Entity) के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसके माध्यम से हम विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। डॉ० ब्रांड का यही मत था जिस पर हम विचार प्रस्तुत करेंगे।

2. प्राक्कल्पनात्मक सिद्धान्त (Hypothetical Theory)

डॉ० ब्राड (C.D. Broad) इन्द्रिय-प्रदत् को एक वास्तविक सत्ता न मानकर उसे एक सैद्धांतिक इकाई या एक परिकल्पना (हाइपॉथेसिस) के रूप में स्वीकार करते हैं जिसका किसी वस्तु के सत् (Reality) और आभास (Appearance) के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए ही प्रयोग किया जाता है। कल्पना करें कि एक पेनी किसी मेज पर रखी हुई है। पास से देखने पर वह वृत्ताकार दिखाई देती है पर अन्य स्थानों से देखने पर वह अण्डाकार दिखाई देती है। इस प्रकार हमारे समक्ष एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि एक ही वस्तु वृत्ताकार और अण्डाकार दोनों कैसे हो सकती है। सामान्य रूप में इस समस्या का इस प्रकार समाधान किया जाता है कि पेनी अण्डाकार केवल प्रतीत ही होती है, वास्तव में वह वृत्ताकार ही है। पर यहाँ हमारे समक्ष प्रमुख समस्या यह है कि हम आभास और सत् के बीच किस प्रकार अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं ? पेनी का वृत्ताकार रूप भी तो एक अभास ही है। अन्य आभासों में हम केवल वृत्ताकार आभास को ही क्यों सत् रूप मान लेते हैं ?

डॉ० ब्रॉड किसी वस्तु के विभिन्न आभासों की परिप्रेक्ष्य नियम (Law of Perspective) द्वारा व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। संदर्श-नियम केवल इतना ही स्पष्ट करते हैं कि यदि किसी वस्तु का स्वरूप तथा प्रेक्षक की सापेक्षता में उसकी स्थिति ज्ञात हो तो उसका कौन सा आभास प्रेक्षक के समक्ष उपस्थित होगा ? वे विभिन्न आभासों के सह-सम्बन्ध सम्बन्धी तथ्य का ही वर्णन करते हैं, उन तथ्यों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। इसी प्रकार डॉ० ब्रॉड यह भी स्वीकार नहीं करते कि विभिन्न आभास भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्त धारणाएँ हैं। संवेद्य आभास भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न कर सकते हैं पर इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है।

डॉ० ब्रॉड का इन्द्रिय-प्रदत्तवाद उपर्युक्त समस्या का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। वह एक ऐसी विशिष्ट प्रकार की इकाई की अभिधारणा का प्रतिपादन करता है जिसके भीतर वे सभी विशेषताएं वास्तविक रूप में पायी जाती है जो भौतिक वस्तुओं में प्रतीयमानतः ही पायी जाती हैं। इस प्रकार जब कोई पेनी अण्डाकार प्रतीत होती है तब कोई व्यक्ति किसी अण्डाकार वस्तु का ही प्रत्यक्ष करता है। इस अण्डाकार वस्तु का वृत्ताकार पेनी से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है पर दोनों में अभेद सम्बन्ध कभी भी नहीं हो सकता। इस प्रकार डॉ० ब्रॉड के इन्द्रिय-प्रदत्तवाद के अनुसार हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव प्राप्त कर

सकते हैं, भौतिक वस्तुओं का नहीं।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि डॉ० ब्रॉड के अनुसार हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव होता है, वास्तव वस्तुओं का नहीं तो फिर उसके सिद्धांत में और प्रो० मूर के सिद्धान्त में किस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है ? दोनों ने आभास और सत् की विसंगति को दूर करने के लिए ही इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना की है तो फिर दोनों में अन्तर क्या है ? मूर और डॉ० ब्रॉड के सिद्धान्तों में प्रमुख अन्तर यह है कि मूर आभास और सत् की विसंगति को साक्षात् अनुभव के माध्यम से व्यक्त करते हैं तथा साक्षात् अनुभव और इन्द्रिय-प्रदत्त के अस्तित्व को "सत्य" मान लेते हैं : किन्तु डॉ० ब्रॉड आभास और सत् की विसंगति को एक समस्या मान लेते हैं जिसके समाधान के लिए वे "इन्द्रिय-प्रदत्त" को एक "सैद्धान्तिक इकाई" (Theoretical Entity) के रूप में प्राक्कलपित कर लेते हैं। एक में इन्द्रिय-प्रदत्त एक तथ्य है तथा दूसरे में वह एक प्राक्कल्पना है।

डॉ० ब्रॉड ने अपने इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना के लिए एक प्रात्यक्षिक स्थिति की कल्पना की है जिसमें दो अवयव पाये जाते हैं: वस्तुनिष्ठ अवश्य (Objective Constituent) और यह विश्वास कि जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष हो रहा है वह किसी बृहत्तर वस्तु का एक भाग है जिसे भौतिक वस्तु कहते हैं और जिसके भीतर वस्तुनिष्ठ अवयव की विशेषताओं से पृथक् विशेषताएं पायी जाती हैं।[1] आगे डॉ० ब्रॉड यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि प्रात्यक्षिक स्थिति में वस्तुनिष्ठ अवयव ही भौतिक वस्तु नहीं है और इन्द्रिय-प्रदत्तवाद प्रात्यक्षिक तथ्यों की समुचित और यथेष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है। ब्रॉड के ही शब्दों में: इस प्रकार इन्द्रिय-प्रदत्त किसी न किसी रूप में भौतिक जगत् के ज्ञान का हेतु है तथा भौतिक जगत् किसी न किसी रूप में इन्द्रिय-प्रदत्त के अस्तित्व का हेतु है।[2] इस प्रकार डॉ० ब्रॉड के लिए इन्द्रिय-प्रदत्त एक सैद्धांतिक इकाई या प्राकक्लपना है।

प्राक्कल्पनात्मक सिद्धान्त की आलोचना

1. इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त की प्राक्कल्पना किसी भौतिक वस्तु के आभास और सत् के बीच असंगति को दूर करने का प्रयास करती है। पर कुछ दार्शनिकों के अनुसार किसी वस्तु के आभास और सत् के बीच न तो किसी प्रकार की असंगति पायी जाती है और न उसके समाधान की ही कोई आवश्यकता होती है। सच पूछा जाय तो इन्द्रिय-प्रदत्त की परिकल्पना ही किसी वस्तु के आभास और सत् में असंगति को उत्पन्न करती है और पुनः उसे दूर करने का प्रयत्न करती है।[3]

2. डॉ० ब्रॉड ने जो यथार्थ एवं अयथार्थ प्रत्यक्षों को समुच्चित कर एक "प्रात्यक्षिक स्थिति" में लाने का प्रयत्न किया है वह भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह दोनों के बीच भेद को समाप्त कर देता है।

3. ए० एम० क्विण्टन (A.M. Quinton) ने डॉ० ब्रॉड के इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि उन्होंने इन्द्रिय-प्रदत्त द्वारा किसी वस्तु के विभिन्न आभासों की

1. Broad, C.D. Mind and its Place in Nature, p. 151.
2. Broad, C.D. Scientific Thought, pp. 266-267.
3. Lean, M. Sense Perception and Matter, p. 18

व्याख्या करने के स्थान पर केवल उस वस्तु का उन आभासों द्वारा स्पष्टीकरण करने की ही चेष्टा की है। वे किसी वस्तु और उसके आभासों के कारणात्मक सम्बन्धों की व्याख्या न कर केवल उनके तार्किक सम्बन्धों को ही स्पष्ट करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० ब्रॉड का इन्द्रिय-प्रदत्त का परिकल्पनात्मक सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

3. भाषिक सिद्धान्त (Linguistic Theory)

इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्वभाव के सम्बन्धों में एक तीसरा सिद्धान्त भी है जो इन्द्रिय प्रदत्त को न तो तथ्य मानता है और न कोई परिकल्पना ही, वरन उन्हें एक उन्नत पारिभाषिक शब्दावली के रूप में ही स्वीकार करता है। इन्द्रिय-प्रदत्तों को इस शाब्दिक अभिधारणा के सम्बन्ध में दो दार्शनिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: जी० ए० पॉल और ए०जे० एयर। इनके अनुसारः प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अपरोक्ष वस्तुवाद सही है या विज्ञान प्रतिबिम्बवाद (Representationism) अथवा गोचरवाद (Phenomenalism) यथार्थ है, इसका निर्णय तथ्यों के विश्लेषण द्वारा नहीं किया जा सकता, इसका निर्णय भाषा के साधारण प्रयोग के विश्लेषण द्वारा ही किया जा सकता है। प्रत्यक्ष- स्थिति का वर्णन करने के लिए हम एक शब्दावली के स्थान पर दूसरी शब्दावली को वरीयता दे सकते हैं, पर इस परिवर्तन से इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि हम किस वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं। एयर ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्वभाव के सम्बन्ध में जितने प्रश्न उपस्थापित किये जाते हैं वे तथ्य-सम्बन्धी प्रश्न न होकर शाब्दिक या भाषिक प्रश्न ही होते हैं। शाब्दिक प्रश्न होने के कारण उनका समाधान तथ्यावलोकन द्वारा नहीं वरन् पारिभाषिक शब्दावली को अधिक स्पष्ट और अवितथ बनाकर ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रश्न करता है कि 'प्रदत्त के प्रत्यक्ष अनुभव में कौन-कौन से अवयव पाये जाते हैं ?' तो इसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि 'प्रत्यक्ष वाक्यों में किस प्रकार शब्दों का प्रयोग किया जाता है ?' और इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार की भाषा का चयन करते हैं। एयर के ही शब्दों में: 'प्रत्यक्ष के तथाकथित विभिन्न सिद्धान्त सामान्य अर्थ में सिद्धान्त कदापि नहीं हैं, अतः यथार्थता और अयथार्थता के प्रत्यय, जो वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर लागू होते हैं, उन पर लागू नहीं होते।[1]

भाषिक सिद्धान्त की आलोचना

1. एयर का यह कथन कि प्रत्यक्ष के विभिन्न सिद्धान्तों में तथ्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद नहीं होता, मान्य नहीं हो सकता। स्वयं एयर ने ही स्वीकार किया है कि भौतिक वस्तुओं के स्थान पर इन्द्रिय-प्रदत्तों को प्रत्यक्ष के विषय मानने के पर्याप्त दार्शनिक कारण हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में तीन कारणों का वर्णन किया है—

(अ) किसी इकाई का प्रत्यक्ष करने का अर्थ ही यह है कि उसका अस्तित्व होना चाहिए। यह इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में ही सत्य हो सकता है।[2]

(ब) हमें ऐसी पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता होती है जो भौतिक वस्तुओं से

---

1. Ayer, A.J., Foundations of Empirical Knowledge, pp. 103-4.
2. Ibid, pp. 25-26.

स्वतन्त्र प्रत्यक्ष के अवयवों की ओर संकेत कर सके।[1]

(स) भौतिक वस्तुओं की भाषा का प्रयोग इस बात पर निर्भर करता है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के सम्बन्धों में एक विशेष प्रकार की समरूपता है जो बड़ी कठिनाई से ही चरितार्थ हो सकती है।[2]

उपर्युक्त तीन कारणों से एयर ने भौतिक वस्तुओं की भाषा के स्थान पर इन्द्रिय-प्रदत्तों की भाषा का प्रयोग किया। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के प्रयोग के केवल शाब्दिक या भाषिक कारण ही नहीं हैं वरन् उसके पीछे पर्याप्त तथ्यात्मक कारण भी विद्यमान हैं। यदि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्द-मात्र ही होते तो एयर उनके संघात या समुच्चय की सम्भाव्यता का प्रश्न कभी न उठाते।

2. एक दूसरा कारण भी है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि इन्द्रिय-प्रदत्त केवल शब्द ही नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रदत्तों के भीतर उनके परिभाषात्मक गुणों से अतिरिक्त गुण भी पाये जा सकते हैं जिनका वर्णन करना किसी भाषा के नियम की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है बल्कि एक सुनिश्चित तथ्य का कथन है। अतः, इन्द्रिय-प्रदत्तों की केवल शाब्दिक व्याख्या ही नहीं की जा सकती।

3. यदि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्दमात्र ही होते तो उनकी व्याख्या साक्षात् अनुभव के माध्यम से करने का कोई अर्थ ही न होता। साक्षात् अनुभव एक अन्तर्दर्शी तथ्य की ओर संकेत करता है जिससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्द मात्र ही नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रदत्तों को साक्षात् अनुभव के विषय रूप में स्वीकार कर हम उनके वास्तविक अस्तित्व की सम्भावनाओं को प्रकट करते हैं। वे वास्तविक तथ्य हैं, केवल शब्द नहीं।

इन्द्रिय-प्रदत्त बनाम भौतिक वस्तुएँ

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष में हमें किसी न किसी वस्तु का अनुभव अवश्य होता है चाहे उसे इन्द्रिय-प्रदत्त कहें या भौतिक वस्तु। इन्द्रिय-प्रदत्तवाद में ऐसी तार्किक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ शामिल हैं कि इसके पर्याप्त आकर्षक होते हुए भी उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है। प्रो० राइल के इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि (इन्द्रिय-प्रदत्त का) सम्पूर्ण सिद्धान्त एक तार्किक भ्रान्ति पर आधारित है और वह भ्रान्ति यह है कि इसमें हम संवेदन के प्रत्यय को प्रत्यक्ष के प्रत्यय में सन्निविष्ट कर लेते हैं।[3] ज्ञान-मीमांसा में इन्द्रिय-प्रदत्तवाद किसी न किसी प्रकार के ज्ञान-मीमांसीय द्वैतवाद पर आधारित होता है जो वस्तु के ज्ञान को बिलकुल असम्भव बना देता है। जब तक हमें वस्तु का यथार्थ-ज्ञान—चाहे एक बार ही सही—नहीं होगा तब तक हम यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान में भेद ही नहीं कर सकते। अतः हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि हमें भौतिक वस्तओं का साक्षात् ज्ञान होता है।

दूसरी बात यह है कि हम यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्षों को समुच्चित कर एक सामान्य इन्द्रिय-प्रदत्त के धरातल पर लाकर खड़ा नहीं कर सकते क्योंकि उनके विषय दो विभिन्न कोटियों की सत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें केवल परिमाणात्मक भेद न होकर गुणात्मक भेद होता है। अतः दोनों को एक ही प्रकार के इन्द्रिय-प्रदत्त के भीतर किस प्रकार समाविष्ट किया जा सकता

1. Ibid, p. 26
2. Ayer, A.J. Philosophical Essays, pp. 103-4.
3. Ryle, G, Concept of Mind, p. 213.

है ? इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि हम सदा एक ही प्रकार की वस्तु का प्रत्यक्ष करें। ऑस्टिन के शब्दों में: 'हम केवल एक ही प्रकार की नहीं वरन् विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं और उनकी संख्या दर्शन द्वारा नहीं वरन् वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा निर्धारित की जाती है।'[1] यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जब ऑस्टिन यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में हम किसी न किसी वस्तु को ही देखते हैं: उनके कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हम सदा किसी न किसी वस्तु को (इन्द्रिय-प्रदत्त को नही) ही देखते हैं, चाहे वह यथार्थ वस्तु हो या अयथार्थ। ऑस्टिन इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु दोनों को सापेक्षिक बताते हुए दोनों अस्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में: 'सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात ग्रहण करने की यह है कि "इन्द्रिय-प्रदत्त" और "भौतिक वस्तुएं" दोनों परस्पर सापेक्ष हैं—इस युग्म का केवल एक पक्ष ही अप्रामाणिक नहीं है वरन् स्वयं यह निषेध ही अप्रामाणिक है।[2]

तीसरी बात जो यहाँ ध्यान में रखने की है वह यह है कि "इन्द्रिय-प्रदत्त" और "भौतिक वस्तु" के बीच किसी प्रकार की खाई नहीं है जिसे परिपूर्ण करने की आवश्यकता हो। संशयवाद, अन्तः प्रज्ञावाद, अन्तर्भाववाद (Reductionism), वैज्ञानिक उपागम एवं विश्लेषण ने इस समस्या को अपने-अपने ढंग से सुलझाने की चेष्टा की है। संशयवाद के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच खाई है जिसे कभी पाटा नही जा सकता। वैज्ञानिक उपागम के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच खाई है पर इसकी पूर्ति कारण-कार्यवाद के आधार पर की जा सकती है। भौतिक वस्तुएं इन्द्रिय-प्रदत्तों के कारण हैं। विश्लेषणवाद भी दोनों में खाई को स्वीकार करता है पर इसके अनुसार इसमें कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें केवल भौतिक वस्तुओं के कथन को वर्णनात्मक विश्लेषण तक ही सीमित रखना चाहिए। अन्तर्भाववाद इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु की खाई के सिद्धान्त को साक्ष्य के धरातल पर खड़ा कर दूर करने का प्रयत्न करता है। इसके अनुसार भौतिक वस्तुएं इन्द्रिय-प्रदत्तों की तार्किक रचनाएँ (Logical Construction) हैं। अन्तः प्रज्ञावाद साक्ष्य को ही निष्कर्ष के पास लाकर इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच अन्तर को दूर करने की चेष्टा करता है। भौतिक वस्तुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में संशयवाद, अन्तर्भाववाद एवं विश्लेषणवाद स्पष्ट कारणों से कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकते। जहाँ तक वैज्ञानिक उपागम की बात है, वह इसलिए स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि दर्शन का सम्बन्ध ज्ञान के कारण से न होकर उसकी संसक्तता से ही होता है। इस दृष्टि से भौतिक वस्तुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में अन्तः प्रज्ञावाद ही सर्वोत्तम सिद्धान्त प्रतीत होता है। बात भी सही है। प्रत्यक्ष में सदा हमें भौतिक वस्तु का अव्यवहित एवं तात्कालिक ज्ञान प्राप्त होता है। हमें वस्तु का वास्तविक ज्ञान भले ही न होता हो पर जब भी हमें ज्ञान होगा किसी न किसी वस्तु का ही होगा। जो लोग यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही ज्ञान होता है, भौतिक वस्तु का नहीं, उनके विरुद्ध चिशम की यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यदि कसाई मांस के प्रत्येक भाग को नहीं काटता तो इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि उसने मांस को काटा ही नहीं है। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि प्रत्यक्ष में हमें किसी वस्तु के सभी भागों का साक्षात् ज्ञान नहीं होता, पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि हमें भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं।

---

1. Austin, J.L. Sense and Sensibilia p. 4.
2. Ibid, p. 4.

संक्षेप में: प्रत्यक्ष की प्रत्येक अवस्था में हमें किसी न किसी वस्तु (इन्द्रिय-प्रदत्त नही) का ही ज्ञान होता है। वह वस्तु चाहे अस्तित्व की निम्न श्रेणी की ही क्यों न हो, पर जब कभी हमें प्रत्यक्ष होता है तब किसी न किसी वस्तु (इन्द्रिय-प्रदत्त नही) का ही प्रत्यक्ष होता है।

मूल प्रतिज्ञप्तियाँ
(Basic Propositions)

दर्शनशास्त्र में सामान्यतया दो प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों को मान्यता दी जाती है। प्रथम प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ (Apriori Propositions) एवम् द्वितीय आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ (Empirical Propositions)। इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों की वैधता भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्धारित की जाती है। प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता संसक्तता सिद्धान्त द्वारा तथा आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता सत्यापन-सिद्धान्त द्वारा निर्धारित की जाती है। आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ पूर्णतया अनिवार्य कभी नहीं हो सकती क्योंकि वे अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर उसके बाहर की परिस्थितियों का भी वर्णन करने की चेष्टा करती हैं। पर कुछ दार्शनिकों जैसे श्लिक (M. Schlick), रसेल (Russell) इत्यादि के अनुसार आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों में एक विशिष्ट प्रकार की आनुभविक प्रतिज्ञप्ति होती है जो पूर्णतया अनिवार्य होती है क्योंकि वह अपने को साक्षात् प्रत्यक्ष की सीमा के भीतर ही सीमित रखती है। ऐसी अनिवार्य आनुभविक प्रतिज्ञप्ति को निर्देशात्मक प्रतिज्ञप्ति (Ostensive Proposition) या मूल प्रतिज्ञप्ति (Basic Proposition) की संज्ञा दी जाती है। चूँकि मूल प्रतिज्ञप्ति कोई प्राक्कल्पना न होकर वर्तमान अनुभूति का केवल अभिलेखन करती हैं, उसके असत्य होने का कोई प्रशन उपस्थित नहीं होता मूल प्रतिज्ञप्तियाँ वे आधार-स्तम्भ हैं. जिनके द्वारा अन्य आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता क निरूपण किया जाता है। बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्तियाँ **"ज्ञानमीमांसीय आधार वाक्यों के उप-वर्ग (Sub-Class) है जो प्रत्यक्षात्मक अनुभवों द्वारा अपरोक्षतः उत्पन्न होती हैं।"**[1] इस परिभाषा के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्तियाँ उन सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्तियों को बहिष्कृत कर देती हैं जिनकी अनुमान के लिए आवश्यकता पड़ती है चाहे वे निदर्शनात्मक हों अथवा सम्भाव्य। मूल-प्रतिज्ञप्तियाँ असंशोधनीय सत्य है क्योंकि इनके सम्बन्ध में शाब्दिक भूल के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार की भूल करना असम्भव है। इस प्रकार हम कह सकते है कि मूल प्रतिज्ञप्ति के निम्नलिखित तीन प्रधान लक्षण है—

(अ) यह पूर्णरूप से केवल एक बार की अनुभूति की अन्तर्वस्तु का निर्देश करती है।

(ब) इसका पूर्णरूपेण सत्यापन किया जा सकता है तथा

(स) इसके सम्बन्ध में शाब्दिक भूल के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की भूल सम्भव नहीं है।

इन तीनों लक्षणों का हम यहाँ संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करेंगे।

(अ) मूल प्रतिज्ञप्ति का सम्बन्ध केवल एक बार के ही अनुभव के आधारभूत तत्त्व से है। साधारण आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की अपेक्षा वह अनुभव का अभिलेख मात्र

1. Russell, B., An Inquiry into Meaning and Truth, Ch 6, p. 137, A Basic Proposition is "a sub-class of epistemological premisses, which are caused as immediately as possible by perceptive experiences."

है एवम् भिन्न-भिन्न मूल प्रतिज्ञप्तियाँ भिन्न-भिन्न अनुभवों का यथार्थ अभिलेखन करती हैं। यदि मुझे चाक्षुष अनुभूति हो और मैं अपने चाक्षुष इन्द्रिय-प्रदत्त को मात्र निर्दिष्ट करने के लिए कहूँ कि "यह हरा है" और इससे मेरा तात्पर्य इस इन्द्रिय-प्रदत्त का मात्र वर्णन करना और इसका सम्बन्ध दूसरी वस्तुओं से स्थापित करना न हो तो ऐसी अवस्था में इस वाक्य को मूल प्रतिज्ञप्ति का नाम दिया जायेगा।

(ब) चूँकि मूल प्रतिज्ञप्ति अपनी तात्कालिक अपरोक्ष अनुभूति की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती, इस कारण वह सदा सत्य ही होती है। सदा सत्य होने के कारण वह असंशोधनीय होती है क्योंकि उसकी सत्यता के विषय में किसी भी प्रकार का सन्देह प्रगट नहीं किया जा सकता।

(स) द्वितीय लक्षण स्पष्ट कर देता है कि शाब्दिक अर्थ को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की आपत्ति इसके विषय में उठाई नहीं जा सकती। इसका तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति से इन्द्रिय-प्रदत्त को निर्देश करते समय प्रतीकों के व्यवहार में भूल हो सकती है पर किसी व्यक्ति को उसकी सत्यता में संदेह नहीं हो सकता। मूल प्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय-प्रदत्त का मात्र अभिलेख करती है।

मूल प्रतिज्ञप्ति का एक दृष्टान्त

दृष्टान्त के रूप में हम "यह लाल है" प्रतिज्ञप्ति ले सकते हैं। इसे हम मूल प्रतिज्ञप्ति इस कारण कह सकते हैं कि यह इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में कोई सूचना नहीं देती वरन् मात्र उसका अभिधान (Designate) करती है। उक्त प्रतिज्ञप्ति सम्बद्ध रंग का वर्गीकरण भी नहीं करती और न संवेदना के परे सम्बन्ध का दावा ही करती है। अतः इस प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते समय व्यक्ति केवल अपने इन्द्रिय-प्रदत्त के लिए प्रतीकों के व्यवहार में ही गलती कर सकता हैं, किसी अन्य प्रकार की भूल के लिए उसमें कोई सम्भावना नहीं होती। यहाँ तक कि प्रतीकों के गलत व्यवहार के समय भी उसको अपने इन्द्रिय-प्रदत्त के स्वरूप के विषय में कोई शंका नहीं हो सकती है। यदि हम विभिन्न परिस्थितियों में उसके प्रतीकों के प्रयोग पर ध्यान दें तो उस व्यक्ति के प्रतीकों के गलत प्रयोग को ठीक किया जा सकता है या उसके प्रतीकों के प्रयोग को ठीक ढंग से समझा जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में शाब्दिक अशुद्धियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

यदि मूल प्रतिज्ञप्ति के उपर्युक्त प्रतिपादन को स्वीकार किया जाय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि मूल प्रतिज्ञप्ति आनुभविक तत्त्व (Sense-Content) का वर्णन न कर उसका केवल नाम करण करती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि **मूल प्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय-प्रदत्त का मात्र नाम है**। इस सम्बन्ध में विटगेन्स्टाइन (Wittgenstein) का यह कथन विशेष रूप में उल्लेखनीय है कि **"प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति नामों का एक समुच्चय है।"**[1] ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि मूल प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य होती है क्योंकि असका पूर्ण सत्यापन किया जा सकता है, बिलकुल निरर्थक है। बात यह है कि नाम या नामों का समुच्चय ऐसी वस्तु है जिसके पूर्ण या अपूर्ण सत्यापन का कोई अर्थ ही नहीं है। केवल प्रतिज्ञप्तियों का ही सत्यापन या असत्यापन हो

---

1. Tractatus, 4.2. An elementary proposition is a nexus or concatenation of names.

सकता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मूल प्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय-प्रदत्त का मात्र संकेत करती है, उसका वर्णन नहीं करती, तो सत्यापन या असत्यापन किसका किया जाय ? मूल प्रतिज्ञप्ति जब किसी तथ्य का वर्णन ही नहीं करती, उसके सत्यापन या असत्यापन का कोई अर्थ ही नहीं होता।

मूल प्रतिज्ञप्ति का मनोविज्ञान

मूल प्रतिज्ञप्ति की अवधारणा तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अर्थ-सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई प्रतिज्ञप्ति तभी सार्थक होगी जब वह अनुभव द्वारा सत्यापनीय हो। इस सत्यापन के लिए उस तथ्य का अनुसंधान करना आवश्यक हो जाता है जो किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्यापित करता है। बर्ट्रण्ड रसेल ने अपने लेख **तार्किक परमाणुवाद (Logical Atomism)** में तथ्यों के तर्कशास्त्र का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। तार्किक परमाणुवाद में उन्होंने भाषा एवम् तथ्य के बीच समानान्तरवाद की स्थापना की है। भाषा जटिल (Complex) अथवा आणविक (Molecular) प्रतिज्ञप्तियों से निर्मित होती है तथा जगत जटिल अथवा आणविक तथ्यों से निर्मित होता है। यदि आणविक प्रतिज्ञप्तियों का तार्किक विश्लेषण किया जाय तो एक ऐसी अवस्था आएगी जब उनका आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस अविश्लेष्य प्रतिज्ञप्ति को रसेल ने परमाणविक प्रतिज्ञप्ति (Atomic Proposition) का नाम दिया। इसी प्रकार यदि आणविक तथ्य का विश्लेषण किया जाय तो एक ऐसी अवस्था आएगी जब उसका आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस सीमान्त तथ्य को रसेल ने परमाणविक तथ्य (Atomic Fact) की संज्ञा प्रदान की। परमाणविक प्रतिज्ञप्ति परमाणविक तथ्य का चित्रण करती हैं। यदि परमाणविक तथ्यों का उनके घटकतत्त्वों में विश्लेषण किया जाय तो हम विशेषों (Particulars), विधेयों (Predicates), सम्बन्धों (Relations) और गुणों (Qualities) तक पहुँचते हैं। इसी प्रकार यदि परमाणविक प्रतिज्ञप्ति का विश्लेषण किया जाय तो हम नामों (Names) एवम क्रियाओं (Verbs) तक पहुँचते हैं। नाम विशेषों (Particulars) का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा क्रियाएँ गुण, सम्बन्ध या विधेयों का प्रतिनिधित्व करती हैं। परमाणविक प्रतिज्ञप्ति एक सरलतम प्रतिज्ञप्ति है जिसमें विषय एक विशेष गुण के साथ अथवा एक सम्बन्ध के साथ सूचित किया जाता है। रसेल परमाणविक प्रतिज्ञप्ति के दृष्टान्त प्रस्तुत करने में एकरूप नहीं रहे हैं। कभी वे "यह है" या केवल "यह" से परमाणविक प्रतिज्ञप्ति का काम चला लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे किसी ऐसी परमाणविक प्रतिज्ञप्ति की सम्भावना को यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य समझते हैं जो किसी परमाणविक तथ्य का मात्र अभिलेखन करती हो। इस सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन की प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति (Elementary Proposition) का उल्लेख करना आप्रासंगिक नहीं होगा। रसेल की परमाणविक प्रतिज्ञप्ति एवम् विटगेन्स्टाइन की प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति में कोई अन्तर नहीं है। रसेल जहाँ परमाणविक प्रतिज्ञप्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं वहीं विटगेन्स्टाइन परमाणविक प्रतिज्ञप्ति का कोई दृष्टान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं करते। उसका कोई दृष्टान्त प्रस्तुत न करते हुए भी परमाणविक प्रतिज्ञप्तियों के अस्तित्व को तार्किक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

मूल प्रतिज्ञप्ति सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मूल प्रतिज्ञप्तियों के विषय में तीन प्रकार के दृष्टिकोण है। प्रथम दृष्टिकोण बर्ट्रण्ड रसेल का है जिनके अनुसार मूल प्रतिज्ञप्तियाँ जो केवल वर्तमान प्रत्यक्ष

का अभिलेखन करती है व्यावहारिक रूप में सम्भव हैं। द्वितीय दृष्टिकोण न्यूरथ (Neurath) एवम् हेम्पेल (Hempel) का है जिनके अनुसार मूल प्रतिज्ञप्ति नाम की संसार में कोई वस्तु नहीं है क्योंकि सत्य (Truth) का सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान (Semantics) से न होकर वाक्य विन्यास विज्ञान (Syntactics) से होता है। कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य इस कारण नहीं होती कि उसकी बाह्य तथ्य के साथ सुसंगति होती है वरन् वह सत्य इस कारण होती है कि उसकी तत्सम्बंधी प्रतिज्ञप्तियों के साथ संसक्तता होती है। तृतीय दृष्टिकोण ऐ० जे० एयर (A.J. Ayer) का है जिनके अनुसार मूल प्रतिज्ञप्ति एक तार्किक असम्भावना है। इन तीनों सिद्धान्तों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत किया किया जायेगा।

(1) **बर्ट्रण्ड रसॅल (Bertrand Russell)**—रसेल के अनुसार हमारी ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं जो अपरोक्ष अनुभूतियाँ का मात्र अभिलेख् करती हैं जिनका भूत एवम् भविष्य की घटनाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। भूत काल की अनुभूतियाँ हमारे वर्तमान अनुभव को उतना निर्धारित नहीं करती जितना हमारे द्वारा शब्दों के प्रयोग को निर्धारित करती हैं।[1] ऐसी ही अनुभूतियाँ मूल प्रतिज्ञप्तियों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि **"वहाँ एक कुत्ता है"**[2] यह प्रतिज्ञप्ति हमारे बाद के अनुभवों द्वारा असत्यापित हो सकती है क्योंकि उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति केवल वर्तमान तक ही सीमित नहीं है। परन्तु जब हम ऐसी प्रतिज्ञप्ति का कथन करते हैं जो केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है तो वह मूल प्रतिज्ञप्ति अवश्य कहीं जाएगी। उदाहरण के लिए **"वहाँ रंग का एक श्वानीय खण्ड है"**[3] यह प्रतिज्ञप्ति अपने को केवल वर्तमान अनुभव तक ही सीमित रखती है। अतः रसेल के अनुसार यह मूल प्रतिज्ञप्ति का उत्तम उदाहरण है।

पर रसेल की उपर्युक्त उक्ति को कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। भाषा में वर्णन किए बिना हम इन्द्रिय-प्रदत्त की ओर संकेत भी नहीं कर सकते। किसी परिस्थिति का वर्णन करने में हम अपने को केवल वर्तमान तक ही सीमित नहीं रखते वरन् उसका वर्गीकरण करने में हम वर्तमान का अतिक्रमण कर भूत और भविष्य की घटनाओं में भी प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष की सीमाओं का अतिक्रमण करने के कारण रसेल की मूल प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य न होकर सम्भाव्य ही होती है।

(2) **न्यूरथ एवं हेम्पेल (Neurath and Hempel)**—न्यूरथ एवम् हेम्पेल के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्ति का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि सत्य का निर्धारण संवादिता सिद्धान्त द्वारा न होकर संसक्तता-सिद्धान्त द्वारा ही सम्भव होता है। संवादिता-सिद्धान्त के बिना मूल प्रतिज्ञप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती।

(3) **ए०जे० एयर (A.J. Ayer)**—एयर ने भी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **"भाषा, सत्य एवम् तर्क"** मैं मूल प्रतिज्ञप्ति के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। इस अस्वीकृति के चार प्रमुख कारण है—

(i) एयर के अनुसार हम किसी ऐसी संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते जो विशुद्ध रूप में केवल निर्देशात्मक (Ostensive) हों। सच पूछा

---

1. Russell B., An Inquiry into Meaning and Truth, ch X, p. 137
2. These is a dog
3. There is a canoid patch of colour.

जाय तो निर्देशात्मक प्रतिज्ञप्ति का विचार वदतोव्याघात है। इसका कारण यह है कि हम किसी ऐसे वाक्य की रचना ही नहीं कर सकते जो केवल निर्देशात्मक प्रतीकों (Demonstrative Symbols) द्वारा निर्मित हो। ऐसी प्रतिज्ञप्ति किसी अर्थ का बोध नहीं करा सकती। वह उद्‌गार (Ejaculation) भले ही हो पर उसे प्रतिज्ञप्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

(ii) भाषा में वर्णन किए बिना हम किसी स्थिति की ओर संकेत या निर्देश भी नहीं कर सकते। स्थिति का वर्णन करने में हम अपने को वर्तमान तक सीमित न कर प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हम मूल प्रतिज्ञप्ति का निर्माण ही किस प्रकार कर सकते हैं ?

(iii) तथा-कथित मूल प्रतिज्ञप्ति का एक दृष्टान्त ले लीजिए: **"यह सफेद है"**। यह प्रतिज्ञप्ति किसी वस्तु की ओर निर्देश न कर केवल आनुभविक अन्तर्वस्तु (Sense-Content) की ओर ही संकेत कर रही है। उस आनुभविक अर्न्तवस्तु को "सफेद" कहने का तात्पर्य यह है वह अन्य सफेद वस्तुओं के समान है तथा जो वस्तुएँ सफेद नहीं है उनसे भिन्न है। इस प्रकार का वर्गीकरण करने में हम गलती भी कर सकते हैं। जिसे हम "सफेद" कह रहे हैं वह वास्तव में सफेद न होकर किसी अन्य रंग की हो। जिस प्रकार "वस्तुओं" के विषय में हमें भ्रमात्मक ज्ञान हो सकता है उसी प्रकार "गुणों" के विषय में भी हमें भ्रमात्मक ज्ञान सम्भव है। अतः जब मूल प्रतिज्ञप्ति के विषय में, अन्य आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के समान, सन्देह प्रकट किया जा सकता है, उन्हें हम अनिवार्य और निश्चयात्मक प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार कह सकते हैं ? ह्यूम ने बहुत पहले ही घोषित कर दिया था कि कोई भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति असंशोधनीय व अनिवार्य नहीं हो सकती। कोई भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति, चाहे वह मूल प्रतिज्ञप्ति ही क्यों न हों प्राक्कल्पनात्मक (Hypothetical) ही होती है। ऐसी स्थिति में किसी मूल प्रतिज्ञप्ति के अनिवार्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(iv) जब एयर मूल प्रतिज्ञप्ति की सम्भावना का निषेध करते हैं तो उनके कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में कोई **प्रदत्त (Given)** भी नहीं होता। उनके कहने का यह भी तात्पर्य नहीं है कि संवेदनाएँ स्वयं सन्देहास्पद होती हैं। संवेदनाएँ स्वयं न तो सन्देहास्पद होती हैं और न निश्चयात्मक। संवेदनाएँ केवल घटित होती हैं, वे न तो सत्य होती हैं और न असत्य। हाँ, उन संवेदनाओं के विषय में जो प्रतिज्ञप्तियाँ निर्मित होती हैं वे अवश्य या तो सन्देहास्पद होती हैं अथवा निश्चयात्मक। वास्तव में मूल प्रतिज्ञप्ति की अवधारणा संवेदना एवम् उस संवेदना सम्बन्धी प्रतिज्ञप्ति के तादात्मय के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। संवेदना एवम् संवेदना के विषय में प्रतिज्ञप्ति दो पृथक् वस्तुएँ हैं जिनके बीच अभेद सम्बन्ध कभी भी स्थापित नहीं किया जा सकता। ए॰जे॰ एयर ने अपनी पुस्तकभाषा, सत्य एवम् तर्क[1] की पाद-टिप्पणी में

1. Language, Truth and Logic, p. 124, footnote

दोनों के बीच भेद को इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। 'यह अनिवार्यतः सत्य, है कि p, p को आपादित करती है जो द्विरुक्ति मात्र है, किन्तु यह कथन करना कि p आपादित करती है कि p अनिवार्यतः सत्य है' बिलकुल गलत है। मूर्त रूप में हम इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि 'यह अनिवार्यतः सत्य है कि यदि मैं दर्द में हूँ तो मैं दर्द में हूँ' जो द्विरुक्ति मात्र है। पर यह कथन करना कि 'यदि मैं दर्द में हूँ तो यह अनिवार्यतः सत्य हैं कि मैं दर्द में हूँ' बिलकुल गलत है। इन दो प्रकार की भिन्न प्रतिज्ञप्तियों के बीच भेद न करने के कारण ही मूल प्रतिज्ञप्ति या निर्देशात्मक प्रतिज्ञप्ति की अवधारणा उत्पन्न होती है।

सत्यता के सिद्धान्त (Theories of Truth)

अब तक हमने प्रागनुभविक (Apriori) एवम् आनुभविक (Empirical) प्रतिज्ञप्तियों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत किया। पर अभी तक इन प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता और असत्यता पर कोई सुसम्बद्ध विचार प्रगट नहीं किया गया। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रागनुभविक एवम् आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता अथवा असत्यता किस प्रकार निर्धारित की जाती है ? सभी दार्शनिक इस प्रश्न को सत्यता के सिद्धान्त के अन्तर्गत लाने की चेष्टा करते हैं। पर सत्यता के सिद्धान्त से हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या है ? प्राचीन दार्शनिकों ने इस प्रश्न को हमारे समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया कि 'सत्य क्या है', 'असत्य क्या है'। मानो 'सत्यता' या 'असत्यता' कोई ऐसी अमूर्त सत्ता है जिसका अनुसंधान किया जा सकता है। किन्तु तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार 'सत्यता' अथवा 'असत्यता' का प्रश्न कोई तत्त्वमीमांसीय समस्या नहीं है वरन् यह विशुद्ध रूप में एक ज्ञानमीमांसीय समस्या है। **"सत्यता के सिद्धान्त का वास्तविक तात्पर्य उस निकष का वर्णन करना है जिसके द्वारा प्रतिज्ञप्तियों की वैधता निर्धारित की जाती है।** प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता **व्याघात नियम** (Law of Contradiction) द्वारा तथा आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता **संवादिता सिद्धान्त** (Correspondence Theory) द्वारा निर्धारित की जाती है। अतः सत्यता का केवल एक निकष नहीं है। सत्यता के उतने निकष हैं जितने प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार '**सत्यता क्या** है ?' कोई साधारण प्रश्न न होकर एक जटिल प्रश्न है जिसका विश्लेषण करना आवश्यक है।

हमने "दार्शनिक विश्लेषण" वाले अध्याय में देखा कि 'किसी वस्तु के स्वभाव का क्या तात्पर्य होता है।' मान लिया कि वह वस्तु x है जिसके स्वभाव का हमें निर्धारण करना है। x के स्वभाव के निर्धारण से हमारा तात्पर्य न तो x के भौतिक विश्लेषण से है और न उसके तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण से है। x के तार्किक विश्लेषण का तात्पर्य x की उस **प्रयोगिक परिभाषा** (Definition-in-use) से है जिसमें यह प्रदर्शित किया जाता है कि किसी वाक्य में जिस परिभाष्य प्रतीक का प्रयोग हुआ है, उसे ऐसे समतुल्य वाक्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है जिसमें न तो परिभाष्य पद का प्रयोग हुआ हो और न ही उसके पर्यायवाची पद का। इसी सूत्र का प्रयोग हम 'सत्यता' की व्याख्या में भी करने का प्रयत्न करेंगे। अर्थात् 'सत्यता क्या है' इस प्रतिज्ञप्ति की व्याख्या करने के लिए हम 'p सत्य है' का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि 'p सत्य है' में पद 'सत्य है' बिलकुल अनावश्यक (Superfluous) है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति कथन करता है कि 'श्रीमती इन्दिरा

गांधी की मृत्यु हो चुकी है' सत्य है, जो इसका तात्पर्य यही है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी की मृत्यु हो चुकी है। उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कथन करता है कि 'कलकत्ता भारत की राजधानी है' असत्य है तो इसका अर्थ यही है कि 'कलकत्ता भारत की राजधानी नहीं है।' अतः, किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य घोषित करने का मन्तव्य उसका समर्थन करना है तथा उसे असत्य घोषित करने का अर्थ उसके व्याघाती प्रतिज्ञप्ति के प्रति आग्रह प्रगट करना है। इससे यही प्रदर्शित होता है कि "सत्य" या "असत्य" पद बिलकुल अनावश्यक हैं क्योंकि वे वाक्यों में किसी तथ्य की अभिव्यक्ति न कर केवल विधि या निषेध का ही निर्देश करते हैं। ऐसी स्थिति में "सत्यता" के प्रत्यय के विश्लेषण की कोई सार्थकता ही शेष नहीं रहती। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में इसे **सत्यता का व्यतिरिक्तता-सिद्धान्त** (Redundancy Theory of Truth) कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्य से सम्बन्धित कोई वैसी समस्या नहीं है जैसी प्राचीन दार्शनिक समझते थे। परम्परावादी विचारक जो "सत्य" को एक "वास्तविक गुण" अथवा एक "वास्तविक सम्बन्ध" के रूप में स्वीकार करते थे वह प्रतिज्ञप्तियों के टयथार्थ विश्लेषण पर आधारित था। "सत्य" अथवा "असत्य" के विषय में इस प्रकार के प्रश्नों को उठाना बिलकुल अवैध है क्योंकि "सत्य" अथवा "असत्य" न किसी गुण की ओर संकेत करते हैं और न किसी सम्बन्ध की ओर ही। वे भाषा में अनावश्यक या व्यतिरिक्त शब्द हैं। इतना होते हुए भी यदि कोई दार्शनिक "सत्यता" के सिद्धान्त के विषय में विवेचन करने का दावा करता है तो उसके कथन निरर्थक ही होंगे।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि "सत्य" या "असत्य" अनावश्यक व निरर्थक हैं तो इनका भाषा में प्रयोग ही क्यों किया जाता है। एयर के अनुसार भाषा में इनका प्रयोग इसलिये किया जाता है कि लोगों को ज्ञात हो सके कि किन परिस्थितियों में कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है तथा किन परिस्थितियों में वह असत्य होती है। दूसरे शब्दों में "सत्य" अथवा "असत्य" पद इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि **प्रतिज्ञप्तियों की वैधता किस प्रकार निर्धारित की जाती है**। पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि सभी प्रतिज्ञप्तियों की वैधता एक ही प्रकार से निर्धारित की जाती है। सभी प्रतिज्ञप्तियों की वैधता एक ही प्रकार से निर्धारित नहीं की जाती। प्रागनुभविक (Apriori) प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता संसक्तता (Coherence) सिद्धान्त द्वारा तथा आनुभविक (Empirical) प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता संवादिता (Correspondence) सिद्धान्त द्वारा निर्धारित की जाती है। इसी प्रकार किसी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने का अर्थ उसका आत्म-व्याघातक (Self-Contradictory) होना है तथा किसी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने का अर्थ है तथ्य के साथ संवादिता का न होना है। भाषा में जितनी प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं उनकी वैधता के निकष भी उतने ही प्रकार के होते हैं।

अनिवार्यता एवम् आपातिकता (Necessity and Contingency)

जहाँ तक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता का प्रश्न है आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ कभी भी अनिवार्य नहीं हो सकतीं। केवल प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के भीतर निरपेक्ष अनिवार्यता विद्यमान हो सकती है। आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ केवल सम्भाव्य ही होती हैं। सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ प्राक्कल्पनात्मक होती हैं जो भविष्य के अनुभवों द्वारा सत्य या असत्य सिद्ध की जा

सकती हैं। प्रतिज्ञप्तियाँ जो भविष्य के अनुभवों को व्यक्त करती हैं और जो प्राक्कल्पनाओं को सत्यापित या असत्यापित करती हैं, स्वयं प्राक्कल्पनात्मक होती हैं। अतः एक प्राक्कल्पना की वैधता दूसरी प्राक्कल्पना के द्वारा तथा दूसरी प्राक्कल्पना की वैधता तीसरी प्राक्कल्पना के द्वारा सिद्ध की जाती है। इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष का उत्पन्न होना अनिवार्य है। यही कारण है कि आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ अन्तिम सत्य को कभी भी अभिव्यक्त नहीं कर सकतीं।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि भविष्य की कोई अनुभूति किसी आनुभविक प्राक्कल्पना को न तो पूर्णतया सत्यापित कर सकती है और न पूर्णतया असत्यापित। इसी कारण वह सदा सम्भाव्य ही होती है। किन्तु यदि कोई ऐसी प्रतिज्ञप्ति है जिसकी, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वैधता को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो निश्चित रूप में वह संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति न होकर विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति ही होगी।

सर्वव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ (Universal General Propositions)

उपर्युक्त परिस्थिति ऐसी सर्वव्यापी सामान्य प्रतिज्ञप्तियों के विषय में उत्पन्न होती है जो प्रारम्भ में संश्लेषणात्मक होती हैं किन्तु बाद में हम उन्हें विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति के रूप में मान्यता प्रदान कर देते हैं। उदाहरण के लिए हम इस प्रतिज्ञप्ति को ले सकते हैं। **'सभी मनुष्य मरणशील हैं** ? ह्यूम के अनुसार यह एक **सामान्य प्रतिज्ञप्ति** है क्योंकि हो सकता है कि भविष्य में ऐसा कोई व्यक्ति उत्पन्न हो जो मरणशील न होकर अमर हो। किन्तु आज सभी लोग 'सभी मनुष्य मरणशील है' को सम्भाव्य प्रतिज्ञप्ति न मानकर अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति ही मानेंगे। इसका कारण यह है कि "मरणशीलता" का प्रत्यय "मनुष्य" के प्रत्यय के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध है। अर्थात् जब तक किसी व्यक्ति के भीतर मरणशीलता का गुण नहीं पाया जाएगा तब तक उसके लिए हम "मनुष्य" शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' प्रतिज्ञप्ति द्विरुक्ति मात्र होगी। पर इस प्रकार हमारी आनुभविक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। बात यह है कि "मरणशीलता" "मनुष्य" का व्यावर्तक गुण नहीं है। अतः 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषणात्मक होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। अन्ततः वह एक आनुभविक प्राक्कल्पना ही रहेगी। भविष्य में उसके असत्यापित होने की सम्भावना सदा बनी रहेगी।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम प्राक्कल्पनाओं का निर्माण ही क्यों करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि प्राक्कल्पनाओं के माध्यम से हम वर्तमान में ही भविष्य का पूर्वानुमान करने में सक्षम हो जाते हैं। इस प्रकार हमारी प्राक्कल्पनाएँ भविष्य की प्रत्याशा का नियमन करती हैं। भविष्य के विषय में पूर्वानुमान करने से हम संसार में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में अधिक सफल होते हैं। यही इसकी व्यावहारिक उपयोगिता है।

उपर्युक्त समस्या हमें **आगमन** (Induction) की ओर ले जाती है। आगमनात्मक निष्कर्ष कभी भी अनिवार्य नहीं हो सकते क्योंकि एक आगमन को सिद्ध करने के लिए हमें दूसरे आगमन का सहारा लेना पड़ता है। अतः उसमें **सिद्ध-साधन** (Petitio Principii) दोष आना अनिवार्य है। यही कारण है कि आगमनात्मक निष्कर्ष केवल प्रसम्भाव्य (Probable) ही होता है।

□□□

11

विश्लेषणात्मक दर्शन
(Analytic Philosophy)

विश्लेषणात्मक दर्शन को परिभाषित करना सरल कार्य नहीं है क्योंकि दार्शनिक न तो एक ही प्रकार से विश्लेषण करते हैं और न ही कोई निश्चित विश्लेषण का दर्शन होता है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से विश्लेषण की प्रक्रिया को सम्पादित करते हैं। फिर भी विश्लेषणात्मक दर्शन में कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं जिनके द्वारा हम उसे अन्य दार्शनिक विधाओं से पृथक् कर सकते हैं। पर इन सामान्य विशेषताओं पर विचार करने के पूर्व विश्लेषणात्मक दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—विश्लेषणात्मक दर्शन को सर्वप्रथम प्रारम्भ करने का श्रेय बर्ट्रण्ड रसेल को जाता है। दर्शनशास्त्र के इतिहास में उन्होंने सर्वप्रथम अपने **औपचारिक विश्लेषण** (Formal Analysis) द्वारा दार्शनिक समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया था। इस सन्दर्भ में उनका वर्णन-सिद्धान्त दार्शनिक विश्लेषण का एक प्रतिमान कहा जाता है। पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन ने भी अपने ट्रैक्टेटस में इसी औपचारिक विश्लेषण के दृष्टान्त को प्रस्तुत किया था। पर यहाँ जब हम "विश्लेषणात्मक दर्शन" का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य औपचारिक विश्लेषण से कदापि नहीं है। "विश्लेषणात्मक दर्शन" के जिस विशिष्ट अर्थ में यहाँ विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रयोग किया जा रहा है उसका तात्पर्य औपचारिक विश्लेषण से न होकर **अनौपचारिक विश्लेषण** (Informal Analysis) से है जिसमें हम साधारण भाषा के प्रयोग द्वारा दार्शनिक समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करते हैं।

दर्शन-शास्त्र के इतिहास में अनौपचारिक विश्लेषण का सर्वप्रथम प्रयोग उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स में किया था। इस दृष्टि से उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन भी विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के भीतर आ जाते हैं। पर सामान्यतः विश्लेषणात्मक दर्शन के अन्तर्गत वे विचार समाहित किए जाते हैं जो उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के बाद उसके प्रभाव में विकसित हुए। ऑक्सफोर्ड (Oxford) इस प्रकार के दर्शन का केन्द्र रहा है। वहाँ विश्लेषणात्मक दर्शन बड़े प्रबल रूप में विकसित हुआ। इस दर्शन को **भाषा विश्लेषण** (Linguistic Analysis) के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें साधारण भाषा (Ordinary Language) को विश्लेषण की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी कारण इसे **ऑक्सफोर्ड साधारण भाषा-दर्शन** (Oxford Ordinary Language Philosophy) भी कहा जाता है। यहाँ हम केवल दो सुप्रसिद्ध विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के दर्शन पर विचार करेंगे : प्रथम **गिलबर्ट राइल** (Gilbert Ryle) एवम् द्वितीय **जे० एल० ऑस्टिन (J. L. Austin)**। इन दोनों दार्शनिकों के अतिरिक्त **जॉन विज़डम (John Wisdom)** एवम् **पी० एफ० स्ट्रॉसन (P. F. Strawson)** ने

भी विश्लेषणात्मक दर्शन में उल्लेखनीय कार्य किया है। पर सभी विचारकों के दर्शन का यहाँ वर्णन करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। उपर्युक्त दोनों विश्लेषणात्मक दार्शनिकों की कृतियों पर विचार करने के पूर्व हम विश्लेषणात्मक दर्शन की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

विश्लेषणात्मक दर्शन की सामान्य विशेषताएँ

(General Characteristics of Analytic Philosophy)

(1) साधारण रूप में विश्लेषण का मूल अर्थ है : किसी इकाई को उसके अंगों, अवयवों या भागों में विभक्त करना। पर विश्लेषणात्मक दर्शन के सभी विचारक एक ही अर्थ में "विश्लेषणात्मक" शब्द का प्रयोग नहीं करते। प्रत्येक दार्शनिक की विश्लेषण-विधि पृथक्-पृथक् होती है।

(2) वस्तुओं का विश्लेषण करना तो विज्ञान का कार्य है। विश्लेषणात्मक दर्शन वस्तुओं का विश्लेषण न कर प्रत्ययों (Concepts) अथवा भाषीय कथनों (Linguistic Statements) का विश्लेषण करता है। प्रत्ययों का विश्लेषण एवम् भाषीय कथनों का विश्लेषण दो पृथक् विश्लेषण नहीं हैं। दोनों विश्लेषण एक ही तत्त्व के दो विभिन्न फलक हैं क्योंकि दोनों एक दूसरे को आपादित करते हैं।

(3) विश्लेषणात्मक दर्शन के सम्यक् ज्ञान के लिए उसका परिकल्पनात्मक (Speculative) दर्शन से भेद स्थापित करना अनिवार्य है। परिकल्पनात्मक दर्शन में हम परम सत्, आत्मा, जगत, मूल्य, प्रयोजन इत्यादि के सम्बन्ध में परिकल्पना करते हैं। इस प्रकार परिकल्पनात्मक दर्शन एक तत्त्वमीमांसीय विवेचन पर केन्द्रित है। पर विश्लेषणात्मक दर्शन का उपर्युक्त समस्याओं से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। विश्लेषणात्मक दर्शन का सीधा सम्बन्ध भाषा से है। इस दर्शन की मान्यता है कि भाषा-विश्लेषण से समस्या पर नया प्रकाश पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप हमारे समक्ष नए-नए प्रश्न उपस्थित होते हैं।

(4) ऊपर हमने देखा कि विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रमुख केन्द्र भाषा है। पर भाषा का अध्ययन तो भाषा-शास्त्र, व्याकरण तथा शब्द-शास्त्र भी करते हैं। ऐसी स्थिति में विश्लेषणात्मक दर्शन उपर्युक्त शास्त्रों से किस प्रकार भिन्न है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि भाषा-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र एवम् शब्द-शास्त्र का सम्बन्ध भाषा के स्वरूप, भाषा की संरचना, एवम् भाषा के विन्यास से है। इनका ज्ञान प्राप्त करने से भाषा का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इनके द्वारा भाषा के स्वरूप, भाषा की संरचना तथा भाषीय प्रयोगों के विषय में वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। पर दार्शनिक विश्लेषण का उद्देश्य केवल भाषा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना नहीं है वरन् भाषा के दार्शनिक विश्लेषण द्वारा दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना है। विश्लेषणात्मक दर्शन के अनुसार दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति भाषीय प्रयोगों की अस्पष्टता एवम् अनेकार्थता के कारण सम्भव होती है तथा विश्लेषणात्मक दर्शन द्वारा इन समस्याओं का पूर्ण निदान किया जा सकता है।

(5) अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि विश्लेषणात्मक दर्शन का केन्द्र भाषा है तो हमारी स्वाभाविक जिज्ञासा यह हो सकती है कि वह कौन सी भाषा है जिसके द्वारा

दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा किस प्रकार की भाषा द्वारा इन दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है ? इस समस्या को लेकर दार्शनिकों के बीच पर्याप्त मतभेद है। कुछ विचारकों के अनुसार, जिस प्रकार प्रत्येक विज्ञान की एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली होती है जिसके द्वारा वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है उसी प्रकार दर्शन-शास्त्र की भी एक विशिष्ट भाषा व पारिभाषिक शब्दावली है जिसके द्वारा वह अपने कार्यों का सम्पादन करता है। वह पारिभाषिक शब्दावली **प्रतीकात्मक भाषा** (Symbolic Language) या **आदर्श भाषा** (Ideal Language) की शब्दावली है जो सर्वथा कृत्रिम ही होती है। हमारी साधारण बोलचाल की भाषा अनिवार्यतः अस्पष्ट, अनेकार्थक तथा भ्रान्त होती है। अतः हमारे विचारों में स्पष्टता व एकार्थकता लाने के लिए हमारी साधारण भाषा का प्रतीकात्मक भाषा में रूपान्तरण आवश्यक है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों एवम् पूर्वकालीन विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शनशास्त्र की भाषा ऐसी ही कृत्रिम प्रतीकात्मक भाषा होनी चाहिए। पर विश्लेषणात्मक दर्शन इस प्रकार की कृत्रिम भाषा में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार हमारी साधारण भाषा ही सूक्ष्मतम विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन सकती है। इसके लिए किसी कृत्रिम प्रतीकात्मक भाषा की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए इसे **साधारण भाषा दर्शन** (Ordinary Language Philosophy) के नाम से अभिहित किया जाता है।

(6) यद्यपि विश्लेषणात्मक दर्शन की उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के दर्शन से पर्याप्त समानता है पर दोनों के बीच पूर्ण साम्य स्थापित करना समीचीन नहीं होगा। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के विश्लेषण विधि का लक्ष्य है : समस्या को समाप्त कर देना। इस विधि के द्वारा समस्या ही विगलित हो जाती है अर्थात् उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ समस्याएँ ही नहीं हैं। उनके समाधान के लिए समस्या को ही समाप्त कर दिया जाता है। विश्लेषणात्मक दर्शन को यह स्वीकार्य नहीं है। उसके अनुसार दर्शनिक समस्याएँ अवास्तविक न होकर वास्तविक ही होती हैं। इन समस्याओं के कारण भी वास्तविक होते हैं। वे समस्याएँ भाषा की अस्पष्टता, द्वयर्थकता व अनेकार्थता के कारण उत्पन्न होती है। अतः भाषा की स्पष्टता व एकार्थकता के द्वारा इन समस्याओं का निदान किया जा सकता है। इस प्रकार विश्लेषण का लक्ष्य मात्र निषेधात्मक न होकर भावात्मक भी है। विश्लेषण से समस्या पर नया प्रकाश पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप नए-नए प्रश्न उभर कर हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। विश्लेषण के फलस्वरूप कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आती हैं जो विश्लेषण के पूर्व दिखाई नहीं देती थीं। अतः विश्लेषणात्मक दर्शन की एक भावात्मक उपयोगिता है।

गिलबर्ट राइल (Gilbert Ryle 1900-1976)

जीवन-वृत्त—गिलबर्ट राइल का जन्म 1900 ई० में ब्रिटेन में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन का सर्वाधिक भाग ऑक्सफोर्ड में व्यतीत किया। 1924 में सर्वप्रथम वे क्राइस्ट चर्च (Christ Church) कालेज के विद्यार्थी थे जहाँ उन्होंने 1944 तक विभिन्न विषयों का अध्ययन किया। पुनः 1945 में वे उसी कालेज में तत्त्व-दर्शन (Metaphysical Philosophy) के **वाइनफ्लीट प्रोफेसर** (Waynflete Professor) नियुक्त किए गए। उनकी रचनाएँ एवम् लेख विश्लेषणात्मक दर्शन के प्रतिमान हैं। 1932 ई० में राइल ने अपने लेख **"सिस्टिमेटिकली मिस्लीडिङ्ग एक्स्प्रेशन्स"** (Systematically Misleading Expressions)

में विश्लेषणात्मक दर्शन की आधारशिला रखी। 1949 ई० में उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **"द कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड"** (The Concept of Mind) की रचना की जिसमें उन्होंने डेकार्ट्स के द्वैतवाद का खण्डन किया। इसके उपरान्त 1953 में राइल ने अपनी दूसरी पुस्तक **"डाइलेम्माज़"** (Dilemma's) का प्रणयन किया और 1966 में उनकी तीसरी पुस्तक **"प्लेटोज़ प्रॉग्रेस"** (Plato's Progress) प्रकाशित हुई। अन्त में 1971 में उनके विभिन्न लेखों के संग्रह **"कलेक्टेड पेपर्स"** (Collected Papers) दो भागों में प्रकाशित किए गए। इस प्रकार दर्शन-शास्त्र में राइल का योगदान पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

सामान्य परिचय—विश्लेषणात्मक दर्शनिकों के अनुसार **दर्शन-शास्त्र कोई सिद्धान्त नहीं वरन् एक प्रक्रिया** (Activity) है। यह एक संक्रियात्मक दर्शन (Doing Philosophy) है। दर्शन की यह प्रक्रिया भाषा-विश्लेषण की प्रक्रिया में अभिव्यक्त होती है। भाषा-विश्लेषण एक प्रविधि या तकनीक है जो विभिन्न दार्शनिक समस्याओं के स्पष्टीकरण में अभिव्यक्त होती है। विश्लेषण की प्रक्रिया को किसी सिद्धान्त या अवधारणा के कलेवर में व्यक्त नहीं किया जा सकता ; उसका केवल मूर्त समस्याओं के समाधान में निदर्शन ही किया जा सकता है। इसी लिए इसे अनौपचारिक विश्लेषण भी कहा जा सकता है। यदि हम इस तकनीक के नियमों को पूर्णतया निर्धारित करने का प्रयत्न करें तो यह प्रयत्न उस विश्लेषण की विशिष्ट तकनीक के विपरीत होगा। यही कारण है कि यदि हम इन विचारकों के विश्लेषण-प्रक्रिया की प्रविधि को समझना चाहते हैं तो हमें प्रविधि के वास्तविक प्रयोगों की ओर ही ध्यान केन्द्रित करना होगा। राइल का विश्लेषणात्मक दर्शन इसी तकनीक पर आधारित है। उनके विश्लेषणात्मक दर्शन की झलक उनके द्वारा कृत विश्लेषण की प्रक्रिया में अभिव्यक्त होती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस विश्लेषण प्रक्रिया की फलश्रुति क्या है ? विश्लेषणात्मक दर्शन के अनुसार विश्लेषण से हमें एक वैचारिक उपलब्धि होती है। दार्शनिक समस्याएँ सामान्यतः भाषीय विसंगतियों, अस्पष्टता, द्वयर्थकता, अनेकार्थता आदि के कारण उत्पन्न होती हैं। भाषा-विश्लेषण इन विसंगतियों को समाप्त कर दार्शनिक समस्याओं अथवा वाद-विषयों पर नवीन प्रकाश देता है जिसके फलस्वरूप नये-नये प्रश्न उभरते हैं। विश्लेषण के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी बातों का हमें ज्ञान प्राप्त होता है जिनके विषय में हम विश्लेषण के पहले पूर्ण अनभिज्ञ थे। इस प्रकार विश्लेषण दर्शन में विश्लेषण-विधि की भावात्मक उपयोगिता है।

यद्यपि विश्लेषणात्मक दर्शन उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के दर्शन के बाद का दर्शन है पर जिस काल में विटगेन्स्टाइन अपने उत्तरकालीन विचारों में उलझे हुए थे उसी काल में अथवा उसके पहले ही राइल अपने तकनीक के प्रयोग द्वारा कुछ परम्परागत समस्याओं के समाधान में संलग्न थे। राइल की "कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड" (Concepst of Mind) नामक पुस्तक विटगेन्स्टाइन के "फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स (1953)" के पहले ही 1949 में प्रकाशित हो चुकी थी। इस पुस्तक में राइल ने अपनी विश्लेषणात्मक तकनीक द्वारा प्रचलित "मन" के सिद्धान्त को भ्रान्तिपूर्ण विचार घोषित किया है। इस पुस्तक से राइल को दर्शन शास्त्र में पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। "कॉन्सेप्ट आव माइण्ड" विश्लेषणात्मक दर्शन का एक प्रतिमान ग्रन्थ है। इस सामान्य भूमिका के परिप्रेक्ष्य में अब हम राइल की पुस्तक "कान्सेप्ट ऑव माइण्ड" में विकसित विचारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि विश्लेषणात्मक दर्शन कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि एक प्रक्रिया है जिसका निदर्शन उसके विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। "कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड" में राइल ने "**आत्मा**" के प्रत्यय का विश्लेषण किया है जिसमें उन्होंने आत्मा को विभिन्न घटनाओं में घटित करने की चेष्टा की है। राइल ने "आत्मा" के प्रत्यय के विश्लेषण के लिए डेकार्ट्स द्वारा प्रतिपादित आत्मा और शरीर के आधिकारिक सिद्धान्त (Official Doctrine) को अपना केन्द्र बनाया। इस आधिकारिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आत्मा और शरीर का एक समुच्चय है जिसमें शरीर की उपमा एक वायुयान से और आत्मा की उपमा एक चालक से दी गई है। इन दोनों में आत्मा तो चेतन है पर शरीर जड़ है। इन्हीं दोनों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हमारे दैनिक व्यवहार संचालित होते हैं। इनमें आत्मा शाश्वत है पर शरीर नश्वर है। राइल की मान्यता है कि यह सिद्धान्त आत्म-तत्त्व को एक भौतिक कलेवर में प्रतिष्ठित कर देता है, इसीलिए डेकार्ट्स के इस आधिकारिक सिद्धान्त को **मशीन में स्थित प्रेत** (Ghost in the Machine) का सिद्धान्त कहते हैं। राइल का विश्लेषणात्मक दर्शन इसी प्रेत के खण्डन से प्रारम्भ होता है।

राइल के विश्लेषणात्मक दर्शन के विषय में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि वे अपने आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रतिपादन में हमें किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराते और न उससे हमारे प्राप्त ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि ही होती है। उनके अनुसार आत्मा के विश्लेषण का प्रमुख उद्देश्य है : आत्मा-सम्बन्धी हमारे ज्ञान को तार्किक रूप में व्यवस्थित करना। राइल ने "कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड" में इस उद्देश्य को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : "**दार्शनिक युक्तियाँ जो पुस्तक में संगृहीत हैं उनका उद्देश्य आत्माओं के विषय में हमारे ज्ञान में वृद्धि करना नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्ध में पूर्व प्राप्त ज्ञान के तार्किक भूगोल में संशोधन करना है।**"[1] बात यह है कि हम अपने दैनिक जीवन में ऐसी उक्तियों का प्रयोग करते हैं जिनके द्वारा यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि हमारे शरीर में एक आत्मा है जो हमारे कार्यों को संचालित करती है। राइल के अनुसार ऐसा मानना एक मिथक (Myth) है जिसके पीछे कोई तार्किकता नहीं पाई जाती। राइल ने अपने विश्लेषणात्मक दर्शन द्वारा "मशीन में स्थित प्रेत" के आधिकारिक सिद्धान्त का खण्डन किया है जिसके परिणामस्वरूप आत्मा सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न हमारे समक्ष उभर कर प्रस्तुत होते हैं। इस विश्लेषण के दो पक्ष हैं : प्रथम निषेधात्मक एवम् द्वितीय भावात्मक। विश्लेषण के निषेधात्मक पक्ष में "मशीन में स्थित प्रेत" सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत किया गया है तथा भावात्मक पक्ष में आत्मा की ज्ञानात्मक (Knowing), संकल्पात्मक (Willing) एवम् संवेगात्मक (Feeling) शक्तियों और क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इन शक्तियों का विवरण हम उचित स्थान पर करने की चेष्टा करेंगे।

"जानना कि" एवम् "जानना कैसे"
(Knowing That and Knowing How)

सामान्यतया जब कभी हम किसी चेतन या मानसिक क्रिया के विषय में विचार करते हैं

1. कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड, पृ० 8, The philosophical arguments which constitute this book are intended not to increase what we know about minds but to rectify the logical geography of the knowledge which we already possess.

तो यह मानकर चलते हैं कि हमारे शरीर के भीतर एक **शाश्वत आत्म-तत्त्व** है जो अदृश्य तो है पर वह हमारी चेतन या मानसिक क्रियाओं के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। राइल के अनुसार यह एक भ्रान्त धारणा है। चेतन अथवा मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित कथन किसी अदृश्य शाश्वत आत्मा के विषय में न होकर उन्हीं चेतन और मानसिक क्रियाओं के विषय में ही होते हैं। इसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए राइल सर्वप्रथम अपने विश्लेषण के लिए बौद्धिक क्रियाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

(1) राइल के अनुसार हमारे शरीर में "बुद्धि-तत्त्व" के अस्तित्व को व्यक्त करने वाले निम्न शब्द हैं : चतुर, समझदार, बुद्धिमान, सावधान, सुव्यवस्थित, आविष्कारशील, तार्किक, दुनियादार, पारखी, आलोचनात्मक, प्रयोगात्मक, प्रत्युत्पन्नमति, न्यायशील, तीक्ष्ण इत्यादि। इन सभी शब्दों का प्रयोग बुद्धिसूचक क्रियाओं के लिए किया जाता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति के भीतर बुद्धि-तत्त्व की न्यूनता है तो इस न्यूनता को प्रगट करने के लिए हम निम्न शब्दों का प्रयोग करते हैं : मूर्ख, मन्दबुद्धि, असावधान, अकर्मण्य, अतार्किक, अविवेकी, अदूरदर्शी इत्यादि। इन शब्दों के व्यवहार में बौद्धिक क्रियाओं एवम् चेतन या मानसिक क्रियाओं के बीच तादात्म्य स्थापित किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी लोगों का विश्वास है कि मानसिक क्रियाओं का आधार बुद्धि-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व ही है। राइल इस मान्यता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार जानना एवम् चेतन क्रिया करना दो पृथक् क्रियाएँ हैं। उनके बीच अन्तर न करने के कारण ही "मशीन में स्थित प्रेत" सिद्धान्त की उत्पत्ति होती है।

रूढ़िवादी एवम् परम्परागत दार्शनिकों का सदा यह मत रहा है कि मनुष्य बौद्धिक या चेतन क्रिया इसलिए करता है क्योंकि उसके भीतर **सत्य के ज्ञानोपार्जन की शक्ति विद्यमान है।** राइल इस शक्ति एवम् शक्तिमान के सिद्धान्त का विरोध करता है। उनके अनुसार **बौद्धिक या चेतन व्यवहार अनिवार्यतः मन की ज्ञानोपार्जन शक्ति की सन्तान नहीं है।**[1] इसी परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा प्रतिपादित "जानना कि" एवम् "जानना कैसे" के भेद की सार्थकता प्रकट होती है तथा इसी भेद के ऊपर आत्म-तत्त्व के सिद्धान्त का निषेध किया जाता है।

(2) इसी क्रम में "जानना कि" एवम् "जानना कैसे" के बीच भेद करते हुए राइल कहते हैं कि "जानना कि" सैद्धान्तिक सत्यों का ज्ञान है तथा "जानना कैसे" व्यावहारिक ज्ञान है। सैद्धान्तिक ज्ञान सत्यों का ज्ञान है जिसके द्वारा हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है पर व्यावहारिक ज्ञान कार्य-कुशलता की वृद्धि करता है। पर दोनों प्रकार के ज्ञानों में उतना भेद नहीं है जितना उस भेद पर बल दिया जाता है। सैद्धान्तिक ज्ञान में हमारी रुचि उतनी ही मात्रा में होती है जितनी कि हम उस सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान के रूप में परिणत कर सकते हैं। व्यावहारिक जीवन में ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है जहाँ सैद्धान्तिक ज्ञान एवम् व्यावहारिक ज्ञान दोनों समानान्तर रूप में चलते हैं। "अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है" तथा "विश्वविद्यालयों में राजनीति किस प्रकार की जाती है" इन उदाहरणों में दोनों प्रकार के ज्ञान समानान्तर रूप में चलते हैं। पर साथ ही जीवन में ऐसे दृष्टान्तों की भी कमी नहीं है जहाँ सैद्धान्तिक ज्ञान एवम् व्यावहारिक ज्ञान के बीच कोई समानान्तरता नहीं पाई जाती। "वह जानता है कि यह सत्य है" विशुद्ध सैद्धान्तिक ज्ञान है तथा "वह अच्छी प्रकार कार चला सकता है" विशुद्ध व्यावहारिक ज्ञान

1. वही, पृ० 27. Intelligent practice is not a step child of theory.

का अच्छा उदाहरण है। दोनों प्रकार के ज्ञानों के बीच जो दूसरा अन्तर है वह यह है कि सैद्धान्तिक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए साक्ष्य की आवश्यकता होती है पर व्यावहारिक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए उसी प्रकार के साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती।

(3) प्रायः लोगों की मान्यता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य को सुचारु ढंग से करता है तो इसका कारण यह है कि उसके शरीर में एक आत्मतत्त्व या बुद्धि है जिसके कारण वह जानवरों की अपेक्षा किसी कार्य को अधिक सुचारु रूप में सम्पन्न कर लेता है। इसी तथ्य को हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि कोई क्रिया बौद्धिक या चेतन तभी कही जा सकती है जब कि कर्त्ता क्रिया करते हुए चिन्तन करता रहे तथा चिन्तन करते समय क्रिया करता रहे। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लोग सोचते हैं कि "जानना कि" एवम् "जानना कैसे" के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं है। उदाहरण के लिए शतरंज का खिलाड़ी शतरंज खेलने के पहले उसके नियमों एवम् प्रविधि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। नियमों एवम् प्रविधि का ज्ञान प्राप्त किए बिना वह शतरंज का खेल प्रारम्भ नहीं कर सकता।

पर राइल इस मत को स्वीकार नहीं करते। शतरंज खेल के नियमों के ज्ञान एवम् शतरंज खेल की दक्षता के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। प्रायः ऐसा देखने को मिलता है कि जो खिलाड़ी खेल के नियमों पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते हैं, उनमें खेलने की कार्यक्षमता उसी मात्रा में कम होती है। इसके अतिरिक्त हमारे व्यावहारिक जीवन में कुछ ऐसे दृष्टान्त भी देखने को मिलते हैं जिनमें नियमों के ज्ञान के बिना ही बौद्धिक क्रियाएँ संचालित होती हैं। यदि किसी चुटकुले अथवा लतीफे सुनाने वाले व्यक्ति से पूछा जाय कि वह किन नियमों के आधार पर चुटकुले या लतीफे सुनाता है तो वह नियमों की गणना करने में असमर्थ ही रहेगा। अतः, राइल निष्कर्ष निकालते हैं कि "जानना कि" एवम् "जानना कैसे" के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

(4) राइल के अनुसार जो लोग "जानना कि" एवम् "जानना कैसे" के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना करते हैं उनके चिन्तन में एक तार्किक दोष पाया जाता है जिसे अनवस्था-दोष (The Fallacy of Infinite Regress) कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति बौद्धिक क्रिया करने के पूर्व तत्सम्बन्धी नियमों को दुहराता है तो नियमों को दुहराने की प्रक्रिया अन्य नियमों के दुहराने की प्रक्रिया पर आधारित होगी। इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था-दोष आ जाना अनिवार्य है।

(5) उपर्युक्त तथ्य को राइल एक दूसरे प्रकार से समझाने की चेष्टा करते हैं। एक विदूषक दूसरों को हँसाने के लिए नाना प्रकार के स्वांग भरता है जिन्हें देखकर दर्शक तालियाँ बजाते हैं। विदूषक का स्वांग भरना एक बौद्धिक प्रक्रिया है पर इसकी पृष्ठभूमि में किसी प्रकार की बौद्धिकता नहीं पाई जाती। अतः बौद्धिक क्रिया के पीछे किसी "आत्म-तत्त्व" में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(6) राइल द्वारा इन तमाम युक्तियों की गणना के पीछे जो मन्तव्य है वह यह है कि **किसी मानसिक क्रिया की पृष्ठभूमि में किसी कर्त्ता में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है।** जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अस्तित्व के बिना ही क्रिया का सम्पादन होता है उसी प्रकार राइल के दर्शन में भी क्रिया के सम्पादन के लिए किसी कर्त्ता के अस्तित्व की तनिक भी

आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए रेडियो अथवा टी० वी० के सुधारक के लिए इलेक्ट्रॉनिक्स के सिद्धान्तों का ज्ञान रखना अनिवार्य नहीं है। इलेक्ट्रॉनिक्स के ज्ञान के बिना ही वह सुधारक का कार्य बड़ी आसानी से कर लेता है। अतः "जानना कैसे" को "जानना कि" पर आधारित करना मूर्खता ही है।

कोटि-दोष (Category Mistake)

राइल का कोटि-दोष सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से उन्होंने कई जटिल दार्शनिक समस्याओं का सफल समाधान प्रस्तुत किया है। "मशीन में स्थित प्रेत" के निराकरण में कोटि-दोष का पर्याप्त महत्त्व है। अतः "मशीन में स्थित प्रेत" के निराकरण के पूर्व कोटि-दोष का वर्णन करना नितान्त समीचीन है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कोटि-दोष से हमारा क्या तात्पर्य है ? राइल के अनुसार हमारे चिन्तन में **कोटि-दोष तब उत्पन्न होता है जब हम एक कोटि के तथ्यों को ऐसे वाक्य-व्यवहारों द्वारा व्यक्त करते हैं जो वाक्य-व्यवहार उस कोटि के अनुरूप नहीं है बल्कि उससे सर्वथा भिन्न कोटि के अनुरूप है।** इस कोटि के दुष्प्रयोग द्वारा जो भाव उत्पन्न होता है वह काल्पनिक भाव ही होता है। यही कारण है कि उस काल्पनिक भाव को खण्डित करने के लिए उन तथ्यों का निषेध नहीं करना है बल्कि उन तथ्यों को उनके अनुरूप कोटियों के साथ जोड़ देना है। मन या आत्मा के सम्बन्ध में "मशीन में स्थित प्रेत" सिद्धान्त कोटि के दुष्प्रयोग के कारण ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ भी आत्मा सम्बन्धी तथ्यों को ऐसी कोटि के साथ संलग्न कर दिया गया है जिसके अनुरूप वे नहीं हैं। राइल ने कोटि-दोष की व्याख्या के लिए कुछ ऐसे दृष्टान्तों को लिया है जो उसके स्वभाव को पूर्णतया स्पष्ट करते हैं।

मान लिया कि एक विदेशी पर्यटक प्रथम बार लन्दन की यात्रा पर जाता है। उसे वहाँ विभिन्न कालेजों, पुस्तकालयों, खेल के मैदानों, संग्रहालयों, शासकीय भवनों एवम् विज्ञान-केन्द्रों को प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद वह जिज्ञासा प्रकट करता है कि लन्दन विश्वविद्यालय कहाँ है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त संस्थाओं से पृथक् विश्वविद्यालय कोई संस्था नहीं है। यदि उपर्युक्त विभिन्न संस्थाओं से पृथक् कोई "विश्वविद्यालय" जानने की इच्छा प्रकट करता है तो वह कोटि-दोष का भागी बन जाता है। अर्थात् उस विदेशी पर्यटक की भूल यही है कि उसने "विश्वविद्यालय" को भी उसी कोटि का समझा जिस कोटि में विभिन्न कालेज, संग्रहालय, पुस्तकालय आदि आते हैं। उसकी इसी भूल को कोटि-दोष कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में हम एक दूसरा उदाहरण भी ले सकते हैं। मान लिया कि राम, श्याम, मोहन और सोहन प्रयाग नगर के नागरिक हैं। वे सभी बुद्धिमान हैं। अब यदि हम प्रश्न करते हैं कि उपर्युक्त व्यक्ति "औसत नागरिक" से कम बुद्धिमान हैं अथवा अधिक, तो हम यहाँ कोटि-दोष के भागी बन जाते हैं। बात यह है कि एक ओर राम, श्याम, मोहन और सोहन हैं तथा दूसरी ओर औसत नागरिक हैं। दोनों एक ही कोटि की सत्ताएँ नहीं हैं। अतः जो विशेषताएँ राम, श्याम, मोहन, सोहन इत्यादि पर आरोपित की जा सकती हैं वे "औसत नागरिक" पर आरोपित नहीं की जा सकतीं। किन्तु यदि हम एक कोटि की सत्ताओं की विशेषताओं को दूसरी कोटि की सत्ताओं पर आरोपित करते हैं तो हमारे चिन्तन में कोटि-दोष आना अनिवार्य है।

मशीन में स्थित प्रेत सिद्धान्त
(The Ghost in the Machine Principle)

राइल के अनुसार लगभग सभी लोग विश्वास करते हैं कि हमारे शरीर में एक आत्मा या मन है जो हमारी भौतिक क्रियाओं को संचालित करता है। इसी तथ्य को उन्होंने व्यंगात्मक रूप में "मशीन में स्थित प्रेत सिद्धान्त" की संज्ञा प्रदान की है। राइल के अनुसार भौतिक एवम् मानसिक क्रियाओं की सम्यक् व्याख्या के लिए किसी मन या आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इतने पर भी हम मन या आत्मा में विश्वास कर बैठते हैं तो यह कोटि-दोष के कारण सम्भव होता है।

डेकार्ट्स के कार्य-काल में विज्ञान-जगत में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं : प्रथम **यन्त्रवाद** (Mechanism) एवम् द्वितीय **प्रयोजनवाद** (Teleology)। यन्त्रवाद के अनुसार भौतिक जगत की सम्पूर्ण घटनाएं यान्त्रिक कारणों द्वारा संचालित होती हैं तथा मानसिक या आध्यात्मिक घटनाएँ भौतिक कारणों द्वारा संचालित न होकर अभौतिक कारणों द्वारा संचालित होती हैं जिन्हें उन्होंने "मन" या "आत्मा" के नाम से अभिहित किया। दोनों प्रकार की घटनाओं के भिन्न-भिन्न कारण होते हुए भी उनकी व्याख्या के लिए डेकार्ट्स ने एक ही प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया जैसे—**वस्तु, तत्त्व, प्रक्रिया, कारण, कार्य, परिवर्तन** इत्यादि। इस सामान्य प्रयोग के कारण ही दर्शन-शास्त्र में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुईं। इन सबके मूल में कोटि-दोष को ही एक मात्र कारण माना जा सकता है। बात यह है कि भौतिक एवम् मानसिक व्यापार दो परस्पर भिन्न प्रकार के व्यापार हैं। उन्हें एक ही प्रकार के व्यापार में घटित करना कोटि-दोष में अपने को संलग्न करना है। भौतिक घटनाएँ यान्त्रिक कारणों द्वारा संचालित होती हैं पर मानसिक घटनाएँ कारणों (Cause) द्वारा नहीं वरन् प्रयोजन (Reason) द्वारा संचालित होती हैं। अतः भौतिक एवम् मानसिक घटनाओं की व्याख्या के लिए एक ही प्रकार की कारणता का प्रयोग करना कोटि-दोष है।

राइल ने कोटि-दोष को एक दूसरे प्रकार से भी समझाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि "मैंने अपने बाएँ पैर के लिए जूता खरीदा, दाहिने पैर के लिए जूता खरीदा और एक जोड़ा जूता खरीदा" तो यह एक बेतुकी बात लगेगी क्योंकि "एक जोड़ा जूता" की भाषीय कोटि "बाएँ पैर का जूता" एवम् "दाहिने पैर का जूता" की कोटियों से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार भौतिक क्रियाओं एवम् मानसिक क्रियाओं को समस्तरीय क्रियाएँ मानना कोटि-दोष है। जिस प्रकार "वह रोते हुए आई" तथा "वह पालकी में आई" दोनों भाषीय कथनों को एक ही कोटि में रखना कोटि-दोष है, उसी प्रकार भौतिक एवम् मानसिक क्रियाओं को एक ही कोटि में रखना भी कोटि-दोष है। **"मशीन में स्थित प्रेत"** सिद्धान्त इसी कोटि-दोष के कारण उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त विवेचन का एक रोचक पहलू यह है कि इससे मन तथा भौतिक तत्त्व का अन्तर ही नहीं वरन् दोनों का विरोध भी समाप्त हो जाता है। विरोध वहीं होता है जब कि दोनों सत्ताएँ जिनके बीच विरोध-सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है, एक ही कोटि की सत्ताएँ हों। मन एवम् भौतिक तत्त्व के विभिन्न कोटियों की सत्ताएँ होने के कारण दोनों के बीच न तो समानताएँ स्थापित की जा सकती हैं और न विभिन्नताएँ ही। इस दृष्टिकोण से विज्ञानवाद एवम् भौतिकवाद

का भेद भी समाप्त हो जाता है।

राइल के मन एवम् शरीर के अस्तित्व को एक ही कोटि की सत्ताओं में समाहित करना यथार्थ नहीं है। **अस्तित्व सदा उद्देश्य है, वह कभी विधेय नहीं हो सकता।**[1] उनके अनुसार अस्तित्व का केवल एक प्रयोग न होकर भिन्न-भिन्न प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए हम आरोह (Rising) शब्द को ले सकते हैं। "आरोह" शब्द एक है पर इसके तीन भिन्न-भिन्न प्रयोग हैं :

(i) तरंगें आरोह पर हैं (Waves are rising),

(ii) सूर्य आरोह पर है (The Sun is rising),

(iii) कीमतें आरोह पर हैं (Prices are rising)।

यहाँ "आरोह" शब्द का प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। अतः इसमें "आरोह" की तीन भिन्न कोटियाँ हैं। उसी प्रकार जब हम कहते हैं कि

(i) संख्याओं का अस्तित्व है।

(ii) जल-सेना का अस्तित्व है।

(iii) जनमत का अस्तित्व है।

यहाँ "अस्तित्व" शब्द एक है पर इसका प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है।

यहाँ भी तीनों प्रयोगों में "अस्तित्व" एक कोटि के नहीं हैं। ठीक उसी प्रकार जब हम कहते हैं—

(i) शरीर का अस्तित्व है।

(ii) मन का अस्तित्व है।

(iii) प्रेत का अस्तित्व है।

यहाँ भी हम "अस्तित्व" शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में न कर तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में कर रहे हैं। अस्तित्व की यहाँ तीन कोटियाँ हैं। उन्हें एक ही कोटि का समझ लेना कोटि-दोष है। "मशीन में स्थित प्रेत" सिद्धान्त इसी कोटि-दोष के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। वास्तव में संसार में उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

अभिवृत्तियाँ एवम् घटनाएँ

(Dispositions and Occurrences)

राइल के अनुसार जिस प्रकार मानसिक प्रक्रियाएँ मन या आत्मा के अस्तित्व को प्रगट नहीं करतीं उसी प्रकार अभिवृत्तियाँ एवम् घटनाएँ भी मन के अस्तित्व को प्रगट नहीं करतीं। सर्वप्रथम हम अभिवृत्तिमूलक कथनों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

हम दैनिक जीवन में ऐसे अनेक कथन करते हैं जो यह सूचित नहीं करते कि कोई क्रिया हो रही है अथवा कोई व्यापार हो रहा है बल्कि वे कथन केवल यह सूचित करते हैं कि किसी विषय के बारे में कुछ कहा जा रहा है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'वह जानता है' तो हम किसी घटना के विषय में कोई कथन नहीं कर रहे हैं बल्कि उस व्यक्ति की केवल

1. Existence is always a subject, it can never be a predicate.

अभिवृत्ति के विषय में ही कथन कर रहे हैं। उसी प्रकार जब हम कहते हैं कि "वह प्रधानमंत्री होने की आकांक्षा रखता है" तो हम किसी घटना के विषय में निर्देश नहीं कर रहे हैं बल्कि यहाँ हम केवल उस अभिवृत्ति की ओर संकेत कर रहे हैं जो अवसर मिलने पर कार्य-रूप में परिणत की जा सकती है। जो "मशीन में स्थित प्रेत" सिद्धान्त के समर्थक हैं उनके अनुसार अभिवृत्तिमूलक कथन हमारी आत्मा या मन के द्वारा संचालित होते हैं किन्तु राइल के अनुसार इन कथनों की व्याख्या मन या आत्मा में विश्वास के बिना भी की जा सकती है। उन्होंने निम्न दृष्टान्त द्वारा इसी बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

राइल के अनुसार अभिवृत्तिमूलक कथन दो प्रकार के होते हैं : प्रथम **निर्धारित अभिवृत्तिमूलक कथन** (Determinate Dispositional Statement) एवम् द्वितीय **निर्धारणीय अभिवृत्तिमूलक कथन** (Determinable Dispositional Statement)। निर्धारित अभिवृत्तिमूलक कथन वे कथन हैं जो इस बात का वर्णन तो नहीं करते कि कोई क्रिया सम्पादित हो रही है बल्कि वे केवल इस बात का वर्णन करते हैं कि किसी व्यक्ति के भीतर क्रिया के सम्पादन की प्रवृत्ति विद्यमान है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इस प्रकार के कथन में क्रिया की दिशा अनिर्धारित न होकर पहले से ही निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति कहता है कि **"वह व्यक्ति शराबी है"** तो यह कथन निर्धारित अभिवृत्तिमूलक कथन होगा। इसे निर्धारित अभिवृत्तिमूलक कथन इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अभिवृत्ति की दिशा पहले से ही निश्चित है। जब वह व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति को क्रिया रूप में परिणत करेगा तो वह शराब पीने की क्रिया सम्पादित करने के सिवा किसी अन्य क्रिया के सम्पादन की ओर कभी भी अग्रसर नहीं होगा। इसी कारण इस अभिवृत्ति को निर्धारित अभिवृत्तिमूलक कथन के नाम से अभिहित किया जाता है। पर कुछ ऐसे अभिवृत्तिमूलक कथन भी होते हैं जो अभिवृत्तिमूलक तो होते हैं किन्तु उनमें अभिवृत्तिमूलक क्रिया की दिशा निर्धारित नहीं होती। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति कहता है कि **"वह व्यक्ति बेईमान है।"** यह कथन अभिवृत्तिमूलक कथन है किन्तु इसमें अभिवृत्ति की दिशा पहले से ही निर्धारित नहीं है। इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति अनेक प्रकार से अपनी अभिवृत्ति को कार्य रूप में परिणत कर सकता है। इसी कारण ऐसे कथनों को अनिर्धारित अभिवृत्तिमूलक कहा जाता है। हमारे अधिकतर सामान्य प्रचलित अभिवृत्तिमूलक शब्द जैसे जानना, अभिलाषा करना (Aspire), चालाकी करना, विनोद करना अनिर्धारित अभिवृत्तिमूलक शब्द हैं।

उपर्युक्त विवेचन का निहितार्थ यह है कि हमारे शरीर के भीतर एक मन या आत्मा है जिसके भीतर कुछ निहित अभिवृत्तियाँ या शक्तियाँ हैं जो अवसर मिलने पर अपने को अभिव्यक्त करती हैं। राइल इसका खण्डन करते हैं क्योंकि उनके अनुसार उपर्युक्त विवेचन में एक तार्किक दोष पाया जाता है। मान लिया कि हमारे शरीर में एक आत्मा है जिसके भीतर ज्ञान प्राप्त करने की निहित शक्ति है पर वह आत्मा, सदा अपनी निहित शक्ति को प्रगट नहीं करती। राइल के अनुसार इस विवेचन में **व्याघात-दोष** पाया जाता है। अर्थात् हमारी आत्मा में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है भी और नहीं भी है जो यथार्थ नहीं है। अतः अभिवृत्तिमूलक कथनों से किसी आत्मा अथवा मन के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी अहम् समस्या जो हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह यह है कि

अभिवृत्तिमूलक कथनों के आधार पर हम किसी आत्मा या मन के सिद्धान्त का किस प्रकार प्रतिपादन कर सकते हैं। इस समस्या के समाधान में जो प्रथम सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है वह यह है कि यदि हमारे भीतर ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है तो एक ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिए जिसके भीतर वह शक्ति विद्यमान है और वह सत्ता आत्मा या मन है। कारण यह है कि शक्तिमान से पृथक् शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। पर राइल इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। इसके पीछे तर्क यह है कि अभिवृत्तिमूलक कथन निरुपाधिक कथन (Categorical Statement) न होकर एक **सोपाधिक कथन** (Hypothetical Statement) ही होते हैं। हम जानते हैं कि सोपाधिक कथन **द्विरुक्ति** (Tautology) मात्र होते हैं। वे न तो किसी सत्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं और न किसी सत्ता के अस्तित्व का निषेध ही करते हैं। वास्तव में अभिवृत्तिमूलक कथन एक नियम या विधि (Law) का ही प्रतिपादन करते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कथन करते हैं कि "वह व्यक्ति लालची है" तो इसका मन्तव्य यही है कि "यदि उस व्यक्ति के समक्ष लालच की स्थिति आएगी तो वह लालच का कार्य करेगा।" यह कथन द्विरुक्ति मात्र है जो तथ्यहीन है। तथ्यहीन होने के कारण वह न तो आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन कर सकता है और न उसका निषेध ही। अतः अभिवृत्तिमूलक कथनों के आधार पर किसी आत्मा या मन के अस्तित्व में विश्वास करना मूर्खता है।

मानसिक घटनाएँ
(Mental Occurrences)

राइल के अनुसार जिस प्रकार अभिवृत्तिमूलक कथन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते उसी प्रकार घटनामूलक कथन भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते। घटनासूचक कथन केवल यही सूचित करते हैं कि मन में कोई घटना घटित हुई है अथवा हो रही है। उदाहरण के लिए "हम चिन्तन करने में संलग्न हैं", "हम यह कार्य इतनी देर से कर रहे हैं", "हम सूचित कर रहे हैं" इत्यादि कथन मानसिक घटनाओं के सम्बन्ध में कथन कर रहे हैं। इन मानसिक घटनाओं की अभिव्यक्ति के लिए राइल ने दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है ; प्रथम, **सावधानीसूचक प्रत्यय** (Heed Concepts) एवम् द्वितीय, **उपलब्धिसूचक शब्द** (Achievement Words)। सावधानीसूचक प्रत्ययों के अन्तर्गत निम्न प्रक्रियाओं का समावेश किया जा सकता है जैसे ध्यान देना, केन्द्रित करना, अध्ययन करना, अभिरुचि दिखाना इत्यादि। साधारणतः इन्हें मन में घटित होने वाली घटनाओं के रूप में लिया जा सकता है किन्तु राइल इन्हें मन या आत्मा से सम्बन्धित घटनाओं के रूप में स्वीकार नहीं करते। उपर्युक्त घटनाओं को मन से सम्बन्धित करने का एक कारण यह है कि उन सभी घटनाओं में ध्यान देना (Attending) एक सामान्य तत्त्व है। पर ऐसा सोचना गलत है। सावधानीसचूक प्रत्ययों में जो हम "ध्यान देने" को सामान्य तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, वह इस कारण मान्य नहीं हो सकता क्योंकि सबमें ध्यान की मात्रा समान नहीं होती। ध्यान देने की विभिन्न प्रक्रियाएँ हो सकती हैं पर उनके अन्तर्गत मन या आत्मा को स्थापित करने के लिए समान मात्रा में ध्यान का अनुसंधान करना सही नहीं है।

घटनासूचक कथनों के अन्तर्गत राइल ने कुछ अन्य प्रकार की भाषीय उक्तियों का उल्लेख किया है जिन्हें **कृतिक शब्द** (Task Word) एवम् **उपलब्धि शब्द** (Achievement

Word) कहते हैं। कृतिक शब्द क्रिया-व्यापार की अभिव्यक्ति करते हैं जैसे धक्का देना, सुनना, टहलना इत्यादि। इसके विपरीत उपलब्धि शब्द क्रिया-व्यापार की अभिव्यक्ति न कर पराकाष्ठा (Culmination) की अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ प्रक्रिया न होकर पराकाष्ठा का प्रकाशन होता है। उदाहरण के लिए जीतना (Win), ढूँढ़ना, देखना, सिद्ध करना (Prove), ताला खोल देना (Unlock) इत्यादि शब्द उपलब्धि शब्द हैं। राइल ने कृतिक शब्दों एवम् उपलब्धि शब्दों में भेद कर यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि जिन मानसिक घटनाओं के आधार पर हम आत्मा के अस्तित्व में विश्वास कर बैठते हैं वे कृतिक शब्द न होकर उपलब्धि शब्द हैं जिनके लिए किसी आत्मा में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जे० एल० ऑस्टिन (J.L. Austin) (1911-1960)

गिलबर्ट राइल के बाद जे० एल० आस्टिन साधारण भाषा दर्शन अथवा भाषा-विश्लेषण के गणमान्य दार्शनिक हैं। साधारण भाषा दर्शन को ऑक्सफोर्ड दर्शन भी कहा जाता है क्योंकि ऑक्सफोर्ड इन दर्शन का मुख्य केन्द्र रहा है। यदि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय औपचारिक विश्लेषण का केन्द्र रहा है तो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय अनौपचारिक विश्लेषण का केन्द्र रहा है। सच पूछा जाय तो भाषा-विश्लेषण नाम केवल उस प्रकार की दार्शनिक गतिविधि के लिए प्रयोग किया जाता है जो 1950 के पश्चात् ऑक्सफोर्ड में विकसित हुआ। इस खण्ड में हम जे० एल० ऑस्टिन के विचारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

जीवन-वृत्त—जे० एल० ऑस्टिन 1911 में इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपना सारा दार्शनिक जीवन ऑक्सफोर्ड में व्यतीत किया। ऑस्टिन के अनुसार दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए किसी कृत्रिम भाषा की आवश्यकता नहीं है जैसा रसेल एवम् ट्रैक्टेटस के विटगेन्स्टाइन ने सोचा था। साधारण भाषा के विश्लेषण से ही दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रतिमान उनके दो सुप्रसिद्ध लेख **अदर माइण्ड्स** (Other Minds 1946) एवम् **ए प्ली फॉर एक्सक्यूसेज़** (A Plea for Excuses 1956) में देखा जा सकता है। बाद में उपर्युक्त दोनों लेख **फिलॉसॉफिकल पेपर्स** (Philosophical Papers 1961) में संगृहीत किए गए थे। ऑस्टिन की मृत्यु के बाद उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक **सेन्स ऐण्ड सेन्सिबिलिया** (Sense and Sensibilia 1962) प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने तार्किक प्रत्यक्षवादियों के इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Date) सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत किया है। उन्हीं दिनों उनकी एक दूसरी पुस्तक "**हाउ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स** (How to do things with Words 1962) प्रकाशित हुई जिसमें 1955 में ऑस्टिन द्वारा दिए गए विलियम जेम्स के भाषण संगृहीत हैं। ऑस्टिन एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। साधारण भाषा दर्शन में उनके अवदानों को सदा याद किया जायगा।

सामान्य परिचय—यद्यपि उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन एवम् ऑस्टिन दोनों साधारण-भाषा दर्शन के दार्शनिक हैं पर दोनों के विश्लेषण सम्बन्धी विचारों में थोड़ा अन्तर पाया जाता है। उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याओं का समाधान समस्याओं के विगलित होने में निहित है किन्तु ऑस्टिन के अनुसार समस्या का समाधान उनकी समाप्ति में नहीं है। सभी समस्याएँ छद्म समस्याएँ नहीं होतीं। कुछ समस्याएँ वास्तविक होती हैं जिनके विश्लेषण से सार्थक समस्याएँ प्रकाश में आती हैं। विश्लेषण से समस्या को देखने की नई दृष्टि उभर कर

सामने आती है तथा नए-नए प्रश्न एवम् वाद-विषय उभरते हैं। उनके अनुसार भाषा-विश्लेषण का लक्ष्य केवल निषेधात्मक न होकर भावात्मक भी है।

ऑस्टिन के विश्लेषणात्मक दर्शन के विषय में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि विश्लेषण के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया जा सकता। विश्लेषण के स्वरूप को स्पष्ट करने का अर्थ है अनौपचारिक विश्लेषण को औपचारिक विश्लेषण के रूप में परिवर्तित करना जो वदतोव्याघात है। अत: अनौपचारिक विश्लेषण-विधि को परिभाषित नहीं किया जा सकता। हम केवल उसको विभिन्न प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित व निदर्शित ही कर सकते हैं। ऑस्टिन ने विविध विषयों पर इसी विधि का प्रयोग किया है। अत: उनके विश्लेषणात्मक विधि का ज्ञान उनके विश्लेषण के विविध प्रयोगों में देखा जा सकता है। यहाँ हम ऐसे दो विषयों पर प्रकाश डाल रहे हैं जिन पर ऑस्टिन के विचारों के फलस्वरूप दार्शनिक चिन्तन में नवीन आयाम प्रगट हुए हैं। वे विषय हैं, निष्पादन-वचन (Performatice Utterances) एवम् वाक्-क्रिया (Speech Acts)।

निष्पादन-वचन
(Performative Utterances)

ऑस्टिन ने निष्पादन-वचनों पर प्रकाश डालकर भाषा-दर्शन के लिए एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है। अपनी पुस्तक "हाउ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स" (How to do things with words) में उन्होंने दो प्रकार के वचनों में भेद किया है : प्रथम, नियत वचन (Constantive Utterances) एवम् द्वितीय, निष्पादन वचन (Performative Utterances)। वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन की परम्परा प्रारम्भ से ही नियत वचनों तक ही सीमित रही है पर बीसवीं शताब्दी के मध्य में दार्शनिकों का ध्यान नियत वचनों से हटकर निष्पादन-वचनों पर केन्द्रित हो गया। इसी सन्दर्भ में दर्शन-शास्त्र में भाषीय प्रयोगों का महत्त्व बढ़ा है। ऑस्टिन ने ऐसे ही भाषीय प्रयोगों के स्पष्टीकरण के लिए निष्पादन वचनों की व्याख्या प्रस्तुत की। व्याकरण के अनुसार भाषा के कई प्रयोग हो सकते हैं : जैसे निर्देशात्मक (Indicative), प्रश्नवाचक (Interrogative), आज्ञासूचक (Inperative), आश्चर्यसूचक (Exclamatory)इत्यादि।

नियत वचन—नियत वचन वे वचन हैं जो संसार के तथ्यों के विषय में विवरण प्रस्तुत करते हैं। वे सत्य या असत्य होते हैं। सत्य-असत्य वचनों के साथ ऐसे वचनों का भी निरूपण किया गया जो न सत्य होते हैं और न असत्य वल्कि निरर्थक होते हैं।

निष्पादन वचन—निष्पादन वचन वे वचन हैं जो किसी तथ्य के विषय में सूचना प्रदान न कर किसी क्रिया का ही सम्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों में निष्पादन वचन वे वचन हैं जिनका उच्चारण स्वयं में एक क्रिया का निष्पादन है। उदाहरण के लिए "मैं इस महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ", "मैं अपनी गलती के लिए क्षमा माँगता हूँ", "मैं इस जहाज का नाम सम्राज्ञी एलिजावेथ रखता हूँ", "मैं आगामी शुक्रवार को आपके ऋण लौटाने का वादा करता हूँ" इत्यादि कथन निष्पादन वचन हैं। ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त वचन सूचनात्मक हैं पर वास्तव में वे निष्पादन वचन हैं जिनका वचन मात्र क्रिया को प्रदर्शित करता है। इनके माध्यम से मैं केवल कुछ कथन ही नहीं कर रहा हूँ वरन **इनके कथन में मैं कुछ**

क्रिया भी कर रहा हूँ। इनके कथन में मैं कुछ निष्पादन भी कर रहा हूँ। इसी प्रकार के कथनों को ऑस्टिन ने निष्पादन-वचन की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचन के विरोध में दो प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। प्रथम आपत्ति तो यह है कि यदि मैं अनायास कुछ दूँ कि मैं इस महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ तो इससे विवाह की प्रक्रिया का निष्पादन नहीं हो जाता। विवाह की प्रक्रिया वैध रूप में किसी विशिष्ट धार्मिक रीति से निष्पादित होनी चाहिए। ऑस्टिन के अनुसार इस प्रकार का आक्षेप निरर्थक है। क्योंकि जब कोई कहता है कि वह किसी महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार कर रहा है तो इसका निहितार्थ है कि वह किसी वैध धार्मिक अनुष्ठान द्वारा उस महिला को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर रहा है। इसके विषय में सन्देह प्रगट करने का कोई कारण नहीं है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि जब कोई व्यक्ति कहता है कि "मैं इस महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ" केवल किसी तथ्य का कथन मात्र नहीं है वरन् यहाँ विवाह की प्रक्रिया का निष्पादन भी हुआ है।

निष्पादन-वचन के विरुद्ध जो दूसरा आक्षेप लगाया जाता है वह यह है कि निष्पादन-वचन केवल निष्पादन क्रिया की ही अभिव्यक्ति नहीं करते, वे सूचना भी प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति विवाह की वेदी पर खड़ा होकर घोषित करता है कि "वह अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता है" तो वह केवल किसी क्रिया का निष्पादन ही नहीं कर रहा है वरन् वह हमें कुछ सूचनाओं को भी प्रदान कर रहा है। उपर्युक्त निष्पादन वचन में वह सूचित कर रहा है कि "वह उस महिला का वैध पति है" तथा "विवाह के पूर्व वह अविवाहित था" इत्यादि। इन सूचनाओं की अभिव्यक्ति नियत वचनों द्वारा ही की जा रही है। इस आक्षेप के उत्तर में ऑस्टिन कहते हैं कि किसी निष्पादन-वचन एवम् उसके निहितार्थ में अन्तर होता है। किसी निष्पादन वचन के निहितार्थ भले ही किसी प्रक्रिया को सम्पादित न करते हों पर निष्पादन वचन स्वयं किसी प्रक्रिया का ही सम्पादन करते हैं। अतः किसी निष्पादन-वचन के निहितार्थ के नियत वचन होने से मूल निष्पादन-वचन सूचनात्मक नहीं हो जाते।

ऊपर हमने देखा कि निष्पादन वचन वे वचन हैं जिनके कथन मात्र से किसी क्रिया का निष्पादन होता है। पर यह निष्पादन क्रिया शून्य में नहीं होती वरन् एक विशिष्ट परिस्थिति में घटित होती है। उस विशिष्ट परिस्थिति के कुछ नियम या विधान होते हैं जिनकी तुष्टि के ऊपर निष्पादन क्रिया आधारित होती है। विवाह के दृष्टान्त को ही ले लिया जाय। जब विवाह की वेदी पर खड़ा होकर कोई व्यक्ति घोषित करता है कि "मैं अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ" तो उसकी पृष्ठभूमि में कुछ परम्पराएँ अथवा परिस्थितियाँ होती हैं जिनके अनुसार कोई निष्पादन क्रिया घटित होती है। सामान्यतया निष्पादन के चार नियम हैं जिनका अनुसरण करने से निष्पादन क्रिया घटित होती है।

(i) रूढ़ियाँ या परम्पराएँ (Conventins)—निष्पादनता मात्र शाब्दिक कथन नहीं है, उसमें कोई न कोई क्रिया अवश्य घटित होती है। प्रत्येक निष्पादन वचन एक निश्चित सन्दर्भ व परिस्थिति में उच्चरित होता है। उस सन्दर्भ की कुछ परम्पराएँ होती हैं। अतः निष्पादन क्रिया का प्रथम नियम यह है कि किसी मान्य परम्परा के अन्तर्गत ही कोई निष्पादन वचन उच्चरित होता है तथा उस परम्परा में ही उपयुक्त स्थिति में उपयुक्त व्यक्ति द्वारा कुछ विशिष्ट उक्तियों का

कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए विवाह के अवसर पर यदि कोई व्यक्ति कहता है कि "मैं अमुक महिला को वैध पत्नी के रूप में स्वीकारता हूँ" इसे निष्पादन-वचन इसलिए माना जाता है कि उस निष्पादन कार्य की एक परम्परा है जिसमें उपयुक्त स्थिति में उपयुक्त व्यक्ति द्वारा निष्पादन कार्य किया जाता है।

(ii) परिस्थितियाँ—निष्पादन क्रिया का **द्वितीय नियम** यह है कि विशिष्ट परम्परा के अनुसार विशिष्ट परस्थिति भी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत कोई व्यक्ति निष्पादन-वचन उच्चरित करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति कक्षा में किसी कन्या को देखकर घोषित करता है कि "मैं अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ" तो इस कथन से विवाह की क्रिया का निष्पादन नहीं हो जाता।

(iii) विधि अथवा नियम—निष्पादन क्रिया का तृतीय नियम यह है कि कोई कथन निष्पादन-क्रिया को अभिव्यक्त करने वाला तब माना जायगा जबकि वह जिस निष्पादन क्रिया को सूचित कर रहा है वह पूर्णरूपेण परम्परागत विधियों अथवा नियमों के अनुसार सम्पादित की गई हो। उदाहरण के लिए यदि विवाह की सम्पूर्ण विधियों को सम्पन्न किए बिना ही कोई व्यक्ति घोषित करता है कि "मैं अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ" तो यह कथन निष्पादन-वचन कभी नहीं कहा जायगा।

(iv) निष्कपटता (Sincerity)—निष्पादन वचन की चौथी प्रागपेक्षा उसकी निष्कपटता अथवा सच्चाई है, जिसके साथ कोई व्यक्ति कोई कथन उच्चरित करता है। कुछ व्यक्ति ऐसे निष्पादन वचन उच्चरित कर देते हैं जिनके पीछे सच्चाई का अभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी महिला को केवल बाद में प्रवंचना के लिए या धोखा देने के लिए उच्चरित करता है कि "मैं अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ" तो वहाँ निष्पादनता विकृत हो जायगी।

जिस निष्पादन प्रक्रिया में उपर्युक्त चार नियमों का पालन किया गया हो तो **उसे सफल निष्पादनता** (Felicitous Performatives) की संज्ञा दी गई है। किन्तु यदि कोई ऐसी निष्पादनता हो जिसमें उपर्युक्त चार नियमों में किसी नियम का उल्लंघन हुआ हो तो उसे **निष्फल निष्पादनता** (Infelicitous Preformatives) की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसे हम एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति भारतीय प्रशासनिक सेवा में सफल हुआ है और उसकी सफलता से प्रसन्न होकर हम कहते हैं "मैं आपको बधाई देता हूँ" यह एक निष्पादन वचन है। यहाँ परम्परा, परिस्थिति व नियम सभी कुछ विद्यमान हैं। पर उपर्युक्त कथन से बधाई देने की प्रक्रिया निष्पादित तभी समझी जाएगी जब हम वास्तव में निष्कपट भाव से उसकी सफलता पर प्रसन्न हुए हों और साथ-साथ यह भी मानते हों कि इस सफलता का श्रेय उसी व्यक्ति को जाता है। इसके विपरीत यदि उस व्यक्ति की सफलता से वास्तव में हम प्रसन्न नहीं हुए हैं अथवा हम समझते हैं कि उसकी सफलता के पीछे किसी दूसरे व्यक्ति की भूमिका है पर फिर भी हमें झूठ-मूठ की बधाई देते हुए कहते हैं "मैं आपको बधाई देता हूँ" तो यह उक्ति निष्पादन प्रक्रिया में निष्फल समझी जाएगी क्योंकि इसमें निष्पादन प्रक्रिया के चतुर्थ नियम का उल्लंघन हुआ है।

इस सन्दर्भ में **ऑस्टिन ने विफलता (Misfire) एवम् दुरुपयोग** (Abuse) में भेद प्रदर्शित

किया है। निष्पादन क्रिया के उपर्युक्त चार नियमों में यदि प्रथम तीन नियमों में किसी नियम का उल्लंघन होता है तो निष्पादन प्रक्रिया ही विफल हो जाती है। उदाहरण के लिए बिना विवाह के अवसर के, बिना तदनुरूप परिस्थितियों के अथवा बिना विधियों का पालन के यदि कोई व्यक्ति कथन करता है कि "मैं अमुक महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ", तो उसके स्वीकार करने की निष्पादन क्रिया विफल (Misfire) समझी जायगी क्योंकि वास्तव में उपर्युक्त तीनों नियमों के उल्लंघन से निष्पादन क्रिया पूरी ही नहीं हुई। इसके विपरीत यदि निष्पादन क्रिया के चतुर्थ नियम निष्कपटता (Sincerity) का उल्लंघन किया गया तो निष्पादन क्रिया सम्पादित होते हुए भी उसका दुरुपयोग समझा जायगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति निष्कपट भाव द्वारा नहीं बल्कि कपट भाव से किसी महिला को अपनी वैध पत्नी के रूप में स्वीकार करता है, तो यह निष्पादन क्रिया की विफलता नहीं वरन् उसका दुरुपयोग (Abuse) है। यद्यपि ऑस्टिन ने इन दो ही प्रकार की असफलताओं का वर्णन किया है पर इन असफलताओं के अतिरिक्त भी अन्य असफलताएँ हो सकती हैं। उनकी पूर्ण सूची तैयार करना न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय। किसी नियम का पालन तो सीमित प्रकार से किया जा सकता है पर उसका उल्लंघन अनन्त प्रकार से किया जा सकता है जिनका पूर्ण वर्णन करना सम्भव नहीं है।

वाक् क्रिया
(Speech Act)

ऊपर हमने दो प्रकार के वचनों में भेद किया था : प्रथम नियत वचन एवम् द्वितीय निष्पादन वचन। **नियत वचन** में हम किसी तथ्य का उल्लेख करते हैं जो या तो सत्य होता है अथवा असत्य। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि "भारत एक प्रजातान्त्रिक देश है" यह नियत वचन है क्योंकि इसके द्वारा हमने एक तथ्य का वर्णन किया है जो सत्य है अथवा असत्य। इसके अतिरिक्त एक निष्पादन वचन होता है जिसमें हम किसी तथ्य का वर्णन न कर केवल एक क्रिया का ही निष्पादन करते हैं जैसे "मैं क्षमा माँगता हूँ" एक निष्पादन वचन है क्योंकि इसके कथन से ही किसी क्रिया का सम्पादन होता है। आगे चलकर ऑस्टिन ने कथन एवम् क्रिया के भेद को समाप्त कर वाक् (speech) को ही एक क्रिया (Act) के रूप में परिभाषित किया। इसके अनुसार जब हम कुछ कहते हैं तो क्रिया का ही तो निष्पादन करते हैं। अतः हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि वाक् क्रिया (speech Act) का विश्लेषण किया जाय एवम् वाक् क्रिया में किस प्रकार की क्रिया सम्पादित होती है उसके स्वरूप पर विचार किया जाय। ऑस्टिन ने विस्तारपूर्वक वाक् क्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

कोई भी दार्शनिक समस्या एवम् उसका समाधान शून्य में उत्पन्न नहीं होते। उनकी एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित वाक् क्रिया पर भी यही बात लागू होती है। ऑस्टिन ने आगे चलकर देखा कि उनके द्वारा स्थापित नियत वचन एवम् निष्पादन वचन में उतना भेद नहीं है जितना उन्होंने प्रारम्भ में सोचा था। उदाहरण के लिए सड़क पर चलते समय मुझसे किसी को चोट लग गई और मैंने कहा **"मैं क्षमा माँगता हूँ"** निश्चित रूप से यह निष्पादन वचन है। इसी स्थिति को हम दूसरे प्रकार से भी व्यक्त कर सकते थे : **"मुझे खेद है"**। हम

विचार करें तो इस कथन से भी क्षमा माँगने की क्रिया सम्पादित हो रही है और साथ-साथ यह भी सम्भव है कि यह कथन उस व्यक्ति की भावनात्मक स्थिति का विवरण प्रस्तुत कर रहा है। दूसरा उदारहण लीजिए। क्रिकेट के मैदान में अम्पायर ने कहा ओवर (over)। यह कथन निश्चित रूप में निष्पादन वचन है क्योंकि यह एक ओर से गेंद फेंकने की क्रिया को समाप्त करने का कार्य सम्पादित कर रहा है। पर साथ ही इसे नियत वचन का रूप भी दिया जा सकता है जिसके अनुसार उपर्युक्त कथन यह सूचित करता है कि एक ओर से छः गेंद फेंके जा चुके हैं। यहाँ सत्यता-असत्यता का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। ऐसे ही अनेक दृष्टान्तों के आधार पर ऑस्टिन ने निष्कर्ष निकाला कि नियत वचन एवम् निष्पादन वचन में उतना स्पष्ट भेद नहीं है जितना लोग समझते हैं। साधारणतया "आदेश देना", "सतर्क करना" इत्यादि कथन निष्पादन वचन माने जाते हैं तथा "कथन करना", "विवरण देना", "वर्णन करना" इत्यादि कथन निष्पादन वचन नहीं माने जाते। ऑस्टिन ने इनका प्रतिकार करते हुए कहा कि "कथन करना", "विवरण देना" अथवा "वर्णन करना" भी तो क्रिया को ही सम्पादित करना है। अन्त में ऑस्टिन ने निष्कर्ष निकाला कि वाक् ही क्रिया है, उच्चारण करना ही क्रिया है तथा सूचनात्मक कथनों को भी मूल क्रिया में समाहित करना दार्शनिक दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है। इस प्रकार निष्पादन-वचन उन्हें वाक् क्रिया पर विवेचन करने के लिए बाध्य करते हैं जिन पर अब हम विचार करेंगे।

वाक्क्रिया के प्रकार
(Kinds of Speech Act)

ऊपर हमने देखा कि नियत वचन व निष्पादन वचन में स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि कथन करना भी एक क्रिया है जिस पर ऑस्टिन ने पहले विचार नहीं किया था। नियत वचन को भी निष्पादन वचन के रूप में परिवर्तन कर उन्होंने नियत वचन एव्म निष्पादन वचन के द्वैत को समाप्त कर दिया। सभी प्रकार के कथनों को उन्होंने वाक् क्रिया के अन्तर्गत समाहित कर दिया।

ऑस्टिन के अनुसार वाक्-क्रिया के तीन भेद हैं—

(i) वचन कर्म (Locutionary Act),

(ii) वचनेतर कर्म (Illocutionary Act),

(iii) प्रभावी कर्म (Perlocutionary Act)।

इनमें हम प्रत्येक कर्म का पृथक्-पृथक् वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(i) वचन-कर्म (Locutionary Act)—वचन कर्म में हम किसी तथ्य का वर्णन करते हैं। इस प्रकार के कथन में तात्पर्य (Sense) एवम् निर्देश (Reference) दोनों पाया जाता है। जब हम कथन करने में किसी अर्थ या तात्पर्य की अभिव्यक्ति करते हैं तो उस वाक्क्रिया को वचन कर्म कहा जाता है।

ऑस्टिन के अनुसार वचन कर्म में तीन सहायक कर्म सम्मिलित होते हैं। प्रथम **उच्चारण क्रिया** (Phonetic Act) है जिसमें हम मात्र ध्वनि का उच्चारण करते हैं। किसी भी वाक्क्रिया के लिए उसका उच्चरित होना नितान्त आवश्यक है। वचन कर्म का यह प्रथम सोपान है। पर मात्र ध्वनि उच्चारण से पूर्ण वाक्क्रिया सम्पादित नहीं हो जाती। जिन शब्दों का हम वाक्क्रिया में

उच्चारण करते हैं उनका व्याकरण के नियमों के अनुसार विन्यस्त होना नितान्त आवश्यक है। विन्यस्त हुए बिना हमें उस वाक्य का बोध नहीं हो सकता। इसीलिए इसे **संबोध क्रिया** (Phatic Act) के नाम से अभिहित किया जाता है। पर किसी कथन के केवल साधारण ज्ञान से हमें उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। किसी कथन के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसके तात्पर्य (Sense) एवम् निर्देश (Reference) का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। जिस क्रिया के द्वारा यह कार्य सम्पादित होता है उसे **पक्षपदी क्रिया** (Rhetic Act) के नाम से पुकारा जाता है। उच्चारण क्रिया का दृष्टान्त देने की आवश्यकता है क्योंकि जब कभी कोई कथन-क्रिया सम्पादित होगी उसका उच्चारण तो करना ही पड़ेगा। उसी प्रकार यदि कोई कहता है कि "मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा" तो यह संबोध क्रिया होगी। पर इसी को जब हम इस प्रकार व्यक्त करें कि उसने कहा कि वह वहाँ पहुँच जायगा पक्षपदी क्रिया होगी। अर्थात् यदि किसी कथन को हम साक्षात् कथन (Direct Speech) द्वारा व्यक्त करते हैं तो वह संबोध-क्रिया का प्रतिनिधित्व करेगा। इसके विपरीत उसी कथन को जब हम परोक्ष कथन (Indirect Speech) द्वारा व्यक्त करते हैं तो वह पक्षपदी क्रिया को अभिव्यक्त करेगा।

(ii) वचनेतर कर्म (Illocutionary Act)—वचनेतर कर्म वे कर्म हैं जिनमें हम कुछ कथन करने में ही क्रिया का सम्पादन कर बैठते हैं। नियुक्त करना, निर्णय सुनाना वचनेतर कर्म है। यह मात्र अर्थबोध नहीं है। यहाँ केवल कथन मात्र नहीं किया जाता वरन् कथन करने में किसी क्रिया का भी सम्पादन किया जाता है। "सलाह देना" या "चेतावनी देना" इत्यादि क्रियाओं में हम कथन ही नहीं करते वरन् कथन करने में कुछ क्रिया को भी सम्पादित करते हैं। इसीलिए इन्हें वचनेतर कर्म की संज्ञा प्रदान की जाती है।

(iii) प्रभावी कर्म (Perlocutionary Act)—प्रभावी कर्म वे कर्म हैं जिनमें हम किसी कथन के द्वारा क्रिया को सम्पादित करते हैं। उदाहरण के लिए राजी करना, मनुहार करना, धमकी देना प्रभावी कर्म के भीतर आते हैं। अर्थात् जब कोई वाक्-क्रिया का कथन प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है तो उसे प्रभावी कर्म की संज्ञा प्रदान की जाती है।

मूल्यांकन

हमने गिलबर्ट राइल एवम् जे० एल० ऑस्टिन के विश्लेषणात्मक दर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस प्रकार के भाषा-विश्लेषण से किस कार्य की सिद्धि हो रही है ? राइल द्वारा वर्णित अभिवृत्तियों एवम् घटनाओं, कृतिक शब्द एवम् उपलब्धि शब्द इत्यादि विभाजन की हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है ? इसी प्रकार ऑस्टिन द्वारा वर्णित नियत वचन एवम् निष्पादन वचन तथा विभिन्न प्रकार की वाक्-क्रियाओं जैसे वचन कर्म, वचनेतर कर्म एवम् प्रभावी कर्म से हमें किस वस्तु की प्राप्ति हो सकती है ? विश्लेषणात्मक दर्शन के विरुद्ध इस प्रकार आक्षेप लगाना साधारण बात है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विश्लेषणात्मक दर्शन बिलकुल निरर्थक है। यह सही है कि राइल एवम् ऑस्टिन के विचार परम्परागत दार्शनिक समस्याओं एवम् उनके समाधानों से बिलकुल हटकर हैं। पर इससे उनके विचारों का महत्त्व घट नहीं जाता।

दार्शनिक चिन्तन के विकास-क्रम का सिंहावलोकन करते हुए ऑस्टिन ने दर्शन के

सम्बन्ध में अपने मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है। प्रारम्भ में दर्शन शास्त्र ही एक मात्र शास्त्र था जिसके अन्तर्गत सभी विशिष्ट विज्ञानों का समावेश होता था। जैसे-जैसे ब्रह्माण्ड के ज्ञान में वृद्धि होती गयी नए-नए शास्त्र एवम् विज्ञानों की उत्पत्ति होती गयी और उन शास्त्रों एवम् विज्ञानों ने दर्शन-शास्त्र से स्वतन्त्र अपने अस्तित्व का प्रतिपादन किया। तार्किक प्रत्यक्षवाद के काल में दार्शनिक एवम् गणितज्ञों के संकलित प्रयास के फलस्वरूप आकारिक तर्कशास्त्र के विज्ञान का उद्‌भव हुआ जिसने बाद में दर्शन शास्त्र से पृथक् अपने अस्तित्व को स्थापित किया। इतना ही नहीं दार्शनिक चिन्तन में अनेक प्रकार के विचारकों के योगदान के फलस्वरूप विचार की नई-नई शाखाएँ एवम् विधाएँ उत्पन्न होती गईं जिन्होंने आगे चलकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया। इसी क्रम में कुछ दार्शनिकों, वैयाकरणों एवम् भाषा-शास्त्रियों ने मिलकर भाषीय व्यवहारों एवम् कथनों का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप विश्लेषणात्मक दर्शन का उदय हुआ। ऑस्टिन को लगता है कि इस सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप एक ऐसे व्यापक भाषा-विज्ञान (Science of Language) का उदय हो जो दर्शन-शास्त्र से स्वतन्त्र केवल भाषा-विश्लेषण पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करे। राइल एवम् ऑस्टिन का भाषा-दर्शन इसी प्रकार के व्यापक भाषा-विज्ञान के विकास में एक महत्त्वपूर्ण सोपान के रूप में लिया जा सकता है।

12 संवृतिशास्त्र (आभासिकी)

(Phenomenology)

अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही "आभासिकी" शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। जे० एच० लैम्बर्ट (J.H. Lambert) ने आभासिकी शब्द का प्रयोग उन तमाम आभासों के लिए किया जो आनुभविक ज्ञान के मूल हैं। अर्थात् **लैम्बर्ट**[1] ने आभासिकी शब्द का प्रयोग आभासों के विज्ञान (Science of Appearances) के रूप में किया। **काण्ट** ने भी इसका प्रयोग बहुत कुछ इसी अर्थ में किया है। किन्तु **हेगल** ने अपनी पुस्तक फेनामेनॉलॉजी आव माइण्ड" (Phenomenology of Mind) में आभासिकी शब्द का प्रयोग एक बिलकुल विपरीत अर्थ में किया है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग "आत्मा के विज्ञान" (Science of Spirit) के लिए किया है। **मॉर्टिज़. लैजारस** (Mortiz Lazarus) ने आभासिकी एवम् मनोविज्ञान के बीच भेद करते हुए निवेदन किया कि आभासिकी मानसिक घटनाओं का मात्र वर्णन करती है किन्तु मनोविज्ञान उनके बीच कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा भी करता है।

एडमण्ड हुसर्रल (Edmond Husserl)—वह पहला व्यक्ति था जिसने आभासिकी शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण दर्शन के लिए किया। उन्होंने अपनी पुस्तक "लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन (Logical Investigation) के प्रथम संस्करण में आभासिकी को "आत्मनिष्ठ प्रक्रियाओं के वर्णनात्मक विश्लेषण" के रूप में परिभाषित किया था।[2] आभासिकी हमारे अनुभवों का केवल वर्णन ही नहीं करती वरन् उनके **सत्त्व** (Essence) या **प्रयोजन** (Reason) का भी अनुसंधान करने की चेष्टा करती है। आधुनिक आभासिकी का तत्त्वविज्ञान के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं है। वह अपना ध्यान **अनुभवों** (Experiences) पर ही विशेष रूप में केन्द्रित करती है। संसार में उन अनुभवों का कोई विषय है अथवा नहीं, इस पर उसका ध्यान नहीं जाता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आभासिकी अनुभव-प्रदत्त विषयों का एक वर्णनात्मक अध्ययन है। यहाँ हम हुसर्रल के दर्शन का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

एडमण्ड हुसर्रल (Edmand Husserl 1859-1938)

जीवन-वृत्त—एडमण्ड हुसर्रल का जन्म जर्मनी में हुआ था। वे अपने प्रारम्भिक शिक्षा काल में ही नक्षत्र विज्ञान एवम् गणित के गम्भीर विद्यार्थी थे। उन्होंने लीपजिग, बर्लिन एवम् वियना विश्वविद्यालयों से गणित की शिक्षा प्राप्त की। लीपज़िग विश्वविद्यालय में वे उस समय के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुण्ड (Wundt) की कक्षा में भी जाते थे जहाँ उनका परिचय मनोविज्ञान से हुआ। बाद में जब वे बर्लिन अध्ययन के लिए गए, वहाँ भी उनका विषय गणित

1. Lambert, J.H. Neues Organon 1864.
2. Phenomenology was defined as the descriptive analysis of subjective processes.

ही था किन्तु वहाँ उनकी अभिरुचि तर्कशास्त्र एवम् दर्शन के प्रति बढ़ी। बाद में वे पुनः वियना वापस लौट गए तथा वहाँ वे उस समय के प्रमुख विचारक ब्रेण्टेनो (Brentano) के सम्पर्क में आए। इन सभी बातों की जानकारी का स्पष्ट प्रभाव उनके दर्शन पर पड़ा है।

रचनाएँ—हुसर्रल ने 1900-1901 में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन** (Logische Untersuchungen) प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने मनोविज्ञानवाद एवम् प्रकृतिवाद दोनों का खण्डन किया। इस ग्रन्थ में उनकी आभासिकी अधिक विकसित नहीं हुई थी। प्रथम वे गणित दर्शन पर कार्य करते रहे पर इस स्तर पर वे मनोविज्ञान के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए थे। इस स्तर पर हुसर्रल की आभासिकी को वर्णनात्मक आभासिकी (Descriptive Phenomenology) कही जा सकती है। इसमें उन्होंने चेतना के विषयापेक्षी सिद्धान्त के आधार पर गणित एवम् तर्कशास्त्र की आधारभूत अवधारणाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी आभासिकी का वास्तविक रूप उनके बाद के ग्रन्थों **आइडियाज़** (Ideas) एवम् **कार्टीशियन मेडिटेशन्स** (Cartesian Meditations) में मिलता है।

आभास या दृश्य सत्ता का वास्तविक अर्थ
(Meaning of Phonomenon)

हुसर्रल ने आभासिकीय निरीक्षण के विषय को "आभास" या "दृश्य सत्ता" शब्द से अभिहित किया है। इस शब्द का आभासिकीय अर्थ कई अन्य प्रचलित अर्थों से पर्याप्त भिन्न है। अतः इस शब्द के आभासिकी अर्थ को समझने के लिए इसे अन्य प्रचलित अर्थों से पृथक् करना आवश्यक है।

(1) प्रथम आभास को सत से पृथक् किया जाता है; किन्तु आभासिकी में जब हम आभास या दृश्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका अर्थ सत् से पृथक् आभास नहीं है। निरीक्षण का विषय आभास है या सत् है, आभासिकी से उसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। आभासिकी में आभास का तात्पर्य **प्रदत्त मात्र** से है उसकी स्थिति चाहे जो कुछ भी हो।

(2) कभी-कभी आभास शब्द का स्वलक्षण वस्तुओं से भेद स्पष्ट किया जाता है। स्वलक्षण वस्तुएँ अपने को आभासों के माध्यम से वैसे ही प्रगट करती हैं जैसे ज्वर के माध्यम से रोग। आभासिकी में आभास शब्द का यह भी अर्थ नहीं है। आभासिकी को स्वलक्षण वस्तुओं में कोई रुचि नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल उस **प्रदत्त** (Given) से है जो विषय के रूप में उसके समक्ष उपस्थित होता है।

(3) प्राकृतिक विज्ञानों में आत्मा या दृश्य शब्द का प्रयोग उन घटना-विशेषों के लिए किया जाता है जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। किन्तु आभासिकी की दृष्टि से "आभास" शब्द का यह अर्थ पर्याप्त संकुचित है क्योंकि आभासिकी केवल प्रत्यक्ष के विषयों का ही अध्ययन नहीं करती, वह अप्रत्यक्ष विषयों का भी अध्ययन करती है। द्वितीय आभासिकी का सम्बन्ध वस्तुओं से उतना नहीं है जितना उनके स्वरूप (Structure) से है। आभासिकी प्रत्यक्ष, काल्पनिक या मननशील वस्तुओं का भी अध्ययन कर सकती है।

(4) आभासिकी प्रतीति (Appearance) का बौद्धिक विश्लेषण है। प्रतीति क्या है ? जो प्रतीत होता है वह प्रतीति है अर्थात् **जो अनुभव में अपने आद्यरूप में ग्राह्य होता है वही प्रतीति**

है। आद्य रूप में मात्र प्रदत्तता (Givenness) का ही अनुभव होता है। वह प्रतीति किस प्रकार उत्पन्न हुई, वह किस वस्तु की प्रतीति है, उसका वास्तविक कारण क्या है, वह सब बाद के विचार हैं। जो अनुभव में अपरोक्ष भाव से आद्यतम रूप में प्रदत्त होता है, वह सभी वैचारिक स्तरों से पूर्व (Pre-reflective level) की अवस्था है। आभासिकी का "आभास" आद्यतम रूप में प्रदत्त भाव है तथा आभासिकी उसी "आभास" का बौद्धिक अन्वेषण करता है।

(5) आभास अथवा दृश्य सत्ता के विषय में जो अन्तिम बात कही जा सकती है वह यह है कि "आभास" ही अर्थ-निरूपण का मूलाधार है जो वैयक्तिक चेतना के माध्यम से ही ढूँढ़ा जा सकता है। यदि किसी वस्तु के आद्य रूप को ग्रहण कर लिया जाय तो वह हर प्रकार के अर्थ-निरूपण का आधार बन सकता है। हुसर्रल की आभासिकीय विधि द्वारा जो आद्यरूप में प्रदत्त भाव स्पष्ट होता है वह अन्ततः एक अर्थ (Meaning) ही होता है। अतः कहा जा सकता है कि आभासिकीय अन्वेषण से जो प्राप्त होता है वह अर्थ ही है जो आभासिकी का मूल विषय है। **आभासिकी एक दृष्टि से मूल अर्थों का अनुसंधान है।**

अनुभव का स्वभाव

(1) अनुभव के स्वभाव के सम्बन्ध में हुसर्रल जर्मन दार्शनिक ब्रेण्टैनो (Brentano) से विशेष प्रभावित थे। भौतिक एवम् मानसिक घटनाओं के बीच भेद करते हुए ब्रेण्टैनो कहते हैं कि जहाँ भौतिक घटनाओं में कोई अभिप्राय नहीं होता वहाँ मानसिक घटनाओं का एक **अभिप्राय** (Intention) या **विषय** (Object) होता है जिसे ब्रेण्टैनो ने एक विशिष्ट नाम "**अभिप्रायमूलक अनस्तित्व**" (Intentional Inexistence) प्रदान किया है। इसी को उन्होंने दूसरे शब्दों में **अन्तर्भूत वस्तुनिष्ठता** (Immanent Objectivity) भी कहा है।

(2) यहाँ अभिप्रायमूलक अनस्तित्व एवम् अन्तर्भूत वस्तुनिष्ठता को स्पष्ट करना आवश्यक है। जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक मानसिक घटना अभिप्रायमूलक होती है अथवा उसका एक अभिप्राय या विषय होता है तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अभिप्राय या विषय एक आत्म-बाह्य सत्ता है। उदाहरण के लिए जब कोई ईश्वर के विषय में सोचता है या ईश्वर को प्रेम करता है तो इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि बाहर ईश्वर का अस्तित्व है। पर अन्य परिस्थितियों में कुछ मानसिक घटनाओं से बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व के विषय में आसानी से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं—"देवदत्त ने आलमारी से पुस्तक निकाली" यह कथन तब तक सत्य नहीं हो सकता जब तक कि बाह्य संसार में देवदत्त व पुस्तक का अस्तित्व न हो। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर तर्कशास्त्रियों ने अभिप्रायमूलक एवम् अनभिप्रायमूलक क्रियाओं के बीच भेद स्थापित किया है। "विचार करना", "इच्छा करना" अभिप्रायमूलक क्रियाएँ हैं क्योंकि इनके लिए संसार में वस्तुओं का होना अनिवार्य नहीं है पर "प्रत्यक्ष करना", "ज्ञान प्राप्त करना" अनभिप्रायमूलक क्रियाएँ हैं क्योंकि इनकी सार्थकता के लिए बाह्य संसार में विषय-वस्तुओं का होना अनिवार्य है।

(3) साभिप्राय होने के साथ मानसिक घटनाओं की तीसरी विशेषता यह होती है कि उन्हें अन्तर्दर्शन द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मानसिक घटनाएँ हमारे ज्ञान के अपरोक्ष विषय हैं। उदाहरण के लिए रंग एक भौतिक घटना है किन्तु रंग के प्रत्यक्ष का ज्ञान एक मानसिक घटना

है। किसी वस्तु का देखना उस वस्तु से एक पृथक् घटना है। प्रत्येक मानसिक क्रिया एक चेतन क्रिया है और इस चेतन क्रिया के द्वारा ही उसका स्वतः ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस चेतन क्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी दूसरी चेतन क्रिया की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती अन्यथा इस चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी।

(4) ब्रेण्टैनों के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया के तीन अवयव होते हैं : प्रथम **ज्ञाता** (Subject), द्वितीय **ज्ञेय या विषय** (Object) और तृतीय **ज्ञान-क्रिया** (Act of Knowing)। इनमें वस्तु का ज्ञान तो ज्ञान-प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु ज्ञाता एवम् ज्ञान का ज्ञान स्वतः उत्पन्न होता है। इनके ज्ञान के लिए किसी ज्ञान की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रेण्टैनों ने "वस्तु" को प्राथमिक (Primary) एवम् "ज्ञान की प्रक्रिया" को द्वितीयक (Secondary) वस्तु का नाम दिया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ब्रेण्टैनों का ज्ञान-विश्लेषण भारतीय दर्शन के प्रभाकर मीमांसा के ज्ञान-विश्लेषण से पर्याप्त मिलता-जुलता है। हुसर्रल की भाषा में आभासिकीय वर्णन (Phenomenological Description) विषयपरक (Noematic) होने के साथ ज्ञानपरक (Noetic) एवम् आत्मपरक (Hyletic) भी होना चाहिए।

(5) अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अभिप्रायमूलक विषय (Intended Object) का स्वभाव क्या है ? इस सम्बन्ध में ब्रेण्टैनों एवम् हुसर्रल के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ ब्रेण्टैनों के अनुसार अभिप्रायमूलक वस्तु एक विज्ञान (Idea) है वहाँ हुसर्रल के अनुसार अभिप्रायमूलक विषय यदि भौतिक वस्तु नहीं है तो यह मानसिक वस्तु भी नहीं है। उनके अनुसार अभिप्रायमूलक वस्तु एक **सामान्य वस्तु** (General Object), **सत्त्व** (Essence) या **सामान्य विज्ञान** (Eidos) है। हुसर्रल सभी प्रकार की मनोविज्ञानपरता (Psychologism) से अपने को दूर रखते हैं। वे वस्तुनिष्ठता के प्रेमी हैं। हुसर्रल की सामान्य वस्तु की कल्पना को निम्न प्रकार समझा जा सकता है। यहाँ उदाहरण के लिए हम तीन तर्क-वाक्य लेंगे—

(i) सॉक्रिटीज़ एक **मनुष्य** है।

(ii) सभी **मनुष्य** पंखहीन द्विपाद हैं।

(iii) **मनुष्य** एक बौद्धिक जानवर है।

उपर्युक्त तीनों तर्क-वाक्यों में "मनुष्य" शब्द का प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है—

(i) प्रथम तर्क-वाक्य में "मनुष्य" विधेय मात्र है जो हुसर्रल की "सामान्य वस्तु" नहीं है।

(ii) द्वितीय तर्क-वाक्य में "मनुष्य" शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में किया गया है, "सामान्य वस्तु" के रूप में नहीं। अतः यह भी हुसर्रल का "सत्त्व" नहीं है।

(iii) तृतीय तर्क-वाक्य में "मनुष्य" शब्द का प्रयोग न तो एक व्यक्ति के लिए किया गया है और न ही व्यक्तियों के समूह के लिए किया गया है बल्कि एक "सामान्य वस्तु" के लिए किया गया है। यही हुसर्रल का "सत्त्व" या सामान्य विज्ञान है। उनके अनुसार इस "सामान्य वस्तु" का ज्ञान उतना ही अपरोक्ष रूप में हमें प्राप्त होता है जितना कि विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान।

सामान्य वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभववादी मत की समीक्षा

(1) **लॉक के मत की समीक्षा**—अनुभववाद के अनुसार हमें अनुभव द्वारा केवल विशिष्ट वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है किसी सामान्य का नहीं। फिर भी भाषा में हम सामान्य पदों का प्रयोग करते हैं। अनुभववादी इस "सामान्य" की व्याख्या विशिष्ट अनुभवों के माध्यम से करने की चेष्टा करते हैं। **उनके अनुसार सामान्य केवल एक विशेषण या विधेय है** ; वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह नाममात्र है जिसकी संगति में संसार में किसी वस्तु का होना अनिवार्य नहीं है। लॉक के अनुसार हम मूर्त त्रिभुजों की सामान्य विशेषताओं को निष्कर्षित कर अपने मन में एक **अमूर्त त्रिभुज** के प्रत्यय का निर्माण कर लेते हैं जो स्वयं कोई विशिष्ट त्रिभुज नहीं है। यह अमूर्त सामान्य कोई वास्तविक त्रिभुज तो नहीं है पर इससे भाषा के संचरण में एवम् ज्ञान की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है। लॉक के मत की आलोचना में कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने दर्शन में जो एक अमूर्त प्रत्यय की कल्पना की वह एक तार्किक असम्भावना है।

(2) **बर्कले के मत की समीक्षा**—बर्कले अमूर्त प्रत्यय की कल्पना को एक तार्किक असम्भावना के रूप में लेते हैं। अमूर्त प्रत्यय एक काल्पनिक विचार है। पर यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि अमूर्त सामान्य प्रत्यय असम्भव है तो सामान्यता के प्रत्यय की व्याख्या कैसे की जा सकती है। इसके उत्तर में बर्कले ने कहा कि यद्यपि सामान्य प्रत्यय का कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु कभी-कभी निदर्शन के लिए विशिष्ट प्रत्यय को सामान्य प्रत्यय के **प्रतिनिधि** (Representative) के रूप में लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम एक विशिष्ट त्रिभुज को लेकर सिद्ध करते हैं कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है तो वह सभी त्रिभुजों पर समान रूप में लागू होता है। यहाँ विशिष्ट त्रिभुज ही सामान्य त्रिभुज का प्रतीक बन जाता है। पर हुसर्रल सामान्य के विषय में अनुभववादियों की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हैं। सामान्य की व्याख्या न तो विशिष्ट वस्तुओं के माध्यम से की जा सकती है और न विशिष्ट प्रतिमाओं के माध्यम से। बर्कले ने जो लॉक के अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन किया वह तो ठीक है पर उनका **प्रतिनिधित्व-सिद्धान्त** (Representation Theory) भी ठीक नहीं है। प्रश्न यह है कि यदि विशिष्ट प्रत्यय या विशिष्ट वस्तुएँ प्रतिनिधित्व करती हैं तो **किसका प्रतिनिधित्व करती हैं** ? सामान्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किए बिना प्रतिनिधित्व सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं है। किसी सामान्य पद का अर्थ उसके मूर्त प्रतिरूपों का अतिक्रमण करता है। इसी कारण हुसर्रल ने सामान्य पदों के अर्थ को **आदर्श समरूप-इकाइयों** (Ideal Identical Unities) के रूप में अभिहित किया है।

(3) **ह्यूम के मत की समीक्षा**—ह्यूम भी बर्कले की तरह अमूर्त सामान्य का निषेध करते हैं। उनके अनुसार न तो सामान्य वस्तु का कोई अस्तित्व है और न सामान्य प्रत्यय का ही। सामान्य केवल नाम या पद हैं जो विशिष्ट वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं।

हुसर्रल ह्यूम द्वारा प्रतिपादित सामान्य की व्याख्या से भी संतुष्ट नहीं हैं। यदि मान भी लिया जाय कि संसार में कोई सामान्य वस्तु नहीं है, सामान्य केवल शब्द या पद है तो भी प्रश्न उठेगा कि इन सामान्य पदों का अर्थ (Meaning) क्या है ? वह कोई वस्तु या प्रत्यय तो हो नहीं सकता। हुसर्रल के शब्दों में वह अर्थ **साभिप्राय वस्तु** (Intentional Object) ही होगी। हुसर्रल की यही सामान्य वस्तु (General Object) है।

सामान्य वस्तु का ज्ञान

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस सामान्य वस्तु का ज्ञान हमें किस प्रकार प्राप्त होता है ? हुसर्रल के अनुसार जिस प्रकार हमें प्रत्यक्ष द्वारा विशिष्ट वस्तुओं (Individual Objects) का ज्ञान प्राप्त होता है उसी प्रकार **समाकल्पन** (Apperception) द्वारा हमें सामान्य वस्तुओं (General Objects) का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष और समाकल्पन एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। हुसर्रल के अनुसार प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में हमें विशिष्ट वस्तु का ज्ञान इन्द्रिय-अनुभूति (Sense-Intuition) द्वारा प्राप्त होता है किन्तु सामान्य वस्तु का ज्ञान हमें निरुपाधिक अनुभूति (Categorical Intuition) द्वारा प्राप्त होता है। यही कारण है कि हुसर्रल ने आभासिकी को बौद्धिक निरीक्षण (Intellectual Observation) या विशुद्ध मनन (Pure Contemplation) के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की है। एक दूसरे स्थल[1] पर हुसर्रल ने जिस प्रक्रिया द्वारा हमें सामान्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रत्ययन-प्रक्रिया (Act of Ideation) कहा है।

आभासिकीय अपचयन
(Phenomenological Reduction)

अब तक हमने हुसर्रल की आभासिकी की निम्न तीन प्रमुख विशेषताओं को देखा—

(1) अभिप्रायमूलक अनुभव ही दार्शनिक विश्लेषण की वस्तु सामग्री है।

(2) आभासिकी "आनुभविक व्यक्ति-विशेष" (Empirical Individuals) एवम् सामान्य वस्तुओं (General Objects) के बीच मौलिक भेद स्वीकार करती है। आगे चलकर यही भेद तथ्य (Fact) एवम् सत्त्व (Essence) के भेद के रूप में प्रगट हुआ।

(3) आभासिकी इस बात पर भी विशेष बल देती है कि यदि तर्कशास्त्र के ज्ञान-मीमांसीय विश्लेषण को सापेक्षता एवम् मनोवैज्ञानिकता से मुक्त रखना है तो उसे सभी प्रकार के अस्तित्वपरक (Existential) विचारों से मुक्त ही रखना चाहिए।

ऊपर जो द्वितीय व तृतीय बात कही गई, आभासिकी में वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। ज्ञान-मीमांसा को अस्तित्वपरक विचारों से मुक्त रखने के लिए हुसर्रल ने एक विशिष्ट विधि का आविष्कार किया जिसे **आभासिकीय निलम्बन** (Phenomenological Reduction) की विधि कहते हैं। हुसर्रल ने इस विधि का प्रयोग विस्तारपूर्वक अपनी पुस्तकों **विज्ञान (Ideas), विशुद्ध आभासिकी (Pure Phenomenology)** एवम् **आभासिकीय दर्शन** (Phenomenological Philosophy) में सफलतापूर्वक किया है। इस विधि का प्रमुख उद्देश्य इस बात का अनुसंधान करना है कि जगत के साथ ज्ञानात्मक सम्बन्ध की स्थापना के लिए कौन-कौन तत्त्व आवश्यक हैं। इस विधि के द्वारा हम उन तमाम अनुभवातीत एवम् प्रागनुभविक अस्तित्वों को निलम्बित रखते हैं जिनकी ज्ञान में कोई उपयोगिता नहीं है। इस निलम्बन प्रक्रिया के द्वारा हम साधारण चेतना से पृथक् एक ऐसी **लोकातीत चेतना** (Transcendental Consciousness) तक पहुँचते हैं जो हमारे दार्शनिक ज्ञान का प्रस्थान-बिन्दु हो सकता है।

---

1. Ideen I, p. 117

एपोख़े (अलिप्तता)

जब हुसर्रल लोकातीत या अतीन्द्रिय अर्थ में अपचयन या निलम्बन की बात सोचते हैं तो वे सामान्यतया यूनानी शब्द एपोख़े (Epoche) अर्थात् अलिप्तता, असम्बन्धन, विमुखता इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह एक ऐसी आभासिकीय विधि है जिसके द्वारा विषय वस्तु से उसकी आकस्मिकता या तथ्यता का निरसन करती है क्योंकि उस पर सन्देह प्रगट किया जा सकता है। निस्सन्देह इस विधि से उस वस्तु के सन्दर्भ में स्वतःसत्ता या अस्तित्व का निराकरण नहीं हो जाता : केवल अपनी परात्मता में उसकी सत्ता का **कोष्ठीकरण** (Bracketing) हो जाता है। इसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि उस वस्तु के सन्दर्भ में सभी प्रकार के निर्णय निलम्बित कर दिए जाते हैं। इसीलिए हुसर्रल उक्त कोष्ठीकरण को **असम्बन्धन** (Disconnection), भी कहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका आधार डेकार्ट्स की सन्देह पद्धति है। पर डेकार्ट्स की सन्देह पद्धति व हुसर्रल की अपचयन विधि में दो मौलिक भेद हैं। डेकार्ट्स की सन्देह-विधि के अन्तर्गत स्वयं सत्ता या अस्तित्व पर सन्देह प्रगट किया जाता है पर अपचयन विधि किसी सत्ता का निराकरण न कर केवल हमारे प्राकृतिक दृष्टिकोण (Natural Standpoint) में परिवर्तन लाती है। दोनों के बीच दूसरा अन्तर यह है कि डेकार्ट्स की सन्देह पद्धति आत्म-तत्त्व तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है पर हुसर्रल की अपचयन विधि उसके सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन में सदैव सक्रिय रहती है।

अपचयन विधि
(Reduction Method)

अपचयन-विधि ज्ञान के वस्तुनिष्ठ तत्त्व को प्राप्त करने की विधि है। यह विधि आत्मनिष्ठ (Subjective) ही होगी क्योंकि जब तक कोई विषय हमारी चेतना से सम्बद्ध नहीं होगा तब तक उसके विश्लेषण द्वारा हम वस्तुनिष्ठ तत्त्व तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं ? पर यहाँ कठिनाई यह है कि आत्मनिष्ठ विधि से वस्तुनिष्ठ भाव को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? यह कठिनाई दूसरों के लिए भले ही सार्थक हो पर हुसर्रल के लिए इसमें कोई कठिनाई नहीं है। उनके अनुसार यह कठिनाई केवल इस कारण उपस्थित होती है क्योंकि हम चेतना के वास्तविक स्वरूप से बिलकुल अनभिज्ञ होते हैं। हम जानते हैं कि हुसर्रल के अनुसार प्रत्येक चेतना का एक विषय होता है जो चेतना में ही अन्तर्भूत वस्तुनिष्ठता के रूप में स्थित होता है। चेतना की एक दिशा होती है जो सदा विषयोन्मुख होती है। चेतना कभी भी रिक्त नहीं होती ; वह अनिवार्यतः किसी वस्तु की चेतना होती है। चेतना का विषय चेतना में ही स्थित है, अतः चेतना में प्रदत्त विषय वही विषय है जिस ओर चेतना उन्मुख है। इससे स्पष्ट है कि चेतना के ही विश्लेषण से चेतना में प्रदत्त विषय को ग्रहण किया जा सकता है। चेतना की विषयोन्मुखता में ही चेतना का विषय प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार आत्मनिष्ठ विश्लेषण से वस्तुनिष्ठ तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। इसमें न तो कोई आत्म-विरोध है और न विसंगति ही।

वस्तुनिष्ठ तत्त्व को प्राप्त करने की दिशा में जो दूसरी कठिनाई है वह यह है कि जब तक चेतना पूर्णतया परिष्कृत व शुद्ध नहीं होगी तब तक वस्तुनिष्ठ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। तो क्या हमारी चेतना पूर्णतया परिष्कृत है ? स्पष्ट है कि नहीं। वह अनेक प्रकार के

प्रभावों, विश्वासों एवम् विकारों से ग्रस्त है। हमारी जो सामान्य चेतन अवस्थाएँ हैं वे सभी चेतना की शुद्ध अवस्थाएँ नहीं हैं बल्कि वे अनेक प्रकार के प्रभावों से विकृत हैं। यदि चेतना को उसके मौलिक रूप में उसके आद्य एवम् प्राथमिक रूप में ग्रहण करना है तो चेतना को उसकी विकृतियों से मुक्त कर परिष्कृत करना होगा। हुसर्रल के अनुसार आभासिकीय विधि की यही उपादेयता है।

सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि दो प्रकार के विकार हमारी चेतना को विकृत कर देते हैं : प्रथम बाह्य विकार एवम् द्वितीय आन्तरिक विकार। जो बाह्य रूप से विकृत करने वाले विकार हैं वे हमारे सामान्य प्रकृतिवादी विश्वास हैं। उनके प्रति राग-द्वेष के कारण हमारी चेतना अपनी शुद्धता खोकर अशुद्ध हो जाती हैं। दूसरे प्रकार के जो आन्तरिक विकार हैं वे हमारी मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से उत्पन्न हैं। हमारी चेतना राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, भय, संवेग इत्यादि से ग्रस्त होती है जिनके कारण हम वस्तुनिष्ठ तत्त्व को ग्रहण करने में सदा असमर्थ होते हैं। हुसर्रल की आभासिकीय विधि चेतना को उपर्युक्त दो प्रकार के विकारों से मुक्त करने का मार्ग प्रशस्त करती है। इसीलिए कहा जाता है कि हुसर्रल की आभासिकी चेतना को परिष्कृत कर उसकी विषयोन्मुखता के परीक्षण की विधि है।

हुसर्रल के अनुसार अपचयन प्रक्रिया तीन स्तरों पर सम्पादित होती है—प्रथम, मनोवैज्ञानिक अपचयन, द्वितीय, मूर्तकल्पी अपचयन एवम् तृतीय परात्पर अपचयन जिन पर हम पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे—

(1) **मनोवैज्ञानिक अपचयन (Psychological Reduction)**—मनोवैज्ञानिक अपचयन में हम अपनी चेतना को सभी प्रकार की आत्मनिष्ठता, सापेक्षता व सांवेगिकता से मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। यदि हम अपनी चेतना में वस्तुनिष्ठता लाना चाहते हैं तो हमें अपने को सभी प्रकार के अन्धविश्वासों एवम् पूर्वाग्रहों से मुक्त रखना होगा। मनोवैज्ञानिक अपचयन में हम अपनी वैयक्तिक मानसिकता का कोष्ठीकरण करके वस्तुनिष्ठ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(2) **मूर्तकल्पी अपचयन (Eidetic Reduction)**—इस अपचयन के द्वारा हम चेतना को सभी प्रकार की प्राक्कल्पनाओं, विचारों, सिद्धान्तों एवम् मतवादों से मुक्त रखने की चेष्टा करते हैं। विभिन्न प्रकार के धार्मिक मताग्रहों (Dogmas) के कारण हम जीवन में वस्तुनिष्ठ तत्त्व तक पहुँच ही नहीं पाते। इनसे हमें अपनी चेतना को मुक्त रखना है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि यहाँ चेतना में प्रदत्त विषय को एक "सामान्य" के रूप में समझने की चेष्टा की जाती है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट वस्तु आत्मनिष्ठता से ग्रस्त होती है जिसके कारण वस्तुनिष्ठता को प्राप्त करना असम्भव होता है। "विशेष" आत्मनिष्ठ है पर "सामान्य" वस्तुनिष्ठ है। इसी कारण मूर्तकल्पी अपचयन द्वारा हम वस्तुनिष्ठ सामान्य को ग्रहण करते हैं।

(3) **परात्पर अपचयन (Transcendental Reduction)**—इसमें हम चेतना को सभी प्रकार के अस्तित्वों चाहे वे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक, से मुक्त करने का प्रयास करते हैं। इस स्थिति में चेतना सभी प्रकार की अभिप्रायमूलक वस्तुओं से मुक्त हो जाती है। इस आत्मा को हुसर्रल ने परात्पर आत्मा (Transcendental Ego) का नाम दिया है। यही दर्शन का गन्तव्य है।

विशुद्ध संवृति
(Pure Phenomena)

आभासिकीय विधि के विभिन्न स्तरों के अपचयन के बाद जो चेतना शेष बचती है उसे विशुद्ध संवृति (Pure Phenomena) का नाम दिया जाता है। यह ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से अतीत विशुद्ध वस्तुनिष्ठता का भाव है जिसे हुसर्रल ने विशुद्ध संवृति कहा है। पूर्णतया अपचयित चेतना में केवल **स्वतः प्रदत्तता** ही परिलक्षित होती है। इस स्तर में चेतना अपनी मुक्त विषयोन्मुखता में प्रदत्त भावों को स्पष्ट करती है। वस्तुतः जब चेतना की विषयोन्मुखता में 'विषय' स्पष्ट होता है तो वह विषय का सत्त्व (Essence) होता है, अस्तित्व नहीं। यहाँ अस्तित्व के विषय में सारे प्रश्न निरर्थक हो जाते हैं। इसी को हुसर्रल ने **आद्य प्रदत्तता** (Primordial Presentation) के नाम से अभिहित किया है। आद्य प्रदत्तता चेतना में अन्तर्भूत (Immanent) एवम् अतीत (Transcendent) दोनों है। विशुद्ध अपचयित संवृति की खोज वस्तुतः उन आद्य अर्थों (Primordial Meaning) की खोज है जिसके आधार पर हर चेतना में अर्थ प्रदर्शित होता है। हुसर्रल ने इस अर्थ के लिए अर्थग्राम (Noema) शब्द का प्रयोग किया है।

मूल्यांकन

हुसर्रल की आभासिकीय विधि की विशेषता यह है कि वे इसके माध्यम से एक ऐसे आद्य प्रदत्त तक पहुँचना चाहते थे जो हमारे सभी ज्ञान का आधार हो। इस तत्त्व तक पहुँचने के लिए उन्होंने चेतना के ऊपर तीन प्रकार की अपचयन-प्रक्रिया का प्रयोग किया : प्रथम, मनोवैज्ञानिक; द्वितीय, मूर्तकल्पी एवम् तृतीय, परात्पर। इन तीन प्रकार की अपचयन प्रक्रियाओं के आधार पर हम एक ऐसे सत्त्व तक पहुँचते हैं जो **ज्ञाता-ज्ञेय** से अतीत एक अतीन्द्रिय तत्त्व होता है। हुसर्रल का इस अतीन्द्रिय तत्त्व तक पहुँचने का उद्देश्य विशुद्ध रूप में ज्ञानमीमांसीय था। इसी कारण उन्होंने आभासिकी के तात्त्विक पक्ष पर बहुत ही कम विचार किया। उनके दर्शन में आत्म-तत्त्व एवम् जड़-तत्त्व का निलम्बन ही इसलिए किया गया जिससे कि वह विशुद्ध आद्य-प्रदत्तता तक पहुँच सके।

पर यहाँ हमारे समक्ष जो प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि क्या तात्त्विक अखण्ड चैतन्य को स्वीकार किए बिना हमारी कोई वैचारिक प्रक्रिया सम्पादित हो सकती है। यद्यपि अन्त में हुसर्रल को स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी आभासिकीय विधि अन्ततः एक अनुभवातीत आत्मनिष्ठता (Transcendental Subjectivity) की ओर ले जाती है पर इसका उन्होंने कहीं विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया है। आभासिकीय विधि अनेक स्तरों से होकर अग्रसर होती है। इन स्तरों में असम्बन्धन, अपचयन आदि की प्रक्रिया चलती रहती है। पर इन प्रक्रियाओं के चलने में यह भी तो स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसा कोई अनुभव-केन्द्र है जहाँ उपर्युक्त प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। इस प्रकार आभासिकीय विधि में एक आत्मनिष्ठता को स्वीकार करना ही पड़ता है अन्यथा आभासिकीय विधि संचरित हो ही नहीं सकती। इसीलिए हुसर्रल एक तात्त्विक आत्मनिष्ठता को स्वीकार करते हैं। पर यह तात्त्विक आत्मनिष्ठता साधारण आत्मनिष्ठता नहीं है। यह न तो मनोवैज्ञानिक आत्मनिष्ठता है और न ज्ञानमीमांसीय

आत्मनिष्ठता; वरन् एक तात्त्विक आत्मनिष्ठता है जो सभी प्रकार की क्रियाओं का अधिष्ठान है। वास्तव में यह एक सैद्धान्तिक एवं तार्किक अनिवार्यता है। इसी कारण हुसर्रल ने इसे **अतीन्द्रिय आत्मनिष्ठता** (Transcendental Subjectivity) के नाम से अभिहित किया है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन में शंकराचार्य अपने दर्शन को चैतन्य या आत्मा से प्रारम्भ करते हैं जो सभी प्रकार की चेतन क्रिया का आधार है, उसी प्रकार हुसर्रल ने भी अपने दर्शन का आरम्भ एक अतीन्द्रिय आत्मनिष्ठता से किया है। इसी कारण उनके दर्शन को **अतीन्द्रिय विज्ञानवाद** (Transcendental Idealism) की संज्ञा प्रदान की गई है।

13 अस्तित्ववाद
(Existentialism)

अस्तित्ववाद कोई वैचारिक सम्प्रदाय नहीं वरन् एक दृष्टि है। यह कोई पूर्णतया निश्चित एवम् सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं करता बल्कि इसका आविर्भाव ही इस प्रकार के प्रयत्नों के प्रतिवाद-स्वरूप हुआ है। यही कारण है कि एक दार्शनिक मत के रूप में इसका निर्धारण करना एक बहुत ही कठिन कार्य है। प्रत्येक अस्तित्ववादी विचारक एक प्रकार से पूर्णतया स्वतन्त्र चिन्तन करता है। उसे विचार की किन्हीं मान्य कोटियों में आबद्ध करना एक बहुत ही कठिन कार्य है। यही कारण है कि विभिन्न इतिहासकारों ने अस्तित्ववाद को अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने की चेष्टा की है। किसी ने इसे **आपात स्थिति का दर्शन** (Philosophy of Crisis) कहा है, किसी ने **अकर्मण्यता** (Inactivism) का पोषक तो किसी ने इसे **काफी हाउस के दर्शन** (Cafe Philosophy) के रूप में परिभाषित करने की चेष्टा की है। इन टिप्पणियों से एक बात तो स्पष्ट ही हो जाती है कि अस्तित्ववाद विभिन्न आयामों एवम् विचारों का दर्शन है। इस दर्शन की विविधता इस बात से भी प्रगट हो जाती है कि इतिहासकारों ने इसे विभिन्न प्रकार की उपाधियों से विभूषित किया है जैसे शून्यवाद, निराशावाद, मानववाद एवम् उत्कट व्यक्तिवाद। कभी-कभी इसे **अश्लील दर्शन** (Vulgar Philosophy) कहकर लांक्षित किया जाता है। उपर्युक्त टिप्पणियाँ अस्तित्ववाद के वास्तविक स्वरूप को तो स्पष्ट नहीं करतीं, उसे विकृत करने का अवश्य प्रयत्न करती हैं। इन विकृतियों को दूर करने के लिए अस्तित्ववाद को उसके ऐतिहासिक एवम् वास्तविक परिप्रेक्ष्य में विचार करना आवश्यक है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि अस्तित्ववाद कोई दार्शनिक निकाय नहीं वरन् एक दृष्टि है। इसी विलक्षणता के कारण दर्शन के क्षेत्र में इसका प्रवेश साहित्य के माध्यम से हुआ। अस्तित्ववादी दृष्टि की अभिव्यक्ति साहित्यिक रचनाओं—जैसे कहानियों, नाटकों, उपन्यासों इत्यादि में बड़े रोचक एवम् सार्थक ढंग से प्रगट हुई। ऐसी रचनाओं के पात्रों ने मानव के अन्तर्मन का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत किया। जब लोगों ने इन रचनाओं को पढ़ा तो इनके पात्रों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करके वे उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके। इन पात्रों में उन्होंने अपने प्रतिरूप को देखा और यह भी पाया कि उनके पीछे एक विशिष्ट दृष्टि है जिसे लेखक, कहानीकार अथवा उपन्यासकार प्रदर्शित करना चाहता है। साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से किसी तार्किक निकाय की स्थापना नहीं कर सकता, वह उनके द्वारा कोई "दृष्टि" ही प्रदान कर सकता है। यही भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ बीसवीं शताब्दी में **अस्तित्ववाद** के रूप में प्रस्फुटित हुईं।

अस्तित्ववाद के सामान्य सिद्धान्त
(General Principles of Existentialism)

(1) अस्तित्ववाद सत्त्व (Essence) की अपेक्षा अस्तित्व (Existence) की पूर्वता में विश्वास करता है। सत्त्व यह बताता है कि वस्तु क्या (What) है तथा अस्तित्व यह बताता है कि वस्तु यह (This) है। अस्तित्व एवम् सत्त्व में अस्तित्व पहले आता है और सत्त्व बाद में आता है। प्रथम किसी वस्तु का अस्तित्व होगा, तभी बाद में उसके भीतर गुणों की स्थापना की जा सकती है। यही कारण है कि अस्तित्ववाद सत्त्व की अपेक्षा अस्तित्व की पूर्वता में विश्वास करता है।[1]

(2) अस्तित्ववाद प्रकृतिवाद (Naturalism), जड़वाद (Materialism) एवम् निरपेक्ष विज्ञानवाद (Absolute Idealism) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। प्रकृतिवाद एवम् जड़वाद में जड़ता एवम् कारण-सिद्धान्त का आनयन पाया जाता है। इसी प्रकार निरपेक्ष विज्ञानवाद में मनुष्य निरपेक्ष तत्त्व के एक अभिकरण के रूप में ही कार्य करता है। इन दोनों में मनुष्य का अवमूल्यन होता है। इन सिद्धान्तों के विरुद्ध अस्तित्ववाद मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का दर्शन है जिसमें मनुष्य को प्रधानता दी जाती है।

(3) विज्ञान एवम् तकनीकी के प्रबल प्रभाव के कारण मनुष्य का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। मशीनी जीवन व्यतीत करते-करते मनुष्य भी मशीन होता जा रहा है। उसके सारे कार्य यन्त्रवत होते जा रहे हैं तथा उसकी मानवता का हनन होता जा रहा है। यह आपात स्थिति मानव के **अमानवीयकरण** (Dehumanisation) की प्रक्रिया है जिसके कारण मनुष्य की मानवीयता नष्ट होती जा रही है। इसी मानवीयता के रक्षण के लिए अस्तित्ववाद का उदय होता है। अस्तित्ववाद को इस बात का भय है कि इस मशीनी युग में मनुष्य कहीं खो न जाय। मनुष्य को उसकी मानवीयता विशिष्टता एवम् उसकी गरिमा की अनुभूति कराने के लिए अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव हुआ।

(4) अस्तिस्व एक **प्रक्रिया** (Act) है, वह केवल अवस्था (State) नहीं है। यह साध्यता से सिद्धता की ओर संक्रमण का संकेत करता है। अस्तित्ववाद **प्रेक्षक दृष्टि** (Spectator's View) से दर्शन का प्रतिपादन नहीं करता, वह **कर्त्ता की दृष्टि** (Actor's View) से दर्शन का प्रतिपादन करता है।

(5) मनुष्य साध्यता से सिद्धता की ओर संक्रमण तभी कर सकता है जब कि उसके भीतर **स्वाधीनता** या स्वतन्त्रता (Liberty) हो। मनुष्य को अपने अभीष्ट के चयन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

(6) मनुष्य शून्य में निवास नहीं करता। वह सदा एक **परिस्थिति** या वातावरण (Situation) में निवास करता है ; किन्तु वातावरण में निवास करने का यह अर्थ नहीं है कि वह **परिस्थितियों** का दास है। वह परिस्थिति द्वारा निर्धारित न होकर स्वयं परिस्थितियों को निर्धारित करता है।

(7) मनुष्य की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता जीवन में उसे **उत्तरदायित्व**

---

1. Existence precedes essence.

(Responsibility) प्रदान करती है। मनुष्य स्वतन्त्र व साथ-साथ उत्तरदायी प्राणी है।

(8) मनुष्य की स्वतन्त्रता का निहितार्थ है—**किसी पूर्व-स्थापित मानदण्ड की शून्यता** (Absence of Pre-existing Norms)। अस्तित्ववाद के अनुसार पूर्वस्थापित मानदण्ड मनुष्य की स्वतन्त्रता में व्याघात पहुँचाता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि वह भविष्य में क्या करेगा उसका निर्धारण कोई बाह्य अभिकर्त्ता चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, नहीं कर सकता।

(9) मनुष्य अपने को जीवन में नाना प्रकार के **विरोधाभासों** (Paradoxes) एवम् **अयुक्तियों** (Irrationalities) से आवृत पाता है। मनुष्य ने स्वयं ही अपने को इन विरोधाभासों एवम् अयुक्तियों से नियोजित (Engaged) नहीं कर रखा है, वरन् वह स्वयं इनसे अपने को नियोजित पाता है।

(10) वह महसूस करता है कि किसी ने उसे इस असंगत जगत में उठाकर फेंक दिया है और इस प्रकार उसमें एक **जुगुप्सा** (Nausea) की भावना उत्पन्न होती है।

(11) इस जगत में वह कभी-कभी अपने को **एकाकी** (Alone) महसूस करता है जिससे उसे **तीव्र व्यथा** (Anguish) का अनुभव होता है। यह उसकी स्वतन्त्रता का परिणाम है।

(12) अस्तित्ववाद की यह मान्यता नहीं है कि हमारे पास एक शरीर है बल्कि हम स्वयं शरीर हैं। सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि एक आत्मा होती है जिसके साथ एक शरीर संलग्न होता है। अस्तित्ववाद के अनुसार बात ऐसी नहीं है। हम स्वयं शरीर हैं। यह इसलिए है कि यहाँ मनुष्य को चिन्तक न मानकर एक कर्त्ता (Actor) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(13) अस्तित्ववाद यह नहीं कहता कि "मैं चिन्तन करता हूँ, अतः मेरा अस्तित्व है", बल्कि यह कहता है कि "मेरा अस्तित्व है, अतः मैं चिन्तन करता हूँ"। यहाँ विचारों की अपेक्षा अस्तित्व को प्राथमिकता प्रदान की गई है। हाइडेगर ने कहा था, "ज्ञान एक प्रकार का अस्तित्व है जो जगत में स्थित व्यक्तियों के भीतर पाया जाता है।"[1]

(14) संसार में मैं अकेला नहीं हूँ वरन् जगत व अन्य जीवात्माओं के साथ मेरा अस्तित्व है। मेरे व संसार के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।

(15) अस्तित्ववादियों ने ज्ञान, भावना व संकल्प के बीच पृथक्करण नहीं किया है। ज्ञान में भावना व संकल्प का समावेश होता है। "ज्ञान के भीतर भावप्रवण एवम् संकल्पात्मक विशेषताएँ पाई जाती हैं।"[2] इसीलिए ज्ञान को सहभागिता (Participation) के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की जाती है।

(16) ज्ञाता और ज्ञेय के संघ को ज्ञान की संज्ञा दी गई है। यहाँ दोनों के तादात्म्य को नहीं वरन् दोनों की एकता को ज्ञान की संज्ञा दी जाती है।

(17) अस्तित्ववाद में अस्तित्व का वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि यह हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। इसका कारण यह है कि अस्तित्व की कोई कोटियाँ नहीं

---

1. Knowing is a kind of being which belongs to being in the world.
2. Knowledge has its passionate and striving characteristics.

होतीं। इसे हम स्वानुभूति द्वारा ही जान सकते हैं। यह अमूर्त (Abstract) का दर्शन न होकर मूर्त (Concrete) का ही दर्शन है।

(18) अस्तित्ववाद मनुष्य को बौद्धिक (Rational) न मानकर अबौद्धिक (Irrational) ही मानता है। दर्शनशास्त्र में जो विचारधारा बुद्धि की अपेक्षा संकल्पशक्ति पर विशेष बल देती है उसे स्वच्छन्दवाद (Romanticism) की विचारधारा कहते हैं। अस्तित्ववाद बुद्धि की अपेक्षा संकल्प पर अधिक बल देने के कारण एक स्वच्छन्दवादी विचारधारा है।

अस्तित्ववाद की शाखाएँ

अस्तित्ववाद की दो शाखाएँ हैं : प्रथम ईश्वरवादी अस्तित्ववाद (Theistic Existentialism) एवम् द्वितीय निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद (Atheistic Existentialism)। इन दोनों के बीच केवल इतना अन्तर नहीं है कि ईश्वरवादी अस्तित्ववाद ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है एवम् निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद एवम् निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में ईश्वर को लेकर भेद तो है ही किन्तु उसका आधार पूर्णतया वैचारिक है। दोनों अस्तित्व की प्रथम अनुभूति से अपने दर्शन को प्रारम्भ करते हैं। दोनों के अनुसार अस्तित्व की प्रथम अनुभूति से व्यक्ति की आन्तरिकता का विकास होता है। इसी क्रम में **ईश्वरवादी अस्तित्ववाद** 'ईश्वर' को प्राप्त कर लेता है। उसे ईश्वर-आस्था में इस आन्तरिकता का आधार मिल जाता है। ज्ञान की दृष्टि से प्रथम अनुभूति वैयक्तिक थी किन्तु परिपक्व वैचारिक दृष्टि से ईश्वर-आस्था की दृष्टि से सम्पूर्ण परिवेश में आमूल परिवर्तन हो जाता है। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के अनुसार ईश्वर में विश्वास किए बिना वस्तुनिष्ठ शाश्वत मूल्यों की स्थापना नहीं की जा सकती है। ईश्वर आस्था हमारे अस्तित्व को पूर्णता प्रदान करती है। अतः ईश्वर का अस्तित्व हमारी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचाता। सोरेन कीर्केगार्ड (Soren Kierkegaard), गैब्रिएल मार्सेल (Gabriel Marcel), कार्ल यास्पर्स (Karl Yaspers) इत्यादि ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के समर्थक हैं।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के विपरीत **निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद** मनुष्य के विकास के लिए ईश्वर के अस्तित्व में आस्था को अनिवार्य नहीं मानता। वह अस्तित्व की प्रथम अनुभूति से ही अपने दर्शन को प्रारम्भ करता है और उसी के अनुरूप जीवन और अस्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य की स्वतन्त्रता में व्याघात पहुँचाता है जो अस्तित्ववाद के सिद्धान्त के बिलकुल प्रतिकूल है। अस्तित्ववाद व ईश्वरवाद के बीच सह-अस्तित्व असम्भव है। अस्तित्ववाद के लिए ईश्वर का अस्तित्व बिलकुल अप्रासंगिक है। निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद के अन्तर्गत मार्टिन हाइडेगर (Martin Heidegger), जीन पाल सार्त्र (Jean Paul Sartre) इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सोरेन कीर्केगार्ड

(Soren Kierkegaard 1813-1855)

जीवन-वृत्त—सोरेन कीर्केगार्ड डेनमार्क के निवासी थे। उनका जन्म 1813 में एक ईसाई परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने समय में ईसाई धर्मावलम्बियों की जो मनोवृत्ति देखी उससे

वे पर्याप्त उद्विग्न हुए और उन्होंने कहा कि ईसाई धर्म के शत्रु स्वयं ईसाई लोग ही हैं। वे स्वयं एक धार्मिक व्यक्ति थे और उन्होंने यह घोषणा की कि ईसाई परिवार में जन्म लेने से ही कोई ईसाई नहीं बन जाता वरन् उसे ईसाई बनने के लिए पर्याप्त प्रयास करना होता है। उन्होंने यह भी कहा कि गिरजाघर जाने से ही कोई सच्चा ईसाई नहीं बन जाता।

कीर्केगार्ड हेगल के समकालीन थे। उस समय दर्शन-जगत् में हेगल के विचारों का प्रभाव इतना प्रबल था कि कीर्केगार्ड के दार्शनिक विचारों को कोई मान्यता नहीं मिली। बीसवीं शताब्दी के मध्य में जब अस्तित्ववाद का विकास अपनी चरम सीमा को पार कर गया, लोगों ने देखा कि लगभग एक सौ वर्ष पहले उसी प्रकार के विचारों को प्रतिपादित करने वाला एक समर्थ विचारक उपस्थित था, उसके पश्चात् ही कीर्केगार्ड के प्रति लोगों की अभिरुचि बढ़ी। उनकी पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद होने लगा और लोगों को अनुभव हुआ कि कीर्केगार्ड ही वास्तव में अस्तित्ववाद के प्रणेता हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लेने के बाद भी समकालीन पाश्चात्य दर्शन में उनका पर्याप्त महत्त्व है।

रचनाएँ—कीर्केगार्ड की मौलिक रचनाओं में सर्वप्रथम उनका एक शोध-निबन्ध है जो बाद में **'द कॉन्सेप्ट आव आयरनी'** (The Concept of Irony) के रूप में 1841 में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने हेगल के दार्शनिक विचारों का जमकर खण्डन किया है। हेगल के विरुद्ध उनका अभियान अन्य रचनाओं में भी परिलक्षित होता है जैसे **आइदर-आर** (Either-Or 1843) एवम् **फिलॉसॉफिकल फ्रैग्मेण्ट्स** (Philosophical Fragments 1844)। उन्होंने ईसाई धर्म के ऊपर भी एक पुस्तक लिखी जिसे **प्रेम के चमत्कार** (Works of Love 1847) के नाम से अभिहित किया जाता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण

कीर्केगार्ड परिकल्पनात्मक दर्शन (Speculative Philosophy) के कट्टर विरोधी थे और साथ-साथ वे किसी दार्शनिक निकाय के निर्माण के पक्षधर नहीं थे। वे मनुष्य को किसी दार्शनिक निकाय के अन्तर्गत आबद्ध कर उसे परतन्त्र नहीं बनाना चाहते थे। इसी कारण वे हेगलवाद (Hegelianism) के पक्के विरोधी थे। उनके अनुसार जिस प्रकार परम्परावादी ईसाई ईसाई धर्म का शत्रु है उसी प्रकार हेगलवाद का समर्थक भी ईसाई धर्म का शत्रु है। किसी भी प्रकार के मताग्रह (Dogma) में आबद्ध हो जाने से मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। हेगल मनुष्य को द्वन्द्वात्मक प्रणाली के कटघरे में डालकर उसको परतन्त्र बना देता है। इसीलिए कीर्केगार्ड ने हेगलवाद पर कड़ा प्रहार किया और उन्होंने मनुष्य को किसी भी तात्त्विक, धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक तन्त्र से स्वतंत्र माना। उन्होंने बौद्धिक चिन्तन की सार्थकता को भी अस्वीकार किया क्योंकि बौद्धिक चिन्तन व्यक्ति-निरपेक्ष होता है। वह ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से प्रारम्भ होता है। जो ज्ञान ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से प्रारम्भ होता है, वह सापेक्ष और परोक्ष ज्ञान ही होता है। वास्तविक ज्ञान ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से अतीत होता है। मानवीय सत्यों का परोक्ष दर्शन सत्य की अनुभूति नहीं है। इनका ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है उन्हें धारण करना अथवा आत्मसात् करना। बौद्धिकता द्वारा यह कार्य सर्वथा असम्भव है।

कीर्केगार्ड **तत्त्व-ज्ञान** के लिए प्रेक्षक दृष्टि की अपेक्षा **कर्त्ता की दृष्टि** (Actor's View)

को अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि उन्होंने दर्शन के लिए वैज्ञानिक विधि को उपर्युक्त नहीं माना। विज्ञान किसी भी विषय (Object) को विषय के रूप में ग्रहण करता है। मनोविज्ञान भी मन को विषय के रूप में ही ग्रहण करना चाहता है। यहाँ तक कि वह आत्मा अथवा विषयी (Subject) को भी विषय के रूप में ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा करता है। परन्तु हम जानते हैं कि विषयी कभी भी विषय नहीं हो सकता। दार्शनिक ऐसी भूल इसलिए कर बैठते हैं क्योंकि **प्रेक्षक दृष्टि** (Spectator's View) से ही वे दार्शनिक चिन्तन करना चाहते हैं। यह ठीक है कि विज्ञान की दृष्टि सदा वस्तुवादी (Objectivistic) होती है किन्तु दर्शन विज्ञान नहीं है। उसकी दृष्टि विषयी की दृष्टि होती है। कीर्केगार्ड मनुष्य को एक विषय के रूप में नहीं, वरन् एक विषयी के रूप में ग्रहण करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि विषयी होना ही यथार्थ रूप में अस्तित्ववान होना है। भौतिक पदार्थों का यथार्थ अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे मात्र विषय हैं। वे कभी भी विषयी का रूप ग्रहण नहीं कर सकते। मनुष्य का भी मात्र विषय-रूप उसे यथार्थ अस्तित्व प्रदान नहीं कर सकता। वह अस्तित्ववान तभी होता है जब वह यथार्थ रूप में विषयी होता है।

कीर्केगार्ड बुद्धिवाद के भी प्रबल विरोधी थे। बुद्धिवाद मनुष्य के अमानवीयकरण को जन्म देता है। यह दो प्रकार से सम्भव होता है। प्रथम, बौद्धिक विश्लेषण शुष्क एवम् तटस्थ होता है जो सभी प्रकार के मानवीय गुणों को निर्जीव बना देता है। द्वितीय, बुद्धिवाद अपने विश्लेषण में सदा सार्वभौमिता और अनिवार्यता पर ही बल देता है जिसके कारण मानव की विशिष्टताएँ उपेक्षित हो जाती हैं। सार्वभौम एवम् अनिवार्य तत्त्व के अनुसंधान के प्रभाव के कारण मनुष्य एक प्रकार का अप्रामाणिक जीवन व्यतीत करने लगता है। वह अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं को भूलकर सम्प्रदाय द्वारा स्थापित नियमों द्वारा अपने जीवन को संचालित करता है। कीर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य का यह यथार्थ चित्र नहीं है। वे यहाँ तक कहने के लिए तत्पर हैं कि बुद्धिवादी प्रवृत्ति के कारण ही ईसाई धर्म एक सम्प्रदाय मात्र बनकर रह गया है। चर्च द्वारा जारी किए गए धार्मिक फतवे के द्वारा धर्म के निर्देश चलाए जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की अपनी धार्मिक आन्तरिकता का कोई मूल्य ही नहीं रह गया है।

बुद्धिवाद की एक दूसरी दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए कीर्केगार्ड का कथन है कि बुद्धिवाद वस्तुतः अवबोध, अनुभूति, चेतना इत्यादि का वास्तविक अर्थ समझ नहीं पाता। वह यह मानकर चलता है कि वे मात्र ज्ञानात्मक कोटियाँ हैं जिनमें भावना, संवेग एवम् संकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। कीर्केगार्ड के अनुसार यह बुद्धिवाद की परम भूल है। अनुभूति संज्ञानात्मक अवश्य है किन्तु वह अनिवार्यतः भावनात्मक भी है। इस भूल के कारण ही बुद्धिवाद अंधविश्वास में परिणत हो जाता है।

सत्य आत्मनिष्ठता है

(Truth is subjectivity)

प्लेटो के समय से ही सत्य को वस्तुनिष्ठता के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की गई है पर कीर्केगार्ड ने सत्य को आत्मनिष्ठता के माध्यम से परिभाषित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक कोई प्रतिज्ञप्ति हमारे जीवन में चरितार्थ न हो जाय अथवा उसे अपने जीवन में आत्मसात न कर लिया जाय तब तक उसे सत्य की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। जीवन

में कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जिनका समाधान वस्तुनिष्ठ ज्ञान द्वारा असम्भव होता है। उदाहरण के लिए नैतिकता, आस्था, जीवन-मूल्य सम्बन्धी प्रश्न ऐसे होते हैं जिनमें वस्तुनिष्ठ ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं होती। विज्ञान के निष्कर्षों को हम वस्तुनिष्ठ ज्ञान द्वारा सत्यापित या असत्यापित कर सकते हैं किन्तु उनमें निश्चयात्मकता का अभाव पाया जाता है। विज्ञान के निष्कर्षों को हम अन्य व्यक्तियों को संचरित भी कर सकते हैं। इसके विपरीत आत्मनिष्ठ विधि द्वारा जो निष्कर्ष स्थापित किए जाते हैं वे न केवल अनिवार्य होते हैं वरन् उन्हें दूसरे व्यक्तियों को संचरित करना भी कठिन होता है।

जिस प्रकार भारतीय दर्शन में जीवात्मा और विशुद्धात्मा में भेद किया जाता है उसी प्रकार कीर्केगार्ड ने "वैचारिक आत्मा" एवम् "अस्तित्ववान आत्मा" में भेद किया है। वैचारिक आत्मा को सत्यों की अनुभूति नहीं हो सकती क्योंकि वह प्रत्ययों एवम् अवधारणाओं के माध्यम से सत्य का अनुसंधान करने की चेष्टा करती है। विचारों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। यदि वैचारिक आत्मा सत्य का कोई चित्र प्रस्तुत करती है तो वह वैचारिक सत्य ही होगा, वास्तविक सत्य नहीं। वास्तविक सत्य की अवधारणा नहीं की जाती, उसे आत्मसात् करना होता है अथवा जीवन में चरितार्थ करना होता है। कीर्केगार्ड कहते हैं **"मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता जब तक कि वह जीवन में चरितार्थ न हो जाय।"**[1]

यदि उपर्युक्त विवेचन यथार्थ है तो इसका तात्पर्य यह है कि सत्य आन्तरिकता है, यह एक प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है। यह कहीं बाहर से हमारी चेतना पर आरोपित नहीं होता बल्कि भीतर से जागरित होता है। इसी कारण कीर्केगार्ड ने इसे आन्तरिकता के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है। ईश्वर के ज्ञान के सन्दर्भ में उन्होंने साक्षात्कार की प्रक्रिया को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यदि ईश्वर को हम वस्तुनिष्ठ रूप में जानना चाहें तो उसके लिए हमें कई युक्तियों का सहारा लेना पड़ेगा तथा कई साक्ष्य प्रस्तुत करने होंगे पर फिर भी इनसे हमें ईश्वर की अनुभूति नहीं हो सकती। वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया द्वारा हमें ईश्वर का केवल **सम्भाव्य ज्ञान** ही प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार की अनिश्चितता के कारण मन में एक आन्तरिक **व्याकुलता** उत्पन्न होती है। यदि यह व्याकुलता प्रबल रूप में भावनात्मक हो जाय तो सम्भाव्यता के सम्यक् विनियोग से व्याकुलता **आस्था** के रूप में प्रगट होती है। यही भावनात्मक सशक्त आस्था **ईश्वर-सत्य** है। इस प्रकार का सत्य किसी वस्तुनिष्ठ तत्त्व की प्राप्ति नहीं है, वरन् आन्तरिकता में ईश्वर का साक्षात्कार है।

उपर्युक्त सत्य की हम एक दूसरे प्रकार से भी व्याख्या कर सकते हैं। हमारे समक्ष वास्तविक प्रश्न यह है कि दो आत्माओं के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। दोनों के आत्मा अथवा विषयी होने के कारण उनके बीच वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि उनके बीच वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध की कल्पना की जाय तो उनमें से कम से कम एक का आत्म-रूप खण्डित हो जायगा। यदि आत्मा ईश्वर को वस्तुनिष्ठ रूप में जानती है तो इसका निहितार्थ यह है कि ईश्वर आत्म-रूप न होकर विषय-रूप हो जायगा जो सर्वथा अयथार्थ होगा। अतः, हम निष्कर्ष निकालते हैं कि आन्तरिकता द्वारा ही ईश्वर-साक्षात्कार सम्भव है।

1. Training in Christianity p. 47 "I donot know Truth except when it becomes life in me."

अस्तित्व की तीन स्थितियाँ
(Three Stages of Existence)

हम पहले ही देख चुके हैं कि मानवीय सत्य आत्मनिष्ठता में निहित है। अतः मानव-अस्तित्व के विकास में मनुष्य के समक्ष कुछ विकल्प उपस्थित होते हैं जिनमें उसे कुछ चयन करना होता है तथा इसी चयन के अनुरूप उसका जीवन अस्तित्व-रूप लेता है। कीर्केगार्ड के अनुसार ऐसे तीन अस्तित्वमूलक विकल्प हैं जो मनुष्य के समक्ष उपस्थित हो सकते हैं। इन तीन विकल्पों को उन्होंने क्रमशः संवेदनात्मक (Aesthetic), नैतिक (Ethical) एवम् धार्मिक (Religious) नाम दिया है। वास्तव में वे अस्तित्व के तीन सोपान न होकर तीन स्थितियाँ ही हैं क्योंकि इनके बीच कोई क्रमिक सम्बन्ध नहीं है। वे अस्तित्व के मात्र तीन विकल्प हैं जिनमें से मनुष्य किसी का भी चयन कर सकता है। कीर्केगार्ड के अनुसार कोई व्यक्ति जो संवेदनात्मक स्तर पर है किसी क्षण में नैतिक भी हो सकता है तथा किसी अन्य क्षण में धार्मिक भी। नैतिकता के जीवन का यह अर्थ नहीं कि उस स्थिति में संवेदनशीलता पूर्णतया समाप्त हो गई है। उनका वास्तविक अभिप्राय यह है कि मानव के समक्ष जो विकल्प हैं उन्हें सामान्यरूप में तीन स्थितियों में रखा जा सकता है। किसी प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर ही कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति संवेदनशीलता की स्थिति में है या नैतिकता की या धार्मिकता की। वैसे तो किसी भी स्थिति में अन्य स्थितियों की प्रवृत्तियाँ भी परिलक्षित हो सकती हैं। अब हम इन तीनों स्थितियों का पृथक्-पृथक् विवरण प्रस्तुत करेंगे।

(1) **संवेदनात्मक स्थिति**—कीर्केगार्ड के अनुसार संवेदनात्मक स्थिति की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं : प्रथम, ऐन्द्रिक तात्कालिकता (Sensual Immediacy), द्वितीय, संशय (Doubt) एवम् तृतीय, नैराश्य (Despair)। इन तीन लक्षणों को सूचित करने के लिए उन्होंने तीन प्रमुख ऐतिहासिक चरित्रों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ऐन्द्रिक व्यक्ति प्रारम्भ में **डॉन जुवान** (Don Juan) होता है जो सुख-भोग की प्रवृत्तियों को अनियन्त्रित छूट दिए रहता है। पर हम जानते हैं कि ऐन्द्रिक सुख क्षणिक व अस्थायी होता है जिसके कारण वह हमें स्थायी व शाश्वत सुख से सदा वंचित रखता है। अतः बाद में उसके मन में सुख के प्रति संशय उत्पन्न होता है जिसकी अभिव्यक्ति ऐतिहासिक चरित्र **फास्ट** (Faust) द्वारा होती है। अन्त में इस प्रकार का संशय नैराश्य को उत्पन्न करता है। उसे प्रतीत होता है कि जिस सुख भोग के पीछे वह आतुर होकर भाग रहा था वह केवल एक मृग-मरीचिका है जिसे प्राप्त करना असम्भव है। इस नैराश्य की स्थिति को सूचित करने के लिए कीर्केगार्ड घुमक्कड़ यहूदी **एहासेन्रस** (Ahasenrus) को प्रतीक मानते हैं। इस नैराश्य को वे **संवेदनात्मक नैराश्य** (Aesthetic Despair) की संज्ञा प्रदान करते हैं।

(2) **नैतिक स्थिति**—ऊपर हमने देखा कि संवेदनात्मक स्थिति की तार्किक परिणति नैराश्य में होती है। यही नैराश्य मनुष्य को संवेदनात्मक स्थिति से नैतिक स्थिति की ओर जाने के लिए विवश करता है। नैराश्य का वास्तविक कारण क्या था ? प्रथम स्थिति में मनुष्य स्वार्थ केन्द्रित होता है जिसके कारण अन्त में उसे निराशा ही प्राप्त होती है। वह एकाकीपन भी महसूस करता है। इस असन्तुलन को दूर करने के लिए उसे आवश्यकता प्रतीत होती है कि वह स्वार्थ की परिधि का अतिक्रमण कर परार्थ पर ध्यान केन्द्रित करे। अब वह 'स्व' का परित्याग कर

परिवार, समाज, राज्य इत्यादि से अपने को सम्बन्धित करने लगता है और उनके अनुरूप दायित्व उठाने का संकल्प करता है। इस स्थिति में वह सामाजिक प्राणी बन जाता है तथा नैतिक आदर्शों के अनुसार वह परहित में अपने को नियोजित करता है। नैतिक स्थिति में 'परार्थ' से सम्बन्धित होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वहाँ व्यक्ति की वैयक्तिकता का सर्वथा हनन हो जाता है क्योंकि परार्थ से संयुक्त होने का निर्णय वैयक्तिकता का ही निर्णय है।

पर कीर्केगार्ड मनुष्य की नैतिक स्थिति से भी संतुष्ट नहीं है। यह 'यथार्थ' एवम् 'आदर्श' के द्वन्द्व की स्थिति होती है। नैतिकता के आदर्श अमूर्त होते हैं जिन्हें व्यवहार में चरितार्थ करना कठिन ही होता है। विशेष परिस्थिति में यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन सा कार्य वस्तुतः नैतिक है अथवा अनैतिक। वास्तविक परिस्थितियों में नैतिक नियम किसी विकल्प के चयन में निर्णायक रूप में सहायक सिद्ध नहीं होते। नैतिक नियमों की इस विफलता से भी मनुष्य के मन में एक नैराश्य उत्पन्न होता है जिसे कीर्केगार्ड ने **नैतिक नैराश्य** (Ethical Despair) की संज्ञा प्रदान की है। नैतिक स्थिति में इस नैराश्य का निदान प्रायः असम्भव ही होता है। इस निदान के लिए एक उच्चतर स्थिति की आवश्यकता होती है जो धार्मिक स्थिति है।

(3) **धार्मिक स्थिति**—कीर्केगार्ड के अनुसार नैतिक स्थिति में नैतिकता की सम्पुष्टि (Fulfilment) असम्भव है। इसके लिए धार्मिक स्थिति की आवश्यकता होती है। पर कीर्केगार्ड द्वारा प्रतिपादित धार्मिक स्थिति सामान्य प्रचलित धार्मिक स्थिति से सर्वथा भिन्न है। साधारणतया आधुनिक जीवन में मानव जिसे धार्मिकता का नाम देता है वह नैतिकता से भिन्न नहीं है। यहाँ भी नैतिकता के स्तर के समान कुछ धार्मिक आदेशों को सर्वोपरि मान लिया जाता है तथा उन्हीं के अनुरूप जीवन-यापन को धार्मिकता की संज्ञा दी जाती है। पर कीर्केगार्ड के अनुसार धार्मिकता का यह बाह्य आवरण वास्तविक धार्मिकता नहीं है। वास्तविक धार्मिकता धर्म की आन्तरिक अनुभूति है जिसमें व्यक्ति हर प्रकार के संस्थागत, नैतिक अथवा धार्मिक आदेशों से अतीत हो जाता है। कीर्केगार्ड के अनुसार यह सघन आस्था (Faith) का स्तर है जहाँ मानव के लिए सभी प्रकार के धार्मिक आदेश नगण्य हो जाते हैं।

नैतिक निराशा से धार्मिकता की ओर संक्रमण की प्रक्रिया के लिए कीर्केगार्ड ने एक विशेष पद-समूह का प्रयोग किया है जिसे **"नैतिक का सोद्देश्य निलम्बन"** (Teleological Suspension of the Ethical) कहा है। यहाँ सभी प्रकार के नैतिक आदेश निरर्थक हो जाते हैं। यहाँ आन्तरिक आस्था (Internal Faith) का विशेष महत्त्व होता है।

कीर्केगार्ड ने आन्तरिक आस्था की व्याख्या के लिए अब्राहम एवम् ईसाक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। ईसाक अब्राहम के एक मात्र पुत्र थे। पुत्र होने के कारण अब्राहम का उसके प्रति प्रेम स्वाभाविक था। एकाएक एक दिन अब्राहम को ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ कि वह ईसाक की बलि चढ़ा दे। अब्राहम ईश्वरीय आदेश का पालन करने के लिए पुत्र को एकान्त स्थल पर बलिदान के लिए ले जाते हैं और बलि देने का सारा उपक्रम तैयार करते हैं। किसी भी नैतिक एवम् धार्मिक दृष्टि से अब्राहम का यह कार्य उचित नहीं ठहराया जा सकता पर फिर भी इसे धार्मिकता का सर्वोत्तम उदाहरण समझा जाता है। साधारण दृष्टि से अपने ही पुत्र की बलि देना एक जघन्य अपराध है पर फिर भी इसे धार्मिकता का सर्वोत्तम उदाहरण क्यों माना जाता है ?

बात यह है कि जिस समय अब्राहम अपने पुत्र ईसाक की बलि चढ़ाने का उपक्रम कर रहे थे, वे नैतिक एवम् धार्मिक आदेशों से बिलकुल अतीत थे। उनकी ईश्वर के प्रति इतनी सघन आस्था थी कि ईश्वरीय आदेश के प्रति पूर्ण समर्पण के सिवा उनके पास कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। यहाँ नैतिक और धार्मिक आदेशों का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ अगर किसी बात का महत्त्व है तो वह ईश्वर के प्रति उनकी आस्था का है। इसी कारण अब्राहम को आस्था का प्रणेता (Father of Faith) माना जाता है।

मार्टिन हाइडेगर

(Martin Heidegger 1889-1976)

जीवन-वृत्त—मार्टिन हाइडेगर का जन्म 1889 में जर्मनी के एक रोमन कैथॉलिक परिवार में हुआ। प्रारम्भ में उन्होंने शास्त्रीयवाद (Scholasticism) का अध्ययन किया तथा बाद में उन्होंने विण्डलबैण्ड (Windelband) एवम् रिकर्ट (Rickert) के संरक्षण में शिक्षा प्राप्त किया। उसके बाद वे सुप्रसिद्ध संवृतिशास्त्री हुसर्रल (Husserl) के प्रभाव में आए। अनेक वर्षों तक वे दर्शनशास्त्र के अध्यापक भी रहे।

हाइडेगर हुसर्रल के संवृतिशास्त्र से विशेष प्रभावित थे जिसके फलस्वरूप उन्होंने संवृतिपरक विश्लेषण को विशेष महत्त्व प्रदान किया। उनके अनुसार संवृतिशास्त्रीय विधि (Phenomenological Method) ही दर्शन शास्त्र के लिए सबसे अधिक उपयोगी विधि है। परन्तु हुसर्रल की तरह वे मात्र संवृति (Phenomena) तक ही अपने को सीमित नहीं करना चाहते थे। दर्शन शास्त्र का प्रमुख विषय आभास नहीं वरन् सत् (Being) है और सत् का सत् के रूप में ही अध्ययन होना चाहिए। दर्शन का मौलिक स्वरूप सत्ताशास्त्र (Ontology) है जिसका प्रमुख उद्देश्य सत् के स्वरूप का निरूपण करना है। यहाँ सत् से हाइडेगर का तात्पर्य उस मौलिक तत्त्व से है जिसके कारण विशिष्ट वस्तुओं का संसार में अस्तित्व है। अर्थात् सत् से उनका तात्पर्य उस सार्वभौम सत् (Universal Being) से है जो संसार की सभी सत्ताओं का अधिष्ठान है।

रचनाएँ—हाइडेगर ने मुख्य रूप से तत्त्व विज्ञान के ऊपर पुस्तकें लिखी हैं जिनमें **बीइंग एण्ड टाइम** (Being and time 1927) एवम् **ह्वाट इज मेटाफिजिक्स** (What is Metaphysis) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण

हाइडेगर के दर्शन का मूल लक्ष्य सत् (Being) का अन्वेषण है। वे एक ऐसी प्राथमिक सत्तामीमांसा (Ontology) का निर्माण करना चाहते थे जो सत् के मूलभूत स्वभाव का उद्घाटन करे। यह उद्घाटन मानव-अस्तित्व के विश्लेषण से ही सम्भव है। सत् का साक्षात्कार मानव के माध्यम से ही सम्भव है। यद्यपि हाइडेगर के दर्शन में मानव-अस्तित्व का विश्लेषण साधन है और सत् का साक्षात्कार साध्य; किन्तु यहाँ साध्य की अपेक्षा साधन पर अधिक बल दिया गया है। इसी कारण उन्हें एक प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिक के रूप में दर्शनशास्त्र में गणना की जाती है।

हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि हाइडेगर हुसर्रल की संवृतिशास्त्रीय विधि से

विशेष-रूप से प्रभावित थे। पर उनका संवृतिशास्त्र हुसर्रल के संवृतिशास्त्र से थोड़ा भिन्न है। हुसर्रल अपनी आभासिकीय विधि द्वारा एक ऐसे आद्य प्रदत्त (Primitive Datum) तक पहुँचना चाहते थे जो हमारे सभी ज्ञानों का आधार हो। आभासिकी के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः ज्ञानमीमांसीय था, पर हाइडेगर ज्ञानमीमांसा की अपेक्षा तत्त्वमीमांसा पर अधिक बल देते थे। उनकी आभासिकीय दृष्टि की सार्थकता इस बात में निहित है कि उस दृष्टि से जो आद्य प्रदत्त प्राप्त होता है कि सत् (Being) की कहाँ तक अभिव्यक्ति करता है। उनके अनुसार सत्ता-दर्शन आभासिकी के रूप में ही सम्भव है। सत् हमारे लिए प्रच्छन्न ही होता है। वह सदा हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। आभासिकी की सार्थकता इस बात में निहित है कि उसके माध्यम से प्रच्छन्न सत् पूर्ण रूप में उद्घाटित हो जाय। अतः हुसर्रल की आभासिकी एवम् हाइडेगर की आभासिकी के बीच दो प्रकार से अन्तर किया जा सकता है। प्रथम हुसर्रल की आभासिकी केवल आभास या आद्य-प्रदत्त तक ही सीमित है पर हाइडेगर की आभासिकी आभास का अतिक्रमण कर सत्ता का अन्वेषण (Discovery of Being) करना चाहती है। द्वितीय हुसर्रल की आभासिकी का सम्बन्ध अनुभूत सत्ताओं (beings) से है जो आद्य रूप प्रदत्त सत्त्वों (Essences) को ग्रहण करती है। इसके विपरीत हाइडेगर की आभासिकी केवल अनुभूत सत्ताओं (beings) तक ही सीमित नहीं है वरन् वह अनुभूत सत्ताओं का अतिक्रमण कर मूलभूत तात्त्विक सत् (Being) तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उनकी आभासिकी का लक्ष्य पूर्ण रूप में तात्त्विक है पर हुसर्रल अपनी योजना में तात्त्विक प्रश्नों में उलझना नहीं चाहते।

सत् एवम् सत्ताएँ (Being and beings)

हम पहले ही देख चुके हैं कि हाइडेगर एक ऐसी सत्ता-मीमांसा का निर्माण करना चाहते थे जो सभी सत्ताओं का अधिष्ठान हो। उनके अनुसार परम्परागत तत्त्व मीमांसा का सम्बन्ध अनुभूत सत्ताओं एवम् उनके पारस्परिक सम्बन्धों तक ही सीमित था। इन विभिन्न अनुभूत सत्ताओं के आधार पर वह सत् के स्वरूप का परिकल्पनात्मक चिन्तन करना चाहता है। पर हाइडेगर के अनुसार इस प्रकार का अमूर्त चिन्तन सत् के स्वभाव को अधिगृहीत नहीं कर सकता। अतः परम्परागत तत्त्वमीमांसा एवम् हाइडेगर की सत्ता-मीमांसा के बीच अन्तर स्पष्ट करने के पहले सत् एवम् सत्ताओं के बीच अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है।

हाइडेगर ने सत् के लिए जर्मन शब्द सीन (Sein) का प्रयोग किया है तथा सत्ताओं के लिए जर्मन शब्द सायण्ड्स् (Seiendes) का प्रयोग किया है। उनके अनुसार हमारे सामान्य आनुभविक एवम् वैज्ञानिक ज्ञान के विषय सत्ताएँ (beings) हैं पर दार्शनिक अन्वेषण का विषय सत्ताएँ नहीं वरन् सत् (Being) है। इन दोनों के बीच वास्तविक अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सत्तात्मक कथनों (Ontological Statements) एवम् सम्बन्धात्मक कथनों (Ontical Statements) के बीच भेद करना अनिवार्य है। सत्तात्मक कथन वे कथन हैं जिनमें सत्ताओं में निहित सत् एवम् सत् की सम्पूर्ण सम्भावनाओं के विषय में कथन किया जाता है। इसके विपरीत सम्बन्धात्मक कथनों द्वारा हम संसार की वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में ही कथन करते हैं। स्पष्ट है कि सम्बन्धात्मक कथन "सत्" का ज्ञान प्राप्त कराने में सर्वथा असमर्थ हैं। पारम्परिक तत्त्वमीमांसा सामान्यतया वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों तक ही सीमित होती है। उसके द्वारा जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है वह सत्ताओं (beings) का ही ज्ञान है। वास्तविक सत्

का ज्ञान हमें सत्तात्मक कथनों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि हाइडेगर ने सत्तात्मक एवम् सम्बन्धात्मक कथनों के बीच भेद किया है पर उनके बीच कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। इसका कारण यह है कि सम्बन्धात्मक कथनों में सत्तात्मक अर्थ निहित होता है। ऐसी स्थिति में दर्शन शास्त्र का कार्य सम्बन्धात्मक कथनों में निहित सत्तात्मक अर्थ का अन्वेषण करना हो जाता है। इसी के द्वारा हमें पूर्ण सत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शनशास्त्र का कार्य भेदों में अनुस्यूत अभेद का ज्ञान प्राप्त करना है। इस प्रकार का ज्ञान अमूर्त प्रत्यय का ही ज्ञान होगा जो सम्बन्धात्मक स्तर का ही ज्ञान होगा। वास्तविक सत् का ज्ञान भेदों से अतीत विशुद्ध सत् का ज्ञान है। यह यथार्थ में ज्ञान नहीं बल्कि एक अनुभूति है जिसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती।

साध्य एवम् साधन

हम जानते हैं कि हाइडेगर के दर्शन में सत् परम साध्य है। दर्शनशास्त्र का कार्य इसी मूल सत् का अनुसंधान करना है। हमें साधारण ज्ञान द्वारा केवल सत्ताओं का ही ज्ञान प्राप्त होता है, सत् का नहीं। अतः हमारे समक्ष जो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि इस मूल सत् तक पहुँचने का साधन क्या है ?

हाइडेगर जगत् को भ्रमात्मक नहीं मानते। ऐसा नहीं है कि संसार भ्रमात्मक है और उसका निषेध करके हमें परम सत् को प्राप्त करना है। वे जगत की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं। पर जगत की सत्ताओं का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है। हमें वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन सत्ताओं के मूल में जाना होगा। इसके लिए हमें उस अधिष्ठान तत्त्व तक जाना होगा जिसके आधार पर संसार की सत्ताएँ अभिव्यक्त होती हैं पर इसके लिए हमें एक प्रामाणिक (Authentic) दृष्टि जागृत करनी होगी अन्यथा हमारे लिए सत् तक पहुँचना असम्भव ही होगा।

हाइडेगर के दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अस्तित्ववान मानव (Da-Sein) को ही सत् की प्राप्ति का साधन समझते हैं। तात्त्विक सत् की अनुभूति का मार्ग मानव स्वयं है। इसी स्थल पर उनकी सत्तामीमांसा अस्तित्ववादी हो जाती है। हाइडेगर ने मानव का अस्तित्ववादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा उन्होंने यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि मानव-अस्तित्व की ऐसी सम्भावनाएँ हैं जिनमें वह 'सत्' की ओर चेतन व जागरूक हो सकता है। इन्हीं सम्भावनाओं का समझना सत् का वास्तविक अवबोध है। हाइडेगर के शब्दों में **आभासिकीय मानवविज्ञान के आधार पर ही प्राथमिक सत्तामीमांसा तक पहुँचा जा सकता है।**

सत् की प्राप्ति के लिए मानव ही एक मात्र साधन है, इसके लिए हाइडेगर ने एक बड़ा ही सुदृढ़ तर्क प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसके भीतर 'सत्' के विषय में जिज्ञासा हो सकती है। वही सत् और असत् के विषय में उद्वेलित होता है, अन्य कोई प्राणी नहीं। अतः सत् तक पहुँचने का मार्ग मानव-अस्तित्व से ही गुजरता है। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य भी इसी मत के हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्रभाष्य में प्रथम सूत्र "अथातोब्रह्म जिज्ञासा" पर भाष्य करते हुए लिखा है कि ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा उसी व्यक्ति के भीतर जागरित हो सकती है जो न तो पूर्ण ज्ञानी हो और न पूर्ण अज्ञानी ही हो। ऐसी विशेषता केवल मनुष्य के भीतर ही

पाई जाती है। इसीलिए मनुष्य के भीतर ही ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार हाइडेगर ने भी कहा है कि सत् और असत् के विषय में प्रश्न केवल मनुष्य की बुद्धि को ही उद्वेलित करते हैं, अन्य प्राणियों को नहीं। अतः मानव ही सत् से सम्पर्क का माध्यम है, सत् के अवबोध का मार्ग है। मानव चाहे तो वह इस प्रश्न की उपेक्षा भी कर सकता है जैसा कुछ व्यक्ति करते भी हैं। पर हाइडेगर के अनुसार ऐसे व्यक्ति प्रामाणिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते क्योंकि इसमें मानव-जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता की ही उपेक्षा की जाती है। केवल मानव ही सत् के प्रति सजग है; केवल वही अस्तित्व की चेतना के साथ अस्तित्ववान होता है। अतः इस मूल चेतना की उपेक्षा का जीवन प्रामाणिक जीवन नहीं कहा जा सकता।

मानव-अस्तित्व के निहितार्थ

हाइडेगर ने मानव-अस्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिए जिस जर्मन शब्द का प्रयोग किया है वह डा-सीन (Da-sein) शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ मानव-अस्तित्व है। यह मानव के अस्तित्व की एक विधा है और वह विधा है : अस्तित्व की चेतना के साथ जीवन व्यतीत करते हुए मानव का अस्तित्व। इस मानव-अस्तित्व का विश्लेषण करने से उसकी विशेषताएँ स्वतः प्रकट हो जाती हैं।

(1) जब हाइडेगर मानव-अस्तित्व का विश्लेषण करते हैं तो उसके द्वारा न वे मानव-स्वभाव का वर्णन करते हैं और न मानव-स्वरूप का ही विवेचन करते हैं। प्रारम्भ में मनुष्य का कोई स्वभाव नहीं होता। इस कारण वह अपरिभाष्य ही होता है। इसीलिए वे मानव-अस्तित्व की सामान्य विशेषताओं का निरूपण करने की चेष्टा नहीं करते। वे केवल यह देखना चाहते हैं कि मानव-अस्तित्व की विधाएँ क्या हैं ? अस्तित्व की विधाएँ तो हो सकती हैं, विशेषताएँ नहीं।

(2) प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व विशिष्ट होता है। किन्हीं दो मनुष्यों के बीच सामान्य तत्त्व का अनुसंधान करना निरर्थक ही होता है। अतः मानव-अस्तित्व को समझने के लिए उसकी विभिन्न **विद्यमानताओं** (Existentialia) का निरूपण करना अनिवार्य हो जाता है।

(3) मनुष्य केवल अस्तित्ववान ही नहीं है बल्कि उसके भीतर **अस्तित्व की चेतना** भी विद्यमान है। यही मानव-अस्तित्व की विशिष्टता है। वह केवल प्रतिक्रिया ही नहीं करता, वरन् सजग होकर क्रिया भी करता है। जब कभी कोई उत्तेजना उसे प्रभावित करती है, वह अपने अस्तित्व की चेतना के अनुरूप निर्णय करता है कि वह किस रूप में प्रतिक्रिया करे। अस्तित्व की चेतना उसके अस्तित्व का अनिवार्य अंग होती है।

(4) हाइडेगर ने मानव-अस्तित्व का विश्लेषण दो प्रकार से किया है। प्रथम सत्तात्मक (Ontological) एवम् द्वितीय सम्बन्धात्मक (Ontical)। सत्तात्मक विश्लेषण में हम देखेंगे कि मानव-अस्तित्व की कौन-सी विधाएँ हैं जिनमें मानव-अस्तित्व पाया जाता है। मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण सत्तात्मक विधा **"जगत में होना"** (Being in the world) है। पर मनुष्य का साधारण जीवन तो सम्बन्धात्मक जीवन है। हाइडेगर का तो यहाँ तक कथन है कि आधुनिक मानव अपने सत्तात्मक सम्बन्धों को भूल आनुभविक सम्बन्धों के बीच ही जीता है। अतः, इस सम्बन्धात्मक जीवन (Ontical Living) का विश्लेषण अनिवार्य है। इस स्तर की विवेचना में तथ्यता, चिन्ता, अप्रामाणिक जीवन, प्रामाणिक जीवन इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया

जाता है।

(5) मानव-अस्तित्व के जगत में होने का निहितार्थ यह है कि मानव व जगत एक दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध हैं। मानव-अस्तित्व, मानव-अस्तित्व की चेतना व मानव-अस्तित्व की जगत में होने की चेतना सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। "मानव का जगत में होना" हाइडेगर के लिए एक इकाई है। इससे कम में हम मानव-अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

(6) हाइडेगर ने 'जगत' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। वे यहाँ किसी वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ जगत की बात नहीं कर रहे हैं जिसमें मनुष्य व संसार की अन्य वस्तुएँ पाई जाती हैं। हाइडेगर जब "जगत में मानव-अस्तित्व" की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य उस मानव-जगत से है जिससे मानव व्यावहारिक रूप में सम्बद्ध है। इस विशिष्ट अर्थ में जगत में मानव-अस्तित्व होने का अर्थ है मानव का अन्य व्यक्तियों के साथ तथा जगत की वस्तुओं के साथ विशेष प्रकार का सम्बन्ध होना। उन्हीं सम्बन्धों के अनुरूप वह अपने जगत में जीवन व्यतीत कर सकेगा। वस्तुओं को वह अपने अनुरूप देखेगा तथा अन्य व्यक्तियों की चेतना के अनुरूप अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करेगा।

(7) हाइडेगर के अनुसार मानव-अस्तित्व के जगत में होने का एक निहितार्थ यह है कि मानव का जगत के साथ एक प्रकार की सम्बद्धता या **अन्तर्भावितता** (Care, Concern or Sorge) है। यदि मानव-अस्तित्व का जगत के साथ लगाव न हो तो उसे अस्तित्व की अनुभूति ही न हो। इसी सम्बद्धता के कारण ही वह अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ सम्बन्धित होता है तथा इसी सम्बद्धता के अनुरूप उसका अस्तित्व विकसित होता है।

(8) मानव-अस्तित्व के जगत में होने की एक विधा यह भी है कि जगत की वस्तुएँ हमारे समक्ष अनन्त सम्भावनाओं के रूप में प्रस्तुत होती हैं। हाइडेगर ने इसे दो प्रत्ययों के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है : प्रथम "**समक्ष प्रस्तुत होना**" (Present-in-hand) एवम् द्वितीय "**उपयोग के लिए तत्पर होना**" (Readiness-in-hand)। मनुष्य और जगत के बीच द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध नहीं है बल्कि कर्त्ता और कर्म का सम्बन्ध है। मनुष्य का जगत के साथ एक प्रकार की तात्त्विक सम्बद्धता है। अतः जब संसार की वस्तुएँ हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं तो हम सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि हम अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उनका उपयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जब मनुष्य के समक्ष लौह-पिण्ड प्रस्तुत होता है तो हम उसका मात्र अवलोकन नहीं करते हैं बल्कि अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका सदुपयोग करने की भी चेष्टा करते हैं।

(9) हमने ऊपर देखा कि हाइडेगर के अनुसार जगत की वस्तुएँ हमारे समक्ष अनन्त सम्भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं। उन सम्भावनाओं को चरितार्थ करने में वर्तमान तो सार्थक है ही, भविष्य भी सार्थक होता है। यही कारण है कि मानव-अस्तित्व का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता ; भाविष्य में वह किस प्रकार जीवन-यापन करेगा वह उसके प्रयत्नों पर आश्रित होता है। इसी को हाइडेगर ने "**भविष्य में जीना**" कहा है। मनुष्य केवल वर्तमान में ही नहीं जीता, वह भविष्य के लिए वर्तमान में ही उपक्रम करता है। अर्थात् किसी भी काल के मानव-अस्तित्व में मानव-अस्तित्व (Dasein) की भविष्य की विधा निहित रहती है। यही "**भविष्य में जीना**" (Living ahead) है।

(10) मानव-अस्तित्व के जगत में होने की एक विधा यह भी है कि मानव को जगत के विषय में एक **अवबोध** (Understanding) होता है। अवबोध से हाइडेगर का तात्पर्य जगत के विषय में केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से नहीं है। अवबोध सैद्धान्तिक एवम् व्यावहारिक दोनों प्रकार के ज्ञान को अपने भीतर समाहित करता है। मनुष्य जगत का केवल सैद्धान्तिक ज्ञाता ही नहीं है। वह जगत को सम्भाव्य रूप में समझकर उसे अपनी योजना के अनुरूप ढालने की चेष्टा करता है; किसी भी वस्तु का उपकरण रूप में उपयोग करने की सम्भावना में जो अवबोध निहित है वह केवल सैद्धान्तिक अवबोध नहीं बल्कि कार्य-कुशलता की प्राप्ति है। इसी अवबोध के कारण जगत की वस्तु अर्थपूर्ण होती है। स्वयं में जगत की कोई सार्थकता नहीं है। मानव ही संसार की वस्तुओं को सार्थकता प्रदान करता है। अवबोध प्रत्येक सम्पर्क में जगत की वस्तुओं के ऊपर अर्थ प्रक्षेपित करता है। यही प्रक्षेपण-क्रिया जगत को सार्थक बनाती है।

(11) मानव-अस्तित्व के जगत में होने का अर्थ **शून्यता की अनुभूति** (Apprehension of Nothingnes) है। हम पहले ही देख चुके हैं कि जगत की विभिन्न सत्ताओं (beings) में सत् (Being) का अनुसंधान करना ही दर्शन का कार्य है। संसार की सत्ताएँ सत् की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी कारण सत्ताओं के तात्त्विक विश्लेषण से हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्य शब्द का प्रयोग व्यवहार और परमार्थ दोनों के लिए किया गया है उसी प्रकार हाइडेगर के दर्शन में भी शून्यता सत्ताओं एवम् सत् दोनों की ओर संकेत करती है। शून्यता मात्र निषेध नहीं वरन् निषेध के माध्यम से सत् की अनुभूति है। मानव-अस्तित्व में सत् (Being) की अभिव्यक्ति इसी कारण सम्भव है कि मानव-अस्तित्व में ही शून्यता (Nothingness) एवम् सत् (Being) का संगम है। यदि संसार की वस्तुएँ क्षणिक, नश्वर व परिवर्तनशील न होतीं तो कोई व्यक्ति 'सत्' की ओर उन्मुख कभी न हो पाता। शून्यता के माध्यम से ही सत् को समझने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अद्वैत वेदान्त की भाषा में माया के निषेध से ही ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। शून्यता के अवबोध के कारण ही अस्तित्व से अतीत की ओर संक्रमण करने की प्रेरणा मिलती है। शून्यता-बोध के द्वारा ही मनुष्य वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट होकर अमरत्व प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसी सन्दर्भ में "मृत्यु-बोध" को सार्थकता प्राप्त होती है।

(12) मानव-अस्तित्व के जगत में होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसका कोई पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। हाइडेगर के अनुसार **मानव जगत में अवश्य है फिर भी वह जगत का नहीं है**। जगत में होते हुए भी उसे ज्ञान है कि वह जगत से पृथक् अपनी विशिष्टता में जीता है। जगत में रहते हुए भी उसके भीतर जगत से अतीत होने की क्षमता विद्यमान है।

संसार में प्रायः दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो संसार की वस्तुओं से पूर्णतया पराभूत होकर अपनी विशिष्टता का परित्याग कर देते हैं और अपने व्यक्तित्व को संसार में विलीन कर देते हैं। उनके अस्तित्व की यह विधा अप्रामाणिक (Inauthentic) कही जाती है। द्वितीय प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो संसार की वस्तुओं के बीच रहते हुए भी उनसे पूर्णतया पराभूत नहीं होते। वे संसार की समस्याओं से तनिक भी अभिभूत नहीं होते। वे प्रत्येक परिस्थिति में अपनी विशिष्टता या स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन प्रामाणिक (Authentic) जीवन कहा जाता है। संक्षेप में संसार से

लिप्तता अप्रामाणिक जीवन है तथा संसार से अलिप्तता प्रामाणिक जीवन है। प्रामाणिक जीवन में ही सत् का साक्षात्कार सम्भव है। अप्रामाणिक जीवन में हम सत्ताओं में ही आबद्ध रहते हैं।

अप्रामाणिक जीवन (Inauthentic Existence)

यहाँ अप्रामाणिक जीवन एवम् प्रामाणिक जीवन के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा। हम पहले ही देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता का जीवन प्रामाणिक जीवन है। प्रथम हम मनुष्य के अप्रामाणिक जीवन का विश्लेषण करेंगे।

(1) अप्रामाणिक जीवन वह जीवन है जिसमें हम सत् से पृथक् सत्ताओं में ही अपने को आबद्ध किए रहते हैं। इसमें मनुष्य का अमानवीयकरण (Depersonalisation) होता है क्योंकि इसमें मनुष्य अपना स्वाभाविक जीवन न व्यतीत कर अस्वाभाविक जीवन ही व्यतीत करता है।

(2) अप्रामाणिक जीवन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य का अस्तित्व जगत का होकर रहता है। इसमें संसार के अन्य व्यक्तियों एवम् वस्तुओं के साथ उसकी लिप्तता होती है।

(3) हाइडेगर के अनुसार मानव का वस्तुओं के साथ एक प्रकार का सम्बन्ध होता है तथा व्यक्तियों के साथ उसका दूसरे प्रकार का सम्बन्ध होता है। दोनों प्रकार के सम्बन्धों के कारण वह परतन्त्रता को प्राप्त करता है। मानव के लिए वस्तुएँ उपकरण मात्र हैं जिन्हें वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग करता है। पर मानव का सम्बन्ध कुछ भिन्न प्रकार का होता है। यहाँ हमारे समक्ष दो प्रकार के विकल्प उपस्थित होते हैं। मानव दूसरे मानव के साथ साध्य रूप या विषयी (Subject) के रूप में व्यवहार कर सकता है अथवा साधन या विषय (Object) रूप में व्यवहार कर सकता है। दूसरी दृष्टि से हम एक विषयी (Subject) के रूप में संसार के साथ व्यवहार कर सकते हैं अथवा स्वयं विषय (Object) बन कर संसार के साथ व्यवहार कर सकते हैं। यदि हम विषयी बन कर जगत के साथ व्यवहार करते हैं तो हमारा जीवन प्रामाणिक कहा जायगा। पर यदि हम स्वयं विषय बनकर अपने को परतन्त्र बना देते हैं तो हमारा जीवन अप्रामाणिक कहा जाएगा।

(4) हाइडेगर के अनुसार अप्रामाणिक जीवन का एक लक्षण **दैनिकता** (Everydayness) है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। अप्रामाणिक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य व्यवस्था द्वारा स्थापित परिपाटी के अनुरूप जीवन यापन करता है। वह अपनी दिनचर्या में किसी प्रकार के परिवर्तन का पक्षपाती नहीं होता। वह अपने को सामाजिक व्यवस्था में प्रवाहित करके निश्चिन्त हो जाता है।

(5) अप्रामाणिक जीवन का एक दूसरा लक्षण उसकी **मध्यमता** (Mediocrity) अथवा **औसतता** (Averageness) है। साधारणतया ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य बाह्य वातावरण के कारण एक औसत जीवन ही व्यतीत करता है। उसमें न तो कोई श्रेष्ठता होती है और न किसी प्रकार की विशिष्टता। वह उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करता है जैसा जीवन अन्य साधारण लोग व्यतीत करते हैं। यह अप्रामाणिक जीवन है।

(6) अप्रामाणिक जीवन का एक अन्य लक्षण उसकी **सार्वजनिकता** (Publicity) है।

यह लक्षण मध्यमता की ही तार्किक परिणति है। हम अपने लिए किसी विशिष्ट मानदण्ड को स्थापित न कर दूसरों द्वारा स्थापित मानदण्ड के अनुसार ही कार्य करते हैं। यह हमारी परतन्त्रता है जो मनुष्य के जीवन को अप्रामाणिक बना देती है। हमारी सार्वजनिकता वैयक्तिकता और विशिष्टता का बलिदान कर देती है।

(7) अप्रामाणिक जीवन का एक प्रमुख लक्षण **रिक्त जिज्ञासा** (Empty Curiosity) है। हाइडेकर के अनुसार अप्रामाणिक जीवन यापन करने वाला मनुष्य बिना कुछ प्रयत्न किए सब कुछ जान लेने की इच्छा रखता है। उसका जीवन दूसरों पर इतना अधिक आश्रित होता है कि ज्ञान, यहाँ तक कि अनुभूति के लिए भी वह दूसरों से उधार लेने की कामना करता है। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो परिश्रम किए बिना ही अन्य व्यक्तियों से ज्ञान या कार्यकुशलता प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी व्याकुलता आन्तरिक नहीं होती और इसी कारण वह वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होती है।

(8) अप्रामाणिक जीवन का अन्तिम लक्षण मनुष्य की **अधोगति** (Fallenness) की अवस्था है। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के जीवन में मनुष्य अपनी विशिष्टता और प्रामाणिकता से विमुख होकर पतन की अवस्था में आ जाता है। यह हमारे समक्ष दो रूपों में प्रकट होता है। "जगत में मानव-अस्तित्व" के सन्दर्भ में हमने देखा कि मनुष्य का एक ओर अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क होता है तो दूसरी ओर जगत की वस्तुओं से उसका सम्वन्ध होता है। यह मनुष्य के जीवन की तथ्यता (Facticity) है। अब मानव की मानवीयता इस बात में निहित है कि वह इन सम्पर्कों में रहते हुए भी अपनी वैयक्तिक विशिष्टता को सुरक्षित रखे तथा उसी के अनुरूप अपना जीवन-यापन करे। पर इस प्रकार का जीवन-यापन करना आसान नहीं है क्योंकि ऐसे जीवन में स्वतन्त्रता और दायित्व का बोझ है, चिन्ता है, तनाव है। इस चिन्ता और तनाव से बचने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय तो यह है कि मनुष्य अपनी विशिष्टता का परित्याग कर समुदाय का अंग बन जाय। दूसरा उपाय यह है कि वह संसार की वस्तुओं में स्वयं एक वस्तु बन जाय। वह आत्मसात कर ले कि "जगत में मानव-अस्तित्व" का अर्थ है कि जगत का हो जाय। इन दोनों स्थितियों द्वारा मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है। प्रथम स्थिति में वह अपनी विशिष्टता खोकर सार्वजनिकता में खो जाता है तथा दूसरी स्थिति में अपनी मानवीयता को खोकर अपने को वस्तुरूप बना लेता है। पर इस अमानवीयकरण के कुछ लाभ भी हैं। इसमें एक ओर आकर्षण है तो दूसरी ओर तृप्ति। आकर्षण यह है कि मानव-अस्तित्व के जीवन में निहित दायित्व, चिन्ता, तनाव इत्यादि से उसे मुक्ति मिल जाती है। यद्यपि यह मुक्ति काल्पनिक ही होती है पर फिर भी इससे मनुष्य को तृप्ति का भी बोध हो जाता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि अपने को सार्वजनिकता तथा वस्तु के रूप में ढालने के प्रयत्न में वह अपनी मानवीयता का निषेध करता है। इसी स्थिति को हाइडेगर ने अलगाव (Alienation) की स्थिति की संज्ञा दी है। यह अपनी विशिष्टता से तथा मानव-अस्तित्व में निहित प्रामाणिक सम्भावनाओं से अलगाव है। यही मनुष्य की अधोगति है।

प्रामाणिक जीवन (Authentic Existence)

हम पहले ही देख चुके हैं कि अप्रामाणिक जीवन एक प्रकार से पतन की अवस्था है जिसमें हम अपनी मानवीयता से हटकर कृत्रिमता का जीवन यापन करते हैं। इसमें मनुष्य को

अस्थाई तृप्ति भी मिलती है और वह अपने को सुरक्षित एवम् निरापद भी समझता रहता है। पर यह तो उसका सम्बन्धात्मक जीवन (Ontical Existence) है जिसमें व्यक्तियों एवम् वस्तुओं के साथ उसका सम्बन्ध बना ही रहता है। पर मानव-अस्तित्व होने के कारण उसमें सत्तात्मक सम्भावनाएँ (Ontological Possibilities) अवश्य ही विद्यमान रहती हैं। यदि इन सत्तात्मक सम्भावनाओं को जागरित कर दिया जाय तो हम बड़ी आसानी से अप्रामाणिक जीवन से प्रामाणिक जीवन की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

हम जानते हैं कि मानव-अस्तित्व में अप्रामाणिकता की प्रवृत्ति एवम् सत् की अभिवृत्ति दोनों विद्यमान होती हैं जिसके कारण वह चिन्ता (Anxiety) से सदा ग्रस्त रहता है। यदि इस अस्तित्वमूलक चिन्ता को जागरित कर दिया जाय तो अस्तित्वमूलक प्रश्न स्वतः हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। चिन्ता के जागरित होने पर हम अप्रामाणिक जीवन का परित्याग कर प्रामाणिक जीवन की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अब यह प्रामाणिक जीवन क्या है, इस पर हम विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(1) अप्रामाणिक जीवन में मनुष्य सत्ताओं (beings) की ओर प्रवृत्त होता है पर प्रामाणिक जीवन में हम सत् (Being) से सम्बन्धित रहते हैं। केवल मनुष्य ही सत् से सम्बन्धित होने की बात सोचता रहता है और जिज्ञासा प्रगट कर सकता है कि जगत में उसकी विशिष्टता क्या है। अप्रामाणिक जीवन में मनुष्य अपनी विशिष्टता को खो बैठता है पर प्रामाणिक जीवन उसकी विशिष्टता को स्थापित कर देता है।

(2) अप्रामाणिक जीवन परतन्त्रता का जीवन है पर प्रामाणिक जीवन स्वतन्त्रता का जीवन है। प्रामाणिक जीवन में मानव समझ जाता है कि भीड़ में खो जाना अथवा अपने को मशीन बना देना उसकी मानवीयता के अनुकूल नहीं है। चिन्ता, मृत्यु की चेतना इत्यादि को स्वीकार करते हुए उनके साथ अपने मानवीय दायित्वों का निर्वाह करते रहने में ही उसकी विशिष्टता निहित होती है।

(3) अप्रामाणिक जीवन में सत् की चेतना भले ही आच्छादित हो गई हो पर वह पूरी तरह विनष्ट नहीं हो जाती। वह समय-समय पर अपने को प्रकाशित करती रहती है। संकट की घड़ी में हमारी अन्तरात्मा हमें सन्नद्ध कर देती है। इसी को हाइडेगर ने **अन्तःकरण की पुकार** (Call of Conscience) कह कर सम्बोधित किया है। अन्तःकारण की पुकार की स्थिति में हमारा जीवन दो भागों में विभाजित हो जाता है। प्रामाणिक जीवन का अंश जो पुकारता है एवम् अप्रामाणिक जीवन का अंश जो सुनता है। पुकारने वाला अंश जागरूक है पर सुनने वाला अंश पतन की अवस्था में है। सत्तात्मक अंश पुकारता है पर सम्बन्धात्मक अंश सुनता है। प्रामाणिक जीवन स्वाभाविक जीवन है, वह कृत्रिम जीवन से मनुष्य को निकालकर स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने का आह्वान करता है। प्रामाणिक जीवन ही तात्त्विक जीवन है जिसे जीने का हमें प्रयत्न करना चाहिए।

जीन पाल सार्त्र

(Jean Paul Sartre 1905-1980)

जीवन-वृत्त—अस्तित्ववादी दार्शनिकों में सार्त्र का नाम सर्वाधिक विख्यात एवम् महत्त्वपूर्ण है। आजकल सार्त्र एवम् अस्तित्ववाद दोनों की पर्यायवाची शब्द के रूप में गणना की

जाती है। जर्मनी में अस्तित्ववाद का विकास यास्पर्स के दर्शन में हुआ किन्तु वह भी संसार में उतना प्रसिद्ध न हो सका जितना सार्त्र हुआ। मार्सेल (Marcal) भी फ्रान्स के ही अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं किन्तु उनके विचार सार्त्र के विचार से पर्याप्त भिन्न हैं। दोनों के बीच सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि मार्सेल आस्तिक अस्तित्ववादी हैं जब कि सार्त्र नास्तिक अस्तित्ववादी हैं। फ्रान्स के ईसाई अस्तित्ववादियों में मार्सेल सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। पर सार्त्र नास्तिक होते हुए भी मार्सेल से अधिक विख्यात हैं।

सार्त्र का जन्म पेरिस में 1905 में हुआ था। बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई जिसके कारण वे अपनी माँ के साथ ननिहाल में रहने लगे। उन्हें ईसाई धर्म के दोनों सम्प्रदायों केथोलिक एवम् प्रोटेस्टेण्ट की शिक्षा दी गई। सार्त्र की शिक्षा अधिकतर पेरिस एवम् गॉटिङ्गेन (Gottingen) नगरों में सम्पन्न हुई। गॉटिङ्गेन में उन्होंने हुसर्रल के संरक्षण में ज्ञान अर्जित किया जिसके कारण उनके दर्शन पर हुसर्रल का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। स्नातक होने के उपरान्त सार्त्र सेना में भर्ती हो गए और सोलह महीने तक सैनिक सेवा की।

सार्त्र ने जीवन में शिक्षक के रूप में प्रवेश किया। सर्वप्रथम उन्होंने हाईस्कूल में बच्चों को पढ़ाया। उन्होंने मूलतः ले हैवरे (Ley Havre) तथा पेरिस में अध्यापन कार्य किया। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर वे पुनः सेना में भरती हो गए। युद्ध में जर्मन लोगों ने उन्हें बन्दी बना लिया और युद्धबन्दियों के कैम्प में कुछ दिनों तक रखा। स्वास्थ्य की दुर्बलता के कारण कुछ दिनों बाद उन्हें छोड़ दिया गया। वहाँ से वे पेरिस लौट आए और अन्त तक वहीं निवास करते रहे।

रचनाएँ—सार्त्र की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—प्रथम, साहित्यिक जिसमें उपन्यास, कहानी और नाटक आते हैं और द्वितीय, दार्शनिक जिसमें लेख और प्रबन्ध ग्रन्थ हैं। उनका पहला उपन्यास **नॉसिया** (Nausea) है जो 1938 में प्रकाशित हुआ था। दर्शन पर उनका पहला ग्रन्थ **बीइङ्ग एण्ड नथिङ्गनेस** (Being and Nothingness) है जो 1943 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से सार्त्र की पर्याप्त ख्याति हुई। इसके बाद दर्शन पर उनकी दूसरी पुस्तक **इक्जिस्टेण्शलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म** (Existentialism and Humanism) 1946 ई० में प्रकाशित हुई जिसमें मानव-अस्तित्व एवम् मानव स्वातन्त्र्य पर विशेष बल दिया गया। तदुपरान्त सार्त्र ने नीतिशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी जिसका **इक्ज़िस्टेण्शलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशन्स** (Existentialism and Human Emotions) नाम रखा गया। उन्होंने अस्तित्ववाद पर कुछ भाषण दिया जो अस्तित्ववाद (Existentialism) नामक पुस्तक में संगृहीत है। इस प्रकार सार्त्र ने अपनी रचनाओं द्वारा अस्तित्ववाद की महान सेवा की है। अब हम सार्त्र के दर्शन के विविध पक्ष का अवलोकन करेंगे।

(1) **अस्तित्व सत्त्व का पुरोगामी है**[1]—अस्तित्ववाद अस्तित्व को सत्त्व (गुण) का पूर्वगामी मानता है। सत्त्ववादी (Essentialists) सत्त्व को अस्तित्व का पूर्वगामी मानता है। कल्पना किया कि हम एक कलाकृति का निर्माण करना चाहते हैं। कलाकृति का निर्माण करने के पूर्व हमारे मस्तिष्क में उस कलाकृति का एक प्रत्यय (Conception) होगा, उसके निर्माण की एक प्रविधि (Technique) की एक कल्पना होगी तथा उसकी रचना का एक सूत्र (Formula)

---

1. Existence precedes essence.

हमारे मन में विद्यमान होगा। उस कलाकृति के निर्माण के पूर्व हमारे मन में उस विशेष उद्देश्य की एक रूपरेखा भी होगी जिसकी पूर्ति के लिए हम उस अमुक वस्तु का निर्माण करना चाहते हैं। इसी तथ्य को अस्तित्ववादी इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि सत्त्व अस्तित्व का पूर्वगामी होता है।[1]

कलाकार की कलाकृति को हम आगे बढ़ा सकते हैं। हम कल्पना कर सकते हैं कि जब ईश्वर (God) ने सृष्टि का निर्माण किया तो निर्माण करने के पूर्व उसके मन में सृष्टि की एक कल्पना या प्रत्यय (Conception) अवश्य रहा होगा। मनुष्य की रचना का ही उदाहरण ले लीजिए। मनुष्य की रचना के पूर्व ईश्वर के मन में मनुष्य की एक कल्पना होगी। मनुष्य उस ईश्वरीय कल्पना का एक मूर्त रूप ही तो है। यहाँ भी हम देखते हैं कि सत्त्व अस्तित्व का पुरोगामी है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि संसार में कितने व्यक्ति हैं जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है। ईश्वर की सत्ता भले ही न हो पर मनुष्य की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। मनुष्य के प्रत्यय के पहले मनुष्य का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। जब मनुष्य का अस्तित्व ही न होगा तो वह मनुष्य के प्रत्यय का निर्माण कैसे करेगा। अतः संसार में कम से कम एक ऐसी वस्तु अवश्य है जहाँ अस्तित्व सत्त्व का पूर्वगामी है। यही अस्तित्ववाद का प्रस्थान-बिन्दु है। प्रारम्भ में मनुष्य अपरिभाष्य (Indefinable) होता है क्योंकि उस समय उसके पास अपना भी प्रत्यय नहीं होता। इसीलिए सार्त्र कहते हैं कि **मानव प्रकृति नाम की कोई वस्तु नहीं है**। इसका कारण यह है कि जब ईश्वर ही नहीं है तो मानवीय प्रत्यय के विषय में विचार ही कौन करेगा ? **मनुष्य केवल है**।[2]

(2) **मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है**—मनुष्य जो कुछ अपना निर्माण करता है उससे पृथक् वह कुछ भी नहीं है।[3] इसी तथ्य को विरोधी आत्मनिष्ठता (Subjectivity) कहकर अस्तित्ववादियों का उपहास करते हैं। किन्तु आत्मनिष्ठता से सार्त्र का मन्तव्य केवल इतना ही है कि पत्थर या मेज इत्यादि निर्जीव वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य की अधिक गरिमा होती है। आत्मनिष्ठता का दूसरा तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन केवल वर्तमान तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका एक भविष्य भी होता है जिसका उसे निर्माण करना है तथा जिसके विषय में उसके भीतर चेतना है। इसे हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि मनुष्य एक प्रकल्प या परियोजना (Project) है जिसकी एक आत्मा होती है। इस प्रकल्प या परियोजना के क्रियान्वयन के पूर्व वह कुछ भी नहीं है। **मनुष्य अस्तित्ववान तभी माना जायगा जब वह अपने उद्देश्य या लक्ष्य को जीवन में चरितार्थ कर ले**। इसके पूर्व वह कुछ नहीं है।

(3) सार्त्र के अस्तित्ववादी विचार में **स्वतन्त्रता** का विशेष महत्त्व है। उनके अनुसार मानव-अस्तित्व की अनुभूति का अर्थ है मानव की मौलिक स्वतन्त्रता की अनुभूति। मानव को अस्तित्व की प्रथम अनुभूति में ही अपने एकाकीपन की अनुभूति होती है। वह मान लेता है कि ईश्वर के अभाव में संसार में ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिस पर वह भरोसा कर सके। अतः भविष्य

---

1. Essence precedes existence.
2. Man simply is.
3. Man is nothing else but that which he makes of himself.

में उसका अस्तित्व किस दिशा में संचालित होगा, यह उसी के निर्णय पर निर्भर करता है। **यही स्वतन्त्रता की प्राथमिक अनुभूति है।** इस स्थिति या अनुभूति के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है, उसकी परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की अनुभूति के लिए उसे विवश करती हैं। सार्त्र इस विकट स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए घोषित करते हैं कि **"मानव स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है।"**[1] किसी विकट परिस्थिति में विभिन्न विकल्पों में एक विकल्प का चयन तो उसे करना ही है। वह अपने चयन को यदि निलम्बित भी करता है तो भी वह उसका स्वतन्त्र निर्णय ही होगा। यही उसकी स्वतन्त्रता की विवशता या अभिशप्तता है।

सार्त्र ने अपनी रचनाओं में स्वतन्त्रता की पर्याप्त विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। **स्वतन्त्रता से उसका तात्पर्य "चयन की स्वतन्त्रता अथवा निर्णय की स्वतन्त्रता से है।"** व्यक्ति भविष्य में क्या बनेगा व किस रूप में उसकी योजनाएँ सर्जित होंगी, यह उसके स्वतन्त्र निर्णय पर ही निर्भर करता है। सार्त्र ने स्वयं कहा है : "मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से ही आत्म-निर्माण करता है ; वह जो कुछ बनता है वह उसके स्वतन्त्र निर्णय का ही परिणाम है।"

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि सार्त्र ने बाह्य परिस्थितियों के प्रभावों की उपेक्षा की है। उनके कथन का वास्तविक अभिप्राय यह है कि बाह्य परिस्थितियाँ हमारे निर्णयों को केवल प्रभावित ही करती हैं, वे उन्हें निर्णायक रूप में निर्धारित नहीं करतीं। दूसरी बात यह है कि विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों में हम किस प्रभाव को स्वीकार करते हैं और किस प्रभाव को अस्वीकार करते हैं इसका चयन हमारी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति पर ही निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में जिस तीसरी बात के ऊपर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना है वह यह है कि हमारी स्वतन्त्रता में इतनी निहित शक्ति है कि हम बाह्य प्रभावों को पराभूत कर अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रख सकते हैं। यही हमारी **स्वतन्त्रता की तात्त्विकता** है। सार्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता एक सतत प्रवाह है जो प्रत्येक निर्णय के साथ नई-नई दिशाओं में प्रवाहित होता रहता है। यदि प्रवाह अवरुद्ध हो जाय तो हमारा चेतन अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यही मौलिक स्वतन्त्रता मनुष्य की विशिष्टता है जो इसे जगत की वस्तुओं से पृथक् करती है।

(4) यदि यह सत्य है कि अस्तित्व सत्त्व का पूर्वगामी है और स्वतन्त्रता मानव अस्तित्व का प्राण है तो इसका निहितार्थ यह है कि मनुष्य जो आज है उसके लिए वह स्वयं **उत्तरदायी** है। जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य स्वयं के लिए उत्तरदायी है तो इसका केवल यही अर्थ नहीं होता कि मनुष्य केवल स्वयं के लिए ही उत्तरदायी है वरन् इसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि **मनुष्य सभी मनुष्यों के लिए उत्तरदायी है।**

उपर्युक्त बात को कुछ और अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है कि क्यों मनुष्य अपने लिए उत्तरदायी होने के साथ सम्पूर्ण मनुष्य समाज के लिए उत्तरदायी है। इसका कारण यह है कि आत्मा (Subject) होने के कारण मनुष्य स्वतन्त्र है जिसका तात्पर्य यह है कि उसके भीतर स्वतन्त्र रूप में चयन करने की शक्ति विद्यमान है। स्वतन्त्र रूप से चयन करने की अभिव्यक्ति मूल्यों की निष्पत्ति में होती है क्योंकि जब हमें विभिन्न विकल्पों के बीच चयन करने का अधिकार है तो हम निम्नतर की अपेक्षा उच्चतर विकल्प का ही चयन करेंगे। **जो वस्तु हमारे लिए श्रेष्ठतर होगी वह सभी के लिए श्रेष्ठतर होगी।** इस प्रकार संसार में हमारा उत्तरदायित्व जितना

---

1. Man is condemned to be free.

हम सोचते हैं उससे कहीं अधिक गुरुतर है। जो हम कार्य करते हैं उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के लिए होता है। अतः, मेरा कार्य सम्पूर्ण मानवता के पक्ष में एक प्रकार की प्रतिबद्धता है। अपना निर्माण करने में हम मनुष्य मात्र का निर्माण करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हमें परिताप (Anguish), एकाकीपन (Abandonment), तथा हताशा (Despair) को समझने में आसानी होगी।

(अ) परिताप (Anguish)—अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य सदा संताप में रहता है। जब मनुष्य किसी विकल्प का चयन करता है या किसी कार्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रगट करता है तो वह ऐसा केवल अपने ही लिए नहीं करता वरन् वह सम्पूर्ण मानवता के लिए आदर्श या उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में वह पूर्ण और गहन उत्तरदायित्व की भावना से बच नहीं सकता। यह ठीक है कि संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो इस परिताप का प्रदर्शन नहीं करते पर इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वे या तो अपने परिताप को छिपाना चाहते हैं या उससे पलायन करना चाहते हैं अथवा आत्म-प्रवञ्चना द्वारा उससे दूर भागना चाहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने गहन उत्तरदायित्व को अस्वीकार कर झूठ बोलता है कि "समाज का प्रत्येक व्यक्ति वैसा आचरण नहीं करेगा जैसा मैं कर रहा हूँ" तो इस झूठ द्वारा ही वह उस सार्वभौम मूल्य का निदर्शन करता है जिसका वह निषेध कर रहा है। कीर्केगार्ड ने इस परिताप को **अब्राहम का परिताप** (The Anguish of Abraham) कहा है। इसके पीछे अन्तर्गत कथा यह है कि एक फ़रिश्ते या देवदूत ने अब्राहम से आकर कहा कि "तुम अपने पुत्र का बलिदान कर दो।"[1] यदि वास्तव में यह देवदूत की आज्ञा थी तो अब्राहम के लिए इसे मानना अनिवार्य था। पर समस्या यह थी कि यह कौन प्रमाणित करेगा कि यह आज्ञा देवदूत की ही आज्ञा है और जिसको आज्ञा दी जा रही है वह वास्तव में अब्राहम है। इसी प्रकार एक पागल महिला जो विभ्रम की शिकार थी कहा करती थी कि लोग उसे फोन करते हैं और आज्ञा देते हैं। जब डाक्टर ने पूछा कि वह कौन है जो तुम्हें आज्ञा देता है। महिला ने उत्तर दिया कि वे कहते हैं कि वे ईश्वर हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इस बात को कौन सिद्ध करेगा कि ईश्वर ही स्वयं उस महिला से बात करते हैं। इसी प्रकार यदि कोई देवदूत आकर किसी कार्य को करने के लिए आज्ञा देता है तो इस बात को कौन सिद्ध करेगा कि वह देवदूत ही है कोई दानव नहीं। अथवा यह कौन सिद्ध करेगा कि वह आवाज़ स्वर्ग से आ रही है, नरक से नहीं। यही अब्राहम का संताप है।

जो बात अब्राहम पर लागू होती है वही बात सब पर लागू होती है। **मैं अपनी चयन-शक्ति द्वारा जो मूल्य उत्पन्न करता हूँ वह सम्पूर्ण मानवता के लिए भी वैध है** इसे कौन सिद्ध कर सकता है ? इसे हमारे लिए कोई दूसरा व्यक्ति सिद्ध नहीं कर सकता। यदि कोई आवाज मुझे किसी कार्य को करने का आदेश देती है तो वह आवाज़ किसी देवदूत की है या किसी अन्य व्यक्ति की, इसका निर्णय हमें स्वयं करना है। इसी प्रकार यदि हम किसी कार्य को शुभ कहते हैं तो यह शुभ है या अशुभ है, इसका निर्धारण हमें स्वयं करना है।

(ब) एकाकीपन (Abandonment)—हाइडेगर को "एकाकीपन" शब्द काफी प्रिय था। एकाकीपन का साधारण अर्थ यह है कि संसार में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। संसार में ऐसी कोई शक्तिमान सत्ता नहीं है जो मेरी सहायता कर सके। अतः यहाँ हम बिलकुल एकाकी

---

1. Then Abraham shall sacrifice thy son.

हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करते हैं पर नैतिक मूल्यों का वे कभी भी निषेध नहीं करते। अस्तित्ववादी आजकल के धर्मनिरपेक्षवादियों के समान नहीं हैं जो अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए ईश्वर का तिरस्कार करते हैं। फ्रान्स के अस्तित्ववादी ईश्वर का निषेध भले ही करते हों पर समाज और संसार के अस्तित्व के लिए कुछ शाश्वत मूल्यों को अनिवार्य समझते हैं। इन शाश्वत मूल्यों को हमें प्रागनुभविक आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि इनके अभाव में हम संसार के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं कर सकते। ईश्वर के अस्तित्व के बिना ही शाश्वत मूल्यों में विश्वास को फ्रान्स में **मौलिक परिवर्तनवाद** (Radicalism) कहा जाता है। इसका निहितार्थ यह है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न भी हो तो इससे संसार की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होगा। पर इस मौलिक परिवर्तनवाद से अस्तित्ववादियों को जो सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है वह यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के बिना शाश्वत मूल्यों की सार्थकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? यदि शाश्वत मूल्यों का अवबोध करने के लिए कोई आत्मा ही नहीं है तो उनके अस्तित्व की हम कल्पना ही कैसे कर सकते हैं ? हमें कहीं भी अंकित रूप में प्राप्त नहीं हो सकता कि "शुभ है", "हमें सदा सत्य बोलना चाहिए" या "हमें सदा ईमानदार रहना चाहिए"। एक बार **दोस्तोवस्की** (Dostoievsky) ने कहा था "यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, संसार में सब कुछ अनुज्ञेय (Permissible) होगी। अस्तित्ववाद का यही प्रस्थान-बिन्दु है। ईश्वर का अस्तित्व न होने से जब सब कुछ अनुज्ञेय होगा तो मनुष्य अपने को असहाय या **निरवलम्ब** (Forlorn) पाएगा क्योंकि भीतर या बाहर उसे ऐसी कोई सत्ता नहीं मिलेगी जिस पर वह आश्रित रह सके। उसे तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि अपने कार्य के लिए अब उसके पास कोई बहाना नहीं है।

(i) उसके भीतर बहाना इसलिए नहीं है कि यदि अस्तित्व सत्त्व का पुरोगामी है तो इसका अर्थ यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य के पास ऐसा कोई मानवीय स्वभाव नहीं है जिसके **माध्यम** से वह अपने कार्य की व्याख्या कर सके।

(ii) उसके बाहर बहाना इसलिए नहीं है कि जब ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है तो संसार में न कोई मूल्य होगा और न कोई अनुज्ञा ही होगी जिसके द्वारा मनुष्य अपने कार्यों की वैधता को सिद्ध कर सके। ऐसी स्थिति में संसार में कहीं भी **नियन्त्रणवाद** (Determinism) नहीं होगा। मनुष्य बिलकुल स्वतन्त्र होगा। हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए न तो कोई बाह्य निर्धारक तत्त्व होगा और न आन्तरिक निर्धारक तत्त्व। ऐसी स्थिति में मनुष्य बिलकुल एकाकी होगा। अस्तित्ववाद की भाषा में इसे इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि **"मनुष्य स्वतन्त्र होकर अभिशप्त है।"** मनुष्य अभिशप्त इसलिए है कि यद्यपि उसने अपने को उत्पन्न नहीं किया फिर भी वह स्वतन्त्र है। जिस क्षण उसे संसार में लाकर पटक दिया गया तभी से उसे अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जाने लगा। अस्तित्ववादी वासना या मनोवेग (Passion) की शक्ति में भी विश्वास नहीं करता। वह इस बात में विश्वास नहीं करता कि मनुष्य किसी मनोवेग के वशीभूत होकर किसी कार्य के करने में विवश हो जाता है। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने मनोवेगों के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य को किसी ऐसे बाह्य संकेतों से भी कोई सहायता नहीं मिल सकती जो उसके जीवन में अनुकूलन स्थापित कर सके क्योंकि इन संकेतों का व्याख्याता तो मनुष्य ही है। अन्ततः अपने कार्यों के लिए मनुष्य ही उत्तरदायी होता है। इसी

को अस्तित्ववादी पॉञ्ज (Ponge) ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "**मनुष्य ही मनुष्य का भविष्य है।**"[1] नियति या ईश्वर की हमारे भविष्य के निर्माण में कोई भूमिका नहीं है। मनुष्य ही मनुष्य का भविष्य होता है। मनुष्य का भविष्य न तो किसी प्रारब्ध में है न तो किसी नियति में है और न किसी ईश्वर की गोद में ही विद्यमान है। जिस भविष्य का मनुष्य को निर्माण करना है वह **विशुद्ध भविष्य** (Virgin Future) है।

उपर्युक्त तथ्य को एक दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। एक व्यक्ति था जिसने अपने जीवन में अनेक मुसीबतें झेल रखी थीं। बचपन में ही उसके पिता का देहान्त हो गया। वह गरीबी का जीवन व्यतीत करने लगा। एक विद्यालय ने उसे अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की जिसके कारण उसके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि वह परोपजीवी (Parasite) है ; उसका जन्म ही दूसरों पर आश्रित होने के लिए हुआ है। अठारह वर्ष की अवस्था में वह प्रेम-प्रसंग में असफल रहा। उसकी असफलताएँ इतनी मुसीबतों तक ही सीमित नहीं रहीं। आगे चलकर वह सैनिक परीक्षा में असफल रहा। अब यह व्यक्ति अपने जीवन को दो विपरीत दिशाओं में ले जा सकता था ; या तो नैराश्य की नदी में अपने को डुबोकर समाप्त हो जाय या अपना कोई नवीन पथ निर्धारित करे। उस व्यक्ति ने दूसरा रास्ता अपनाया। अपनी असफलताओं पर विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लौकिक कार्यों में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। अब उसे धार्मिक कार्यों में ही अपना स्थान ढूँढ़ना चाहिए। बाह्य संकेतों की इस प्रकार व्याख्या करके वह आगे चलकर बहुत बड़ा पादरी बना। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवन के संकेतों की व्याख्या का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही होता है। इसके लिए वह किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रह सकता। अस्तित्ववाद की भाषा में इसे एकाकीपन (Abandonment) कहते हैं।

(स) हताशा (Despair)—हताशा शब्द का अर्थ नितान्त आसान है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने को अपनी क्षमताओं एवम् सम्भावनाओं की परिधि के भीतर ही सीमित रखना चाहता है। जैसे कि मान लिया कि मेरा एक मित्र मुझसे मिलने मेरे घर पर आ रहा है। मैं आशा से उसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरा मित्र ट्रेन से आ सकता है या बस से। मैं पूर्वानुमान कर लेता हूँ कि ट्रेन अपने नियत समय स्टेशन पर पहुँच जाएगी या बस की रास्ते में कहीं दुर्घटना नहीं होगी। हम इन्हीं सम्भावनाओं में अपने को सीमित रखते हैं। जिन सम्भावनाओं से हमारा सम्बन्ध नहीं होता उनके विषय में हम तनिक भी विचार नहीं करते। संसार में न तो कोई ईश्वर है और न कोई उद्देश्य जो संसार की सभी सम्भावनाओं को हमारे संकल्प से अभियोजित कर दे। जब डेकार्ट्स ने कहा कि "**संसार की अपेक्षा अपने पर विजय प्राप्त करो**" तो उनके कथन का अभिप्राय यही था कि बिना भविष्य की आशा के हमें अपना कार्य करना चाहिए।

उपर्युक्त मत के प्रतिकूल **मार्क्सवादी** कहते हैं कि हमारे सभी कार्य मृत्यु द्वारा सीमित हैं किन्तु इससे हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हमारी मृत्यु के बाद हमारे साम्यवादी साथी क्रान्ति को आगे बढ़ाएँगे। हमें उन पर पूर्ण विश्वास करना चाहिए। उन पर इस प्रकार विश्वास न करना अनैतिक होगा। इसके प्रति-प्रत्युत्तर (Rejoinder) में सार्त्र कहते हैं कि मैं अपने उन अदम्य साथियों पर विश्वास कर सकता हूँ जो मेरी तरह किसी उद्देश्य की पूर्ति में

1. Man is the future of man.

संलग्न हैं किन्तु मैं उन पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हूँ जिनके विषय में मैं पूर्णतया अनभिज्ञ हूँ अथवा केवल यह मानकर मैं विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि मनुष्य स्वभाव से शुभ होता है और वह सदा समाज के हित को ध्यान में रखकर कार्य करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वतन्त्र है और उसका कोई मूलभूत स्वभाव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक मनुष्य की किसी उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्धता है वहाँ तक तो हम उस पर विश्वास कर सकते हैं पर उसकी यह प्रतिबद्धता कब समाप्त हो जायगी इसके विषय में कुछ भी निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता। आखिर, मनुष्य एक स्वतन्त्र प्राणी है, भविष्य में वह कौन-सा दृष्टिकोण अपनाएगा इसके विषय में नहीं कहा जा सकता। तो क्या इसका अर्थ है कि हम नैष्कर्म्य (Quietism) में चले जायँ। कोई कार्य करना बन्द कर दें। इस प्रश्न के उत्तर में सार्त्र कहते हैं कि नहीं। प्रथम हमारे भीतर किसी उद्देश्य या कार्य के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए और पुनः उस प्रतिबद्धता के अनुसार हमें कार्य करना चाहिए किन्तु हमें भविष्य की कोई आशा नहीं करनी चाहिए।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दर्शन-शास्त्र में नैष्कर्म्यवाद है क्या ? नैष्कर्म्यवाद मनुष्य की वह अभिवृत्ति है जो कहती है "जो मैं नहीं कर सकता उसे दूसरों को करने दो"। अस्तित्ववाद का सिद्धान्त इसके बिलकुल प्रतिकूल है क्योंकि क्रिया से पृथक् हम किसी सत्ता की कल्पना नहीं कर सकते। इसके आगे भी बढ़कर अस्तित्ववाद कहता है कि मनुष्य अपने उद्देश्यों और क्रियाओं के समुच्चय से पृथक् कुछ भी नहीं है।

संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो यह कहते नहीं अघाते कि उनके भीतर अनन्त निहित क्षमताएँ हैं पर विपरीत परिस्थितियों के कारण वे उन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं कर पाते। अस्तित्ववाद के अनुसार यह कोरा बकवास है। क्षमताओं की अभिव्यक्ति क्रिया के माध्यम से ही होती है। किसी भी व्यक्ति के भीतर क्षमता हो और वह उसे क्रियान्वित न करे यह असम्भव है। सच पूछा जाय तो मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों एवम् उनके पारस्परिक सम्बन्धों का एक पुञ्ज है। अस्तित्ववाद न तो नैष्कर्म्यवाद है और न नैराश्यवाद। यह पूर्ण आशावादी दर्शन है।

सत्ता के तीन आयाम
(Dimensions of Existence)

सार्त्र अस्तित्व की प्रथम चेतना से अपने दर्शन का प्रारम्भ करते हैं। यह चेतना कोई सार्वभौम चेतना नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चेतना है। अतः मानव-अस्तित्व के विकास की कहानी का अर्थ है कि अस्तित्ववान व्यक्ति की प्राथमिक चेतना के अनुरूप उसकी आन्तरिकता के विकास की कहानी। अतः सार्त्र के विचारों का केन्द्र चेतन अस्तित्ववान व्यक्ति है। पर वह चेतन अस्तित्ववान व्यक्ति संसार में अकेला नहीं है, वह बाह्य परिस्थितियों से घिरा हुआ है। उसकी बाह्य परिस्थितियों के दो अनिवार्य अंग हैं : प्रथम अचेतन वस्तुएँ एवम् द्वितीय अन्य चेतन व्यक्ति। इस प्रकार सार्त्र चेतना के अस्तित्ववादी विश्लेषण में सत्ता के तीन आयामों का उल्लेख करते हैं जिनमें प्रथम अचेतन सत्ता, द्वितीय चेतन सत्ता एवं तृतीय अन्य चेतन सत्ताएँ। इन तीन सत्ताओं से ही हमारा संसार निर्मित होता है तथा इन्हीं की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा मानव-अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

(i) **अचेतन सत्ता (Being-in-itself)**—हम भली भाँति जानते हैं कि मानव-अस्तित्व चारों ओर अचेतन वस्तुओं से घिरा हुआ है। अचेतन वस्तुओं का मात्र अस्तित्व है। वे बिलकुल अर्थहीन (Absurd) एवम् अरुचिकर (Detrop) हैं। मानव-अस्तित्व ही उन्हें सार्थकता एवम् रुचि प्रदान करता है। अचेतन वस्तुओं में स्वयं कोई क्रिया नहीं होती, अतः उनमें न तो कोई सृजन की क्रिया सम्भव है और न विकास की। उनसे हम केवल टकरा सकते हैं और उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपकरण के रूप में प्रयोग कर सकते हैं पर उनके भीतर हम किसी "साध्य मूल्य" की खोज नहीं कर सकते। सार्त्र ने उनकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि अचेतन वस्तुएँ अभेद्य, गहन एवम् अपारगम्य हैं। अचेतन वस्तुओं के अतिरिक्त संसार में कुछ इतर जीवों का भी अस्तित्व है जो केवल मूल प्रवृत्तियों एवम् सहज क्रियाओं के द्वारा ही संचालित होते हैं। अचेतन वस्तुओं एवम् इतर प्राणियों से मिलकर **अचेतन सत्** (Insoi) का निर्माण होता है जो अर्थहीन व बेतुका है।

(ii) **चेतन सत्ता (Being-for-itself)**—चेतन सत्ता सार्त्र के दर्शन का प्रमुख केन्द्र है। वे चेतन अस्तित्व को अचेतन तत्त्व की अपेक्षा विचित्र मानते हैं क्योंकि अचेतन तत्त्व की विशेषताएँ उसकी संरचना में ही निहित है पर चेतन तत्त्व के भीतर अनन्त सम्भावनाएँ विद्यमान होती है। वस्तुतः चेतन तत्त्व एक विचित्र विरोधाभास है क्योंकि "**वह जो है वह नहीं है तथा जो वह नहीं है वह है।**" इसका निहितार्थ यह है कि किसी भी क्षण हम मनुष्य के निश्चित लक्षणों का विवरण प्रस्तुत नहीं कर सकते। मनुष्य सदा एक विकासमान इकाई है जिसके सभी लक्षण एक साथ प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चेतन मनुष्य एक ऐसी मंजूषा है जिसे वह सदा अपनी सामग्री से ही भरता रहता है। अतः मानव-अस्तित्व का अर्थ है उसे अपने अस्तित्व की चेतना होना जो निरन्तर नए-नए प्रकार से विकसित होती रहती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिस विकास की चर्चा हमने पहले की है उसका प्रवर्त्तक कौन है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य के भीतर विकास का प्रवर्त्तक **शून्यता** (Nothingness) है। वास्तव में विकास का प्रवर्त्तक केवल शून्य नहीं वरन् शून्यता या अभाव की चेतना है। शून्यता तो अचेतन् वस्तुओं में भी विद्यमान होती है पर वे विकास की ओर कभी भी उन्मुख नहीं होतीं क्योंकि उनके भीतर शून्यता की चेतना नहीं होती। अतः शून्यता नहीं वरन् **शून्यता की चेतना** ही विकास का प्रवर्त्तन करती है। मनुष्य अस्तित्व के भीतर केवल शून्यता की चेतना ही नहीं होती वरन् वह शून्यता का अतिक्रमण कर सदा पूर्णता को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वह सदा सर्जित होने की तथा विकसित होते रहने की प्रक्रिया में संलग्न रहता है। सार्त्र के अनुसार इस प्रकार की शून्यता की अनुभूति वस्तुतः उस मानवीय शक्ति का सूचक है जिसके द्वारा मनुष्य चेतन निर्णय लेता है। निर्णय लेने की इस शक्ति को स्वतन्त्रता कहा गया है जिसे मानव-अस्तित्व का प्रधान लक्षण स्वीकार किया गया है। स्वतन्त्रता की इसी अनुभूति के अनुरूप मानव अपना निर्माण करता है क्योंकि उसी के अनुरूप उसकी योजनाएँ क्रियान्वित होती हैं तथा इन योजनाओं के अनुरूप उसके चेतन अस्तित्व का विकास होता है। इसी चेतन अस्तित्व को सार्त्र ने **चेतन सत्ता** (Pour soi) के नाम से अभिहित किया है।

(iii) **अन्य चेतन सत्ताएँ (Being-for-others)**—चेतन अस्तित्व के विकास क्रम में अन्य चेतन सत्ताओं का एक विशिष्ट प्रयोजन है। आत्म-चेतना में अन्य आत्माओं की चेतना भी

निहित होती है। सार्त्र ने अन्य चेतन सत्ताओं की उपस्थिति का बड़ा सूक्ष्म एवम् सजीव विवरण प्रस्तुत किया है। अन्य चेतन सत्ताओं की उपस्थिति हमारे अस्तित्व पर दो प्रकार से प्रभाव डालती है। प्रथम प्रभाव तो यह है कि हम यह अनुभव करने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि जिस जगत को मैं **"विषय"** (Subject) रूप में देख रहा हूँ वह केवल मेरी चेतना का ही विषय नहीं है बल्कि अन्य चेतन सत्ताओं का भी विषय है। उन विषयों पर केवल हमारा ही आधिपत्य नहीं है बल्कि अन्य चेतन सत्ताओं का भी उनके ऊपर आधिपत्य है। सार्त्र की दृष्टि में यह मेरे स्वातन्त्र्य पर खुला आघात है। यह हमारी मौलिक स्वतन्त्रता की चेतना पर एक प्रकार का प्रतिबन्ध है जो हमें बाध्य करती है कि जब भी हम जगत की वस्तुओं के विषय में कोई निर्णय ले तो उन चेतन सत्ताओं के अधिकार पर भी विचार कर लें। हमें पूर्ण स्वतन्त्र होकर निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं है।

सार्त्र के अनुसार अन्य चेतन सत्ताओं की उपस्थिति मेरे अस्तित्व पर एक दूसरे प्रकार से भी आघात पहुँचाती है। जिस प्रकार मैं अन्य चेतन सत्ताओं को विषय रूप में देख रहा हूँ, उसी प्रकार अन्य चेतन सत्ताएँ भी मुझे "विषय" के रूप में देख रही हैं। इस अनुभूति से मेरा शुद्ध विषयी रूप खण्डित हो जाता है क्योंकि अब मैं शुद्ध विषयी न होकर अन्य आत्माओं का विषय बन गया हूँ। विषयी से विषय के रूप में परिवतर्तित होना मनुष्य के लिए लज्जास्पद अनुभूति है। यह मनुष्य का अवमूल्यन है। अन्य आत्माओं के अस्तित्व की चेतना से उत्पन्न लज्जा हमें बाध्य करती है कि इस विकट अनुभूति के अनुसार हम अपने संकल्पों को मूर्त्त रूप दें। इससे भी हमारी स्वतन्त्रता का व्याघात होता है क्योंकि अन्य आत्माएँ हमारी स्वतन्त्रता को सीमित करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सार्त्र के दर्शन में चेतन अस्तित्व की ही प्राथमिकता है पर उसके पूर्ण विकास के लिए अचेतन सत्ता एवम् अन्य आत्माओं की सत्ता भी सहायक होती है।

चेतना एवम् शून्यता

(Consciousness and Nothingness)

सार्त्र के दर्शन में चेतना का विश्लेषण इस कारण अनिवार्य हो जाता है कि चेतना के विश्लेषण में ही शून्यता या निषेध की प्रासंगिता स्पष्ट होती है। चेतना निषेधों द्वारा ही मूर्त्त रूप ग्रहण करती है। इसके तीन विविध पक्ष हैं : अभाव की चेतना, निषेधता तथा शून्यता की अनुभूति जिन पर हम पृथक-पृथक विचार प्रस्तुत करेंगे।

(i) **अभाव की चेतना**—जब हम चेतना का विश्लेषण करते हैं तो हम उसमें एक अभाव का दर्शन पाते हैं। अभाव के दर्शन से हमारा क्या तात्पर्य है ? हम जानते हैं कि सार्त्र का दर्शन हुसर्रल की आभासिकी से विशेष रूप में प्रभावित था। आभासिकी के अनुसार प्रत्येक चेतना विषयोन्मुख (Intentional) होती है अर्थात् प्रत्येक चेतना किसी न किसी विषय की ओर अवश्य संकेत करती है। चेतना के विषयोन्मुख होने का तात्पर्य यह नहीं है कि विषय चेतना से स्वतन्त्र होता है। विषय का अस्तित्व सदा चेतना के ऊपर ही निर्भर होता है। चेतना और उसके विषय को एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकते। चेतना अपने अन्तर्गत ही यह भेद बना देती है।

अतः यह भेद भी चेतना ही है, उससे बाहर नहीं। इसी को सार्त्र इस प्रकार व्यक्त करते हैं : **यह भेद वस्तुतः कुछ नहीं** (Nothingness) है। दोनों ही चेतना के अन्तर्गत स्थित हैं। इसी तथ्य को सार्त्र ने एक दूसरे प्रकार से भी व्यक्त किया है। उनके अनुसार **चेतना और कुछ नहीं निषेधता** है। इसका कारण यह है कि निषेधता के द्वारा ही चेतना संरचित होती है। वस्तुतः सार्त्र के दर्शन में शून्यता (Nothingness) शब्द का प्रयोग भेद प्रदर्शन के लिए नहीं वरन् अभेद या तादात्म्य के लिए ही किया गया है। **विषयी सदा विषयी के अभाव (विषय) के साथ संयुक्त होता है।**

सार्त्र ने "अभाव की चेतना" पद-समूह का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी किया है। वे इसका प्रयोग मानव-अस्तित्व में निहित सम्भावनाओं के आधार पर करने की चेष्टा करते हैं। वर्तमान में मानव-अस्तित्व केवल साध्यताओं (Potentialities) के रूप में ही विद्यमान है, सिद्धता (Actuality) के रूप में नहीं। पूर्ण सिद्धता के रूप में मानव-अस्तित्व असम्भव ही है। पूर्ण सम्भावनाओं की सिद्धता तो केवल अचेतन सत्ताओं (Being-in-itself) में ही प्राप्त होती है। चेतन सत्ताओं में पूर्ण सिद्धता की प्राप्ति असम्भव है। इसी कारण कहा जा सकता है कि मानव अस्तित्व की चेतना सम्भावनाओं की चेतना है जो अभी सिद्धता को प्राप्त नहीं हुई है। इन साध्यताओं को सिद्धता प्रदान करने का निर्णय व्यक्ति पर ही आश्रित होता है। यही मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता है जो अस्तित्ववाद का मूलाधार है। सार्त्र ने मनुष्य की अभावात्मक स्थिति को **निरर्थक आवेश** (Useless Passion) की संज्ञा प्रदान की है क्योंकि **मनुष्य अपने जीवन में वह प्राप्त करना चाहता है जो वह प्राप्त नहीं कर सकता।** यही उसका स्वरूप है। इसी अभाव को सार्त्र ने शून्यता (Nothingness) के माध्यम से व्यक्त किया है।

(ii) **निषेधता**—सार्त्र के अनुसार प्रत्येक चेतना निषेधों से ही निर्मित होती है।

स्पिनोजा ने कहा कि प्रत्येक गुण निषेधात्मक होता है। इसके विपरीत **हेमल** ने कहा है कि प्रत्येक निषेध गुण की निष्पत्ति करता है। सार्त्र के अनुसार भी निषेध के बिना चेतना की संरचना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए मैं किसी कमरे में देवदत्त को ढूँढ़ने जाता हूँ। कमरे में कुर्सी, मेज, पंखा एवम् अन्य कई व्यक्ति विद्यमान हैं। उन व्यक्तियों में देवदत्त भी है। मुझे देवदत्त की **पहचान** करनी है। मैं देवदत्त की पहचान तब तक नहीं कर सकता जब तक कि देवदत्त के सिवाय अन्य सभी व्यक्तियों एवम् वस्तुओं का निषेध न कर लूं। अर्थात् निषेध-प्रक्रिया से ही मैंने देवदत्त की पहचान को स्थापित किया है। इसी तथ्य को सार्त्र इस प्रकार व्यक्त करते हैं : **चेतना निषेध के बिना निर्मित नहीं हो सकती।**

(iii) **शून्यता की अनुभूति**—मानव-अस्तित्व केवल वर्तमान में ही जीवित नहीं होता। वह भविष्य के लिए भी जीवित रहना चाहता है वह प्रत्येक क्षण भविष्य के विषय में योजना बनाता है और अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है। इसका कारण यह है कि उसके व्यक्तित्व में सभी सम्भावनाएँ चरितार्थ नहीं हो पाई हैं। यदि उसके व्यक्तित्व में सभी सम्भावनाएँ चरितार्थ हो जायँ तो वह चेतन सत्ता अचेतन सत्ता का रूप ग्रहण कर लेगी। अतः चेतन सत्ता को चेतन सत्ता के रूप में ही बने रहने के लिए उसमें शून्यता या अभाव की अनुभूति अनिवार्य है। इसी शून्यता की अनुभूति उसके तथा जगत के बीच सेतु है तथा इन्हीं के बीच उसका जीवन स्थित है। इसी कारण सार्त्र के अनुसार शून्यता की अनुभूति मानव-अस्तित्व का अनिवार्य अंग है।

आत्म-प्रवञ्चना
(Bad Faith)

सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववान होने का अर्थ है चिन्ता, परिताप, निरवलम्बता, हताशा इत्यादि से ग्रस्त होना। संक्षेप में : हम इन प्रत्ययों को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं। मानव की यह अनुभूति कि उसका जीवन उसी के स्वतन्त्र निर्णय पर निर्भर करता है मनुष्य में चिन्ता उत्पन्न करती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता ही उसकी चिन्ता का प्रमुख कारण है। इसी प्रकार मनुष्य का परिताप उसके दायित्व-बोध पर आधारित होता है। जब मनुष्य किसी विकल्प का चयन करता है तो वह केवल अपने लिए ही नहीं करता वरन् सम्पूर्ण मानवता के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में अपनी स्वतन्त्र चयन-शक्ति द्वारा मनुष्य जो मूल्य उत्पन्न करता है वह सम्पूर्ण मानवता के लिए भी वैध है इसे कौन सिद्ध कर सकता है। यही मनुष्य का परिताप है। पुनः ईश्वर का अस्तित्व न होने के कारण मनुष्य निरवलम्ब है, अकेला है। अन्त में, मनुष्य हताशा से भी ग्रस्त है क्योंकि उसके निर्णय सदा सम्भाव्यता से ही ग्रस्त होते हैं निश्चयात्मकता द्वारा नहीं। तात्पर्य यह है कि मानव-अस्तित्व में उपर्युक्त व्याधियों का होना नितान्त अनिवार्य है। पर इन व्याधियों से मनुष्य को तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिए क्योंकि इन व्याधियों द्वारा मनुष्य के प्रामाणिक जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। मानवीय अस्तित्व की विशिष्टता मानवीयता की गरिमा इन अनुभूतियों के साथ जीने में है। इन अनुभूतियों से पलायन की चेष्टा हमें मानवीयता से पर्याप्त दूर घसीट ले जाती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि चिन्ता, परिताप, निरवलम्बता, हताशा, इत्यादि मानव-अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं तो मनुष्य उनसे पलायन किस प्रकार कर सकता है। वस्तुतः उनसे पलायन करने का अर्थ है अपने चेतन अस्तित्व से पलायन अथवा अपनी मानवीयता से पलायन। हम जानते हैं कि चेतन अस्तित्व के अतिरिक्त सत्ता के दो अन्य आयाम भी हैं जिनमें प्रथम अचेतन अस्तित्व एवम् द्वितीय अन्य चेतन सत्ताएँ। चेतन अस्तित्व को इन दोनों की अनुभूति है। अतः मनुष्य के अपने चेतन अस्तित्व से पलायन की एक विधि है चेतन अस्तित्व को अचेतन अस्तित्व में परिणत कर देना। अपने चेतन अस्तित्व से पलायन की दूसरी विधि है अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर अन्य चेतन सत्ताओं की पराधीनता स्वीकार करना। इन दोनों विधियों से मनुष्य का अमानवीयकरण होता है।

सार्त्र के अनुसार अधिकांश मनुष्य संसार की कठिनाइयों से बचने के लिए अपने को या तो "वस्तु" के रूप में परिणत कर देते हैं या अपनी स्वतन्त्रता खोकर अन्य व्यक्तियों के संकेतों के अनुसार कार्य करने लगते हैं। इसे सार्त्र ने आत्म-प्रवञ्चना (Bad Faith) कहा है। यह आत्म-प्रवञ्चना इसलिए है क्योंकि उपर्युक्त दोनों साधनों द्वारा हमें थोड़े समय के लिए चिन्ता और परिताप से मुक्ति भले ही मिल जाय, पर इनसे हमारी मूलभूत समस्याओं का सम्यक् समाधान कभी नहीं हो पाता। वे समस्याएँ पुनः द्विगुणित होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। अपने को धोखा देने से अथवा भुलावे में रखने से न केवल समाज में हमारा अवमूल्यन होता है वरन् हम बाह्य परिस्थितियों से नियन्त्रित होकर अपनी प्रामाणिकता को खो बैठते हैं। वह अपनी मूलभूत विशिष्टता, अपनी मानवीयता तथा अपनी मौलिक स्वतन्त्रता से वस्तुतः भाग भी नहीं सकता किन्तु वह समझ बैठता है कि वह ऐसा कर रहा है। यही प्रवञ्चनात्मक विश्वास

(Bad Faith) है।

सार्त्र ने प्रवञ्चनात्मक विश्वास का एक तात्त्विक आधार भी प्रस्तुत किया है जो चेतना के निषेध के रूप में प्रगट होता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि निषेधता चेतना का एक अनिवार्य अंग है। ऐसे अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जहाँ व्यक्ति इन निषेधों को प्रमुख समझकर कार्य करता है। उदाहरण के लिए जब एक बन्दी जेल से भागने का उपक्रम करता है तो वह जेल के इर्द-गिर्द नियुक्त रक्षकों का निषेध करता है। यदि उसने इन रक्षकों का निषेध न किया होता तो शायद वह जेल से भागने का उपक्रम ही न करता। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक परीक्षार्थी परीक्षा भवन में यदि पर्यवेक्षकों की उपस्थिति में भी नकल करने की योजना बनाता है, वहाँ भी वह पर्यवेक्षकों का जान-बूझकर निषेध ही करता है। विपक्षी की बातों का खण्डन करने के लिए हम कभी उसकी प्रामाणिक बातों की अनभिज्ञता का झूठा प्रदर्शन करते हैं। यह भी एक प्रकार से वास्तविकता का निषेध ही है। हमारे जीवन में कभी ऐसी परिस्थिति भी आती है जब निषेधता अन्तर्मुखी होकर हमें अपना ही निषेध करने के लिए बाध्य कर देती है। जब अपराधी होने पर भी हम अपने अपराधी होने तक का निषेध करते हैं तो इसे भी सार्त्र ने प्रवञ्चनात्मक विश्वास की संज्ञा दी है।

किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्रवञ्चनात्मक विश्वास साधारण झूठ बोलना नहीं है। साधारण झूठ बोलने में जब व्यक्ति झूठ बोलता है तो वह जानता है कि सत्य क्या है। यदि उसे सत्य का ज्ञान न होता तो उसका झूठ, झूठ ही न होता। यद्यपि झूठ सत्य का निषेध है किन्तु झूठ के साधारण उदाहरण में झूठ बोलने वाले व्यक्ति की आन्तरिक वृत्ति निषेधात्मक नहीं है क्योंकि उसे पूर्ण ज्ञान है कि वास्तविकता क्या है। पर आत्म-प्रवञ्चना में व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से नहीं वरन् वह अपने से ही झूठ बोलता है। यहाँ यह सम्भव ही नहीं है कि उसकी आन्तरिक वृत्ति एवम् बाह्य अभिव्यक्ति में विरोध हो। यहाँ स्वयं एवम् अन्य का भेद नहीं है। यह व्यक्ति की एक विशिष्ट योजना है जिसमें अज्ञानता के कारण उसमें आत्म-विस्मृति उत्पन्न हो जाती है। यहाँ साधारण झूठ के समान ज्ञान और अज्ञान का दो स्तर नहीं होता वरन् केवल अज्ञान का ही स्तर बनता है। यहाँ प्रवञ्चक एवम् प्रवञ्चित दो व्यक्ति नहीं वरन् एक है। चेतना जब इस रूप में मुखरित हो कि वह किसी प्रकार अपनी विशिष्टता भूल जाय तो उसमें प्रवञ्चनात्मक विश्वास उत्पन्न होता है। साधारण झूठ में अन्य व्यक्ति का प्रवञ्चन होता है किन्तु आत्म-प्रवञ्चना में व्यक्ति अपना प्रामाणिक व्यक्तित्व भूलकर अप्रामाणिक व्यक्ति के रूप में ही जीवन व्यतीत करता है।

हम जानते हैं कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य का अमानवीयकरण दो रूपों में सम्पादित होता है : प्रथम जब वह अपने को एक 'वस्तु' के रूप में परिणत् कर लेता है तथा द्वितीय जब वह अपने को दूसरों के 'विषय' रूप में देखने लगता है। सार्त्र ने उपर्युक्त दोनों रूपों का मूर्त दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। प्रथम प्रकार की आत्म-प्रचञ्चना के दृष्टान्त रूप सार्त्र ने एक ऐसी स्त्री का उदाहरण दिया है जो किसी पुरुष के साथ पहली बार बाहर जाती है। वह पुरुष उसे भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाता है। एक स्थान पर वह स्त्री का हाथ पकड़ लेता है और स्त्री भाव-विभोर होकर अपने हाथ को पुरुष की गोद में समर्पित कर देती है। सार्त्र ने इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा है कि समर्पण की अवस्था में उस स्त्री का हाथ किसी चेतन व्यक्ति का

हाथ न होकर एक स्थूल और निर्जीव वस्तु के अंग के रूप में ही पुरुष की गोद में पड़ा था। यहाँ उक्त स्त्री ने अपने को व्यक्ति के स्थान पर वस्तु के रूप में परिवर्तित कर लिया था। यही उसका अमानवीयकरण है। यहाँ वह केवल वर्तमान में ही जी रही है और उसने भविष्य की सभी सम्भावनाओं से अपने को वंचित कर रखा है। अभी उसने शरीर को अपने चेतन अस्तित्व से पृथक् कर रखा है। सार्त्र के अनुसार यह उस स्त्री का **प्रवञ्चनात्मक विश्वास** है क्योंकि वह अपने को वस्तु के रूप में परिणत कर अपने को ही धोखा दे रही है।

सार्त्र का दूसरा उदाहरण होटल के एक प्रतीक्षक (Waiter) का है जिसने अपना अवमूल्यन कर अपने को "विषयी" की अपेक्षा "विषय" के रूप में परिवर्तित कर लिया है। हम सभी जानते हैं कि होटल का प्रतीक्षक एक "विषयी" है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है पर उसने आत्म-प्रचञ्चना द्वारा अपने को विषय रूप में परिणत कर लिया है। उसके द्वारा सम्पादित सभी कार्य स्वतन्त्र कार्य न होकर अन्य व्यक्तियों द्वारा आदेशित कार्य है। प्रतीक्षक जानता है कि वह एक स्वतन्त्र-संकल्प शक्तिवान व्यक्ति है पर आत्म-प्रचञ्चना द्वारा उसने भविष्य की सारी सम्भावनाओं से अपने को पृथक् कर लिया है। यदि प्रतीक्षक अपने कार्य के मध्य इन सम्भावनाओं को अपनी चेतना में रखे तो वह प्रतीक्षक का कार्य दक्षतापूर्वक सम्पादित नहीं कर पाएगा। वह क्रमशः प्रतीक्षक के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसके पास अन्य विकल्प भी विद्यमान है पर आत्म-विस्मृति के कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि अब उसके पास कोई दूसरा विकल्प है ही नहीं। यही उसका प्रवञ्चनात्मक विश्वास है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि **प्रवञ्चनात्मक विश्वास** साधारण "धोखा" या "झूठ" के समान नहीं है! साधारण धोखा या झूठ में व्यक्ति को "सत्य" का ज्ञान होता है। वह जान-बूझकर दूसरों को धोखा देता है अथवा झूठ बोलता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के आन्तरिक एवम् बाह्य क्रिया-कलापों में अनुरूपता नहीं पाई जाती। पर प्रवञ्चनात्मक विश्वास में व्यक्ति को न केवल सत्य का अज्ञान होता है वरन् उसके आन्तरिक एवम् बाह्य क्रिया-कलापों में अनुरूपता भी पाई जाती है। प्रतीक्षक वाले उदाहरण में व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर प्रतीक्षक के साथ पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्रतीक्षक का यह रूप प्रवञ्चनात्मक विश्वास में जीना है क्योंकि यह उसकी वास्तविकता नहीं है। आत्म-प्रवञ्चना के इस रूप की विशिष्टता यह है कि इसमें व्यक्ति अपनी वास्तविकता से भागने के प्रयत्न में अपने को अन्य व्यक्तियों के आदेश पर छोड़ देता है।

यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर मनुष्य प्रवञ्चनात्मक विश्वास में क्यों संक्रमण करता है ? सार्त्र के अनुसार प्रवञ्चनात्मक विश्वास में थोड़े समय के लिए मनुष्य को चिन्ता, भय, निराशा इत्यादि से मुक्ति मिल जाती है पर यह मुक्ति अस्थायी ही होती है क्योंकि इससे व्यक्ति को स्थायी शान्ति तो मिलती नहीं, इसके स्थान पर वह अपना अमानवीयकरण कर बैठता है। बात यह है कि मनुष्य के जीवन में जो वास्तविकता है, वह थोड़े समय के लिए भले ही दब जाय, उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। आत्म-प्रवञ्चना से उसके जीवन में एक कृत्रिमता आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप असामञ्जस्य, घुटन इत्यादि उसके जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। आत्म-प्रवञ्चना से मनुष्य को किसी प्रकार की मुक्ति तो मिलती नहीं, बदले में वह अपनी मानवीय गरिमा को भी खो देता है।

कार्ल जास्पर्स

(1883-1969)

जीवन-वृत्त—कार्ल जास्पर्स का जन्म 1883 ई० में जर्मनी के ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) नामक स्थान में हुआ। उन्होंने हाइडेलबर्ग (Heidelberg), म्यूनिख (Munich) तथा बर्लिन (Berlin) विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ में उन्होंने अपना कार्य एक मनोचिकित्सक के रूप में अग्रसारित किया पर बाद में वे हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त किए गए जहाँ उन्होंने कई वर्षों तक दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। जास्पर्स का अध्यापन कार्य केवल हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय तक ही सीमित नहीं रहा। बाद में उन्होंने स्विट्जरलैण्ड में बेसल (Basel) विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। 1958 में उन्हें "जर्मन शान्ति पुरस्कार" (German Peace Prize) से विभूषित किया गया।

रचनाएँ—कार्ल जास्पर्स ने अपने जीवन काल में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें सर्वाधिक प्रमुख ग्रन्थ **फिलॉसॉफी** (Philosophie, 1932) है जो तीन खण्डों में विभाजित है। उनकी दूसरी पुस्तक **मैन इन द माडर्न एज** (Man in the Modern Age) है जिसमें उन्होंने आधुनिक सभ्यता की कटु आलोचना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार आज का मनुष्य यान्त्रिकी (Mechanics), औद्योगीकरण (Industrialisation), जनसंघटन इत्यादि के जाल में फँसकर मात्र एक यन्त्र (Machine) के रूप में परिणत हो गया है और इस प्रकार उसने अपना स्वत्व खो दिया है। फलस्वरूप वह सही अर्थ में अस्तित्ववान नहीं है। वह एक यन्त्र की तरह परिचालित होकर अयथार्थ एवम् अप्रामाणिक जीवन व्यतीत कर रहा है। मनुष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब कि वह अपने यथार्थ एवम् प्रामाणिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करे व उनके अनुसार अपना जीवन चरितार्थ करे। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त जास्पर्स ने कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें **द फ्यूचर ऑव मैन** (The Future of Man) एवम् **द पेरेनियल स्कोप ऑव फिलॉसॉफी** (The Perennial Scope of Philosophy) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण

(Philosophical Standpoint)

जास्पर्स के विचारों का प्रमुख केन्द्र **"आधुनिक मानव"** (Modern Man) है जिसे आधुनिक परिवेश व सभ्यता से आवृत मनुष्य की चेतना है। वह इस चिन्ता में ग्रस्त है कि कहीं यह परिवेश मानव की विशिष्टता व मानवीयता का हनन तो नहीं कर देगा। अतः जास्पर्स की दार्शनिक समस्या इस बात पर केन्द्रित है कि किस प्रकार आधुनिक मानव जटिल परिस्थितियों के बीच अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने "अस्तित्व" शब्द को मानव-जीवन से सम्बन्धित कर उसकी एक नवीन व्याख्या प्रदान की है। जास्पर्स के अनुसार अस्तित्व की समस्या का कोई सार्वभौम और सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता ; उसका समाधान प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने विशिष्ट ढंग से करना पड़ता है। यदि एक व्यक्ति के जीवन को भी लिया जाय तो उसमें अस्तित्व की समस्या का एक ही समाधान सम्भव

नहीं है। उसे सदा नयी-नयी सम्भावनाओं में नए-नए रूप में अस्तित्ववान होना पड़ेगा। वास्तव में मानव-जीवन असंख्य प्रश्नों की एक शृंखला है। जिस जगत में वह रहता है तथा जिन अन्य चेतन सत्ताओं के साथ वह रहता है, वे सतत् नए-नए रूपों में मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। अतः अस्तित्ववान व्यक्ति को उन समस्याओं का समाधान करने के लिए नयी-नयी विधियों का प्रयोग करना होता है। इसी से मानव-अस्तित्व के विकास की नयी-नयी सम्भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपनी सीमित परिधि का अतिक्रमण (Transcend) कर असीम व्यापतता (Encompassing) की ओर अग्रसर होता है।

जास्पर्स के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि **उनके अनुसार दार्शनिक चिन्तन सदा समकालीन होता है।** उसमें विकास और प्रगति का क्रम नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से दर्शन-शास्त्र विज्ञान से कुछ भिन्न है। विज्ञान में विकास और प्रगति का एक क्रम होता है। एक काल में विज्ञान के कुछ सत्य स्थापित होते हैं किन्तु दूसरे काल में वे वैज्ञानिक सत्य असत्यापित हो जाते हैं तथा उस क्रम में विज्ञान में नवीन सत्य एवम् नवीन सिद्धान्तों की निष्पत्ति होती है। पर दार्शनिक चिन्तन के विकास का क्रम विज्ञान के समान नहीं है। उत्तरकालीन दार्शनिक विचारों के उद्‌भव से पूर्वकालीन दार्शनिक विचारों की प्रासंगिकता समाप्त नहीं हो जाती ; उन विचारों का महत्त्व प्रत्येक काल के लिए अक्षुण्ण रहता है। हाँ, दार्शनिक समस्याओं के नवीन समाधान एक नवीन कलेवर में भले ही प्रस्तुत हों, पर उनसे प्राचीन कलेवर में प्रस्तुत समाधान का महत्त्व कम नहीं होता। एक काल का विचारक पूर्ववर्ती काल के विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि पूर्ववर्ती विचारों के आधार पर ही वह अपने उत्तरवर्ती विचारों का सृजन करता है। उत्तरवर्ती विचारों के सृजन से पूर्ववर्ती विचार असत्यापित नहीं हो जाते। प्रत्येक विचारक की समकालीन दृष्टि में प्राचीन विचार के तत्त्व अवश्य विद्यमान होते हैं ; केवल उनके वाह्य कलेवर में हमें नवीनता दिखाई पड़ती है।

यद्यपि जास्पर्स के दर्शन का केन्द्र-विन्दु **"आधुनिक अस्तित्ववान मनुष्य"** है किन्तु उसका, सम्यक् विवेचन तव तक सम्भव नहीं है जब तक कि उससे सम्बन्धित दो अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार न कर लिया जाय। मानव अस्तित्व सदा चेतन सत्ताओं एवम् वाह्य जगत के द्वैत में उलझा हुआ है जिसका समाधान द्वैतवाद के परिप्रेक्ष्य में सम्भव नहीं है। मनुष्य सोचता है कि जब तक हम द्वैतवाद से अतीत होकर परात्मकता (Transcendence) की ओर अग्रसर नहीं हो जाते तब तक जीवन की समस्याओं का सम्यक् समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसी कारण जास्पर्स सत्ता के तीन विभिन्न रूपों का विवेचन करने के लिए उद्यत हो जाते हैं जो क्रमशः तत्र-अस्तित्व (Being there), स्व-अस्तित्व (Being one-self) तथा स्वतन्त्र अस्तित्व (Being itself) जिनका बाद में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

दर्शन एवम् विज्ञान

(Philosophy and Science)

जास्पर्स विज्ञान के विरोधी नहीं हैं। जहाँ विज्ञान आवश्यक है वहाँ उसकी उपयोगिता है। पर उनके अनुसार विज्ञान के प्रभाव में उसकी सीमा को भूल जाना उचित नहीं है। वे स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक दृष्टि विज्ञान के खण्डन पर आधारित नहीं हो सकती क्योंकि कुछ अनिवार्य

तथ्यों के लिए दर्शन को विज्ञान की सहायता लेनी ही पड़ती है। विज्ञान के समर्थन में वे कहते हैं कि विज्ञान मनुष्य को अन्ध-विश्वास, संवेगात्मक अभिवृत्तियों एवम् भावनात्मक पूर्वाग्रहों इत्यादि से मुक्त कराने में सहायक सिद्ध होता है। दर्शन को विज्ञान की सहायता लेनी ही पड़ती है क्योंकि तथ्यों का यथार्थ निर्देश विज्ञान द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः मानव-स्थितियों के सम्बन्ध में कोई विचार तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता और तथ्यों का जगत विज्ञान का जगत है। उनका तो यहाँ तक कथन है कि आधुनिक काल में वैज्ञानिक विधि के महत्त्व को स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि जास्पर्स विज्ञान के विरोधी नहीं हैं।

विज्ञान-विरोधी न होते हुए भी जास्पर्स विज्ञान की सीमाओं को समझते हैं। विज्ञान सर्वत्र उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। विज्ञान संवृति जगत के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान अवश्य प्रदान करता है किन्तु इस प्रकार के ज्ञान द्वारा परमसत् का ज्ञान कहाँ प्राप्त होता है। संवृति ज्ञान द्वारा "मानव" का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में विज्ञान की दृष्टि एकांगी होती है। वह वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त कराने का दावा तो करता है पर वस्तुनिष्ठ ज्ञान ही एक मात्र ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के अतिरिक्त भी एक परमार्थ का ज्ञान होता है जो विज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। जास्पर्स के अनुसार **अतिवैज्ञानिकता** जीवन के लिए घातक भी सिद्ध हो सकती है। विज्ञान जिस किसी वस्तु का अनुसंधान करता है, उसे वह एक वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। अर्थात् वैज्ञानिक अपने अनुसंधान के विषय को एक बाह्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है। वैज्ञानिक जब अपने ही मानसिक जीवन का विश्लेषण करता है तो वह उसे एक निष्क्रिय या निष्प्राण वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार विषयीकरण (Objectifying) वैज्ञानिक विधि का एक अनिवार्य लक्षण है। पर इस प्रकार की विधि से सभी प्रकार के तथ्यों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। विज्ञान की भी सीमाएँ होती हैं जिनका वह उल्लंघन नहीं कर सकता। विज्ञान की सीमा से अतीत का जो क्षेत्र है उसके सम्बन्ध में विज्ञान बिलकुल व्यर्थ है क्योंकि ऐसे क्षेत्र का विषयीकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ कार्ल जास्पर्स पर काण्ट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। काण्ट के अनुसार ज्ञाता एवम् ज्ञेय के स्वरूप ही कुछ ऐसे हैं कि ज्ञाता ज्ञाता के रूप में कभी भी ज्ञेय नहीं हो सकता। उनके अनुसार ज्ञाता ज्ञान का विषय कभी भी नहीं बन सकता। यदि वह ज्ञान का विषय बन जाय तो फिर वह ज्ञाता नहीं रह जायगा। वह विषयी (Subject) न रहकर विषय (Object) का रूप ग्रहण कर लेता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञाता का अस्तित्व ही नहीं है। उसका अस्तित्व तो अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना ज्ञान ही असम्भव है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त विषयी का ज्ञान किस प्रकार सम्भव है। इस सम्बन्ध में जास्पर्स ने **आस्था** (Faith) एवम् **प्रज्ञा** (Reason) की चर्चा की है। संवृति से अतीत सत्ताओं को हम सर्वप्रथम आस्था के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं पर बाद में उस आस्था को मूर्त्त रूप देने के लिए प्रज्ञा द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। आस्था केवल अन्ध-विश्वास नहीं है बल्कि बुद्धि की सीमा का ज्ञान है। आस्था का आधार बुद्धि है जिसे प्रज्ञा मूर्त रूप देने की चेष्टा करती है। जास्पर्स ने अपने दर्शन में "प्रज्ञा" शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया है। प्रज्ञा साधारण बुद्धि या सामान्य बौद्धिकता नहीं है। सामान्य बौद्धिकता ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत की परिधि में विचरण करती है जिसके द्वारा स्वतन्त्र सत् (Being

itself) का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। बुद्धि की पहुँच संवृति तक ही सीमित है पर प्रज्ञा न केवल बुद्धि की सीमाओं को जानती है वरन् उसकी सीमाओं का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र सत् को भी जानने का प्रयत्न करती है। इसीलिए जास्पर्स ने प्रज्ञा को **परात्मकता की विधि** कहकर संबोधित किया है। इस प्रकार आस्था एवम् प्रज्ञा के बीच कोई विरोध नहीं है। प्रज्ञा आस्था के आधार पर ही बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र सत् को जानने की चेष्टा करती है। प्रज्ञा के विषय की परिधि में ऐसे विचार भी आ सकते हैं जिनका साधारण बुद्धि निषेध करती है, या जिसकी पूर्ण उपेक्षा करती है। उदाहरण के लिए बुद्धि रहस्यात्मक अनुभूति अथवा परमार्थ सत् के विषय में कोई कथन नहीं कर सकती। यहाँ काण्ट एवम् जास्पर्स के दर्शनों में कुछ समानताएँ दिखाई पड़ती हैं। दोनों बुद्धि और प्रज्ञा के द्वैत को स्वीकार करते हैं। दोनों के अनुसार बुद्धि की पहुँच केवल संवृति तक ही सीमित है। दोनों के अनुसार प्रज्ञा संवृति की सीमा का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र सत् को जानने की चेष्टा करती है। पर दोनों के दर्शन में कुछ भेद भी है। काण्ट के दर्शन में प्रज्ञा केवल नियामक (Regulative) शक्ति है, उपादानात्मक (Constitutive) शक्ति नहीं पर जास्पर्स के दर्शन में प्रज्ञा नियामक होने के साथ उपादानात्मक भी है। उनके अनुसार हम प्रज्ञा के द्वारा न केवल स्वतन्त्र सत् की ओर संकेत करते हैं वरन् उसके द्वारा हम स्वतन्त्र सत् का साक्षात्कार भी कर सकते हैं। इसी कारण जास्पर्स ने प्रज्ञा को **परात्मकता की विधि** (Mode of Transcendence) के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार दार्शनिक चिन्तन की विधि "आस्था" एवम् "प्रज्ञा" दोनों को अपने भीतर समाहित करती है। दोनों मिलकर स्वतन्त्र सत् का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

सत्ता के प्रकार

(Modes of Existence)

जास्पर्स के अनुसार विज्ञान अपनी विषयीकरण-विधि से आगे बढ़ने की चेष्टा तो करता है किन्तु इस विधि के द्वारा वह विषयी के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि विषयी का कभी विषयीकरण नहीं हो सकता। इसीलिए जास्पर्स कई प्रकार के अस्तित्व या सत् को स्वीकार करते हैं। उन्होंने तीन मूल कोटियों के आधार पर अपने तत्त्व-विज्ञान को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है : प्रथम तत्र-सत् (Being there), द्वितीय आत्म-सत् (Being-for-oneself) एवम् तृतीय स्वयं-सत् (Being-in-itself)। इनके विषय में हम पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे।

(1) तत्र-सत् (Being there)—तत्र-सत् से जास्पर्स का तात्पर्य उस जगत से है जिसमें मनुष्य अपने को विद्यमान पाता है। उन्होंने अपने दर्शन में जगत का विवेचन उस प्रकार नहीं किया है जिस प्रकार परम्परागत तत्त्व-दर्शनों में पाया जाता है। यहाँ जगत को एक बाह्य, पहले से विद्यमान एवम् पृथक् वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में नहीं माना जाता। जगत की सार्थकता इसी में है कि मानव अपने को उसमें स्थित पाता है ; मानव को अपने अस्तित्व की अनुभूति में यह चेतना भी होती है कि वह उस जगत में स्थित है। यही सत् विज्ञान का विषय होता है। भौतिकी, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि विज्ञानों में जिन विषयों का विवेचन होता है वे सभी तत्र-सत् हैं।

तत्र-सत् का तो विवेचन किया जा सकता है पर विवेचक का वैज्ञानिक विवेचन सम्भव नहीं है। विवेचक जो ज्ञाता या विषयी है, विज्ञान की सीमाओं से अतीत है। यह सत् विज्ञान को सम्भव बनाता है पर वह स्वयं विज्ञान का विषय नहीं बनता। ऐसे सत् को जास्पर्स ने आत्म-सत् (Being for oneself : Existenz) नाम दिया है। यह आत्म-सत् विज्ञान की परिधि से अतीत दर्शन की परिधि में आता है। विज्ञान दर्शन नहीं है किन्तु वह दर्शन के लिए पृष्ठभूमि अवश्य तैयार करता है।

(2) आत्म-सत् (Being-for-oneself)—जास्पर्स के अनुसार तत्र-सत् की अनुभूति में आत्म-सत् की अनुभूति एवम् आत्म-सत् की अनुभूति में तत्र-सत् की अनुभूति शामिल होती है। इन अनुभूतियों में इन दोनों की भिन्नता की भी चेतना है। इस भिन्नता की चेतना में प्रथमतः यह संज्ञान है कि आत्म-सत् तत्र-सत् से पूर्णतया आबद्ध नहीं है। आत्म-सत् तत्र-सत् में स्थित रहते हुए भी उससे स्वतन्त्र है। तत्र-सत् आत्म-सत् को प्रभावित भले ही करता हो पर वह उसके द्वारा निर्धारित नहीं होता। इस स्वतन्त्रता की चेतना से यह आभास होता है कि उसका आत्म-सत् बाह्य उद्दीपनों से संचालित अस्तित्व नहीं है बल्कि उसकी प्रतिक्रियाएँ उसके स्वतन्त्र निर्णयों एवम् चयन पर आधारित है। आत्म-सत् एवम् तत्र-सत् के स्वभाव में भी विलक्षणता पाई जाती है। मनुष्य का सही अस्तित्व वह है जिसके द्वारा असत् को सत् रूप में परिणत किया जाता है। मनुष्य भविष्योन्मुख होता है। वह भविष्य की सम्भावनाओं को अपने स्वतन्त्र संकल्प से मूर्त्त रूप देता है। इस प्रकार की सर्जनात्मक क्षमता तत्र-सत् में नहीं पाई जाती। वह तो निष्क्रिय एवम् निष्प्राण होता है। वह भविष्य की ओर उन्मुख न होकर केवल वर्तमान में ही अवस्थित रहता है। वह मनुष्य जो मात्र वर्तमान में स्थित है वह सही अर्थ में मनुष्य नहीं है। उसका केवल अप्रामाणिक अस्तित्व ही होता है पर जो मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र है और जो अपनी स्वतन्त्र संकल्प शक्ति द्वारा अपना निर्माण करता है उसी का अस्तित्व प्रामाणिक अस्तित्व है।

(3) स्वयं-सत् (Being-in-itself)—मनुष्य स्वतन्त्र तो है पर उसकी स्वतन्त्रता अपरिमित नहीं है। उसकी भी सीमाएँ होती हैं। यदि एक ओर मनुष्य का यथार्थ अस्तित्व उसकी स्वतन्त्रता में निहित है तो दूसरी ओर वह कुछ सीमाओं के अन्तर्गत ही कार्य कर सकता है। उसकी बाह्य परिस्थितियाँ उसे सीमित बनाती हैं और उसे अपने सीमित अस्तित्व का बोध कराती हैं। मनुष्य का जीवन सहज ही आगे नहीं बढ़ जाता। मनुष्य को प्रामाणिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तथा अपने प्रयास में अनेक बाधाओं एवम् कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

परन्तु यदि एक ओर मनुष्य को सीमित करने वाली परिस्थितियाँ उसके लिए अभिशाप हैं तो दूसरी ओर वे उसके लिए वरदान भी हैं। क्योंकि वे परिस्थितियाँ ही मनुष्य को उस परम् सत् का बोध कराती है जो केवल तत्र-सत् से ही नहीं वरन् आत्म-सत् से भी परे हैं। यद्यपि स्वयं-सत् तत्र-सत् एवम् आत्म-सत् से अतीत है पर इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वयं-सत् तत्र-सत् एवम् आत्म-सत् से कोई पृथक् सत्ता है। स्वयं-सत्, तत्र-सत् एवं आत्म-सत् अन्य सभी सत्ताओं में अन्तर्यामी (Immanent) एवम् पर (Transcendent) दोनों हैं। इस प्रकार स्वयं-सत्, एक व्यापक तत्त्व (Comprehensive Being) है जिसके परे हम किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसीलिए जास्पर्स ने स्वयं-सत् को व्याप्तता (Encompassing) की भी संज्ञा प्रदान

की है। स्वयं-सत् इतना व्यापक तत्त्व है कि उससे बृहत्तर तत्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी कारण स्वयं-सत् की न कोई परिभाषा दी जा सकती है और न उसके विषय में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं-सत् के ज्ञान को दार्शनिक आस्था (Philosophic Faith) के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। यह आस्था मनुष्य को ससीम से असीम की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करती है। जास्पर्स ने इस प्रक्रिया को **परात्मकता** (Transcendence) की संज्ञा प्रदान की है। यह परात्मकता ही स्वयं-सत् में विश्वास का आधार है। अन्ततः यह स्वयं-सत् ईश्वरीय अस्तित्व है जिसे हम आस्था के आधार पर स्वीकार करते हैं। परातमकता साधन है तो व्यापक-तत्त्व हमारा साध्य है। यह परात्मकता हमारे जीवन का सबल आधार बन सकता है जिसके द्वारा आधुनिक मानव अपनी मानवीयता, अपनी विशिष्टता को सार्थक ढंग से प्रतिष्ठित कर सकता है।

व्याप्तता एवम् परात्मकता
(Encompassing and Transcendence)

ऊपर हमने व्याप्तता एवम् परात्मकता की थोड़ी चर्चा की। व्याप्तता साध्य है तथा परात्मकता साधन। पर अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि जीवन की किन परिस्थितियों में हम अपने यथार्थ का अतिक्रमण कर आदर्श को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो जाते हैं। इन विशिष्ट परिस्थितियों को जास्पर्स ने **चरम-स्थितियाँ** (Ultimate Situations) कहा है। इन चरम स्थितियों में ऐतिहासिक नियतत्व (Historical Determinacy), संघर्ष (Conflict), दुःख (Suffering), अपराध-भाव (Guilt) एवम् मृत्यु (Death) प्रमुख हैं। **ऐतिहासिक नियतत्व** की प्रमुख बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य एक निश्चित समय एवम् निश्चित स्थान में उत्पन्न होता है जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है। ऐतिहासिक नियतत्व के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनके कारण वह वर्तमान स्थिति का अतिक्रमण कर स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने को अग्रसर होता है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में उसके यथार्थ एवम् आदर्श के बीच सदा **संघर्ष** चला करता है जिसके कारण वह संघर्ष से अतीत परम शान्ति को प्राप्त करने का इच्छुक होता है। यही बात **दुःख, अपराध-भावना व मृत्यु** पर भी लागू होती है। यदि भगवान बुद्ध ने मनुष्य-जीवन में दुःख, अपराध व मृत्यु का साक्षात्कार न किया होता तो वे अमरत्व प्राप्ति के लिए कभी भी अग्रसर न होते। इन चरम स्थितियों के कारण ही मनुष्य के भीतर परम तत्त्व को प्राप्त करने की व्याकुलता उत्पन्न होती है।

अब जास्पर्स प्रश्न करते हैं कि क्या उपर्युक्त चरम स्थितियाँ हमारे जीवन को निरर्थक, प्रयोजनहीन व अशान्त बनाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ? संसार में हमें सभी ओर अशक्तता, विफलता व निराशा ही दिखाई पड़ती है। हम जीवन के संघर्षों एवम् द्वन्द्वों द्वारा इतने आक्रान्त व संत्रस्त हैं कि हमारे भीतर **अवखण्डन की अनुभूति** (Feeling of Foundering) का आना अनिवार्य है। पर इन चरम स्थितियों से हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यही चरम स्थितियाँ हमें उज्ज्वल भविष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हैं। जीवन की चरम स्थितियाँ **व्याकुलता** उत्पन्न करती हैं, व्याकुलता **आस्था** को जन्म देती है और आस्था **ईश्वरीय तत्त्व** के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करती है। जास्पर्स के अनुसार आस्था में ही परात्मकता का आग्रह होता है। जब तक हम चरम-स्थितियों से असन्तुष्ट और व्याकुल नहीं होंगे तब तक हम

परम तत्त्व (Encompassing) को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट ही नहीं होंगे। परम तत्त्व ही हमारी चरम स्थितियों का एक मात्र समाधान है। वहाँ हमारी सभी समस्याओं का शमन हो जाता है।

आगे चलकर जास्पर्स ने दो प्रकार की व्याप्तता में विश्वास प्रगट किया है। प्रथम वह **व्याप्तता जो पिण्ड या आत्मा में है** (The encompassing which we are) और वह **व्याप्तता जो ब्रह्माण्ड में है** (The encompassing that is Being itself)। आत्मा की व्याप्तता इस अनुभूति पर आधारित है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारी अनुभूति का विषय बन सकता है। हम सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समेटे हुए हैं। भारतीय दर्शन में "आत्मा" को व्यापक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। आत्मा का शाब्दिक अर्थ ही व्यापकता है। आत्मा की व्याप्तता की तीन विधाएँ (Modes) हैं। प्रथम व्याप्तता **वैयक्तिक चेतना** (Individual Consciousness) की व्याप्तता है जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं। यह हमारी साधारण चेतना है। द्वितीय व्याप्तता **विशुद्ध चेतना** (Consciousness as such) की व्याप्तता है जो केवल व्यक्ति तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होने की चेतना है। उचित-अनुचित का भेद, नैतिकता का आधार, सार्वभौम तार्किकता इसी विशुद्ध चेतना पर आधारित है। तृतीय व्याप्तता **आध्यात्मिक चेतना** (Spiritual Consciousness) की व्याप्तता है जो सभी प्रकार की सृजनात्मकता का स्रोत है। कला, साहित्य, दर्शन, उच्च आदर्शों की प्राप्ति में तथा सामाजिक उत्थान के कार्यों में आध्यात्मिक चेतना की व्याप्तता परिलक्षित होती है।

आत्मा की उपर्युक्त तीन विधाओं के अतिरिक्त एक **ब्रह्माण्डीय व्याप्तता** भी है जो अखण्ड चेतना है और जो आत्मा और जगत दोनों को समाहित किए हुए है। आत्मा की उपर्युक्त जिन तीन विधाओं : वैयक्तिक चेतना, विशुद्ध चेतना तथा आध्यात्मिक चेतना का वर्णन किया गया वे मात्र हमारे अवखण्डन के बीच एकता स्थापित करने के सूत्र हैं। हम इन विशिष्ट चेतनाओं तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकते। उपर्युक्त विशिष्ट चेतनाएँ एक ऐसी अतीत चेतना की ओर संकेत करती हैं **जो सबका अधिष्ठान है। इसे ब्रह्माण्डीय** या **तात्त्विक व्याप्तता** का नाम दिया जा सकता है। इस ब्रह्माण्डीय व्याप्तता की अनुभूति दो रूपों में प्राप्त होती है : प्रथम जगत (World) रूप में एवम् द्वितीय परात्मकता (Transcendence) के रूप में। ब्रह्माण्डीय **व्याप्तता की प्रथम** विधा : **जगत** में मुझे केवल इसकी ही अनुभूति नहीं होती कि मैं जगत को अपने भीतर समेटे हुए हूँ वरन् यह भी अनुभूति होती है कि मेरे जगत से पृथक् एक ऐसा व्यापक जगत भी है जो मुझे भी समेटे हुए है। यह जगत हमें अनेक रूपों में दिखाई देता है। इस अनुभूति द्वारा हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान एक इकाई के रूप में प्रतीत होता है जो सभी आत्माओं को भी अपने भीतर समाहित करता है। पर जागतिक व्याप्तता सर्वश्रेष्ठ व्याप्तता नहीं है। जागतिक व्याप्तता की भी एक सीमा होती है जो जगत से भी एक श्रेष्ठतर व्याप्तता की ओर संकेत करती है। इस व्याप्तता को जास्पर्स ने **परात्मकता** (Transcendence) नाम दिया है। इस परात्मकता के द्वारा हम ईश्वरीय तत्त्व तक पहुँचने में सफल हो जाते हैं। यहाँ परात्मकता एवं व्याप्तता समकेन्द्रिक हो जाते हैं। इस स्थिति का स्पष्ट वर्णन तो किया नहीं जा सकता क्योंकि हम इससे बृहत्तर जाति की कल्पना भी नहीं कर सकते। हर एक व्यक्ति को इस परात्मकता की

अनुभूति केवल उन्हीं व्यक्तियों को हो सकती है जो प्रामाणिक जीवन (Authentic Life) व्यतीत करने की कला जानते हैं। प्रामाणिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों को जास्पर्स ने **अस्तित्ववान व्यक्ति** (Existenz) की संज्ञा दी है। केवल ऐसे व्यक्ति ही परात्मकता एवम् व्याप्तता का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

ग्रैब्रियल मार्सेल

(Gabrial Marcel 1889-1973)

जीवन-वृत्त—ग्रैब्रियल मार्सेल का जन्म 1889 में पेरिस नगर में हुआ था। वे केवल दार्शनिक ही नहीं थे वरन् एक सफल नाटककार एचम् आलोचक के रूप में भी सुप्रसिद्ध थे। वे प्रारम्भ में विज्ञानवाद (Idealism) से अत्यधिक प्रभावित थे किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका ने उन्हें इतना उद्वेलित कर दिया कि उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि केवल अमूर्त दार्शनिक चिन्तन द्वारा मनुष्य की मूर्त्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। धार्मिक दृष्टि से वे रूढ़िवादी नहीं थे पर फिर भी उन्होंने 1929 में केथॉलिक (Catholic) धर्म को स्वीकार कर लिया जिसके परिणामस्वरूप उनके जीवन में बुद्धि एवम् तर्क की अपेक्षा आस्था का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया।

रचनाएँ—मार्सेल ने फ्रेञ्च भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें कुछ ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में अनूदित भी हुए हैं। इन ग्रन्थों में **बीइंग एण्ड हैविंग** (Being and Having 1935), **द फिलासॉफी ऑव इक्ज़िस्टेन्स** (The Philosophy of Existence 1949), **द फिलॉसॉफी ऑव इक्जिस्टेंशलिज्म** (The Philosophy of Existentialism 1961) एवम् **द मिस्टरी ऑव बीइङ्ग** (The Mystery of Being 1950) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण

(Philosophical Standpoint)

मार्सेल के अनुसार हमारे विचार का केन्द्र बाह्य जगत नहीं वरन् "मनुष्य" है। पर मनुष्य से मार्सेल का तात्पर्य आदि-मानव (Primitive Man) नहीं वरन् आधुनिक मानव (Modern Man) है। उनका समस्त दर्शन इस बात पर आधारित है कि आज का मानव एक कृत्रिम जीवन व्यतीत कर रहा है। वह अपने वास्तविक या तात्त्विक स्थिति से विश्रृंखल हो गया है। उन्हें ऐसा आभास होता है कि आज के मानव जीवन में जो अवखण्डन, अशान्ति एवम् दिशाहीनता दिखाई देती है उसका मूल कारण यह है कि आज का मानव अपने प्रामाणिक जीवन से विलग हो गया है। इस अलगाव या पार्थक्य (Estrangement) को हम दो स्तरों पर देख सकते हैं : प्रथम वैचारिक स्तर पर एवम् द्वितीय वास्तविक अस्तित्व के स्तर पर। वैचारिक स्तर का विश्लेषण करते हुए मार्सेल कहते हैं कि कार्टीशियन परम्परा को स्वीकार करने वाले दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन उसके द्वारा संपादित चिन्तन की प्रक्रिया के आधार पर करने की चेष्टा करते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि मानव केवल चिन्तन करने वाला ही प्राणी है, भावना व संकल्प वाला प्राणी नहीं। लोग भूल जाते हैं कि मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता केवल चिन्तन करने में ही निहित नहीं है। यदि मानव को केवल चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा परिभाषित करने की चेष्टा की जाय तो वह मानव की परिभाषा ही नहीं होगी। इसी कारण मार्सेल का कथन है कि इस

प्रकार का विचार बुद्धि को जीवन और अस्तित्व से स्वतन्त्र बना देता है जिसके परिणामस्वरूप हमारे जीवन में कृत्रिमता आ जाती है क्योंकि यह मानव के संगठित वैयक्तिकता को अपने वैचारिक विश्लेषण में खण्डित कर देता है।

मानव को केवल वैचारिक सत्ता मानने के कारण उसके प्रामाणिक अस्तित्व के स्तर पर भी अवखण्डन की अनुभूति होने लगती है। आज के वैज्ञानिक उपकरण मानव-अस्तित्व को भी कुछ स्नायु-तन्त्रों एवम् मांसपेशियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में घटित करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य एक सजीव प्राणी न रहकर केवल यन्त्र के रूप में कार्य करने लगता है। यह मनुष्य के अस्तित्व का अवमूल्यन है क्योंकि इसमें मनुष्य अपने जीवन की यथार्थता एवम् प्रामाणिकता से पृथक् होकर मात्र कृत्रिम व्यक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। अतः मार्सेल के दर्शन की प्रमुख समस्या यही है कि किस प्रकार आधुनिक मानव को अपनी वास्तविकता व प्रामाणिकता की अनुभूति कराई जाय ; किस प्रकार आज का अवखण्डित मानव अपनी यथार्थता एवम् विशिष्टता के अनुरूप अपना जीवन यापन कर सकता है। अतः मानव को अपनी मानवीयता की आत्मानुभूति कराना ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है।

समस्या एवं रहस्य
(Problem and Mystery)

मार्सेल के अनुसार चिन्तन के दो धरातल हो सकते हैं जिनकी व्याख्या के लिए उन्होंने **समस्या** (Problem) एवम् **रहस्य** (Mystery) के बीच भेद स्थापित किया है। विज्ञान का सम्बन्ध समस्याओं से होता है पर दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध रहस्यों से होता है। यदि दर्शन-शास्त्र के रहस्यों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम जानने का प्रयत्न करते हैं तो इससे रहस्यों का उद्घाटन नहीं किया जा सकता। आधुनिक मानव का जीवन समस्याओं का जीवन हो गया है ; इसी कारण वह अपने तात्त्विक रहस्य से पूर्णतया अनभिज्ञ है। यह अनभिज्ञता ही उसके जीवन की रिक्तता एवम् घुटन का कारण है। अतः समस्याओं के जीवन से अपने को मुक्त कर अपने तात्त्विक रहस्य के अनुसंधान के प्रयत्न में ही मनुष्य की विशिष्टता स्पष्ट हो सकती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वैज्ञानिक चिन्तन एवम् दार्शनिक चिन्तन में क्या मौलिक भेद हैं। वैज्ञानिक चिन्तन वस्तुनिष्ठ चिन्तन होता है। इस प्रकार के चिन्तन में चिन्तक अपने आपको चिन्तन के विषय से बिल्कुल पृथक् रखता है। वैज्ञानिक की दृष्टि एक **प्रेक्षक की दृष्टि** (Spectator's View) होती है। वह विषय के साथ अपने को आवेष्टित नहीं करता। उसके विषय का मनुष्य-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसमें वैज्ञानिक अपने वैयक्तिक जीवन को किनारे पर रखता है। पर ऐसा चिन्तन तो एक अतिविकसित मशीन भी कर सकता है। ऐसा चिन्तन हमारी समस्याओं का समाधान भले ही कर दे, वह हमारे रहस्यों का समाधान बिलकुल नहीं कर सकता।

मार्सेल के अनुसार अस्तित्व का अवबोध वैज्ञानिक चिन्तन द्वारा सम्भव नहीं है। अस्तित्व अपना अस्तित्व है, इसे गहराई में डूबकर ही अनुभव किया जा सकता है। वैज्ञानिक चिन्तन में द्रष्टा एवम् दृश्य के बीच द्वैत होता है पर दार्शनिक चिन्तन में द्रष्टा एवम् दृश्य के बीच एकीकरण होता है। जब मैं प्रेम-सम्बन्ध का विवेचन करता हूँ तब मैं अपने को अपने चिन्तन से पृथक् नहीं

रखता, वरन् मैं अपने प्रेमी रूप को अपने चिन्तन का आधार बनाता हूँ। प्रेम का वर्णन प्रेमी-प्रेमिका के आन्तरिक वैयक्तिक सम्बन्ध को किनारे रखकर नहीं किया जा सकता ; उसका वर्णन उसे अपने आप में अनुभव करके ही किया जा सकता है। यह प्रेक्षक-दृष्टि द्वारा नहीं वरन् **कर्ता दृष्टि** (Actor's view) द्वारा ही सम्भव है। ऐसे चिन्तन द्वारा समस्या का समाधान नहीं होता, वरन् रहस्य का उद्‌घाटन होता है। यह विषयनिष्ठ न होकर विषयीनिष्ठ ही होता है। यही कारण है कि रहस्यों के समझने का कोई सार्वभौम ढंग नहीं होता। उसे प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट प्रकार से ही समझने की चेष्टा करता है।

इसी सन्दर्भ में मार्सेल ने चिन्तन के दो प्रकारों का उल्लेख किया है। वैज्ञानिक चिन्तन प्रथम चिन्तन (First Reflection) एवम् दार्शनिक चिन्तन द्वितीय चिन्तन (Second Reflection) है। समस्यामूलक चिन्तन प्रथम प्रकार का चिन्तन है तथा रहस्यमूलक चिन्तन द्वितीय प्रकार का चिन्तन है। प्रथम चिन्तन में चिन्तन के विषय से चिन्तक का वैयक्तिक जीवन तटस्थ रहता है। द्वितीय चिन्तन में चिन्तक अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों में अवस्थित रहकर चिन्तन करता है। अर्थात् यहाँ वह अपनी अनुभूतियों का ही रहस्य खोलता है। मार्सेल उन दर्शनों को यथार्थ रूप में दर्शन नहीं मानते जो मानव-अस्तित्व को समस्या के रूप में ग्रहण करते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्षवाद (Positivism) एवम् विज्ञानवाद (Idealism) दोनों ही दर्शन के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि दोनों ही मानव-अस्तित्व का विषयीकरण कर देते हैं।

मनुष्य का यथार्थ अस्तित्व उसका विषय (Object) रूप नहीं वरन् विषयी (Subject) रूप है। संसार में वह अकेला नहीं है वरन् विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से आवद्ध है। उसका वास्तविक स्वरूप सांसारिक होता है। जगत से भिन्न मनुष्य का अस्तित्व काल्पनिक है। मनुष्य का जगत के साथ सम्बन्ध उसके शरीर के द्वारा स्थापित होता है, पर उसके शरीर का अस्तित्व संसार की अन्य वस्तुओं के अस्तित्व के समान नहीं होता। मनुष्य का शरीर के साथ जो सम्बन्ध है वह बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध से बिलकुल विलक्षण है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त के अनुसार मनुष्य का शरीर के साथ वही सम्बन्ध है जो उसका बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है, पर अस्तित्ववाद के अनुसार शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होता है। अद्वैत वेदान्त स्पष्ट रूप में घोषित करता है कि **"मैं शरीर नहीं हूँ"** पर अस्तित्ववाद यह घोषित करता है कि **"मैं शरीर हूँ भी और नहीं भी हूँ।"** अपने शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध साधारण नहीं, रहस्यपूर्ण है। इसी रहस्य का उद्‌घाटन करना ही दर्शनशास्त्र का कार्य है।

वैज्ञानिक चिन्तन एवम् दार्शनिक चिन्तन के भेद को हम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी समझ सकते हैं। दार्शनिक चिन्तन में हम विषय-वस्तु को **प्राप्त** (To have) करते हैं पर दार्शनिक चिन्तन में विषय-वस्तु को **हम आत्मसात्** (To be) करते हैं। समस्याओं में संलग्न रहना प्रथम प्रकार का चिन्तन है पर रहस्यों की अनुभूति करना दूसरे प्रकार का चिन्तन है। समस्यामूलक चिन्तन का लक्ष्य कुछ उपलब्धि है किन्तु अस्तित्व की अनुभूति उपलब्धि नहीं वरन् आत्म-साक्षात्कार है। अस्तित्व को आत्मसात करने की अनुभूति आत्मा और जीवन के द्वैत को लीन करने की अनुभूति है।

आत्मा एवम् अन्य सत्ताएँ

हम जानते हैं कि संसार में मनुष्य अकेला नहीं है। उसके साथ यदि एक ओर भौतिक

वस्तुएँ हैं तो दूसरी ओर अन्य मनुष्य। वह भौतिक वस्तुओं एवम् अन्य चेतन सत्ताओं द्वारा घिरा हुआ है। डेकार्ट्स की भाँति मार्सेल भौतिक जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करते क्योंकि व्यक्ति की अस्तित्ववादी अनुभूति में ही जगत् की सत्ता सम्मिलित है।

मार्सेल के अनुसार हमारी आत्मा एवम् भौतिक जगत के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध होता है तथा आत्मा एवम् अन्य चेतन सत्ताओं के साथ दूसरे प्रकार का सम्बन्ध होता है। आत्मा एवम् जगत के बीच का सम्बन्ध विषयी-विषय का सम्बन्ध है। अतः उनके बीच समस्यामूलक सम्बन्ध ही हो सकता है। यह सम्बन्ध भी ऐसा है कि आत्मा का भौतिक जगत से सम्बन्ध साक्षात् सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध ही है। पर मार्सेल शरीर एवम् भौतिक वस्तुओं को एक ही कोटि की सत्ता नहीं मानते। आत्मा एवम् भौतिक वस्तुओं के बीच पूर्ण बाह्य सम्बन्ध है पर शरीर के साथ वैसा ही बाह्य सम्बन्ध नहीं पाया जाता। भौतिक जगत के सम्बन्ध में समस्यामूलक चिन्तन इसी कारण होता है क्योंकि आत्मा का भौतिक वस्तुओं के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर शरीर के माध्यम से परोक्ष सम्बन्ध ही होता है।

मार्सेल ने आत्मा एवम् अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। किसी आत्मा की अन्य आत्माओं के साथ सम्बन्ध की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार अन्य आत्माओं को विषयी के रूप में स्वीकार न कर उन्हें विषय के रूप में ही स्वीकार किया जाय। मनुष्य बस यही सोचता है कि जिस प्रकार वह भौतिक वस्तुओं से घिरा हुआ है उसी प्रकार वह कुछ अन्य व्यक्तियों से भी घिरा हुआ है। वह उनकी वैयक्तिकता से तनिक भी प्रभावित नहीं होता ; वह उन्हें वस्तु-मात्र ही समझता है। ऐसी स्थिति में अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारा चिन्तन समस्यामूलक चिन्तन ही होगा।

पर मार्सेल के अनुसार हमारी आत्मा का अन्य व्यक्तियों के साथ एक दूसरे प्रकार का सम्बन्ध भी हो सकता है। इसमें आत्मा का किसी भौतिक वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं वरन् एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के बीच भेद करते हुए मार्सेल कहते हैं कि पहला सम्बन्ध अहम् (I) एवम् इदम् (It) के बीच का सम्बन्ध है एवम् दूसरा अहम् (I) एवम् त्वम् (Thou) के बीच का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का बौद्धिक निरूपण नहीं किया जा सकता ; इसकी केवल अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार का सम्बन्ध एक रहस्य (Mystery) है।

मार्सेल ने दो आत्माओं के पारस्परिक सम्बन्ध को संज्ञापन (Communication) एवम् सायुज्य (Communion) के माध्यम से व्यक्त किया है। उदाहरणस्वरूप प्रेमी एवम् प्रेमिका के बीच के सम्बन्ध को ही ले लिया जाय। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेमी प्रेमिका को एक भौतिक वस्तु के रूप में समझता है जिसे वह उसी रूप में प्राप्त करना चाहता है जिस रूप में वह स्कूटर प्राप्त करना चाहता है। प्रेम दो आत्माओं का सम्बन्ध है। यह अहम् एवम् इदम् के बीच सम्बन्ध नहीं वरन् अहम् एवम् त्वम् के बीच का सम्बन्ध है। इस प्रेम की वास्तविकता का बौद्धिक निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि यह एक रहस्य (Mystery) है जिसका अनुभूति के द्वारा हमें उद्घाटन करना है।

दो आत्माओं के बीच सम्बन्ध के द्वारा मार्सेल ने ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया है। दो आत्माओं के बीच सम्बन्ध की परिणति केवल अहम् एवम् त्वम् तक ही सीमित नहीं

होती वरन् वह अहम् एवम् परम (Absolute) तक पहुँच जाती है। यह भी एक रहस्य है जिसका बौद्धिक निरूपण नहीं किया जा सकता। केवल इसकी अनुभूति की जा सकती है।

स्वतन्त्रता एवं ईश्वर की अनुभूति

मार्सेल ने स्वतन्त्रता के प्रत्यक्ष का इस प्रकार विश्लेषण किया है जिससे कि हम उसके द्वारा ईश्वर की अनुभूति कर सकें। सभी अस्तित्ववादी मानव की स्वतन्त्रता से अपने दर्शन का प्रारम्भ करते हैं। पर स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य न तो किसी जन्मजात शक्ति से है और न इसका अर्थ सर्वशक्तिमत्ता से है। स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य केवल चयन या निर्णय करने की स्वतन्त्रता से है। स्वतन्त्रता से अस्तित्ववादियों का तात्पर्य न तो किसी प्रकार की अतन्त्रता से है और न स्वच्छन्दता से है। स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य विरोधी परिस्थितियों में भी स्वतन्त्र निर्णय लेने की शक्ति से है।

संसार में मनुष्य अकेला नहीं है। उसके साथ भौतिक वस्तुएँ एवम् अन्य व्यक्ति भी विद्यमान हैं। यदि संसार में मनुष्य अकेला होता तो उसकी स्वतन्त्रता की कोई सार्थकता भी नहीं होती। परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही मनुष्य की स्वतन्त्रता सार्थक होती है। बाह्य परिस्थितियाँ मनुष्य की इच्छा-शक्ति को केवल प्रभावित करती हैं उन्हें निर्धारित नहीं करतीं। मार्सेल के अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति में मूलतः अव्यक्त रूप में निहित होती है। मनुष्य को उसका ज्ञान तब होता है जब अव्यक्त स्वतन्त्रता व्यक्त स्वतन्त्रता के रूप में परिणत हो जाती है। अतः मनुष्य में निहित अव्यक्त शक्तियों को व्यक्त करने की क्षमता में ही स्वतन्त्रता निवास करती है। आधुनिक मनोविज्ञान का यह कथन यथार्थ नहीं है कि वातावरण के नियन्त्रण द्वारा किसी व्यक्ति को प्रशिक्षित कर नया रूप दिया जा सकता है। हमारे व्यवहार उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र (S-R. Formula) द्वारा निर्धारित नहीं होते। मार्सेल बाह्य नियतत्ववाद (External Determinism) के प्रबल विरोधी हैं। बाह्य नियतत्ववाद मनुष्य की स्वतन्त्रता एवम् गरिमा को अक्षुण्ण नहीं रख सकता। वह मनुष्य को यान्त्रिक मानव में परिणत कर देता है। उस अवस्था में उसकी स्वतन्त्रता अव्यक्त ही रह जायगी तथा उसे स्वतन्त्रता की अनुभूति भी न होगी। मार्सेल के अनुसार व्यक्ति ज़ब इस जीवन से ऊपर उठकर अपने तात्त्विक रहस्य में निमग्न होता है तभी उसे स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपने तात्त्विक रहस्य में कब निमग्न हो सकता है। मार्सेल के अनुसार तात्त्विक रहस्य में निमग्न होने की प्रक्रिया तब प्रारम्भ होती है जब हम अहम् एवम् इदम् के बीच सम्बन्ध स्थापित न कर अहम् एवम् अहम् के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। बाद में यही अहम् और अहम् के बीच सम्बन्ध अहम् एवम् परम (I and Absolute) के बीच सम्बन्ध के रूप में परिणत हो जाता है।

अहम् एवम् परम के बीच सम्बन्ध के क्या निहितार्थ हैं। मार्सेल के अनुसार जब मनुष्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर परम-तत्त्व की ओर अग्रसर होते हैं तो स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण उन्होंने स्वतन्त्रता को उन्मुक्तता द्वारा परिभाषित करने की चेष्टा की है। जब व्यक्ति अपनी निहित अव्यक्त क्षमताओं को व्यक्त (Open out) कर लेता है तो वह परम तत्त्व को भी आत्मसात कर लेता है। यही मनुष्य की विशिष्टता है जो उसे संसार के

अन्य प्राणियों से पृथक् करती है।

मार्सेल के अनुसार ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी निहित क्षमताओं को विकसित करता है, उसकी स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है और साथ-साथ वह उन्मुक्त होकर परम-तत्त्व के समीप पहुँचता है। उन्मुक्तता मनुष्य की सृजनात्मकता का भी द्योतक है। उन्मुक्तता न तो पूर्ण तटस्थता है और न पूर्ण प्रतिबद्धता ही। तटस्थता स्वतन्त्रता से पलायन है जबकि प्रतिबद्धता एक प्रकार की परतन्त्रता है। स्वतन्त्रता विकास की ओर अग्रसर होने की सतत् प्रेरणा है जिसके माध्यम से हम ईश्वर को भी प्राप्त कर लेते हैं। अतः स्वतन्त्रता ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन है।

ईश्वर को बुद्धि या तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर की वस्तुनिष्ठ सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न उसे विज्ञान का विषय बना देगा। हम जानते हैं कि ईश्वर विज्ञान का विषय न होकर दर्शनशास्त्र का विषय है। ईश्वर की केवल रहस्यात्मक अनुभूति ही की जा सकती है। अनुभूति में हम बाहर से कुछ प्राप्त नहीं करते बल्कि इसमें हम अपनी आन्तरिकता को ही विकसित करते हैं। दो आत्माओं का सम्बन्ध एक दूसरे को आत्मसात करने का सम्बन्ध है। इसी प्रकार के सम्बन्ध का जब विस्तार होता है और हम परम तत्त्व की ओर उन्मुख होते हैं, तो हमें ईश्वर की अनुभूति हो जाती है। यह अनुभूति कोई क्षणिक अनुभूति नहीं वरन् एक निरन्तर व अविच्छिन्न अनुभूति है।

मार्सेल ने **विश्वास** (Conviction) एवम् **आस्था** (Faith) के बीच भेद किया है। विश्वास का स्तर बौद्धिक होता है तथा उसमें एक प्रकार की हठवादिता होती है क्योंकि कोई बौद्धिक युक्ति हमारे विश्वास को प्रभावित नहीं कर सकती। आस्था बौद्धिकता से अतीत है। ईश्वर विश्वास का विषय न होकर आस्था का ही विषय है। ईश्वर विषयी है, वह साधारण ज्ञान का विषय कभी भी नहीं बन सकता। इसी कारण वह आस्था का विषय होता है। विश्वास एवम् आस्था के बीच जो दूसरा अन्तर है वह यह है कि विश्वास का विषय निश्चित होता है, उसका हम निर्देश भी कर सकते हैं तथा उसके समर्थन में हम युक्तियाँ भी दे सकते हैं। इसके विपरीत आस्था का विषय पूर्णतया निश्चित नहीं होता क्योंकि वह विषय न होकर सदा विषयी ही होता है। यही कारण है कि आस्था के विषय को बाहर संसार में ढूँढ़ना असम्भव होता है।

अतः मार्सेल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विषयी होने के कारण हम ईश्वर को अपनी आन्तरिकता में ही प्राप्त कर सकते हैं। यही उसकी रहस्यात्मकता है। ईश्वर को अपनी आन्तरिकता में प्राप्त करने का अर्थ है : परात्पर ईश्वर की ओर निरन्तर उन्मुख रहना। यह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास द्वारा ही सम्भव है। ईश्वर न कल्पना का विषय है और न विचार का ही। उसका केवल साक्षात्कार किया जा सकता है। ईश्वर एक निरपेक्ष तत्त्व है जिसके साथ सायुज्य की स्थापना अन्य व्यक्तियों के साथ सायुज्य के माध्यम से ही होती है। **अन्तर्व्यक्तीय सायुज्य ईश्वर साक्षात्कार का द्वार है**। इसका कारण यह है कि ईश्वर-अस्तित्व के आधार पर ही हम अन्तर्व्यक्तीय सायुज्य की कल्पना कर सकते हैं।

□□□

14

साधारण भाषा दर्शन
(Ordinary Language Philosophy)

प्रथम अध्याय में हम पहले ही देख चुके हैं कि तार्किक प्रत्यक्षवाद के विरोध में साधारण भाषा दर्शन की मान्यता है कि हमारी साधारण भाषा दार्शनिक चिन्तन के लिए बिलकुल उपयुक्त है। इसके लिए किसी कृत्रिम भाषा की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि साधारण भाषा दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करती है, उनका समाधान भी उसी भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। साधारण भाषा दर्शन का श्रीगणेश उत्तरकालीन विटगेन्स्टाइन ने अपनी पुस्तक **"फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स"** में पहले ही प्रारम्भ कर दिया था पर इसे एक परिपक्व दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय **पीटर फ्रेडरिक स्ट्रॉसन** (Peter Frederic Strawson) को जाता है जिनके दर्शन के विषय में हम यहाँ संक्षेप में वर्णन करेंगे।

जीवन-वृत्त—पीटर फ्रेडरिक स्ट्रॉसन का 1919 ई० में इंग्लैण्ड में जन्म हुआ था। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा इंग्लैण्ड में ही सम्पन्न हुई थी। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद वे 1968 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में तत्त्व-विज्ञान के वायनफ्लीट प्रोफेसर (Waynflete Professor) नियुक्त किए गए और वहीं अन्त तक दर्शन शास्त्र का अध्यापन करते रहे।

रचनाएँ—स्ट्रॉसन का दार्शनिक जीवन निर्देशन[1] (Referring) पर उनके एक महत्त्वपूर्ण लेख से प्रारम्भ होता है जो उन्होंने "माइण्ड" पत्रिका में लिखा था। इसके पश्चात् उन्होंने 1952 में आधुनिक तर्क-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी जिसका **इण्ट्रोडक्शन टु लॉजिकल थियरी** (Introduction to Logical Theory) नाम रखा गया। स्ट्रॉसन की पुस्तकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक **इण्डिविजुअल्स** (Individuals) है जो उन्होंने 1959 में प्रकाशित की। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक दार्शनिक लेख विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जो उनके मौलिक विचारों को व्यक्त करते हैं।

स्ट्रॉसन का वर्णन-सिद्धान्त

बर्ट्रण्ड रसेल ने सर्वप्रथम **साक्षात् ज्ञान** (Knowledge by acquaintance) एवं **वर्णनात्मक ज्ञान** (Knowledge by description) में भेद किया।[2] साक्षात् ज्ञान वह ज्ञान है जिसमें हमें किसी विषय की **अपरोक्ष अभिज्ञता** (Direct Awareness) प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, सामने रखी गयी मेज के रंग का ज्ञान या बाहर सड़क पर दौड़ती कार की आवाज का ज्ञान साक्षात् ज्ञान कहा जायगा। इस परिभाषा के अनुसार हमें साक्षात् ज्ञान केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों (Sense-Data) का ही हो सकता है, वस्तुओं का नहीं। इसके विपरीत, वर्णनात्मक ज्ञान में हमें किसी व्यक्ति या वस्तु का साक्षात् ज्ञान न होकर उसके विषय में केवल

---

1. ऑन रेफरिंग, माइण्ड 1950.
2. Russell, B. Problems of Philosophy, Ch 4.

किसी तथ्य का ही ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए हम लोगों में से किसी ने भी जूलियस सीजर को नहीं देखा है किन्तु उसके विषय में हमें बहुत से तथ्यों की जानकारी है, जैसे : उसने रुबिकार्न नदी को पार किया, ब्रूटस के द्वारा उसकी हत्या हुई, इत्यादि। इन तथ्यों को समझने के लिए जूलियस सीजर का साक्षात् ज्ञान होना कोई आवश्यक नहीं है। वर्णनात्मक ज्ञान साक्षात् ज्ञान से स्वतन्त्र होता है।

रसेल ने दो प्रकार के वर्णनों का उल्लेख किया है : **निश्चित वर्णन** (Definite Description) और **अनिश्चित वर्णन** (Indefinite Description)। निश्चित वर्णन का स्वरूप होता है : "वह अमुक" (The so-and-so) तथा अनिश्चित वर्णन का स्वरूप होता है : "एक अमुक" (A so-and-so)।[1] निश्चित वर्णन का तात्पर्य यह है कि एक ऐसी विशेषता है जो **एक और केवल एक** वस्तु पर ही लागू होती है जैसे : "फ्रान्स के वर्तमान नरेश"। इसके विपरीत, अनिश्चित वर्णन का अर्थ यह है कि एक ऐसी विशेषता है जो **कम से कम एक** वस्तु या व्यक्ति पर लागू होती है, जैसे : "एक कवि की हत्या की गई"। प्रस्तुत लेख में हम केवल निश्चित वर्णनों के विश्लेषण पर ही विचार करेंगे क्योंकि रसेल के निश्चित वर्णनों के विश्लेषण पर ही स्ट्रॉसन ने अपनी आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

रसेल ने निश्चित वर्णन का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ, जिनमें निश्चित वर्णन शामिल होते हैं, उद्देश्य-विधेय रूप प्रतिज्ञप्तियाँ न होकर तार्किक दृष्टि से असंगत वाक्य ही होते हैं। 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' इस प्रतिज्ञप्ति में "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" एक निश्चित वर्णन है। "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" व्याकरणिक उद्देश्य भले ही हो पर वह तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) कभी नहीं हो सकता। "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" कोई संज्ञा नहीं है ; यह किसी व्यक्ति का नाम न होकर उसका केवल वर्णन ही है। उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति तब भी सार्थक होगी जबकि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश न हो। यह प्रतिज्ञप्ति किसी व्यक्ति-विशेष के विषय में न होकर केवल एक विशेषता के विषय में ही है, चाहे वह विशेषता किसी व्यक्ति के भीतर पायी जाती हो अथवा नहीं पायी जाती हो। रसेल के अनुसार यदि उपर्युक्त निश्चित वर्णन का तार्किक विश्लेषण किया जाय तो उसका निम्न स्वरूप होगा—

(1) कम-से-कम एक व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है।

(2) अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है।

(3) जो व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है वह बुद्धिमान भी है।

यदि उपर्युक्त प्रतिज्ञप्तियों में एक भी असत्य है तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति असत्य कही जायगी। उक्त वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण की प्रमुख बात यह है कि रसेल के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की "अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता" (Existential Presupposition) उस प्रतिज्ञप्ति का अभिन्न अंग होती है। अतः यदि किसी प्रतिज्ञप्ति की अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता असत्य है तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति ही असत्य मान ली जायगी। रसेल द्वि-मूल्य (Two valued) तर्कशास्त्र में विश्वास करते थे : उनके अनुसार कोई प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होगी या असत्य, इसकी कोई तीसरी सम्भावना नहीं है। इसके विपरीत स्ट्रॉसन के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की "अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता" उसका अभिन्न अंग न होकर केवल उसकी पूर्व-कल्पना ही होती

1. Russell, B. Introduction to Mathematical Philosophy p 172.

है। ये पूर्वकल्पनाएँ निर्देशात्मक स्वरूप की (Directive) होती हैं जो किसी प्रत्ययेतर विश्व (Extra-Conceptual World) के किसी पक्ष का उद्घाटन करती है। यदि ये पूर्वकल्पनाएँ असत्य हैं तो कोई **अभिकथन** (Assertion) ही नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में उक्त प्रतिज्ञप्ति के सत्य अथवा असत्य होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम कथन करते हैं कि 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' तो रसेल के अनुसार, यदि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश नहीं है तो उक्त वाक्य असत्य माना जायगा पर स्ट्रॉसन के अनुसार चूँकि फ्रान्स का कोई वर्तमन नरेश नहीं है, उक्त वाक्य के यथार्थ अथवा अयथार्थ होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

अब प्रश्न यह उठता है कि रसेल और स्ट्रॉसन के बीच "पूर्व-कल्पनाओं" को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ है उसमें किसकी बात अधिक सही है। यहाँ इसी समस्या का विश्लेषण किया गया है तथा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की गई है।

पूर्वकल्पनाएँ किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं

जब कोई अभिकथन किया जाता है तो उसके तीन पक्षों या आयामों में विभेद किया जा सकता है : प्रथम, अभिकथन का **सम्पादन** (Performance) या **उच्चारण** (Utterance) ; द्वितीय, अभिकथन की **परिस्थिति** या निश्चित **सन्दर्भ या प्रसंग** (Context) तथा तृतीय, वक्ता की **मानसिक अवस्था** (Mental State) जिसमें अभिकथन किया जाता है। वक्ता की मानसिक स्थिति विश्वास, अविश्वास, अनुमोदन या अननुमोदन की हो सकती है। उच्चारण, परिस्थिति एवं वक्ता की मानसिक अवस्था किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं। भाषा की रूढ़ियों के अनुसार यदि हमें किसी अभिकथन के उच्चारण और सन्दर्भ ज्ञात हैं तो वक्ता की मानसिक अवस्था का अनुमान भली-भाँति किया जा सकता है। उदाहरण के लिए : विषैली वस्तुओं के वर्णन के प्रसंग में यदि कोई व्यक्ति कहता है कि "कुकुरमुत्ता विषैला होता है" तो इस अभिकथन का उच्चारण जिस परिस्थिति में हुआ है उसके आधार पर कोई भी व्यक्ति अनुमान कर सकता है कि जिस व्यक्ति ने उक्त कथन का प्रयोग किया वह उस कथन में विश्वास करता है। किन्तु कल्पना कीजिए कि जो व्यक्ति यह कहता है कि कुकुरमुत्ता विषैला होता है, वही व्यक्ति यदि यह कहे कि वह इस कथन में विश्वास नहीं करता तो इसका अर्थ यही समझा जायगा कि उस व्यक्ति ने आत्म-व्याघातक बात कही है। दूसरे शब्दों में : हम यह भी कह सकते हैं कि किसी अभिकथन का प्रयोग ही नहीं किया गया क्योंकि किसी अभिकथन की जितनी प्रागपेक्षाएँ हैं उनकी संतुष्टि नहीं की गई। किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाओं की संतुष्टि के बिना अभिकथन का व्यापार ही पूर्ण नहीं माना जायगा। प्रागपेक्षाओं की सन्तुष्टि किसी अभिकथन की अनिवार्य शर्त है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त में पूर्वकल्पनाओं का महत्त्व

किसी अभिकथन और उसकी पूर्वकल्पनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर समकालीन दर्शन में पर्याप्त विवाद खड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में फ्रेगे, रसेल एवं स्ट्रॉसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(1) दार्शनिक **फ्रेगे** के अनुसार किसी अभिकथन एवं उसकी पूर्वकल्पनाओं के बीच

बाह्य-सम्बन्ध पाया जाता है। चूँकि पूर्वकल्पनाएँ किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं अतः वे न तो सत्य होती हैं और न असत्य ही। अब प्रश्न यह है कि किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ या पूर्व-कल्पनाएँ क्या हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में फ्रेगे कहते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति अभिकथन का रूप तभी ग्रहण कर सकती है जबकि इसके भीतर आने वाली सरल या यौगिक संज्ञाओं में निर्देश (Reference) पाया जाता हो।[1] मान लिया कि वह पूर्व-कल्पना **ख** है जो अभिकथन **क** के अर्थ (Sense) को निर्धारित करती है। अब, फ्रेगे के अनुसार ख क का तार्किक परिणाम नहीं है। उन्हीं के शब्दों में : **ख का अर्थ क के अर्थ का अभिन्न अंग नहीं है**। किसी पूर्वकल्पना और अभिकथन के बीच बाह्य सम्बन्ध का यही अर्थ है।

(2) दार्शनिक **रसेल** के अनुसार किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के बीच **आन्तरिक** अथवा अंगी-अंग का सम्बन्ध पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, पूर्व-कल्पना अभिकथन का अभिन्न अंग होती है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' तो रसेल के अनुसार :

(i) यह एक सार्थक कथन है,

(ii) किसी व्यक्ति का यह कथन तभी सत्य माना जायगा जबकि वर्तमान में फ्रान्स का एक और केवल एक नरेश हो और साथ-साथ बुद्धिमान भी हो।

(iii) यदि कोई व्यक्ति वर्तमान में इस वाक्य का उच्चारण करता है तो वह वाक्य या तो यथार्थ होगा अथवा अयथार्थ।

(iv) उपर्युक्त अभिकथन की अस्तित्वात्मक पूर्व-कल्पना उस अभिकथन का अनिवार्य अंग होगी।

कुछ अन्य दार्शनिकों के अनुसार किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के बीच **मनोवैज्ञानिक विश्वास** या **अविश्वास** का सम्बन्ध है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में विश्वास और अविश्वास का कोई प्रासंगिक महत्त्व नहीं है।

(3) दार्शनिक **स्ट्रॉसन** के अनुसार कोई पूर्व-कल्पना अपने अभिकथन से **भाषा के नियमों** के द्वारा सम्बद्ध होती है। कोई अभिकथन पूर्व-कल्पना को तार्किक रूप से आपादित तो नहीं करता पर सन्दर्भात्मक या प्रासंगिक रूप में उसे अवश्य आपादित करता है। उनके बीच तार्किक आपादन (Logical Implication) का सम्बन्ध न होकर केवल सन्दर्भात्मक आपादन (Contextual Implication) का ही सम्बन्ध पाया जाता है। स्ट्रॉसन के इस सिद्धान्त को ठीक प्रकार समझने के लिए इस पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए स्ट्रॉसन[2] ने "**व्यञ्जक**" (Expression) और "**वाक्य**" (Sentence) इन शब्दों का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया है। अनन्यतः निर्देशक शब्द-समूह या निश्चित वर्णन को उसने "व्यञ्जक" के रूप में लिया है तथा वह वाक्य जो किसी अनन्यतः निर्देशक शब्द-समूह से प्रारम्भ होता है उनकी भाषा में "वाक्य" के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए स्ट्रॉसन ने (अ:)

1. Frege, Sense and Nominatum, Ed. Black and Geach, p 69.
2. Strawson, P.F. On Referring, Mind, 1950.

"वाक्य",(अ$_2$) "वाक्य का प्रयोग" तथा (अ$_3$) "वाक्य का उच्चारण" में भेद किया। इसी प्रकार इसी की संगति में (ब$_1$) "अभिव्यञ्जक" (ब$_2$) "अभिव्यञ्जक का प्रयोग" तथा (ब$_3$) "अभिव्यञ्जक का उच्चारण" में भेद किया। उदाहरण के लिए 'फ्रान्स का नरेश बुद्धिमान है' इस वाक्य को लिया जाय। इस वाक्य का उच्चारण सत्रहवीं शताब्दी से लेकर फ्रान्स के प्रत्येक नरेश के शासन-काल में किया गया। इस वाक्य का उच्चारण तब भी किया गया जब फ्रान्स में राज-तन्त्र समाप्त हो चुका। यहाँ हम कह सकते हैं कि एक ही "वाक्य" का उच्चारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर किया गया। यही "वाक्य" है। अब मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने उपर्युक्त वाक्य का उच्चारण लुई चौदहवें के शासन-काल में किया तथा दूसरे व्यक्ति ने उसी वाक्य का उच्चारण लुई पन्द्रहवें के शासन-काल में किया। यह स्वाभाविक है कि दोनों व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न नरेशों के विषय में वाक्य का प्रयोग किया तथा प्रथम व्यक्ति ने वाक्य के प्रयोग में **सत्य अभिकथन** किया एवं द्वितीय व्यक्ति ने वाक्य के प्रयोग में **असत्य अभिकथन** किया। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि किसी वाक्य के उच्चारण से हमारा क्या तात्पर्य है। इस विचार-विमर्श से स्ट्रासन ने दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले :

(1) कोई "वाक्य" स्वतः न तो सत्य होता है न असत्य। असत्यता या असत्यता "वाक्य के प्रयोग" की ही विशेषताएँ हैं।

(2) कोई वाक्य स्वतः किसी "व्यक्ति" या "वस्तु" के विषय में नहीं होता क्योंकि एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। किसी "वाक्य का प्रयोग" ही किसी "व्यक्ति" या "वस्तु" के विषय में हो सकता है।

इन दोनों निष्कर्षों को संयुक्त कर स्ट्रासन कहते हैं कि **अर्थ "वाक्य" का फलन होता है** तथा **वर्णन, उल्लेख, निर्देशन अथवा यथार्थता** या **अयथार्थता "वाक्यों के प्रयोग" के फलन होते हैं**। किसी अभिव्यञ्जक के अर्थ का तादात्म्य उस व्यक्ति या वस्तु से नहीं किया जा सकता जिसका निर्देश करने के लिए किसी विशेष अवसर पर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यही बात वाक्यों के अर्थ पर भी लागू होती है। किसी अभिव्यञ्जक या वाक्य के अर्थ से हमारा तात्पर्य उन सामान्य नियमों, आदतों या रूढ़ियों से है जो विभिन्न अवसरों पर अभिव्यञ्जकों या वाक्यों के प्रयोग को शासित करते हैं और जिनके आधार पर कोई अभिव्यञ्जक **निर्देश** या कोई वाक्य **अभिकथन** करता है। स्ट्रॉसन के अनुसार सार्थकता और सत्यता या असत्यता के प्रश्न एक-दूसरे से भिन्न हैं। सार्थकता का सम्बन्ध वाक्यों से है पर सत्यता या असत्यता का प्रश्न वाक्यों के प्रयोग से है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की त्रुटियाँ

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की प्रथम त्रुटि के विषय में पहले ही वर्णन किया गया कि उसने किसी तर्क-शास्त्र की अस्तित्वात्मक पूर्व-कल्पना को प्रतिज्ञप्ति का अभिन्न अंग माना जो स्ट्रासन के अनुसार गलत है। रसेल की दूसरी त्रुटि यह थी कि उसने निर्देशन (रेफरिंग) या उल्लेख (Mentioning) का अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित किया। उसने अभिव्यञ्जक (ब$_1$) और अभिव्यञ्जक के प्रयोग (ब$_2$) के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं किया। **अभिव्यञ्जक केवल अर्थ प्रकट करता है ; वह निर्देशन या उल्लेख का कार्य नहीं करता।** अभिव्यञ्जक का प्रयोग ही निर्देशन करता है। रसेल ने समझा कि यदि कोई अनन्यतः निर्देशक अभिव्यञ्जक है तो उसका अर्थ वह

व्यक्ति या वस्तु होगा जिसके लिए उस अभिव्यञ्जक का प्रयोग किया जा सकता है। इस आधार पर ही "तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं" (Logically Proper Names) का आविष्कार किया गया। स्ट्रासन के अनुसार यह गलत है। किसी अभिव्यञ्जक का अर्थ भाषा के नियमों, आदतों और रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित किया जाता है किन्तु वे व्यक्ति या वस्तुएँ, जिनकी ओर संकेत करने के लिए किसी अभिव्यञ्जक का उपयोग किया जाता है, वे **उसके प्रयोग** (Use) द्वारा निर्धारित की जाती हैं। यही बात वाक्यों पर भी लागू होती है। कोई वाक्य किसी वस्तु के विषय में नहीं होता ; उसका निश्चित प्रयोग ही किसी व्यक्ति या वस्तु का संकेत कर सकता है। इसी प्रकार कोई वाक्य न सत्य होता है और न असत्य ही। उसकी सत्यता या असत्यता उसके निश्चित प्रयोग द्वारा निर्धारित की जाती है। स्ट्रासन के अनुसार निर्देशन के नियम व गुणारोपण के नियम पृथक् होते हैं ; उनके बीच भेद न करने के कारण ही दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

रसेल द्वारा अपने वर्णन-सिद्धान्त की प्रतिरक्षा

जिस प्रकार स्ट्रॉसन ने रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की आलोचना की है उसी प्रकार रसेल ने उसकी प्रतिरक्षा करने की भी कोशिश[1] की है। उसके अनुसार वर्णन की समस्या व अहंकेन्द्रिकता (Ego-centricity) की समस्या एक-दूसरे से पृथक् हैं जिन्हें एक-दूसरे के साथ सम्मिलित नहीं किया जा सकता, जैसा स्ट्रॉसन ने किया है। यदि 'फ्रान्स के वर्तमान नरेश बुद्धिमान हैं' में वर्तमान के स्थान पर "1905 में" लिखा गया होता तो शायद स्ट्रॉसन को वर्णन-सिद्धान्त की आलोचना करने का अवसर ही न मिला होता। यदि कोई शब्द अहंकेन्द्रिक नहीं है तो जान-बूझकर उसे अंहकेन्द्रिक बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि किसी समस्या की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए आवश्यक है कि अहंकेन्द्रिक तत्त्व को कम से कम स्थान दिया जाय, किन्तु स्ट्रॉसन ने ठीक इसी पर विशेष बल दिया है।

स्ट्रॉसन के अनुसार "फ्रान्स के वर्तमान नरेश बुद्धिमान हैं" न तो सत्य है और न असत्य क्योंकि फ्रान्स में राजतन्त्र है ही नहीं। इसकी आलोचना करते हुए रसेल कहते हैं कि मान लीजिए कि एक ऐसा देश है जिसमें यह कानून है कि ऐसा कोई व्यक्ति सरकारी पद का अधिकारी नहीं हो सकता जो यह असत्य समझता हो 'ब्रह्माण्ड' के नियन्ता बुद्धिमान हैं। यहाँ कोई नास्तिक स्ट्रॉसन के सिद्धान्त का फायदा उठाते हुए घोषित कर सकता है कि वह उपर्युक्त वाक्य को असत्य नहीं समझता अतः वह सरकारी पद के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। रसेल के अनुसार कोई वाक्य या तो सत्य होगा या असत्य। मेरी समझ में स्ट्रॉसन की अपेक्षा रसेल का विश्लेषण अधिक तर्क-संगत है क्योंकि यह कहना कि कोई वाक्य न तो सत्य है और न असत्य, ठीक नहीं लगता।

रसेल ने स्ट्रॉसन के व्यक्तिवाचक संज्ञाओं विषयक विचार की भी आलोचना की है। स्ट्रॉसन "तर्कतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं" में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार रसेल ने "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" में इसलिए विश्वास किया कि उन्होंने निर्देशन, उल्लेख तथा अर्थ में स्पष्टतः भेद नहीं किया। "पद" निर्देशन का कार्य नहीं करते ; "पदों के प्रयोग" ही निर्देशन का कार्य करते हैं। पर रसेल इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स"

1. Russell, My Philosophical Development, ch 18, Section 3.

का अर्थ ही निर्देशन है और उसका निर्देशन ही अर्थ है। यहाँ अर्थ और निर्देशन दोनों एक ही हैं। रसेल के अनुसार यदि भाषा में इस प्रकार के "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" न हों तो भाषा का तथ्य-जगत् के साथ कोई सम्बन्ध ही स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि भाषा और तथ्य के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध न हो तो निर्देशात्मक (Ostensive) परिभाषा का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। आखिरकार हम "नीले" और "लाल" के अर्थ को किस प्रकार जानते हैं ? यदि किसी व्यक्ति के जीवन में "नीला" और "पीला" से साक्षात्कार नहीं हुआ है तो वह इन शब्दों का अर्थ कभी भी नहीं समझ सकता। केवल "वर्णनों" के प्रयोग से ही इनका वास्तविक अर्थ नहीं समझाया जा सकता। अतः स्ट्रॉसन का यह कथन कि "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" हैं ही नहीं, ठीक नहीं है।

व्यक्ति
(Individuals)

स्ट्रॉसन ने अपनी द्वितीय पुस्तक "**इण्डिविजुअल्स**" में वर्णनात्मक तत्त्व विज्ञान (Descriptive Metaphysics) के विषय में चर्चा की है। उनके अनुसार तत्त्व-विज्ञान दो प्रकार का होता है : प्रथम, संशोधनात्मक तत्त्व विज्ञान (Revisionary Metaphysics) एवम् द्वितीय, वर्णनात्मक तत्त्व-विज्ञान (Descriptive Metaphysics)। **संशोधनात्मक तत्त्वविज्ञान वह तत्त्वविज्ञान** है जिसमें कोई दार्शनिक अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के प्रत्ययों एवम् कोटियों में संशोधन कर नवीन प्रत्ययों एवम् कोटियों के माध्यम से अपने दर्शन का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए डेकार्ट्स एवम् स्पिनोजा ने अपने तत्त्वविज्ञान की रचना द्रव्य, गुण एवम् पर्याय के माध्यम से किया। पर लाइब्नित्ज़ ने इन प्रत्ययों में संशोधन कर अपने तत्त्वविज्ञान का निर्माण चिदणुओं (Monads) के माध्यम से व्यक्त किया। अतः लाइब्नित्ज़ के तत्त्वविज्ञान को संशोधनात्मक तत्त्वविज्ञान की संज्ञा दी जायगी। इसके विपरीत वर्णनात्मक तत्त्वविज्ञान जगत के विषय में हमारे विचारों की संरचना (Structure) का वर्णन करता है। स्ट्रॉसन का तत्त्वविज्ञान यही वर्णनात्मक तत्त्वविज्ञान है। इसी वर्णनात्मक तत्त्वविज्ञान के विविध पक्षों का हम यहाँ अध्ययन करेंगे।

(i) पिण्ड (Bodies)

जब हम जगत के विषय में विचार करते हैं तो हमारा तात्पर्य जगत की उन विशिष्ट वस्तुओं से होता है जो हमसे पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। हमारे सामान्य वार्तालाप में भी संसार की विशिष्ट वस्तुओं का समावेश होता है जो विशिष्ट देश-काल में स्थित होती है। उपर्युक्त कथन बाह्य जगत के विषय में हमारी प्रत्ययात्मक परियोजना का उद्घाटन करता है।

स्ट्रॉसन ने प्रारम्भ में ही घोषित किया कि पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य हमारी प्रत्ययात्मक परियोजना (Conceptual Scheme) की उन सर्वसामान्य एवम् संरचनात्मक विशेषताओं को प्रदर्शित करना है जिनके माध्यम से हम संसार की विशिष्ट वस्तुओं का चिन्तन करते हैं। उनके अनुसार निम्न प्रकार की वस्तुएँ विशिष्ट वस्तुओं के भीतर समाहित की जा सकती हैं :

(i) ऐतिहासिक घटनाएँ (Historical Occurrences)

(ii) भौतिक वस्तुएँ (Material Objects)

(iii) मनुष्य या उनकी प्रतिमाएँ (People and their shadows)

स्ट्रॉसन के अनुसार गुण (Qualities), संख्या (Numbers), जाति, उपजातियाँ (Species), विशिष्ट वस्तुएँ न होकर सामान्य वस्तुएँ हैं।

(ii) वक्ता-श्रोता समुच्चय (Speaker-Hearer Complex)—

जब दो व्यक्तियों के बीच संलाप होता है तो उसमें एक वक्ता और एक श्रोता होता है। संलाप के बीच वक्ता कभी किसी वस्तु के विषय में शब्दों द्वारा निर्देश करता है जिसे श्रोता कभी पहचान लेता है और कभी उसे पहचानने में कठिनाई भी पड़ती है। वक्ता बहुधा जिन शब्दों या शब्द-समूहों के माध्यम से संसार की वस्तुओं की ओर निर्देश देता है वे **व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ** (Proper Nouns), **सर्वनाम** (Pronouns), व **वर्णनात्मक पद-समूह** (Descriptive Phrases) में कुछ भी हो सकते हैं। वक्ता जब उपर्युक्त प्रकार के शब्दों के माध्यम से किसी वस्तु की ओर निर्देश करता है तो कहा जायगा कि वह संसार की विशिष्ट वस्तुओं की ओर **अभिज्ञानात्मक निर्देशन** (Identifying Reference) कर रहा है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जब कोई वक्ता शब्दों के माध्यम से संसार की किसी विशिष्ट वस्तु के विषय में संकेत कर रहा है तो कोई आवश्यक नहीं है कि श्रोता को उस विशिष्ट वस्तु का अभिज्ञान हो ही जाय। उसे उस विशिष्ट वस्तु का अभिज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि यहाँ अभिज्ञान के दो अर्थ हैं :

(i) वक्ता द्वारा अभिज्ञान का तात्पर्य।

(ii) श्रोता द्वारा अभिज्ञान का तात्पर्य।

जब तक हम किसी वस्तु की पहचान अथवा अभिज्ञान नहीं कर लेते, तब तक वह हमारे तत्त्व विज्ञान में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

अभिज्ञान के प्रकार
(Kinds of Identification)

स्ट्रॉसन ने अपनी पुस्तक **इण्डिविजुअल्स** में दो प्रकार के अभिज्ञान की चर्चा की है : प्रथम सापेक्षिक अभिज्ञान एवम् द्वितीय निर्देशात्मक अभिज्ञान।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह निकष (Test) क्या है जिसके द्वारा हम कह सकें कि हम अमुक वस्तु का अभिज्ञान कर रहे हैं अथवा नहीं।

(1) सापेक्षिक अभिज्ञान (Relative Identification)—कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति एक कहानी कहता है— "एक झरने के पास एक मनुष्य और एक बालक खड़े थे। **मनुष्य ने शराब** पी लिया था।" अब क्या श्रोता ने द्वितीय तर्क-वाक्य के उद्देश्य को पहचान लिया है अथवा नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि जहाँ तक "दो व्यक्तियों के परास" की बात है श्रोता ने बालक से पृथक् मनुष्य का अभिज्ञान अवश्य कर लिया होगा। यह सही है कि श्रोता नहीं जानता कि वह मनुष्य वास्तव में कौन है, पर फिर भी उसने उस मनुष्य का अभिज्ञान निश्चित रूप में कर लिया होगा। श्रोता उस विशिष्ट कहानी के सन्दर्भ में उस मनुष्य का अभिज्ञान भले ही कर ले पर इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वह उसे नहीं जानता। स्ट्रॉसन ने इस

प्रकार के अभिज्ञान को **कहानी-सापेक्ष** (Story Relative) अथवा **सापेक्षिक अभिज्ञान** (Relative Identification) की संज्ञा प्रदान की है। श्रोता कहानी के सन्दर्भ में उसे एक निश्चित स्थान भले ही प्रदान कर दे पर अपने जीवन के वास्तविक इतिहास में वह शायद ही उसे कोई निश्चित स्थान प्रदान कर सके।

(2) निर्देशात्मक अभिज्ञान (Demonstrative Identification)—संसार की किसी वस्तु का निर्देशात्मक अभिज्ञान तभी हो सकता है जब कि वह वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय हो। निर्देशात्मक अभिज्ञान के भीतर हम उस वस्तु को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो इस समय हमारे प्रत्यक्ष का विषय भले ही न हो पर कुछ समय पूर्व हमारे प्रत्यक्ष का निषय रही हो। उदाहरण के लिए :

(i) वह कार बड़ी तीव्र गति से जा रही थी।

(ii) वह ध्वनि बहरा कर देने वाली थी।

निर्देशात्मक "यह", "वह" को निर्देशात्मक अभिज्ञान के लिए इस कारण प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसका प्रयोग **एक और केवल एक** वस्तु के लिए ही किया जा सकता है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि किसी वस्तु का निर्देशात्मक अभिज्ञान उतना आसान नहीं है जितना सामान्यतया समझा जाता है। यदि दृश्य धुँधला है अथवा दृश्य के अवयव सुभिन्न नहीं हैं तो निर्देशात्मक अभिज्ञान कठिन हो जायगा। उदाहरण के लिए "ऊपर से पन्द्रहवीं पंक्ति में बाएँ से बारहवें व्यक्ति" का अभिज्ञान बड़ी कठिनाई से ही किया जा सकता है। पर निर्देशात्मक अभिज्ञान में कम से कम एक बात अवश्य निश्चित होती है कि विशिष्ट वस्तुओं के परास की हमें पहचान अवश्य रहती है जिसके बीच से हमें किसी विशिष्ट वस्तु का अभिज्ञान करना होता है।

अ-निर्देशात्मक अभिज्ञान

(Non-Demonstrative Identification)

अब हम उन वस्तुओं के अभिज्ञान का वर्णन करेंगे जहाँ किसी वस्तु की हमारे प्रत्यक्ष के परास में अनुपस्थिति के कारण उसका निर्देशात्मक अभिज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में हम वर्णनों (Descriptions) एवम् नामों (Names) का प्रयोग कर सकते हैं। पर किसी नाम का प्रयोग तभी सार्थक हो सकता है जब कि उस व्यक्ति का ज्ञान हो कि वह नाम किस व्यक्ति या वस्तु के लिए प्रयोग किया जा रहा है। कोई नाम तब तक निरर्थक होगा जब तक कि उसे ऐसे वर्णन-समूहों का समर्थन प्राप्त न हो जिनके माध्यम से उस व्यक्ति या वस्तु की ओर निश्चित निर्देश किया जा सके। अत: किसी अ-निर्देशात्मक अभिज्ञान में हमें केवल सामान्य वर्णनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यही कारण है कि वर्णनों की विशाल आवृति (Massive Reduplication) होने पर भी उनके माध्यम से किसी विशिष्ट व्यक्ति या वस्तु का एकान्तिक अभिज्ञान असम्भव ही होता है। ऐसी स्थिति में किसी अप्रत्यक्ष व्यक्ति या वस्तु के विषय में किसी वक्ता या श्रोता का ज्ञान चाहे कितना ही बृहद क्यों न हो उन्हें वर्णन समूहों द्वारा किस व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत किया जा रहा है इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

अ-निर्देशात्मक अभिज्ञान के प्रकार

(Kinds of Non-Demonstrative Identification)

यद्यपि वर्णनों का एक ऐसा स्वभाव होता है कि वे किसी निश्चित व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत नहीं करते पर फिर भी कुछ ऐसे वर्णन अवश्य होते हैं जो किसी व्यक्ति या वस्तु का अभिज्ञान कराने में सहायक होते हैं। स्ट्रॉसन के अनुसार वे वर्णन निम्न प्रकार के हैं:

(1) **तर्कतः व्यष्टीय वर्णन** (Logically individuating description)—इसमें व्यक्तियों के नाम (Proper Names), स्थान का नाम (Place Names) या दिनांक (Dates) को सम्मिलित किया जा सकता है जिनके माध्यम से हम किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत कर सकते हैं।

(2) **विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन** (Pure individuating description)—ऐसा वर्णन जिसमें नाम, स्थान या समय का वर्णन न किया गया हो, वरन् विशुद्ध वर्णन-समूहों का ही उल्लेख किया गया हो, उसे विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन कहा जाता है। उदाहरण के लिए जब हम "भारत की एक मात्र महिला प्रधानमंत्री" शव्द-समूह का ठल्लेख करते हैं तो हम तुरन्त समझ जाते हैं कि इस वर्णन-समूह का प्रयोग किस व्यक्ति के लिए किया गया है। इसी वर्णन-समूह को विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन कहा जाता है।

(3) **अर्ध विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन** (Quasi pure individuating description)—इस वर्णन का प्रयोग किसी सामान्य परिस्थिति के लिए न कर किसी विशिष्ट परिस्थिति तक ही सीमित रहता है। यहाँ किसी विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन के साथ "जहाँ तक" (So for) शव्द जोड़ दिया जाता है। जैसे किसी विशिष्ट परिस्थितियों में यदि कोई व्यक्ति कहता है "सवसे लम्बा व्यक्ति जो कभी रहता था।"[1] तो यह अर्ध विशुद्ध व्यष्टीय वर्णन कहा जायगा।

पुनरभिज्ञान

(Re-identification)

हम सव लोग एक **एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था** (A Single Unified Spatiotemporal System) के भीतर कार्य करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस व्यवस्था के भीतर जितनी वस्तुएँ हैं वे सभी एक दूसरे के साथ देश और काल में सम्वन्धित हैं। इसके निम्न अनिवार्य परिणाम हैं :

(1) एकीकृत दिक्काल व्यवस्था का एक निहितार्थ यह है कि इसके भीतर जितनी वस्तुएँ हैं ठनका हमें पूर्ण अभिज्ञान (Identification) होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि इस व्यवस्था में कोई "पुस्तक" है तो उस पुस्तक का सदा हमें अभिज्ञान होना चाहिए। इसे स्ट्रॉसन ने **निर्देशात्मक अभिज्ञान** (Referential Identification) अथवा **वक्ता-श्रोता अभिज्ञान** (Speaker-Hearer-Identification) की संज्ञा प्रदान की है।

(2) एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था की दूसरी शर्त यह है कि इसमें किसी वस्तु का न केवल अभिज्ञान ही होना चाहिए बल्कि उसका पुनरभिज्ञान (Re-identification) भी होना चाहिए। अर्थात् हमें किसी वस्तु के विषय में यह बोध होना चाहिए कि यह वही वस्तु है जिसे

1. The tallest man who ever lived.

मैंने पहले देखा था। चूँकि हम एक ही एकीकृत दिक्काल व्यवस्था का प्रयोग करते हैं जिसमें कोई वस्तु हमारे समक्ष भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उपस्थित हो सकती है, अतः हमारे लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि हम किसी वस्तु का अभिज्ञान रखें बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम उसका पुनरभिज्ञान (Re-identification) रखें।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आखिर हमारे लिए पुनरभिज्ञान क्यों आवश्यक है ? इसका एक कारण यह है कि जब हम किसी वस्तु को एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था में अन्य वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करते हैं तो यह सदा एकान्तिक स्थापन नहीं हो सकता क्योंकि किसी वस्तु का संसार की "अन्य सभी वस्तुओं के साथ" सम्बन्ध स्थापित करना एक असम्भव कार्य है। इसी कारण किसी एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था में किसी वस्तु के अभिज्ञान के साथ उसका पुनरभिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

अब हमारे समक्ष समस्या यह है कि हमारे जीवन में पुनरभिज्ञान की प्रक्रिया किस प्रकार सम्पादित होती है। स्ट्रॉसन के अनुसार पुनरभिज्ञान की प्रक्रिया दो प्रकार से सम्पादित होती है और उसके दो आधार हो सकते हैं :

(अ) **गुणात्मक पुनरभिज्ञान (Qualitative Re-identification)**—गुणात्मक पुनरभिज्ञान **गुणात्मक आवृति** (Qualitative Recurrence) के ऊपर आश्रित होता है। उदाहरण के लिए निम्न चित्र में
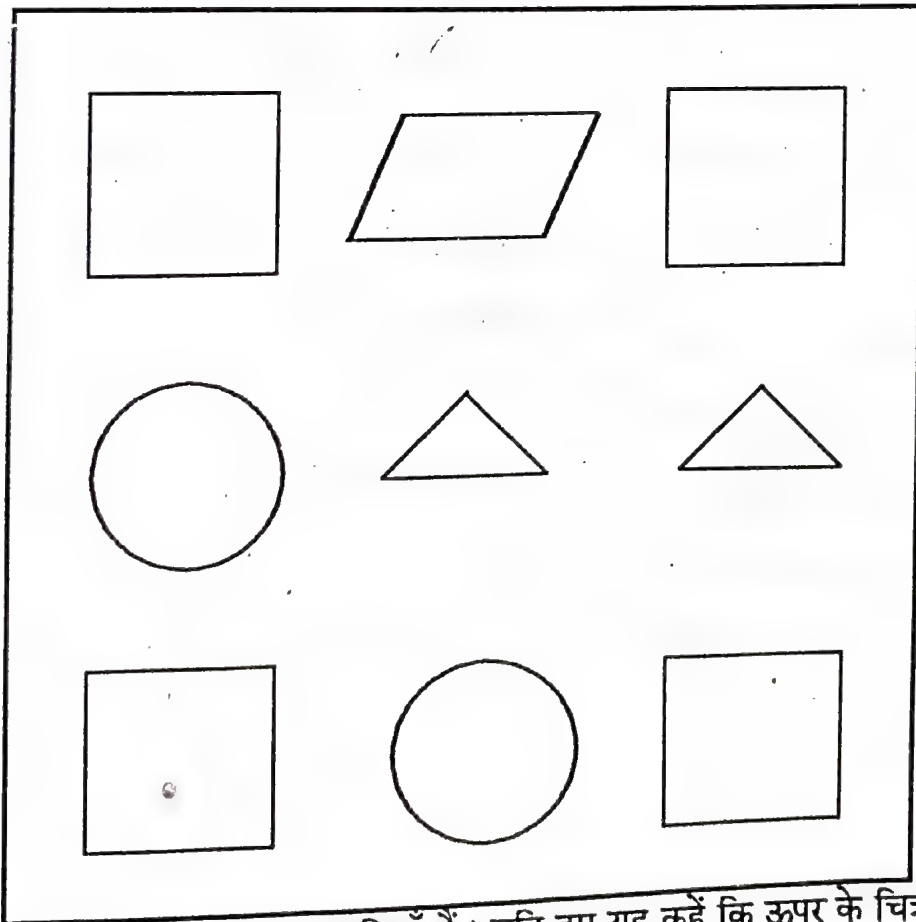
कुछ समान एवम् कुछ असमान आकृतियाँ हैं। यदि हम यह कहें कि ऊपर के चित्र में बाएँ कोने का वर्ग **वही** है जो नीचे दाहिने कोने का वर्ग है, तो यह गुणात्मक पुनरभिज्ञान का दृष्टान्त कहा जायगा।

(ब) संख्यात्मक पुनरभिज्ञान (Numerical Re-identification)—यदि हम यह कहें कि ऊपर चित्र में बाएँ कोने का जो वर्ग है वह वही है जिसके दाहिनी ओर समानान्तर चतुर्भुज है तथा नीचे वृत्त है तो यह संख्यात्मक पुरभिज्ञान का दृष्टान्त होगा।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि ऊपर जो गुणात्मक अनन्यता (Identity) एवम् संख्यात्मक अनन्यता के बीच भेद स्थापित किया गया वह तभी सम्भव है जब किसी वस्तु का सतत् अस्तित्व (Continuous Existence) बना रहा। पर जब संसार की किसी वस्तु में सतत् अस्तित्व ही नहीं है तो किसी वस्तु की गुणात्मक अनन्यता व संख्यात्मक अनन्यता के बीच भेद ही कैसे स्थापित किया जा सकता है।

स्थान का पुनरभिज्ञान
(Re-identification of Place)

किसी वस्तु के पुनरभिज्ञान में स्थान का पुनरभिज्ञान भी शामिल होता है। कल्पना किया कि एक वस्तु x को हमने t काल में देखा और उसी x का हमने t काल में पुनरभिज्ञान किया। चूँकि संसार की प्रत्येक वस्तु संसार की अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित है, अतः t काल में हमने x का y के साथ सम्बन्ध देखा तथा t काल में हमने x का z के साथ सम्बन्ध देखा। पर इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हम t काल में स्थित y एवम् t काल में स्थित z के पारस्परिक सम्बन्ध को जानते हैं। पर यदि हमें एक एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था के भीतर कार्य करना है तो हमें इस सम्बन्ध का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। अर्थात् हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि y के परिप्रेक्ष्य में z की क्या स्थिति है अथवा z के परिप्रेक्ष्य में y की क्या स्थिति है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु के पुनरभिज्ञान में स्थान का पुनरभिज्ञान अवश्य सम्मिलित होता है।

मूल विशेष
(Basic Particulars)

स्ट्रॉसन के दर्शन में "भौतिक वस्तुओं" (Meterial Bodies) को एक मूल विशेष के रूप में लिया जाता है जिनके माध्यम से हम संसार की अन्य वस्तुओं को जानने की चेष्टा करते हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के मूल विशेषों की कल्पना की है जिनका हम संक्षेप में यहाँ विवरण प्रस्तुत करेंगे :

(1) तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने **इन्द्रिय-प्रदत्त** (Sense-Datum) को मूल विशेष के रूप में लिया था जिसके माध्यम से भौतिक एवम् आध्यात्मिक वस्तुओं का वर्णन किया जा सकता है। पर स्ट्रॉसन इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार जब हम किसी इन्द्रिय-प्रदत्त की बात करते हैं तो हमें उस व्यक्ति-विशेष (Person) की कल्पना अवश्य करनी पड़ती है जिसका वह इन्द्रिय-प्रदत्त है। ऐसी स्थिति में हम व्यक्ति का **स्वतन्त्र अभिज्ञान** (Independent Identifiability) करते हैं तथा इन्द्रिय-प्रदत्त का **परतन्त्र अभिज्ञान** (Dependent Identifiability) करते हैं।

(2) पर यही बात सभी निर्देशात्मक पद-समूहों पर लागू नहीं होती। यदि हम किसी ऐसे पद-समूह का प्रयोग करते हैं जो किसी व्यक्तिगत (Private) प्रदत्त पर लागू न होकर किसी

सार्वजनिक (Public) वस्तु पर लागू होता हो तो ऐसी स्थिति में उसके अभिज्ञान के लिए किसी व्यक्ति-विशेष की कल्पना करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए अपने समक्ष किसी वृक्ष को देखकर जब हम किसी निर्देशात्मक पद द्वारा उसकी ओर संकेत करते हुए **"यह वृक्ष"** (This tree) कहते हैं तो उसके अभिज्ञान के लिए किसी व्यक्ति-विशेष की कल्पना करना अनिवार्य नहीं होता क्योंकि उपयुक्त परिस्थितियों में इस निर्देशात्मक पद का प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के लिए किया जा सकता है। यद्यपि उस वस्तु के निर्देश के लिए किसी व्यक्ति की भले ही आवश्यकता न पड़ती हो, पर मूल विशेष के रूप में बाह्य वस्तु की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। अतः सार्वजनिक वस्तुओं का अभिज्ञान स्वतन्त्र अभिज्ञान (Independent Identifiability) के भीतर समाहित किया जा सकता है।

(3) स्ट्रॉसन ने एक तीसरे प्रकार के मूल-विशेष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिसे उन्होंने **सैद्धान्तिक निर्मिति** (Theorectical Construct) का नाम दिया है। भौतिक शास्त्र के परमाणुओं को इसके भीतर समाहित किया जा सकता है। इन्हें हम वैयक्तिक वस्तुएँ (Private Objects) तो नहीं कह सकते पर **अगोचर वस्तुएँ** (Unobservable Objects) अवश्य कह सकते हैं। यद्यपि हम पृथक्-पृथक् रूप में इन परमाणुओं की ओर निर्देशात्मक संकेत नहीं कर सकते किन्तु संकलित या समूह के रूप में हम उनकी ओर निर्देशात्मक संकेत अवश्य कर सकते हैं। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो उन्हें विशेष वस्तुओं के रूप में मान्यता ही नहीं दे सकते। इन सैद्धान्तिक निर्मितियों का हम स्वतन्त्र अभिज्ञान तो नहीं कर सकते पर उनका परतन्त्र अभिज्ञान अवश्य किया जा सकता है। परमाणुओं के अतिरिक्त कुछ अन्य तार्किक निर्मितियाँ भी हैं जिनके विषय में हम संकेत करते हैं जैसे तालाबन्दी (Lock-out) हड़ताल (Strike), आर्थिक मन्दी (Economic Depression) इत्यादि।

(4) आगे चलकर स्ट्रॉसन ने सार्वजिनक वस्तुओं को दो भागों में विभाजित किया : प्रथम घटनाएँ (Events), प्रक्रियाएँ (Processes), अवस्थाएँ (States), परिस्थितियाँ (Conditions) इत्यादि। द्वितीय प्रकार की सार्वजनिक वस्तुएँ भौतिक पिण्ड (Material Bodies) हैं। पर उपर्युक्त दो प्रकार की सार्वजनिक वस्तुओं में अन्तर यह है कि जब हम भौतिक पिण्डों की कल्पना करते हैं तो उनकी कल्पना, के लिए प्रक्रियाओं, अवस्थाओं, घटनाओं एवम् परिस्थितियों की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती। भौतिक पिण्डों का हम स्वतन्त्र अभिज्ञान करते हैं। पर ज्यों ही हम घटनाओं, प्रक्रियाओं, अवस्थाओं एवम् परिस्थितियों की कल्पना करते हैं, हमारे मन में तुरन्त उस वस्तु की कल्पना आ जाती है जिसकी वे अवस्थाएँ हैं। अतः इन प्रक्रियाओं एवम् अवस्थाओं का हमें परतन्त्र अभिज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, जब हम जन्म (Birth) की कल्पना करते हैं तो तुरन्त हमारे मन में यह बात आ जाती है कि जन्म किसका (Whose birth) हुआ है ? उस जीव का ज्ञान स्वतन्त्र अभिज्ञान द्वारा पर जन्म का ज्ञान हमें परतन्त्र अभिज्ञान द्वारा सम्भव होता है।

संक्षेप में : हम कह सकते हैं कि जो वस्तुएँ **वैयक्तिक** (Private) और **अगोचर** (Unobservable) हैं वे स्वतन्त्र अभिज्ञान के अयोग्य हैं। अर्थात् जो **सार्वजनिक** एवम् **गोचर** वस्तुएँ होती हैं वही स्वतन्त्र अभिज्ञान के योग्य होती हैं। इन्ही कारणों से भौतिक पिण्डों को मूल विशेष के रूप में स्वीकार किया जाता है।

ध्वनि
(Sound)

पूर्व अनुभाग में यह बात स्पष्ट हो गई है यदि हम एक एकीकृत दिक्कालीय व्यवस्था को स्वीकार करें तो संसार की किसी वस्तु के अभिज्ञान के लिए भौतिक पिण्डों का होना अनिवार्य है।

अब हमारे समक्ष जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि क्या हम किसी ऐसी प्रत्यक्षात्मक योजना की कल्पना कर सकते हैं जो अ-दैशिक (Non-spatial) हो पर वहाँ भी विशेषों का अभिज्ञान सम्भव हो। काण्ट ने एक बार कहा था कि हम देश के अभाव को अपने समक्ष प्रस्तुत नहीं कर सकते।"[1] किसी अदैशिक जगत की कल्पना का वास्तविक तात्पर्य यह होगा कि हम अपने ज्ञान से बाह्य इन्द्रियों को बहिष्कृत कर दें। हम जानते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमें देश (Space) का ज्ञान प्राप्त कराती हैं : दृष्टि, स्पर्श, गंध, स्वाद और ध्वनि। कल्पना किया कि हमने ध्वनि (Sound) को छोड़कर अन्य सभी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान से बहिष्कृत कर दिया। तो क्या इससे हमने देश की कल्पना को भी बहिष्कृत कर दिया ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार ध्वनि के आधार पर भी देश की कल्पना का निर्माण किया जा सकता है। ध्वनि के आधार पर बाएँ, दाएँ, ऊपर, नीचे इत्यादि की कल्पना देश की कल्पना को उत्पन्न करती है। पर स्ट्रॉसन के अनुसार विशुद्ध श्रवण-संवेदना के आधार पर देश की कल्पना का निर्माण नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें शरीर की कल्पना को भी बहिष्कृत करना होगा।

ध्वनि : वैयक्तिक या सार्वजनिक

कल्पना किया कि भिन्न-भिन्न हाल में बैठकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक संगीत सुन रहे हैं। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिस ध्वनि को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सुन रहे हैं वह एक ही ध्वनि है या भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ हैं :

(अ) एक दृष्टि से उस ध्वनि को एक ही मानना चाहिए क्योंकि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार से उस ध्वनि का श्रवण कर रहे हैं।

(ब) दूसरी दृष्टि से लोग भिन्न-भिन्न ध्वनियों का श्रवण कर रहे हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसका श्रवण कर रहे हैं।

मान लीजिए कि यदि हम ध्वनि की सार्वजनिकता के आधार पर परिस्थिति की सार्वजनिकता का अनुमान कर लेते हैं तो इसमें सिद्ध-साधनता-दोष (The Fallacy of begging the question) उत्पन्न हो जाता है क्योंकि जब ध्वनि की सार्वजनिकता सिद्ध ही नहीं है तो उसके आधार पर परिस्थिति की सार्वजनिकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? इसी प्रकार यदि ध्वनि की वैयक्तिकता के आधार पर हम परिस्थिति की वैयक्तिकता को सिद्ध करते हैं तो इसमें भी सिद्ध-साधनता का दोष आना अनिवार्य है क्योंकि ध्वनि की वैयक्तिकता अभी असिद्ध ही है।

---

1. Critique of Pure Reason, B 38. We cannot represent to ourselves the absence of space.

ध्वनि : आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ

यदि ध्वनि वस्तुनिष्ठ है तो उसका एक सार्वजनिक आधार होना चाहिए। इसके बिना वस्तुनिष्ठ विशेषों की कल्पना नहीं की जा सकती। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वस्तुनिष्ठ विशेष से हमारा क्या तात्पर्य है ? वस्तुनिष्ठ विशेषों को समझने के लिए स्ट्रॉसन ने प्रथम अपनी आत्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाओं तथा द्वितीय जो न तो अपनी आत्मा है और न उसकी अवस्थाएँ ही हैं उनको एक दूसरे से पृथक् किया है। अब हमारी वर्तमान समस्या यह है कि क्या विशुद्ध श्रवण-संवेदना के आधार पर किसी वस्तुनिष्ठ चेतना की कल्पना की जा सकती है ? इसे समझने के लिए स्ट्रॉसन ने निम्न बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है :

(1) यदि सार्वजनिक वस्तुओं के विषय में संलाप करने की हमारे भीतर क्षमता न होती तो हम वैयक्तिक वस्तुओं के विषय में संलाप न कर सकते।

(2) यदि हम एक दूसरे के साथ संलाप न कर सकते तो हमारे लिए संलाप करना ही कठित होता।

(3) हमारे विचारों की सीमाएँ हमारी भाषा की सीमाओं को निर्धारित करती हैं।

(4) विचारों एवम् प्रत्ययों के बिना किसी ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

(5) अतः विशुद्ध श्रवण संवेदना के अनुभव की बात कोरी कल्पना ही है। व्यक्तिगत वस्तु एवम् सार्वजनिक वस्तु का भेद एक साथ अनुभव पर आधारित है।

उपर्युक्त समस्या से सम्बन्धित एक दूसरी समस्या भी संलग्न है और वह यह है कि क्या विशुद्ध श्रवण-संवेदना की कोटियों द्वारा किसी अभिज्ञ विशेष (Identifiable Particulars) के लिए स्थान सुरक्षित रख सकते हैं ? दूसरे शब्दों में क्या विशुद्ध श्रवण-संवेदना के आधार पर गुणात्मक अनन्यता (Qualitative Identity) तथा संख्यात्मक अनन्यता (Numerical Identity) के लिए कोई स्थान हो सकता है ? वास्तविकता यह है कि विशुद्ध श्रवण-संवेदना के आधार पर वस्तुनिष्ठ विशेषों के अभिज्ञान में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

(1) मान लिया कि एक ध्वनि एक ही **प्रबलता** (Loudness), **तारत्व** (Pitch) एवम् **ध्वनिरूप** (Timbre) की बज रही है। वह थोड़ी देर बजी पर बाद में शान्त हो गई।

(2) पुनः एक ध्वनि इसी प्रकार बजी, शान्त हो गई, बजी, फिर शान्त हो गई।

यहाँ प्रथम उदाहरण में एक वस्तुनिष्ठ विशेष है पर द्वितीय उदाहरण में दो वस्तुनिष्ठ विशेष हैं।

यहाँ इससे सम्बन्धित एक दूसरी समस्या भी है जो वस्तुनिष्ठ विशेष के लिए आवश्यक है और वह है पुनरभिज्ञान की समस्या। जब तक यह शर्त पूरी नहीं हो जाती तब तक उसे वस्तुनिष्ठ विशेष की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती।

हम पहले ही जानते हैं कि पुनरभिज्ञान के लिए दो शर्तों की आवश्यकता होती है। प्रथम, गुणात्मक आवृति (Qualitative Recurrence) एवम् द्वितीय, संख्यात्मक अनन्यता (Numerical Identity)। ध्वनि के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों शर्तें प्राप्त की जा सकती हैं।

यदि ध्वनि को एक **सामान्य** (Universal), या **प्ररूप** (Type) के रूप में लिया जाय तो

उसके पुनरभिज्ञान में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हो सकती। मान लिया कि M एक संगीत इकाई (Musical Unity) है और ABCD उसकी विभिन्न गतियाँ (Movements) हैं, अर्थात् एक ही संगीत के विभिन्न स्वर हैं। यहाँ M एक सामान्य के रूप में कार्य कर रहा है।

अब हमें ऐसे स्वरों के विषय में विचार करना है जो एक ही M के अन्तर्गत न होकर दो भिन्न संगीतों के विशेष (Particulars) हैं। यदि यह शर्त पूरी नहीं होती तो उन्हें हम वस्तुनिष्ठ विशेष की संज्ञा नहीं दे सकेंगे। कल्पना किया कि M और N दो संगीत इकाइयाँ (Musical Units) हैं जिनमें A, B, C, D, M की विभिन्न गतियाँ हैं तथा E, F, G, H, N की गतियाँ हैं। ऐसी स्थिति में E, F, G, H एक भिन्न संगीत या सामान्य (Universal) के विशेष कहे जायँगे।

पुरुष
(Person)

अब तक की हमारी प्रत्ययात्मक योजना में भौतिक पिण्डों को मूल विशेष के रूप में स्वीकार किया गया। अर्थात् किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा किए बिना ही हम भौतिक पिण्डों का अभिज्ञान एवम् पुनरभिज्ञान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि हमें भौतिक पिण्डों से पृथक् किसी वस्तु का अभिज्ञान या पुनरभिज्ञान करना हो तो वह भौतिक पिण्डों के माध्यम से ही किया जा सकता है।

इसके बाद हमने एक ऐसी प्रत्ययात्मक योजना की कल्पना की जहाँ भौतिक वस्तुओं का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। अर्थात् हमने एक ऐसे अदैशिक जगत (Non-spatial world) की कल्पना की जहाँ सब कुछ केवल श्रवण-संवेदना पर ही आधारित था।

इसके बाद हमने एक ऐसी योजना पर विचार किया जिसमें एक **आत्म** और एक **अनात्म** वस्तु के बीच भेद स्थापित किया गया। अर्थात् आत्म-वस्तु वह है जिसके भीतर अभिकर्तृत्व (Agency) पाई जाती है। तात्पर्य यह है कि संसार में कुछ क्रियाएँ स्वैच्छिक या विमर्शात्मक होती हैं और अन्य क्रियाएँ ऐसी होती हैं जो अनायास ही घटित होती हैं।

इसके पश्चात् पूर्व अनुभाग में श्रवण-संवेदना के आधार पर एक ऐसे सार्वजनिक जगत की कल्पना की गई जो **अनहंवादी चैतन्य** (Non-solipsistic Consciousness) का आधार प्रस्तुत करता हो।

पर उपर्युक्त सभी कार्यों का सम्पादन करने के लिए एक ऐसा **पुरुष-विशेष** होना चाहिए जिसे श्रवण-संवेदना का अनुभव हो और उसके आधार पर वह सामान्य और विशेष श्रवण-संवेदनाओं का अभिज्ञान व पुनरभिज्ञान कर सके।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या श्रवण-संवेदना के ऊपर आधारित जगत में उस पुरुष-विशेष के लिए कोई स्थान होगा कि नहीं जो नाना प्रकार की श्रवण-संवेदनाओं का **विषयी** (Subject) है। कोई ध्वनि-विशेष जो विषय रूप है, वह विषयी का रूप किस प्रकार धारण कर सकती है ? यही परिस्थिति पुरुष (Person) की कल्पना को जन्म देती है। इस पुरुष-विशेष के भीतर हम निम्न प्रक्रियाओं की स्थापना करते हैं :

(i) क्रियाएँ और अभिप्राय (Actions and Intentions)

(ii) संवेदनाएँ, विचार एवम् भावनाएँ (Sensations, thoughts and feelings)

(iii) प्रत्यक्ष एवम् स्मृति (Perceptions and memories)

(iv) स्थिति एवम् अभिवृत्ति (Location and attitude)

(v) इनके साथ कुछ नियत विशेषताएँ जैसे ऊँचाई, रंग, आकृति एवम् भार।

अब हमारे समक्ष जो एक नवीन समस्या उठ खड़ी होती है, वह यह है कि चैतन्य की विभिन्न अवस्थाएँ जैसे विचार, भावनाएँ और संवेदनाएँ उस एक ही व्यक्ति के भीतर किस प्रकार निवास कर सकती हैं जिसके भीतर भौतिक विशेषताएँ भी सन्निहित हैं।

इस सम्बन्ध में यहाँ दो प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(1) हमारे चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं की प्रतिष्ठा के लिए किसी पुरुष-विशेष की आवश्यकता ही क्यों होती है ?

(2) यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं की प्रतिष्ठा के लिए एक पुरुष-विशेष की आवश्यकता है तो वे विशेषताएँ उसी पुरुष के भीतर क्यों निहित होनी चाहिए जिसके भीतर भौतिक विशेषताएँ भी पाई जाती हैं।

उक्त समस्या के समाधान के पूर्व हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि किसी अनुभूति की प्राप्ति में हमारे शरीर की क्या भूमिका होती है। हम जानते हैं—

(i) जब हमारे शरीर में आँख की पलक ढकी रहती है, पुरुष को कोई प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

(ii) हमारे दृष्टि-क्षेत्र (Field of Vision) के भीतर कौन वस्तुएँ समाहित की जा सकती हैं और हमारे नेत्र-गोलक (Eye Ball) के दृग् विन्यास (Orientation) पर आश्रित होता है।

(iii) प्रत्यक्ष और संवेदना हमारे सिर की स्थिति पर भी निर्भर करती है।

(iv) हमारे शरीर और प्रत्यक्ष-संवेदना के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि **शरीर भी हमारे प्रत्यक्ष का एक विषय होता है।**

(v) यहाँ एक अन्य बात पर भी हमें ध्यान देना चाहिए और वह यह है कि भौतिक विशेषताओं की प्रतिष्ठा हम केवल शरीर में ही नहीं करते वरन् आत्मा में भी भौतिक विशेषताओं की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिदिन की भाषा में हम कहते हुए पाए जाते हैं कि **"मैं गंजा हूँ", "मैं ठंडा हूँ", "मैं विस्तर पर लेटा हूँ"** जिसमें हम शरीर की विशेषताओं को आत्मा या पुरुष के ऊपर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। ऐसा क्यों ? स्ट्रॉसन ने अपने दर्शन में उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की है।

समस्या का समाधान

स्ट्रॉसन के अनुसार उपर्युक्त समस्या प्रत्यय और उसके प्रयोग की सुभिन्नता के अभाव के कारण उत्पन्न हुई है। वास्तव में यह समस्या प्रत्यय के स्वभाव को न समझने के कारण उत्पन्न होती है। ऐसा सोचना कि भौतिक एवम् मानसिक विशेषताएँ एक ही अधिष्ठान में निवास करती हैं, एक **भाषीय भ्रम** (Linguistic Illusion) है। इसके साथ यह भी सोचना कि

भौतिक विशेषताएँ एक भौतिक पिण्ड में निवास करती हैं तथा मानसिक विशेषताएँ एक आत्मा (Ego or Self) में निवास करती हैं यह भी एक भाषिक भ्रम ही है। स्ट्रॉसन ने इसका स्पष्टीकरण निम्न सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

पुरुष के विषय में दो सिद्धान्त

स्ट्रॉसन ने अपनी पुस्तक "**इण्डिविजुअल्स**" में पुरुष के विषय में निम्न दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो क्रमशः पुरुष का स्वामित्व सिद्धान्त व पुरुष का अ-स्वामित्व सिद्धान्त है।

(1) पुरुष का स्वामित्व सिद्धान्त (Ownership Doctrine)—डेकार्ट्स के अनुसार संसार में दो प्रकार की सत्ताएँ पाई जाती हैं : प्रथम चित् एवम् द्वितीय अचित्। भौतिक विशेषताएँ अचित् (Matter) के भीतर पाई जाती हैं तथा मानसिक विशेषताएँ चित्-तत्त्व के भीतर पाई जाती हैं। यह नियम है कि परस्पर विरोधी विशेषताएँ एक ही तत्त्व के भीतर नहीं पाई जा सकतीं। अतः इन परस्पर विरुद्ध विशेषताओं को धारण करने के लिए संसार में दो पृथक् सत्ताओं का अस्तित्व अनिवार्य है। इसमें प्रथम अचित् तत्त्व है तथा द्वितीय चित् या पुरुष तत्त्व है।

(2) पुरुष का अ-स्वामित्व सिद्धान्त (No-ownership Doctrine)—विटगेन्स्टाइन एवम् शिलक के अनुसार हमारी अनुभूतियों को किसी शरीर में विद्यमान भले ही मान लिया जाय पर इन अनुभूतियों का धारक या स्वामी (Possessor) कोई आत्मा या पुरुष हो, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम प्रकार के स्वामित्व को जिसमें हमारी अनुभूतियाँ किसी बाह्य "भौतिक पिण्ड" पर आश्रित होती हैं, हम **स्वामित्व**$_1$ कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त, दूसरे प्रकार के स्वामित्व को जिसमें हमारी अनुभूतियाँ बाह्य भौतिक पिण्डों पर आश्रित न होकर किसी आत्मा या पुरुष पर आश्रित होती हैं उसे **स्वामित्व**$_2$ कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिस वस्तु में स्वामित्व, निहित है उसे B कह सकते हैं तथा जिसमें स्वामित्व$_2$ निहित है उसे E के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

पर विटगेन्स्टाइन एवम् शिलक के अनुसार किसी आत्मा या पुरुष में विश्वास करना और साथ-साथ यह विश्वास करना कि हमारी अनुभूतियाँ इस पुरुष पर आश्रित हैं एक प्रकार का भ्रम ही है। उनके अनुसार केवल उन्हीं वस्तुओं के स्वामित्व का प्रश्न उत्पन्न होता है जो तार्किक रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित की जा सकती हैं। जिनके स्वामित्व का स्थानान्तरण किया जा सकता है वे ही स्वामी कहे जा सकते हैं। पर हम भली-भाँति जानते हैं कि पुरुष की अनुभूतियों के स्वामित्व का स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता। अतः पुरुष-तत्त्व को हमारे व्यावहारिक जीवन से बिलकुल बहिष्कृत कर देना चाहिए। यही पुरुष का अ-स्वामित्व सिद्धान्त है।

स्वामित्व सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप

स्ट्रॉसन ने पुरुष के स्वामित्व सिद्धान्त व अस्वामित्व सिद्धान्त दोनों की आलोचना की है। प्रथम हम स्वामित्व सिद्धान्त के विरुद्ध उनके आक्षेपों का वर्णन करेंगे।

(i) प्रथम आक्षेप यह है कि यदि किसी पुरुष के अस्तित्व में विश्वास कर लिया जाय तो हमारी सम्पूर्ण अनुभूतियाँ वैयक्तिक (Private) हो जायँगी। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक

(Public) अनुभूतियों का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। इससे अन्य व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

(ii) दूसरी कठिनाई यह है कि यदि पुरुष के अस्तित्व में विश्वास कर लिया जाय तो उसका अभिज्ञान (Identification) एवम् पुनरभिज्ञान (Re-identification) भी सम्भव नहीं होगा। स्ट्रॉसन ने इसके लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किया है। "कोई व्यक्ति चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं को अपनी आत्मा पर आरोपित तभी कर सकता है जब कि वह चैतन्य की अन्य विभिन्न अवस्थाओं को दूसरों की आत्मा पर भी आरोपित कर सके। उसी प्रकार चैतन्य की अन्य विभिन्न अवस्थाओं को दूसरों की आत्माओं पर तभी आरोपित किया जा सकता है जब कि हम अन्य आत्माओं का अभिज्ञान कर सकें। हम अन्य आत्माओं का अभिज्ञान तभी कर सकते हैं जब कि हम उन्हें चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं के स्वामी के रूप में उनका अभिज्ञान करें जो तर्कतः असम्भव है।

(iii) कुछ लोगों का कहना यह है कि दूसरी आत्माओं की अनुभूतियों का अभिज्ञान करना कोई कठिन कार्य नहीं है। जिस प्रकार हमारी अनुभूतियाँ हमारे विशिष्ट शरीर के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार दूसरी आत्माओं की अनुभूतियाँ दूसरे शरीरों के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होती हैं। पर इसके विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि किसी शरीर की विशिष्टता से किसी विशिष्ट आत्मा की सिद्धि नहीं की जा सकती।

अ-स्वामित्व सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप

(i) स्ट्रॉसन ने अ-स्वामित्व सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। यदि आत्मा को व्यावहारिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाय तो "चैतन्य की एक स्थिति" को "चैतन्य की दूसरी स्थिति" या अवस्थाओं से पृथक् नहीं किया जा सकता। किसी आत्मा के परिप्रेक्ष्य में ही चैतन्य की एक अवस्था को चैतन्य की दूसरी अवस्थाओं से पृथक् किया जा सकता है।

(ii) हम अपने चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं को अपनी आत्मा पर तभी आरोपित कर सकते हैं जब दूसरों के चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं को दूसरों की आत्मा पर आरोपित करें। इसका तात्पर्य यह है कि जिस अर्थ में हम अपनी आत्मा पर चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं को आरोपित करते हैं उसी अर्थ में दूसरों के चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं को दूसरों की आत्मा पर आरोपित करना चाहिए। पर हम जानते हैं कि व्यवहार में ऐसा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि

(i) मैं दर्द में हूँ।[1]

(ii) वह दर्द में है।[2]

इन उदाहरणों में क्या प्रथम वाक्य में जो दर्द का अर्थ है वही दूसरे वाक्य में स्थित दर्द का अर्थ है ? यदि वास्तव में आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है तो दोनों वाक्यों में दर्द का अर्थ समान होना चाहिए। पर हम जानते हैं कि दोनों प्रयोगों के अर्थ में महान अन्तर है। इस अन्तर की व्याख्या "आत्मा" के अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। स्ट्रॉसन ने यहाँ एक अन्य

---

1. I am in pain.
2. He is in pain.

बात की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वह यह है कि दोनों अवस्थाओं में सत्यापन की विधि पृथक्-पृथक् है। ऐसी परिस्थिति में दोनों वाक्यों में "दर्द" का अर्थ समान कैसे हो सकता है ?

अन्तिम निष्कर्ष

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब स्ट्रॉसन स्वामित्व सिद्धान्त एवम् अस्वामित्व सिद्धान्त दोनों का खण्डन करते हैं तो उनका वास्तविक मन्तव्य क्या हो सकता है ? उनके अनुसार उपर्युक्त कठिनाइयों से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि पुरुष (Person) के प्रत्यय को एक **मौलिक प्रत्यय** (Primitive Concept) के रूप में स्वीकार किया जाय। इसका तात्पर्य यह है कि हमें पहले से ही स्वीकार कर लेना चाहिए कि आध्यात्मिक एवम् भौतिक विशेषताएँ एक ही पुरुष या आत्मा के भीतर निवास करती हैं। यहाँ हम सोचने के लिए वाध्य हो जाते हैं कि पुरुष दो प्रकार के अधिष्ठानों का एक यौगिक है : प्रथम अनुभवों का अनुभावक आत्मा (Ego) एवम् द्वितीय भौतिक विशेषताओं का अवधारक पिण्ड। साथ ही इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जो लोग यह सोचते हैं कि संसार में एक ऐसी विशुद्ध आत्मा है जो केवल हमारी अनुभूतियों का विषयी है और जिसके भीतर किसी प्रकार की भौतिक विशेषताएँ नहीं पाई जातीं, एक कोरा भ्रम है। स्ट्रॉसन के अनुसार **विभिन्नता** के बिना **एकता** की कल्पना नहीं की जा सकती।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुरुष भौतिक एवम् आध्यात्मिक विशेषताओं का एक समुच्चय है।

विलार्ड वैन ऑर्मन क्वाइन

(Willard Van Orman Quine 1908)

जीवन-वृत्त—क्वाइन का जन्म सन् 1908 में अमेरिका में हुआ था। वे एक सुप्रसिद्ध तर्कशास्त्री हैं। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त किए गए। अपने अध्यापन काल के बीच उन्होंने कई देशों की यात्रा की और विभिन्न विश्वविद्यालयों में तर्कशास्त्र के ऊपर भाषण दिया। इस सिलसिले में उन्होंने भारत की भी यात्रा की और कई गोष्ठियों में उन्होंने सक्रिय रूप में भाग लिया।

रचनाएँ—क्वाइन ने अपने जीवन-काल में औपचारिक तर्कशास्त्र एवम् दर्शन-शास्त्र के ऊपर कई पुस्तकें लिखी हैं। तर्कशास्त्र की पुस्तकों में **गणितीय तर्कशास्त्र** (Mathematical Logic 1940), **समुच्चय सिद्धान्त एवम् उसका तर्कशास्त्र** (Set Theory and its Logic 1963), **तर्क-शास्त्र का दर्शन** (Philosophy of Logic 1970) इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने अपने लेखों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया है जिसका नाम **तार्किक दृष्टिकोण से** (From a Logical Point of View) रखा गया। इन पुस्तकों के अतिरिक्त क्वाइन ने दर्शन-शास्त्र पर भी कई पुस्तकें लिखीं जिनमें **विरोधाभास के उपाय** (The Ways of Paradox 1966) एवम् **सत्तात्मक सापेक्षता एवम् अन्य लेख** (Ontological Relativity and Other Essays 1969) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

क्वाइन कार्नप के अनुयायियों में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति रहे हैं तथा अमेरिकी

अनुभववाद के एक प्रतिनिधि दार्शनिक माने जाते हैं। जब उन्होंने 1951 में अपना महत्त्वपूर्ण लेख "**अनुभववाद के दो मताग्रह**" (The Two Dogmas of Empiricism) प्रकाशित किया, उनकी ख्याति में पर्याप्त वृद्धि हुई। इस लेख में उन्होंने दर्शाया कि अनुभववाद के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक निर्णयों के बीच उतना आत्यन्तिक भेद नहीं है जितना लोग समझते हैं। उसी प्रकार अपवर्तन-विधि में जो दो कथनों के अर्थ की समतुल्यता पर विशेष बल दिया गया है, उसकी भी कोई सार्थकता नहीं है। इसी प्रकार क्वाइन ने अपनी पुस्तक **शब्द एवम् वस्तु** (Word and Object) में प्रदर्शित किया है कि किसी वाक्य की सार्थकता अन्य वाक्यों की सार्थकता पर आश्रित होती है। अर्थात् किसी वाक्य की पृथक् सार्थकता का कोई अर्थ नहीं है। इसी पुस्तक में उन्होंने अपने "**आमूल अनुवाद की अनिर्धार्यता**" (Indeterminacy of Radical Translation) सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध किया है कि किसी वाक्य के अनन्त अर्थ हो सकते हैं। अतः उसका वास्तविक अर्थ अन्य वाक्यों के सन्दर्भ में ही निर्धारित किया जा सकता है।

अनुभववाद के दो मताग्रह
(The Two Dogmas of Empiricism)

आधुनिक अनुभववाद बहुत कुछ दो मताग्रहों पर आधारित हैं : प्रथम मताग्रह यह है कि **विश्लेषणात्मक** और **संश्लेषणात्मक** वाक्यों में आधारभूत भेद है और वह भेद यह है कि विश्लेषणात्मक वाक्य का सम्बन्ध केवल अर्थ से होता है तथा संश्लेषणात्मक वाक्य का सम्बन्ध केवल अर्थों से न होकर तथ्यों से भी होता है। अनुभववाद का दूसरा मताग्रह अपवर्तनवाद है जिसके अनुसार सभी सार्थक कथन उन पदों की तार्किक रचनाएँ हैं जो अव्यवहित अनुभव की ओर निर्देश करते हैं। प्रो० क्वाइन ने इन दोनों मताग्रहों का खण्डन किया है। प्रथम मताग्रह का खण्डन परिकल्पनात्मक तत्त्वविज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर को सीमित करता है तथा दूसरे मताग्रह का खण्डन हमें अर्थक्रियावाद (Pragmatism) की ओर अग्रसर करता है। क्वाइन के द्वारा प्रथम मताग्रह की आलोचना की मुख्य बात यह है कि अनुभववादियों ने विश्लेषणात्मकता की कोई स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है तथा यदि उन्होंने कोई व्याख्या प्रस्तुत की भी है तो उसमें कई तार्किक दोष पाये जाते हैं। द्वितीय मताग्रह के खण्डन में क्वाइन ने सत्य का एक ऐसा प्रत्यक्षात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि उसके आधार पर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों का भेद टिक ही नहीं सकता। यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि क्वाइन की उपर्युक्त दोनों धारणाएँ विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक सन्दर्भ में भी समाहित व समन्वित की जा सकती हैं। विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक कथनों का भेद एक मौलिक भेद है जिसे दृष्टि-परिवर्तन के बिना समाप्त नहीं किया जा सकता।

अनुभववाद के उपर्युक्त मताग्रहों की प्रतिरक्षा के पूर्व हम प्रो० क्वाइन द्वारा इन मताग्रहों के खण्डन का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

क्वाइन द्वारा मताग्रहों की आलोचना—प्रो० क्वाइन ने अनुभववाद के दोनों मताग्रहों का पृथक्-पृथक् खण्डन किया है, अतः हम उसी क्रम में उनके द्वारा प्रस्तुत खण्डन का वर्णन करेंगे।

(अ) **विश्लेषणात्मकता का विश्लेषण**—भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने विश्लेषणात्मकता की

भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। प्रो० क्वाइन का कथन है कि दार्शनिकों ने आधुनिक युग में विश्लेषणात्मकता की परिभाषा, पर्याप्तता और एकान्तरण के माध्यम से व्याख्यायित करने की चेष्टा की है पर इस प्रयत्न में सर्वथा असफल रहे हैं। विषय के महत्त्व के कारण हम उन्हें पृथक्-पृथक् रूप में लेकर समझने का प्रयत्न करेंगे।

(1) **विश्लेषणात्मकता और परिभाषा**—कुछ लोगों ने विश्लेषणात्मकता को परिभाषा के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है। यहाँ हम दो प्रकार के विश्लेषणात्मक तर्क वाक्यों को ले सकते हैं : प्रथम वे विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य हैं जो तार्किक पर्याय-युग्मों से निर्मित होते हैं—

(क) कोई अविवाहित मनुष्य विवाहित नहीं होता

द्वितीय प्रकार का विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य वह है जो तर्केतर पर्याय-युग्मों से निर्मित होता है और विशुद्ध तार्किक सत्य की अभिव्यक्ति नहीं करता, जैसे—

(ख) 'कोई भी कुमार विवाहित नहीं होता'

कुछ दार्शनिक का विचार है कि 'परिभाषा' के अनुसार द्वितीय प्रकार का विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य उतने ही तार्किक सत्य को अभिव्यक्त करता है जितना प्रथम प्रकार का विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य, क्योंकि 'कुमार' को 'अविवाहित मनुष्य' के रूप में ही परिभाषित किया जाता है। पर बात ऐसी नहीं है। प्रथम तर्क-वाक्य तो अनिवार्य है पर द्वितीय आपातिक है। यदि यह कहा जाय कि 'कुमार' को 'अविवाहित मनुष्य' के रूप में परिभाषित किया जाता है अतः द्वितीय तर्कवाक्य भी अनिवार्य और विश्लेषणात्मक है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कुमार' को 'अविवाहित मनुष्य' के रूप में परिभाषित करने में कोई अनिवार्यता नहीं है। प्रथम तर्क वाक्य के विषय में इस प्रकार का सन्देह नहीं उठाया जा सकता। अतः क्वाइन के अनुसार केवल प्रथम तर्क-वाक्य ही वास्तव में विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। द्वितीय तर्क-वाक्य, परिभाषा के बावजूद, विश्लेषणात्मक नहीं है क्योंकि उसमें अनिवार्यता नहीं है। अतः परिभाषा के द्वारा विश्लेषणात्मकता की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती।

(2) **विश्लेषणात्मकता और पर्यायता**—यहाँ हम इस बात का परीक्षण करेंगे कि क्या पर्यायता के माध्यम से विश्लेषणात्मकता की व्याख्या की जा सकती है ? क्वाइन के अनुसार यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें चक्रक दोष की उत्पत्ति हो जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पर्यायता वास्तव में है क्या ? दो भाषिक रूप एक-दूसरे के पर्याय तब कहे जायँगे जब किसी भी परिस्थिति में एक के स्थान पर दूसरे का एकान्तरण कर देने से उसके सत्य-मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। पर्यायता से यहाँ तात्पर्य पूर्ण तादात्म्य से नहीं है वरन् ज्ञानात्मक पर्यायता (Cognitive Synonymy) से है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' में 'ज्ञानात्मक पर्यायता' इसलिए है कि—

(ग) 'सभी और केवल कुमार ही अविवाहित मनुष्य होते हैं'

यह एक विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि हम विश्लेषणात्मकता को 'ज्ञानात्मक पर्यायता' के द्वारा परिभाषित करना चाहते हैं तो ज्ञानात्मक पर्यायता की व्याख्या में विश्लेषणात्मकता का

प्रयोग नहीं होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि केवल परस्परान्तरण के द्वारा ही ज्ञानात्मक पर्यायता की यथेष्ट व्याख्या हो जाय। पर यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानात्मक पर्यायता में विश्लेषणात्मकता का प्रत्यय शामिल होता है। निम्न दृष्टान्त इसे भली-भाँति प्रकट कर देगा :

(घ) 'अनिवार्यतः सभी और केवल कुमार ही कुमार होते हैं'

यदि 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' परस्परान्तरणीय हैं तो इसका निम्न परिणाम होगा :

(ङ) 'अनिवार्यतः सभी और केवल कुमार ही अविवाहित मनुष्य होते हैं'—ङ तर्क-वाक्य घ तर्क-वाक्य के समान ही सत्य होना चाहिए क्योंकि 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' एकान्तरणीय हैं। किन्तु ङ को अनिवार्यतः सत्य घोषित करने का परिणाम यह होगा कि ग तर्क-वाक्य विश्लेषणात्मक हो जायगा और इस प्रकार 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' में ज्ञानात्मक पर्यायता समझी जायगी। यहाँ हमने "परस्परान्तरण" द्वारा "विश्लेषणात्मकता" को सिद्ध किया तथा "विश्लेषणात्मकता" के द्वारा "ज्ञानात्मक पर्यायता" को सिद्ध किया। इस युक्ति में चक्रक दोष परिलक्षित होता है। प्रथम हम "ज्ञानात्मक पर्यायता" द्वारा "विश्लेषणात्मकता" को परिभाषित करना चाहते थे पर अब स्वयं "विश्लेषणात्मकता' के द्वारा "ज्ञानात्मक पर्यायता" को परिभाषित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अतः हमारी युक्ति निश्चित रूप से दोषपूर्ण है। परस्परान्तरण को विश्लेषणात्मकता और ज्ञानात्मक पर्यायता के बीच खड़ा कर देने से समस्या का कोई विशेष समाधान नहीं हो जाता। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि केवल ऐसी दो विधियों के बीच ही परस्परान्तरण सार्थक हो सकता है जिनके व्याप्त्यर्थ (Denotation) और गुणार्थ (Connotation) दोनों समान हों। उदाहरण के लिए 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' परस्परान्तरणीय हैं पर 'हृदयवान् जीव' और 'गुर्दावान् जीव' परस्परान्तरणीय नहीं हैं क्योंकि इनके व्याप्त्यर्थ समान होते हुए भी इनके गुणार्थ समान नहीं हैं।

(ब) अपवर्तन-प्रवृत्ति (Reductionism) का विश्लेषण—क्वाइन के अनुसार अनुभववाद का दूसरा मताग्रह अपवर्तन है। इसका अर्थ के सत्यापन-सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः वर्त्तनता की व्याख्या सत्यापन-सिद्धान्त के माध्यम से ही की जा सकती है। अर्थ के सत्यापन-सिद्धान्त के अनुसार किसी कथन का अर्थ उसकी अनुभव द्वारा सत्यापन या असत्यापन-विधि है। विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य सत्यापन-सिद्धान्त का वह पार्यन्तिक उदाहरण है जो प्रत्येक अवस्था में सत्यापित हो सकता है। द्वितीय मताग्रह के खण्डन में क्वाइन ने सत्य का एक ऐसा प्रत्यक्षात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि उसके आधार पर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों का भेद ही समाप्त हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि सत्यापन-विधि क्या है ? किसी कथन और उस अनुभव के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होता है कि वह उसे सत्यापित या असत्यापित कर सके। किसी कथन और अनुभव के बीच सम्बन्ध की अभिव्यक्ति **आमूल अपवर्तन** (Radical Reduction) द्वारा की जाती है। सत्यापन-सिद्धान्त की स्थापना के पहले ही दार्शनिक लोग आमूल अपवर्तन में विश्वास करते थे। लॉक, ह्यूम इत्यादि अनुभववादियों ने पहले ही घोषित कर दिया था कि प्रत्येक विज्ञान का मूल इन्द्रियानुभव में खोजा जा सकता है। आधुनिक शब्दावली में, कोई पद सार्थक तभी समझा जा सकता है जब कि या तो वह किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का नाम हो या ऐसे नामों का यौगिक हो, अथवा वह ऐसे किसी यौगिक का संक्षेप हो। पदों की

सार्थकता के समान कथनों की सार्थकता के विषय में सत्यापन-सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक सार्थक कथन साक्षात् अनुभव के कथन में घटित किया जा सकता है। पदों की सार्थकता के विषय में जो सत्यापन-सिद्धान्त है उसमें कई कठिनाइयां हैं। प्रथम तो यह है कि यह सिद्धान्त घटनाओं और संवेद्य गुणों में भेद नहीं करता और न यही स्पष्ट करता है कि इनसे यौगिक किस प्रकार निर्मित होता है। इसमें दूसरा दोष यह है कि यह अनावश्यक रूप से पदों और इन्द्रिय प्रदत्तों में एकैक संवादिता पर विशेष बल देता है। आमूल अपवर्तन की सीमा का अतिक्रमण किये बिना ही हम संगत रूप में एक पूर्ण कथन को ही एक इकाई मान सकते हैं। इस प्रकार आमूल अपवर्तनवाद को हम निम्न प्रकार सूत्रबद्ध कर सकते हैं। कोई कथन या तर्क-वाक्य सार्थक तभी कहा जा सकता है जबकि हम उसे इन्द्रिय-प्रदत्त-वाचक वाक्यों में अनुवादित कर सकें। इसके लिए पदों की एकैक संवादिता की आवश्यकता नहीं है। इस संशोधन का प्रधान कारण यह था कि अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति पदों के माध्यम से न होकर कथनों या तर्क-वाक्यों के माध्यम से ही हो सकती है। फ्रेगे और रसेल का अपूर्ण प्रतीक का सिद्धान्त इस बात को भली-भाँति सिद्ध कर देता है कि कथनों या तर्क-वाक्यों से पृथक् पदों का कोई अर्थ नहीं होता। किसी पद के अर्थ को उसके प्रयोग द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है। इसी कारण आगे चलकर दार्शनिकों ने अर्थ के सत्यापन-सिद्धान्त के लिए पदों के स्थान पर पूर्ण कथनों या पूर्ण-वाक्यों को इकाई माना।

उपर्युक्त रूप में अपवर्तन की धारणा इस विचार पर आधारित है कि कोई कथन अन्य कथनों से पृथक् अनुभव द्वारा सत्यापित या असत्यापित किया जा सकता है। पर बात ऐसी नहीं है। कथनों का पृथक् रूप में अनुभव द्वारा पूर्ण सत्यापन तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि उनसे सम्बन्धित अन्य कथनों को भी हम उसी अनुभव द्वारा सत्यापित नहीं कर लेते। यहाँ हम सत्य के संवादिता सिद्धान्त से संसक्तता सिद्धान्त की ओर आसानी से अग्रसर हो जाते हैं।

अपवर्तन के मताग्रह का अनुभववाद के दूसरे मताग्रह—कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों में आधारभूत भेद होता है—के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम सत्यापन-सिद्धान्त द्वारा अपवर्तनवाद और विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों के आधारभूत भेद तक पहुँचते हैं। अर्थात् जब तक हम किसी कथन के अनुभव द्वारा सत्यापन या असत्यापन की बात करेंगे तब तक उसकी सीमान्त अवस्था—अर्थात् ऐसा कथन जो प्रत्येक स्थिति में सत्यापित हो सके—के विषय में हमें कथन करने से कोई नहीं रोक सकता। प्रथम मताग्रह द्वितीय मताग्रह की सरल परिणति है।

कार्नप ने अपने शब्दार्थ विज्ञान (Semantics) में स्पष्ट किया है कि प्रत्येक कथन में दो तत्त्व पाए जाते हैं : प्रथम तथ्यात्मक तत्त्व (Factual Element) एवम् द्वितीय शाब्दिक तत्त्व। किसी कथन में इन दोनों तत्त्वों का अनुपात घटता बढ़ता रहता है। अब हम एक ऐसे कथन की कल्पना कर सकते हैं जिसमें तथ्यात्मक तत्त्व की मात्रा निम्नतम हो तथा शाब्दिक तत्त्व की मात्रा अधिकतम हो। ऐसी स्थिति में, कार्नप एवम् क्वाइन के अनुसार वह कथन विश्लेषणात्मक कथन (Analytic Statement) कहा जायगा। इसके विपरीत हम एक ऐसे कथन की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें तथ्यात्मक तत्त्व की मात्रा अधिकतम हो पर शाब्दिक तत्त्व की मात्रा निम्नतम हो। ऐसी स्थिति में कार्नप एवम् क्वाइन के अनुसार वह कथन संश्लेषणात्मक कथन

(Synthetic Statement) कहा जायगा। वास्तव में यह संश्लेषणात्मक कथन मूल प्रतिज्ञप्ति (Basic Proposition) के नाम से अभिहित किया जायगा। उपर्युक्त तर्क का निहितार्थ यह है कि विश्लेषणात्मक एवम् संश्लेषणात्मक कथनों के बीच उतना आत्यन्तिक भेद नहीं है जितना तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने प्रतिपादित किया था।

संक्षेप में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान मनुष्य-निर्मित ज्ञान है जो केवल परिधि पर ही अनुभव को स्पर्श करता है। जब कभी परिधि पर ज्ञान का अनुभव से विरोध होता है हम ज्ञान के केन्द्र में तदनुसार परिवर्तन कर लेते हैं। इस परिवर्तन का ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है क्योंकि किसी प्रतिकूल अनुभव के बावजूद हमारे कथनों के पुनर्मूल्यांकन में विकल्पों की पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है। यहाँ तक कि ज्ञान की परिधि का भी कोई कथन व्याघातक अनुभवों के बावजूद विभ्रम के आधार पर सत्य सिद्ध किया जा सकता है। इसके विपरीत ऐसा कोई भी कथन नहीं है जो संशोधन से सुरक्षित हो। यहाँ तक कि स्तोक-भौतिकी (Quantum Physics) के सरलीकरण के मध्यम-परिहार-नियम का भी संशोधन किया गया है। अतः क्वाइन के अनुसार दार्शनिकों ने जो विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों में स्पष्ट अन्तर किया है वह वास्तव में निरर्थक ही है।

उत्कट अनुभववाद
(Radical Empiricism)

पाश्चात्य दर्शन में "उत्कट अनुभववाद" का सर्वप्रथम प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी में विलियम जेम्स ने किया था। इसमें उन्होंने "अनुभव" शब्द का प्रयोग एक बहुत ही विस्तृत अर्थ में किया है जिसके भीतर केवल प्रत्यक्ष एवं संप्रत्यय ही नहीं आते वरन् इसकी परिधि में सक्रियता की भावना, प्रत्याशा, भय, क्रोध, सन्देह तथा सभी नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक अनुभूतियों को भी शामिल कर लिया गया। किन्तु क्वाइन ने "उत्कट अनुभववाद" शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में न कर एक अन्य विशिष्ट अर्थ में किया है। इस अर्थ का सत्यापन सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी कथन और अनुभव के बीच सम्बन्ध भी अभिव्यक्ति आमूल अपवर्तन (Radical Reduction) द्वारा की जाती है। अर्थात् किसी विज्ञान (Idea) या पद (Term) की सार्थकता तब तक सिद्ध नहीं की जा सकती जब तक कि उसका मत इन्द्रियानुभव में घटित नहीं कर लिया जाता। सत्रहवीं शताब्दी में लॉक बर्कले इत्यादि अनुभववादियों ने पहले ही घोषित कर दिया था कि विज्ञान का मूल इन्द्रियानुभव में खोजा जा सकता है। आधुनिक शब्दावली में कोई पद सार्थक तभी समझा जा सकता है जबकि वह या तो किसी इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense Data) का नाम हो या ऐसे नामों का यौगिक हो अथवा वह किसी ऐसे यौगिक का संक्षेप हो।

पदों की सार्थकता के समान कथनों की सार्थकता के विषय में भी सत्यापन सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता है जिसके अनुसार प्रत्येक सार्थक कथन साक्षात् अनुभव के कथन में घटित किया जा सकता है। पदों की सार्थकता सम्बन्धी सत्यापन सिद्धान्त में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि यह अनावश्यक रूप से पदों एवं इन्द्रिय-प्रदत्तों के बीच एकैक संवादिता पर विशेष बल देता है। द्वितीय महत्वपूर्ण कठिनाई यह है कि अर्थ की पूर्ण

अभिव्यक्ति पदों के माध्यम से न होकर कथनों या तर्क-वाक्यों के माध्यम से ही हो सकती है। फ्रेगे और रसेल के अपूर्ण प्रतीक (Incomplete Symbol) सिद्धान्त के अनुसार कथनों या तर्क-वाक्यों से पृथक् पदों की कोई स्वतन्त्र सार्थकता नहीं होती। किसी पद के अर्थ को उसके प्रयोग द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है।

क्वाइन के उत्कट अनुभववाद को एक दूसरे प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्राचीन अनुभववाद के अनुसार विश्लेषणात्मक (Analytic) एवं संश्लेषणात्मक (Synthetic) प्रतिज्ञप्तियों के बीच आत्यन्तिक भेद होता है। क्वाइन इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों के आत्यन्तिक भेद का निराकरण करते हैं। उनके अनुसार इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की भी सीमान्त (Limiting) अवस्था है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जिसे कुछ स्थितियों में ही सत्यापित किया जा सकता है। इसके विपरीत विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जिसे प्रत्येक स्थिति में सत्यापित किया जा सकता है। सत्यापन से पृथक् किसी भी प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। क्वाइन का यही उत्कट अनुभववाद है।

क्वाइन के उत्कट अनुभववाद का एक तीसरा भी पक्ष है जिसे कार्नप (Carnap) के शब्दार्थ-विज्ञान द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कार्नप की इस व्याख्या ने भी विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के आत्यन्तिक भेद को मिटा दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक कथन में दो तत्त्व पाए जाते हैं : प्रथम **तथ्यात्मक तत्त्व** एवं द्वितीय **शाब्दिक तत्त्व**। इस कथन में दोनों तत्त्वों का अनुपात घटता बढ़ता रहता है। अब हम एक ऐसे कथन की कल्पना कर सकते हैं जिसमें तथ्यात्मक तत्त्व की मात्रा निम्नतम हो पर शाब्दिक तत्त्व की मात्रा अधिकतम हो। ऐसी स्थिति में कार्नप और क्वाइन के अनुसार वह कथन विश्लेषणात्मक कथन होगा। इसके विपरीत हम एक ऐसे कथन की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें तथ्यात्मक तत्त्व की मात्रा तो अधिकतम हो पर शाब्दिक तत्त्व की मात्रा निम्नतम हो। ऐसी स्थिति में कार्नप और क्वाइन के अनुसार वह कथन संश्लेषणात्मक कथन कहा जायगा। वास्तव में इस संश्लेषणात्मक कथन को विश्लेषणात्मक दर्शन में मूल प्रतिज्ञप्ति (Basic Proposition) का नाम दिया जाता है। उपर्युक्त विवेचन का निहितार्थ यह है कि अनुभववाद की परिधि के भीतर ही विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक कथनों की व्याख्या की जा सकती है।

मताग्रहों की प्रतिरक्षा

ग्राइस और स्ट्रॉसन ने अनुभववाद के मताग्रहों की बड़ी सफलतापूर्वक प्रतिरक्षा की है। उनके अनुसार विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक कथनों में मौलिक भेद है। दो अभिव्यञ्जनाओं क और ख में 'ज्ञानात्मक पर्यायता' का यही अर्थ हो सकता है कि क और ख दोनों का अर्थ एक ही है। यदि क्वाइन की बात सही है, तो उन्हें न केवल यही कहना चाहिए कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों में कोई अन्तर नहीं है, वरन् उन्हें यह भी कहना चाहिए कि "एक ही अर्थ होता है" और "एक ही अर्थ नहीं होता" अभिव्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं है। यही बात उन्हें सह-गुणार्थक और सह-व्याप्त्यर्थक, अभिव्यंजनाओं के विषय में भी माननी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई कहता है कि "कुमार" का वही अर्थ है जो "अविवाहित पुरुष" का है और "गुर्दे वाले प्राणी" का वही अर्थ नहीं है जो "हृदय वाले प्राणी" का अर्थ होता है, तो यदि

क्वाइन की बात सही मान ली जाय तो वह व्यक्ति या तो किसी अन्तर को स्पष्ट नहीं कर रहा है या यदि वह किसी अन्तर को स्पष्ट कर रहा है तो वह निरर्थक है। इसी बात को अन्य शब्दों में इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि, यह कथन कि "विधेय क और विधेय ख के व्याप्त्यर्थ तो एक ही है पर गुणार्थ भिन्न है" या तो निरर्थक है या अनर्गल है। क्वाइन के अनुसार "कुमार अविवाहित मनुष्य होते हैं" और "गुर्दे वाले प्राणी हृदयवाले प्राणी होते हैं" में कोई अन्तर नहीं है। पर इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता। प्रथम कथन में गुणार्थक और व्याप्त्यर्थक दोनों पर्यायताएँ पायी जाती हैं पर द्वितीय कथन में व्याप्त्यर्थक पर्यायता तो है पर गुणार्थक पर्यायता नहीं पायी जाती। दोनों को एक मानना कभी भी न्याय्य नहीं कहा जा सकता।

दूसरा दोष जो ग्राइस और स्टॉसन ने क्वाइन के सिद्धान्त में निकाला है वह यह है कि क्वाइन ने तार्किक असम्भावना और प्राकृतिक असम्भावना में भेद नहीं किया है। उन्होंने एक प्राकृतिक असम्भावना का उदाहरण लेकर दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है—

(1) मेरे पड़ोसी का तीन वर्ष का बालक प्रौढ़ है।

(2) मेरे पड़ोसी का तीन वर्ष का बालक रसेल के प्ररूप-सिद्धान्त (Theory of Types) को समझता है।

प्रथम तर्क-वाक्य तार्किक असम्भावना का उदाहरण है पर द्वितीय तर्क-वाक्य प्राकृतिक असम्भावना का उदाहरण है। ग्राइस और स्ट्रॉसन के अनुसार, प्रथम उदाहरण अचिन्त्य या अनवबोध्य है, क्योंकि तीन वर्ष के बालक को प्रौढ़ कहना बदतोव्याघात है। दूसरे उदाहरण को प्राकृतिक रूप में असम्भव मानते हुए भी तार्किक दृष्टि से अचिन्त्य या अनवबोध्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस कथन का विधान बदतोव्याघात नहीं है। इन दोनों प्रकार के कथनों के भेद का निषेध करना निरर्थक और अनर्गल ही कहा जायगा।

इसी प्रकार क्वाइन का यह कथन, कि पर्यायता की व्याख्या परिभाषा द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि स्वयं परिभाषा पर्यायता पर आश्रित है, ठीक नहीं है। सच पूछा जाय तो परिभाषा द्वारा पर्यायता की व्याख्या तब तक अवबोध्य नहीं हो सकती जब तक कि वास्तविक प्रयोग में परिभाषा के भीतर पर्यायता की अवधारणा पूर्वमान्य न हो। विधि (Law) की कल्पना वहीं की जा सकती है जहाँ उसकी रूढ़ियाँ हों। इसी प्रकार, नियम (Rule) की कल्पना वहीं हो सकती है जहाँ उसका व्यवहार होता है। अतः यदि हम पर्यायता को परिभाषा द्वारा इसलिए व्याख्यायित करते हैं कि परिभाषा के भीतर पर्यायता का भाव निहित है, तो इससे हमारी व्याख्या में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो जाता।

क्वाइन ने अपवर्तन-प्रवृत्ति की आलोचना दो आधारों पर की है। प्रथम, उनके अनुसार ऐसा सोचना निरा भ्रम है कि कुछ ऐसे विशिष्ट कथन हो सकते हैं जो अनुभव-सम्बन्ध के कारण हों। इस सम्बन्ध में उनका द्वितीय सिद्धान्त यह है कि कोई भी कथन तब तक पूर्ण रूप से सत्यापित या असत्यापित नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसकी संगति या असंगति तत्सम्बन्धित अन्य कथनों के साथ निर्धारित नहीं कर ली जाती। ग्राइस और स्ट्रॉसन पहले क्वाइन के द्वितीय सिद्धान्त की परीक्षा करते हैं। उनके अनुसार, जब हमारे समक्ष कोई विपरीत अनुभव उपस्थित होता है हमें इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि किस कथन का संशोधन करें और किस कथन का संशोधन न करें। हमें किस का परित्याग करना है, वह इस बात पर

आधारित होता है कि हम किस कथन को सुरक्षित रखना चाहते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार हमें सत्यापन या असत्यापन द्वारा कथनों की पर्यायता की परिभाषा में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। इस नवीन दृष्टिकोण के अनुसार दो कथन पर्यायवाची तब कहे जायेंगे जब कोई अनुभव, जो अन्य कथनों के सत्य-मूल्यों से सम्बन्धित कुछ अभिग्रहों के आधार पर प्रथम कथन को सत्यापित या असत्यापित करता है वह उन्हीं अभिग्रहों के आधार पर द्वितीय कथन को भी सत्यापित या असत्यापित कर सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्वाइन के आनुभविक सत्यापन के सिद्धान्त का यह मन्तव्य कभी नहीं हो सकता कि कोई विशिष्ट कथन अनुभव द्वारा तब तक सत्यापित नहीं हो सकता जब तक कि तत्सम्बन्धी अन्य कथन अनुभव द्वारा सत्यापित न हो जाय।

क्वाइन द्वारा अपवर्तन (Reduction) की आलोचना का प्रथम आधार यह था कि संसार में ऐसा कोई कथन नहीं है जो अनुभव-निरापद हो। ग्राइस और स्ट्रॉसन के अनुसार उपर्युक्त सिद्धान्त और विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक कथनों के मौलिक भेद में कोई असंगति नहीं है। जो दार्शनिक विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों के मौलिक भेद को स्वीकार करते हैं उन्हें एक अन्य भेद को भी स्वीकार करना चाहिए। यह भेद दो प्रकार के निषेध से सम्बन्धित है। प्रथम प्रकार का निषेध वह है जिसमें हम किसी कथन का परित्याग तव करते हैं जब हम उसकी असत्यता को स्वीकार कर लेते हैं। द्वितीय प्रकार का निषेध तब उत्पन्न होता है जब हम किसी **संप्रत्यय** में या तो कुछ संशोधन करते हैं या उसका बिलकुल परित्याग कर देते हैं। क्वाइन ने अपने लेख "अनुभववाद के दो मताग्रह" में जो विश्लेषणात्मक कथनों में संशोधन की बात कही है उसका प्रथम प्रकार के निषेध से सम्बन्ध न होकर द्वितीय प्रकार के निषेध से सम्बन्ध है। किसी विश्लेषणात्मक कथन का कोई इस कारण निषेध नहीं कर सकता कि वस्तु-जगत् के तथ्य उसके प्रतिरोधी हैं। हाँ, उसका निषेध इस कारण अवश्य हो सकता है कि उसके भीतर प्रयुक्त संप्रत्ययों के अर्थ में कुछ परिवर्तन हो गया है। जैसे समतल ज्यामिति में एक सरल रेखा पर एक बिन्दु से केवल एक ही लम्ब खींचा जा सकता है पर ठोस ज्यामिति में एक सरल रेखा पर एक बिन्दु से असंख्य लम्ब खींचे जा सकते हैं। यदि संप्रत्ययों के अर्थ में परिवर्तन हो जाने से किसी कथन के सत्य-मूल्यों में परिवर्तन हो जाता है तो अवश्य कहा जायगा कि कथन ने विश्लेषणात्मक रूप छोड़कर संश्लेषणात्मक रूप धारण कर लिया है। पर यह परिवर्तन वस्तु-जगत् के किसी नवीन तथ्य के ज्ञान के कारण नहीं हुआ है वरन् केवल संप्रत्ययों के अर्थों के परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुआ है। यदि हम इस तथ्य को भली-भाँति स्वीकार कर लें कि किसी कथन के वही शब्द एक अर्थ में यथार्थता की अभिव्यक्ति करते हैं और वही शब्द दूसरे परिवर्तित अर्थ में अयथार्थता की अभिव्यक्ति करते हैं तो हम विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों के अन्तर को सुरक्षित रखते हुए भी क्वाइन के संशोधनवाद को स्वीकार कर सकते हैं। केवल शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाने से कोई विश्लेषणात्मक कथन संश्लेषणात्मक कथन के रूप में परिवर्तित नहीं हो जायगा। हाँ, इसकी प्रागपेक्षा केवल इतनी ही है कि हम उस विशेष धरातल को न भूल जायँ जिसके ऊपर खड़े होकर हमने उक्त विश्लेषणात्मक कथन को व्यक्त किया। क्वाइन के संशोधनवाद का केवल एक ही तात्पर्य है और वह यह है कि किसी भी संप्रत्ययात्मक योजना के अंगीकार में कोई पूर्ण या निरपेक्ष

अनिवार्यता नहीं है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि ऐसा कोई विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य नहीं है जो किसी विश्लेषणात्मक कथन की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सके। किन्तु इसे स्वीकार करना एक बात है और इस बात को स्वीकार करना दूसरी बात है कि किसी संप्रत्ययात्मक योजना के भीतर कोई अनिवार्यता नहीं है। अथवा यह कहना होगा कि ऐसे भाषीय रूप ही नहीं हो सकते कि वे विश्लेषणात्मक कथनों की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकेंगे।

संक्षेप : में क्वाइन ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों के आधारभूत भेद को समाप्त करने के लिए दो युक्तियाँ प्रस्तुत की थी। प्रथम यह कि भेदवादियों ने विश्लेषणात्मकता की कोई स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत नहीं की थी, और यदि कोई परिभाषा प्रस्तुत भी की थी तो उसके भीतर चक्रक दोष पाया जाता था। द्वितीय युक्ति में क्वाइन ने सत्य का एक ऐसा प्रत्यक्षात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था जिसके आधार पर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों का भेद टिक ही नहीं सकता था।

यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि क्वाइन की उपर्युक्त दोनों बातें विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक सन्दर्भ में भी समाहित व समन्वित की जा सकती हैं। विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों का भेद एक मौलिक भेद है जिसे बिना दृष्टि-परिवर्तन किये समाप्त नहीं किया जा सकता।

सत्तात्मक प्रतिबद्धता

इस अनुभाग में हम उन सत्तात्मक समस्याओं का विचार करेंगे जिन पर प्रो० क्वाइन ने सर्वप्रथम विशेष रूप से विचार किया है। उन्होंने सुप्रसिद्ध निबन्ध "ऑन ह्वाट देयर इज" में एक जगह लिखा है कि किसी संकेत (Sign) का कोई अर्थ (Meaning) है, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि संसार में ऐसी कोई वस्तु है जिसके लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है या संसार की किसी वस्तु की ओर वह संकेत करता है। यह केवल लाल, पीला, नीला इत्यादि गुणों पर ही लागू नहीं होता वरन् कुछ संज्ञाओं पर भी लागू होता है जैसे "पेगैसस" (Pegasus), 'यूनिकार्न' (Unicorn) इत्यादि। क्वाइन ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि ऐसी संज्ञाओं को निश्चित वर्णनों (Definite Descriptions) के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, जैसा बर्ट्रण्ड रसेल ने किया था। यहाँ तक कि उन अवस्थाओं में भी जहाँ कोई अभिव्यंजना किसी वस्तु या व्यक्ति की ओर निर्देश करती है, यह नहीं कहा जा सकता कि उस अभिव्यंजना के अर्थ और निर्देश में तादात्म्य है। उदाहरण के लिए 'प्रभात-तारा' (Morning Star) एवं 'सान्ध्य तारा' (Evening Star) के अर्थ भिन्न हैं पर वे एक ही वस्तु की ओर निर्देश करते हैं। सारांश यह है कि हम ऐसी अभिव्यंजनाओं का बड़ी आसानी से प्रयोग कर सकते हैं जो सार्थक होते हुए भी निर्देशात्मक न हों।

उपर्युक्त बातों के साथ हम ऐसी अभिव्यंजनाओं का भी प्रयोग कर सकते हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता हो कि कुछ वस्तुओं या सत्ताओं का अस्तित्व है। हम भली-भाँति जानते हैं कि जब हमें किसी सत्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन करना होता है तो हम किसी अस्तित्वपरक परिमापक (Existential Quantifiers) का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में उस चर (Variable) के सभी मूल्य जो अस्तित्वपरक परिमापक से आबद्ध हैं, अस्तित्ववान होंगे। किन्तु

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि हम अपने अस्तित्वपरक कथनों में इस प्रकार परिवर्तन लाएँ कि वे चर जो एक निश्चित प्रकार के मूल्य ग्रहण करते हैं, अदृश्य हो जायँ तो हमारी सत्तात्मक प्रतिबद्धता की सीमा पर्याप्त कम हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि कोई ऐसा अस्तित्वपरक कथन है जिसके परिबद्ध चरों (Bound Variables) के मूल्य अमूर्त इकाइयाँ हैं तो ऐसे अस्तित्वपरक कथनों में हम इस प्रकार का परिवर्तन ला सकते हैं कि उनके परिबद्ध चरों के मूल्य अमूर्त इकाइयाँ न होकर मूर्त इकाइयाँ हों और उनके अर्थ में कोई परिवर्तन भी न हो। यदि हम इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित करने में सफल हो जाते हैं तो नाममात्रवाद (Nominalism) की प्रतिष्ठा स्वतः हो जायगी अन्यथा हमें अपनी सत्तासीमांसा में अमूर्त इकाइयों को अवश्य स्थान देना होगा।

1. सत्ता के विषय में प्लेटो के विचार

प्लेटो ने अपने दर्शन में 'सत्' के साथ 'असत्' पर भी विचार किया है। उनके अनुसार 'सत्' के साथ संसार में 'असत्' का भी अस्तित्व है जिसे उन्होंने निम्न प्रकार सिद्ध करने की चेष्टा की :

'संसार में किसी न किसी प्रकार असत् का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए क्योंकि यदि उसका अस्तित्व न होता तो हमारे इस कथन का कोई महत्त्व न होता कि अमुक वस्तु 'असत्' है। चूँकि हम किसी वस्तु के 'असत्' होने का विचार करते हैं, अतः 'असत्' का अस्तित्व अनिवार्य है।'

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्लेटो के इस मत को 'प्लेटो की दाढ़ी' (Plato's Beard) कहा जाता है। यही मत 'पेगैसस' (Pegassus) पर भी लागू किया जा सकता है। "यदि 'पेगैसस' का अस्तित्व न होता तो जब हम पेगैसस शब्द का प्रयोग करते हैं, वह किसी भी वस्तु के विषय में न होता। अतः हमारा यह कथन भी निरर्थक हो जाता कि पेगैसस का अस्तित्व नहीं है। पेगैसस के निषेध की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि पेगैसस का अस्तित्व हो। अतः पेगैसस का अस्तित्व है।"

2. सत्ता के विषय में वाइमन (Wymann) के विचार

तर्कशास्त्री वाइमन के अनुसार पेगैसस एक असिद्ध संभाव्य सत्ता (Unactualised Possible) है। जब हम यह कहते हैं कि पेगैसस कोई वस्तु नहीं है या पेगैसस असत् है तो इसका केवल यही अर्थ होता है कि पेगैसस के भीतर सिद्धता का गुण नहीं है। पेगैसस के भीतर सिद्धता का गुण न पाया जाना उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी गाय के भीतर श्यामता का गुण न पाया जाना। यहाँ न तो गाय की सत्ता का निषेध किया जा रहा है और न पेगैसस की सत्ता का। यहाँ हम केवल उनके गुणों का ही निषेध कर रहे हैं। अतः गाय की भाँति पेगैसस की भी सत्ता है।

पर क्या "गाय" और "पेगैसस" दोनों की सत्ता में कोई अन्तर नहीं है ? वाइमन ने यद्यपि अस्तित्व (Existence) को सिद्धता (Actuality) के लिए ही सुरक्षित रखा है तो भी वे पेगैसस की सत्ता में विश्वास करते हैं। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि वाइमन ने अस्तित्व (Existence) एवं वर्तिता (Subsistence) में भेद किया है। गाय का तो अस्तित्व है पर पेगैसस की केवल वर्तिता है।

पर वाइमन का समाधान हमारी तार्किक बुद्धि को कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में प्रो० राइल के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार अस्तित्व की उप-जातियाँ नहीं हो सकतीं क्योंकि अस्तित्व कोई प्रजाति (Genus) नहीं है।[1] अतः तार्किक दृष्टि से 'अस्तित्व' और 'वर्तिता' के बीच इस प्रकार भेद नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात यह है कि संसार में कितने प्रकार की असिद्ध साध्य सत्ताएँ हो सकती हैं ? क्या असिद्ध साध्य सत्ताओं के बीच समानताएँ और विभिन्नताएँ स्थापित की जा सकती हैं ? वाइमन ने इन समस्याओं का कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं किया। इस सन्दर्भ में रसेल की वह उक्ति ठीक जान पड़ती है जिसके अनुसार 'अनावश्यक रूप में इकाइयों की संख्या में वृद्धि नहीं की जानी चाहिए।'[2] इसके अतिरिक्त एक और समस्या हमारे समक्ष उठ खड़ी होती है। जो बात पेगैसस पर लागू होती है वही बात 'वृत्ताकार वर्ग' पर भी लागू की जा सकती है। तो क्या 'वृत्ताकार वर्ग' की वर्तिता में भी विश्वास किया जाना चाहिए ? क्या 'असिद्ध साध्यों' के साथ संसार में 'असिद्ध असंभाव्यों' (Unactualised Impossibles) की भी वर्तिता है ? 'वृत्ताकार वर्ग' को केवल अर्थहीन या निरर्थक मान लेने से ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

3. सत्ता के विषय में रसेल के विचार

रसेल ने कुछ निश्चित वर्णनों का विश्लेषण करके यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि ये निश्चित वर्णन ऊपर से देखने पर व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के समान प्रतीत होते हैं किन्तु व्यक्ति-विशेष की कल्पनाएँ किए बिना भी हम उनका सार्थक प्रयोग कर सकते हैं। रसेल ने इस सन्दर्भ में जिन नामों की चर्चा की है वे जटिल वर्णनात्मक नाम हैं जैसे "वैवर्ली का लेखक", "फ्रान्स का वर्तमान नरेश", "वृत्ताकार वर्ग" इत्यादि। रसेल ने इन प्रतीयमान संज्ञाओं का स्वतन्त्र रूप में विश्लेषण न करके तर्कवाक्यों के खण्ड के रूप में ही विश्लेषण करने की चेष्टा की है क्योंकि तर्क-वाक्य के खण्ड में ही उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए 'स्कॉट वैवर्ली का लेखक था', इस सम्पूर्ण वाक्य का जिसका "वैवर्ली का लेखक" एक खण्ड है निम्न रूप में विश्लेषण किया जायगा 'किसी एक व्यक्ति ने वैवर्ली को लिखा' उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति ने वैवर्ली को नहीं लिखा तथा जिस व्यक्ति ने वैवर्ली को लिखा उसका नाम स्कॉट है।'[3]

रसेल के अनुसार इस तार्किक विश्लेषण की विशेषता यह है कि उपर्युक्त वाक्य में "वैवर्ली का लेखक" जो व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रतीत हो रहा था वह अब एक "अपूर्ण प्रतीक" (Incomplete symbol) के रूप में ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि विश्लेषण के उपरान्त "वैवर्ली का लेखक" पूर्ण रूप में अदृश्य हो गया। यदि वह पूर्ण प्रतीक या नाम होता तो उसके इस प्रकार अदृश्य होने का प्रश्न ही उपस्थित न होता। "वैवर्ली का लेखक" केवल वर्णनात्मक (Descriptive) है, वह निर्देशात्मक (Demonstrative) नहीं है। अतः इस पद-समूह की सार्थकता के लिए किसी वस्तुनिष्ठ निर्देश (Objective Reference) की आवश्यकता नहीं है,

1. राइल, जी० कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड पृ० 23।
2. 'Entities are not to be multiplied beyond necessity.'
3. रसेल, बी०, 'ऑन डिनोटिंग' इन लॉजिक एण्ड नॉलेजण् पृ० 29।

जैसा साधारणतः समझा जाता है। विश्लेषण के बाद हम देखते हैं कि वस्तुनिष्ठ निर्देश का स्थान परिबद्ध चरों (Bound Variables) ने ले लिया। रसेल के विश्लेषण का प्रमुख मन्तव्य यह है कि "वैवर्ली का लेखक", "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" इत्यादि पद-समूह किसी व्यक्ति-विशेष के विषय में न होकर केवल चरों के विषय में ही है। ये पद-समूह व्यक्तियों की ओर विशिष्ट रूप में नहीं वरन् सामान्य रूप में ही संकेत करते हैं। किन्तु इस सामान्य संकेत से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि इन पद-समूहों की संगति में किसी विशेष व्यक्ति या वस्तु का होना अनिवार्य है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रसेल के वर्णनात्मक सिद्धान्त में "पेगैसस" का क्या स्थान होगा ? क्या पेगैसस की व्याख्या भी वर्णनात्मक सिद्धान्त के माध्यम से की जा सकती है ? रसेल का उत्तर है, हाँ। रसेल के तर्कशास्त्र में ऐसे शब्द को "संक्षिप्त वर्णन" (Abbreviated Description) कहा जा सकता है। पेगैसस को वर्णनात्मक सिद्धान्त की परिधि में लाने के लिए उसके स्थान पर ऐसे वर्णनात्मक पद-समूह का प्रयोग करना होगा जिससे पेगैसस का विचार स्पष्ट हो जाय। उदाहरण के लिए "पैगेसस" के स्थान पर हम निम्न वर्णनात्मक पद-समूह का प्रयोग कर सकते हैं, "वह पक्ष-युक्त अश्व जिसे बेलरफन ने अपने अधिकार में ले लिया था।"[1] रसेल के वर्णनात्मक सिद्धान्त के अनुसार इस पद-समूह का विश्लेषण करके हम पेगैसस के विचार को स्पष्ट कर सकते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि किसी वर्णनात्मक पद-समूह की सार्थकता के लिए उसका निर्देशात्मक होना आवश्यक नहीं है। वर्णनात्मकता एवं निर्देशात्मकता में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि वाइमन एवं प्लेटो ने सोचा था। किसी व्यक्ति या वस्तु के अस्तित्व का विधान करने से उसकी सत्ता के प्रति हमारी प्रतिबद्धता बढ़ जाती है किन्तु उसका निषेध करने से उसकी सत्ता के प्रति हमारी कोई प्रतिबद्धता उत्पन्न नहीं हो जाती। वाइमन एवं प्लेटो के विचारों में जो सबसे बड़ी त्रुटि थी वह यह थी कि उन्होंने अर्थ एवं निवेश के बीच जो भेद है उसके महत्त्व को ठीक प्रकार नहीं समझा था। यदि किसी पद-समूह के अर्थ और निर्देश में तादात्म्य होता तो "सान्ध्य तारा" व "प्रभात तारा" दोनों का एक ही अर्थ होता। पर ऐसा कभी भी मान्य नहीं हो सकता।

4. क्या सामान्य का अस्तित्व है ?

हम जानते हैं कि कुछ दार्शनिक विशेषों के साथ सामान्य के अस्तित्व में भी विश्वास करते हैं जैसे, प्लेटो, एरिस्टॉटल, न्याय-वैशेषिक इत्यादि। हम देखते हैं कि लाल गृह है, लाल गुलाब के फूल हैं और लाल गेंद है। इन तीनों वस्तुओं के भीतर "सामान्य" तत्त्व अवश्य विद्यमान होना चाहिए अन्यथा इन तीनों वस्तुओं को हम एक ही विशेषण "लाल" से अभिहित न करते। यही "लालिमा" जो उपर्युक्त तीनों वस्तुओं में समान रूप से विद्यमान है "सामान्य" है।

अब यहाँ जो प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि क्या वास्तव में विशेषों के अतिरिक्त सामान्य का कोई अस्तित्व है ? क्वाइन के अनुसार लाल वस्तुओं के अतिरिक्त "लालिमा" नामक "सामान्य" में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि सार्थकता व निर्देश में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु के लाल होने की

1. "The winged horse that was captured by Bellerophon."

सार्थकता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लालिमा नामक सामान्य का अस्तित्व हो। किसी गुण या विधेय के होने से हम उसके निर्देश या सामान्य तक नहीं पहुँच सकते।

क्वाइन ने इस सन्दर्भ में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी संकेत किया है। किसी पदार्थ के प्रति सत्तात्मक प्रतिबद्धता (Ontological Commitment) के लिए प्रतिबद्ध चरों (Bound Variables) का प्रयोग होना नितान्त आवश्यक है। अर्थात् "लालिमा" नाम सामान्य के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी कोई वस्तु अवश्य हो जो लाल गृह, लाल गुलाब एवं लाल गेंद में सामान्य हो अर्थात्, सत्तात्मक प्रतिबद्धता के लिए प्रतिबद्ध चरों का प्रयोग आवश्यक है। किसी सामान्य नाम के प्रयोग मात्र से हम किसी वस्तु की सत्ता के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हो जाते क्योंकि रसेल ने पहले ही कह दिया है कि नामों को हम वर्णनों में परिवर्तित कर सकते हैं और इस प्रकार उनका निरसन आसान हो जाता है। किसी वस्तु या इकाई के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी प्रतिबद्ध चर का मूल्य हो।[1] दूसरे शब्दों में किसी वस्तु या इकाई का अर्थ है, किसी सर्वनाम के निर्देशन की परिधि के भीतर होना। जब तक कोई वस्तु किसी चर के परास (Range) के भीतर नहीं आ जाती तब तक उसके प्रति हमारी सत्तात्मक प्रतिबद्धता कदापि नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'कुछ कुत्ते सफेद हैं' तो इससे कदापि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि संसार में सत्ता के रूप में "कुक्कुरत्व" या "सफेदी" के सामान्य का कोई अस्तित्व है। जब हम यह कहते हैं कि 'कुछ कुत्ते सफेद हैं' तो हमारे कथन का केवल यही तात्पर्य है कि कुछ वस्तुएँ कुत्ता होने के साथ सफेद भी हैं। उपर्युक्त तर्क-वाक्य की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि कुछ सफेद कुत्ते प्रतिबद्ध चर "कुछ वस्तुओं" के परास के भीतर समाहित होते हों। "कुक्कुरत्व" या "सफ़ेद" को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में इसलिए नहीं माना जा सकता कि ये किसी वाक्यात्मक फलन (Propositional Function) के मूल्य नहीं हो सकते। यदि "सामान्य" को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो इसको व्यक्त करने के लिए दूसरे वाक्यात्मक फलन की आवश्यकता होगी जिसके मूल्य "सामान्य" ही होंगे जो असम्भव है। अतः "सामान्य" का कोई अस्तित्व नहीं है।

5. क्या भौतिक पदार्थों की सत्ता है ?

अब हमारे समक्ष समस्या यह है कि हम भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं या किसी अन्य वस्तु का। बाह्य प्रत्यक्षवादियों के अनुसार हमें साक्षात् बाह्य वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यदि ऐसी बात होती तो हमें भ्रम या विभ्रम कभी न होता। पर भ्रम या विभ्रम होना साधारण अनुभव की बात है। यही कारण है कि यदि कोई वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका अस्तित्व है। अर्थात् यदि हम य का आग्रह करते हैं तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि किसी वस्तु का अस्तित्व है। पर कोई न कोई वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय तो है ही। कोई भौतिक वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय भले ही न हो पर कोई इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) हमारें प्रत्यक्ष का विषय अवश्य है। अर्थात् जब हम य कहते हैं तो ऐसी कोई भौतिक वस्तु भले ही न हो जो य का उदाहरण हो पर ऐसी कोई वस्तु अवश्य है जो र का उदाहरण है, जहाँ र य से भिन्न गुण है। मैकबेथ ने वास्तविक कटार भले ही न देखा हो पर विभ्रम के रूप में उसने कटार के इन्द्रिय-प्रदत्त को तो अवश्य ही देखा था। अतः हम

1. क्वाइन, "To be is to be the value of a bound variable."

अपने अनुभवों की व्याख्या भौतिक वस्तुओं का प्रतिपादन करके करते हैं अथवा इन्द्रिय-प्रदत्तों का प्रतिपादन करके करते हैं, यह हमारे संप्रत्ययात्मक आकृति-कल्प (Conceptual scheme) पर निर्भर करेगा। हमारा संप्रत्ययात्मक आकृति कल्प ही हमारी सत्तात्मक प्रतिबद्धता को निर्धारित करता है।

अतः जिस प्रकार जगत की घटनाओं की समुचित व्याख्या के लिए भौतिक शास्त्र में हम वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार अपने विशृङ्खलित, विविक्त एवं विषम अनुभवों को नियमित एवं समन्वित करने के लिए हम विभिन्न दार्शनिक सत्ताओं का प्रतिपादन करते हैं। हमारी सत्ता-सीमांसा हमारे संप्रत्यात्मक आकृति-कल्पों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। जो संप्रत्ययात्मक विन्यास हमारे अनुभवों की जितनी ही यथेष्ट एवं संसक्त व्याख्या प्रस्तुत करते हैं वे उतने ही अधिक ग्राह्य एवं स्वीकार्य होंगे। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि हमारे समक्ष एक गोल सिक्का विद्यमान है। भिन्न-भिन्न स्थानों एवं दृष्टियों से देखने पर हमें उस सिक्के के भिन्न-भिन्न संदर्श प्राप्त होते हैं। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि हम इन संदर्शों को एक ही भौतिक वस्तु के विभिन्न पहलुओं के रूप में ग्रहण करें अथवा भिन्न-भिन्न संदर्शों को पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में ग्रहण करें। प्रथम भौतिकवादी व्याख्या होगी और दूसरी दृश्यप्रपञ्चवादी (Phenomenalistic) व्याख्या होगी। अनुभवों के विषय में हमारा संप्रत्ययात्मक विन्यास ही हमारी सत्ता-सीमांसा को निर्धारित करेगा।

शब्द एवम् वस्तु
(Word and Object)

क्वाइन ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना **"शब्द एवम् वस्तु"** में शब्दों एवम् वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट किया है। उन्होंने प्रश्न किया है कि क्या हम सम्पूर्ण वाक्य को एक इकाई के रूप में समझते हैं अथवा उसके भीतर प्रयुक्त शब्दों के अर्थ समझने के बाद उनको संयुक्त कर वाक्य के अर्थ को समझते हैं। शब्दों के अर्थ को लेकर भी उन्होंने हमारे समक्ष दो समस्याओं पर विचार किया है। क्या शब्दों का अर्थ उन वाक्यों से स्वतन्त्र होता है जिनमें वे घटित होते हैं अथवा उनका अर्थ उन वाक्यों पर निर्भर करता है जिनमें से घटित होते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए क्वाइन ने निम्न बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

(i) वस्तुओं, विशेषणों एवम् क्रियाओं के अर्थ हम स्वतन्त्र रूप में निर्धारित करते हैं पर अव्ययों (Prepositions) एवम् संयोजकों (Conjunctions) के अर्थ वाक्यों के सन्दर्भ के अनुसार ही निर्धारित किए जा सकते हैं।

(ii) इसी प्रकार कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो किसी प्रत्यक्ष की वस्तुओं की ओर संकेत नहीं करने पर फिर भी वे सार्थक होते हैं। उदाहरण के लिए अणु (Molecule) शब्द को हम ले सकते हैं। जिस प्रकार मेज, कुर्सी, पुस्तक इत्यादि शब्द बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं उसी प्रकार "अणु" शब्द बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत नहीं करता। पर फिर भी वह सार्थक है। ऐसे शब्दों के अर्थ को हम वर्णन (Description) अथवा वर्णन-समूहों के माध्यम से जानने की चेष्टा करते हैं।

(iii) अदृश्य या अगोचर वस्तुओं के अर्थ को हम एक विशेष प्रकार के सादृश्य

(Analogy) के आधार पर निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं जिसे **बहिर्वेशन** (Extrapolation) कहा जाता है। उदाहरण के लिए अणु (Molecule) के अर्थ को समझने के लिए हम उसकी तुलना दृश्य पदार्थों से करते हैं। अणु को परिभाषित करते हुए हम कहते हैं कि अणु वह है जो किसी दृश्य पदार्थ से लघुत्तर होता है। इसे पूर्णतया समझने के लिए हम जीवाणुओं (Microbes), धूल-कणिकाओं एवं मच्छरों का दृष्टान्त दे सकते हैं।

(iv) भौतिक वस्तुओं के अर्थ समझने में सादृश्य एवम् बहिर्वेशन का क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि वे हमारे साक्षात् प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। यहाँ हम स्थूल वस्तुओं को सूक्ष्म वस्तुओं के माध्यम से समझने की चेष्टा करते हैं। हम जानते हैं कि भौतिक शास्त्र में प्रकाश (Light) की व्याख्या या तो तरंगों (Waves) के माध्यम से की जाती है अथवा कणिकाओं (Corpuscles) के माध्यम से। वस्तुओं के तात्पर्य को समझने में हमें दो सोपानों से गुजरना होता है। प्रथम हमें समझना होता है कि वस्तुएँ वास्तव में क्या हैं। द्वितीय उस विशिष्ट सिद्धान्त को समझने की आवश्यकता होती है जो वस्तुओं की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं।

आमूल अनुवाद
(Radical Translation)

हम जानते हैं कि पृष्ठीय उत्तेजनाओं (Surface Irritations) के माध्यम से हम संसार के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। बाह्य उत्तेजनाओं को शब्दों द्वारा अनूदित कर हम संसार के विषय में अपने ज्ञान का निर्माण करते हैं। यद्यपि बाह्य उत्तेजनाओं एवम् अनूदित भाषा के बीच किसी प्रकार की संगति नहीं पाई जाती, फिर भी इन बाह्य उत्तेजनाओं के माध्यम से ही हम संसार के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ हम यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करेंगे कि भाषा कहाँ तक बाह्य उत्तेजनाओं पर आधारित होती है तथा उसके निर्माण में हमारी प्रत्यात्मक योजना की कहाँ तक भूमिका होती है।

एक ही उत्तेजना के प्रति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं के होते हुए भी उनमें सह-सम्बन्ध (Correlation) अवश्य पाया जाता है। किसी भाषा के वाक्य का बाह्य उत्तेजनाओं के साथ जितना सशक्त सम्बन्ध होगा, विभिन्न अनुवादों के बीच भिन्नता उतनी ही कम होगी। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जब हम एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते हैं तो वह अनुवाद चाहे जितना सटीक हो, पर दोनों कभी भी समतुल्य नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि एक ही बाह्य उत्तेजना का भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन किया जा सकता है। क्वाइन ने इस सत्य को **अनुवाद का अनिर्धार्यता सिद्धान्त** (Principle of Indeterminacy of Translation) कहा है।

जब हम अपने जीवन में किसी उत्तेजना के प्रति शाब्दिक प्रतिक्रिया करते हैं, उस शाब्दिक व्यवहार में केवल वर्तमान उत्तेजना की ही भूमिका नहीं होती वरन् भूतकाल की अनुभूतियों का भी सहयोग होता है। उदाहरण के लिए एक निरस्त्र व्यक्ति को आते देखकर हम कहते हैं कि "यह मनुष्य बड़ी दक्षता से निशाना लगा लेता है" इस वाक्य की सार्थकता न केवल उसकी बाह्य आकृति के द्वारा निर्धारित होती है बल्कि उसके भूत काल के क्रिया-कलापों द्वारा भी निर्धारित होती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए क्वाइन ने **अर्जित भाषा** (Language in

acquisition) एवम् **प्रायोगिक भाषा** (Language in use) के बीच भेद स्थापित किया है। अर्जित भाषा वह भाषा होती है जो भूतकाल की अनुभूतियों पर आधारित होती है। इसके विपरीत प्रायोगिक भाषा वह भाषा है जो वर्तमान उत्तेजनाओं पर आधारित होती है। पर वास्तविकता यह है कि जब भी हम वर्तमान में कोई शाब्दिक व्यवहार करते हैं उसमें अर्जित भाषा एवम् प्रायोगिक भाषा दोनों की भूमिकाएँ विद्यमान होती हैं।

किसी व्यक्ति के प्रेक्षित व्यवहार (Observed Behaviour) से उसकी वर्तमान भाषा (Current Language) का अनुसंधान करना भाषाविद का कार्य है जो किसी दुभाषिए की सहायता के बिना ही किसी अज्ञात भाषा का अनुवाद करना चाहता है। यदि किसी आदिवासी की अज्ञात भाषा का हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो ऐसा हम उसकी शाब्दिक प्रतिक्रियाओं एवम् प्रेक्षित व्यवहारों के द्वारा ही कर सकते हैं। **सजातीय भाषाओं** के बीच अनुवाद की प्रक्रिया उनके शब्दों एवम् वाक्यों के सादृश्य के आधार पर अग्रसारित की जा सकती है। इसी प्रकार **विजातीय भाषाओं** के बीच अनुवाद की प्रक्रिया उनके समतुल्य शब्दों के द्वारा सम्पादित की जा सकती है। हिन्दी और संस्कृत सजातीय भाषाएँ हैं तथा हिन्दी और अंग्रेजी विजातीय भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के बीच अनुवाद की प्रक्रिया संचालित करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है। अनुवाद की विशेष कठिनाई वहाँ उत्पन्न होती है जब कि जिस भाषा का हम अनुवाद करना चाहते हैं वह हमारे लिए बिलकुल अज्ञात है। यहाँ हम किसी दुभाषिए की भी सहायता नहीं ले सकते। इस प्रकार के अनुवाद को क्वाइन ने **आमूल अनुवाद** (Radical Translation) की संज्ञा प्रदान की है। **किसी व्यक्ति की ऐसी भाषा का अनुवाद जिसके विषय में किसी को भी कोई ज्ञान नहीं है उसे आमूल अनुवाद कहा जाता है।**

आमूल अनुवाद की व्याख्या करते हुए क्वाइन कहते हैं कि मान लिया कि किसी आदिवासी के पास से एक खरगोश गुजरता है जिसे देखकर आदिवासी चिल्लाकर **गवगई** (Gavagai) शब्द का उच्चारण करता है। उसकी प्रतिक्रिया से हम तुरन्त समझ जाते हैं कि "गवगई" का अर्थ "खरगोश" है। इसी प्रकार कल्पना किया कि आदिवासी की भाषा में तीन वाक्यों का प्रयोग किया गया है जो क्रमशः **जानवर** (Animal), **सफेद** (White) एवम् **खरगोश** के विषय में है। इन वाक्यों को हम S_1, S_2 एवम् S_3 प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। उपर्युक्त तीनों वाक्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। अब हमारे समक्ष समस्या यह है कि हम किस प्रकार जान सकते हैं कि जब कभी आदिवासी "खरगोश" के विषय में कथन करेगा तो वह "जानवर" के विषय में कथन का भी समर्थन करेगा तथा जब वह "सफेद" के विषय में कथन करेगा तो वह कुछ परिस्थितियों में "जानवर" से सम्बन्धित कथन का समर्थन नहीं करेगा। इसे जानने का एक मात्र उपाय यह है कि वस्तु-विशेष का आदिवासी से सत्यापन कराया जाय। अतः वाक्य एवम् उत्तेजना की संवादिता के द्वारा किसी वाक्य की सार्थकता का निर्धारण किया जा सकता है।

इसी से सम्बन्धित एक दूसरी भी समस्या है जो किसी शब्द के अर्थ के अनुमोदन अथवा अननुमोदन से है। कल्पना किया कि खरगोश को देखकर भाषाविद् गवगई (Gavagai) कहकर कई बार चिल्लाता है और आदिवासी की प्रतिक्रिया का अवलोकन करता है कि वह अनुमोदन कर रहा है, अननुमोदन कर रहा है अथवा बिलकुल तटस्थ है। पर यहाँ हमारे समक्ष

जो दूसरी समस्या उठ खड़ी होती है वह यह है कि हम इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं के मूल्य को किस प्रकार पहचान सकते हैं ? कल्पना किया कि गवगई (Gavagai) कहने पर आदिवासी **ईवेट** (Evet) और **यॉक** (Yok) कहता है जिसका अर्थ हाँ (Yes) या ना (No) हो सकता है। अब आदिवासी के समक्ष बार-बार गवगई प्रस्तुत करने पर वह बार-बार ईवेट ही कहता है तो उसकी सांवेगिक प्रक्रिया देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि वह अनुमोदन कर रहा है। इस प्रकार भाषाविद् गवगई शब्द का अर्थ खरगोश स्थिर कर लेता है। पर इस विधि के द्वारा हम किसी निर्णायक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। यह केवल एक प्राक्कल्पना ही है जो सत्य या असत्य दोनों हो सकती है।

कभी-कभी किसी वाक्य के वास्तविक अर्थ को **अनुबोधन** (Prompting) द्वारा भी निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए खरगोश को देखकर हम **गव** (Gava) कहकर आदिवासी का अनुबोधन कर सकते हैं। यदि आदिवासी **गव** (Gava) सुनकर प्रसन्नतापूर्वक तुरन्त गवगई कहने में सफल हो जाता है तो हम समझ लेते हैं कि गवगई का अर्थ खरगोश है। इस प्रकार किसी शब्द के अर्थ को निर्धारित करने की प्रक्रिया **प्रतिभानात्मक निर्णय** (Intuitive Judgment) द्वारा सम्पादित होती है जो आदिवासी के सांवेगिक व्यवहार पर आधारित होती है।

उद्दीपन एवम् उद्दीपन अर्थ
(Stimulation and Stimulus Meaning)

क्वाइन ने उद्दीपन और वह वस्तु जो उद्दीपन का कारण है उनके बीच भेद स्थापित किया है। यदि किसी वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को प्रतिस्थापित कर दिया जाय तो भी उद्दीपन में कोई अन्तर नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी खरगोश के स्थान पर किसी कृत्रिम खरगोश को प्रतिस्थापित कर दिया जाय तो उद्दीपन में कोई अन्तर नहीं आएगा। इसी प्रकार विषय-वस्तु के समान होने पर भी प्रकाश और रंग के अन्तर के कारण विभिन्न प्रकार के उद्दीपन हो सकते हैं। आदिवासी ने जब किसी जानवर को देखकर "गवगई" उच्चरित किया तो उसके उच्चारण का कारण वह जानवर नहीं वरन् वह उद्दीपन है जिसने उसे गवगई कहने के लिए प्रेरित किया।

चाक्षुष उद्दीपन को हम अपनी आँख के वर्णिक प्रदीपन प्रतिमान (Chromatic Irradiation Pattern) के माध्यम से परिभाषित कर सकते हैं। पर वह चाक्षुष उद्दीपन जो किसी वस्तु की संज्ञा को उच्चरित करने के लिए प्रेरित करता है कोई क्षणिक उद्दीपन प्रतिमान नहीं है वरन् सतत् विकासमान प्रदीपन प्रतिमान है जो किसी अवधि (Duration) का हो सकता है। क्षणिक प्रदीपन प्रतिमान किसी वस्तु की संज्ञा को उच्चरित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ; वही प्रदीपन प्रतिमान किसी संज्ञा को उच्चरित करने में समर्थ हो सकता है जिसमें कुछ स्थिरता या स्थायित्व हो। यहीं उद्दीपन और उद्दीपन अर्थ का भेद हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। **उद्दीपन अर्थ वह है जो किसी उद्दीपन और उसके विभिन्न अनुवादों के बीच सामान्य रूप में पाया जाता है।**

आगे चलकर क्वाइन ने विधायक उद्दीपन अर्थ एवम् निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ के बीच भेद स्थापित किया है। किसी वाक्य के **विधायक उद्दीपन अर्थ** (Affirmative Stimulus

Meaning) से हमारा तात्पर्य उद्दीपनों के उस वर्ग से है जिसके प्रति वक्ता अपनी सहमति प्रगट करता है। उदाहरण के लिए "गवगई" के उपस्थित होने पर यदि कोई वक्ता "गवगई" का उच्चारण करता है तो उसका विधायक उद्दीपन अर्थ उद्दीपनों का वह समुदाय है जिसके प्रति वक्ता अपनी सहमति प्रगट करता है। उसी प्रकार किसी वाक्य के **निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ** (Negative Stimulus Meaning) से हमारा तात्पर्य उद्दीपनों के उस वर्ग से है जिसके प्रति वक्ता अपनी असहमति प्रगट करता है। उदाहरण के लिए "गवगई" के स्थान पर किसी दूसरे जानवर के उपस्थित होने पर कोई "गवगई" का उच्चारण करता है तो उसका निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ उद्दीपनों का वह समुच्चय है जिसके प्रति वक्ता अपनी असहमति प्रगट करता है। अतः किसी वाक्य का उद्दीपन अर्थ उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं का क्रमित युग्म (Ordered Pair) कहा जायगा।

किसी वाक्य के विधायक उद्दीपन अर्थ एवम् निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ एक दूसरे के व्यावर्तक होते हैं। मान लिया कि एक उद्दीपन के उपस्थित होने पर कोई व्यक्ति किसी वाक्य के प्रति अपनी सहमति प्रगट करता है तथा बाद में उसी उद्दीपन के उपस्थित होने पर उस वाक्य के प्रति अपनी असहमति प्रगट करता है, तो ऐसी स्थिति में प्रथम उद्दीपन उस वाक्य का विधायक उद्दीपन अर्थ कहा जायगा तथा द्वितीय उद्दीपन उस वाक्य का निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ कहा जायगा। इससे हम आसानी से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति के लिए उपर्युक्त वाक्य के अर्थ में परिवर्तन हो गया।

किसी वाक्य के उद्दीपन अर्थ को हम उसके प्रति सहमति या असहमति की प्रवृत्ति (Disposition) द्वारा भी परिभाषित कर सकते हैं। किसी वाक्य के उद्दीपन अर्थ से हमारा तात्पर्य सहमति या असहमति की उस प्रवृत्ति से है जो उद्दीपन के उपस्थित होने पर उस वाक्य के प्रति हमारे मन में उत्पन्न होती है। उद्दीपन वह घटना है जो हमारे मन में सहमति या असहमति की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि वह घटना जो उद्दीपन का कार्य करती है विशेष न होकर सार्वभौम (Universal) है। यह कहने की अपेक्षा कि दो समान उद्दीपन घटित हुए हैं, हमें यह कहना चाहिए कि एक ही उद्दीपन दो बार घटित हुआ है। ऐसा इसलिए है क्योंकि दो वक्ताओं के लिए किसी उद्दीपन का उद्दीपन अर्थ समान होता है। उद्दीपन अर्थ की समानता उद्दीपन की समानता को प्रदर्शित करती है। आखिर किसी वाक्य के विधायक उद्दीपन अर्थ से हमारा क्या तात्पर्य होता है ? किसी वाक्य के विधायक उद्दीपन अर्थ से हमारा तात्पर्य उद्दीपनों के उस वर्ग से है जो उस वाक्य के प्रति सहमति प्रगट करने के लिए हमें प्रेरित करता है। यदि उद्दीपनों को घटना-सामान्य (Event Form) न मानकर घटना-विशेष स्वीकार किया जाय तो ऐसी स्थिति में घटनाओं का समुच्चय ऐसी घटनाओं को भी समाहित करेगा जो न तो घटित हुई हैं और न तो घटित होने की सम्भावना ही है। यदि घटनाओं का समुच्चय कुछ चरितार्थ एवम् कुछ अचरितार्थ घटनाओं को अपने भीतर समाहित करता है, तो उसे सभी अचरितार्थ घटनाओं को अपने भीतर समाहित करना होगा। अचरितार्थ विशिष्ट घटनाओं के समुच्चय का निर्माण करना निरर्थक कार्य है। अतः अचरितार्थ विशिष्ट घटनाओं को एक समुच्चय के रूप में मानकर एक सार्वभौम (Universal) के रूप में ही स्वीकार करना होगा।

हम पहले ही जानते हैं कि क्वाइन वाक्यों की अन्तर्निर्भरता में विश्वास करते हैं। अर्थात् किसी वाक्य की सार्थकता उससे सम्बन्धित अन्य वाक्यों की सार्थकता पर आधारित होती है। इसी प्रकार अन्य वाक्यों की सार्थकता उस एक वाक्य की सार्थकता पर आधारित होती है। अतः प्रत्येक वाक्य की विशिष्ट सार्थकता में हमें कुछ न कुछ विश्वास अवश्य ही प्रकट करना होगा। उद्दीपन अर्थ इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करता है। हम किसी सिद्धान्त के प्रत्येक वाक्य के आनुभविक अभिप्राय (Empirical Import) को निष्कर्षित कर उसके उद्दीपन अर्थ को निर्धारित कर लेते हैं और वाद में उनके आनुभविक अभिप्रायों को संकलित कर सम्पूर्ण वाक्य समूह के अर्थ को निर्धारित कर लेते हैं जो सम्बन्धित सिद्धान्त से बिलकुल स्वतन्त्र होता है।

नैमित्तिक वाक्य एवम् शाश्वत वाक्य
(Occasion Sentences and Standing Sentences)

नैमित्तिक वाक्य वे वाक्य हैं जिनके प्रति किसी अनुबोधक उद्दीपन (Prompting Stimulation) के उपस्थित होने पर हम सहमति या असहमति प्रगट करते हैं। उदाहरण के लिए "गवगई", "लाल", "इससे कष्ट होता है", "उनका मुख गन्दा है" इत्यादि नैमित्तिक वाक्य (Occasion Sentences) के उदाहरण हैं। इसके विपरीत **शाश्वत वाक्य** वे वाक्य हैं जो किसी-किसी अनुबोधक उद्दीपन द्वारा उत्तेजित किए जा सकते हैं पर उनके प्रति सहमति या असहमति के लिए अनुबोधक उद्दीपन की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती। "त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है", "सात और पाँच मिलकर बारह होते हैं" इत्यादि शाश्वत वाक्यों (Standing Sentences) के उदाहरण हैं। यदि शाश्वत वाक्यों का बार-बार अनुबोधक उद्दीपनों द्वारा सत्यापन कराया जाय तो वे नैमित्तिक वाक्यों के निकट पहुँच जाते हैं। जब अनुबोधन-काल निम्नतम सीमा तक पहुंच जाता है तो शाश्वत वाक्य नैमित्तिक वाक्य में परिणत हो जाता है। इस प्रकार क्वाइन के अनुसार शाश्वत वाक्य एवम् नैमित्तिक वाक्य के बीच केवल सापेक्षिक भेद है। यदि किसी नैमित्तिक वाक्य का मापांक (Modulus) n सेकण्ड है तो शाश्वत वाक्य का मापांक n-1 सेकण्ड हो सकता है।

नैमित्तिक वाक्य वह वाक्य है जिसके उद्दीपन अर्थ के प्रति सहमति या असहमति प्रकट करने की ओर हमारी स्पष्ट प्रवृत्ति होती है। शाश्वत वाक्यों के सम्बन्ध में यही बात **चरितार्थ** नहीं होती। शाश्वत वाक्यों के विभिन्न अर्थ हो सकते हैं पर वे उद्दीपन अर्थों से उतने प्रभावित नहीं होते जितने नैमित्तिक वाक्य प्रभावित होते हैं। अतः नैमित्तिक वाक्यों के लिए उद्दीपन अर्थ के प्रत्यय का पर्याप्त महत्त्व होता है।

कभी-कभी दो नैमित्तिक वाक्यों के उद्दीपन अर्थ में समानता होते हुए भी उनके तात्पर्य में असमानता होती है। गवगई (Gavagai) एवम् खरगोश (Rabbit) को ही ले लिया जाय। दोनों के उद्दीपन अर्थ समान होते हुए भी आनुषंगिक सूचनाओं के अन्तर के कारण दोनों के तात्पर्य में भिन्नता पाई जाती है। आदिवासी भाषा में गवगई का अर्थ ऐसे जीव से है जो मन्द प्रकाश में झाड़ियों के बीच विचरण करता है। पर खरगोश का वही अर्थ नहीं है। खरगोश का अर्थ ऐसे जीव से है जिसके कान गधे के कान के समान होते हैं। आधुनिक तर्कशास्त्र की भाषा

में हम कह सकते हैं कि गवगई एवम् खरगोश के निर्देश (Reference) समान होते हुए भी उनके तात्पर्य (Sense) असमान हैं। अतः गवगई एवम् खरगोश के बीच पर्यायता का अभाव पाया जाता है। अर्थात् वक्ता के गवगई शब्द का वही अर्थ नहीं है जो श्रोता के खरगोश का अर्थ है।

एक ही शब्द के तात्पर्य के सम्बन्ध में वक्ता एवम् श्रोता के उद्दीपन अर्थ की भिन्नता को दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। मान लिया कि एक खरगोश-मक्खी (Rabbit-Fly) है जिसे सभी आदिवासी पहचानते हैं पर भाषाविद् उसे नहीं पहचानता। अब उस खरगोश-मक्खी के पास ही मन्द प्रकाश में एक खरगोश भी विचरण कर रहा है। आदिवासी खरगोश-मक्खी के लम्बे डैनों या पंखों को देखकर उसे पहचान लेता है पर भाषाविद् को उसका तनिक भी ज्ञान नहीं है। यहाँ आदिवासी के गवगई शब्द का वही अर्थ नहीं है जो भाषाविद् के गवगई का अर्थ है। आदिवासी के गवगई शब्द के भीतर विधायक उद्दीपन अर्थ एवम् निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ दोनों शामिल हैं पर भाषाविद् के गवगई शब्द के भीतर केवल विधायक उद्दीपन अर्थ ही शामिल है।

उपर्युक्त कठिनाई को सामान्य रूप में भी समझा जा सकता है। मान लिया कि कुछ उद्दीपन समूह ऐसे हैं जिनका प्रत्येक उद्दीपन किसी वाक्य के प्रति सहमति व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। इसके लिए उसे किसी आनुषंगिक सूचना की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आनुषंगिक सूचनाओं पर आधारित एक दूसरा उद्दीपन-समूह है जो उसी वाक्य के प्रति सहमति व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। जब उपर्युक्त दोनों उद्दीपन समूह एक ही वाक्य के प्रति सहमति व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं तो क्या हम कह सकते हैं कि आनुषंगिक उद्दीपन-समूह ने उपर्युक्त वाक्य के तात्पर्य में परिवर्तन कर दिया ? सच बात तो यह है कि एक ही वाक्य विभिन्न प्रकार के उद्दीपन-समूहों के द्वारा समर्थित हो सकता है। यह मानवीय ज्ञान के विकास का परिणाम है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जहाँ उद्दीपन **अर्थ** की विसंगतियाँ न तो मुख्य अर्थ के कारण हैं और न आनुषंगिक सूचनाओं के कारण। यदि **कोई व्यक्ति** ऐसा है जो बिलकुल किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था में है। ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी उद्दीपन अर्थ का कोई महत्त्व नहीं होगा। पर मान लीजिए कि एक **दूसरा व्यक्ति** है जो बिलकुल सतर्क है पर थोड़े समय के बाद ही किसी उद्दीपन के द्वारा वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए "गवगई" उद्दीपन का न तो कोई विधायक उद्दीपन अर्थ होगा और न निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ होगा। अब, किसी उद्दीपन अर्थ की विसंगतियों का प्रशन वहाँ उत्पन्न होगा जहाँ कोई उद्दीपन एक व्यक्ति को किंकर्तव्यविमूढ़ बना देता है पर दूसरे व्यक्ति को किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं बनाता। यह एक तीसरी अवस्था है जो प्रथम दो अवस्थाओं से भिन्न है। इस **तीसरी अवस्था** में प्रथम व्यक्ति के लिए **"गवगई"** उद्दीपन का न तो कोई विधायक उद्दीपन अर्थ होगा और न निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ किन्तु दूसरे व्यक्ति के लिए उसके भीतर केवल निषेधात्मक उद्दीपन अर्थ ही पाया जायगा। पर यह एक ऐसी विसंगति है जो भाषाविद् के लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं करती। क्वाइन ने एक **चौथी अवस्था** की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। मान लीजिए कि भाषाविद् खरगोश के केवल कान को देखकर आदिवासी से पूछ बैठता है कि क्या वह "गवगई" है तो आदिवासी उसके प्रति असहमति भी प्रगट कर सकता है क्योंकि इस स्थिति में

गवगई को निशाना नहीं बनाया जा सकता।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि किसी नैमित्तिक वाक्य का उद्दीपन-अर्थ उसके वास्तविक अर्थ को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है और न इसके आधार पर कोई भाषाविद् आमूल अनुवाद ही कर सकता है। पर इतना होते हुए भी उद्दीपन अर्थ ही एक ऐसा वस्तुनिष्ठ आधार है जिसके ऊपर कोई भाषाविद् अपने आमूल अनुवाद के लिए निर्भर कर सकता है। अतः हमें उद्दीपन-अर्थ में किसी प्रकार के संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है ; आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम भाषाविद् के समक्ष उस उद्दीपन अर्थ को किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। अतः भाषाविद् के लिए आमूल अनुवाद के निमित्त समान उद्दीपन अर्थ का उतना महत्त्व नहीं है जितना आसन्न उद्दीपन अर्थ (Approximate Stimulus Meaning) का महत्त्व है।

ऊपर हमने देखा कि उद्दीपन अर्थ की विसंगतियाँ मन्द प्रकाश, किंकर्तव्यविमूढ़ता, आघात अथवा शाब्दिक हस्तक्षेप के द्वारा उत्पन्न हो सकती हैं। पर इन अनुचित हस्तक्षेपों के होते हुए भी यदि भाषाविद् "गवगई" को खरगोश के रूप में अनूदित करता है तो इसका केवल यही कारण हो सकता है कि इन सभी परिस्थितियों में उद्दीपन-अर्थ में समरूपता पाई जाती है। किसी भी अंग्रेजी भाषी देश में जहाँ खरगोश पाए जाते हैं, साधारणतया उस देश के निवासी उपर्युक्त परिस्थितियों में "गवगई" को "खरगोश" के रूप में ही अनूदित करेंगे। वह साथ ही यह भी कल्पना कर लेता है कि "गवगई" एवम् "खरगोश" के बीच जो अस्पष्ट विसंगतियाँ हैं उनका समाधान आदिवासियों की भाषा के उन्नत ज्ञान द्वारा बड़ी आसानी से किया जा सकता है।

अब हमारे समक्ष प्रंश्न यह उत्पन्न होता है कि आदिवासी के "गवगई" का अर्थ केवल "खरगोश" ही नहीं है बल्कि एक ऐसे "सफेद" "जानवर" से है जिसे भाषाविद् "खरगोश" कहता है। ऐसी स्थिति में "गवगई" के तीन अनुवाद हो सकते हैं ;

(i) गवगई एक जानवर है ;

(ii) गवगई सफेद है ;

(iii) गवगई को अनूदित भाषा में खरगोश कहते हैं।

अब हमें तृतीय अनुवाद तक पहुँचने के लिए प्रथम दो अनुवादों का निरसन करना होगा। इसका कारण यह है कि "गवगई" का अर्थ न "सफेद" है और न "जानवर"। संसार में ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो "सफेद" और "जानवर" होते हुए भी खरगोश नहीं हैं। अतः आदिवासी के "गवगई" शब्द के आमूल अनुवाद के लिए भाषाविद् को केवल तीसरे अनुवाद पर ही निर्भर करना होगा। यही क्वाइन का नैमित्तिक वाक्य है।

प्रेक्षण वाक्य

(Observation Sentences)

कुछ उद्दीपन-अर्थ ऐसे होते हैं जो नवीन अथवा आगन्तुक सूचनाओं से तनिक भी प्रभावित नहीं होते। वे सदा यथार्थ रूप में ही स्वीकार किए जाते हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने ऐसे उद्दीपन अर्थ को इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार हमें खरगोश (Rabbit) के विषय में भ्रम हो सकता है पर लाल रंग (Red) के विषय में कोई भ्रम नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि "लाल" हमारे अपरोक्ष ज्ञान का विषय है

पर "खरगोश" अपरोक्ष एवम् परोक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान का विषय होता है। कुछ परिस्थितियों में हमारे इन्द्रिय-प्रदत्त भी भ्रमात्मक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कुछ इन्द्रिय-प्रदत्त वास्तव में लाल होते हुए भी लाल प्रतीत नहीं होते। पर इतना होते हुए भी इन्द्रिय-प्रदत्तों की पहचान के लिए आनुषंगिक सूचनाओं की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी भौतिक वस्तुओं की पहचान के लिए उनकी आवश्यकता होती है।

क्वाइन ने प्रेक्षण-वाक्यों की व्याख्या के सन्दर्भ में तीन शब्दों को लिया है ; प्रथम **"लाल"** (Red), द्वितीय **"खरगोश"** (Rabbit) एवम् **तृतीय "स्नातक"** (Bachelor)। **"लाल"** के अभिज्ञान के लिए आनुषंगिक सूचनाओं की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत **"खरगोश"** के अभिज्ञान के लिए लाल की अपेक्षा अधिक आनुषंगिक सूचनाओं की आवश्यकता होती है क्योंकि हमारा खरगोश का ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकता है। इन सबसे पृथक् कुछ ऐसे उद्दीपन अर्थ होते हैं जिनके अभिज्ञान के लिए सबसे अधिक आनुषंगिक सूचनाओं की आवश्यकता होती है जैसे **स्नातक** (Bachelor)। यह ठीक है कि किसी स्नातक का अभिज्ञान उसकी मुखाकृति द्वारा अनुबोधित होता है पर उसका वास्तविक अभिज्ञान उसके सम्बन्ध में अर्जित आनुषंगिक सूचनाओं द्वारा ही निर्धारित होता है। स्नातक (Bachelor) का उद्दीपन-अर्थ उसकी मुखाकृति का अतिक्रमण कर अन्य स्रोतों से ही अभिव्यक्त किया जा सकता है। स्नातक का उद्दीपन अर्थ उसका वास्तविक अर्थ नहीं है। उसके वास्तविक अर्थ का ज्ञान आनुषंगिक सूचनाओं के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। "स्नातक" शब्द का अर्थ एक उपाधि है और साथ ही कुमार भी है। अतः "स्नातक" का वास्तविक अर्थ आनुषंगिक सूचनाओं के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है।

दो विभिन्न वक्ताओं के उद्दीपन अर्थ कभी समान नहीं हो सकते। दो विभिन्न वक्ता एक ही शब्द स्नातक (Bachelor) का प्रयोग करते हुए भी हो सकता है कि उनके उद्दीपन अर्थ समान न हों। एक वक्ता उसका अर्थ "उपाधि" ले सकता है तथा दूसरा उसका अर्थ "कुमार" ले सकता है।

किसी नैमित्तिक वाक्य का उद्दीपन-अर्थ आनुषंगिक सूचनाओं द्वारा जितना कम प्रभावित होगा उतना ही उस वाक्य के उद्दीपन-अर्थ एवम् उसके वास्तविक अर्थ में तादात्म्य पाया जाएगा। **वह नैमित्तिक वाक्य जिसका उद्दीपन-अर्थ आनुषंगिक सूचनाओं द्वारा तनिक भी प्रमाणित नहीं होता प्रेक्षण वाक्य** (Observation Sentence) **कहा जाता है**।[1] इन प्रेक्षण वाक्यों का अर्थ उनके स्वभाव में ही प्रतिबिम्बित होता है। पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि प्रेक्षण-वाक्यों के उद्दीपन-अर्थ आनुषंगिक सूचनाओं द्वारा कभी प्रभावित ही नहीं होते। उदाहरण के लिए प्रकाश की विभिन्न परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ "लाल" के उद्दीपन-अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। यदि प्रतिवेशी प्रकाश का रंग नीला है, तो लाल प्रकाश लाल न होकर बैगनी रंग का दिखाई पड़ेगा।

क्वाइन ने ऊपर जो प्रेक्षण वाक्यों का वर्णन किया है वह तार्किक प्रत्यक्षवादियों की मूल

---

1. Quine, W.V., Word and Object, p. 42, Occasion sentences whose stimulus meanings vary none under the influence of collateral information may naturally be called observation sentences.

प्रतिज्ञप्ति (Basic Proposition) से पर्याप्त मिलता-जुलता है। मूल प्रतिज्ञप्ति वह प्रतिज्ञप्ति है जो अनिवार्य एवम् असंशोधनीय होती है। **फिलॉसॉफिकल एसेज़** (Philosophical Essays) में एयर ने मूल प्रतिज्ञप्ति के अस्तित्व में विश्वास प्रगट किया था पर **लैंग्वेज ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक** (Language, Truth and Logic) में उन्होंने मूल प्रतिज्ञप्ति की कल्पना को ही बहिष्कृत कर दिया। उनके अनुसार जिस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन में अस्तित्वपरक **भ्रम** (Existential Illusions) होते हैं उसी प्रकार गुणात्मक भ्रम (Qualitative Illusions) भी हो सकते हैं। हमारे जीवन में ऐसी कोई आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं है जो पूर्णतया असंशोधनीय हो। **वर्ड ऐण्ड ऑब्जेक्ट** (Word and Object) में क्वाइन का भी यही मत प्रतीत होता है। इस पुस्तक में उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार "पुस्तक" और "खरगोश" आनुषंगिक सूचनाओं के द्वारा प्रभावित होते हैं उसी प्रकार लाल, नीला, पीला इत्यादि भी आनुषंगिक सूचनाओं के द्वारा प्रभावित हो सकते हैं। क्वाइन ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण से इसी तथ्य को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है। विभिन्न वक्ताओं के लिए किसी नैमित्तिक वाक्य के उद्दीपन अर्थ में जितनी समानता पाई जायगी वह वाक्य प्रेक्षण-वाक्य के उतना ही समीप होगा।

यहाँ हमने नैमित्तिक वाक्यों की प्रेक्षणता (Observationality) को विभिन्न वक्ताओं द्वारा अर्जित उद्दीपन अर्थ की नियतता के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की है। यदि इसी परिभाषा को हम शाश्वत वाक्यों पर भी लागू करने लगते हैं तो यह उचित नहीं होगा क्योंकि इससे नैमित्तिक एवम् शाश्वत वाक्यों का भेद ही समाप्त हो जायेगा। हम सभी जानते हैं कि सामान्यतया शाश्वत वाक्यों के उद्दीपन अर्थ भी विभिन्न वक्ताओं के लिए समान ही होते हैं। अतः नैमित्तिक एवम् शाश्वत वाक्यों की प्रेक्षणता को उनके उद्दीपन-अर्थ की नियतता के माध्यम से परिभाषित नहीं किया जा सकता। सच पूछा जाय तो तार्किक दृष्टि से नैमित्तिक एवम् शाश्वत वाक्यों में कोई आत्यन्तिक भेद भी नहीं हैं क्योंकि दोनों संशोधनीय हैं। उनमें से किसी को भी हम अनिवार्य नहीं कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों के बीच इतना अन्तर तो अवश्य है कि शाश्वत वाक्यों को प्रेक्षण-वाक्यों में परिवर्तित नहीं क्रिया जा सकता, किन्तु नैमित्तिक वाक्यों को प्रेक्षण वाक्यों में परिवर्तित किया जा सकता है।

यहाँ एक विशेष बात की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि प्रेक्षण वाक्यों की व्याख्या के सम्बन्ध में क्वाइन के विचार एवम् तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विचार बिलकुल समान नहीं हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्ति (Basic Proposition) केवल इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense-Datum) का वर्णन करती है किन्तु क्वाइन के अनुसार प्रेक्षण-वाक्य केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही वर्णन नहीं करते, वे साधारण वस्तुओं का भी वर्णन करते हैं। **इस** सम्बन्ध में उन्होंने स्ट्रॉसन की पुस्तक **इण्डिविजुअल्स** से उद्धरण देते हुए लिखा है कि स्ट्रॉसन एवम् उनके विचारों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। स्ट्रॉसन के शब्दों में "यदि कोई तथ्य **परमाणविक तथ्य** कहलाने का अधिकारी है, तो वह वह तथ्य है जो उन प्रतिज्ञप्तियों द्वारा अभिव्यक्त होता है जो किसी सामान्य संरचना की ओर निर्देशित करते हैं।"[1] यहाँ क्वाइन एवम् स्ट्रॉसन का भाव यह है कि किसी प्रेक्षण-वाक्य की सार्थकता उस वस्तु के परिप्रेक्ष्य में ही

1. Individuals, p. 212, If any facts deserve to be called atomic facts, it is the facts stated by those propositions which demonstratively indicate the incidence of a general feature.

चरितार्थ होती है जिसका वह अंग होता है।

विभिन्न कालों में विभिन्न वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त वाक्यों के उद्दीपन अर्थ के आधार पर हम किसी निश्चित काल में किसी वक्ता द्वारा प्रयुक्त वाक्य के उद्दीपन अर्थ को भली भाँति निर्धारित कर सकते हैं। किसी समुदाय द्वारा प्रयुक्त वाक्यों के उद्दीपन अर्थ की समानता के आधार पर उसकी प्रेक्षणता (Observationality) स्थापित की जाती है। किसी वाक्य के उद्दीपन अर्थ में जितनी परिवर्तनशीलता होगी, उस वाक्य के भीतर उतनी ही कम प्रेक्षणता पाई जाएगी। यदि कोई नैमित्तिक वाक्य ऐसा है जिसका उद्दीपन अर्थ प्रत्यक्ष के आधार पर निर्धारित किया जाता है, उसके उद्दीपन अर्थ में नियतता होगी और उसके भीतर उतनी ही प्रेक्षणता पाई जायगी। इसके विपरीत यदि कोई ऐसा वाक्य है जिसका उद्दीपन अर्थ प्रत्यक्ष द्वारा निर्धारित न होकर उसके अन्य वाक्यों के साथ सम्बन्ध द्वारा निर्धारित किया जाता है, उसके उद्दीपन अर्थ में उतनी ही परिवर्तनशीलता होगी और उसके भीतर उतनी ही कम प्रेक्षणता पाई जायगी। उदाहरण के लिए गवगई या खरगोश सम्बन्धित वाक्य के उद्दीपन अर्थ में नियतता व प्रेक्षणता अधिक पाई जाती है। इसके विपरीत स्नातक (Bachelor) सम्बन्धित वाक्य के उद्दीपन अर्थ में नियतता व प्रेक्षणता कम पाई जाती है।

पदों की पर्यायता
(Synonymy of Terms)

हम जानते हैं कि वाक्यों के परिप्रेक्ष्य में ही किसी पद का अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। पदों के स्वतन्त्र अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गवगई (Gavagai) एवम् खरगोश (Rabbit) की उद्दीपन पर्यायता इस बात का प्रमाण नहीं है कि दोनों पद एक ही वस्तु की ओर संकेत करते हैं। उद्दीपन पर्यायता होते हुए भी दोनों पदों के अर्थों में असमानता हो सकती है।

गवगई शब्द को ही ले लिया जाय। जब हम किसी वस्तु को "गवगई" कहकर पुकारते हैं तो वह वस्तु पूर्ण गवगई न होकर केवल उस वस्तु का एक अंश ही होती है। गवगई एवम् खरगोश के उद्दीपन अर्थ समान होते हुए भी दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि गवगई का अर्थ पूर्ण जीव से है पर खरगोश का तात्पर्य पूर्ण जीव से न होकर केवल आंशिक जीव से ही है जो इन्द्रिय-प्रदत्त के रूप में हमारे समक्ष दिखाई देता है। गवगई एवम् खरगोश के उद्दीपन अर्थ में अभिन्नता होते हुए भी यदि भाषाविद् निष्कर्ष निकालता है कि दोनों शब्दों के अर्थ अभिन्न हैं तो यह सही नहीं है क्योंकि यहाँ गवगई पद का अर्थ एक नित्य द्रव्य है पर खरगोश पद का अर्थ एक नित्य द्रव्य न होकर एक अनित्य इन्द्रिय-प्रदत्त से ही है।

इस सन्दर्भ में क्वाइन ने गवगई पद का प्रयोग **खरगोश, खरगोश के अंश, सभी खरगोशों का विलयन** (Fusion of all the rabbits), **खरगोशपन** (Rabbithood) इत्यादि कई अर्थों में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। उसी प्रकार गवगई शब्द का प्रयोग **मूर्त** अर्थ में अथवा **अमूर्त** अर्थ में तथा **विशिष्ट** अर्थ में अथवा **सामान्य** अर्थ में भी किया जा सकता है। पर इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि गवगई पद का प्रयोग चाहे किसी भी अर्थ में किया जाय वह उद्दीपन अर्थ से सदा स्वतन्त्र होता है। कल्पना कीजिए कि आप किसी खरगोश की

ओर संकेत कर रहे हैं। यदि आपने खरगोश की ओर संकेत किया तो समझ लीजिए कि आपने खरगोश के अंश की ओर, सभी खरगोशों के विलयन (Fusion) की ओर तथा खरगोशपन की ओर भी संकेत कर दिया।

यहाँ एक बात की ओर और भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि पदों की सह-विस्तारिता उद्दीपन पर्यायता के लिए अनिवार्य नहीं है। नैमितिक वाल्यों के रूप में हमने कुमार (Bachelor) एवम् अविवाहित मनुष्य (Unmarried Man) की पर्यायता में इस कारण विश्वास किया कि इसके आधार पर हम पदों के रूप में कुमार एवम् अविवाहित मनुष्य की पर्यायता को स्थापित कर सकते हैं। नैमित्तिक वाक्यों को पर्यायता के आधार पर उनकी संगति में पदों की पर्यायता स्थापित करने के लिए हमें केवल इस शाश्वत वाक्य (Standing Sentence) पर आग्रह करना है कि "सभी F, G हैं और सभी G, F हैं" जहाँ F एवम् G वाक्य न होकर केवल पद हैं। यहाँ पदों की पर्यायता को हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं : किसी वक्ता के लिए t काल में पदों के रूप में F एवम् G के बीच उद्दीपन-पर्यायता तब और केवल तब पाई जायगी जब कि नैमित्तिक वाक्यों के रूप में t काल में ही उनके बीच उद्दीपन-पर्यायता पाई जाती हो और साथ ही t काल में पूछे जाने पर वह सहमत हो कि सभी F, G होते हैं तथा सभी G, F होते हैं।

आगे चलकर क्वाइन ने उद्दीपन-पर्यायता को उद्दीपन-विश्लेषणात्मकता (Stimulus-Analyticity) के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की है। किसी विषयी के लिए कोई वाक्य उद्दीपन-विश्लेषणात्मक (Stimulus Analytic) तब कहा जायगा जब कि वह विषयी प्रत्येक उद्दीपन के उपस्थित होने पर उसके प्रति अपनी सहमति प्रगट करता है। ऐसी स्थिति में किन्हीं दो पदों F एवम् G के बीच उद्दीपन पर्यायता तब समझी जायगी जब कि F एवम् G के बीच उद्दीपन-विश्लेषणात्मकता पाई जाती हो। अर्थात् प्रत्येक F, G हो तथा प्रत्येक G, F हो। जो बात सामान्य (General) पदों पर लागू होती है वही बात एक-व्यापी (Singular) पदों पर भी लागू होती है। दो एक-व्यापी पदों a और b के बीच उद्दीपन-पर्यायता तब समझी जायगी जबकि a और b के बीच उद्दीपन-विश्लेषणात्मकता पाई जाती हो। अर्थात् $a = b$ हो।

अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि जिस उद्दीपन-पर्यायता के विषय में हम ऊपर चर्चा कर रहे हैं उसका वास्तविक आधार क्या है ? इसका क्या कारण है कि हम "कुमार" एवम् "अविवाहित मनुष्य" के विषय में तो उद्दीपन-पर्यायता स्थापित करते हैं पर "भारतीय निकेल" (Indian Nickel) एवम् **"भैंस निकेल"** (Buffalo Nictel) के बीच उद्दीपन-पर्यायता स्थापित नहीं करते। क्वाइन के अनुसार इसका वास्तविक कारण यह है कि हम "कुमार" एवम् "अविवाहित" मनुष्य के अर्थ को एक प्रकार से सीखते हैं पर "भारतीय निकेल" एवम् "भैंस-निकेल" को दूसरी प्रकार से सीखते हैं। हम "कुमार" के अर्थ को शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं पर "भारतीय निकेल" के अर्थ को वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करके निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं। बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने इस अन्तर को **साक्षात् ज्ञान** (Knowledge by Acquaintance) एवम् **वर्णन-ज्ञान** (Knowledge by Description) द्वारा प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। इसी अन्तर को हम प्रेक्षण-वाक्यों (Observation Sentences) एवम् निष्प्रेक्षण-वाक्यों

(Non-Observational Sentences) के माध्यम से भी व्यक्त कर सकते हैं।

ऊपर जो सम्बन्ध "कुमार" एवम् "अविवाहित मनुष्य" के बीच है वही सम्बन्ध "भ्राता" (Brother) एवम् "नर-सहोदर" (Male Sibling) के बीच भी विद्यमान है। हम "भ्राता" के तात्पर्य के "शिशु-जन्म" के साथ सम्बंधित करके सीखने की चेष्टा करते हैं तथा "सहोदर" के तात्पर्य को "भ्राता" एवम् "भगिनी" के साथ सम्बन्ध स्थापित करके सीखने का प्रयत्न करते हैं। "भ्राता" एवम् "सहोदर" निष्प्रेक्षण-वाक्य हैं ; प्रायः ऐसा देखा जाता है कि समाज के परिवर्तन के साथ उनके अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। केवल कुछ ही ऐसी शाब्दिक कड़ियाँ होती हैं जिनके द्वारा हम ऐसे शब्दों के अर्थ को निश्चित रूप देते हैं अन्यथा उनके अर्थ सदा परिवर्तनशील ही होते हैं।

प्रेक्षण एवम् निष्प्रेक्षण-वाक्यों से भिन्न एक तीसरे प्रकार के भी वाक्य होते हैं जिनका स्थान दोनों के बीच का होता है। व्यवस्थित सैद्धान्तिक विज्ञानों (Systematic Theoretical Sciences) के वाक्य इसी प्रकार के वाक्य होते हैं। वे इस दृष्टि से "कुमार" एवम् "भ्राता" के समान होते हैं कि उनके प्रयोग के लिए किसी नियत उद्दीपन-अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे पद नैमित्तिक वाक्यों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। दूसरी दृष्टि से वे "कुमार" एवम् "भ्राता" के समान भी नहीं होते क्योंकि वे कुछ ऐसे शाब्दिक सम्बन्धों के जटिल तन्त्र से संयुक्त होते हैं कि कोई भी बन्धन सम्प्रेषण के लिए निर्णायक नहीं होता। सैद्धान्तिक विज्ञानों के वाक्य ऐसे ही वाक्य होते हैं जिन्हें न तो पूर्ण रूप में पर्यायात्मक कहा जा सकता है और न तथ्यात्मक ही। उदाहरण के लिए यान्त्रिकी (Mechanics) का यह वाक्य लिया जा सकता है ; किसी कण का संवेग (Momentum) उसकी मात्रा (Mass) एवम् वेग (Velocity) के गुणनफल के बराबर होता है। यह वाक्य न तो विशुद्ध रूप में पर्यायात्मक है और न विशुद्ध रूप में तथ्यात्मक। यदि बाद में कोई भौतिक शास्त्री यान्त्रिकी में इस प्रकार संशोधन करता है कि संवेग वेग का समानुपाती नहीं रहता तो यह अर्थ या तात्पर्य का परिवर्तन न होकर केवल सिद्धान्त का परिवर्तन होगा। पर्यायात्मक वाक्यों में इस प्रकार के परिवर्तन नहीं पाए जाते।

□□□

विषयानुक्रमणिका

□□□

प्रेमचन्द की कहानियां : सादगी का सौन्दर्यशास्त्र	सं० डॉ० सदानन्द शाही	20.00
तुलसीदास	सं० प्रो० वासुदेव सिंह	80.00
अयोध्या काण्ड : भाष्य	डॉ० वासुदेव सिंह	100.00
कबीर (साहित्य और साधना)	सं० प्रो० वासुदेव सिंह	60.00
कबीर : पुनर्पाठ / पुनर्मूल्यांकन	सं० परमानन्द श्रीवास्तव	55.00
कबीर के सबद (कबीर ग्रन्थावली के प्रारम्भिक 100 पद)	शुकदेव सिंह	30.00
कबीर साखी सुधा (प्रारम्भिक 210 पद)	प्रो० वासुदेव सिंह	35.00
कबीर	प्रो० वासुदेव सिंह	10.00
सूर की काव्य चेतना	डॉ० बलराम तिवारी	36.00
सूरदास : मूल्यांकन / पुनर्मूल्यांकन	सं० परमानन्द श्रीवास्तव	40.00
सूरदास और भ्रमरगीत सार (प्रारम्भ के 200 पद की व्याख्या और समीक्षा)	डॉ० किशोरी लाल	50.00
हिन्दी का भक्ति काव्य और सूरदास	डॉ० किशोरी लाल	40.00
सूरसुधा ('सूरसागर' के विनय भक्ति तथा गोकुल लीला संबंधी 125 पद)	सं० प्रो० वासुदेव सिंह	45.00
सूरदास और उनका भ्रमरगीत	डॉ० किशोरी लाल	10.00
कविता का पाठ और काव्य-मर्म (सन्दर्भ : अंधेरे में, राम की शक्ति पूजा और सरोज स्मृति)	सं० परमानन्द श्रीवास्तव	25.00
निराला होने का अर्थ और तीन लम्बी कविताएँ (सन्दर्भ : राम की शक्ति पूजा, सरोज स्मृति और कुकुरमुत्ता)	सं० डॉ० राजेन्द्र कुमार	45.00
निराला की दो लम्बी कविताएँ	जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव	40.00
'राम की शक्ति-पूजा' की व्यावहारिक समीक्षा	डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित	35.00
सरोज स्मृति : भाष्य	ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव	20.00
'राम की शक्ति पूजा' : भाष्य	डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित	15.00
प्रेमचंद की विरासत और गोदान	शिव कुमार मिश्र	30.00
गोदान : एक पुनर्विचार	सं० परमानन्द श्रीवास्तव	35.00
आचार्य शुक्ल और चिन्तामणि	डॉ० प्रेमकान्त टण्डन	30.00
चिन्तामणि-प्रकाश	डॉ० रेवतीरमण	40.00
अपने-अपने अजनबी	नीलेश जैन	20.00
'अपने-अपने अजनबी एवं 'भारत-दुर्दशा' पर व्याख्यान	ब्रजेश	15.00
शेखर : एक जीवनी विविध आयाम	सं० डॉ० रामकमल राय	40.00
शेखर : एक जीवनी पर व्याख्यान	व्या० ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव	35.00
गोदान (मूल)	प्रेमचन्द	40.00
मानसरोवर (मूल भाग 1)	प्रेमचन्द	30.00
कामायनी (मूल—चिंता, श्रद्धा, लज्जा, इड़ा और आशा सर्ग)	जयशंकर प्रसाद	10.00